ओ३म्

अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावकशोचिषम्। हृद्भिर्मन्द्रेभिरीमहे॥

(ऋ० ८, ४३, ३१)

प्रिय प्रभु को आज, आओ, जगायें रिझायें॥

अपना प्यारा, सबका प्यारा, प्रिय से भी प्रिय, परम दुलारा।
जग भर की आँखों का तारा, न्यारा शोभा-साज॥ आओ०॥

जिसकी मस्ती मस्त बनाती, उर-उर में मधु लहर उठाती।
हर्षित आनन्दित गति भाती, लाती पुलक समाज॥ आओ०॥

जिसकी पावन दीप्ति निराली, कण-कण में क्षण भरने वाली।
नख से शिख तक सुषमाशाली, लाली रही विराज॥ आओ०॥

मधुमय प्रभु-हित मधुमय उर ले, हर्षोल्लास हृदय में भर ले।
मन्द मस्त मादक गुरु स्वर ले, कर ले पूरण काज॥ आओ०॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

तव गतिविधि प्रभु जान न कोई।
जो कछु करहु भगत हित सोई॥

कद्ध प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते। तदिद्धि अस्य वर्धनम्॥

(साम० पू० ३, १, ४, २)

आमुख

यदि हम भारतीय चिन्तन और संस्कृति के अविरल प्रवाह को प्राक् ऐतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग तक उसकी समग्रता में देखें तो हमें स्पष्ट प्रतीत होगा कि देश की प्रतिभा ने काल के इस अटूट और अव्याहत प्रवाह में लोक-मंगल के उदात्त आदर्शों को ही अपना लक्ष्य बना कर उसकी अनुरूप दिशा का निरन्तर संधान किया है। आज समय का व्यवधान इतना बड़ा है कि हम उस आदिम स्थिति का ठीक ढंग से पर्यवेक्षण करने में प्रायः असमर्थ हैं जिसके उत्स से चिन्ता का यह प्रथम क्षीण स्रोत निकला होगा। समय अतीत के जनजीवन में घटित महान् से महान् घटनाओं की दरारों को पाटता चलता है और इसी से आज हम अतीत काल की अनेक सांस्कृतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक घटनाओं की पर्यालोचना जब करते हैं तो वे सब समय के वक्षःस्थल पर एक खरोंच से अधिक नहीं प्रतीत होतीं। किन्तु यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन काल की अनेक सांस्कृतिक अथवा धार्मिक मान्यतायें जो हमें उत्तराधिकार के रूप में मिली हैं, हजारों वर्षों के चिन्तन, मनन और परीक्षण के उपरान्त सिद्धान्त और जीवन-दर्शन के रूप में गृहीत हुई होंगी। भारतीय जीवन में भक्तिवाद की प्रतिष्ठा के पीछे भी इसी प्रकार के सहस्रों वर्षों पहिले का इतिहास है।

भारतीय जीवन में भक्ति-भावना का उद्भव कब और कैसे हुआ इस पर देशी और विदेशी विद्वानों ने बहुत गंभीरता और शोधपूर्ण ढंग से विचार किया है। वेबर, ग्रियर्सन, विंटरनिट्ज, भंडारकर, क्षितिमोहन सेन और हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों के विचार इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और अनुसन्धित्सु पाठकों के लिये उपयोगी प्रतीत होंगे। इन्हीं विद्वानों द्वारा यह भी विवाद उठ खड़ा हुआ कि भारतीय भक्ति का आविर्भाव विदेशी

स्रोतों से हुआ अथवा यह मूलतः भारतीय भूमि की उपज है। इधर की शोधों से प्रायः यह सिद्ध हो चुका है कि भारतीय भक्ति की चिन्तना यहीं की धरती से उद्भूत हुई है। यह उतनी ही प्राचीन है जितना आस्तिकवाद। हृदयतत्त्व के माध्यम से भगवान् का सान्निध्य और उपलब्धि करने का प्रयास ही भक्ति है, मानव-स्वभाव की यह जन्मजात प्रवृत्ति किस प्रकार शास्त्रीय रूप ग्रहण कर भक्तिवाद में परिवर्तित हुई इसका विवेचन पण्डितों का कार्य है।

भारतीय भक्ति की स्रोतस्विनी यहाँ के लोक-मानस को अनन्तकाल से आविल करती हुई, भक्तों के कंठों से आर्द्र वाक्य के रूप में संस्कृत, पाली, अपभ्रंश और हिन्दी वाङ्मय सभी में प्रस्फुटित हुई है। काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द को सहोदर कहा गया है। इसकी चरितार्थता हमें इस देश के भक्तिसाहित्य में देखने को मिलती है। कवियों और साधकों ने अनुभूति के जिस उच्चतम शिखर पर ब्रह्मानन्द की उपलब्धि की उसी अनिर्वचनीय आनन्द की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में हुई। यद्यपि भक्ति-सम्बन्धी रचनायें प्राचीन साहित्य में भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं किन्तु जिस मग्नता, तल्लीनता और एकात्मता के साथ हिन्दी के मध्यकालीन कवियों की रचना में यह भक्ति-भावना विविध रूप और सुन्दरता से व्यक्त हुई है, 'वैसा अन्यत्र नहीं। इसी से हिन्दी साहित्य के इस काल का नाम ही भक्तिकाल रख दिया गया। भक्ति-भावना के उन्मेष और उद्रेक की एक बहुत बड़ी विशेषता उसके सहज मानवीय स्पर्श में है। हृदय के अन्तरतम के जिन रागात्मक तन्तुओं की झंकृति इन भक्तिपरक उद्गारों में हुई है उससे केवल हिन्दू जनता ही आनन्दविभोर नहीं हुई, वरन् मुसलिम साधक और मर्मी भी उसकी प्रेरणा से अनुप्राणित होकर अत्यन्त रससिद्ध कवि हुए हैं। हिन्दी का समस्त सूफी साहित्य ही इन मुसलिम कवियों की रचनाओं का संग्रह है। इसके अतिरिक्त रहीम, रसखान, रसलीन, आलम और ताज आदि कवि कभी भी भुलाये नहीं जा सकते और इसी कारण भारतेन्दु ने उनकी सराहना करते हुये यहाँ तक कहा कि 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिये'।

भक्ति की इस मर्मस्पर्शिनी धारा के उद्गम और विकास का अध्ययन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। लेखक ने बहुत परिश्रम के साथ सभी प्राचीन और अर्वाचीन स्रोतों से भक्ति के जन्म और विकास का ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक विवरण उपस्थित किया है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी में भक्ति के विकास और उद्भव पर इतने विशद और विस्तृत रूप से सभी सम्बद्ध स्रोतों की छान-बीन कर प्रामाणिक सामग्री का नियोजन एकत्र किसी एक ग्रन्थ में अप्राप्य है। लेखक ने वैदिक साहित्य से पुराण और स्मृति-युग तक की सभी सामग्री की अत्यन्त गंभीरता और सूक्ष्मता से परीक्षा की है और भक्ति के स्वरूप और विकास को कालप्रवाह और युग-विशेष के सन्दर्भ में उपस्थित किया है। उनके परिश्रम और पांडित्य को बधाई है जिसके कारण इतने विपुल साहित्य का मंथन करने के पश्चात् भक्ति के सिद्धान्तों और स्थापनाओं पर वे इतना प्रामाणिक विवरण इस ग्रन्थ में दे सके हैं।

भक्ति की दार्शनिक और ऐतिहासिक विवेचना करने के पश्चात् लेखक ने हिन्दी भक्ति-साहित्य के कुछ प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं पर भी अलग से विचार किया है। इन कवियों में उन्होंने निर्गुणी कबीर, सूफी जायसी, कृष्ण-भक्त सूरदास और रामभक्त तुलसीदास जी को लिया है। भक्ति की भूमिका में उन्होंने इन सभी कवियों का जो साहित्यिक मूल्यांकन उपस्थित किया है उसमें लेखक की तलस्पर्शी दृष्टि और संवेदनशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है।

लेखक को हिन्दी में ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के प्रणयन पर मैं अपनी हार्दिक बधाई देता हूँ। इससे हिन्दी-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन की वृद्धि हुई है और इस क्षेत्र में रुचि रखनेवाले पाठक और जिज्ञासु विचारक लाभान्वित हो सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

वाराणसी
१।९।५८

आदित्यनाथ झा

परिचय

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

'भक्ति का विकास' शीर्षक प्रबन्ध में लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण विषय पर मौलिक अनुसंधान किया है। ईश्वरीय तत्त्व के प्रति वैदिक दृष्टिकोण की यह व्याख्या पहली ही बार इतनी स्पष्टता से यहाँ की गई है और इसमें लेखक के साहसपूर्ण चिन्तन और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन का परिचय प्राप्त होता है। वैदिक मन्त्रों में यद्यपि इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र आदि अनेक देवों की स्तुति के मन्त्र आते हैं पर अन्तिम रूप से दैवी तत्त्व एक ही है। उसी एक देव, एक अग्नि, एक रुद्र, एक उषा को ही बहुधा कहा जाता है। इस बहुधा मीमांसा के अभ्यन्तर में अन्तर्निहित देवात्मशक्ति की एकता ही वैदिक अध्यात्म की सबसे बड़ी विजय है। लेखक ने इस तथ्य को भली प्रकार पहिचान लिया है और वे प्रबन्ध में सप्रमाण इसे उपस्थित कर सके हैं। यद्यपि उन्होंने मन्त्रों के अर्थों के विषय में अपने आपको स्वामी दयानन्द सरस्वती और पण्डित सातवलेकरजी के वेदभाष्यों तक सीमित कर लिया है, जो कतिपय विद्वानों के लिये आपत्तिजनक हो सकता है, किन्तु वैदिक मन्त्रों में भाष्यभेद से उनके अन्तिम प्रतिपाद्य तत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि यहाँ भी वही एकता अभीष्ट है, जिसे यज्ञीय काण्ड अथवा औपनिषद्-पुरुष के साक्षात्कार या ज्ञान या ईश्वर-निरूपण से प्राप्त किया जाता है। आर्य समाज के क्षेत्र में जिस भाष्य शैली का सम्मान है, वह मन्त्रों को ईश्वरपरक प्रतिपादित करती है और यह यास्क की उस स्थापना के अनुकूल है जिसमें 'एकैव आत्मा, बहुधा स्तूयते' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

प्रबन्ध का दूसरा भाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है। इसके भी दो प्रधान अंश हैं। पहिले में पाञ्चरात्र, वैखानस, भागवत आदि वैष्णवों के प्राचीन सम्प्रदायों के साहित्य का मौलिक अध्ययन करके उनके भक्ति-विषयक दृष्टिकोण का अति स्पष्ट और प्रामाणिक विवेचन किया गया है। हिन्दी क्या, संस्कृत-साहित्य

में भी अभी तक इस प्रकार का कार्य नहीं हुआ और भविष्य के अध्ययन को इससे एक नई दिशा प्राप्त होने की सम्भावना है। इस साहित्य के महत्त्व को एक प्रकार से हम भूल-से गए हैं। विक्रम की प्रथम सहस्राब्दि में भारतीय धार्मिक साधना के क्षेत्र में उनकी देन वैसी ही प्रभावपूर्ण थी, जैसी दूसरी सहस्राब्दि में रामानुज, वल्लभ, चैतन्य, तुलसी, सूर आदि महान् सन्त भक्तों की। दूसरी सहस्राब्दि की विचारधारा के स्रोतों को विधिवत् समझने के लिए पाञ्चरात्र साहित्य का सांगोपांग अध्ययन अनिवार्यतया आवश्यक है। प्रबन्ध में कितने परिश्रम और सूझ से यह कार्य सम्पन्न हुआ है, इसे देख कर आश्चर्ययुक्त प्रसन्नता होती है। पांचरात्रों में भी उनकी विशेष शाखा वैखानसों का अत्यधिक महत्त्व था। कालिदास से लेकर भवभूति तक उससे प्रभावित हुए थे। कालिदास के 'कुमार-सम्भव' के पाँचवें सर्ग में जो पार्वती की तपश्चर्या का वर्णन है, उसे साक्षात् वैखानस-आगमों से कवि ने लिया था।

भागवतों के उस उदात्त युग की परम्परा मध्यकालीन सन्तों में और भी पल्लवित हुई। इसे ही हम अब तक भक्तिकालीन धार्मिक साधना मानते रहे हैं। इसका भी विशाल साहित्य है, जिसका लेखक ने अत्यन्त धैर्यपूर्ण अध्ययन किया है और स्पष्टता एवं प्रामाणिकता से अपने परिणामों का उपन्यास किया है। भक्ति-कालीन विचारपरम्परा को दो सहस्राब्दि पूर्व तक ले जाना और विकास की दृष्टि से उसका स्रोत ढूँढना—यह इस प्रबन्ध की मौलिकता है।

लेखक की प्रतिपादनशैली संयत, गम्भीर एवं समीचीन है। कबीर, जायसी, और सूर पर वे पहले भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत कर चुके हैं। उनका प्रस्तुत प्रबन्ध हिन्दी तथा संस्कृत के अध्येताओं में समादृत होगा, इसमें सन्देह नहीं।

—o—

प्राक्कथन

'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञोविपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति' ।

बाल्यावस्था से ही अन्तःसलिला सरस्वती के समान वह महनीय परम सत्ता मुझे आकर्षित करती रही है ।

पूर्वजों के पुण्यप्रताप से मेरे मन में बाल काल से ही वैदिक ऋचाओं को कण्ठस्थ करने की रुचि उत्पन्न हो गई थी । महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों ने इस रुचि को और भी अधिक पल्लवित किया और श्रद्धेय सातवलेकर जी के मन्त्रों पर लिखे हुये अर्थों ने श्रुति-सरस्वती की महती गरिमा को मन में प्रतिष्ठित कर दिया ।

'वैदिक भक्ति' पर इस प्रबन्ध में जो कुछ लिखा गया है, वह उपर्युक्त दोनों संस्कारों का ही परिणाम है ।

संस्कृत में एम० ए० करके जब मैं दयानन्द कालेज कानपुर में, सन् १९२६ ई० में प्राध्यापक के रूप में प्रविष्ट हुआ, तो कालेज के अधिकारियों ने हिन्दी-अध्यापन का कार्य मुझे सौंपा । इस अध्यापन-काल में पूर्वोक्त दोनों संस्कार भी कार्य करते रहे । अध्ययन अध्यापन का अनिवार्य अंग है । एक का अभ्यास दूसरे की निरन्तर सहायता करता है । शिक्षा के इन दोनों ही अंगों ने मुझे प्रकाश की किरणें प्रदान कीं, जिनके सहारे मैं सूरदास, जायसी, कबीर प्रभृति हिन्दी कवियों की भावनाओं को हृदयंगम करने में कुछ-कुछ समर्थ हो सका । कई बार ऐसा भी हुआ है कि विद्यार्थियों को किसी विषय का बोध कराने के बीच में ही उसका आध्यात्मिक पक्ष प्रत्यक्ष हो उठा है । प्रभु के इस प्रसाद के फलस्वरूप ही सूरसौरभ, पद्मावत का भाष्य और कबीरवचनामृत लिखे गये । कुछ समय के लिये भावना-जगत् ने मुझे आवश्यकता से प्रेरित होकर विचारजगत् में फेंक दिया और परिणामतः 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' तथा 'प्रथमजा' का प्रणयन हुआ ।

संतशिरोमणि महात्मा सूरदास के अध्ययन ने कुछ ऐसी भावानुभूतियों का मानस-प्रत्यक्ष कराया, जो अपने मूल रूप में वैदिक युग से लेकर अब तक भारतीय भक्त के हृदय के साथ लगी रही हैं । 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' के प्रथम अध्याय के तृतीय

प्रकरण में मैंने इन भावनाओं का दिग्दर्शन मात्र कराया है। प्रस्तुत प्रबन्ध इन्हीं भावनाओं के विस्तृतरूप में आकलन करने के उद्देश्य से लिखा गया है।

इस कार्य में दो पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता था:

१. क्रमविशेष के साथ वैदिक भावनाओं को हिन्दी-भक्त-कवियों की भावनाओं के साम्य में प्रदर्शित और उपस्थित करना।

२. क्रमविशेष के साथ सब का पृथक्-पृथक् अध्ययन करना।

मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध में दूसरी पद्धति को ग्रहण किया है और प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में भावनाओं के साम्य, वैषम्य तथा उनके कारणों पर अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं।

हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में से मैंने अपने अध्ययन के लिये उस युग के चार प्रतिनिधि कवियों को चुना है। हिन्दी का भक्तिकाल निर्गुण और सगुण दो धाराओं में विभक्त किया गया है। ये दोनों धारायें पुनः दो-दो शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं। निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी नाम की दो शाखायें हैं। सगुण धारा कृष्ण-भक्ति और रामभक्ति नाम की दो शाखाओं में विभाजित है। अब तक हिन्दी साहित्य के जो इतिहास लिखे गये हैं, उन सब ने इस विभाजन को मान्यता प्रदान की है। ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर हैं तो प्रेमाश्रयी शाखा के मलिक मुहम्मद जायसी; कृष्णभक्ति-काव्य का प्रतिनिधित्व सूरदास करते हैं तो रामभक्ति-काव्य का तुलसीदास। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन्हीं चार कवियों की भक्ति का विवेचन किया गया है।

वैदिक भक्ति पर लिखने से पूर्व आवश्यक था कि मैं भक्ति के केन्द्र 'ईश्वर' के अस्तित्व पर अपने विचार प्रकट करूँ। यद्यपि मानव की आस्था दीर्घकाल से ईश्वर की सत्ता पर टिकी रही है, जिन्होंने इस सर्व व्याप्त सत्ता में विश्वास नहीं किया, उन्होंने किसी न किसी महापुरुष को ईश्वर संज्ञा से अभिहित किया है, फिर भी आधुनिक वैज्ञानिकता ने इस आस्था के उन्मूलन में, इसे हिला हिला कर विध्वस्त कर देने में, बड़ा भारी कार्य किया है। वैज्ञानिकों के साथ कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक भी इस दिशा में सहयोग देते रहे हैं, पर विज्ञान और दर्शन का जो विकास पश्चिम में हुआ है, वह ईश्वर के सम्बन्ध में आज किस स्थान पर है, यह भी विचारणीय है। मैंने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में इन्हीं वैज्ञानिक और दार्शनिक दो दृष्टियों से ईश्वर के अस्तित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

प्रायः सभी वैज्ञानिक और दार्शनिक ब्रह्माण्ड में कार्य करने वाले अनुल्लंघनीय नियमों की ओर संकेत करते रहे हैं। औद्योगिक युग में ये नियम यन्त्र-संचालन के नियमों की

भाँति कार्य करते देखे गये, प्राणि-शास्त्र के विकसित होने पर उनमें चेतना का अनुभव होने लगा और अब भौतिकी (Physics) का प्रसिद्ध विद्वान् सर जेम्स जीन्स इन नियमों को देखकर उन नियमों का ध्यान करता है, जिनके अनुसार एक रागी गान गाता है या कवि कविता की रचना करता[1] है।

सृष्टि की नियमबद्धता, व्यवस्था और सप्रयोजनता को अनुभव करके एक सर्वव्यापक बुद्धितत्त्व की कल्पना कई वैज्ञानिकों ने की है। आर्थर एडिंग्टन ने इस सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ 'The nature of the physical world' के पृष्ठ ३३८ पर लिखा है:—'The idea of a universal mind or logos would be a fairly plausible inference from the present state of scientific theory, at least it is in hormony with it.' अर्थात् विज्ञान के वर्तमान सिद्धान्तों को देखते हुए यह अनुमान बहुत कुछ समन्न प्रतीत होता है कि विश्व में एक सर्वव्यापक बुद्धितत्त्व कार्य कर रहा है। इसी से मिलता-जुलता विचार सर जेम्स जीन्स ने अपने सशोधित ग्रन्थ 'द मिस्टीरियस यूनिवर्स' के पृष्ठ १८२ पर प्रकट किया है, जिसमें वह इस सृष्टि के स्रष्टा को देश काल की परिधि से परे लिखते हैं: 'वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्त हमें समय और देश को अतिक्रान्त करती हुई एक परम स्रष्टा की शक्ति में विश्वास करने के लिए बाध्य करता है'।[2] प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री एल्बर्ट आइन्स्टाइन के निम्नाङ्कित शब्द भी इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं:—

'एक सर्वशक्तिमान्, न्यायी तथा सर्वहितकारी ईश्वर में विश्वास मानव को संतोष, आश्वासन, साहाय्य और पथ-प्रदर्शन प्रदान कर सकता है'।[3] एक स्थान पर उन्होंने यह भी लिखा है कि एक वैज्ञानिक ईश्वर-विश्वास पर आपत्ति कैसे कर सकता है जब वह स्वयं

---

1. To my mind, the laws which nature obeys, are less suggestive of those which a machine obeys in its motion than of those which a musician obeys in writing a fugue, or a poet in composing a sonnet. Sir James Jeans—'The mysterious universe' p. 169, Revised edition.

2. 'Modern scientific theory compels us to think of the creator as working outside time and space.'

3. 'The idea of the existence of an omnipotent, just and omni-benificent personal God, is able to accord man solace, help and guidance.'—'Out of my later years' p. 27

प्रकृति के विभिन्न रूपों में विश्वास करके आगे बढ़ता है। यह विश्वास उसे किसी तर्क के आश्रय से प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर विश्वास भी तर्क पर नहीं, मानव की मान्यता पर अवलम्बित है। विज्ञान और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं:—विज्ञान अपने अन्वेषणों से सत्य धर्म को अधिक महनीय और गम्भीर रूप प्रदान कर सकता है[1]।

दर्शन की प्रमुख शाखायें तीन हैं:—तत्त्वज्ञान, मनोविज्ञान और आचारशास्त्र। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यूनान के प्रसिद्ध प्राचीन दार्शनिक ऐनैक्सैगोरस ने समस्त व्यवस्थित सृष्टि के मूल में एक चेतन सत्ता को असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया था। अरिस्टौटल ने इसीलिये लिखा थाः—'ऐनैक्सैगोरस अनेक अन्धों में एक देखने वाला है।' काण्ट के अनुसार हम सबका जीवन छाया के जगत में व्यतीत होता है। इसी छाया का हमें ज्ञान होता है, पर जिसकी यह छाया है, उसे हम नहीं देख पाते। हम केवल इतना ही जानते हैं कि वह छाया डालने वाला अपना अस्तित्व रखता है[2]। मनोविज्ञान के अनुसार हमारे हृदय में नम्रता की एक भावना है, जो श्रद्धा की सहजसंगिनी है। जब हमारे अन्दर नम्रता और श्रद्धा की भावनायें हैं, तो एक ऐसी सत्ता भी अवश्य होनी चाहिये जिसके आगे हम आदर भाव से प्रणत हो सकें। श्रद्धा की भावना प्रथम प्रशंसा, फिर आदर और अन्त में पूजा की भावना में परिणत हो जाती है। यहाँ एक से बढ़कर एक प्रशंसनीय और आदरणीय है, पर जो सबका श्रद्धेय और पूजनीय है, वही मनोविज्ञान की श्रद्धा-भावना का सबसे ऊँचा आधार है। धर्म इसी को ईश्वर कहता है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि परमात्मा के सम्बन्ध में पूछने के लिये हमें मनोविज्ञान नहीं, आचारशास्त्र के पास जाना चाहिये। जहाँ आचार है वहाँ श्रेष्ठता है और जहाँ श्रेष्ठता है वहाँ ईश्वर है। धार्मिक दृष्टि में जहाँ समस्त शुभ की सीमा है, आदर्श है, वहीं ईश्वर है।

द्वितीय अध्याय में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है। मुण्डक उपनिषद् २-२-८ में ईश्वर के पर और अवर दो रूपों का उल्लेख है। इन्हीं को निरपेक्ष और सापेक्ष रूप कहा जाता है। निरपेक्ष रूप में ईश्वर जगत् और जीव से असम्बद्ध, एकान्त और कूटस्थ है। वह काल्पनिक नहीं वास्तविक है, जड़ नहीं चेतन है, निरानन्द नहीं

1. The religion can be ennobled and made more profound by scientific Knowledge. 'Out of my later years' p. 21

२. लाला दीवानचन्द—'Short studies in the Upanishads' p. 18

सानन्द है, ससीम नहीं असीम है—देश और काल दोनों की परिधि से परे है, अनेक नहीं एक है, वह सर्वशक्तिमान् है, समस्त अवलम्बनों का अवलम्बन है। वह किसी पर आश्रित नहीं है। वह जो कुछ करता है उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता। ईश्वर का सापेक्षस्वरूप जगत और जीव की दृष्टि से है। जगत के सम्बन्ध से वह रचयिता, पालयिता और संहारक है। जगत को भी वह शून्य से नहीं, प्रथम से विद्यमान प्रकृति के उपादान से बनाता है। जीव के संबन्ध में ईश्वर शासक, न्यायी, पिता और भक्त-वत्सल है। जीव अपूर्ण है, ईश्वर पूर्ण है। जीव अणु है, ईश्वर विभु है। जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर आप्त है। जीव प्रकृति के संपर्क से अपवित्र बनता है, परन्तु पवित्रस्वरूप प्रभु के संपर्क से पुनः पवित्र हो जाता है। ईश्वर सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों ही रूपों में छिपा नहीं है, साधक उसका साक्षात् कर सकते हैं।

तृतीय अध्याय में भक्ति के स्वरूप की व्याख्या है। भक्ति क्या है? प्रभु को भजना, उसके समीप पहुँचना, बैठना, उसकी सेवा करना और उसके आनन्द से आनन्दी बनना। आनन्द काम का ऊर्जस्वित रूप है। जब मानव का काम सब ओर से सिमटकर आनन्दधाम परमात्मा में केन्द्रित हो जाता है, तभी मानव आत्मतृप्त तथा आत्मानन्दी बनता है। काम का ईश्वर के साथ यह योग भक्ति मार्ग द्वारा सहज सम्पन्न होता है।

आनन्द न सत् के प्रसार में है और न चित् के ज्ञान तथा प्रयत्न में। उसका स्थान न शरीर है, न प्राण, न मन और न बुद्धि। काम के मूल रूप का स्थान भी इनमें से कोई नहीं है। विश्व का एक-एक कण, उसका एक एक अङ्ग जाज्वल्यमान ज्वाला में, विवशता की वह्नि में, दुःख की दावा में जल रहा है। वह मानव को आनन्द नहीं, दुःख ही दे सकता है। आनन्द का निकेतन तो ईश्वर है। सत् और चित् दोनों का वही विश्रामस्थल है। वही साधनों का साध्य, आश्रयों का आश्रय और दुःख-सिन्धु से संतरण पाने का एकमात्र अवलम्बन है। इसी के साथ रहना, इसी के गुण गाना, इससे हटकर अन्यत्र कहीं भी न जाना, अपनी समस्त कामनाओं को इसी में केन्द्रित कर देना आनंद-प्राप्ति का मार्ग है। यही मार्ग भक्तिकाण्ड के नाम से प्रख्यात है।

भक्ति का ज्ञान और कर्म के साथ क्या सम्बन्ध है? कर्म गति है, परन्तु विचारसहित—विचार-विहीन गति को हम कर्म की संज्ञा नहीं देते। किसी गति के साथ जब विचार सम्मिलित हो जाता है, तभी उसकी संज्ञा कर्म होती है। घड़ी की सुइयों की गति कर्म नहीं है, सूर्य-चन्द्रादि की गति भी कर्म नहीं है, पर जब मैं भक्ति के तत्त्व को हृदयङ्गम करने के लिये कोई पुस्तक पढ़ता हूँ, तो यह पढ़ना कर्म है। तमोगुणी व्यक्ति विचारशून्य होता है,

अतः जड़ कहलाता है। उसके जड़त्व से ऊपर राग-द्वेष-पूर्ण रजोगुण की स्थिति है। रजोगुणी व्यक्ति क्रिया-शील होता है। रजोगुण से ऊपर सत्त्वगुण की स्थिति है। यह ज्ञान और प्रकाश का क्षेत्र है। रज में जैसे तम का जड़त्व लीन हो जाता है, इसी प्रकार सत्त्व में रज के सत्-असत्-मिश्रित कर्म। अब सत्त्व के ज्ञान का विलय किसमें होगा? यह निश्चित रूप से अपने पूर्ववर्ती भाव में विलीन होगा। भक्ति एक भाव ही तो है। अतएव कर्म और ज्ञान का पर्यवसान भक्ति में होता है। इस प्रकार विकास-क्रम में कर्म और ज्ञान दोनों के ऊर्ध्व स्थान पर भक्ति विराजमान है। कर्म और ज्ञान दोनों ही भक्ति की उपलब्धि के लिये साधन बनते हैं। भक्ति स्वयं प्रभु प्राप्ति के लिये साधन रूप है।

भक्ति का सौन्दर्यशास्त्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। रूफस एम० जोन्स अपने ग्रन्थ 'Pathways to the reality of God' के पृष्ठ ६४ पर लिखते हैं: सुन्दर शरीर, सुन्दर आकृतियाँ, सुन्दर प्राणी, श्रेष्ठ कर्म और उच्च आत्मायें ऐसे सुन्दर वातायन हैं, जिनमें से मानव इस विनश्वर जगत् में भी उस शाश्वत सौन्दर्य की झाँकी देख सकता है[1]। भक्त अपने प्रभु को सौन्दर्य का स्रोत समझता है। उसे सुंदर ही सत्य, सत्य ही सुन्दर और वही कल्याणकारी जान पड़ता है।

आर्यों की आश्रम-व्यवस्था के आधार पर मैंने भक्ति के अङ्गों का निरूपण किया है। ब्रह्मचर्य अवस्था में माता-पिता-आचार्य के प्रति श्रद्धाभावना से कर्तव्य का पालन करना, गृहस्थ में तप तथा व्रत के द्वारा भोगों के प्रभाव को दूर करना, संयम के द्वारा उन पर स्वामित्व स्थापित करना, यज्ञ द्वारा साधन-न्यूनताओं की पूर्ति करते रहना और योग के के प्रथम अङ्ग यम का सामाजिक कर्तव्य के रूप में पालन करना, वानप्रस्थ में विशेष रूप से और सामान्य रूप से सभी दशाओं में योग के द्वितीय अङ्ग नियम का वैयक्तिक विकास की दृष्टि से सम्पादन करना भक्तिरूपी भवन पर चढ़ने के लिये ऐसे स्वर्ण-सोपान हैं, जिन पर चढ़ कर साधक अधोगति की आँधी और दासता की दावा से बाल-बाल बचा रहता है। संन्यास आश्रम सर्वस्व त्याग का आश्रम है। यहाँ साधक अपना सर्वस्व, अहङ्कार तक प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है और अनवरत-ब्रह्म-भावना में लीन रहता है। जितनी देर तक वह इस भावना में लीन है, उतनी देर तक वह

---

1. 'Beautiful faces, beautiful souls, fair forms, noble creatures, and lofty actions are windows through which the human soul, here in a world of mutability catches glimpses of that eternal beauty.'

काल को वन्दी बना लेता है और मृत्यु को भी मार डालता है। इसी की सतत वर्तमानता मृत्यु से अतिक्रान्त अमृत अवस्था है।

भक्ति साधन और साध्य द्विविध रूप वाली है। साधक साधन में ही जब रस लेने लगता है, तब उसके फलों की ओर से उदासीन हो जाता है। यही साधन का साध्य बन जाना है। पर प्रत्येक साधन का अपना पृथक् फल है। भक्ति भी साधक को पूर्ण स्वाधीनता, पवित्रता, एकत्व भावना तथा प्रभुप्राप्ति जैसे मधुर फल प्रदान करती है। प्रभु-प्राप्ति का अर्थ जीव की समाप्ति नहीं है, सयुजा और सखा भाव से जीव का अपने स्वरूप में अवस्थित होकर आनन्द का उपभोग करना है।

इन तीन अध्यायों की सामग्री वैदिक भक्ति के लिये पृष्ठ-भूमि का कार्य करती है, जिसका निरूपण चतुर्थ अध्याय में किया गया है। वेद ईश्वर के निरपेक्ष तथा सापेक्ष स्वरूप के सम्बन्ध में क्या कहता है, उसमें किस प्रकार की प्रार्थनायें हैं, प्रभु से विलग होकर भक्त के हृदय से कैसा कातर क्रन्दन निकलता है, आत्मनिवेदन, विनयभक्ति की भूमिका तथा परवर्ती आसक्तियों का वेद में कितना और कैसा उल्लेख है, प्रभुप्राप्ति के लिये वेद ने किन साधनों का वर्णन किया है और अन्त में वह इन साधनों से उपलब्ध जिन सिद्धियों का प्रतिपादन करता है, उनमें कौन-सी विशिष्टता है—इन सभी प्रसंगों का वैदिक ऋचाओं के माध्यम द्वारा उद्घाटन किया गया है।

वेद में प्रतिमा-पूजन का विधान नहीं है। वैदिक भक्तिपद्धति साधक को कर्मकाण्ड के साथ चेतना के उत्तुंग शिखरों तक ले जाती है और वहाँ से अहंकार-समर्पण के द्वारा आनन्द-धाम तक पहुँचा देती है। वह परम प्रभु के सर्वश्रेष्ठ प्रकाश में निर्भयता, जीवन और आनन्द के दर्शन कराती है। इस प्रकाश को जिसने धारण कर लिया, वह निर्भय, अखण्ड जीवनमय तथा आनन्दमय बन गया।

उपासना के लिये वेद ने उन्मुक्त वातावरण, सरिताओं के संगम अथवा गिरिशिखर के अधिष्ठान को महत्त्व दिया है। वैदिक भक्ति ज्ञान, कर्म, तप, व्रत, यज्ञ आदि का तिरस्कार नहीं, सम्मान करती है। उसने व्यक्तिवाद एवं समाजवाद में भी समन्वय किया है। वह विचार, उच्चार तथा आचार की एकता का प्रतिपादन करती है।

वैदिक भक्ति के तीन अंग हैं : स्तुति, प्रार्थना और उपासना, जिनमें भागवत की नवधा भक्ति के सभी अंग अन्तर्भुक्त नहीं हो पाते। मैंने इन तीन अंगों को गुण-कीर्तन, प्रार्थना, व्याकुलता, साधन और सिद्धि नाम के पाँच अंगों में विभक्त कर दिया है। इस विभाजन द्वारा वेद-वर्णित कुछ ऐसी भावानुभूतियाँ भी पाठकों के समक्ष आ जाती

हैं, जो सगुण एवं साकार अवतारी इष्टदेवों के सम्बन्ध में भागवत भक्तों के हृदय से निस्सृत हुई हैं।

चतुर्थ अध्याय में ही वेद से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में जो भक्ति-विषयक सामग्री मिल सकती है, उसका भी वर्णन कर दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में यह सामग्री स्वल्प है। ओ३म् की महत्ता का प्रतिपादन उसमें अवश्य विद्यमान है। शतपथ ब्राह्मण याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ ज्ञान तथा भक्ति का भी वर्णन करता है। द्वेष से दूर रहना, सबसे प्रेम करना, दिव्यता और पवित्रता की ओर प्रयाण करना, ओ३म् तथा मन्त्रों का जाप करना, यज्ञ, व्रत आदि का पालन करना और आत्मतत्त्व को प्राप्त करना ऐसे साधन हैं, जो भक्ति के भी अनिवार्य अंग कहे जा सकते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यज्ञसंस्था भक्ति को अपनाकर चली थी। आर्षेय ब्राह्मण में उपासना का रूप स्पष्ट हो उठा है। यह सामवेद का ब्राह्मण है। व्याहृतियों में स्वः के साथ इसका सम्बन्ध है, जिसका अर्थ आनन्द होता है। भक्तिकाण्ड का भी आनन्दमय कोष से सम्बन्ध है। आर्षेय ब्राह्मण प्रणव तथा उद्गीथ (गेय प्रभु) अर्थात् नाम एवं नामी की एकता का समर्थन और उद्गीथ की उपासनाविधि का उल्लेख करता है। गोपथ ब्राह्मण में ओ३म् के सहस्र बार जाप का वर्णन है, जिसके द्वारा असुरत्व से देवत्व की रक्षा होती है। इसमें साम अर्थात् भक्ति को वेद अर्थात् ज्ञान का रस कहा गया है।

उपनिषद्-साहित्य में प्रभु को रस रूप माना गया है और लिखा है : 'रसं हि अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै. ७ २.) रस रूप प्रभु को प्राप्त करके साधक आनन्दमय बन जाता है। कठोपनिषद् २-२३ तथा मुण्डक उपनिषद् ३ २-३ का ऋषि तो स्पष्ट स्वर में प्रभुकृपा को ही महत्ता देता है, जो भक्ति का प्रमुख अंग है। उपनिषदों में श्रद्धा, गुरु का आश्रय, ओ३म् नाम का आलम्बन, उपासना आदि भक्ति के कई अंगों का वर्णन मिलता है। फिर भी वेद में भक्ति का जैसा सर्वांग-विकसित रूप दिखाई देता है, वैसा ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों में नहीं। ऋग्वेद के वरुणसूक्त (७-८६) में प्रभु के विरह और तज्जन्य व्याकुलता का जो मर्म-वेधी वर्णन है, प्रभु के साथ एक हो जाने की जो भक्त की हृदयस्पर्शी लालसा और पुकार है, वह ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होती।

पञ्चम अध्याय का सम्बन्ध भागवत-भक्ति से है। यह वह मध्यवर्ती शृङ्खला है, जो वैदिक भक्ति को हिन्दी के भक्तिकाल से संयुक्त कर देती है। इसमें ग्यारह प्रकरण हैं। सर्वप्रथम भागवत धर्म का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। भागवत-धर्म की दो शाखायें हैं : पाञ्चरात्र और वैखानस। पाञ्चरात्र-साहित्य का कुछ भाग प्रकाश में

आ गया है, परन्तु वैखानस-साहित्य के केवल दो ग्रंथ मुझे पढ़ने को मिल सके। स्वर्गीय डाक्टर एस. एन. दासगुप्त ने पाञ्चरात्रों के हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करके अमूल्य विचार-सामग्री अपने ग्रन्थ 'द हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी' में संचित कर दी है। पंडित बलदेव उपाध्याय के 'भागवत सम्प्रदाय' में भी यह सामग्री पाई जाती है, परन्तु वैखानस साहित्य पर हिन्दी भाषा में अभी तक कथनीय सामग्री का प्रायः अभाव है। मैंने दोनों सम्प्रदायों के कतिपय ग्रंथों का अध्ययन करके इस सामग्री को हिन्दीभाषा-भाषियों के समक्ष रखने का प्रयत्न इस प्रबन्ध द्वारा किया है।

पाञ्चरात्र और वैखानस-साहित्य के अध्ययन ने मेरे समक्ष तीन दिशाओं का उद्घाटन किया : (१) वैष्णव आचार्यों का भागवत-भक्ति को वेद से पूर्वकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न। (२) सांख्य, योग तथा वेदान्त का समन्वय और (३) निराकार-निर्गुण ब्रह्म को साकार-सगुण रूप प्रदान करना। ब्राह्मणग्रन्थों तथा इन दोनों शाखाओं के कतिपय ग्रन्थों का अनुशीलन करके मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि हमारी यज्ञ संस्था ही कालान्तर में मन्दिर-निर्माण तथा प्रतिमा-प्रतिष्ठा में परिणत हो गई। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ के जैसे विपुल विस्तारमय वर्णन हैं, वैसे ही विस्तृत विवरण इन संहिताओं में मन्दिर-निर्माण तथा प्रतिमा-प्रतिष्ठा से सम्बन्ध रखते हैं। एतद्विषयक मेरे विचार 'यज्ञ से मूर्तिपूजा तक' शीर्षक पञ्चम प्रकरण में निबद्ध हैं।

वैष्णव भक्ति पर जिस प्रकार श्लोकबद्ध संहिताओं की रचना हुई (वैखानस-साहित्य गद्य में भी है), उसी प्रकार सूत्रशैली में उस पर नारद-भक्तिसूत्र तथा शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र भी लिखे गये। इन दोनों सूत्रग्रंथों में वर्णित भक्ति का मैंने वैज्ञानिक विश्लेषण किया है और श्रीमद्भागवत, भक्तिरसायन तथा भक्तिरसामृतसिन्धु में निरूपित भक्ति के अंगों के साथ उसकी तुलना की है। विष्णु की महत्ता तथा अवतारवाद पर मैंने अपने ढंग से विचार किया है। आळवार, उनकी भक्तिभावना तथा आचार्य रामानुज, मध्वभट्ट, निम्बार्क और विष्णुस्वामी के संबन्ध में भी मैंने अपने विचार प्रकट किये हैं, क्योंकि भागवतसम्प्रदाय के उन्नयन के साथ इनका विशेष सम्बन्ध है। अन्त में वैष्णव साहित्य के आधार पर भागवत भक्ति के क्रमिक विकास की मीमांसा की गई है।

मेरी समझ में वैष्णव भक्ति का प्रथम युग ज्ञान-ध्यान-परायणता का युग है, जिसे निवृत्ति-प्रधान युग भी कहा जा सकता है। चित्रशिखण्डी नाम के सात ऋषि और क्षीरसमुद्र के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप के निवासी इसी रूप में मानस जप जपते और प्रभु-ध्यान में मग्न रहते थे। राजा वसु उपरिचर के साथ वैष्णवभक्ति का दूसरा युग प्रारम्भ

होता है, जिसमें अहिंसक यज्ञों की प्रधानता है। यह युग प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों को अपनाये हुए है। उपरिचर द्वारा अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान प्रवृत्तिमूलक है और तपश्चर्या द्वारा भगवान् की ओर उसका उन्मुख होना निवृत्तिमूलक है। वैष्णव भक्ति के ये दो युग भागवतों के पांचरात्र तथा वैखानस दोनों सम्प्रदायों के लिये एक समान हैं। तीसरे युग में दोनों सम्प्रदायों का पथ पृथक्-पृथक् हो जाता है। वैखानस वैदिकपद्धति से चिपटे रहते हैं, पर पांचरात्र उससे भिन्न पथ का अनुसरण करते हैं। यह तीसरा युग द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण के साथ प्रारम्भ होता है। इस युग में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई और द्रव्यमय यज्ञ के स्थान पर भावमय यज्ञों का प्रचार हुआ। वैष्णव भक्ति का चतुर्थ युग ब्राह्मण-भागवत-सम्मिलन का युग है। इसी युग के साथ मूर्तिपूजा प्रारम्भ होती है। विविध प्रकार की शृङ्गार-सज्जा से विभूषित देव-प्रतिमायें बनाई जाती हैं। आन्तरिक ध्यान और उपासना के स्थान पर बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाली पूजा-पद्धति प्रचलित होती है, जिसमें कलश, शंख, घंटी, दीप, पुष्प आदि द्रव्य षोडश उपचार का कार्य करते हैं। इस युग के पश्चात् जो पंचम युग आता है, उसमें भगवान् की लीलाओं को विशेष रूप से स्थान मिलता है। श्रीकृष्ण की जिन लीलाओं का गान इस युग में हुआ है, उसे चतुर्थ युग वाले आचार्यों ने अपनी कृतियों में पहले तो स्थान ही नहीं दिया और यदि दिया भी है तो बहुत कम।

भागवत-भक्ति की इस मध्य शृङ्खला का अध्ययन हिन्दी-कवियों की भक्ति को समझने के लिये ही नहीं, वैदिक भक्ति के तत्त्वों तक पहुँचने के लिये भी आवश्यक है। वेद-वर्णित प्रभु के अनेक नामों में से किस प्रकार कतिपय नामों को प्रमुखता प्राप्त हुई और फिर उनके स्थान पर तथा उनके साथ साथ किस प्रकार अन्य नामों की प्रतिष्ठा होती गई, किस प्रकार अवतारवाद का प्रारम्भ हुआ, किस प्रकार हम यज्ञ-संस्था का परित्याग करके प्रतिमापूजन तक पहुँचे और किस प्रकार सदाचार तथा चिर-विरह को भक्ति के अङ्गों में प्रधान स्थान मिला—इन सबका स्पष्टीकरण भागवत-भक्ति के अनुशीलन के बिना नहीं हो सकता। इस प्रसंग में उठे हुये प्रश्नों के उत्तर भक्ति के ऐतिहासिक विकास के रोचक विश्रामस्थल हैं, जिनकी अन्तिम सीमा पर ईश्वर के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम के आकर्षक दृश्य दिखाई देते हैं। वेद का यह पुराण में परिणमन है। इससे निराकार साकार बना, अनन्त सान्त बना और सूक्ष्म स्थूल बना। प्रभु स्थावर एवं जंगम दोनों का आत्मा है। फिर जंगम चेतना ही क्यों? स्थावर द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति और भक्ति क्यों न की जाय? पल-पल में इसी स्थावर की अनुभूति हमारी

जीवन-संगिनी बनती है। गत्यात्मक चेतना तक तो विरले प्राणियों की ही पहुँच हो पाती है।

पर, यह लिखना तो वैष्णव आचार्यों, कवियों और साधकों के साथ अन्याय करना होगा कि वे केवल स्थूल से ही चिपटे रहे। वास्तव में स्थूल द्वारा वे सूक्ष्म तक पहुँचे हैं। जैसे पौराणिक कथायें मांस-पिण्ड के ऐतिहासिक व्यक्तियों का रूप खड़ा करके हमें सूक्ष्म आदर्शों तक ले जाती हैं, उसी प्रकार वैष्णव प्रतिमायें और उनके नाम हमें परम-सत्ता का बोध कराते हैं। सूर और तुलसी ने इस विषय में सन्देह के लिये कोई भी स्थान नहीं रखा है।

हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल किन परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ, किन धार्मिक आन्दोलनों का उस पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा, इस युग के हमारे साहित्य की प्रमुख विशेषतायें क्या हैं और कौन-कौन कवि उनका प्रतिनिधित्व करते हैं—इन विषयों पर छठे अध्याय में प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय के एक प्रकरण—'हिन्दी-काव्य पर सूफीप्रभाव की मीमांसा' में मैंने नये सिरे से विचार किया है। सम्भव है कुछ विद्वानों को वह अनुकूल प्रतीत न हो। लोक भिन्न रुचि वाला होता ही है।

सप्तम, अष्टम, नवम तथा दशम अध्यायों में क्रमशः हिन्दी के भक्तिकालीन प्रतिनिधि कवियों—कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की भक्ति का विवेचन है। इस भक्ति की एक प्रमुख विशेषता पौराणिकता है, जिसमें ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल, अम्बरीष, गज-ग्राह आदि की भक्तिपरक कथाएँ आती हैं, प्रभु के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम की अपनी-अपनी रुचियों के अनुकूल चर्चा है तथा वैष्णवी और नारदी भक्ति का बार बार उल्लेख है। निर्गुणपन्थी कबीर की रचनाओं में भी यह विशेषता पाई जाती है। मलिक मुहम्मद जायसी सूफी हैं और यद्यपि भक्ति शब्द उनकी रचनाओं में एकाध बार ही आया है, पर वे भी हिन्दुओं की इस पौराणिकता से प्रभावित हैं। नाथपन्थी गोरख, भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि योगियों का नाम तो वे लेते ही हैं, साथ ही वैष्णवों के राम और कृष्ण की गाथाओं को भी विस्मृत नहीं होने देते। हिन्दू पौराणिकता के साथ उन्होंने अरबी तथा पारसीक पौराणिकता का भी संयोजन किया है।

जिस सदाचार की प्रतिष्ठा भक्ति के अङ्गों में हो चुकी थी, उसका वर्णन प्रभु-प्राप्ति के साधनों के रूप में इन चारों कवियों ने किया है। सूर के प्रारम्भिक पद तो इस भक्ति-भावना के विषय में अन्य कवियों जैसे ही हैं, पर उनकी परवर्ती रचना जो आचार्य वल्लभ और गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्पर्क में लिखी गई, एक भिन्न पथ का

अनुसरण करती है। उसमें भक्ति के वे तत्त्व उसी रूप में दिखाई नहीं देते, जो कबीर और तुलसी में वैष्णव भक्ति के अनुकूल आये हैं। सूर का हरिलीला-गायन न कबीर में है, न जायसी में और न तुलसी में। कबीर और जायसी का लीला वर्णन सृष्टि के उत्पादन, पालन और संहार से सम्बन्ध रखता है। तुलसी इसके साथ सामाजिक तत्त्वों को भी मिला देते हैं, पर सूर भावमयी लीला के अतिरिक्त, जिसमें वात्सल्य और शृङ्गार के एक से एक बढ़कर चित्र हैं, अन्यत्र पैर नहीं रखते। लीला-गायन में तुलसी की रामगाथा की भाँति वे भी कृष्ण-गाथा लिख देते हैं, पर उसकी इतिवृत्तात्मकता में उनका मन रमण करता नहीं जान पड़ता। वे स्वयं-प्रकाश हो चुके थे। अतः भावमयी लीला में मग्न रहते हुये वे सब ओर से असम्पृक्त हो गए। उनके लीलादर्शन के इसी पक्ष को हमने ऐकान्तिक एवं सामाजिकता से शून्य कहा है।

वैदिक भक्ति के साथ इन कवियों की भक्ति का कहाँ तक साम्य है और कहाँ तक वैषम्य—इस विषय का विवेचन प्रबन्ध के अन्तिम एकादश अध्याय में किया गया है। प्रभु एक है, पर उसके नाम अनेक हैं, यह तथ्य वैदिक ऋषियों से लेकर आज तक के भक्तों को मान्य रहा है। यह दूसरी बात है कि किसी भक्त-विशेष को अपनी रुचि एवं आस्था के अनुकूल कोई विशेष नाम ही प्रिय हो। इस विषय में कबीर वेद के अधिक निकट हैं। सूर की प्रारम्भिक रचनाओं में भी यह तथ्य विद्यमान है। जैसे वेद नाना नामों द्वारा उस एक की ही स्तुति करता है, वैसे ही कबीर और सूर अपने समय में प्रचलित विभिन्न नामों द्वारा उस एक के स्तवन में ही लीन हैं। वैदिक-युगीन नामों में से केवल ओश्म्, ईश, शिव, विष्णु, हरि और ब्रह्म नाम ही इस युग में अवशिष्ट रह सके थे। अन्य नाम या तो देवताविशेष से सम्बद्ध हो गये या किसी के वाहन, पुत्र और पत्नी बन गये। पौराणिकों के आलंकारिक आख्यानों ने उनके वाच्यार्थ में ही परिवर्तन कर दिया। राम और कृष्ण नामों का प्रचार इस युग में विशेष रूप से हुआ।

धामों का वर्णन कबीर में वेदानुसार है, पर तुलसी का वैकुण्ठ और क्षीरसागर तथा सूर का गोकुल और वृन्दावन वेद के नहीं, पुराणों के आधार पर हैं। जायसी का सतखंडा महल वेद के सप्त धामों का स्मरण कराता है।

अवतारवाद और प्रतिमापूजन की स्थूलता का प्रतिकार कबीर में दृष्टिगोचर हुआ था, पर सगुण भक्तों ने उसे पुनः जहाँ का तहाँ स्थिर कर दिया। भगवान् के अनुग्रह का सम्पादन चारों भक्त कवियों को स्वीकार है। नाम-रूपादि के अतिरिक्त वैदिक-

भावानुभूतियों से इन कवियों के साम्य तथा वैषम्य की मीमांसा इस अध्याय के अन्त में की गई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध कुछ सीमाओं में आबद्ध होकर लिखा गया है। अतएव उसमें शैव तथा शाक्त भक्ति-पद्धतियों का समावेश नहीं हो सका। पारसीक, बौद्ध, जैन, ईसाई, इसलाम आदि भक्ति-प्रणालियों की चर्चा भी नहीं की गई है। प्रभु की शरण में बिना पहुँचे किसी भी व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय को शक्ति प्राप्त नहीं होती। अतः इन सम्प्रदायों की भक्ति-सम्बन्धी विशेषताओं का उद्घाटन भी होना चाहिये। जितना कार्य इस प्रबंध में हो सका है, उसे आगे बढाने और पूरक का कार्य करने में किसी न किसी विद्वान् के हाथ आगे बढ़ेंगे ही, इसी आशा पर इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है।

अस्तु, इस प्रबन्ध के दार्शनिक विवेचन में मैंने अपने पूज्य गुरु, आचार्यप्रवर लाला दीवानचन्द जी के ग्रन्थों और विचारों का आश्रय विशेष रूप से लिया है। उनका मार्ग-प्रदर्शन मुझे भ्रान्तियों के कान्तार में भटकने से बचाता रहा है। वैदिक मन्त्रों के अर्थ निश्चित करने में मुझे वेदव्याख्याता सायणाचार्य, महर्षि दयानन्द, आचार्य विश्वबन्धु, योगिराज अभयदेव और वयोवृद्ध वेदाचार्य पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी के ग्रन्थों से अनुपम सहायता मिली है। जिन अन्य विद्वानों के ग्रन्थों से मैंने इस प्रबन्ध के लिखने में सहायता ली है, उनके नाम यथास्थान लिख दिये गये हैं। मैं अत्यन्त विनम्र भाव से इन समस्त महापुरुषों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आगरा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति परमादरणीय आचार्य कालिकाप्रसाद जी भटनागर का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनकी मंगलमयी प्रेरणा से यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका।

प्रबन्ध के लेखन-काल में कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त के साकेत की यह पंक्ति— 'तिल तिल काट रही थी दृगजलधार' बार-बार मस्तिष्क में गूँजती और अनुभव होती रही। गुप्तजी की इस अप्रत्यक्ष प्रेरणा को मैं कैसे भूल सकता हूँ! विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने परिचय रूप में जो शब्द लिख दिये हैं, वे अतीव मूल्यवान् हैं। उनके लिए धन्यवाद देना तो कोरी औपचारिकता होगी, वेद के शब्दों में—

'अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति।'

विनयावनत—
मुंशीराम शर्मा

रामनवमी, २०१३ वि०

विषय-सूची

वैदिक भक्ति से साम्य तथा वैषम्य

—०:०—

भक्ति का विकास

प्रथम अध्याय

ईश्वर का अस्तित्व

वैज्ञानिक दृष्टि : मानवशरीर और ब्रह्माण्ड

मैं, मेरी बुद्धि, मेरा मन, मेरा प्राण और मेरा शरीर सब मिलकर एक सुव्यवस्थित मानव-संगठन का निर्माण करते हैं। ऐसे संगठन इस ब्रह्माण्ड में अनेक हैं। निखिल ब्रह्माण्ड स्वतः ऐसा ही एक बृहत् संगठन है। इन्हें हम एक ही तत्त्व के दो संस्करण कह सकते हैं। एक लघु संस्करण है, तो दूसरा विशाल। दोनों संस्करणों में विचित्र साम्य है। जिस प्रकार लघु संस्करण के निष्पादक अवयव बाहर से भीतर तक स्थूल से सूक्ष्म तथा निष्क्रिय से अपेक्षाकृत सक्रिय होते गये हैं, उसी प्रकार बृहत् संस्करण के।

मानव-संगठन के निर्माण में शरीर के भीतर की सात धातुएँ—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र कारण-कार्य-पूर्वक परस्पर सम्बद्ध हैं[1]। सत्, रज, तम के भेद से सातों के इक्कीस भेद हो जाते हैं। यही भेद इस ब्रह्माण्डरूपी संगठन में है। वैदिक पुरुषसूक्त में इन्हें इक्कीस समिधाएँ कहा गया है।

शरीर जैसे नितान्त स्थूल परमाणुओं का संघात है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के पृथ्वी आदि लोक भी। शरीर की ही भाँति ब्रह्माण्ड में प्राणशक्ति संचरित हो रही है। हमारा सूक्ष्म मन ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म आकाश है। हमारी बुद्धि ब्रह्माण्ड का द्यौलोक है। मानव-संगठन के समस्त अवयवों का प्रेरक जीवात्मा है, तो निखिल ब्रह्माण्ड के अवयवों का प्रेरक एक परम आत्मतत्त्व होना ही चाहिये।

शरीर के अन्दर सप्त धातुओं की निर्मिति, नाड़ी-चक्र, प्राण-विधान, मन की चंचल गतियाँ, चित्त का वासना-पुंज, बुद्धि की निर्णायिका शक्ति, सब ऐसे वैचित्र्य के साथ संयुक्त हैं कि बड़े से बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक इनकी ओर दृष्टिपात करते ही आश्चर्यचकित हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड की रचना भी

---

१. चरक संहिता २८-४ तथा भावप्रकाश, पूर्वखंड, २-१५९।

इससे कम विस्मयविमुग्ध करनेवाली नहीं है। दोनों ही स्थानों पर अद्भुत साम्य-शृंखला के दर्शन होते हैं। यह साम्य बाहर से भीतर तक विद्यमान है। जैसे यहाँ एक संगठन को देखकर उसके रचयिता का भान होता है, वैसे ही इस ब्रह्माण्ड के संगठन को देखकर। रचयिता की रचनाशक्ति में प्रकाशात्मिका बुद्धि निहित रहती है। उसी बुद्धि का विशाल रूप ब्रह्माण्ड-रचयिता के भीतर होना चाहिये।[1]

विज्ञान और ब्रह्माण्ड

आधुनिक विज्ञान ने ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान प्रस्तुत किये हैं, वे उस परम तत्त्व की विशाल बुद्धि पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। सृष्टि-निर्माण की योजना और उसकी कार्य-परिणति पर वैज्ञानिकों ने जो खोज की है, वह निश्चित रूप से इस दिशा की ओर संकेत करती है कि सृष्टि अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो गई। उसके पीछे एक महान् मस्तिष्क कार्य कर रहा है। सौर जगत् के सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि समस्त ग्रह और उपग्रह ऐसे आकर्षण-सम्बन्ध में परस्पर सम्बद्ध हैं, उनकी दूरी, गति एवं परिमाण ऐसे निश्चित और नपे तुले हैं[2] और एक दूसरे के सहायक बने हुए वे ऐसे सुरक्षित और सुदृढ हैं कि उनके इन व्यापारों के पीछे एक अनन्त चेतन सत्ता की विद्यमानता का बरबस अनुभव होने लगता है।[3]

---

1 'The whole frame of Nature bespeaks an intelligent author' 'The idea of God' p 15 by Pringle pattison 'The idea of a Universal Mind or Logos would be a fairly plausible inference from the present state of scientific theory, at least, it is in harmony with it' 'The nature of the physical world' p 338 by Eddington

२. यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः। यजु० ३२ . ६, जिसने अन्तरिक्ष में लोकों को नाप-तौलकर रखा है।

३ फ्लिंट ने अपने ग्रंथ 'थीइज्म' के पृष्ठ १३८ पर इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं : Each orb is affecting the other Each is doing what, if unchecked, world destroy itself and the entire system; but so wonderously is the whole constructed that these seemingly dangerous disturbances are the very means of preventing destruction and securing the universal welfare.

फ्रांस के प्रसिद्ध गणितज्ञ लाप्लास (१७७९ ई०) ने जब नीहारिकावाद (नेबुलर थेयरी) को जन्म दिया, तो उसने विश्व की मूल कारण तेजोमय वाष्पराशि की विभिन्न गतियों का सामंजस्य, पश्चिम से पूर्व की ओर प्रयाण, ताप की विकीर्णता से छोटे-छोटे आग्नेय खंडों का सूर्य, पृथ्वी आदि में परिणमन, सूर्य के पुत्ररूप ग्रह और पौत्ररूप उपग्रहों का निर्माण आदि ऐसे ढंग से उपस्थित किया, कि वह विश्वरचना में क्रियाशील एक निर्धारित नियम की ओर स्पष्ट संकेत करने लगा। जब लाप्लास अपने ग्रन्थ को दिखाने के लिये नैपोलियन के पास गया, तो उसने ग्रन्थ को सुनकर पूछा, 'लाप्लास! तुमने सृष्टि का तो वर्णन किया, परन्तु उसके रचयिता का नाम भी नहीं लिया!' लाप्लास बोला, 'श्रीमान्! उसके वर्णन की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।'

नीहारिकावाद तथा हिरण्यगर्भवाद

नीहारिकावाद से मिलता-जुलता भारतीय मनीषियों का हिरण्यगर्भवाद है। इसका उल्लेख अथर्ववेद १०।७।२८, मनुस्मृति १।९, श्रीमद्भागवत २।५ तथा ३।२६ और गीता १४।३, ४ में है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को जो उपदेश दिया है, उसमें भी सृष्टि का वही क्रमिक विकास विद्यमान है जो नीहारिकावाद के अन्तर्गत प्रदर्शित किया गया है। अग्नि, जल और अन्न क्रमशः सृष्टिनिर्माण के गैसिक, लिक्विड और सालिड स्तरों को सूचित करते हैं। हमारे यहाँ लोक भी तीन प्रकार के माने गये हैं: सूर्य, नक्षत्र और पृथ्वी। प्रथम प्रकार के लोक प्रकाशमय हैं, द्वितीय प्रकार के तमोमय तथा प्रकाशमय और तृतीय प्रकार के तमोमय, जिनमें क्रमशः सत्, रज तथा तम की प्रधानता है। ऋग्वेद के अनुसार सत्, रज तथा तम के परमाणु-मिथुन ७२० हैं[1] जिनकी सत्यता की खोज आधुनिक वैज्ञानिकों को अभी करनी है।

---

१. द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च॥ ऋ० १:१६४:११.

शतपथ, १२-१-१०-३, ४ में भी इन मिथुनों का वर्णन है और वहाँ ३६० दिन या रात्रियों की तुलना में पुरुष की मज्जा या अस्थियों को रखा गया है। दोनों का युग्म मिलकर ७२० होता है।

प्राकृतिक नियम

सृष्टि के अटल नियम के अनुसार पृथ्वी अपने अक्ष पर २४ घंटों में २५००० मील के हिसाब से एक घंटे में लगभग एक सहस्र इकतालीस मील घूमती है[1]। यदि वह एक घंटे में सौ मील के हिसाब से घूमती, तो हमारे दिन-रात दसगुने लम्बे हो जाते। परिणामतः सूर्य का ताप दिन में इतना अधिक और इतनी देर तक हमें प्राप्त होता, कि वह हमारी हरित वनस्पतियों, शाक और भाजी को भस्म कर देता तथा रात्रि की शीतलता में उगते हुए अंकुरों को हिमाच्छादित करके समाप्त कर देता।

सूर्य का तापमान इस समय बारह सहस्र अंश फैरनहाइट है और जो दूरी हमारी पृथ्वी और सूर्य के बीच में है, उससे अनुपात के अनुकूल हमारा जीवन विकसित होता रहता है। यदि सूर्य का तापमान इससे आधा होता, तो हम हिम के कारण ठिठुर कर सन्न हो जाते, और यदि दूना होता तो हम जलकर खंखार हो जाते।

वैज्ञानिक खोज के अनुसार पृथ्वी अपने अक्ष पर साढ़े तेईस अंश झुकी हुई है, जिससे हमें छः ऋतुएँ मिल जाती है। यदि ऐसा न होता तो समुद्र से वाष्प उठकर उत्तर-दक्षिण निकल जाती और सब कुछ यहाँ तुषार से आच्छादित रहता। इसी प्रकार हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर लारेंस हैन्डर्सन का कथन है कि पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमने से जो दिन और रात होते हैं और उनसे जो प्रकाश और अंधकार उत्पन्न होता है, उसके कारण वृक्ष दिन में कार्बन डाईआक्साइड को ग्रहण करके कार्बन अपने पास रख लेते हैं और ओषजन को वायुमंडल में फेंक देते हैं, जो मनुष्य और पशुओं के लिये प्राणदायक है। रात्रि के समय वृक्ष ऐसा नहीं कर पाते।[2]

विज्ञान कहता है कि चंद्रमा पृथ्वी से दो लाख चालीस हजार मील दूर है। यदि चन्द्रमा पृथ्वी से कम दूर अर्थात् समीप होता, तो दिन में दो बार समुद्र का ज्वार उठकर समस्त स्थल को जल से भर देता, यहाँ तक कि पर्वतमाला भी उसमें डूब जाती। यदि पृथ्वी पर वायुमंडल बिलकुल न होता, तो दिन का तापमान २३० अंश होता और रात्रि का माइनस ३००,

---

१. 'दी यूनिवर्स एराउण्ड अस' संस्करण १९३०, पृष्ठ ३६, ले० सर जेम्स जीन्स।

२ कैनेथ वाकर द्वारा लिखित 'मीनिंग एण्ड परपज' के पृष्ठ १०२ पर उद्धृत।

और परिणामतः न तो यहाँ किसी प्रकार का जीवन होता और न किसी प्रकार का शब्द होता। और यदि हमारा वायुमंडल जैसा है, उससे अधिक सूक्ष्म होता, तो कुछ पुच्छल तारे, जो इस समय लाखों की संख्या में प्रतिदिन जलकर भस्म होते रहते हैं, पृथ्वी के भागों से टकराते और ज्वाला उत्पन्न करके पृथ्वी को जलाते रहते। इससे सिद्ध होता है कि जो विधान इस सृष्टि में पाया जाता है, वही उसकी स्थिति के लिये आवश्यक है। इस विधान का विधाता कौन है?[1]

विश्व में सहस्रों वस्तुएँ हैं, पर उनमें से एक भी वस्तु आवश्यकता से अधिक नहीं हो पाती। प्रत्येक वस्तु को अपनी स्थिति के लिये किसी न किसी अन्य वस्तु पर अवलम्बित होना पड़ता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से सभी वस्तुएँ परस्पर संग्रथित हैं।[2] यदि कोई वस्तु आवश्यकता से अधिक मात्रा में फैल जाती है, तो वहीं उसके विनाशक कीटाणु काम करने लगते हैं और उसकी अधिक मात्रा को उदरस्थ करके उसे अनुपात की अवस्था में ले आते हैं। प्रकृति में इस प्रकार के अवरोधात्मक किन्तु सन्तुलनात्मक तत्त्व सार्वभौम रूप से पाये जाते हैं।[3] शीघ्र सन्तान उत्पन्न करनेवाले कीड़े बढ़कर संसार को इसी कारण आच्छादित नहीं कर पाते। इस विधान का प्रचार यहाँ किसने किया है?

वनस्पति-शास्त्र ने विकसित होकर प्रत्येक पादप के बीज, अंकुर, वृद्धि, फूल और फल में परिणमित क्रम को ही नहीं, विशिष्ट बीजों से विशिष्ट

---

1. Pringle Pattison अपने ग्रन्थ 'The idea of God' के पृष्ठ २५ पर लिखते हैं : 'There is an eternal, inherent principle of order in the world, which proves an omni-potent mind.........All the sciences almost lead us to acknowledge a first intelligent author.'

2. That everything in the universe is integrated with everyother part of it.........is now becoming obvious to scientists.

—'Meaning and purpose,' P. 100, by Kenneth Walker.

3. The universe is delicately poised so that the slightest disturbance will couse it to topple into a state of ever increasing expansion or of ever increasing contraction.

—'The expanding universe,' P. 53, by A. Eddington.

पादपों की उत्पत्ति के क्रम को भी ढूँढ़ निकाला है। भूगर्भविद्या, खगोल-विद्या, शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान आदि सभी शास्त्र अपने क्षेत्र में कार्य करनेवाले नियमों की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं। इस समय विज्ञान की कोई भी ऐसी शाखा नहीं है, जो विश्व के किसी भी विभाग को नियम-नियंत्रण-विहीन घोषित करती हो।

श्री ए० सेठ प्रिंगले पेटीसन अपने ग्रन्थ 'दी आइडिया आफ गाड' के पृष्ठ ९, १० पर लिखते हैं: 'विश्व के समग्र रूप को एक साथ लेकर अथवा उसके किसी एक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार कीजिये तो वह एक बृहद् यंत्र प्रतीत होगा, जिसके भीतर अपरिमित छोटे-छोटे यंत्र हैं। इन छोटे-छोटे यंत्रों के भीतर पुनः अनेक लघुतर एवं लघुतम यंत्र विद्यमान हैं, जो मानव की खोज-शक्ति तथा व्याख्या-शक्ति की सीमा में आज तक आबद्ध नहीं हो सके। ये विभिन्न यंत्र अपने समस्त अंशों के साथ ऐसे घनिष्ठ रूप में सहयुक्त हैं कि सभी विचारशील मानव उसकी प्रशंसा करते हैं। प्राकृतिक जगत् में साधन और साध्य का सम्बन्ध सर्वत्र वैसा ही है, जैसा मानवीय बुद्धि की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है, अथवा यह कहना युक्तिसंगत होगा कि वह इससे कहीं अधिक बढ़कर है। जब कार्यों में समता है, तो कारणों में भी समता होनी ही चाहिये। अतः मानव-मस्तिष्क की ही भाँति, प्रकृति के महान् कार्य-जगत् का रचयिता एक ऐसा महान् मस्तिष्क होना चाहिये, जिसमें महद् कार्य की अपेक्षा महद् शक्तियाँ भी विद्यमान हों।'

इस कथन की वास्तविकता विज्ञान के सभी क्षेत्रों की खोजों से सिद्ध हो रही है। शरीर-विज्ञान का अध्येता जब चक्षु-निर्माण पर दृष्टि डालता है, उसके विभिन्न अवयवों के संगठन पर विचार करता है, तो उसे निस्सन्देह एक अपूर्व रचयिता का भान होने लगता है। जैसे विश्व एक यंत्र के समान है, वैसे ही शरीर भी, जिसके समस्त अंग सहयोग की क्रिया-द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। मानव ने समाजशास्त्र का आधार शरीरविज्ञान से ही ग्रहण किया है।

जीवविज्ञान की दृष्टि से सोचें, तो जीवन स्वयं एक महान् मस्तिष्क या सर्वव्यापक बुद्धि का परिचय दे रहा है। जीवन की थाह अभी तक किसी को नहीं मिली। इसकी नाप-तौल, लम्बाई-चौड़ाई आदि कुछ भी नहीं, फिर भी इसमें महती शक्ति विद्यमान है। एक फूटता हुआ अंकुर पहाड़ को भी विदीर्ण

करता हुआ बाहर आ जाता है। प्रकृति की समस्त उद्दाम शक्तियों पर जीवन विजयी बना हुआ है।

पृथ्वी-मंडल पर जो जीवन पाया जाता है, वह आकस्मिक नहीं है। उसका एक विशिष्ट उद्देश्य है। पार्थिव वनस्पतियाँ सूर्य से आती हुई प्राण-शक्ति को लेकर अपने सरल अणुओं (मौलीक्यूल्स) को मिश्रित अणुओं में परिणत कर देती हैं। वृक्षों से भरे हुए जंगल पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति को मरुस्थल के आक्रमणों से सुरक्षित रखते हैं। वे मिट्टी को वर्षा की बाढ़ में बह जाने से भी रोकते हैं। संस्कृत में जल को जीवन कहा गया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी जल के तत्त्वों का विश्लेषण करके इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। कैनेथ वाकर ने अपने ग्रन्थ 'मीनिंग एण्ड परपज़' के पृष्ठ १०२ पर व्हेवेल का मत उद्धृत करते हुए लिखा है: 'The Various properties cf water are uniquely suitable for the suppoit of life. No other substance could substitute water in an environment like ours.' जल में जिस अनुपात से जीवन को सुरक्षित रखनेवाले तत्त्व मिश्रित हैं, उनसे बढ़कर हमारे वातावरण में और कुछ हो नहीं सकता। इस सम्बन्ध में जल के स्थान को और कोई द्रव्य नहीं ले सकता। कैनेथ वाकर अपने इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १०१ पर लिखता है: 'A stupendous chemical industry has been at work converting carbon-dioxide and water into carbo hydrates and synthesizing nitrates into proteins. By this immense industry of plants, not only other forms of life have been able to obtain nourishment, but the way has been prepared for larger enterprizes, all of which have, profoundly affected economy of the earth.' वृक्षों के रूप में इस पृथ्वी पर एक ऐसा अद्भुत रासायनिक कारखाना चल रहा है जो कार्बन डाईआक्साइड और जल को कार्बो-हाइड्रेट अर्थात् शक्कर, शहद, माड़ और रुई में परिवर्तित करता रहता है और नाइट्रेट को कार्बन और जल के साथ मिलाकर प्रोटीन बनाता रहता है। इस प्रक्रिया द्वारा जीवन के अन्य समस्त प्रकारों को अपनी पोषण-सामग्री प्राप्त होती रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य उद्योगों के लिए भी मार्ग प्रशस्त होता

रहता है, जिससे सबको सब दिशाओं में कार्य नहीं करना पड़ता और श्रम की मितव्ययिता बनी रहती है। जीवन और जीवन-सम्बन्धी साधनों का यह विशाल कारखाना किसकी देखरेख में चल रहा है?

इस जीवन का भी जीवन, निस्संदेह, एक मूल महाजीवन है, जिसने तक्षा के रूप में विभिन्न मूर्तियों के नाना-रूप साँचे तैयार किये हैं। वृक्षों के पत्तों और फूलों के रंगों में उसकी अद्भुत कारीगरी प्रकट हो रही है। पक्षियों के कलरव में वह संगीतकार बना बैठा है। जीवन-रसायनी बनकर वह फलों में रस, मसालों में स्वाद और फूलों में गन्ध उत्पन्न करता है। जल और कार्बन के पृथक् पृथक् अनुपात से लकड़ी और शक्कर भी उसी ने तैयार की है और इस प्रक्रिया द्वारा ओषजन उत्पन्न किया है, जो पशुओं का जीवन है। प्रोटोप्लाज़्म की एक अदृश्य बूँद सूर्य से प्राणशक्ति पाकर समस्त जीवन-जगत् का कारण बनी हुई है। यह जीवन प्रकृति से उत्पन्न नहीं हुआ। फिर इस जीवन का स्रोत कहाँ है? हक्सले के शब्दों में 'लाइफ इज़ दी काज़ एंड नाट दी कौन्सीक्वेंस आफ आरगैनाइज़ेशन' अर्थात् इस जीवन का स्रोत जीवन ही है। जीवन किसी संगठन का परिणाम नहीं, प्रत्युत उसका कारण है।

जीवन के सम्बन्ध में दो विभिन्न एवं परस्पर-विरोधी विचार प्रचलित रहे हैं। एक विचार के अनुसार जीवन नीचे लुढ़कता हुआ प्रकृति के धरातल से एक हो जाता है और दूसरे विचार के अनुसार वह ऊपर चढ़ता हुआ आत्मतत्त्व से मिल जाता है। प्रकृतिवाद समस्त जीवन-जगत् को प्रकृति का ही खेल कहता है। आत्मवाद उसे प्रकृति का भाग अथवा प्राकृतिक परिवर्त्तनों का परिणाम नहीं समझता। इसी आधार पर प्रकृतिवादियों को भोगवादी और आत्मवादियों को आदर्शवादी कहा जाता है। भोगवादी की दृष्टि केवल प्रत्यक्ष पर रहती है, परन्तु आदर्शवादी इसे पशुकोटि का जीवन समझकर प्रत्यक्ष या वर्तमान से ऊपर उठता है और अपनी बुद्धि की सहायता से प्रत्यक्ष के पीछे और आगे भी देखता है। वर्तमान जीवन उसकी दृष्टि में विशाल जीवन-शृंखला की एक कड़ी मात्र है।

विज्ञान के अनुसन्धान जब स्वयं वैज्ञानिक को सोचने का अवसर देते हैं और उसके मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालते हैं, तो वैज्ञानिक की स्थिति दार्शनिक की सी हो जाती है। जब वह देखता है कि सृष्टि में पाया जाने-

वाला पूर्ण क्रम इसके पूर्व पूर्णतया अस्तव्यस्त (केयौटिक) सामग्री को अनन्त व्यक्तियों या इकाइयों के ढाँचे में ढालनेवाले व्यक्तिकरण (इन्डिविजुएशन) के रूप में था, तो वह सोचता है कि क्या यह सब अपने आप हो रहा था ? दूसरी ओर वह बाल-मनोविज्ञान, जो स्वतः अब एक प्राकृतिक विज्ञान माना जाने लगा है, के आधार पर बालक के इन्द्रिय-संवेदन (सैन्सेशन्स), भेदीकरण (डिफरेंसियेशन) और पदार्थबोध (परसैप्शन) के क्रम में सृष्टि के उसी क्रम को देखता है और यहाँ उस चेतना-सम्पन्न बालक की सहायता करनेवाले अन्य चेतन मानवों को देखता है, तो सृष्टि को क्रम की पूर्णता पर पहुँचानेवाली एक महाचेतन सत्ता की ओर स्वभावतः उसकी कल्पना चली जाती है। हम स्वयं अपने सामने मिट्टी के ढेर में से पानी तथा कुछ यंत्रों की सहायता से मानव को ईंटें बनाते और उन ईंटों से महल बनाते देखते हैं। इस निर्माण में भी फैली हुई सामग्री, सामग्री का व्यक्तिकरण और व्यक्तिकरण से व्यवस्था की ओर चलने में एक निश्चित क्रम पाया जाता है और उस क्रम के मूल में एक चेतन सत्ता का हाथ दिखाई देता है। सर जेम्स जीन्स ने इसे चेतना (थौट) और आइन्स्टाइन ने इसे बुद्धि (इन्टैलिजेंस या रेशनैलिटी) नाम दिया है।

सृष्टि विभिन्नरूपा होकर भी एक है। अंग्रेजी में इसका नाम ही यूनिवर्स है, जिसे हिन्दी में एकात्मकाव्य कहा जा सकता है। वेद तो इसे देव का काव्य कहता ही है। काव्य की संगीतात्मक, भावात्मक एवं कल्पनात्मक एकता उसके जनक चेतन तत्त्व की एकरूपता को प्रकट करती है। इसी प्रकार सृष्टि का काव्यत्व (हार्मनी) उसके एक स्रष्टा होने का संकेत देता है, जो चेतन है। बाहर सृष्टि के विभिन्न अवयव मिलकर, एक दूसरे को आकर्षित करने तथा एक नियम में आबद्ध होने के कारण, एक हैं। उनकी यह नियमबद्धता ही इस एकता की निर्देशिका है।[1] इसी प्रकार भीतर

---

1. Every particle of matter in the universe attracts, to some extent, everyother particle. There is thus presented to the mind a sublime picture of the inter-relatedness of all things. All things are subject to law and the universe is in this respect a unit

P. W. Brigman—'Reflections of a Physicist,' P. 82, Newyork 1950.

भावना, कल्पना और चेतना की एकता है। नियमों की यह एकप्रकारता पुनः एक नियम है। इस नियम का एक नियामक है। अतः अन्तः तथा बाह्य चाहे जिस दृष्टि से देखें, यह विविधरूप जीवन और जगत् एक चेतन नियामक का ही कार्य प्रतीत होता है।

इसी सर्वोपरि चेतन नियामक तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। मानव स्वयं इस सत्ता की भावना अपने में करता है। ईश्वर का विचार मानव की प्रातिभ शक्ति, कल्पना की उपज है, ऐसा भी कहा जाता है। इसी कल्पना शक्ति द्वारा वह अदृश्य शक्तियों का भी अनुमान किया करता है। कल्पना-का क्षेत्र असीम है। मानवी कल्पना की पूर्णता आध्यात्मिक सत्यता में परिणत हो जाती है। इसी से वह जहाँ योजना, क्रम तथा उद्देश्य की एकता पाता है, वहीं वह उस महान् सत्य, ईश्वर के दर्शन करने लगता है। जैसा लिखा जा चुका है, उसे यह एकता बाहर भी दिखाई देती है और अपने भीतर भी। अतः वह बाहर से हटकर उस महान् सत्ता का अनुभव अपने हृदय की गुहा में, अपने समीप ही, अपनी सधस्थता[1] में ही, करने लगता है। सन्त एवं भक्त कवि तभी तो कहते रहे हैं:

'स्वामी जू मेरे पास हो, केहि विनय सुनाऊँ ?'

अभी तक हमने वैज्ञानिक दृष्टि से इस परमतत्त्व के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं। वैज्ञानिकों ने व्यापक नियमों की क्रियाशीलता का अनुभव करके विभिन्न शाखाओं के अध्ययन को एक विशाल शाखा के अध्ययन में पर्यवसित किया है। उन्होंने वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र को जीवन-विज्ञान का अंग माना है। जीवनविज्ञान, भौतिकी एवं रसायन अन्त में दर्शनशास्त्र में मग्न हो जाते हैं। अतः दर्शनशास्त्र की खोज इस परमतत्त्व के संबन्ध में कहाँ तक पहुँची है, इसे भी देख लेना चाहिये।

---

१ अवयत्स्वे सधस्थे देवाना दुर्मतीरीक्षे राजन्नपद्विषः सेध मीढ्वो अपस्रिधः सेध ॥
ऋ० ८।७९।९

[हे परम प्रकाशमय प्रभु ! तुम यहीं मेरे भीतर मेरे साथ बैठे हो। अत: जैसे ही देवों की दुर्मतियों को देखो वैसे ही हे अमृत सिंचक! इन दुर्मतियों को दूर कर दो, इन द्वेषों और हिंसावृत्तियों को नष्ट कर दो।]

दार्शनिक दृष्टि

दर्शनशास्त्र प्रमुख रूप से पर-प्रकृतिशास्त्र अथवा तत्त्वज्ञान (मेटा-फिज़िक्स), मनोविज्ञान (साइकौलौजी) और आचारशास्त्र (एथिक्स) तीन भागों में विभाजित है। अतः हम यहाँ इन्हीं तीन क्षेत्रों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

पर-प्रकृतिशास्त्र अथवा तत्त्वज्ञान : वैज्ञानिकों ने प्रकृति के जिस रूप का उद्घाटन किया, उसमें जिन नियमों के दर्शन किये, उनसे हम सदैव अपने को घिरा हुआ पाते हैं। यह प्रकृति निरन्तर रूप-परिवर्तन करती रहती है। जो कल था वह आज नहीं है, जो आज है वह कल नहीं रहेगा। प्रतिपल अभिनवता जैसे उसकी जीवन-संगिनी बनी हुई है। फिर भी जो सूर्य कल था, वही आज फिर उदित हो रहा है। जो पूर्णचन्द्र विगत पूर्णिमा को उदय हुआ था, वही लगभग ३० दिन पश्चात् आनेवाली पूर्णिमा को पुनः दिखाई दे रहा है। अभिनवता में यह प्राचीनता कैसी? सहस्रों परिवर्तनों के पश्चात् यह स्थिरता कैसी? प्रपंच का यह चाक्षुष प्रत्यक्ष मानव को चिन्तन की ओर प्रवृत्त करता है। वह वैज्ञानिक की भाँति प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं का उद्घाटन नहीं करता, प्रत्युत इस उद्घाटन का संश्लेषण-विश्लेषण करता हुआ, प्रकृति के पर्दे को चीरकर उस सत्ता को साक्षात् कर लेना चाहता है, जो प्रकृति की पल-पल की नवीनरूपता एवं स्थिरता के मूल में विद्यमान है।[1]

प्रकृति की विविधरूपा दृश्यावलि शाश्वत नहीं है। मनुष्य के बनाये हुए भवन, उद्यान एवं वायुयान खिलौनों की तरह बनकर बिगड़ते रहते हैं, अचल कहलानेवाले पर्वत और मर्यादा में रहनेवाले समुद्र, विचलित और अमर्यादित होते देखे जाते हैं। जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश अवश्यंभावी है। अतः प्रकृति के ये रूप, सूर्य-चन्द्रादि भी अपनी उत्पत्ति और विनाश

1. Philosophy is not knowledge of the world, but knowledge of the not-worldly; not knowledge of external mass, of the empirical existence, but knowledge of what is eternal, what is God and what flowes from His nature.

Constructive Basis for theology pp. 191-192 by James Ten Brooke.

की कहानी साथ लिये हुए हैं। तत्त्वज्ञानी इनके स्रोत या उत्पादन पर विचार करता है। उत्पत्ति के साथ वह इनकी स्थिरता पर भी विचार करता है। जिसने इन्हें उत्पन्न किया है, वही इन्हें स्थिर रखने की भी शक्ति रखता है। इनकी उत्पत्ति है, स्थिरता है, तो एक दिन विनाश भी होगा। वह कौन है जो संहार करता है? दार्शनिक उत्पादक को ही संहारकर्त्ता के रूप में भी देखता है और कहता है: 'ये दृश्य, ये खिलौने उसी खिलाड़ी के हाथ में हैं। सूत्रधार की कठपुतली की भाँति ये अपना रंग-रूप बदलते रहते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, हाव-भाव दिखाते हैं और फिर सिमिटकर उसी के हाथ में पहुँच जाते हैं। वह लीलामय इनके द्वारा अपनी लीला दिखाता है और फिर उसे बन्द कर देता है।' अर्नेस्ट ई० अनविन अपने ग्रन्थ 'रिलीजन एंड बायोलौजी' के पृष्ठ ९८ पर लिखता है: 'Our world is Gods' handiwork and a real expression of His nature यह विश्व उसी कलाकार की कला है और उसी के स्वभाव की अभिव्यक्ति है।' भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ में ही ब्रह्म की जिज्ञासा करते हुए लिखा: 'जन्माद्यस्य यतः' जो विश्व के जन्म, स्थिति और संहार का कारण है, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म ही परिवर्तनशीलों में अपरिवर्तनीय, अनित्यों मे नित्य, मर्त्यों में अमर्त्य और अन्तिम सत्य है। प्रकृति के रूप विभक्त हो सकते हैं, परन्तु यह अविभाज्य, एकरस, शाश्वत सत्ता है।

जो कुछ मैं देखता हूँ, वह मेरे लिये पूर्व से ही निर्धारित है। मैंने उसका निर्धारण नहीं किया। मेरा विश्वास जो थोड़ी देर में ज्ञान का रूप धारण कर सकता है, अनुमान पर आधारित है। यह अनुमान स्वतः प्राकृतिक नियमों की एकता और समरूपता पर आश्रित है। मैं इन नियमों को अपने अनुभव से जाँच तो लेता हूँ, पर वे कहीं छिपे हों, जिन्हें मैं खोज लाऊँ, ऐसा नहीं है। न मैं इन नियमों का निर्माता ही हूँ। प्रत्येक अनुभूति इन नियमों की पूर्वसत्ता मानकर ही आगे बढ़ती है। ये नियम हमारे सहज ज्ञान के विषय हैं और इसी हेतु इनका नियामक ऐसी सत्ता है, जो समस्त ज्ञान का स्रोत है। पी० डब्ल्यू० ब्रिगमैन ने अपने ग्रन्थ 'रिफलैक्शन्स ऑफ़ ए फ़िज़िसिस्ट' के पृष्ठ ८१ पर लिखा है: 'The world is not governed by caprice, but it is a world of order and can by understood by man.'

विश्व में एक क्रम है, व्यवस्था है और उसे हम जान सकते हैं। इस व्यवस्था के मूल में एक महान् मस्तिष्क है, जिसकी व्यवस्थित कृति को हमारा मस्तिष्क समझ सकता है, ऐसा फ्रेंच विद्वान् ऐस्पीनस का भी अभिमत है। इस महान् मस्तिष्क या चेतन सत्ता के सम्बन्ध में भी दार्शनिक विभिन्न विचार रखते रहे हैं। किसी की सम्मति में यह एक अमर तत्त्व है और किसी की सम्मति में प्रकृति का प्रकाशन या चमत्करण मात्र। बौद्ध इसे ज्ञानधारा का नाम देते रहे हैं, पर वे किसी ज्ञानी की कल्पना नहीं करते। प्राचीन यूनान के विद्वान् ऐनेक्सैगोरस ने समस्त व्यवस्थित सृष्टि के मूल में एक चेतन सत्ता को असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया। अरिस्टौटल इस विद्वान् को इसी आधार पर अनेक ग्रन्थों में एक देखनेवाला कहता है।

अर्नेस्ट हेकल ने इस चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं किया। उसका सिद्धान्त जड़वाद के नाम से प्रख्यात है। उसने जड़ प्रकृति से ही चेतन की उत्पत्ति सिद्ध की है और उसके लिये कई कल्पनायें की हैं। उसने मानव-शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्म दो भेद किये और उन्हें प्राणविन्दु (प्रोटोप्लाज़म) तथा मनोरस (साइकोप्लाज़म) से क्रमशः निर्मित हुआ माना। मनोरस प्राणविन्दु का ही एक अंग है। इसी से उसने गति, संवेदन, संकल्प आदि की उत्पत्ति स्वीकार की है। जड़वाद के अनुसार 'Matter has the promise and potency of all that has or can have existence' प्रकृति में वे सब शक्तियाँ और संभावनायें हैं, जो प्रत्येक विद्यमान और भविष्य में होनेवाली सत्ता को जन्म दे सकती हैं। प्रकृति के अन्तिम अवयव यद्यपि विश्लेषण से परे हैं, पर वे जब एक विशेष प्रकार से संयुक्त होते हैं, तो अणुओं का रूप धारण कर लेते हैं। कई अणु मिलकर एक दाने को जन्म देते हैं। दाने के अन्दर अणु एक दूसरे के साथ न रहकर एक दूसरे के अन्तर्गत बँध जाते हैं। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं, जो अणुओं की संगठित अवस्था में जीवन का उद्रेक कर देती हैं। जीवन कुछ समय के उपरान्त चेतना को जन्म देता है। इस प्रकार प्रकृति नाना रूपों में विकसित दिखाई देती है, पर वह समस्त विद्यमान सत्ताओं का मूल और एक मात्र उपादान है।[1]

---

१. लाला दीवान चन्द : शौर्ट स्टडीज़ इन दी उपनिषद्स, पृष्ठ १८.

जड़वाद के विरुद्ध हर्बर्ट स्पेन्सर और हेगल का आदर्शवाद (आइडियलिज़्म) है, जो समस्त प्रपंच के मूल में चेतन तत्त्व को ग्रहण करता है। आदर्शवाद के अनुसार अन्तिम सत्य अपने मूल रूप में आध्यात्मिक है तथा समग्र पार्थिव पदार्थ गुणों के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। ये गुण भी हमारे विचार ही हैं। ध्वनि का विचार ही ध्वनि है, रंग का विचार ही रंग है। लिबनिज़ के अनुसार प्रत्येक पार्थिव पदार्थ अनेक मस्तिष्कों की एक वृहत् निवासभूमि है। चेतनात्मपरक मानव जैसी सत्ताओं में इन मस्तिष्कों के अतिरिक्त एक केन्द्रीय मस्तिष्क है, जिसे आत्मा कहते हैं।[1]

प्रकृतिवादी जड़ प्रकृति को जगत् का उपादान मानकर भी उसमें बुद्धि तत्त्व को स्वीकार करते हैं। स्पिनोज़ा ने भी एक ही तत्त्व में इन दोनों की स्थिति स्वीकार की है। उसके मतानुसार एक ही द्रव्य में अनन्त गुण हैं, पर हमारा ज्ञान इन गुणों के केवल दो रूपों तक ही सीमित है। ये दो रूप हैं, विचार और विस्तार (थॉट एण्ड ऐक्सटेन्शन), जो पुन: अनेक रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। विचार के रूपों को मन तथा विस्तार के प्रत्येक रूप को वस्तु या पदार्थ कहते हैं। प्रोफेसर थौम्पसन अपने ग्रन्थ 'दी सिस्टम औफ ऐनीमेटनेचर' के पृष्ठ ६३७ पर प्रकृति और बुद्धिवाद का सम्बन्ध इस प्रकार प्रकट करते हैं : 'Scientific reconstructions are not arbitrary projections, for they work. In this sense, there is rationality in nature Nature cannot be rational, if an absolute thought does not exist.' Quoted by Earnest E. Unwin in his 'Religioun and Biology.' P. 150. प्रकृति की बुद्धिवादिता के पीछे यह मौलिक बुद्धि तत्त्व ईश्वर ही है। कान्ट के अज्ञेयवाद (ऐग्नौस्टीसिज़्म) के अनुसार हम सबका जीवन छाया के जगत् में व्यतीत होता है। इसी छाया को हम देख पाते हैं और उसी का ज्ञान भी हमें होता है, पर जो इस छाया को डालता है, अर्थात् जिसकी यह छाया है, उसे हम नहीं देख पाते, नहीं जान सकते। हम केवल इतना ही जानते हैं कि वह छाया डालनेवाला अपना अस्तित्व रखता है। यह छाया अपने रूप में उसका

---

१. लाला दीवान चन्द : शौर्ट स्टडीज इन दी उपनिषद्स, पृष्ठ १०.

वास्तविक प्रतिनिधित्व करती है या नहीं, इसे निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। आदर्शवाद के अनुसार दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य इस छाया या माया से हटाकर मानव-मन को इसके मूलाधार तत्त्व की ओर प्रवृत्त करने तथा उसका साक्षात्कार करा सकने में निहित है। हमारे यहाँ महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन, चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में इस विषय की विशद चर्चा की है और 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' ४-१-१९ सूत्र द्वारा ईश्वर को समस्त प्रपञ्च के आदि कारण तथा जीवों के कर्म-फल-प्रदाता के रूप में स्वीकार किया है। सूत्र १-१-९ में उन्होंने प्रमेयों के अन्तर्गत आत्मा को प्रथम स्थान दिया है। परवर्ती न्यायाचार्यों अथवा नैयायिकों ने आत्मा को दो प्रकार का माना है: जीव और ईश्वर। अन्नंभट्ट ने तर्कसंग्रह (१७) में जीव और ईश्वर की विभेदक विशेषतायें इस प्रकार वर्णित की हैं: 'जीव अनेक हैं, ईश्वर एक है। जीव अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्यवाला है, ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।' न्याय तथा वैशेषिक, जीव और ईश्वर को पृथक्-पृथक् मानते हैं।

नैयायिक उदयन अपने ग्रन्थ 'कुसुमाञ्जलि' १-४ में अदृष्ट का निरूपण करते हुए लिखते हैं: 'सापेक्षत्वात् अनादित्वात् वैचित्र्यात् विश्ववृत्तितः प्रत्यात्म-नियमाद्भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः[1]।' कार्य को कारण की अपेक्षा है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। कार्य और कारण का यह सम्बन्ध अनादि है। कार्य विचित्र हैं, एक दूसरे से भिन्न हैं। प्रत्येक जीव का भोग पृथक्-पृथक् है। विश्व भर की ऐसी ही वृत्ति है। किसी के भी सुख और दुःख, ज्ञान और अज्ञान का परिमाण एक समान नहीं है। हमारे इन भोगरूप कार्यों के असमान होने का कारण क्या है? यह कारण निश्चित रूप से हमारे वर्तमान या विगत जीवन के कर्मों में निहित है। हम अपने शुभ या अशुभ कर्मों के कारण ही यहाँ सुखी या दुखी हो रहे हैं।

यह ठीक है कि हमारे कर्म तुरन्त फल नहीं देते। वे साधारणतया देखने में समाप्त हुए प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः वे नष्ट नहीं हो जाते। अपने पीछे वे एक संस्कार निश्चित रूप से छोड़ जाते हैं। सत्कर्म का संस्कार पुण्य और

१. श्री राधाकृष्णन्-प्रणीत 'Indian Philosophy' संस्करण १९५१ के पृष्ठ १६६ पर उद्धृत।

असत्कर्म का संस्कार पाप होता है। ये पाप-पुण्य ही अदृष्ट का निर्माण करते हैं जो आत्मा के साथ बँध जाता है। समाप्त या लुप्त कर्म का परिणाम हमारे साथ लगा रहता है, जो हमें पुनः उसी प्रकार के कर्म करने के लिये विवश कर देता है। पाप और पुण्य इस प्रकार संचित होते रहते हैं और अदृष्ट कहलाते हैं। यही अदृष्ट उचित देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर फल देता है। जीव का विभिन्न योनियों में जाना और नाना प्रकार के सुख-दुःख-रूप भोगों का भोगना इसी अदृष्ट का परिणाम है। प्रत्येक जीव का भोग पृथक्-पृथक् है और अपने-अपने अदृष्ट के कारण है।

यह अदृष्ट अचेतन है, अतः किसी चेतन सत्ता के निर्देश के बिना कोई फल नहीं दे सकता। विश्व-व्याप्त सुख-दुःख की व्याख्या परमाणु और केवल कर्म नहीं कर सकते। यदि परमाणु इस विषय में स्वभाव से क्रियाशील हैं, तो उनकी यह क्रिया सदैव होती रहेगी। यदि काल इनकी क्रिया को निश्चित करता है, तो यह काल का नियम या तो सदैव सक्रिय रहेगा या निष्क्रिय। यदि बछड़े के सामने गौ के थनों से दूध निकलने की उपमा दी जाय, तो वह भी सार्थक नहीं हो सकती, क्योंकि गौ के थनों से दूध जीवित अवस्था में ही निकलता है, मरने पर नहीं। दूध भी अपने आप नहीं निकलता। बछड़े द्वारा थनों के चूसे जाने पर जीवित अवस्था में ही इसका निकलना सम्भव है। अतः जो अचेतन सक्रिय प्रतीत होता है, वह किसी चेतन के प्रभाव से ही सक्रिय हो सकता है।

यदि चेतन जीव को अचेतन अदृष्ट का नियामक माना जाय, तो भी समस्या का समाधान नहीं होता। अदृष्ट की गुत्थी सुलझने के स्थान पर और भी अधिक उलझ जाती है। चेतन जीव अदृष्ट का नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो उसे इस अदृष्ट का ज्ञान ही नहीं रहता, दूसरे यह अदृष्ट उसकी इच्छाओं के मार्ग में बाधा डालता रहता है। यह भी कहा जा सकता है कि यदि जीव को इस अदृष्ट का ज्ञान भी हो और वह इसका नियमन भी कर सके, तो वह इससे उत्पन्न अवांछनीय दुःख को सहन करने के लिये क्यों उद्यत होगा? जब अदृष्ट उसके नियन्त्रण में है, तो वह दुःख को हटाकर सुख प्राप्त करने की ही आकांक्षा करेगा। ऐसी दशा में कर्म-फल-भोग की व्यवस्था ही अस्तव्यस्त हो जायगी।

अतएव अचेतन अदृष्ट जो जीवों के भाग्य पर शासन करता है, उस परम चेतन सत्ता के अधीक्षण में रहकर ही कार्य कर सकता है, जिसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहते हैं। ईश्वर अदृष्ट को न तो उत्पन्न करता है और न उसके अनिवार्य पथ को परिवर्तित करता है। वह केवल इसके कार्य को सम्भव बना देता है। ईश्वर इसी रूप में कर्मफलदाता है। 'ईश्वरः कारणं पुरुष कर्मा फल्यदर्शनात्' ४-१-१९, गौतम के इस सूत्र का यही अर्थ है।

उदयन की 'कुसुमाञ्जलि' का निम्नाङ्कित श्लोक भी ईश्वर की सत्ता पर विशेष प्रकाश डालता है :

> 'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
> वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥'

सृष्टि कार्य है, क्योंकि यह कई अङ्गों अथवा अवयवों का समूह है। इस कार्य का कोई निमित्त-कारण होना चाहिये, जिसे हम इस सृष्टि का स्रष्टा कह सकें। यह अपने आप नहीं बन सकती। इसका निर्माता कोई चेतन तत्त्व ही हो सकता है, जिसके अन्दर इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय हो और उन समस्त साधनों का सुपास हो जो अन्य कारणों को गति दे सकें। वह स्वयं ऐसा भी हो, जो किसी अन्य के द्वारा परिचालित न किया जा सके। आयोजन का कार्य दो परमाणुओं को एक में मिलाना है, जो सृष्टि के प्रारम्भ में होता है। आयोजन के लिये बुद्धि चाहिये और रचे हुए संसार को धारण करने के लिये भी किसी परम सत्ता की आवश्यकता है। इसी परम चेतन सत्ता को ईश्वर कहा जाता है। सृष्टि का सब कार्य उसी की इच्छा से होता है। आदि शब्द संहार का द्योतक है। ईश्वर जहाँ जगत् का निर्माता और विधाता है, वहाँ वह संहर्त्ता भी है। सृजन एवं ध्वंस उसकी स्वाभाविकी क्रियाएँ हैं। उसमें ज्ञान, चिकीर्षा और कृति तीनों शक्तियाँ हैं। श्रुति की प्रामाणिकता भी ईश्वरकृत होने के कारण है। वेद जगत् के निर्माता ईश्वर का वर्णन भी करते हैं। वेद में वाक्य हैं, जो शब्दों से मिलकर बने हैं। इनका भी निर्माता ईश्वर है। जैसे आयुर्वेद, रसायन, भौतिकी, गणित आदि अन्य विज्ञानों के नियमों की प्रामाणिकता उनके परीक्षण से सिद्ध हो जाती है, वैसे ही वेद-वर्णित विधानों की प्रामाणिकता उनके अनुसार जीवन व्यतीत करने और उसका फल प्राप्त करने से सिद्ध हो सकती है। जैसे पकी हुई खिचड़ी

का एक दाना उसके पक जाने का प्रमाण माना जाता है, वैसे ही वैदिक विधानों के अनुसार चलनेवाले एक व्यक्ति का सफल जीवन उन विधानों की प्रामाणिकता सिद्ध कर सकता है। परमाणुओं की संख्या निश्चित है[१], जिनको मिलाने से जगत् बनता है। इनको मिलाने के लिये बुद्धि चाहिये, जो जड परमाणुओं में नहीं है। यह कार्य भी ईश्वर का है।

प्रत्यक्ष प्रमाण को लेकर कहा जा सकता है कि ईश्वर दिखाई नहीं देता, पर ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जो दिखाई नहीं देतीं, फिर भी उनका अस्तित्व है। अनुमान न ईश्वर को सिद्ध करता है, न असिद्ध। उपमान का कार्य किसी के अस्तित्व को सिद्ध करना नहीं। वह केवल दो वस्तुओं के सादृश्य को प्रकट करता है। शब्दप्रमाण (वेद) ईश्वर को सिद्ध करता ही है। अन्य प्रमाण स्वतःसिद्ध नहीं हैं।

नैयायिकों का ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें अधर्म, मिथ्या ज्ञान और प्रमाद नहीं है, पर धर्म, ज्ञान और समाधि (एकरसता) रूप सम्पत्ति अवश्य है। वह रचना करने में सर्वशक्तिमान् है। वह आप्त-कर्म-फल है। जैसे पिता पुत्र के लिये कार्य करता है, उसी प्रकार ईश्वर जीवों के उद्धार के लिये जगत्-रचना करता है। उसे स्मृति की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह शाश्वत और सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान सत है, मिथ्या नहीं। उसमें शाश्वत आनन्द है। जीवों के प्रति उसकी करुणा ही जगत्-रचना के मूल में है। जीवों के अपने कर्म उन्हें ईश्वर के विधान में शुभ या अशुभ की ओर ले जाते हैं। जगत् आध्यात्मिक परिणामों के साक्षात्कार के लिये है। दुःख-सहन से ही उत्तमता आती है और त्याग से जीवन में पूर्णता का प्रवेश होता है। जीव प्रलय के समय क्रियाशक्ति खो बैठते हैं और सृष्टि के समय उसे पुनः प्राप्त कर लेते हैं। यह सब दैवी प्रेरणा से ही सम्भव है।

जैसे खिचड़ी अपने आप नहीं पक जाती, उसे कोई पकाता है, वैसे ही वैदिक विधान अपने आप नहीं बन गये। उनका बनाने वाला चेतन ईश्वर

---

१ सख्याविशेष का अर्थ यह भी हो सकता है कि विश्व के निर्मित तत्त्व—लोहा सोना, चाँदी आदि में परमाणुओं की विशिष्ट संख्यायें हैं, जिनका संयोजन विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये ईश्वर ने किया है।

है। वेद को किसी पुरुष ने नहीं बनाया। अतः वे अपौरुषेय है। उनमें अभौतिक दैवी तत्त्वों के उल्लेख तथा सर्वव्याप्त लोकोत्तर सिद्धान्त साधारण जीवों के ज्ञान के विषय (परिणाम) नहीं हो सकते। वे सर्वज्ञ ईश्वर की कृति हैं। ज्ञान का जो तारतम्य यहाँ दृष्टिगोचर होता है, वह भी अपनी पूर्णता के लिये ईश्वर जैसी सर्वज्ञ सत्ता की ओर संकेत करता है। पातञ्जल सूत्र 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञवीजं' १-१९, इसी तथ्य को प्रकाशित करता है। पुरुष और प्रकृति का संयोग तथा वियोग भी ईश्वर ही कराता है[1]।

वैशेषिक दर्शन 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' १-१-३ तथा १०-२-९ सूत्र में 'आम्नाय' अर्थात् वेद को ईश्वर का वचन मानकर ईश्वर को ज्ञान का स्रोत स्वीकार करता है। सूत्र ६-१-१ में कणाद ने वेद की वाक्य-रचना को 'बुद्धिपूर्वा' विशेषण दिया है। वैशेषिक के अनुसार ईश्वर निर्दोष है। प्रलय में जीव बुद्धि से पृथक् हो जाते हैं। अतः ईश्वर ही वेद का उपदेश करता है और वही परमाणुओं में गति उत्पन्न करता है, जिससे सृष्टि होती है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन ईश्वर के साथ जीव और प्रकृति को भी अनादि मानते हैं। उनके मत में ईश्वर इनका निर्माता नहीं है। ईश्वर अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के कारण जीवों से पृथक् है। यही गुण उसे सृष्टि के शासक-पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त अथवा ब्रह्मसूत्र) क्रमशः धर्म और ईश्वर की व्याख्या से सम्बन्ध रखते हैं। उत्तरमीमांसा मे चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। पहले अध्याय में विभिन्न वैदिक उक्तियों के समन्वय के साथ ब्रह्म का निरूपण है। दूसरे अध्याय में अन्य स्थापनाओं तथा विरोधपरक आक्षेपों की आलोचना है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के साधनों का वर्णन और चतुर्थ अध्याय में ब्रह्मविद्या से उपलब्ध फल, देवयान तथा पितृयाण का वर्णन है।

भारतीय दर्शनों में सांख्य, बौद्ध तथा चार्वाक या बार्हस्पत्य दर्शन

---

1. Dr. Radhakrishnan : 'Indian Philosophy vol. II (Ed. 1951) pp. 169–172 तथा Dr. S. C. Chatterjee & Dr. D. M. Dutt : 'An introduction to Indian Philosophy' IV edition, 1950. pp. 211–213

निरीश्वरवादी कहलाते हैं। शेष सभी दर्शनों में ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन हुआ है। जैनदर्शन जीव के समुन्नत रूप को ईश्वर की संज्ञा देते हैं, पर उसे सृष्टि का रचयिता तथा कर्मफल का दाता नहीं मानते। कपिल अपने सांख्यदर्शन ५-४७ में वेदों का अपौरुषेयत्व तथा ६-३४ और ५-५१ में वेदों का स्वतःप्रामाण्य स्वीकार करते हैं, परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। उसकी सिद्धि में प्रमाणों का अभाव है। सांख्यदर्शन १-९२ (ईश्वरासिद्धेः) तथा ५-१० (प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः) में इसी विचार को प्रकट किया गया है। सांख्यदर्शनकार कपिल के वर्णन का विषय भी ईश्वर नहीं, प्रत्युत जीव और प्रकृति है। सूत्र १-१४९ में उन्होंने पुरुषों अर्थात् जीवों का बहुत्व माना है। जीव और प्रकृति के सम्बन्ध से ही ईश्वर का भी नाम आ गया है। कपिल की दृष्टि में सब प्रमाणों का आधार प्रत्यक्ष है, जो बुद्धि का विषय है। बुद्धि इस बाह्य प्रपंच में फँसी है। वह ईश्वर की सिद्धि कैसे कर सकती है? जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट का भी मत यही था। जो कुछ हम जान सकते हैं, अपनी अन्तः तथा बाह्य इन्द्रियों से ही जान सकते हैं। ये सब अपने क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। फिर सिद्ध करने का अर्थ भी यही है कि कोई पदार्थ या तत्त्व पहले से ही विद्यमान है, जिसको इन्द्रियों की शक्ति से हम जान लेते हैं; पर जहाँ इन्द्रियों की पहुँच ही नहीं, वहाँ का ज्ञान इन्द्रियों से कैसे हो सकता है? इससे इन्द्रियों की सीमित शक्ति की सिद्धि होती है। ईश्वर की सत्ता का खण्डन नहीं होता। ईश्वर ज्यामिति की स्वयंसिद्धियों (ऐक्जियम्स) के समान स्वयंसिद्ध है। जो स्वयंसिद्ध है, उसे प्रमाणों की अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती।

योगदर्शन का प्रमुख विषय चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय बताते हुए आत्मा का परमात्मा से योग कराना है। योगदर्शन में परमात्मा को क्लेश, कर्म-विपाक और आशय से अपरामृष्ट अर्थात् निःसंग पुरुषविशेष कहा गया है। पुरुष जीवात्मा भी है, पर वह इन तीनों में आसक्त हो जाता है। वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम के पाँच क्लेशों में पड़ता है, कर्म-विपाक अर्थात् कर्मों के फल को भोगता है और वासनाओं से आवृत होता है। यद्यपि मुक्त अवस्था में वह भी इस जाल से

पृथक् हो जाता है, पर बद्ध अवस्था में क्लेशादि का जाल उसके साथ लगा ही रहता है। परमात्मा इस जाल से नितान्त पृथक् है। वह जीवात्मा की भाँति बद्ध और मुक्त नहीं होता। वह सतत मुक्त, स्वाधीन और आनन्द-स्वरूप है। इसी हेतु योगदर्शन उसे पुरुषविशेष कहता है। गीता १५-१७ में भी ईश्वर को अन्य सभी पुरुषों से उत्तम परमात्मा कहा गया है।

दर्शनशास्त्र, इस प्रकार अन्तिम सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न करता है, पर इस अन्तिम सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। किसी दार्शनिक ने अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है, किसी ने द्वैतवाद की और किसी ने अनेकवाद की। अद्वैतवादी भी जड़वादी तथा चेतनवादी दो प्रकार के हैं। चेतन अद्वैतवादियों के भी कई भेद हैं: विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद आदि। विशिष्टाद्वैतवाद यूरोपीय दार्शनिक स्पिनोज़ा के मत से बहुत कुछ मिलता जुलता है। द्वैतवाद गुण के आधार पर प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन दो सत्तायें स्वीकार करता है। यह भी दो प्रकार का है: अन्योन्यप्रभाववाद (Interactionism) और समानान्तरवाद (Parallelism)। प्रथम में दोनों तत्त्व एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, दूसरे में दोनों की गतिविधि स्वतंत्र रहती है। स्वरूप अथवा शक्ति की दृष्टि से पुरुष, परमात्मा और जीवात्मा के रूप में दो प्रकार का है। संख्या की दृष्टि से परमात्मा एक और जीवात्मा अनेक हैं। अनेकवाद सत, सचित और सच्चिदानन्द जैसी तीन सत्ताओं का प्रतिपादन करता है। सत प्रकृति है, जिसमें सत, रज एवं तम की साम्यावस्था है। इस साम्यावस्था में वैषम्य अथवा विकृति परमात्मा के कारण उत्पन्न होती है। सच्चित जीव है। जीव अनेक हैं। सच्चिदानन्द परमात्मा है। संक्षेप में मत-वैभिन्न्य होते हुए भी समस्त दार्शनिकों की प्रवृत्ति एक ऐसी वास्तविकता या तथ्य की ओर अवश्य गई है, जो आध्यात्मिक है और किसी भी अस्तित्व का ज्ञान जिसकी ओर संकेत कर सकता है, क्योंकि वह समस्त अस्तित्वों का मूलाधार है।

मनोविज्ञान : मनोविज्ञान के अनुसार हमारा मन उन समस्त क्रियाओं, सहज प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का स्रोत है, जो हमारे मानसिक और शारीरिक व्यापारों को स्थिर रखती हैं और हमारे व्यवहार का नियमन करती हैं। हम अपने सामाजिक जीवन के विभिन्न पार्श्वों और नाना अभिव्यक्तियों को मानव

की उन स्वभावगत प्रवृत्तियों से आविर्भूत होते हुए अनुभव करते हैं जो मन के अन्दर निहित हैं। ये प्रवृत्तियाँ पाँच हैं :

(१) उपयोगिता : जो गणित और भौतिक-विज्ञान को जन्म देती है तथा जिससे उद्योग एवं राजनैतिक मितव्ययिता कार्यान्वित होती है।

(२) न्याय : जिससे सभ्य समाज, राज्य और न्यायाधिकरण का जन्म होता है।

(३) सौन्दर्य : जिससे कलाओं का विकास होता है।

(४) ईश्वरभाव : जो पूजा और धार्मिकता का मूल है।

(५) सत्य : जो अपने सर्वोत्तम रूप में दर्शनशास्त्र का जन्मदाता है।

मन की प्रवृत्तियों का यह विवरण प्रोफेसर फ्लिंट की लिखी 'History of the Philosophy of History' के पृष्ठ ४५६ के आधार पर दिया गया है, जिसे विलियम मैकडूगल ने अपने ग्रन्थ 'Social Psychology' के पृष्ठ ११ पर उद्धृत किया है। इसमें चतुर्थ स्थान पर ईश्वर का भाव दिया है, परन्तु यह भाव सब प्राणियों के मन में निहित नहीं रहता। यदि इसके स्थान पर हम नम्रता का भाव रख दें, तो अनुचित नहीं होगा। यह भाव सरल है और सबके हृदयों में विद्यमान है। यही भाव क्रियाशील बनकर उदात्त मानवता के सम्पूर्ण आधार का निर्माण करता है।

मैकडूगल ने मानसिक प्रगति में ज्ञान, भावना और प्रयत्न—तीन दिशाओं का वर्णन किया है। एक से हम पदार्थों के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। दूसरी से उसके प्रति हमारी ममता जागृत होती है और तीसरी से या तो हम उसके समीप जाते हैं अथवा उससे दूर हटते हैं। (द्वितीय अध्याय पृष्ठ २३) तीसरे अध्याय के पृष्ठ ४३ पर उसने भाव और उनकी समानान्तर सहज वृत्तियों का उल्लेख किया है, जिनमें एक वृत्ति प्रशंसा की है। प्रशंसा भय से मिलकर एक ऐसे भाव को जन्म देती है, जिसे यदि कोई शक्ति हमारे अन्दर अपने औदार्य के साथ उत्तेजित करे, तो हमारे अन्दर उस शक्ति के लिये कृतज्ञता की भावना जाग्रत हो उठती है। ऐसी अवस्था में हमारे अन्दर उस श्रद्धा-भाव का आविर्भाव होता है, जो धर्म का प्राण है।

जेम्स ऐस० रौस ने अपने ग्रन्थ 'Ground work of educational psychology' में मन की तीन शक्तियों का वर्णन किया है : नैमी, हौर्मी और कोहीजन। नैमी को हम चित्त या स्मृति कह सकते हैं। यह मन की ऐसी शक्ति है जो हमारे अनुभवों के परवर्त्ती प्रभावों अथवा संस्कारों को सुरक्षित रखती है। हौर्मी जीवन की उस इच्छाशक्ति का नाम है, जो प्रेरणा, प्रयत्न, चेष्टा और काम या सङ्कल्प में प्रदर्शित होती है। मन की वे समस्त दशाएँ जो क्रियाशक्ति (Conation) में सम्मिलित हैं, हौर्मी के उदाहरणरूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। कोहीजन मन का वह संयोजक तत्त्व है, जो बिखरे हुए संस्कारों का वर्गीकरण और संगठन करता है। इस क्रिया द्वारा संस्कारों की नानारूपता एकरूपता में परिणत हो जाती है। किसी भयानक जन्तु से भयभीत होकर भागने की इच्छा सहज वृत्ति है और वहाँ से भागना सहज स्वभाव है। रौस ने सहज वृत्तियों और उनके समानान्तर भावों की संख्या १४ दी है, जैसे पलायन वृत्ति का समानान्तर भाव भय है, युद्ध का क्रोध, विकर्षण का घृणा, निवेदन का दुःख, जिज्ञासा का विस्मय, नम्रता का निषेधात्मक आत्मभाव, हास्य का विनोद आदि। उसने यह भी लिखा है कि जैसे हम अपने सहयोगियों की भावनाओं के साथ सहयोग कर सकते हैं, वैसे ही परामर्शप्रेषणीयता की शक्ति द्वारा हम उनके विचारों में भी भाग ले सकते हैं।

मैकडूगल ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि यह एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा तर्क के अभाव में भी हम दूसरे के अन्दर अपने प्रस्ताव के प्रति विश्वास एवं मान्यता उत्पन्न कर सकते हैं।[1] जिस व्यक्ति के ऊपर हम अपना परामर्श-मंत्र डालते हैं, वह हमारे विचारों को अपने विचार समझने लगता है। यदि परामर्श देने वाला व्यक्ति कोई आप्त पुरुष है, अथवा हमारी प्रशंसा और श्रद्धा का भाजन है, अथवा यदि वह कोई प्रकाशित प्रामाणिक ग्रन्थ है, तो उसके वचनों की मान्यता हमें शीघ्र प्रभावित करती है। गुरु अथवा धार्मिक ग्रन्थ इसी कार्य को सम्पादित करते हैं। परामर्श की यह प्रेरणा नम्रता (Submission) की सहज वृत्ति से सम्बद्ध है। परामर्श (Suggestion) के पश्चात् अनुकरण और उसके पश्चात् अहम् वृत्ति का प्रकाश आता है। इसके अभाव में कला एवं

---

1. An Introduction to social Psychology. p. 97

विज्ञान के क्षेत्रों की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। अतः अनुकरण मौलिक आत्म-प्रकाश के लिये एक अद्भुत साधन है।

पौरस्त्य तथा पाश्चात्य चिन्तन-साम्य : मनोविज्ञान की इस पद्धति द्वारा यदि हम अपने देश की मान्यताओं पर विचार करें तो ब्रह्मा हमारी ज्ञान शक्ति की चरम सीमा, उसका रक्षकरूप विष्णु हमारी भावनाओं का मूल आश्रय और रुद्र कर्म की अन्तिम पराकाष्ठा सिद्ध होता है। वेद वह प्रामाणिक ग्रन्थ, आप्तवाक्य तथा ज्ञान-भाण्डार है, जिससे सब अपने अनुकूल ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके अनुकरण के आधार पर भौतिक तथा मानसिक विकास करते हैं। योगदर्शन के अनुसार काल के व्यवधान से परे परम प्रभु परमात्म-देव हम सबके गुरु हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में पितृ-परम्परा के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए गैल्टन ने १८७५ में कहा था कि एक बच्चा उतना ही प्राचीन है जितने उसके माता-पिता अथवा उसके प्रथम वंशधर। प्रथम पीढी के माता-पिता के अन्दर जो जीवाणु (Germ cell) था, वही परवर्त्ती पीढियों में होता हुआ बच्चे तक पहुँचा है। इस रूप में बच्चे के माता-पिता उसके उत्पादक नहीं, प्रत्युत अपने अन्दर समागत जीवाणु को धरोहर के रूप में सुरक्षित रखने वाले हैं।[1] यदि हम मूल जीवाणु तथा उसके क्षेत्र को पीछे ले जा सकें, तो उपनिषद् के शब्दों में हम प्राण तथा रयि के मिथुन तक पहुँच सकते है। वेद त्वष्टा रुद्र को हम सबका पिता और सुदुघा पृश्नि को हम सबकी माता के रूप में उपस्थित करता है। भगवद्गीता १४-४ में भी परमात्मा को बीजप्रद पिता तथा महद्योनि प्रकृति को हम सबकी माता कहा गया है। गेल्टन के शब्दों को थोड़ा-सा संशोधित करके कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि हम आज भी अपने मूल तत्त्व, चेतन तथा जड के जोड़े को, ऋत और सत्य को अपने भीतर धारण किये हुए हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रेंच लेखक ऐस्पीनस ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि व्यक्तिगत बुद्धितत्त्व एक सर्वव्यापक बुद्धितत्त्व का अंग मात्र है। इसी कारण हम दूसरे व्यक्तियों के भावों और विचारों को स्वयं ग्रहण करने में समर्थ होते हैं और अपने भाव तथा विचार दूसरों तक पहुँचा देते हैं। भारतीय

---

1. Thomson & Geddes-Evolution, p. 116. Quoted by Ross.

दार्शनिक अपने विकास के प्रारम्भिक युग से ही एक व्यापक द्यौ तत्त्व (महद् तत्त्व) की कल्पना करते आये हैं, जिसका आधार अव्यक्त ज्योतिर्मय परब्रह्म है। एक मस्तिष्क की बात दूसरे मस्तिष्क में इसीलिये समा जाती है कि दोनों मस्तिष्क एक द्यौ तत्त्व के ही अंग हैं।

मनोविज्ञान और ईश्वर : ऊपर हमने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विचारकों के चिन्तन-साम्य के कतिपय उदाहरण दिये हैं। वास्तव में मानव के सामने प्रत्येक देश में चिन्तन की समस्याएँ एक जैसी ही रही हैं। अतः समाधान के रूप में यदि साम्य दृष्टिगोचर होता है, तो आश्चर्य की बात नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञान क्या कहता है? पीछे हमने मैकडूगल तथा रौस के आधार पर मानवहृदय में निहित नम्रता की भावना का उल्लेख किया है। नम्रता श्रद्धा की सहज संगिनी है। श्रद्धा की मनोवृत्ति निश्चित रूप से एक ऐसी सत्ता की ओर सङ्केत करती है जो हम सबके ऊपर है और जिसके सम्मुख हम सबको आदरभाव से प्रणत होना चाहिये।

जगत में जब हम किसी असाधारण पदार्थ या लोकोत्तर व्यक्तित्व को देखते या उसके गुणों के सम्बन्ध में सुनते हैं, तो उसकी असाधारणता हमारे अन्दर आश्चर्यमिश्रित प्रशंसा के भाव उत्पन्न करती है। हम कह उठते हैं, यह कितनी अच्छी वस्तु है, यह व्यक्ति कितना भला है। जब हम किसी लोकोत्तर व्यक्ति के घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, और उसमें अपने से कहीं अधिक विद्या, विनय, सदाचार आदि सद्गुणों का अनुभव करते हैं, तो हम उसका आदर करने लगते हैं। जब किसी व्यक्तित्व में हमें पवित्रता के दर्शन होते हैं, तो हमारा आदरभाव उसके प्रति पूजा-भाव में परिवर्तित हो जाता है। पवित्र व्यक्ति हमारे लिये स्तुत्य और पूजनीय बन जाता है। श्रद्धा की भावना, इस प्रकार, प्रथम प्रशंसा, फिर आदर और अन्त में पूजा की भावना में परिणत हो जाती है।

मनोविज्ञान जहाँ ज्ञान-धारा का विश्लेषण करता है, वहाँ उसके महत्त्व के मूल्याङ्कन का भी विधान करता है। श्रद्धेय और पूज्य व्यक्ति विश्व में थोड़े ही होते हैं, पर वे एक से तो अधिक ही हैं। इनमें एक का मूल्य, पूजनीयता की दृष्टि से, दूसरे से बढ़कर है। जो यहाँ सबसे अधिक श्रद्धेय है, वह भी अपने अन्तस्तल में एक सर्वाधिक अस्तित्व के प्रति श्रद्धा रखता है। जो श्रद्धेयों

का भी श्रद्धेय है, पूजनीयों का भी पूज्य है, वही मनोविज्ञान की श्रद्धाभावना का सबसे ऊँचा आधार है। धर्म इसी को ईश्वर कहता है।

मनोविज्ञान को यदि विकासवाद की भूमिका में रखकर देखा जाय, तो सृष्टि में जिस अनुकूलता (Adaptation) के दर्शन होते हैं, मन में निहित स्मृति उसी के आधार पर कार्य करती प्रतीत होगी। स्मृति के आधार पर यदि हम किसी पदार्थ को या क्रिया को पहिचान लेते हैं, तो उसका कारण वह नियम है, जो निश्चित रूप से प्रकृति में कार्य कर रहा है। इधर बच्चा पैदा होता है, उधर माता के स्तन दूध से भर जाते हैं और बच्चे में भी स्तन चूसने या दूध पीने की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठती है। सृष्टि में इस प्रकार की अनुकूलता के उदाहरण भरे पड़े हैं। अपने पूर्वपरिचित किसी व्यक्ति को वर्षों के उपरान्त जब मैं देखता हूँ, तो स्मृति की इसी अनुकूलता के आधार पर मैं उसे पहिचान लेता हूँ। जो अनुकूलता बाहर है, वही अपने सूक्ष्म किन्तु अधिक उदात्त रूप में अन्दर है। कवि द्वारा अङ्कित मनोभावों को यदि मैं अपने मनोभावों के मेल में पाता हूँ, और उसके काव्य में वर्णित करुण प्रसंग मेरे अन्दर अश्रु आदि अनुभावों के साथ शोक का भाव उद्दीप्त कर देता है, तो उसके मूल में बाहर की नहीं, अन्दर की अनुकूलता का नियम है। अनुकूलता के विचार को यदि और सूक्ष्म स्तर में ले जा सकें, तो हम कह सकते हैं कि मानव जो किसी महान् व्यक्तित्व के साथ एक हो जाना चाहता है, उसकी लालसा-पक्षिणी अपने पङ्ख फड़फड़ाती हुई यदि किसी में डूबकर आत्मसात् हो जाना चाहती है, तो उसकी लालसा के अनुकूल ऐसा एक व्यक्तित्व होना ही चाहिये। अपने ऊर्ध्व क्षेत्र में यही व्यक्तित्व ईश्वर कहलाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि हम इतिहास के सामूहिक मस्तिष्क पर विचार करें, तो हमें उसमें रौस द्वारा वर्णित हौर्मी अथवा इच्छाशक्ति, कोहीजन अथवा संयोजनशक्ति और नैमी अथवा स्मरणशक्ति, सभी के विकसित रूप प्राप्त हो जाते हैं। मानव जाति किस प्रकार पीछे से प्रेरणा और आगे से उत्साह पाती हुई, विभीषिकाओं से भागती और आशाओं से ऊपर खींची जाती हुई सतत विकास की ओर उन्मुख रही है, उसका सजीव चित्र इतिहास की सामूहिक विचारधारा में उपलब्ध हो जाता है। इस विकास का, इस गति

का अन्तिम बिन्दु क्या है? वह कौन-सा लक्ष्य या गन्तव्य स्थल है, जहाँ पहुँच कर ही यह विश्राम कर सकेगी? सृष्टि के सामूहिक मन की संकल्पशक्ति, स्मरणशक्ति और संयोजनशक्ति दौड़ लगाती हुई अन्त में कहाँ पहुँचेगी। मनोविज्ञान का उत्तर सम्भवतः सृष्टि के मूल कारण और अन्तिम उद्देश्य की एकता में निहित मिलेगा। धर्म की परिभाषा में सृष्टि का यह मूल कारण और अन्तिम उद्देश्य ईश्वर है।

आचारशास्त्र : दर्शनशास्त्र को एक ऐसे साम्राज्य से उपमित किया जाता है, जिसके माण्डलिक राज्य पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र को विच्छिन्न करके स्वतन्त्र हो गये हैं। जिस मनोविज्ञान की खोजों का हमने अभी उल्लेख किया है, वह दर्शनशास्त्र की कोटि से निकल कर अपने को स्वतन्त्र प्राकृतिक विज्ञान कहने लगा है। भौतिकशास्त्र को तो अब सभी विद्वान् एक स्वर से प्राकृतिक विज्ञान कहते हैं। आचारशास्त्र जिसे नीतिशास्त्र भी कहा गया जाता है, अभी तक अपना सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से जोड़े हुए है।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि परमात्मा के सम्बन्ध में पूछने के लिये हमें आचारशास्त्र के ही पास जाना चाहिये। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' के अन्तिम खण्ड में अपने ग्रन्थ के प्रमुख विषय सदाचार को समाप्त करते हुये लिखा है : 'यह जीवन तो अतीव संकीर्ण सीमाओं में बन्द है। इसके शुभ या भद्र की तुलना अमर जीवन से नहीं हो सकती। सबसे महान् विषय तो आत्मा का अमरत्व है, जिस पर विचार करना चाहिये...... क्या किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व नहीं, जिसे तुम उत्तम कहते हो? और क्या ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे तुम अशुभ कहते हो?' यह विचार उत्तम या भद्र की सर्वोच्च स्थिति तक हमें ले जाता है। आधुनिक युग में जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् दार्शनिक काण्ट ने भी सम्पूर्ण रूप से निष्पाप जीवन की कल्पना की है।

आचारशास्त्र के अनुसार असत और सत, अशुभ और शुभ अथवा अच्छे और बुरे में वास्तविक अन्तर है। सत का आदर्श काल्पनिक सृष्टि नहीं है। वह एक वास्तविक तथ्य है। सत और असत में अन्तर करने वाली हमारी विवेकशक्ति इस आदर्श को जानने में समर्थ है। यद्यपि हम परिपूर्ण

रूप से इस आदर्श को नहीं जान पाते, फिर भी उसकी एक स्पष्ट झलक हमें अवश्य प्राप्त हो जाती है। परिणामतः आदर्श के सम्बन्ध में हम एकान्त अन्धकार में नहीं रहते हैं। आदर्श को समझकर उसका साक्षात्कार करने के लिये हमारे भीतर स्वाभाविक प्रेरणा जाग पड़ती है। उसका पूर्ण साक्षात्कार यद्यपि असम्भव-सा है, पर उसका अंशतः आभास तो मिल ही जाता है। आचारशास्त्र इस प्रकार उस आदर्श को वास्तविक, जानने योग्य तथा साक्षात् करने योग्य मानता है।

कतिपय दार्शनिक आचारशास्त्र की इन मान्यताओं का खण्डन करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में आदर्श काल्पनिक हैं। न यहाँ कुछ शुभ है और न अशुभ, हमारे विचार उन्हें यह रूप दे रहे हैं। कुछ दार्शनिक आदर्श को तो वास्तविक मानते हैं, पर उसके स्वरूप को समझने में अपने को असमर्थ पाते हैं। आदर्श के स्वरूप के सम्बन्ध में मत-विभिन्नता ही इस विचारधारा का मूल आधार है। कुछ विद्वान् आदर्श को वास्तविक और जानने योग्य भी समझते हैं, पर कहते हैं कि हमारे सङ्कल्प की असमर्थता तथा अयोग्यता उसका साक्षात्कार नहीं करा सकती। प्राकृतिक नियम हमारे जीवन को ऐसा नियन्त्रित किये हुए हैं कि वे हमें किसी प्रकार की स्वतन्त्रता ही नहीं देते।[1]

आदर्श के सम्बन्ध में इस प्रकार की निषेधात्मक आलोचना मानवशक्ति का अपमान है। यह सत्य है कि सत अथवा शुभ आदर्श की प्राप्ति की ओर ले जाने वाली साधना कठिन है, खर क्षुरधार है, पर वह असम्भव हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। आदर्श की ओर प्रयाण करने वाले प्राणी इसी धराधाम पर देखे जाते हैं। वे अपनी स्वल्पशक्ति के कारण शुभ के परिपूर्ण रूप को प्राप्त न कर सकें, यह दूसरी बात है, पर वे उधर चल रहे हैं। इस चलने के मूल्य को कम कैसे किया जा सकता है? स्पिनोज़ा के शब्दों में उत्तम वस्तु जितनी ही अधिक मूल्यवान् होती है, उतनी ही अधिक कठिनता से प्राप्त भी होती है। मनुष्य आचार के आदर्श को विशिष्ट कर्म-पद्धति के सतत अभ्यास द्वारा कुछ न कुछ तो प्राप्त कर ही लेता है।

---

1. L Diwan Chand M A D Litt 'Short Studies in the Bhagwad gita' pp 31–32

आचार व्यक्तित्व के विकास में परिलक्षित होता है और उसकी महत्ता समाज द्वारा गृहीत होती है। व्यक्तित्व के विकास में असत पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। सत का संग्रह और कर्तव्य का पालन मानव-हृदय में आनन्द का सञ्चार करते हैं। उनसे सन्तोष प्राप्त होता है और हम अनुभव करने लगते हैं कि हमारे अन्दर निहित कोई दैवीशक्ति हमें पुकार रही है और हमें दिव्यता की ओर प्रेरित कर रही है।

जीव की यह सहज अन्तर्निहित शक्ति विशाल से विशालतर क्षेत्रों में, नीचे से ऊपर की योनियों में वातावरण एवं परिस्थितियों के साथ प्रतिक्रिया करती हुई अभिव्यक्त होती जाती है और अन्त में मानव के भीतर (जो सृष्टि का सर्वाधिक विकसित रूप है) सहज वृत्ति और बुद्धि के सामञ्जस्य में प्रकट होती है। यहाँ पहुँचकर जीव सदाचार के साधक के रूप में परिणत हो जाता है।

सदाचारी व्यक्ति सत के स्रोत ईश्वर के प्रति श्रद्धा, दिव्य प्राणियों के प्रति सहानुभूति, समानधर्मा पुरुषों के प्रति मैत्री, बड़ों के लिये आदर, छोटों के प्रति उदारता, स्वयं अपनी जीवन-रक्षा एवं उन्नति के लिये संयम, साहस तथा दूरदर्शिता आदि कर्तव्यों की ओर स्वभावतः प्रवृत्त होता है।

सदाचार के बल पर मानव कठिन परिस्थितियों में भी निरापद तथा निःशङ्क बना रहता है। असाधारण अवस्थाओं में मानव झूठ बोल सकता है, क्योंकि वह स्वाधीन है, परन्तु मिथ्या भाषण से हटने में वह अपनी आत्मिक शक्ति का प्रयोग करता है और इस प्रकार सदाचार की ओर प्रवृत्त ही नहीं होता, मौलिक रूप से प्रयाण भी करता है। सद्यःपरिणाम की दृष्टि से सत्य कथन कभी-कभी चाहे लाभदायक प्रतीत न हो, और मिथ्या भाषण क्लेशों तथा कठिनाइयों से बचा भी दें, फिर भी सत्य कथन द्वारा जो आत्मसन्तोष मानव को प्राप्त होता है तथा उससे जीवन में जो सामञ्जस्य उत्पन्न होता है, उसका मूल्यांकन किसी भी लौकिक माप द्वारा नहीं हो सकता।

सदाचार की शक्ति संग्राहिका होती है। उससे मानव और भी अधिक शक्ति-संवर्द्धन करता है। गीता के शब्दों में, 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते' सदाचार के क्षेत्र में मानव जितना आगे बढ़ जाता है, उससे भी

अधिक आगे वह आगामी जीवन में बढ़ता है। स्वार्थप्रियता, लोभ और द्वेष विनाशक तत्त्व हैं। इनसे मानव-चरित्र का पतन और प्रयत्नगत शैथिल्य संभव हो जाते हैं। सदाचार हमारी योग्यता को प्रदीप्त करता है, हमारे आन्तरिक विवेक को उत्तेजित करता है और हमें सम्पूर्ण सत्य के सम्पर्क में ले जाकर बिठा देता है। दुराचार हमें इन बातों से दूर करनेवाला है।

मानव जीवन में जो कुछ सत है, अच्छा है, उदात्त है, उत्तम है, उसकी पराकाष्ठा प्रभु में है। अतः जो व्यक्ति सत्य, प्रेम, सुन्दर और शिव की उपासना करते हैं, वे प्रभु की ही उपासना कर रहे हैं। कान्ट के शब्दों में ईश्वर प्रमुख रूप से और अनिवार्यतः सदाचार के नियम का जनक और विधाता है[1]। विश्व की सदाचार-व्यवस्था उसके दर्शन की अन्तिम वाणी कही जा सकती है।

बोसैन्कैट कहता है: 'Morality can stand alone, but its absence shakes the whole foundation of life and mind'. सदाचारी व्यक्ति अकेला खड़ा रह सकता है, पर सदाचार के अभाव में जीवन और बुद्धि की समस्त आधारशिला ही हिल जाती है। कान्ट ने एक अन्य स्थान पर लिखा है: 'Two things fill the mind with ever-new and increasing admiration and awe : The starry heavens above and the moral law within'.[2] दो ही वस्तुएँ हैं जो मेरे मस्तिष्क को सतत अभिनव एवं वर्द्धमान प्रशंसा तथा भय के भावों से भरती रहती हैं—एक तारों से भरा आकाश ऊपर और द्वितीय सदाचार का नियम मेरे भीतर।

जेम्स हैनमोक अपने ग्रन्थ, 'Constructive basis for theology' के पृष्ठ २१ पर लिखता है: 'In God, there is no unrighteousness

---

1. 'We must assume a moral world cause in order to set before ourselves a final purpose in accordance with the moral low......we must assume that there is a God' Quotad by Franz Werfel in his book—'Between Heaven and Earth' P. 122.

2. Quoted by Pringle-Pattison in his book—'The idea of God.' pp. 28-29

at all; since the good is heavenly and the evil earthly, We ought to fly thither and to fly thither is to become like Him—holy, just and wise'. प्रभु पवित्र हैं। उनके भीतर पाप का लवलेश भी नहीं है। हमें उधर ही चलना चाहिये। उधर चलने का अर्थ है प्रभु के समान बनना—पवित्र, प्रबुद्ध एवं न्यायपरायण।

पवित्रता के साथ अमरता सम्बद्ध है। मानव को अपनी इच्छाशक्ति, आचार के नियम के साथ एक कर देनी चाहिये, तभी उसे आनन्द-प्राप्ति का पासपोर्ट मिल सकेगा। पवित्रता या आचार के नियम का पालन अनवरत होना चाहिये। इसी में आत्मा के अमरत्व की सिद्धि है। आचार-नियम के साथ उसके नियामक एवं सत् के स्रोत प्रभु की सत्ता भी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत आचारशास्त्र ही एक ऐसी शाखा है, जो चिर काल से पवित्र प्रभु की घोषणा करती आई है। जहाँ आचार है वहाँ श्रेष्ठता है, और जहाँ श्रेष्ठता है वहाँ ईश्वर है।

उपसंहार : दर्शनशास्त्र ने प्रमुख रूप से अन्तिम सत्ता, ज्ञान की प्रक्रिया और मूल्यांकनसिद्धान्त (Ontology, Epistemology and theory of value) इन तीन क्षेत्रों में विचार-विश्लेषण किया है। विज्ञान ब्रह्माण्ड की रचना का प्रयोगात्मक परीक्षण करता है और उसके अन्तर्गत उपलब्ध नियम तथा व्यवस्था का उद्घाटन करता है। यह व्यवस्था जैसी बाहर प्रकृति के प्रसार में है, वैसी ही उसके एक भाग मानव-शरीर के भीतर भी। जो नियम-शृङ्खला वहाँ है, वही यहाँ है। यहाँ शरीर, प्राण, मन और बुद्धि को एक तथा क्रियाशील रखने वाला जीवात्मा है, तो वहाँ पृथ्वी, वायु, अग्नि और द्यौ को पारस्परिक आकर्षण-शक्ति में आबद्ध कर एक रखने और गति देनेवाला परमात्मा है।

दार्शनिक अन्तिम सत्ता के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार रखते हैं। एक विचार के अनुसार यहाँ जो कुछ है, प्रतीतिमात्र है, छाया है। दूसरे विचार के अनुसार प्रतीति किसी वस्तु की ही होती है, छाया किसी पदार्थ की ही हो सकती है। ज्ञान की प्रक्रिया सत्य के स्वरूप और ज्ञान के स्रोत का विवेचन करती है। मनोविज्ञान इसी के अन्तर्गत आता है। ज्ञान की प्रक्रिया

अनुभव, विवेक और आलोचना इन तीन स्रोतों की ओर संकेत करती है। बेकन ने इन तीनों की उपमा चींटी, मकड़ी और मधुमक्षिका से दी है। चींटी इधर-उधर से दानों का संग्रह वैसे ही करती है, जैसे हम लोग नाना स्थानों और पदार्थों से अपना अनुभव एकत्र करते हैं। मकड़ी विवेक के समान अपने भीतर से ही ताना-बाना बुना करती है। मधुमक्षिका आलोचना की भाँति फूलों से रस लेकर उसे अपनी नवीन रचना, मधु के रूप में परिणत कर देती है। मूल्यांकन के सिद्धान्त में तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र आते हैं, जिनका सम्बन्ध क्रमशः आदर्श के सत्य, शुभ और सुन्दर पक्ष के साथ है। कुछ दार्शनिक आदर्श के इन तीनों रूपों को काल्पनिक और कुछ वास्तविक मानते हैं। किसी-किसी के मत में हम सत्य की खोज कर सकें या न कर सकें और हम चाहे हों या न भी हों, सत्य तो शाश्वत है। वह सदैव विद्यमान रहेगा। हमें उसकी खोज करनी ही चाहिये। इस खोज से हमारा ही हित होगा। इसी प्रकार जो शुभ है, उसे प्राप्त करना ही चाहिये। उसका मेरी रुचि तथा अरुचि के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। जो सुन्दर है, वह भी अपनी सुन्दरता के प्रकाश के लिये मेरी रुचि अथवा अरुचि पर अवलम्बित नहीं है।

कुछ दार्शनिक सत्य, शुभ और सुन्दर को एक ही परिपूर्ण आदर्श के तीन पार्श्व बतलाते हैं। मानव-चेतना के तीन भाग हैं: ज्ञान, भावना और सङ्कल्प। वे आदर्श का आकलन इन्हीं तीन रूपों में करते हैं। ज्ञान आदर्श के सत्य स्वरूप को जानना चाहता है। भावना उसके सुन्दर रूप को अनुभव करती है और सङ्कल्प उसके शुभ स्वरूप की प्राप्ति की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है। आदर्श की ओर प्रयाण करनेवाला मानव वही हो सकता है, जो सत्य का चिन्तन करता है, सुन्दर की भावना करता है और उत्तम कर्म करता है। चीन देश की एक कहावत के अनुसार यदि मनुष्य को वर्ष भर का प्रबन्ध करना है तो उसे अन्न की कृषि करनी चाहिये, दश वर्षों का प्रबन्ध करना है तो फलदायक वृक्ष आरोपित करने चाहियें और यदि सदैव के लिये प्रबन्ध करना है तो अपने भीतर महापुरुष की सृष्टि करनी चाहिये। यह महापुरुषत्व सत्य, शुभ और सुन्दर की पराकाष्ठा प्रभु की सङ्गति से ही प्राप्त हो सकता है।

दर्शन और विज्ञान दोनों ने, इस प्रकार, हमें उस पुरुष-विशेष ईश्वर तक पहुँचाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, पर वे उस परम तत्त्व की झलक मात्र देखने और दिखाने में समर्थ हुए हैं। उसका सम्पूर्ण स्वरूप विवेचना, आलोचना, मीमांसा, मति, मनीषा, बुद्धि आदि सब शक्तियों से ऊपर और अग्राह्य है। उस महाचेतन सत्ता की अनन्त क्षमता का पार न आज तक कोई पा सका है और न भविष्य में पा सकेगा। सभी कालों और सभी देशों के चिन्तक एवं परीक्षक यही कहते रहे हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री ऐलबर्ट आइन्स्टाइन सन् १९५० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ; 'Out of my later years' के पृष्ठ २९ पर लिखते हैं : 'But whoever has undergone the intense experience of successful advances made in the domain of science, is moved by profound reverence for the rationality made manifest in existence. By way of the understanding, he achieves a far-reaching emancipation from the shackles of personal hopes and desires and thereby attains that humble attitude of mind towards the grandeur of reason incarnate in existence, and which in its profoundest depths, is inaccessible to man.' मानव ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक क्षेत्र की सफल खोजों की प्रगति में प्रवेश करता जाता है, त्यों-त्यों वह सृष्टि में अभिव्यक्त बुद्धिवादिता के प्रति गम्भीर श्रद्धा-भावना से अभिभूत होता जाता है। इस बुद्धिवादिता को पहचान कर वह अपनी व्यक्तिगत क्षुद्र आशाओं और अभिलाषाओं से भी ऊपर उठ जाता है और सृष्टि के रूप में मूर्तिमान् बुद्धि की महत्ता के सामने उसका शिर भक्ति-भाव से झुक जाता है। यह बुद्धि अपने गम्भीरतम स्वरूप में मानव की पहुँच से परे है।

सर आइन्स्टाइन बुद्धि का नाम लेकर ईश्वर की सत्ता का विरोध नहीं करते। अपने इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २७ पर वे लिखते हैं : 'The idea of the existence of an omnipotent, just and omnibeneficent personal God, is able to accord man solace, help and guidance–' प्रभु का सर्वशक्तिमान्, न्यायी और दयालु रूप मानव को

आश्वासन, साहाय्य और पथ-प्रदर्शन प्रदान करता है। सर आइन्स्टाइन इतना लिखकर भी ईश्वर के व्यक्तित्वपूर्ण, सर्वशक्तिमान् रूप के साथ मानसिक समझौता नहीं कर पाते। यह उनके धार्मिक विश्वासों के संस्कार का प्रभाव कहा जा सकता है। ईसाइयत के सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सर्वशक्तिमान् होते हुए भी ऐसे पापरूप शैतान को उत्पन्न करता है जो उसकी आज्ञा नहीं मानता और जो मनुष्यों को भी उसके आज्ञा-पालन के विरुद्ध भड़काता रहता है। परिणामतः जीवों को ईश्वर का कोपभाजन और दण्डनीय बनना पड़ता है। आइन्स्टाइन के शब्दों में ऐसा न्यायनिर्णय तो ईश्वर के अपने रूप पर ही घटित होता है, क्योंकि पाप उसी का पैदा किया हुआ है। पर जो धर्म या सम्प्रदाय ईश्वर को पाप का उत्पादक ही नहीं मानते, उनके लिये वे क्या कह सकते हैं? सत्यता तो यह है कि आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में ईसाइयत के अनेक सिद्धान्तों का आधार डाँवाडोल हो उठा है। यही कारण है कि सर आइन्स्टाइन बाइबिल में वर्णित ईश्वर के रूप के साथ समझौता न कर सके। वास्तविक धर्म सर आइन्स्टाइन के ही शब्दों में[1] वैज्ञानिक खोजों के प्रकाश से और भी अधिक चमक उठेगा। विज्ञान धर्म के उत्कर्ष और गाम्भीर्य को और भी अधिक प्रदीप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।

---

1. True religion can be ennobled and made more profound by Scientific Knowledge, p. 29

द्वितीय अध्याय

ईश्वर का स्वरूप

उपनिषद् का ऋषि 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'[1] कहकर प्रभु के पर और अवर दो रूपों का उल्लेख करता है। प्रभु का अवर रूप जगत् की और हमारी अपेक्षा से है, अतः वह प्रभु का सापेक्ष रूप कहा जा सकता है। प्रभु का पर रूप उसका अपना वास्तविक रूप है, जिसका कोई सम्बन्ध जगत् और जीवों के साथ नहीं है। इसे हम निरपेक्ष रूप कह सकते हैं। नाम और रूप किसी अस्तित्व के साथ संलग्न रहते हैं। उनके अभाव में किसी अस्तित्व की कल्पना करना असम्भव है। नाम और रूप दोनों ही अस्तित्व-विशेष को हमारे मन के सामने प्रत्यक्ष कर देते हैं। नाम के साथ रूप और रूप के साथ नाम विद्यमान रहता है। दोनों ही सत्ता के गुणों को प्रकट करने वाले हैं। नाम वाणी का विषय है और गुण मन का। वाणी आत्मा की सहज शक्ति है। उसका बाह्य रूप वैखरी कहलाता है। साहित्यिक वाग्विलास इसी वैखरी वाणी द्वारा निष्पन्न होता है। प्रभु के निरपेक्ष और सापेक्ष रूप नामों द्वारा इसी वाणी में अभिव्यक्ति पाते हैं। प्रथम हम प्रभु के निरपेक्ष रूप पर विचार करते हैं।

निरपेक्ष स्वरूप : जो सत्ता, जगत् और जीव से असम्बद्ध है, एकान्त, कूटस्थ और तटस्थ है, वह है भी या नहीं, ऐसा प्रश्न एक जिज्ञासु के लिये अत्यन्त स्वाभाविक है। मैं किसी वस्तु को या तो अपने सम्बन्ध से जानता हूँ, या अपने अतिरिक्त अन्य किसी सांसारिक सम्बन्ध से। जहाँ इन दोनों सम्बन्धों का अभाव हो, वहाँ साधारणतया मेरी पहुँच नहीं होती। इसी कारण ईश्वर के जिस रूप के साथ मेरा या संसार का कोई लगाव नहीं है, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका के लिये अवकाश है। ऋग्वेद का ऋषि इसीलिये कहता है : 'उते माहुर्नैषोऽस्ति इत्येनम्।'[2] अनेक व्यक्तियों की सम्मति में

---

१. मुण्डक २, २, ८।

२. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषोऽस्तीत्येनम्।
सोऽर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः।
ऋ० २, १२, ५।

ईश्वर है ही नहीं। पर, जैसा हम विगत परिच्छेद में लिख चुके हैं, विज्ञान और दर्शन की खोज ईश्वर के अस्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डालती है और उसके स्वरूप का उद्घाटन भी उसके द्वारा हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि भी ऊपर उद्धृत शब्दों के पश्चात् एक ऐसी युक्ति द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन करता है, जो इतिहास द्वारा तो समर्थन पा ही रही है, हम सबके व्यक्तिगत जीवन में भी जो समय-समय पर उपस्थित होकर हमें जगत् और जीवन से हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख कर देती है। यह युक्ति संहार के दृश्यों में निहित है। पराजय, पराभव, वध, विवशता, असहायावस्था आदि इस युक्ति के अचूक अस्त्र हैं, जिनके द्वारा वेध कर यह हमें जगत् और जीवन में छिपे हुए अज्ञात ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिये बाध्य कर देती है।

काल्पनिक वा वास्तविक : ईश्वर के निरपेक्ष रूप के सम्बन्ध में प्रत्येक युग के मानव शंकाकुल रहे हैं। कवि-कल्पना के समान वे उसे मानने के लिये मानते रहे हैं, अन्यथा उसकी वास्तविकता संदेहात्मक है, ऐसा विचार साधारण पुरुषों का ही नहीं, दिग्गज विद्वानों का भी रहा है। आधुनिक युग में पाश्चात्य विद्वानों ने विकासवाद के प्रकाश में जो विचार प्रकट किये हैं, वे इसी प्रकार की शंकाओं से समन्वित हैं और उनका प्रभाव भी इस युग के मानव-मस्तिष्क पर कम नहीं पड़ा है। इनके मतानुसार ईश्वर की सत्ता काल्पनिक है। विकास के प्रारम्भिक युगों में जब मनुष्य समाज के रूप में संगठित हुए, तो चतुर और शक्तिशाली पुरुषों ने अन्य मूर्ख एवं निर्बल पुरुषों पर अपना अधिकार स्थापित किया। उनका शासन छल, छद्म, पौरुष और संगठन पर आधारित था, जिसे नैतिक रूप देने के लिये उन्होंने एक भयानक और शक्तिशाली सत्ता की कल्पना की और उसका नाम ईश्वर रखा। पुरोहितों के वर्ग ने इस कल्पित सत्ता के प्रचार में योग दिया और शासकों के साथ सहयोग किया। यह वर्ग सदाचार का नमूना समझा जाता था। सामान्य जनता इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। अतः पुरोहितों द्वारा प्रचारित ईश्वर की सत्ता कालान्तर में जनता के विश्वास में बद्धमूल हो गई। इसका मुख्य लक्ष्य साधारण जन-वर्ग को व्यवस्था में रखना था।

फ्रेडरिक नीट्शे का मत है कि मनुष्यों ने परमेश्वर की कल्पना एक महान्

शक्ति-सम्पन्न पुरुष के रूप में की है। यदि घोड़ा परमेश्वर की कल्पना करता, तो वह एक विशाल घोड़े के रूप में करता, जैसे जल-तट-वासियों ने ईश्वर की कल्पना जल-देवता या समुद्रिय अप्सरा के रूप में की है, जिसका ऊपर का भाग स्त्री के समान और नीचे का भाग मछली के आकार का है। नीट्शे की सम्मति में इस प्रकार के कल्पित परमेश्वर को आधुनिक विज्ञान ने समाप्त कर दिया है। रूस के बोल्शेविज्म ने भी पूंजीवादी शोषक शासकों की प्रतिक्रिया में ईश्वर-विश्वास को धक्का पहुँचाया है। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि ईश्वर यदि हो भी, तो हमें उसे पदच्युत एवं ध्वस्त करना होगा।

ऊपर जिस मत का उल्लेख हुआ है, वह मानवप्रकृति को कुत्सित रूप में प्रकट करता है। इसके अनुसार मनुष्य या तो मूर्ख हैं या चालाक। चालाक मनुष्य मूर्खों के विश्वास पर खेलते हैं और मूर्ख उनके संकेत से सर्वहारा के रूप में लुटते रहते हैं। चालाक और मूर्ख इन दो श्रेणियों के अतिरिक्त मानवों की एक तीसरी श्रेणी और उत्पन्न हो गई है, जो स्वयं तो माया के आवरण को फाड़कर देखने का दम भरती है, पर यह नहीं चाहती कि दूसरे भी उसकी तरह देखें। ऐसे व्यक्ति जानते हैं कि यदि भ्रम को भ्रम मान लिया गया, तो कोई भी उसकी उपासना नहीं करेगा। पर यह सब मानवप्रकृति को उसके सम्पूर्ण रूप में न देखने का परिणाम है और असामञ्जस्य की प्रवृत्ति को प्रकट करता है। इस मत के अनुसार मुख्य भाव इस युग में यही उत्पन्न हुआ कि परमात्मा की कोई सत्ता नहीं, वह कल्पित है। कुछ समाजवादियों ने यह भी कहा कि यह कल्पित ईश्वर सामाजिक नियंत्रण के लिये लाभकारी सिद्ध हुआ है, अतः इसे लोगों की कल्पना में जीवित रहना चाहिये।

शक्ति या द्रव्य : हर्बर्ट स्पेंसर और हेगल ने एक दूसरा विचार ईश्वर के सम्बन्ध में उपस्थित किया। इनके मतानुसार जो कुछ दिखाई देता है, वह सब एक शक्ति का प्रकाश है[1]। विश्व के विभिन्न अचर और चर, जड़ और

---

१. रामावतार शर्मा, यूरोपीय दर्शन, पृष्ठ १३१-१७६ प्रथम संस्करण.

Prof. Frank Thilly अपने ग्रन्थ A History of Philosophy में लिखते हैं.—'Hegel calls God Idea, meaning the potential universe, the timeless totality of all the possibilities of evolution. The Idea contains within

जंगम पदार्थ उस शक्ति के विभिन्न चिह्नों को प्रकट करते हैं। एक ही शक्ति नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। यहाँ जो कुछ चित् और द्रव्यरूप है—छोटों से बड़ों तक, फूलों से नक्षत्रों तक, चींटी से कुंजर तक—वह सब उठता है, गिरता है, नष्ट होता है; पर सबको उत्पन्न करता हुआ और सबको निगलता हुआ, निखिल पदार्थों का महायोग, शक्ति, ज्यों का त्यों बना रहता है। यह शक्तिरूप महायोग ही परमात्मा है, परन्तु यह व्यक्तित्व-विहीन, चेतना-रहित और आचार-शून्य है। उसमें अहंभाव–अपनी सत्ता का भाव–नहीं है। जैसे कोई बेसुध, आत्मविस्मृत सत्ता पड़ी हो, वैसे ही इस ईश्वर का अस्तित्व है। बौद्ध दार्शनिकों ने चेतन या सज्ञान देवों से ज्ञानशून्य (Unconscious) देवों को उच्चस्तर का माना है। उदासीन (उद् + आसीन), निरपेक्ष या तटस्थ ब्रह्म (Absolute God) भी चेतना-शून्य समझा जाता रहा है[1]। ईश्वर का यह रूप जो न व्यक्तित्व रखता है न चेतना, जो न कुछ कह सकता है न कहे हुये को सुन सकता है, कोई अर्थ नहीं रखता। वह कुछ विरले, पराशक्ति और योग्यता से पूर्ण चिन्तकों के लिये भले ही उत्साह का स्रोत हो, साधारण मानव के लिये वह मिट्टी के ढेले के बराबर भी नहीं है[2]। ऐसे प्रभु का अस्तित्व मानव-मनीषा के क्षेत्र से बाहर है। उसे कोई भी प्राणी हृदयंगम नहीं कर सकता।

---

itself the entire logical dialectical process which unfolds itself in a world...Just as in our minds, thoughts & feelings come & pass away without exhausting the mind, so the phenomena of nature come & go without exhausting the divine mind.' p. 470.

'According to Herbert Spencer, there is an Absolute Being behind all phenomena The Absolute is a complete mystery...We are compelled to conceive it as power or force.' pp. 538-539.

'The Absolute or Unknowable manifests itself in two great groups of facts · subjective & objective, ego and non-ego, mind & matter. But it is one force or power that expresses itself in both.' p. 540.

1. Lewis Richard Farnell : 'Attributes of God'. p. 21

2. " " " " " " pp. 19-20

सानन्द या निरानन्द : कई चिन्तकों ने ईश्वर को मानव का रूप प्रदान किया है। इनका वाद नराकारवाद (Anthropomorphism) कहलाता है। कतिपय देशों में ईश्वर का रूप मानवपशुमिश्रित है, जिसे (Theriomorphism) अर्द्धनराकारवाद कहा जा सकता है। दूसरे रूप में रहस्यवाद के विकास के लिये पर्याप्त अवकाश है। मिश्र देश को इसी हेतु रहस्यवादियों का देश कहते हैं। मिश्र की (Anubis) अनूबिस देवी कुत्ते के मुखवाली है। भारत के गणेश जो बुद्धि और सिद्धि के देवता माने जाते हैं, इसी प्रकार के हैं। पशु-शिरवाले देव देखने में भयोत्पादक हैं। जो दूसरों के अन्दर भय, विकर्षण और भीषणता भर सकता है, वह आनन्दमय नहीं हो सकता। भय क्लेश को जन्म देता है। जहाँ भय है, वहाँ आनन्द नहीं हो सकता।

ईश्वर के नराकार रूप के साथ गृह, भोजन, आदर, अनुचर, मंत्री आदि विविध प्रकार की साधन-सामग्री और सहायक चाहिये। दाम्पत्य-भावना भी इस रूप के साथ संयुक्त है[1]। यह रूप भी क्लेश-बहुल है। इसमें आनन्द कहाँ? यदि इसमें आनन्द होता, तो मानव स्वयं इससे सम्बद्ध सामग्री का त्याग करने के लिये क्यों बाध्य होता? संन्यास लेते हुये उसे भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रतिज्ञा करनी पड़ती है: 'पुत्रैषणा मया त्यक्ता, वित्तैषणा मया त्यक्ता, लोकैषणा मया त्यक्ता।' पुत्र, वित्त और यश में, जो मानव के सहज साथी हैं, आनन्द नहीं है। इसी हेतु मानव इनका परित्याग करके आनन्द की खोज में निकलता है।

बाइबिल ने इसी नराकारवाद से मिलता-जुलता एक विचार प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार जीसस क्राइस्ट परमात्मा का पुत्र है। यहाँ मानव और ईश्वर का भेद दूर कर दिया गया है। ईश्वर विशुद्ध मानव बन गया है। क्राइस्ट के जीवन का प्रमुख कार्य मनुष्य के पापों को अपने ऊपर लेकर स्वयं दुःख का जीवन व्यतीत करना है। मनुष्य के पापों का प्रायश्चित्त ईसा को स्वयं फाँसी पर चढ़कर करना पड़ता है। मानव-वेष में ईश्वर का यह एकान्त निरानन्द रूप है।

1. Lewis Richard Farnell : 'Attributes of God' p 24

क्लेश निर्बलता का चिह्न और परिणाम है। ईसा फाँसी पर चढ़ाया गया था, वह स्वयं फाँसी पर नहीं चढ़ा। फाँसी के तख्ते की ओर, निर्बलता की अवस्था में, ले जाये जाते हुये, जब वह लड़खड़ाकर गिर पड़ा, तो उसके मुख से दुखभरी चीत्कार इन शब्दों में निकल पड़ी थी: "Oh my God! Oh my God! why hast thou forsaken me?" 'प्रभु तूने मुझे कैसे भुला दिया'? ईसा की यह चीत्कार उसकी निर्बलता की सूचक है, न केवल शारीरिक दृष्टि से, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी। ईसा को प्रभु का पुत्र कहा जाता है और पुत्र पिता का ही स्वरूप है। ईसाई ऐसा ही मानते हैं। ईसा ईश्वर होकर दुख उठावे, यह उसका ईश्वरत्व नहीं, अत्यन्त दुर्बल मानवत्व है। प्रभु दुर्भाग्य और क्लेश सहन करने में हमारा साथी नहीं हो सकता[1]। योगदर्शन ने उसे क्लेश, कर्मविपाक और वासनाओं से असंपृक्त माना है।

अभी तक ईश्वर के निरपेक्ष रूप की व्याख्या में हमने जो विचार ऊपर अभिव्यक्त किये हैं, उनसे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ईश्वर कपोलकल्पित नहीं है, जिसे किसी चतुर मस्तिष्क की उपज कहा जा सके। वह वास्तविक सत्ता है। यह सत्ता व्यक्तित्व विहीन, संज्ञा-शून्य और चेतना से रहित भी नहीं है। उसका एक व्यक्तित्व है, जो सज्ञान है, जो दूसरों से कह सकता है और उनकी सुन सकता है।[२] वह पूर्ण आनन्दमय है। उसमें दु:ख का लवलेश भी नहीं है। वेद की सात व्याहृतियों में से प्रथम तीन महाव्याहृतियाँ "भूः, भुवः, स्वः" प्रभु के इसी स्वरूप की व्याख्या करती है। वह भूः अर्थात् सत्तावाला है, उसका अस्तित्व है, वह सत्य है। वह भुवः अर्थात् चेतन और ज्ञानवाला है। वह हमारी प्रार्थनाओं को सुन सकता है। उसे अपना ज्ञान है और वह अपना संदेश हम तक पहुँचाता रहता है। उसके ज्ञान का प्रकाश संसार के नियमबद्ध, व्यवस्थित एवं सोद्देश्य व्यापारों में भली-भाँति प्रकट हो रहा है।

---

1. L. Diwanchand 'The Arya Samaj' p. 54.

२. अर्चा शक्राय शाकिने शचीवते शृण्वन्तमिन्द्रं महयन्नभिष्टुहि। ऋ० १, ५४, २

यहाँ और कौन सुनने वाला है? सबको अपनी-अपनी पड़ी है। प्रार्थना सुनने वाला तो एक प्रभु ही है। वही शक्तियुक्त है, वही समर्थ है। उसी की स्तुति और पूजा करनी चाहिये।

वह पूर्ण है, अतः उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है[1]। वह स्वः अर्थात् आनन्दस्वरूप है। क्लेशों में उसे क्लेशित करने का सामर्थ्य ही नहीं है, वे उसके पास तक नहीं फटक सकते। इस प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। तीनों महाव्याहृतियाँ उसके इस निरपेक्ष, अन्यों से असम्बद्ध, वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करती है। वह सत् है, चित् है और आनन्द है।

ससीम या असीम : देश और काल वस्तुओं को सीमाबद्ध करनेवाले हैं। वे अन्तिम सत्य के सर्वांश को अपने अन्दर नहीं रख सकते। वे हमारी इन्द्रियों के लिये अन्तिम सत्य के केवल संदेश-वाहक हैं[2]। मैं इस समय अपने कमरे में बैठा हूँ, अतः कालेज में नहीं हो सकता। कालेज में जब विद्यार्थियों को पढ़ाता हूँ, तब घर पर नहीं मिल सकता। सोता हूँ, तो चारपाई मुझसे लम्बाई और चौड़ाई दोनों में ही बड़ी होती है। मैं थोड़े से स्थान में ही समा जाता हूँ। इस प्रकार मेरा शरीर देश और काल दोनों ही दृष्टियों से ससीम है। यह अवस्था मेरे मन की नहीं है। वह यहाँ शरीर के साथ कमरे में बैठा है, पर पलक मारते ही कालेज में भ्रमण कर आता है, कभी गंगातट पर जा पहुँचता है और चाहे तो अपनी कल्पना के बल से कभी न देखे हुए, पर पुस्तकों में पढ़े हुए पर्वत, समुद्र आदि की भी झाँकी देख आता है। मन के विचार ज्ञानाश्रित हैं। ज्ञान असीम है। उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

देश क्या है? देश वह स्थान है जिसमें वस्तुएँ रहती हैं या रखी जाती हैं। वस्तुएँ जहाँ रखी जाती हैं, उस स्थान का ज्ञान मुझे उसकी लम्बाई और चौड़ाई से होता है। इस लम्बाई और चौड़ाई पर यदि मैं विचार करूँ और वह जहाँ-जहाँ दिखाई दे, वहाँ-वहाँ उसे देखता जाऊँ, तो अन्त में एक ऐसी

---

१. सर जेम्स जीन्स अपने ग्रन्थ 'Physics and Philosophy' के पृष्ठ ९४ पर लिखते हैं :—The perfect being must, in Fact, possess the quality of existence, since the non-possession of this quality would be an obvious imperfection.

2 'Space and time cannot contain the whole of reality. They are only messengers from reality to our senses.' Physics & Philosophy. p 69

अवस्था आती है, जहाँ न लम्बाई मेरे साथ रहती है, न चौड़ाई। केवल समय मेरे हाथ में रहता है। मैं यही सोचने लगता हूँ कि मुझे यह सब देखते-देखते इतना समय लग गया। समय क्या है? समय वह तत्व है जिसमें घटनायें घटित होती हैं या क्रियायें की जाती हैं। घटनायें प्राकृतिक होती हैं और क्रियायें मानवी। सूर्य-उदय हुआ, यह एक घटना है, परन्तु प्रताप ने हल्दी-घाटी के युद्ध में मुगल सेना के छक्के छुड़ा दिये, यह एक क्रिया है। एक क्रिया भी अपने अन्दर अनेक लघु क्रियायें रख सकती है। यदि मैं इन क्रियाओं के समय पर विचार करूँ और आज से पीछे चलकर सृष्टि-रचना की प्रारम्भिक क्रिया तक पहुँचूँ, तो उसके आगे मुझे समय का पता नहीं चलता। केवल समय का ज्ञान हाथ रह जाता है। इस प्रकार देश का पर्यवसान काल में और काल की समाप्ति ज्ञान में होती है। ज्ञान स्रोत है, जनक है। उत्पन्न हुई वस्तु के साथ देश और काल का बंधन लगता है। उत्पत्ति के साथ ही क्रिया प्रारम्भ होती है, जो काल की द्योतक बनती है[1]। उत्पत्ति वस्तुओं की होती है। अतः उनके रहने के लिये स्थान या देश चाहिये। यही देश और काल सीमा बाँधने वाले हैं[2]। ज्ञान इस सीमा से परे है। पीछे हम लिख चुके हैं कि ईश्वर ज्ञानस्वरूप है। फिर वह ससीम कैसे हो सकता है?

एक अन्य दृष्टि से विचार कीजिये। कारण के गुण कार्य में आते हैं। कलाकार का मानस उसकी कला में प्रत्यक्ष होता है। कवि की आत्मा उसके काव्य में प्रतिध्वनित होती है। इसी प्रकार यदि सृष्टि सृष्टि है (क्योंकि सृष्टि का शब्दार्थ है—'रची गई', यदि सृष्टि रची गई है) तो इस रचना में रचयिता के गुणों का प्रकाश होना ही चाहिये। सृष्टि विशाल है, इसकी

---

१. ऋग्वेद के अघमर्षणसूक्त में भी तत्त्व की उत्पत्ति के साथ ही संवत्सर अर्थात् काल की उत्पत्ति का वर्णन है। सर जेम्स जीन्स अपने ग्रन्थ 'The mysterious universe' के पृष्ठ १८३ पर प्लेटो के मत को उद्धृत करके यही बात लिखते हैं। 'Time and the heavens came into being at the same instant, in order that if they were to dissolve, they might be dissolved together.'

२. सर जेम्स जीन्स के अनुसार 'Space is merely the arrangement of things that co-exist and time is the arrangement of things that succeed one another.' 'स्थान में पदार्थ एक साथ रहते हैं। समय उन पदार्थों के क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे के आने की व्यवस्था का नाम है।' physics and philosophy. p. 59.

इयत्ता का पता इसके रचयिता के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं है। यह प्रवाह से अनादि है, न जाने कितनी बार इस रूप में आई, ठहरी और तिरोहित हो गई। इसमें अनन्त नियम काम कर रहे हैं। अतः इसका रचयिता भी अनन्त है, अनादि है, असीम है।

सीमित वस्तुएँ कभी कहीं थीं, कभी कहीं होंगी। वे सदैव सब स्थानों पर विद्यमान नहीं रहतीं। असीम के लिये देश और काल का यह बंधन नहीं है। वह सतत सर्वत्र वर्तमान है[1]।

व्याहृतियों में चौथी व्याहृति 'महः' है जो प्रभु की महत्ता, विशालता, अनन्तता और असीमता की सूचना देती है। ईश्वर की सत्ता, उसके ज्ञान, उसकी शक्ति और उसके आनन्द की कोई इयत्ता, सीमा या अवधि नहीं है। प्रभु की असीमता उसकी सूक्ष्मता और निराकारता की भी द्योतक है। आकारवाली स्थूल वस्तुएँ देश और काल की सीमा में बद्ध होती हैं। प्रभु ऐसा नहीं है। वह निराकार है। आकार वाली वस्तु कई अवयवों से मिलकर बनती है, अतः अनेक खंडों में विभक्त हो सकती है। निराकार वस्तु के खंड नहीं हो सकते। वह अखंड, अविभाज्य और एक रस है। असीम और निराकार सूक्ष्म होने के कारण ससीम तथा साकार की स्थूलता में व्याप्त रहता है। ईश्वर से अधिक सूक्ष्म कोई भी सत्ता नहीं है। अतः उसे सर्व-व्यापक भी कहा जाता है। अखंड सत्ता होने के कारण वही अन्तिम सत्य भी है।

पीछे हमने सिद्ध किया है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति के साथ देश और काल का बन्धन लगा रहता है और वह वस्तु ससीम कहलाती है। प्रभु असीम है, देश-काल की सीमा से पृथक् है, अतः उत्पन्न ही नहीं होता। उसका कोई जनक नहीं। जो उत्पन्न होता है, वह वृद्धि और अन्त में मृत्यु को

---

1. Lewis Richard Farnell : 'Attributes of God.' p. 255 :—
'Eternal Absolute God is an everlasting 'Now'.
Sir James Jeans : 'The Mysterious universe' (revised edition) P. 182 :—
'Modern scientific theory compells us to think of the creator as working outside time & space, which are part of His creation.'

प्राप्त करता है। प्रभु न उत्पन्न हुआ है, न बढ़ता है और न मृत्यु उसका अन्त कर सकती है। वह अज, अनन्त और अमृत है।

एक या अनेक : जिस परमेश्वर को हम सच्चिदानन्दस्वरूप, असीम, अखण्ड, एकरस, अजर और अमर कहते हैं, वह एक है या अनेक, यह प्रश्न धार्मिक इतिहास में अनेक बार उत्पन्न हुआ है। एकेश्वरवाद या बहुदेववाद के पीछे एक निश्चित विचारधारा है। हर्बर्ट स्पेन्सर का विचार था कि जो जातियाँ पितृपूजा या वीरपूजा को महत्त्व देती हैं, वे स्वभावतः बहुदेववादी होती हैं। मनुष्य अनेक हैं और उनके पिता भी पृथक्-पृथक् हैं जो उनके लिये पूज्य हो सकते हैं। जातियाँ पृथक्-पृथक् हैं और उनके आदर्श भी पृथक्-पृथक् हैं। किसी ने ज्ञान को महत्ता प्रदान की है, किसी ने कला को, किसी ने कर्म को, किसी ने भक्तिभावना को। जिस जाति के पास जिस क्षेत्र में जिस महाप्राण व्यक्तित्व ने अधिक शक्ति और योग्यता प्रदर्शित की, वह उस क्षेत्र में उसका श्रद्धेय और अनुकरणीय बन गया और अन्ततोगत्वा उसकी पूजा प्रारम्भ हो गई। इस प्रकार पितृपूजा और वीरपूजा ने बहुदेववाद को जन्म दिया।

बहुदेववाद के मूल में एक विचार और है। प्रकृति के विशाल क्षेत्र में हमें कहीं विस्मयजनक दृश्य दिखाई देते हैं, कहीं भयावह और कहीं आह्लाद-कारक। उसकी बलवती शक्तियों का दर्शन भी यथासमय होता रहता है। यह प्रकृति की बहुरूपता का परिचायक है। इसने भी बहुदेववाद को जन्म दिया होगा।

यूनान को मानवी भावना का पालना कहा जाता है। वहाँ पितृपूजा और वीरपूजा के साथ कला ने भी पराकाष्ठा की उन्नति की। हेलेन्स अपनी कलाप्रियता के लिये प्रख्यात है, तो स्पार्टा वीरपूजा के लिये। कला प्राकृतिक दृश्यों को ऊर्जस्वीकरण द्वारा चेतनता के उच्च स्तर तक पहुँचाने का प्रयत्न करती है, तो वीरपूजा वीरों को यदि ईश्वर नहीं तो ईश्वर के अवतारपद तक तो अवश्य पहुँचा देती है। मानव जिस व्यक्तित्व में अपने से अधिक तथा असाधारण गुणों को देखता है, उसके प्रति उसकी पूज्य बुद्धि जाग्रत हो जाती है और परिणामतः बहुदेववाद का जन्म होता है। यूनानियों

के सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में बहुदेववाद ने बड़ा गहरा प्रवेश किया था। प्राकृतिक तत्वों में भी उन्हें देवत्व के दर्शन हुये थे। प्रकृति और जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रत्येक विभाग के साथ उन्होंने एक-एक अतीव सजीव और समर्थ विशिष्ट देवता की प्रतिष्ठा की है। विद्या, युद्ध, कला, उषा आदि सबकी अधिष्ठातृ देवियाँ उनके यहाँ पृथक्-पृथक् हैं। बहुदेववाद का अत्यन्त उदात्त विकास यूनान में हुआ, जिसे देवताओं का संगठित संसार कहा जा सकता है और जिसमें प्रत्येक देवता का पृथक् व्यक्तित्व, पृथक् गुण और पृथक् कार्य-कलाप है।[1]

संभवतः यूनान के सम्पर्क से भारतवर्ष में भी बहुदेववाद ने आश्रय पाया। भारत में विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म भी इसी का परिणाम प्रतीत होता है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना पृथक् आराध्य देव है। शैवसम्प्रदाय शिव देवता की आराधना करता है, वैष्णवसम्प्रदाय विष्णु की, शाक्तसम्प्रदाय शक्ति या देवी की और बार्हस्पत्य तथा गाणपत्य सम्प्रदाय क्रमशः बृहस्पति और गणेश की। इसी प्रकार प्राकृतिक शक्तियों में से कोई 'सम्प्रदाय' सूर्य का उपासक है, कोई अश्वत्थ का और कोई तुलसी का। सम्प्रदायों के अन्तर्गत अनेक भेद हैं और वे भिन्न-भिन्न देवों की पूजा करते हैं।

मिश्र देश में प्रत्येक ग्राम और जाति का एक विशेष पशु-देव (Animal God) होता था। समग्र मिश्र देश भारतवर्ष की ही भाँति नाना मत-मतान्तरों में विभक्त था। अमेन्होटेप चतुर्थ (Amenhotep IV) ने एटोन अर्थात् सूर्य देवता की पूजा प्रचलित करके मिश्र में एकदेववाद के प्रचार का प्रयत्न किया था, परन्तु मिश्र के पौरोहित्य वर्ग तथा जनता ने इसे स्वीकार नहीं किया और इसके प्रचारक वंश को ही राजसिंहासन से उतार दिया।

बहुदेववाद के साथ कलाप्रिय जातियों में विभिन्न देवताओं की मूर्तियों का निर्माण होता है और मूर्ति-पूजा प्रचलित हो जाती है। देव-मूर्तियों को सुरक्षित रखने के लिए मंदिर बनाये जाते हैं। इसी के साथ वह समस्त विलास-विभ्रम भी संलग्न हो जाता है, जो विशुद्ध देववाद की कल्पना का विरोधी है। हीरोडोटस के लेखानुसार पारसीक आर्य देव-मन्दिरों का निर्माण नहीं करते थे। वे पर्वत-शिखर पर बैठकर अपने पूज्य-देव की उपासना

1. 'Attributes of God'—pp. 19, 20.

में मग्न होते थे। भारतीय आर्यों के प्रारम्भिक काल में भी देव-मन्दिरों के दर्शन नहीं होते। ट्यूटोनिक वंश के प्रथम इतिहासलेखक टेसीटस ने आर्यों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे अपनी उदात्त कल्पना के अनुसार दैवी विभूतियों को मन्दिरों की चहारदीवारी के अन्दर बन्द कर देना था उन्हें मानवी रूप देना असमीचीन एवं अनुपयुक्त समझते थे। इसका तात्पर्य यही है कि वे मूर्ति-पूजक नहीं थे। परन्तु ईसा के पूर्व ही स्कैन्डेनेविया तथा अन्य ट्यूटोनिक प्रदेशों में मन्दिर बन चुके थे और मूर्तिपूजा का प्रचार आरम्भ हो गया था। यह हमारी कल्पना के ह्रास का सूचक है।[1]

बहुदेववाद, जहाँ तक ईश्वर के निरपेक्ष स्वरूप का सम्बन्ध है, किसी भी प्रकार ग्राह्य नहीं हो सकता। वह प्रकृति तथा चेतना के साधारण स्तर का ही स्पर्श करता है। यही नहीं, उसमें दैवी शुभ अंशों के साथ अशुभ अंशों का भी सम्मिश्रण है। गौब्लिन या भूत-प्रेतादि पापात्माओं (Evil spirits) को बहुदेववाद में ही स्थान मिल सकता है, एकेश्वरवाद में नहीं।

ईश्वर एक है, दो, तीन, चार अर्थात् अनेक नहीं, यह तथ्य भारतीय संस्कृति का प्रमुख अंग है। वेदमंत्रों में अनेक बार इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'वैदिक भक्ति' शीर्षक अध्याय में इसके प्रचुर प्रमाण पाठकों को उपलब्ध होंगे। ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक साहित्य ने भी एकेश्वरवाद की ही घोषणा की है।

भारतीय संस्कृति के पौराणिक युग में जो बहुदेववाद पाया जाता है, वह कुछ विद्वानों की सम्मति में यूनान के सम्पर्क का प्रभाव है। भारतीय मनीषा अनेक देवताओं में एक ही परमदेव के दर्शन करती रही है। उसने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों को एक ही ईश्वर की विभिन्न शक्तियों का रूप माना है। ऋग्वेद में भी एक देव का अनेक नामों द्वारा वर्णन हुआ है। बहुदेववाद के संस्कार से प्रभावित पाश्चात्य विद्वानों को और उन्हीं की पद्धति का अनुसरण करने वाले एतद्देशीय पण्डितों को इन नामों में अनेक देवों का भ्रम हुआ है, पर आचार्य यास्क ने निरुक्त में इस भ्रम का निराकरण किया है और लिखा है: "एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते"[2] अर्थात् एक ही आत्मतत्त्व की अनेक

---

1. 'Attributes of God.' P 29.

२. निरुक्त ७।४, ८-९।

प्रकार से विविध नामों द्वारा स्तुति की गई है। स्तुति गुण-कीर्तन का नाम है। अतः एक ही देव के अनेक नाम उसके अनेक गुणों का द्योतन करते हैं। निरुक्त के इस कथन का समर्थन भारत के सभी दार्शनिकों ने किया है। उपनिषद् तथा पुराणसाहित्य भी इस तथ्य की पुष्टि करता रहा है। यथा—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः सोऽक्षरः स परमःस्वराट्।
स इन्द्रः स कालाग्निः स चन्द्रमाः। कैवल्योपनिषत् ८
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ मनु० १२, १२३

इस विषय में पद्मपुराण, भूमिखंड २, पातालखंड अध्याय ७३, श्लोक ५१; विष्णुपुराण ५, ३३, ४९; ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्णजन्मखंड, उत्तरार्द्ध ७३, ५३ तथा वायुपुराण अध्याय २५ श्लोक २०-२५ देखने योग्य हैं।[१] एक देव के विभिन्न गुणों के कारण विभिन्न नाम हुए। कालान्तर में बाह्य प्रभाव से यही नाम बहुदेववाद के व्यञ्जक बन गये और हमारे यहाँ मूर्ति-पूजा का प्रचार प्रारम्भ हुआ। यह निस्संदेह हमारी कल्पना के ह्रास का सूचक था। मूर्तियों द्वारा क्या उस परब्रह्म की पूजा हो सकती है? ऋग्वेद कहता है 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽजायत।' यजु० २६, १५। प्रभु की उपासना प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में होती है। मन्दिरों की दीवालों में घिरकर तो मानव-बुद्धि घुटने लगती है। प्रभु की उपासना का सर्वश्रेष्ठ स्थान तो अपनी आत्मा है, जो अपने भीतर है। पैथागोरस लिखता है:......'God has no more fitting abode on earth than the pure soul.' बाइबिल भी यही कहती है:......'God is a spirit and they that worship Him, must worship Him in spirit and in truth.' St. Johns Gospel.

प्रभु एक है, अनेक नहीं। उसकी रचना भी उसके एक होने का संकेत देती है। समस्त ब्रह्मांड एक व्यवस्था है। ब्रह्मांड का अर्थ ही है...एक बहुत

---

१. लेखक ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' के पृष्ठ २००, २०१ पर इसका विस्तृत विवरण दिया है।

बड़ा अंडा, जिसकी एकता रचयिता के अद्भुत, अटल प्रबन्ध द्वारा संपादित होती है। पीछे हमने सृष्टि में काम करने वाले नियमों का उल्लेख किया है। यह नियम-बद्धता एकता का चिह्न है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं की एकप्रकारता का नाम नियम है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नियमों की एकप्रकारता भी एक नियम है। ये नियम अपने नियामक को सिद्ध करते हैं, जो नियमों की एकप्रकारता के कारण एक ही है। जो सत्ता असीम है, अखंड है, अविभाज्य है, वह एक ही हो सकती है। अन्तिम सत्य एक ही है।

सर्वशक्तिमान् :......सर्वशक्तिमान् का अर्थ समस्त उदात्त शक्तियों से सम्पन्न होना है। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति सीमागत बन्धनों से स्वतन्त्र होता है। प्रभु के अन्दर कोई बन्धन नहीं है। वह किसी के ऊपर आश्रित भी नहीं है। उसे किसी की सहायता नहीं चाहिये। अल्पशक्ति जीवों को पद-पद पर किसी का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है। मैं भोजन करता हूँ, वस्त्र पहिनता हूँ, परन्तु स्वयं न तो अन्न पैदा करता हूँ, न चक्की चलाता हूँ और न भोजन बनाता हूँ। वस्त्रों के लिये रुई मैं तैयार नहीं करता। इसी प्रकार अन्य अनेक वस्तुओं के लिये मुझे दूसरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। मेरी तरह दूसरे भी स्वतन्त्र नहीं हैं। पर प्रभु स्वतन्त्र है। उसके बनाये हुए नियमों पर मानव की खाद्य सामग्री, यातायात, जीवनयापन सब कुछ अवलम्बित है। यहाँ मैं जिस व्यक्ति का अवलम्बन ग्रहण करता हूँ, वह व्यक्ति भी स्वयं प्रभु-प्रदत्त सामग्री पर अवलम्बित है।

प्रभु अवलम्बनों का भी अवलम्बन है। उससे बढ़कर अन्य कोई अवलंबन नहीं है। उसे किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। वह सबका आश्रय है, निखिल शक्ति का भाण्डार है; परन्तु उसकी सर्वशक्तिमत्ता का अर्थ यह नहीं है कि वह उचित-अनुचित, सम्भव-असम्भव अथवा नियमित-अनियमित सभी कार्य कर सकता है। वह अपने को मार नहीं सकता, अपने से अधिक शक्तिशाली देव को उत्पन्न नहीं कर सकता। वह ऐसे कार्य नहीं कर सकता, जो अपवित्र हैं। उसकी सर्वशक्तिमत्ता इस तथ्य में निहित है कि वह जो कुछ करना चाहता है, उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता। अथर्ववेद कहता है : 'न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये।' कांड ५, वर्ग १०, मंत्र ४ अर्थात् प्रभु के बनाये नियमों को भंग करना तो दूर, उन्हें कोई

पूर्णतया समझ भी नहीं सकता। ऋग्वेद कहता है : 'न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः।' १-१००-१५। विश्व की बड़ी से बड़ी शक्ति भी उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर की शक्ति का अन्त नहीं पा सकती। ऋग्वेद में कई स्थानों पर ईश्वर को 'शवसस्पते' शब्द द्वारा संबोधित किया गया है। वह निखिल शक्तियों का अधिपति है। 'विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः······' समस्त दिव्य शक्तियाँ उस ईश्वर की आज्ञा का पालन कर रही हैं। यहाँ ऐसा कौन है, जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर सके? वह कवि है, मनीषी है, स्वयम्भू है। उसका निरपेक्ष रूप ज्ञानमय, सत्यमय, आनन्दमय, अज, अमृत, असीम, अनन्त, निराकार, नित्य, अविभाज्य, एकरस और सर्वशक्तिसंपन्न है।

सापेक्ष स्वरूप : जब हम ईश्वर के सापेक्ष स्वरूप की बात कहते हैं, तो स्वभावतः यही प्रश्न हमारे सामने रहता है कि ईश्वर का इस सृष्टि के साथ और हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? क्या वह जगत् का रचयिता है? इसके अन्दर प्रचलित नियमों का संचालक है और इसकी स्थिति का कारण है? क्या उसी के कारण रात्रि में तारे निकलते और दिन में छिप जाते हैं? पृथ्वी पर यह अनन्त रत्नराशि, फल-पुष्प, धान्य क्या उसी के दिये हुए हैं? दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन, एक ऋतु के पश्चात् दूसरी, फिर तीसरी और फिर वही क्रम······क्या यह समस्त व्यवस्था, समुचित प्रबन्ध, अटल नियम-चक्र उसी के चलाए हुए हैं? वह हमारा कौन है? ये विविध प्रकार की योनियाँ, विविध प्रकार के कर्म और सुख-दुखरूपी परिणाम हमारे साथ कैसे लग गये? इन प्रश्नों के समाधान में ईश्वर के अनेक गुण अनुस्यूत हैं। अतः प्रभु के जिन गुणों का उल्लेख जगत् और जीव को ध्यान में रखकर किया जाता है, वे गुण उसके सापेक्ष स्वरूप से सम्बन्ध रखते हैं। नीचे हम इन्हीं दोनों, जगत् और जीव, की दृष्टियों से ईश्वर के सापेक्ष स्वरूप की विवेचना करेंगे।

जगत् की दृष्टि से : व्याहृतियों में पाँचवीं व्याहृति जनः है। ईश्वर जनः अर्थात् समस्त सृष्टि का स्रष्टा, उत्पन्न करने वाला है। किसी वस्तु की उत्पत्ति अथवा निर्माण में तीन कारण प्रधान होते हैं : निमित्त, उपादान और साधारण। कुम्भकार घट का निर्माण करता है। इस क्रिया में वह स्वयं निमित्तकारण है, मिट्टी उपादानकारण है और चक्र आदि साधारणकारण

हैं। जगत् की रचना में इन कारणों को क्या स्थान प्राप्त है? इस प्रश्न के उत्तर में विचारशील विद्वान् एकमत नहीं हैं। उनका एक दल निमित्तकारण की कल्पना तो करता है, परन्तु उपादानकारण की अनिवार्यता उसे ग्राह्य नहीं है। निमित्तकारण के पास कोई सामग्री है, जिससे जगत् बनता है, ऐसा वह नहीं मानता। उत्पत्ति का यह सिद्धान्त अभाववाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके अनुसार ईश्वर ने अपने पास कुछ न होने पर भी सृष्टिरचना कर दी। उसने कहा—'हो जा' और सृष्टि बन गई।[1] यह कार्य एक विशिष्ट समय में हुआ, जिसका निश्चित तो नहीं, परन्तु सामान्य रूप में उल्लेख भी किया गया है।

अभाव या शून्य से जगत् की उत्पत्ति की गई हो, यह मत आज के वैज्ञानिक को मान्य नहीं है। किसी तत्त्व का परिणमन यह जगत् है, ऐसा तो वह मानता है, परन्तु कुछ नहीं था, फिर भी कुछ बन गया, ऐसा उसका अभिमत नहीं है। परिणमन एक ऐसे तत्त्व की सतत स्थिति को स्वीकार करता है, जो विभिन्न रूपों में परिणत होता रहता है। इस तत्त्व का केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है, शून्यभाव नहीं। हर्बर्ट स्पेंसर ने लिखा है—'Matter never either comes into existence, nor ceases to exist. The seeming annihilations of matter turn out, on close observation, to be only changes of state' सृष्टि के उपादानकारण की सामग्री न तो उत्पन्न की जाती है और न नष्ट होती है। जिसे हम विनाश कहते हैं, वह केवल एक अवस्था से दूसरी अवस्था में रूपान्तर है। श्री J. S. Mill अपनी पुस्तक 'Three Essays in Religion' में लिखता है—'There is in nature a permanent ele-

1. God said 'Let there be light and there was light.' Bible—Old testament. the first book, Genesis 'His command when He willeth ought, is but to say to it, Be, and It is.' (अ० 60, सूरा 36, आयत 82, Translation of kuran buy Rev J. M. Rodwell, M. A. 1933, 11th. edition, p. 134.

इसी सम्बन्ध में इमरान का वंश, अ० ९७, सूरा ३, आयत ४२ और ५२, पृष्ठ ३९०-३९१ भी द्रष्टव्य हैं। खुदा ने कहा—'कुन' और दुनियाँ बन गई। कुरान अ. ६० सूरा ३६ आयत ८२ (यासिन)।

ment and also a changeable'. हमारे यहाँ स्थायी तत्त्व को प्रकृति और विनश्वर तत्त्व को नाम-रूप की संज्ञा दी गई है। सांख्यकार ५, ७२ सूत्र में प्रकृति की नित्यता की घोषणा करता है। यह प्रकृति ही सांख्य के अनुसार सृष्टि का मूल उपादानकारण है। इस प्रकृति से सात विकृतियाँ, (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्रा) तथा षोडश विकार, (एकादश इन्द्रिय और पाँच भूत) उत्पन्न होते हैं। विनाश या प्रलय के समय यही तिरोहित होकर अपने मूल रूप में परिणत हो जाते हैं। वेद में मूल प्रकृति को स्वधा, अजा, उत, त्रिधातु, अदिति आदि कहा गया है। आज का वैज्ञानिक इस मत से अधिकांशतः सहमत है, यद्यपि सृष्टि-निर्माण के मूल तत्त्वों की खोज में उसका प्रयत्न अभी चल रहा है। शून्यवाद, उपादानकारण के क्षेत्र में, उसे स्वीकार नहीं है।

सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में दूसरा मत उन विद्वानों का है, जो ईश्वर को ही जगत् का निमित्त और उपादानकारण मानते हैं। जैसे मकड़ी अपने अन्दर से जाला निकालकर अपने सुरक्षित रहने या फँसने के लिये तन्तुगृह बना लेती है, वैसे ही ईश्वर अपने अन्दर से सृष्टि का निर्माण कर लेता है। इस मत के अनुसार जगत् और ईश्वर वस्तुतः एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। वे संख्या में दो प्रतीत होते हैं, परन्तु जाति से, गुण से और वास्तविकता की दृष्टि से एक ही हैं। भारतीय अद्वैतवाद और विशेष रूप से शुद्धाद्वैतवाद इसी मत का पोषक है। पश्चिम में हर्बर्ट स्पेंसर और हैगल ने लगभग इसी मत से मिलते-जुलते विचार प्रकट किये हैं।

यदि यह मत ग्रहण किया जाता है, तब या तो ईश्वर का भौतिकीकरण होना चाहिये अथवा प्रकृति का चेतनीकरण। पर ये दोनों ही दशाएँ तर्क-भार को सँभालने में असमर्थ हैं। ईश्वर को भौतिकता से समन्वित करना, उसे ईश्वर पद से पतित करना है। प्रकृति को चेतन बनाना वास्तविकता से आँखें मूँद लेना है। प्रकृति के अतिरिक्त यदि जीव को ईश्वर के अन्दर से निकला हुआ मानें, तो जीव की अल्पज्ञता, पराश्रयता, आवागमन का बन्धन, क्लेश, राग-द्वेष आदि का आरोप ईश्वर पर करना होगा। क्या मेरी अपूर्णतायें ईश्वर के साथ भी लगी हुई हैं? इस प्रश्न की महत्ता इस मत के माननेवालों को विरोधी पक्ष की ओर झुका देती है और वे बचने के लिए अपूर्णताओं को मन

की माया या भ्रम कहने लगते हैं। पर मन का भ्रम फिर भी साथ लगा है। इस भ्रम का निराकरण कैसे किया जा सकता है? यह भी तो अपूर्णता के अन्तर्गत है। क्या ईश्वर के आत्माभिव्यञ्जन में अपूर्णता है? भ्रमवाद या मायावाद लौट-फेरकर उसी घेरे में घिरा रहता है, निकल नहीं पाता। प्रकृति और जीव को ईश्वर की अभिव्यक्ति या ईश्वर का ही रूप मानना मानव-मस्तिष्क के सामने समाधानशून्य समस्याएँ खड़ी करना है।

ऊपर जिन दो मतों का उल्लेख किया गया है, वे जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इनके विपरीत तीसरा मत उन विद्वानों का है, जो सृष्टि-निर्माण में विशुद्ध रूप से प्रकृतिवाद को ही महत्त्व देते हैं। वे ईश्वर के अस्तित्व का निषेध नहीं, तो उसकी अवहेलना तो असन्दिग्ध रूप से करते हैं। इनके मतानुसार जगत् भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है। यह सम्मिश्रण भी संयोग से हो गया है। इसका कर्त्ता कोई चेतनतत्त्व नहीं है। यदि ऐसा तत्त्व कोई है भी, तो वह हम दर्शकों की भाँति, जगत्-प्रगति का द्रष्टा मात्र है। इसके संचालन अथवा नियन्त्रण में उसका कोई हाथ नहीं है।

क्या यह संयोगवाद विश्व-व्याप्त व्यवस्था की व्याख्या कर सकता है? इस व्यवस्था का उल्लेख वैज्ञानिकों के आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर हम विगत अध्याय में कर चुके हैं। विज्ञान इस सृष्टि में एक नियम का शासन सिद्ध करता है। इस नियम के अस्तित्व और संचालन के मूल में कौन स्थित है? क्या यह सब संयोग का ही खेल है? फिर सृष्टि की आयु पर विचार कीजिये। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के मत में वर्तमान सृष्टि लगभग दो अरब वर्ष की है।[1] इतने दीर्घकाल से सृष्टि में नियम का यह शासन चला आ रहा है। क्या यह संयोग मात्र है?

ऊपर उल्लिखित तीनों मत सृष्टि-उत्पत्ति की समस्या का पूर्ण समाधान नहीं करते। इस व्यवस्थित जगत् का अस्तित्व न किसी संयोग का परिणाम कहा जा सकता है, न अभाव का। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। अभाव से भाव और असत् से सत् का आविर्भाव नहीं हो सकता। किसी

1. The universe around us (edition 1930), p. 14.

निर्माण में जो तीन कारण कार्य करते हैं, वे सृष्टि के निर्माण में भी होने चाहिएँ। वैदिक वाङ्मय में ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण, प्रकृति को उपादानकारण और जीव, काल आदि को साधारणकारण कहा गया है। सृष्टि-निर्माण का उद्देश्य है जीवों को कर्मानुसार फल देते हुए बन्धन से मुक्ति की ओर अग्रसर करना। सृष्टि की व्यवस्था और उसमें प्रचलित नियम इस सम्बन्ध में जीव की सहायता करते हैं। ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया और क्रम वर्णित हुए हैं।[1]

अतः जगत्-रचना की दृष्टि से ईश्वर स्रष्टा है। उसके अभीद्ध ज्ञानमय तप से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। व्याहृतियों में जनः के साथ ही तपः व्याहृति आती है। प्रभु तपः अर्थात् परमप्रकाश-स्वरूप हैं। जहाँ प्रकाश नहीं है, वहाँ कोई निर्मिति भी नहीं है। मेरे अन्दर जो विचार प्रकाशित हो रहे हैं, वही इन पङ्क्तियों में निबद्ध होकर प्रबन्ध का निर्माण कर रहे हैं। प्रभु प्रकाश-स्वरूप हैं और इसी हेतु वे सृष्टि के निर्माता हैं।

सृष्टि का निर्माण एक महान् नियामक, असाधारण प्रकाश-स्वरूप, अनन्त शक्ति के पुंज ईश्वर से हुआ, अतएव इसमें स्थिरता, टिकाऊपन भी चाहिए। साधारण कारीगरों के खिलौने कुछ दिनों तक चलते हैं, मनोरंजन की वस्तुएँ भी कुछ दिन ठहरती हैं। फिर यह तो एक असाधारण कारीगर की कृति है और एक महान् उद्देश्य या प्रयोजन को सूचित करती है। अतः इसे अधिक दिनों तक स्थिर रहना भी चाहिए। यह स्थिरता सृष्टि में पाई जाती है। आर्यों की ज्योतिष-गणना के अनुसार इसे बने हुए एक अरब सत्तानवे करोड़ उन्तीस लाख उनचास हजार वर्ष से कुछ ऊपर हो गये। पीछे सृष्टि की आयु के सम्बन्ध में जो सर जेम्स जीन्स का मत उद्धृत किया गया है, उससे हमारी काल-गणना आश्चर्यजनक साम्य रखती है। हमारे हिसाब से यह सृष्टि अभी इतने ही समय तक और रहेगी। इतने सुदीर्घ काल तक स्थिर रहने वाली सृष्टि का पालन वही ईश्वर करता है। अतः वह स्रष्टा होने के साथ पालक भी है।

---

१. लेखक की लिखी 'प्रथमजा' पुस्तक में अघमर्षणशीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत इस सूक्त की विस्तृत व्याख्या की गई है।

जो वस्तु बनी है, वह बिगड़ेगी। जिसका प्रारम्भ हुआ है, उसका अन्त भी होगा। सृष्टि रची गई है, अतः इसका विनाश भी होगा। इस अन्त या प्रलय का कर्त्ता भी वही ईश्वर है। वह सृष्टि का संहर्ता है। हमारे मध्यकालीन साहित्य में ईश्वर के निर्मातारूप को ब्रह्मा, पालकरूप को विष्णु और संहर्तारूप को रुद्र या महेश नाम दिया गया है।

जगत् की दृष्टि से ईश्वर स्रष्टा है, पालक है और संहारक है। उसका यह त्रिविध स्वरूप पारस्परिक विरोध को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत उसकी स्वाभाविक शक्तियों का प्रकाशक है और ये शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती रहती हैं।

जीव की दृष्टि से : मानव इन्द्रिय-विषयों की सीमा में बँधा है। शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही उसकी आयु का अधिकांश समय व्यतीत हो जाता है। उसे मनन करने का बहुत कम अवसर मिलता है। बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करने का और भी कम और अपने में अवस्थित हो जाने का तो कुछ भी नहीं। जब मानव अपने परिवार तथा समाज से हटकर अपने शरीर की केवल नितान्त आवश्यक रक्षा करता हुआ अपनी निजी आध्यात्मिक चिन्ता में लीन होता है और इस चिन्ता के समय समाज तथा अपने शरीर दोनों से आत्म-विस्मृत एवं असंपृक्त हो जाता है, तब वह बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करता है। तभी उसे आत्मज्ञान होता है और इस सम्यक् आत्मज्ञान द्वारा वह ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करता है। बाह्य बन्धनों की शून्यता में वह समस्त आत्माओं के समान धरातल पर आ जाता है। इसी अवस्था में वह ईश्वर का समस्त जगत् और जीवन के शासक रूप में अनुभव करता है।

धर्म के इतिहास में ईश्वर का स्वरूप जो जीवों की दृष्टि से सर्वप्रथम प्रकाश में आया, उसका शासकरूप है। इस रूप में ईश्वर जीव तथा जगत् दोनों पर शासन करता है। शासन के लिये शक्ति की आवश्यकता है। अतः उसे सर्वशक्तिसंपन्न और अधिकार-भावना से संयुक्त माना गया। उसके अधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता। उसकी इच्छा ही विधान है। उसकी आज्ञा अनुल्लंघनीय है। ईश्वर राजा है। जीव उसकी प्रजा है।

शासक के पश्चात् ईश्वर के न्यायी रूप का आविर्भाव हुआ। शासक के रूप का विनाश नहीं हुआ, वह भी बना रहा, पर उस रूप में से स्वेच्छाचारिता का अंश निकाल दिया गया। ईश्वर शासक है, पर न्यायी शासक है। उसका शासन न्याय के आधार पर चलता है। उसकी दृष्टि में सब जीव समान हैं। वह सबके साथ एक जैसा व्यवहार करता है। उसकी न्याय-तुला ईसा और बुद्ध में भेद नहीं करती। प्रत्येक जीव अपने गुण-अवगुण के कारण अपने कर्मों का फल पाता है। कर्म-फल का सिद्धान्त प्रभु के न्यायी स्वरूप के साथ सम्बद्ध है।

रिचार्ड फरनैल अपने ग्रंथ 'दि ऐट्रीब्यूट्स ऑफ़ गाड' के पृष्ठ १६७, १६८ पर न्याय के सम्बन्ध में लिखता है : '......Justice is an essential virtue, equally for the state and for private life. Therefore, failing man's justice, man relies on God to protect him and to punish the unjust. This is the dominant aspect of God.'

'The mills of God grind slowly, but they grind exceedingly well. Though He stands and waits with patience, but with exactness grinds the all.'

'न्याय व्यक्तिगत जीवन तथा राज्य दोनों के लिये समान रूप से आवश्यक है। जब मानव यहाँ के न्याय से निराश हो जाता है, तो प्रभु के न्याय पर विश्वास करता है, जो अन्यायी को अनिवार्य रूप से दण्ड देता है और न्यायपरायण की रक्षा करता है। ईश्वर के स्वरूप में न्याय-कर्म की प्रधानता है।'

'प्रभु के न्याय की चक्की धीरे-धीरे चलती है, पर बहुत अच्छी तरह पीसती है। इसमें प्रतीक्षा और धैर्य की आवश्यकता है, पर कार्य भी बहुत पक्का होता है।'

प्रभु के शासक और न्यायी रूप के पश्चात् उसका पितृ रूप प्रत्यक्ष हुआ। इस रूप के साथ प्रेम का भाव संलग्न है। ईश्वर प्रेम की मूर्ति है। वह अपनी प्रजा—जीवों से प्रेम करता है, उनका हित चाहता है और उन्हें उठाकर आनंद-धाम में प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह ईश्वर का प्रेममय कृपालु स्वरूप है।

ईश्वर पिता है, हम सब उसके पुत्र हैं। विश्व-बन्धुत्व-भावना का उदय ईश्वर के इसी रूप के साथ हुआ है।

कुछ दार्शनिकों की दृष्टि में न्याय और दया भी विरोधात्मक नहीं हैं। जब एक पिता किसी दोष के लिये अपने पुत्र को दण्ड देता है, तो उसके इस कार्य में न्याय और दया दोनों ही विद्यमान हैं। न्याय यह है कि नियमभंग करने के लिये दण्ड मिलना चाहिये। दया यह है कि पिता अपने लिये नहीं, पुत्र की भलाई के लिये दण्ड देता है। न्याय एक कर्म है, दया एक भाव है, जिससे प्रेरित होकर वह कर्म किया जाता है। परमात्मा हमें हमारे कर्मों का फल नियमानुसार देता है, यह उसका न्याय है। इस दण्ड में हमारा हित निहित है, यह उसकी दया है।[1] परमात्मा न्यायकारी है और दयालु भी। महर्षि दयानन्द का मन्तव्य भी यही था।[2]

ऊपर हमने प्रभु के जिन तीन स्वरूपों का उल्लेख किया है, वे हम जीवों की दृष्टि से हैं। मानव अपनी उन्नत अवस्था में नियमबद्धता को हितकर समझकर उसकी कामना करता है। वह किसी राजा के राज्य में रहकर जब उच्छृङ्खलता के कारण क्षुब्ध हो उठता है, भ्रष्टाचार, चोरी, स्वैरिता, पाखण्ड उसकी आत्मा में ग्लानि पैदा करते हैं, तो वह एक ऐसे राज्य की इच्छा करने लगता है, जहाँ विशद व्यवस्था हो। जब वह यहाँ राजकर्मचारियों को घूँस लेते और न्यायाधीशों को न्याय की हत्या करते देखता है, तो एक ऐसे न्याय-परायण धर्माधिष्ठान की कल्पना करने लगता है, जो न्याय ही करेगा, अन्याय नहीं। इसी प्रकार जब मानव यहाँ अपवित्रता का अनुभव करता है, तो एक परम-पवित्र सत्ता की भावना तक पहुँचता है। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक गेटे ने एक बार कहा था :·······'We can only conceive of God in terms of our own human faculties, and in the light of our human emotion, and our moral, intellectual and spiritual experience. And the imputed attributes of the highest God are the glorified reflex of the attributes of the ideal man, though in straining to reach the

---

१. डा० दीवानचन्द—परमात्मा का स्वरूप, पृष्ठ ११।

२. महर्षि दयानन्द—सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास।

highest concept, we transcend our limitations of time and space.' Quoted by Lewis Richard Farnell in his 'Attributes of God.' pp. 21-22.

'जब हम प्रभु के सम्बन्ध में सोचते हैं तो जो कुछ हमारी शक्ति, भावना, आचार, बुद्धि और आत्मा में अच्छा है, उसी की सर्वोत्तम कल्पना उसके अन्दर करते हैं। एक आदर्श मानव के सर्वश्रेष्ठ सद्गुणों का प्रतिबिम्ब हम ईश्वर में देखना चाहते हैं, यद्यपि ऐसा करने में, उस सर्वोच्च भाव तक पहुँचने में, हम देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं।'

जेम्स टेन ब्रोक ने अपने ग्रंथ 'कांस्ट्रक्टिव बेसिस फॉर थियोलोजी' के पृष्ठ २८५ पर लिखा है : 'It is inevitable that the best and the highest should be identified with the divine.' पुनः पृष्ठ ३४४ पर लिखा है :……'Holiness originally means wholeness, God is whole, complete, adequate.' अर्थात् ईश्वर के साथ सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च भाव की संयोजना अनिवार्य है। पवित्रता का मूल भाव पूर्णता है। ईश्वर पूर्ण है, अखण्ड है, आप्त है। प्रभु का यह रूप भी हम जीवों की दृष्टि से ही है। जीव प्रकृति के संपर्क के कारण अपवित्र हो गया है और अल्पज्ञता के कारण अनाप्त है, अतएव अपूर्ण है। पर उसके अन्दर एक प्रवृत्ति है, जो उसे पवित्रता, आप्तता तथा पूर्णता को प्राप्त करने के लिये प्रेरित करती रहती है। प्रभु पवित्र है, पूर्ण है, आप्त है। अतः जीव के लिये आदर्श है। आदर्श तक सम्पूर्ण रूप से कभी पहुँचा नहीं जा सकता, यही आदर्श की आदर्शता है। हमारे अन्दर सर्वोत्तम मानव अपने जीवन के अन्त में भी यह नहीं कह सकता कि उसने सच्चरित्रता की, पवित्रता की पराकाष्ठा प्राप्त कर ली है।[1] फिर भी जीव उधर चलकर कुछ न कुछ प्राप्त कर ही लेता है। जेम्स ब्रोक अपनी उसी पुस्तक के पृष्ठ २८४ पर लिखता है :……'Unfolding

१. L. Diwan Chand, M. A. D. Lit : Life everlasting. pp. 39-40. 'We are, as moral agents, dominated by the thought of an ideal that is to be realised. As we march on, the ideal, like the horizon, ever recedes. Our present life is hopelessly inadequate to the task set to it. Even the best among us cannot say at the end of their life that their task is finished.'

the character of a supreme and all-wise God in human consciousness, becomes the problem of the development of human character.' उस महान्, सर्वज्ञ परमेश्वर के स्वरूप को समझ-कर मानव अपने चरित्र का विकास करता है। जब वह भक्ति-भावना में ईश्वर के साथ संयुक्त होता है, तो न केवल वह ईश्वर की उत्तमता को सम्पादित ही करता है, प्रत्युत उसे अपने अन्दर स्थिर और शीघ्र-प्रबुद्ध भी कर सकता है।

आचार-शास्त्र की दृष्टि से प्रभु का यह स्वरूप जीव के उत्थान का कारण है। उसका कल्याण प्रभु के इस स्वरूप का सदैव ध्यान करने में है। जो जीव जितना ही अधिक इस दिशा में प्रयाण करता है, उतना ही अधिक देवत्व उसके भीतर विकसित होता है। एमैन्युल स्वीडैनबर्ग अपने ग्रन्थ 'The divine love and wisdom' के पृष्ठ २२ पर लिखता है:····'Angels are not angels from any power of their own, but by virtue of their union with God. They receive divine good and truth and obey the laws of order.'

'देवों में देवत्व उनका अपना नहीं है, यह ईश्वर के संपर्क से आया है। वे इस दैवी प्रभाव और सत्य को ग्रहण करते हैं और व्यवस्था के नियमों का पालन करते हैं।' जीव को देव संज्ञा प्राप्त करने के लिये प्रभु के इस स्वरूप के साथ संसर्ग करना पड़ता है।

प्रभु के निरपेक्ष एवं सापेक्ष स्वरूप पर एक दृष्टि

ईश्वर का निरपेक्ष स्वरूप उसका वास्तविक निजी स्वरूप है, जिसका वर्णन जीव और जगत् की अपेक्षा नहीं रखता। इस हेतु वह कूटस्थ और तटस्थ कहा जाता है। वह साक्षी है, चेतन है, परन्तु परम कैवल्य-भावना से संयुक्त है। जीव और जगत् के गुणों से वह ऊपर है, अर्थात् हमारे गुणों की दृष्टि से निर्गुण है। उसकी समरसता, अखण्डता, केवलता उसे सब सत्ताओं के कूट अर्थात् शिखर पर स्थापित कर देती है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् ने उसे अपाणि-पाद, अचक्षु, अकर्ता परन्तु सर्वज्ञ परम-पुरुष कहा है।[१] यह परम-पुरुष जीवों की भाँति आशय, क्लेश और कर्मों के विपाक से परामृष्ट नहीं है। वह

१. श्वेताश्वतर ३, १९।

अजर, अमर, अकल, अनीह, अनादि, अभय आदि नामों से पुकारा जाता है। वैदिक साहित्य में अव्रणम्, अकायम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम्[1] आदि-आदि निषेधात्मक शब्दों द्वारा उसका वर्णन किया गया है। केनोपनिषद् का ऋषि यह भी कहता है कि उस परब्रह्म तक न आँख जाती है, न वाणी जाती है और न मन जाता है। कोई किस प्रकार उसका उपदेश करे? हम नहीं जानते, नहीं समझते, क्योंकि वह जाने हुए से कुछ अन्य ही है और न जाने हुए से भी ऊपर है।[2] सभी पूर्व ऋषि ईश्वर के निरपेक्ष स्वरूप का वर्णन करते हुए यही कहते आये हैं।

तो क्या प्रभु अगम्य है? क्या हम उसे समझ ही नहीं सकते? नहीं, ऐसा नहीं है। उसे हम कुछ तो जानते ही हैं। सामवेद में एक स्थान पर प्रभु की उपमा ऐसी अग्नि से दी गई है, जो प्रज्वलित भी है, पर साथ ही धूम्र से भी आवृत है।[3] जितनी अग्नि प्रज्वलित है, उतनी दिखलाई देती है, परन्तु जितनी धूम्र से आवृत है, उतनी दिखलाई नहीं देती। इसी प्रकार ईश्वर कुछ तो प्रकट है, जाना हुआ है, समझ में आ जाता है और कुछ ऐसा है, जो अप्रकट है, अज्ञात है और अविदित है। यूरोप के एक दार्शनिक ने ठीक ही कहा है :··· 'God is both, revealed as well as concealed.' ईश्वर ज्ञात और अज्ञात, प्रकट और अप्रकट दोनों ही रूप का है। हम अल्प ज्ञान रखने वाले जीव ईश्वर के पूर्ण रूप को समझने में असमर्थ हैं, पर उसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान तो निश्चित रूप से हो रहा है। जहाँ कहीं ऋषियों ने उसे अज्ञात और छिपा हुआ कहा है, वहाँ उन्होंने हमारी इन्द्रियों की ससीम शक्ति की ओर विशेष रूप से इंगित किया है। यह ससीम शक्ति उस असीम के पूर्ण रूप को वास्तव में समझ ही कैसे सकती है?

तो क्या वह छिपा है?

....

ईश्वर को समझने में हमारी इन्द्रियाँ और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अशक्त है। किसी ज्ञेय अथवा प्रमेय को समझने के लिये जो प्रमाण समर्थ हो सकते हैं, वे ब्रह्म को जानने में असफल हो जाते हैं। कपिल ऋषि ने इसी आधार पर सांख्य में 'ईश्वर की असिद्धि' (१, १२) है, ऐसा सूत्र बना दिया।

१. यजु० ४०, ८। २. केन १, ३। ३. सामवेद पूर्वार्चिक ५, ५।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण की हीनता एवं असमर्थता प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार की है, क्योंकि ईश्वर अक्ष = आँख के प्रति = सामने या गोचर है ही नहीं। वह आँख से दिखाई नहीं देता। अनुमान के लिये प्रत्यक्ष का आधार चाहिये। जब ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण ही कार्य नहीं करता, तो अनुमान-प्रमाण क्या कार्य कर सकता है? ईश्वर की सिद्धि में उपमान और शब्दप्रमाण अवश्य कृतकार्य हुए हैं। पर वे या तो भावना पर अवलम्बित हैं, या विरले साधकों के साक्षात् पर, अतः अधिक महत्त्व के नहीं हैं।

कदाचित् विश्व के इतिहास में महर्षि दयानन्द ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की समर्थता उन्मुक्त कंठ से घोषित की है।[1] जब किसी जिज्ञासु ने उनसे प्रश्न किया कि आप ईश्वर-ईश्वर तो चिल्लाते हैं, पर उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हैं, तो ऋषि ने उत्तर दिया था: 'सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होती है।' प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा: 'ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण किस प्रकार घट सकते हैं?' ऋषि ने कहा: महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन १, ४ में प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण लिखा है, उसके अनुसार श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु वह ज्ञान निर्भ्रम हो। विचारणीय विषय यह है कि पंच ज्ञानेन्द्रिय और छठे मन के द्वारा गुणों का प्रत्यक्ष होता है अथवा गुणी का। मैं पृथ्वी को देखता हूँ। पृथ्वी के दर्शन में किस-किस बात का प्रत्यक्ष हो रहा है?

आँखों से मैं पृथ्वी का रूप देखता हूँ, घ्राणेन्द्रिय से उसकी गन्ध का अनुभव करता हूँ, जिह्वा से उसके रस का स्वाद लेता हूँ। इस प्रकार जो कुछ मेरे अनुभव का विषय बनता है, वह गुणरूप है। इन गुणों का ज्ञान आत्मारूप मन को पृथ्वी का प्रत्यक्ष कराता है। जब किसी वस्तु के गुणों का अनुभव उस वस्तु के प्रत्यक्ष का कारण है, तो प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष, क्रमबद्धता, सप्रयोजनता, ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से उन गुणों के अधिपति गुणी परमात्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं? और जब प्रत्यक्ष है, तो अनुमान आदि

१. महर्षि दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास।

के द्वारा उसके ज्ञान होने में क्या संदेह हो सकता है? कार्य के द्वारा भी कारण का अनुमान होता है। सृष्टि कार्य है, अतएव अपने स्रष्टा का ज्ञान वह करा रही है, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं।

महर्षि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में इसी स्थल पर एक हेतु और दिया है। वे कहते हैं कि जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता है, तो आत्मा के भीतर से बुरे कामों के करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। ऋषि का मन्तव्य है कि ये भाव आत्मा की ओर से नहीं, परमात्मा की ओर से आते हैं। यूनान के दार्शनिक पैथागोरस ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। वह लिखता है:···'But there is a voice of conscience within us, the utterance of a divine law independent of human status and traditions, self-evident, irrefragable.'[1]

मानवस्तर और परम्परा दोनों से पृथक् एक स्वतः-प्रमाण, अविभाज्य, अन्तरात्मा की ध्वनि है, जिसे हम दैवी विधान की अभिव्यक्ति कह सकते हैं।

यह ध्वनि भी ईश्वर का सम्पूर्ण नहीं तो, कुछ न कुछ ज्ञान तो कराती ही है।

भारतीय ऋषियों ने परमेश्वर के प्रत्यक्ष के लिए आत्मा की शुद्धता पर अधिक बल दिया है। अशुद्ध, असंस्कृत, अविवेकी व्यक्ति भौतिक वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। स्थूल, साकार वस्तुओं का अनुभव ही जब उनके लिये अशक्य है, तो सूक्ष्म निराकार तत्वों का अनुभव तो और भी अशक्य है। विशुद्ध-सत्त्व जीव प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हैं और अपने जीवन द्वारा दूसरों को भी कराते हैं। उनका व्यक्तित्व, अन्तरात्मा की ध्वनि, वेदवाणी जैसे आप्तवाक्य तथा यह सृष्टि एवं इसमें व्याप्त नियमबद्धता ऐसी पताकाएँ हैं, जो फहराती हुई उस जातवेदस् देव का ज्ञान करा रही हैं।[2] चार्ल्स गोरे अपने ग्रन्थ 'दि फिलासफी आफ दि गुड लाइफ' के पृष्ठ १२६ पर प्लेटो के विचार उद्धृत करता हुआ लिखता है: 'Plato cenceived of God as

---

1. Onoted by max muller in his 'Science of language.' Vol. II, p. 396.

२. उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। यजु० ३३, ३१।

personal, self-moved, and the author of all orderly movement in the universe, as purely good, and as creating the world that His creatures might share His goodness.'

परमेश्वर सृष्टि में पाई जानेवाली क्रमबद्ध व्यवस्था का जनक है। उसकी इस रचना का उद्देश्य है जीवों को अपनी उत्तमता में सहभागी बनाना।

इसी स्थल पर आगामी पङ्क्तियों में उसने अरस्तू के विचार उद्धृत किये हैं और लिखा है : '... He is the author of all movement in the universe, only because in His supreme perfection, He kindles love in all that is, so that all things move towards Him as an object of desire.'

ईश्वर विश्व की क्रियाशक्ति का जनक इस अर्थ में है कि वह अपनी सर्वोच्च सम्पूर्णता में सबके अन्दर प्रेम को प्रज्वलित करता है, जिससे सब उसकी ओर, उसे अपनी कामनाओं का केन्द्र समझकर, अग्रसर होते हैं।

प्लेटो और अरस्तू दोनों ही प्रभु को व्यक्तित्वसम्पन्न मानते हैं, तभी तो वह हम जीवों के लिये बोधगम्य बनता है, एकान्त रूप से छिपा हुआ नहीं रहता। उसे समस्त कमनीयता तथा उत्तमता का स्रोत समझकर ही हम उसकी ओर प्रयाण करते हैं।

सामवेद का नीचे लिखा मन्त्र तो निरावरण शब्दों में घोषणा करता है कि ईश्वर छिपा हुआ नहीं है। वह अनावृत, अभिव्यक्त एवं सबस्थ है, हमारे सामने ही विद्यमान है:

'सदा व इन्द्रश्चर्कृषत आ उपो नु स सपर्यन्। न देवो वृतः शूर इन्द्रः।'

साम० ३, १, १, ३।

वह सर्वशक्तिमान्, परमैश्वर्यमंडित परमेश्वर आवृत, आच्छादित, ढका हुआ या छिपा हुआ नहीं है। वह आँखों से ओझल नहीं है। वह हम सबको सतत अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। वह सदैव हमारे पास है और हमारी सेवा में निरत है। अन्तरात्मा की ध्वनि में मानो उसकी सेवा-भावना छिपी है। वह सदैव हमें अभ्युत्थान की ओर प्रेरित कर रहा है। उसकी ध्वनि,

उसकी वाणी, उसकी सृष्टि सब उसका ज्ञान करा रहे हैं। उसका निरपेक्ष रूप सृष्टि में उसके विविध गुणों के प्रकाश द्वारा बहुत कुछ हृदयंगम हो जाता है। प्रभु छिपा नहीं रहता। वह उतना ही प्रकट है, जितना मैं स्वयम्।

प्रभु के सापेक्ष स्वरूप में शासक, न्यायी और पिता का भाव क्रमशः विकसित हुआ है, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है। इन तीनों रूपों के प्रति हम जीवों की आदर-भावना रही है। प्रभु का आप्त, अखण्ड एवं पूर्ण रूप जीव के लिये आदर्श रहा है, अतः वह भी जीव के लिये पूज्य रहा है। पूज्य भावना में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो तथ्य निहित है, वह है पूजक के द्वारा पूज्य का अनुकरण करना। यह अनुकरण अनुकरणीय के गुणों का होता है। जीव के अन्दर सबसे बड़ी न्यूनता ज्ञान या प्रकाश की है। ज्ञानियों की संज्ञा देव है। ये देव भी प्रकाशमय हैं। देवों का देव, प्रकाशकों का प्रकाशक परमेश्वर है। यजुर्वेद ३५, १४ में उसे अन्धकार से परे परमोत्तम ज्योति कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६, १४ के अनुसार इस परम प्रकाश के आगे सूर्य, चन्द्र, तारकावलि, विद्युत्, अग्नि आदि किसी का प्रकाश नहीं ठहर पाता। वस्तुतः ईश्वर ही प्रकाश का केन्द्र है। उसी से सब अन्य अपना प्रकाश ग्रहण करते हैं। जीव अपने अन्दर इस प्रकाश या दिव्यता की कमी को अनुभव करता है, अतः दिव्यता के धाम उस ईश्वर की पूजा करता है। गायत्री मंत्र में जो प्रार्थना आती है, वह भी उस परमदेव के सर्वश्रेष्ठ तेज या प्रकाश के ध्यान या धारणा द्वारा अपनी प्रकाशिका बुद्धि को प्रबुद्ध और प्रेरित करने के लिये है। वेद में प्रभु की इस अजस्र ज्योति में जीव के घुल-मिल जाने की भावना अनेक बार प्रकट हुई है।

पश्चिम में यहूदी और मुसलमान प्रभु को शासकरूप में ही मानते रहे हैं। ईसा ने इस रूप के साथ पिता की भावना का समावेश किया और ईश्वर को आदर तथा प्रेम दोनों का पात्र बनाया। पुत्र पिता से प्रेम करने के साथ डरता भी है। अतः पिता को पुत्र का विशुद्ध प्रेम प्राप्त नहीं हो पाता। प्रेम के इसी भाव को लेकर आगे मातृ-भावना, दाम्पत्य-भावना तथा सख्य-भावना का विकास हुआ है। भक्ति का प्रारम्भ भी इन्हीं भावनाओं के साथ होता है। अतः आगामी प्रकरणों में हम इसी भक्ति-भावना का विवेचन करेंगे।

तृतीय अध्याय

भक्ति का स्वरूप

भक्तिमार्ग : जगत् और जीवन दोनों के मूल में काम है, ऐसा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है।[1] प्रश्नोपनिषद् के प्रथम प्रश्न में जब कत्य ऋषि के प्रपौत्र कबन्धी ने महर्षि पिप्पलाद से प्रजा की उत्पत्ति के संबंध में प्रश्न किया, तो उन्होंने प्रजापति को सर्वप्रथम प्रजाकाम अर्थात् प्रजा उत्पन्न करने की इच्छावाला ही कहा है। प्रश्नोपनिषद् के अन्तिम प्रश्न में भी जिन षोडश कलाओं का वर्णन है, उनका मूल इच्छा है। ऐतरेय १, १, १ तथा १, ३, १ में इसे ईक्षण कहा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली के षष्ठ अनुवाक में 'सोऽकामयत' कहकर इसे काम का ही नाम दिया गया है। गीता के तीसरे अध्याय के अन्त में बाह्य स्थूल भूतों अथवा उनसे बने हुए शरीर से परे इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे काम का वर्णन है। जो जिसका पूर्वज है, जनक है वह अपनी संतति में आश्रय पाता ही है। काम भी सबका मूल होकर सब में समाया हुआ है, सर्वत्र व्याप्त है। इसकी यह व्याप्ति इसके प्रभविष्णु रूप को प्रकट कर रही है।

जो काम सृष्टि के मूल में है, उसे प्रश्नोपनिषद् ईक्षण का नाम देती है। प्रकृति की प्रथम विकृति में आते ही इसकी संज्ञा काम हो जाती है और मन के विकार तक पहुँचकर यह तीन दिशाओं में विभाजित हो जाता है। मन में कुछ जानने की इच्छा मनीषा कहलाती है, संवेदन-क्षेत्र में यही जूति और क्रिया-क्षेत्र में वश[2] के नाम से प्रख्यात है।[3] इन तीनों का एकीकरण बुद्धि में है, परन्तु मन में आते ही क्षेत्र अलग-अलग हो जाते हैं। मन के पश्चात्

---

१. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० ८ ७-१७ तथा अथर्व० १९, ५२, १।

२. वैदिक शब्द वश और अँग्रेजी का विश समानार्थक होने के कारण ध्यान देने योग्य हैं।

३ ऐतरेय उपनिषद् ३, २।

इन्द्रियाँ आती हैं। मन का त्रिविध काम दश इन्द्रियों में दश प्रकार धारण कर लेता है। काम के प्रिय और अप्रिय दो रूप हैं। इन्हीं दो रूपों में मन जगत् के सूक्ष्म तथा स्थूल शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि और प्रपंच की विविध दृश्यावलि एवं व्यापारों को विभाजित कर लेता है। इस प्रकार काम नाना इच्छाओं और वासनाओं में प्रकट होने लगता है। प्रथम विकृति में निहित काम का सूक्ष्मतम रूप क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से स्थूलतर होता जाता है। बुद्धितत्त्व में निहित काम को समझना कठिन है, पर मन की ज्ञान, भाव और कर्म की इच्छायें समझ में आ जाती हैं। साधारण संस्कृत मानव की भी पहुँच वहाँ तक सम्भव है। अतः काम को हम मनोभव, मन से उत्पन्न हुआ कहा करते हैं। वस्तुतः काम मन से उत्पन्न नहीं होता। वह मन का भी बीज है।

अथर्ववेद काण्ड १९ के सूक्त ५२ का ऋषि काम का निरूपण करते हुये कहता है कि मूल काम अपने संतति-स्वरूप बृहत्, फैले हुये, काम के साथ सयोनि बना हुआ विविध रूपों में (विभुर्विभावा) प्रकट होता है। सम्पत्ति, पोषण, उग्रता, ओज, स्वर्ग आदि इसके अनेक क्रिया-क्षेत्र हैं। काम की प्रशंसा करते हुये मनु लिखते हैं :

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥
संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतानि, यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद् हि कुरुते किंचित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

(मनुस्मृति अध्याय २)

वेद का ज्ञान और वैदिक कर्मयोग का अनुष्ठान दोनों ही कामना करने के योग्य हैं। काम समस्त संकल्पों का मूल है। यज्ञ संकल्प से उत्पन्न हुआ है। व्रत और यम-नियमादि धर्म सभी संकल्प-प्रसूत हैं। अकाम, कामना-शून्य, व्यक्ति की कोई भी क्रिया यहाँ दिखाई नहीं देती। जो कुछ यहाँ क्रिया जाता है, वह काम की चेष्टा का ही परिणाम है।

काम का मूल रूप हिन्दी के अमर कलाकार स्वर्गीय प्रसादजी के शब्दों में मंगल से मंडित और श्रेयस्कर है। सृष्टि के मूल में यही कार्य कर रहा

है।[1] जो काम मंगल से मंडित और कल्याण का निकेतन है, जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है, वह प्रपञ्च से सम्बद्ध होकर लौकिक वासनाओं से विकृत, अमंगलजनक और दुख का कारण भी बनता है। मानव की निम्नगा प्रवृत्ति काम के विशुद्ध स्वरूप को कलुषित कर देती है। उसकी महनीय महत्ता, श्रेयस्कर स्थिति नष्ट हो जाती है।

मानव की यह निम्नगा प्रवृत्ति क्या है ? मुझे भूख लगती है। भूख से कष्ट होता है। मैं इस कष्टका निवारण करना चाहता हूँ और उसके लिये रोटी-चावल, दाल, दूध, दही, पकवान जो कुछ मिल जाता है, उसे उदरस्थ कर लेता हूँ। ऐसा करने से मुझे बुभुक्षाजन्य कष्ट से त्राण मिल जाता है। इस त्राण से मुझे सुख होता है। एक इच्छा की पूर्ति होती है। पर, इच्छा एक नहीं, अनेक हैं। उनमें से सब तृप्ति को प्राप्त नहीं होतीं। इच्छाओं की पूर्ति के लिये साधन चाहिये। ये साधन सबके पास नहीं हैं। साधनों के अभाव में इच्छायें अतृप्त रहती हैं और मानसिक ग्रन्थियों को जन्म देती हैं। मन की उलझन जीवन के प्राप्त सुख को भी किरकिरा कर देती है। इस उलझन को सुलझाने के लिये मैं उचित-अनुचित का विचार छोड़ देता हूँ और ऐसे कार्य करने लगता हूँ जिनसे समाज उलझन में पड़ता है और मेरी उलझन सुलझने के स्थान पर और भी अधिक उलझ जाती है। इसके साथ, एक इच्छा तृप्त होने के पश्चात् पुनः अपनी पूर्ति के लिये अग्रसर होती है, इस पर भी ध्यान देना चाहिये। मैंने एक बार दूध पी लिया, परन्तु कुछ समय पश्चात् फिर दूसरी बार दूध चाहिये। हिटलर ने पोलैंड हस्तगत कर लिया, अब आस्ट्रिया या रूमानिया या यूक्रेन भी उसके आधिपत्य में आने चाहिये। एक इच्छा का अन्त नहीं हो पाता कि दूसरी इच्छा अपने को पूर्ण करने के लिये खड़ी हो जाती है और पूर्ण न होने पर मन में (व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही रूपों में) वैसी ही ग्रन्थियाँ उत्पन्न करती है। मानव-जीवन इच्छाओं के इसी पुञ्ज में, तृप्ति से सुख और अतृप्ति से दुःख प्राप्त करता हुआ, उलझा रहता है। उसे इच्छा-तृप्ति के साधन जुटाने में ही संलग्न रहना पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में 'डासत ही

---

[1] १. काम मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम।
(कामायनी, सप्तम संस्करण, सर्ग श्रद्धा, पृष्ठ ५१)

गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयौ' बिछौना बिछाते ही बिछाते जीवनरूपी रात्रि का अवसान हो जाता है। अगाढ निद्रा का सुख क्षण भर के लिये भी प्राप्त नहीं हो पाता।

इच्छाओं का बढ़ाना, उनकी पूर्ति के लिये उचित-अनुचित सभी साधनों का जुटाना न केवल मेरे क्लेश का कारण बनता है, प्रत्युत उस समाज को भी क्लेश में डालता है, जिसमें मैं रहता हूँ। बढ़ी हुई इच्छाओं की पूर्ति और उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्री का संचय मेरे वश के बाहर है। मैं बाहर चलता हूँ, अपने सुख के लिये समाज को और परिस्थितियों को झकझोरता हूँ। उनकी अनुकूलता कभी मुझे प्राप्त हो जाती है, कभी नहीं। अनुकूल होने पर जब उनका अहं अन्दर से तड़पता है, तो उनकी प्रतिकूलता और प्रतिक्रिया मुझे झकझोर देती हैं। परिस्थितियों के साथ मेरे इसी संघर्ष का परिणाम दुख है।

मानव को जो कुछ प्राप्त है, उसी से सन्तुष्ट होकर यदि वह अपनी अधीनस्थ शक्तियों के विकास में जुटे, तो वह अपने आपको क्लेशों से बहुत कुछ दूर कर सकता है। अधीनस्थ शक्तियाँ मेरे अन्दर हैं, पर उनकी चिन्ता मुझे कब होती है? मेरी चिन्ता का प्रधान लक्ष्य मुझसे बाहर रखी हुई वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा है, जो सदैव अतृप्त रहती है। अतः अन्दर से बाहर भागना ही मानव की निम्नगा प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सुख-दुख से समन्वित रहती है। अनुकूल परिस्थिति सुख और प्रतिकूल परिस्थिति दुःख का हेतु है।

सुख और दुःख से ऊपर आनन्द की अवस्था है। मानव के अन्दर निहित काम का मूल रूप उसी के लिये लालायित रहता है। मानव जो बाहर की ऊँची से ऊँची स्थिति में पहुँचकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसका यही कारण है। वह तृप्ति चाहता है, आत्मतृप्ति, आत्मसन्तुष्टि। वह उसे बाहर की वस्तुओं में नहीं मिलती। जब मानव बाहर से हटकर अन्दर की ओर चलता है तो उसे तृप्ति का अनुभव होने लगता है। एक कलाकार, सङ्गीतज्ञ या कवि अपनी कला को जन्म देकर जितनी तृप्ति प्राप्त करता है, उतनी एक साम्राज्य का सम्राट् नहीं। एक दार्शनिक अपने मनन, चिन्तन और निदिध्यासन में उससे भी बढ़कर तृप्ति प्राप्त करता है। बाहर की सुख-दुःख-सम्मिश्रित अतृप्ति

अन्दर जाकर तृप्ति की अनुभूति में परिणत हो जाती है, पर पूर्ण तृप्ति यहाँ भी नहीं। काम जब तक अपने मूल रूप के साथ संयुक्त न हो जाय, तब तक पूर्ण तृप्ति कहाँ? कोई कलाकार अपनी रचना को कला की पराकाष्ठा नहीं कह सकता। कोई दार्शनिक अन्तिम सत्य की उपलब्धि का दावा नहीं कर सकता। पूर्ण तृप्ति तो पुण्य की पराकाष्ठा, निखिल कलाओं के स्रोत, अन्तिम सत्य के साथ है जो काम का मूलाधार है, ईक्षण का केन्द्रबिन्दु है। वेद इसी हेतु कहता है :

> अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति।
> देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ (अथर्व० १०,८,३२)

जीवात्मा अपने समीप स्थित प्रकृति को छोड़ता नहीं, उसके साथ बंधा हुआ है, और अपने समीप विराजमान परमेश्वर को देखता नहीं, उसकी अनुभूति से अलग है। इसी कारण वह आनन्द से वञ्चित और दुखी है। उसने आनन्द की प्राप्ति में अपना कामना-जाल बाहर फैला रखा है, जहाँ आनन्द का लवलेश भी नहीं है। इस जाल को बाहर से समेटकर उसे अपनी समस्त कामना परमात्मा में केन्द्रित कर देनी चाहिये, जो आनन्द का धाम है। कामनाओं का यही ऊर्ध्वीकरण है।[1]

काम का यह योग ईश्वर के साथ कैसे हो, जीव अपनी इच्छाओं को पुत्र, वित्त और यश से हटाकर प्रभु की ओर कैसे उन्मुख करे, काम अपने मनोभव और विषय-वासनागत रूप का परित्याग करके अपने स्रोत की ओर किस प्रकार प्रयाण करे, इस समस्या ने भी मानव के विकास-पथ में अनेक विघ्न उपस्थित किये हैं।

भारतीय मनीषा ने इस समस्या का समाधान ज्ञान, कर्म और भक्ति के साधनत्रय द्वारा किया है। पर जैसे ही साधक ज्ञान की ओर अग्रसर

---

१. Sufis take the course of love & devotion and accomplish their highest aim, because it is love which has brought the man from the world of unity to this world of variety & the same force can take him to the world of unity from that of variety.

Sufi Message by Prof. Inyat Khan

होता है, उसकी संवेदन-शक्ति उसे भावनाओं के भँवर-जाल में फाँस लेती है और बेचारा ज्ञान अपना-सा मुख लिये एक ओर उदासीन बना खड़ा रहता है। यदि जीव भावनाओं के जाल से किसी प्रकार निकल आया, तो कर्म जीवनयापन की सामग्री जुटाने के लिये उसे आकर्षित कर लेता है। त्याग और वैराग्य की ओर प्रयाण करते ही संसार के वैभव-विलास उसे अपनी ओर खींचते हैं। इस प्रकार प्रत्येक साधन-पथ उसे प्रत्यूहों से ओत-प्रोत प्रतीत होने लगता है। इसका एक प्रबल कारण भी है। आधुनिक जीवशास्त्र के विद्वान् हमें बताते हैं कि जर्म प्लाज्म (Germ Plasm) या शुक्र-कीट मानव की समस्त जातिगत या वंशगत प्रवृत्तियों एवं परम्पराओं का संक्षिप्त कोष है। जो प्रवृत्ति इसके आधार पर एक बार बन गयी, वह अपनी समकक्ष एवं सहयोगिनी प्रवृत्तियों को समेटती हुई, वासनागत संस्कारों के रूप में आगे बढ़ती चली जाती है। साधक उसकी विपरीत दिशा में चलने का प्रयत्न करता है, पर पग-पग पर इन प्रवृत्तियों की प्रबलता ठोकर मारकर उसे पथ से विचलित करती रहती है। कोई भी साधन-पथ इस प्रकार के अन्तरायों से आक्रान्त हुए बिना नहीं रहता। साधक सुख-दुख के द्वन्द्वों में पड़ा हुआ कभी प्रकृति के प्रपञ्च अर्थात् कर्म-व्यापार-जाल की ओर देखता है, कभी चिति-सम्बन्धी ज्ञान-गुत्थियों की ओर। कभी शरीर को सम्हालता है, कभी मन को। द्वन्द्व के घेरे से निकलना उसके लिये दुष्कर हो जाता है।

जैसा संकेत किया जा चुका है, आनन्द न सत् के प्रसार अर्थात् प्रकृति के प्रपञ्च में है और न चित् अर्थात् जीव के ज्ञान-प्रयत्न में। वह सत् और चित् दोनों से पृथक् आनन्दरूप परमेश्वर में है। आनन्द का स्थान न शरीर है, न प्राण, न इन्द्रिय, न मन और न बुद्धि। काम के मूल रूप का स्थान भी इनमें से कोई नहीं है। इसी हेतु उसकी पूर्ति में बाधायें पड़ती हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन के नाना रूप ही मार्ग में विघ्न बनकर खड़े हो जाते हैं। वर्षा, आँधी, शत्रुता, प्रारब्ध, आकस्मिक दुर्घटनायें, प्रियवियोगादि आकर मानव की सहन-शक्ति को झकझोर देते हैं। साधक पथ से विचलित होकर अपनी असहाय अवस्था से क्षुब्ध हो उठता है। उसके भीतर से चीत्कार निकलता है और किसी सहायक की ओर वह सकरुण नेत्रों से देखने लगता है। क्या भाई, पुत्र, पिता, पत्नी, पति या अन्य सम्बन्धी उसकी

सहायता कर सकते हैं ? नहीं, वे स्वयं उसी ज्वलित ज्वाला में, विवशता की वह्नि में जल रहे हैं। जिस दाहकता से साधक निकलना चाहता है, वह उसे अपने चतुर्दिक्, सबके भीतर फैली हुई दिखाई देती है। ज्वाला से बचने के लिये प्रच्छाय, जलीय, शीतल स्थान चाहिये। दुःख से त्राण पाने के लिये आनन्द का निकेतन चाहिये। आनन्द का यह निकेतन ईश्वर है, सच्चिदानन्द परमात्मा है। सत् और चित् दोनों का विश्रामस्थल वही है। साधक को समस्त संसार धोखा दे दे और देता ही है, परन्तु परमात्मा कभी धोखा नहीं देता। इसलिये दुख से बचने का साधन, द्वन्द्वों के सिन्धु से सन्तरण पाने का अवलम्बन, साधनों का साधन, अवलम्बनों का अवलम्बन, आश्रयों का आश्रय एकमात्र आनन्दस्वरूप ईश्वर है। इसीके साथ रहना, इसीके गुण गाना, इससे हटकर अन्यत्र कहीं भी न जाना, इसीमें लवलीन और मग्न होकर निर्द्वन्द्व विचरण करना, आनन्द है। यही भक्तिमार्ग है। साधकों ने परीक्षण और अनुभव करके इसे ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग दोनों से ऊर्ध्व स्थान दिया है।

मानव इस मार्ग में पहुँचकर सृष्टि की सकारणता एवं उसके उद्देश्य को हृदयङ्गम कर लेता है। उसे समस्त क्रियायें उसी परम सत्ता से अनुप्रेरित तथा समस्त शक्ति उसी प्राणस्रोत प्रभु से अनुप्राणित होती हुई प्रतीत होने लगती है। अतएव इन सबके सुख-दुखमूलक होने की ओर से वह निरपेक्ष हो जाता है। द्वन्द्व उसे फिर संतप्त नहीं करते। वह आनन्दधाम परमात्मा की गोद में बैठकर आनन्दमय बन जाता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति का अन्योन्य सम्बन्ध : सृष्टि के मूल में हमने जिस काम का उल्लेख किया है, वह मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक भाव है। प्रत्येक रचना अथवा कृति के पीछे यही काम-भावना रहती है। ज्ञान और कर्म दोनों इसी से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। उपनिषदों में इसी हेतु काम के पश्चात् प्रजाकाम प्रजापति के तप करने का उल्लेख हुआ है, जो ज्ञान और कर्म दो रूपों वाला है।

इस प्रकार रचना-क्रम में परमात्मा से भाव और भाव से तप-रूप ज्ञान तथा कर्म प्रकट होते हैं, जो पीछे नाम-रूपात्मक जगत् में परिणत हो जाते हैं। विलीनीकरण में यह क्रम विपरीत हो जाता है। नाम तथा रूप भाव में और भाव परमात्मा में लय को प्राप्त होते है। भक्त भी इसी प्रकार अपनी

चित्तवृत्तियों को नाम-रूप के सहारे भाव में, फिर भाव के सहारे परमात्मा में लीन कर देता है। भक्तियोग इसी भाव-पद्धति का दूसरा नाम है।

भक्ति-क्षेत्र में ज्ञान और कर्म भी नाम और रूप के समान ही स्थिति रखते हैं। मानवता के विकास में सबसे नीचा स्तर उन मनुष्यों का है, जो तमोगुण से आच्छादित हैं, जिनकी गति विचार-विहीन है। ऐसे व्यक्तियों को कर्मकाण्डी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किसी गति के साथ जब तक विचार सम्मिलित न हो, तब तक उसे कर्म नहीं कहते। निद्रा में करवट लेना कर्म नहीं, शरीर की गति है। घड़ी की सुइयों के चलने को गति कह सकते हैं, कर्म नहीं। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि का चलना गति है। परन्तु जब मैं भक्ति के तत्त्व को हृदयङ्गम करने के विचार से किसी भक्तिपरक ग्रन्थ को पढ़ता हूँ, तो यह पढ़ना कर्म है। शरीर की शुद्धि के विचार से व्रत रखता हूँ, तो यह व्रत कर्म है। तमोगुणी व्यक्ति प्रायः विचारशून्य होकर कार्य करता है, अतः उसके कार्य वैसी ही गति की संज्ञा प्राप्त करते हैं जैसी जड़ पदार्थों में देखी जाती है। इसी कारण तमोगुणी व्यक्ति को जड़ भी कह देते हैं। तमोगुण का यह जड़त्व रजोगुण में दूर हो जाता है। रजोगुणी व्यक्ति किसी से राग अथवा किसी से द्वेष करता है। इन्हीं दोनों भावों से उसकी समस्त क्रियायें प्रभावित रहती हैं और इसी हेतु वह पुण्य-पाप-मिश्रित कर्म करने वाला कहा जाता है। कर्म यहाँ अपना कुत्सित अथवा सुन्दर रूप दिखाते हैं। रजोगुणी व्यक्ति तमोगुणी व्यक्ति की भाँति प्रमाद में नहीं पड़ा रहता। वह क्रियाशील बनता है। बिना कर्म किये वह रह नहीं सकता। इस प्रकार तम विकसित होकर रज में लीन हो जाता है। विकास का यह प्रथम स्तर है, जिसमें मानव अपनी सामान्य गति को कर्म का नाम देता है। वह कर्मकाण्डी बनता है। रजोगुण से ऊपर सतोगुण की स्थिति है। इसे ज्ञान और प्रकाश का क्षेत्र कहा जाता है। यहाँ कर्म ज्ञान में लीन हो जाता है। गीता ने जो ज्ञानाग्नि द्वारा कर्म-राशि का भस्म हो जाना लिखा है, उसका यही आधार है।

अतः विकास-क्रम में जड़त्व से सम्बन्धित गति कर्म में और कर्म ज्ञान में लीन होता है। ज्ञान किसमें लीन होगा? इसे निश्चित रूप से भाव में लीन होना चाहिये, जो रचना-क्रम में इसका पूर्ववर्ती है। भक्ति भाव ही तो है। अतएव कर्म और ज्ञान का पर्यवसान भक्ति में होता है।

यदि कोषों पर विचार किया जाय, तो अन्नमय कोष प्राणमय कोष में परिणत हो जाता है। समस्त अन्न प्राण का भोजन है। प्राणमय कोष, जिसे गति का मुख्य क्षेत्र कहा जा सकता है, मनोमय कोष में लीन होता है। मन ही राग और द्वेष का केन्द्र है और समस्त कर्म का स्रोत है। जिस कर्म के साथ मन नहीं लगा है, वह कर्म ही नहीं है, गतिमात्र है। मन (मनोमय कोष) बुद्धि (विज्ञानमय कोष) में लीन होता है। बुद्धि सत् का अंश और ज्ञान का क्षेत्र है। यह बुद्धि अथवा ज्ञानवृत्ति जिसके सहारे आत्मतत्त्व में लीन होगी, वह भाव ही है, जिसे श्रद्धा और भक्ति-भावना का नाम दिया गया है। आनन्दमयकोष का सम्बन्ध इसी हेतु ईश्वर की उपासना के साथ है।

साधना में सत् से मुक्ति पाना अपने वश के बाहर है। भक्त को इससे छुड़ाने वाले भगवान् ही हैं। कठोपनिषद् २. २. १३ में लिखा है: 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' प्रभु नित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन है। वह अकेला अनेक जीवों की कामनाओं को पूरा करता है। जीव की सर्वश्रेष्ठ कामना बन्धनों से छूटकर परमगति प्राप्त करना है। इसे भगवान् ही सफल बनाते हैं। अतः 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' सिद्धान्त को अकाट्य एवं अन्तिम साधन समझने वाले साधक को अन्त में जाकर अपनी मान्यता में परिवर्तन करना पड़ता है। वह सोचने लगता है कि जिसे छोड़ने का मैं दम भरता हूँ, वह इस छोड़ने में ही मेरे साथ लगा है।[1] अतः वह सर्वात्मना अपने आपको प्रभु को समर्पित कर देता है। यह समर्पण, शरणागति, प्रपन्नावस्था ही भक्तिकाण्ड का सर्वस्व है। यही उसे पार लगाती है, सत् से छुड़ाकर भगवान् से मिलाती है। भक्ति की इस ऊर्ध्व अवस्था को प्राप्त करने के लिये ज्ञान और कर्म दोनों ही साधन बनते हैं और दोनों ही अपने ऊपर उल्लिखित क्रमानुसार भक्तिधारा में लीन होते हैं, जो भगवान् की प्राप्ति का अन्तिम साधन है। यह भक्ति भगवान् का

---

१. 'मैंने इसे छोड़ दिया है' इस वाक्य में अहंकार की छाया है। अहंकार छोड़ा नहीं जा सकता। इसे प्रभु को समर्पित करना पड़ता है। उर्दू के एक कवि ने नीचे लिखी पंक्तियों में अहंकार के त्याग में छिपे अहंकार का कितने मीठे शब्दों में वर्णन किया है:—

'की तर्के मय तो मायले पिन्दार हो गया। मैं तोबा करके और गुनहगार हो गया॥'

आत्मा से साक्षात्, सद्यस्थ सम्बन्ध स्थापित कराती है, अतएव कर्म और ज्ञान दोनों से ऊपर है।

भक्ति और सौन्दर्यशास्त्र

प्लेटो ने ज्ञान के चार प्रकार वर्णन किये हैं : १. ऐसा ज्ञान जो केवल आभास या छाया के रूप में है, २. ऐसा ज्ञान जो व्यक्ति की अपनी कल्पना या निजी विश्वास है, ३. मनन से उत्पन्न ज्ञान, और ४. तत्त्वज्ञान। प्रथम तीन प्रकारों में ज्ञान का कोई न कोई माध्यम या प्रतिनिधि होता है, जिसके सहारे ज्ञान प्राप्त किया जाता है, परन्तु चतुर्थ प्रकार में कोई विशेष प्रतिनिधिरूप में नहीं रहता। जैसे किसी विशिष्ट पदार्थ की छाया दिखाई देती है, या मैं कल्पना से किसी वस्तु को अपने सामने खड़ा कर लेता हूँ, या किसी के सम्बन्ध में कुछ मनन करता हूँ, वैसे तत्त्वज्ञान के समय कोई विशिष्ट पदार्थ सामने नहीं आता, प्रत्युत ज्ञान की सामान्य धारा सामने रहती है। प्रथम दो प्रकार मानव की अपनी सम्मतियाँ हैं। दूसरे व्यक्तियों की सम्मतियाँ वैसी ही हों, यह आवश्यक नहीं है। वे उससे अपनी भिन्न सम्मति रख सकते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मनन से उत्पन्न ज्ञान भी इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होना चाहिये।

कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय की तीसरी वल्ली के श्लोक ५ में भी इसी से मिलते-जुलते ज्ञान के चार प्रकारों का उल्लेख हुआ है :

> यथाऽऽदर्शे तथात्मनि, यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
> यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥

जैसे दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वैसे ही कुछ व्यक्ति अन्तिम सत्य को अपने में अर्थात् अपने अनुरूप देखते हैं। साधारण मनुष्यों की अवस्था ऐसी ही होती है। काँच जैसा होता है, उसके सामने आई हुई वस्तु उसी के अनुसार छोटी-बड़ी अथवा लाल-पीली दिखलाई देती है। मनुष्य का अन्तःकरण भी मलिन अथवा स्वच्छ जैसा होता है, वैसा ही उसमें अन्तिम सत्ता का रूप भासित होता है। साधारण मनुष्यों से ऊँची अवस्था के व्यक्ति आदर्शवादी होते हैं। वे स्वप्न देखा करते हैं, अपनी कल्पना से शून्य में भी रंग भरा करते हैं। इन व्यक्तियों की संज्ञा पितर है।' अपनी

वासना और संस्कारों के अनुकूल ये काल्पनिक आदर्शों की सृष्टि खड़ी किया करते हैं। तीसरे प्रकार का ज्ञान जल में पड़ती हुई परछाईं या प्रतिबिम्ब के रूप में है। इसके देखने वाले गन्धर्व हैं। जल मे जिस पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उस पदार्थ से वह प्रतिबिम्ब अधिक सुन्दर दिखाई देता है। इसी प्रकार वस्तुओं को सुन्दर रूप में देखने वाले गन्धर्व या कलाकार वस्तु के वास्तविक रूप से नहीं, प्रत्युत उसके सुन्दर रूप से सम्बन्ध रखते हैं। वे सौन्दर्य के उपासक होते हैं। चतुर्थ प्रकार का ज्ञान तत्त्वज्ञान है, जिसमें वस्तु छाया तथा धूप की भाँति स्पष्ट और साक्षात् दिखाई देती है।

भक्ति में ऊपर वर्णित चारों प्रकारों का ज्ञान सम्मिलित रहता है, पर विशेष रूप से भक्त विश्व के सौन्दर्य से प्रभावित होकर उस सौन्दर्य के स्रोत प्रभु की उपासना में मग्न होता है। सौन्दर्य क्या है? क्या वह बाहर रखी कोई वस्तु है जो मुझे आकर्षित करती है, या कोई वस्तु मुझे अच्छी लगती है इसलिये मैं उसे सुन्दर कहता हूँ? विद्वानों के मत इस विषय में भिन्न-भिन्न हैं। कुछ विद्वान् सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ (Subjective) और कुछ उसे वस्तुनिष्ठ (Objective) मानते हैं। भक्त की तात्त्विक दृष्टि सौन्दर्य को उसके पीछे छिपी एक अनन्त सौन्दर्य-निधि में देखती है। उसे उषा की अरुणिमा, संध्या की स्वर्णिमा, रात्रि की श्यामता, वर्षा की सरसता, शरद् की श्वेतिमा, वसन्त की मधुरिमा, वनस्पतियों की हरीतिमा और पुष्पों के सौन्दर्य में उसी अदृष्ट सुन्दर की सुन्दरता फूटती दिखाई देती है। नारी के बाह्य कलेवर की सुन्दरता जैसे उसके आन्तरिक सौन्दर्य की प्रतिच्छवि है, किसी कक्ष की सजावट उसमें रहने वाले मानव की मनोवृत्ति की बाह्य अभिव्यञ्जक है, किसी काव्यकलाकार की अभिरुचि उसके पात्रों में निहित है। उसी प्रकार उस अमर कलाकार, उस शाश्वत कवि की सुन्दर आत्मा, उसकी कृति सृष्टि के विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर हो रही है।[1] उस सौन्दर्य-स्रोत से जो सुन्दरता की धारायें चारों ओर प्रवाहित हो रही हैं, उन्हीं को ग्रहण

---

1. Rufus M. Jones Litt. D.: Pathways to the reality of God. P. 64
'Beautiful faces, beautiful souls, fair forms, noble creatures and lofty actions are windows through which the human soul, here in a world of mutability catches glimpses of that eternal beauty.'

करके विश्व के नाना पदार्थ सुन्दर बने हुये हैं। भक्त इसी हेतु इस समस्त सौन्दर्य-प्रसार के पीछे छिपे उस परम सुन्दर की उपासना करता है। उसे 'सुन्दर ही सत्य है और सत्य ही सुन्दर है' इस उक्ति में अटल विश्वास होता है। अतः वह अपने उपास्य देव को सुन्दर ही नहीं, सत्य भी मानता है। सत्य ही आदर्श है। यह आदर्श भी उसे प्रभु में ही दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार पितरों का आदर्शवाद, कलाकारों की सौन्दर्योपासना और तत्त्व-ज्ञानियों का अन्तिम सत्य—तीनों अपने अतीव निर्मल रूप को लेकर भक्ति में समन्वित हो जाते हैं। भक्त मानव की सहज बुद्धि, स्वाध्याय से उत्पन्न ज्ञान, सदाचार, कलाप्रियता, सुन्दरता और मनन तथा निदिध्यासन के अन्तिम लक्ष्य का केन्द्र अपने भगवान् को ही समझता है। उसे परोपकार के कार्यों में, कलाकार की कला में, दार्शनिकों के चिन्तन में तथा आदर्श के लिये मर मिटने वाले बलिदानियों के अमर उत्सर्ग में प्रभु के ही दर्शन होते हैं। वह इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में प्रभु के चमत्करण का अनुभव करने लगता है और परिणामतः उसका उपासक बन जाता है।

भक्ति के अङ्ग

आविर्भाव, भाव और तिरोभाव; उद्भव, स्थिति और प्रलय विश्व की प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बद्ध हैं। बाह्य जगत् में ये घटनायें कार्य-कारण-सम्बन्ध से प्रकट होती हैं। चेतन जगत् में ये पवित्र और अपवित्र कर्मों के परिणामस्वरूप दिखाई देती हैं। इन्हीं तीनों के क्रम में काल का भी अस्तित्व है। प्राकृतिक जगत्, चेतन जगत् और काल से भी ऊपर एक तत्त्व है, जो कार्य-कारण-सम्बन्ध से पृथक् है, पुण्य और पाप से परे है तथा भूत और भविष्यत् से भी अलग है। भक्ति का लक्ष्य भक्त को इसी तत्त्व की प्राप्ति कराना है। यह तत्त्व ईश्वर है। ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

भक्त अपना व्यक्तित्व रखता है, जिसमें शरीर, हृदय और बुद्धि तीन तत्त्वों की प्रधानता है। इस व्यक्तित्व का सम्बन्ध उसके पिता, माता, बन्धु, पत्नी, पुत्रादि के साथ है, जो उसके परिवार के अङ्ग हैं। सामाजिक क्षेत्र में उससे सम्बन्धित गुरुजन, रक्षक, व्यवसायी और श्रमजीवी हैं। इन सबको पृथ्वीमाता, वायुमण्डल और सूर्य जीवन-यापन के उपादान प्रदान करते हैं।

ईश्वर की प्राप्ति के लिये भक्त या तो इन सबका परित्याग करे और 'सब तजि हरि भज' की उक्ति को अपनावे अथवा इन सबके प्रति उन्मुख रहे। सबका त्याग कर देना तो बात की बात है। जब तक शरीर है, तब तक किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता। अतः दूसरा मार्ग ही स्वीकरणीय है। भक्तिकाण्ड इसी हेतु भक्त को कर्तव्य-पालन के पथ से पृथक् नहीं करता। केवल ईश्वरोन्मुख बने रहने पर अधिक बल देता है। प्रभु के आश्रय में रहते हुए भक्त को विविध कर्तव्यों का पालन करना है। अतः ये सब भक्ति के अङ्गों के अन्तर्गत आते हैं। कर्तव्यों का पालन भक्ति की भूमिका को दृढ़ करने वाला है, उसे हिलाने वाला नहीं है।

गीता कहती है : 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' १७. ३। पुरुष श्रद्धा का ही बना हुआ है। वह जिसमें श्रद्धा रखता है, वैसा ही बन जाता है। अतः श्रद्धा सत्य में, शुभ में, सुन्दर में रखनी चाहिये; अनृत, अशुभ और असुन्दर में नहीं। भक्ति का मूल आधार श्रद्धा ही है।

श्रद्धा का सर्वप्रथम स्थान माता, पिता और आचार्य हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण इन्हीं तीनों द्वारा होता है। माता-पिता से उसे हाड़, मांस, मन और बुद्धि का संघात शरीर प्राप्त होता है, तो आचार्य से सांस्कृतिक सम्पत्ति। इन तीनों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना भक्ति का प्रथम अङ्ग है। जीवन का प्रथम भाग क्रमशः इन्हीं तीनों के साथ व्यतीत होता है। यह जीवन-निर्माण का समय है। इस काल में ब्रह्मचर्य द्वारा मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों को विकसित तथा पवित्रता की ओर उन्मुख करना होता है। इनके अभाव में जीवन जीवन नहीं, जरण और मरण ही है।

मानव की ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ बाहर की ओर खुली हैं, परन्तु अन्तःकरण के चारों भाग अन्दर हैं। अतः उसकी एक बहिर्मुखी प्रवृत्ति है, दूसरी अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी प्रवृत्ति में उसके सामने भोगों का वैभव है, जिसे भोगने के लिये ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियों को सहायता देती हैं। पर भोगों को सम्पूर्ण रूप से कोई भोग नहीं सकता। इन्हें भोगने के लिए प्रथम तो जीवन ही सीमित है; फिर भोग इन्द्रियों के तेज को भी नष्ट कर देते हैं और ये तृप्ति नहीं, तृष्णा पैदा करते हैं। अतः भोगों को त्याग-भाव से भोगना चाहिये। त्याग अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है, जिसमें तप और संयम की प्रधानता है। तप तथा व्रत

के द्वारा मैं भोगों के प्रभाव को दूर करता हूँ और ब्रह्मचर्य तथा अन्य संयमों के द्वारा उन पर अपना स्वामित्व स्थापित करता हूँ। अतः त्याग (अर्थात् तप और संयम) भक्ति का दूसरा अंग है।

भोगों को भोगना तो पड़ता ही है। भोग की इस व्यय-क्रिया में प्राकृतिक देवों द्वारा उत्पादित भोग की सामग्री में कमी हो जाती है। इस कमी को दूर करने के लिये मुझे सामग्री का उत्पादन करना चाहिये। भोगोत्पादक साधनों में यज्ञ की प्रधानता है। यज्ञ पर्जन्य को उत्पन्न करता है, पर्जन्य से वृष्टि होती है, जो अन्न की उत्पत्ति का साधन है और अन्न से प्राणियों का विकास होता है। यज्ञ का अनुष्ठान इसी हेतु भक्ति का तीसरा अङ्ग कहलाता है।

जीवन का दूसरा भाग प्रायः सामाजिकता से सम्बद्ध है। इसमें मानव का सीधा सम्पर्क अपने सहवर्गियों तथा अन्य व्यक्तियों से होता है। मानव को इस क्षेत्र में अपने साथियों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार, बड़ों के प्रति सम्मान-भावना तथा छोटों के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिये। मैत्री के साथ द्वेष-परित्याग, सम्मान के साथ नम्रता और सहानुभूति के साथ करुणा संलग्न रहती है। अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सामाजिक जीवन के प्राण हैं। अतः इनका सेवन भी जागरूक होकर करना पड़ता है। यह व्यवहार भक्ति का चतुर्थ अङ्ग है।

जीवन के तीसरे भाग में विशेषतः और वैसे सामान्यतः वैयक्तिक विकास पर ध्यान देना पड़ता है। शौच, सन्तोष, तप, ब्रह्मज्ञान और ईश्वर-परायणता इस विकास के मूल स्तम्भ हैं। जीवन-यात्रा में सुकृत का, पुण्य कर्मों का, पवित्रता का प्रमुख स्थान है। अपवित्र आत्मा प्रभु का दर्शन नहीं कर सकता। अपवित्रता मन की आसुरी वृत्ति में निहित है। अतः उसका दमन करना अत्यन्त आवश्यक है। इन्द्रियों को विचारपूर्वक विषयों से हटाना, मन को बुद्धि और विवेक के नियन्त्रण में रखना तथा बुद्धि को भी दैवी अध्यात्म पथ पर चलाना पवित्रता-सम्पादन के स्वर्ण-सोपान हैं। इन पर चढ़कर भक्त ऐसी स्थिति में आसीन हो जाता है, जहाँ विकारों की बाढ़, अधोगति की आँधी और दासता की दावा पहुँच भी नहीं सकती। इस दैवी सम्पत्ति का अर्जन भक्ति का पञ्चम अङ्ग है।

जीवन का चतुर्थ भाग पूर्ण पवित्रता, समरस अवस्था के सम्पादन का काल है। पूर्ण पवित्र तो प्रभु ही हैं, पर वे सदैव पूर्ण पवित्र रहते हैं। उनकी यह समरस अवस्था नित्य है, शाश्वत है। जीव प्रकृति के सम्पर्क से अपवित्र हो जाता है। अतः उसे यह अवस्था पूर्ण पवित्र प्रभु के सम्पर्क से प्राप्त करनी पड़ती है। यह अन्तिम कार्य भक्ति द्वारा ही सम्पादित होता है। अनवरत ब्रह्म-भावना में लीन रहना, सतत प्रभु का चिन्तन करना, उसके गुणों में मन और बुद्धि को रमाना, अपनी बुद्धि को, अपने आपको उसके साथ एक कर देना, अपनी समस्त कामनाओं को प्रभु में केन्द्रित कर देना, प्रभु के अतिरिक्त और किसी कामना का न रहना—भक्ति-योग की प्रमुख विशेषतायें हैं।

जैसे जल पर्वत की उच्चावच भूमि पर बरस कर शिला-खण्डों से टकराता हुआ नीचे गड्ढों में गिरता है और व्याकुल होकर विविध प्रकार के थपेड़े खाता हुआ, बहता-फिरता समतल भूमि पर पहुँचकर शान्ति प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीव अपवित्र होकर, विविध भोग-योनियों में भटकता हुआ, निदारुण निर्ऋति के क्लेशों को सहन करने के पश्चात् जब समरस, पवमान प्रभु के सान्निध्य में पहुँचता है, तो शान्त हो जाता है। उसके सारे क्लेश कट जाते हैं। आनन्दधाम में पहुँचकर वह सानन्द बन जाता है।

प्रभु की यह प्राप्ति, आनन्द का यह आगम भक्ति द्वारा ही साध्य है। तर्क से, प्रवचन से, श्रवण से, मनन से, यहाँ तक कि मेधा से भी इसकी सिद्धि नहीं होती। एकमात्र भक्ति ही भक्त को इस भूमा अवस्था तक पहुँचाती है। अन्य साधन जिनका हमने अभी वर्णन किया है, भक्ति के अङ्ग हैं। वे भक्ति-भावना को दृढ़ करने के साधन हैं, पर वे अनिवार्य हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भक्ति के अङ्गों द्वारा मानव जड़ता से निकलकर प्राणमय, प्राणवत्ता से हटकर मनोमय, मननशीलता से हटकर विज्ञानमय और भक्ति द्वारा विज्ञान से भी ऊपर आनन्दमय बनता है।

महात्मा टालस्टाय ने भगवद्भक्ति के क्षणों को अपने जीवन के अमूल्य क्षण कहा है। वे लिखते हैं : 'I desired, I longed to be absorbed in the all-enfolding Being. I prayed Him tc forgive

my sins, but, no, I did not ask that, because I felt that by giving me these blessed moments, He had pardoned me.' Life of Tolstoy. 'प्रार्थना के क्षणों में मैं चाहता था, उस सर्वव्यापक प्रभु के भीतर अपने को खो दूँ। मैं प्रभु से अपने पापों को क्षमा कर देने की प्रार्थना करता था, पर वह मैंने कभी नहीं की, क्योंकि मुझे अनुभव हुआ कि प्रार्थना के इन वरद मङ्गल क्षणों को देकर प्रभु ने मेरे सब पाप क्षमा कर दिये हैं।'

जीवन-रथ को लिये हुये काल-अश्व द्रुत गति के साथ दौड़ा चला जा रहा है। किसका सामर्थ्य है, जो इसे पकड़ सके? मृत्यु सबको निगलती चली जा रही है। किसकी शक्ति है, जो इसे निगल सके? कर्म न काल को पकड़ सकता है, न मृत्यु को मार सकता है। बड़े से बड़ा ज्ञानी भी काल के गाल में जाते ही सारा ज्ञान भूल जाता है। पर भक्त जितनी देर भक्ति-भाव की अवस्था में रहता है, उतनी देर के लिये वह काल को पकड़कर अपने अधीन कर लेता है और मृत्यु को भी मार डालता है। योगी केवल समाधि में इस अवस्था को प्राप्त कर पाता है। समाधि में उसे काल की गति का ध्यान ही नहीं रहता। समाधि है ही ध्यान से ऊपर की अवस्था। योगी उस समय काल में नहीं, प्रत्युत काल की नित्यता, शाश्वत अवस्था उसके अन्दर रहती है। बाह्य संसार उस समय योगी की दृष्टि में नहीं रहता, वह उसके अन्दर खो जाता है। यही अवस्था भक्त की भक्ति-भाव में डूबकर होती है। इससे ऊपर जब भक्ति भक्त को भगवान् का साक्षात् करा देती है, तब तो न वहाँ काल की गति हो पाती है, न मृत्यु ही पहुँच सकती है। वह तो मृत्यु से अतिक्रान्त अमृत अवस्था है।

महात्मा अरविन्द ने इस अमृत अवस्था को प्राप्त करने के लिये जो विचार प्रकट किये हैं, वे ऊपर वर्णित विचारों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं और मनन करने योग्य हैं। अतः उन्हें हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। उनके मतानुसार अब तक की हमारी साधन-परम्परा में शरीर, इन्द्रिय, हृदय तथा मन को क्रमशः पृथक् रखने या नष्ट करने पर बल दिया गया है, जिससे हम उस परम शान्त, महान्, अनन्त सत्ता में अपने को मग्न कर सकें। परन्तु पूर्ण

ज्ञान आत्मसत्ता की सर्वाङ्गपूर्णता की कल्पना करता है और इसके लिये हमें केवल अपनी अचेतनता, अज्ञान और उनके परिणामों को दूर करना है।

'सर्वप्रथम अपनी सत्ता के असत् अंश, अहंमन्यता को दूर करना चाहिये, तभी सत्य सत्ता हमारे अन्दर अपना प्रकाश कर सकती है। जीवनतत्त्व अर्थात् प्राणसत्ता का असत् अंश भोग-सम्बन्धी शारीरिक लिप्साओं में प्रकट होता है। इसे दूर कर देने से दिव्य शक्ति से युक्त हमारा सत्य जीवनतत्त्व तथा दैवी हर्षोल्लास प्रकाशित होंगे। इन्द्रियों का असत् अंश प्राकृतिक दृश्यों के प्रिय तथा अप्रिय द्विविध संवेदनों के अधीन होने में प्रकट होता है। इसे दूर कर देने पर दृश्यों में अन्तर्हित दिव्यता की ओर हमारी इन्द्रियाँ जा सकेंगी और पवित्रता के साथ उनका सम्पर्क होगा। हृदय का असत् अंश विक्षुब्ध आसक्तियों, इच्छाओं और द्विविध रागद्वेषपरक मनोवेगों में दिखलाई देता है। इसे पृथक् कर देने से समस्त प्राणियों के लिये दिव्य प्रेम-भाव लिये एक गंभीर हृदय प्रकाशित हो उठेगा, जो अनन्त से सम्बन्ध जोड़ने के लिये अपरिमित भावों से भरा होगा। अन्त में मन का असत् अंश मननशक्ति की अपूर्णता, मूर्खतापूर्ण विधि-निषेधों तथा सीमित एवं विकेन्द्रित मान्यताओं में प्रकट होता है। इसे दूर कर देने से मन की महती ज्ञानशक्ति ईश्वर, जीव, प्रकृति और ब्रह्माण्ड के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन कर सकेगी।'[1]

---

1. Eliminate the falsity of the being which figures as the ego, then the true being can manifest in us. Eliminate the falsity of the life which figures as mere vital craving & the mechanical round of our corporal existence; our true life in the power of the Godhead & the joy of the infinite will appear Eliminate the falsity of the senses with their subjection to material shows & to dual sensations, there is a greater sense in us that can open through these to the divine in things & divinely reply to it. Eliminate the falsity of the heart with its turbid passions & desires & its dual emotions, a deeper heart in us can open with its divine love for all creatures & its infinite passion & yearning for the responses of the infinite. Eliminate the falsity of thought with its imperfect mental constructions, its arrogant assertions & denials, its limited & exclusive concentrations, a greater

इस रूप में अभ्यास करता हुआ साधक अपनी शक्तियों को कुण्ठित नहीं करता, प्रत्युत उन्हें उनके असत्, आसुरी एवं अवयान की ओर ले जानेवाले रूप से हटाकर ऊर्जस्वित कर लेता है, जिसमें वे दिव्यता के साथ संयुक्त हो सकें और उत्थान पर चढ़कर आत्मा को परमात्मा से मिला सकें।

भक्ति साधन है या साध्य : पीछे भक्ति के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उससे प्रकट होता है कि भक्ति साधन और साध्य दोनों ही है। जैसे कोई व्यक्ति छत पर पहुँचने के लिये सीढ़ियों पर चढ़ता है, तो उसे अन्तिम सीढ़ी को प्राप्त करने के लिये प्राथमिक सीढ़ियाँ पार करनी ही पड़ती हैं, उसी प्रकार प्रभु-प्राप्ति के लिये भक्ति अन्तिम सीढ़ी है और इस अन्तिम सीढ़ीरूपी भक्ति की प्राप्ति के लिये भक्ति के जिन अंगों का वर्णन हुआ है, वे प्राथमिक सीढ़ियाँ हैं।

नारद ने भी भक्तिसूत्रों में इस प्रश्न को उठाया है। सूत्र २५ में उन्होंने भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर माना है। कर्म, ज्ञान और योग की स्थिति क्या है? नारद कहते हैं कि कुछ आचार्यों के मत में ये भक्ति के साधन हैं। ज्ञान आदि के साधन द्वारा भक्ति सिद्ध होती है। आगे २९ वें सूत्र में वे लिखते हैं कि कुछ आचार्य ज्ञान और भक्ति को अन्योन्याश्रित मानते हैं। उनके मतानुसार ज्ञान से भक्ति और भक्ति से ज्ञान की सिद्धि होती है। आचार्य वल्लभ ने ब्रह्मसूत्र ३, ३, २९ के अणुभाष्य में भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों को भिन्न-भिन्न माना है। दोनों का फल भी उनकी सम्मति में पृथक् पृथक् है। ज्ञानमार्ग का फल केवल अक्षरब्रह्म का ज्ञान और उसके द्वारा उपलब्ध मोक्ष (स्वर्ग-प्राप्ति) है, पर भक्तिमार्ग का फल पुरुषोत्तम में प्रवेश है। भक्तिमार्ग ज्ञाननिरपेक्ष है, परन्तु प्रेमभक्ति से उत्पन्न पुरुषोत्तम का ज्ञान लीला-प्रवेश का साधक है। तीसवें सूत्र में नारद ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार आदि ब्रह्मकुमारों का मत दिया है, जो

---

faculty of knowledge is behind that can open to the truth of God & the soul & the Nature & the universe.

Quoted from the 'Advent' in Amrit Bazar Patrika issue of 4th Dec. 1953

भक्ति का फल भक्ति को ही मानते हैं। भक्ति स्वयं फलरूपा है, इसी हेतु उसके साधनों का वर्णन भी आचार्यों ने किया है।

भक्ति फलरूपा है, इसका अर्थ क्या है? नारद ने अपने भक्तिसूत्र संख्या ५९ और ६० में इसका उत्तर दिया है। उनके मतानुसार भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है। इसके लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है। शांडिल्य इस सम्बन्ध में अपने भक्ति सूत्र संख्या २९ में काश्यप का मत उद्धृत करते हैं, जो भक्ति को ऐश्वर्यपरा मानते हैं। ऐश्वर्य का अर्थ है ईश्वर का भाव। अतः भक्ति ईश्वर-भाव-प्रधानता का नाम है। शांडिल्य ने सूत्र ३० में बादरायण के मत का भी उल्लेख किया है, जो भक्ति को आत्मैकपरा मानते हैं। एक आत्मतत्त्व की ही जिसमें प्रधानता है, वह भक्ति आत्मैकपरा है। ईश्वर और आत्मतत्त्व में भारतीय दार्शनिक अन्तर करते आये हैं। उनके मत में सतोगुण की सर्वोच्च स्थिति ईश्वरत्व है। आत्मतत्त्व इससे पृथक् है। वह त्रिगुणातीत है, सतोगुण से भी ऊपर। सूत्र ३१ में शांडिल्य अपने मतानुकूल भक्ति को उभयपरा कहते है, जिसमें ईश्वरत्व और आत्मतत्त्व दोनों की प्रधानता है।

नारद जिस भक्ति को स्वतः प्रमाणरूपा, शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा कहते हैं, शांडिल्य जिसे ऐश्वर्यपरा और आत्मैकपरा मानते हैं, वह साधन और साध्य दोनों रूपों को अपने अन्दर समाविष्ट किये है। भक्त स्वतः प्रमाण और शान्तिरूप अथवा ईश्वर-भाव-परायण कुछ साधन करने के पश्चात् ही बनता है, ऐसा हम पीछे लिख चुके है। अतः शान्तिरूप बनना स्वतः एक सिद्धि की अवस्था है। भक्त अनेक साधनों के व्यायाम से निकलकर इस अवस्था को प्राप्त करता है। वह इस अवस्था की जन्म-जन्मांतर से आकांक्षा करता आया है। पर यह अन्तिम अवस्था नहीं है। शान्ति सत् और चित् की ऊर्ध्व अवस्था है। यह चित्तवृत्तियों के व्युत्थान का शमन मात्र है। आत्मैकपरा और परमानन्दरूपा अवस्था इसके पश्चात् आती है। परमात्मतत्त्व ही आनन्दरूप है। इसे प्राप्त करने के लिये जीव को निरावरण, समस्त संक्षोभों से विहीन शान्तरूप होना पड़ता है। यही नारद और शांडिल्य की परा या मुख्या भक्ति का रूप है।

श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय २९ के श्लोक ११ से १४ तक भी इस विषय में देखने योग्य हैं। इस स्थल पर व्यासजी ने भक्तों के निर्गुण और सगुण दो भेद किये हैं। तामस, राजस और सात्विक तीन प्रकार के सगुण भक्तों का वर्णन करने के उपरान्त व्यासजी निर्गुण भक्त के सम्बन्ध में लिखते हैं :

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाऽम्भसोऽम्बुधौ ॥ ११ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ १२ ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ १३ ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ १४ ॥

जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखंडरूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवणमात्र से जिसके मन की गति अविच्छिन्नरूप से सबके हृदयरूपी गुहा में विराजमान मुझ में (पुरुषोत्तम भगवान् में) निष्कामरूप से और अनन्य प्रेमपूर्वक लगी रहती है, वह निर्गुण भक्त है। इस भक्ति में अकारण और अव्यवहित प्रेमसहित भगवान् का निरन्तर ध्यान बना रहता है। ऐसे निष्काम भक्त मेरी सेवा के बिना मोक्ष के किसी भी स्वरूप को दिये जाने पर भी, ग्रहण नहीं करते।

(मोक्ष के पाँच स्वरूप इस स्थल पर वर्णन किये गये हैं : सालोक्य, भगवान् के नित्य धाम में निवास, सार्ष्टि, भगवान् के समान ऐश्वर्यभोग, सामीप्य, भगवान् की नित्य समीपता, सारूप्य, भगवान् के समान रूप और सायुज्य या एकत्व, भगवान् के साथ एक हो जाना।) भगवत्सेवा के लिये मोक्ष का भी तिरस्कार करने वाले ये निर्गुण भक्त भगवद्भक्ति को ही अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं। भक्ति की यह साध्यावस्था है। साध्यरूपा इस भक्ति में भक्त तीनों गुणों का अतिक्रमण करके भगवद्-भाव को प्राप्त हो जाता है। नारद ने ऐसे भक्तों को एकान्ती[1] संज्ञा दी है और उन्हें

१. भक्ता एकान्तिनो मुख्याः, नारदभक्तिसूत्र ६७।

सर्वश्रेष्ठ माना है। ऐसे भक्त स्वयं तो कृतार्थ होते ही हैं, अपने पितरों को भी कृतकृत्य कर देते हैं। देवता ऐसे भक्तों को देखकर आनन्द में मग्न हो नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथ हो जाती है।[1]

गीता में भगवान् कृष्ण ने जहाँ अर्जुन को निस्त्रैगुण्य बनने के लिये कहा है,[2] वहाँ उनका भाव इसी साध्यरूपा भक्ति को प्राप्त कराना है। गीता में सतोगुण का स्वरूप निर्मल, ज्ञानसंगी और प्रकाशक कहा गया है।[3] रज और तम इससे एकान्त विपरीत हैं। वहाँ मल है, अज्ञान है, अंधकार है। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने जिस काम का उल्लेख किया है, उसका मूल रूप इसी सतोगुण से सम्बद्ध है और अथर्ववेद के कामसूक्त में इसीसे स्वर्ग प्राप्त होने का भी वर्णन है।[4] यह स्वर्ग वेद के शब्दों में तृतीय धाम है, जहाँ दिव्य-गुण-सम्पन्न देवता विहार किया करते हैं।[5] काश्यप ने शांडिल्यभक्तिसूत्र २९ के अनुसार, इसीसे सम्बद्ध भक्ति को ऐश्वर्यरूपा कहा है और गीता ने इसके फलस्वरूप स्वर्ग में ऐश्वर्य भोगने के पश्चात् पुनः मर्त्यलोक में आने की बात लिखी है। निस्त्रैगुण्य अवस्था इससे पृथक् है। यह साध्यरूपा आनन्दमयी भक्ति से सम्बन्ध रखती है।

ऊपर के विवेचन से भक्ति साधन और साध्य दोनों प्रकार की सिद्ध होती है। साध्यावस्था में भक्ति के साधन ज्ञान, कर्म, योग आदि हैं और साधनरूप में भक्ति का साध्य परमानन्दस्वरूप परमात्मा है।

आचार्यों ने भक्ति को साध्य मानकर प्रेम के सातत्यरूप को भी प्रधानता दे दी है। भक्ति के द्वारा वे किसी फल की प्राप्ति को हेय स्थान देते हैं। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। मन जब किसी साधन के द्वारा फल-विशेष की उपलब्धि कर लेता है, तो साधन की ओर से उदासीन और कभी-कभी पराङ्मुख भी हो जाता है। साधन का कोई भी महत्त्व उसकी दृष्टि में नहीं रहता। जिस फल का आगम हुआ है, उसका अन्त भी निश्चित है। अतः फल से भी एक दिन हाथ धोना पड़ता है। अब जो अवस्था शेष रहती है, उसमें वह फल तो रहता नहीं, साधन पहले से ही

---

१. नारदभक्तिसूत्र ७१। २. गीता २, ४५। ३. गीता १४, ६।
४. कामेनाजनयन्त्स्वः। अथर्व० १९, ५२, ३। ५. यजुर्वेद ३२, १०।

छूट चुका है, अतः ऐसी अवस्था मन के लिये अवांछनीय हो उठती है। पर यदि मन साधन से उदासीन न रहा, उसका अभ्यास अनवरतरूप से करता रहा, तो उसके लिये आश्रय बना रहता है। साधन में लगे रहने से मन उसमें रमण करने लगता है। और यदि साधन स्वयं महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् हुआ, तो मन की विश्रामाकांक्षिणी गति के लिये वह अनुपम साध्य सिद्ध होता है। इन दोनों ही कारणों से भक्ति के साध्यरूप को महत्ता प्राप्त हो जाती है। एक तो मन का भजन-साधन-अभ्यास नहीं छूटता, शून्यता नहीं रहती, द्वितीय उसे साधन में ही आनन्द का अनुभव होने लगता है। साधन को ही वह साध्य समझने लगता है और फलाकांक्षा की ओर नहीं जाता। भक्ति के इस प्रकार सतत, अव्याहत एवं अहैतुक बने रहने से उसका मूल्य बढ़ जाता है। भक्त को प्रभु प्रेम-स्रोत-स्वरूप अनुभव होने लगते हैं अथवा प्रेम ही प्रभु के रूप में परिणत हो जाता है।

भक्ति का फल

१. स्वाधीनता : चार्ल्स गोरे अपने ग्रन्थ 'The philosophy of the good life' के पृष्ठ २१९ पर लिखता है : 'Mankind is balanced between two worlds. If he yields himself to the flesh–the lower world–he changes his freedom into slavery, and a slavery which ends in destruction. But the only escape from such slavery is by surrender to the higher will of God. Man is bound to lose his balanced independence, in the one direction to his destruction, or in the other to his redemption and real self-realization. God's service is the only real freedom.'

'मानव दो संसारों के बीच संतुलित है। यदि वह अपने से निम्नतर संसार, पार्थिवता की ओर झुकता है, तो उसकी स्वाधीनता पराधीनता में परिणत होती है। यह पराधीनता ऐसी है, जिसका अन्त विनाश में होता है। इस पराधीनताजन्य विनाश से बचने का एक ही उपाय है कि जीव अपने से उच्चतर संसार, प्रभु की इच्छा के आगे अपने को समर्पित कर दे। एक ओर

उसका विनाश है, दूसरी ओर त्राण और आत्मसाक्षात्कार। जीव की वास्तविक स्वाधीनता प्रभु की सेवा है।'

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही लिखा गया है कि जीव जिस प्रकृति के प्रपंच में फँसा है, जगत् के जिस जटिल जाल में जकड़ा है, उसे छोड़ता नहीं है, और जिसके दर्शन से, साक्षात्कार से, मुक्त होगा, स्वाधीन होगा, उसे देखता नहीं है। जीव के सामने यही विषम समस्या है। चार्ल्स गोरे प्रभु की सेवा को वास्तविक स्वाधीनता कहता है। वेद ने उस सुदूर अतीत काल में ही यह संदेश दिया था कि यदि जीव को स्वाधीन बनना है, तो उसे सांसारिकता को छोड़कर प्रभु-परायण बनना होगा। इस समस्या के सुलझाने में जीव को बड़ा संघर्ष करना पड़ता है। प्रभु का प्रियपात्र बनने के लिये उसे प्रकृति से युद्ध करना पड़ता है। वेद कहता है: 'युधा इत्, आपित्व-मिच्छसे'[१] प्रभु का आपित्व, अपनापन, सुगमता से प्राप्त नहीं हो जाता, बड़ी रगड़ लगानी पड़ती है। बड़े-बड़े आकर्षक, लुभावने, मोहक दृश्यों का सामना करना पड़ता है। स्वाधीनता अपना मूल्य चाहती है, फिर वह स्वाधीनता चाहे राजनैतिक हो और चाहे आध्यात्मिक। बिना युद्ध के भला कोई स्वतन्त्र हुआ है? जीव को प्रकृति के पाशों से स्वतन्त्र होना है, तो उसे प्रकृति के साथ युद्ध करना होगा।

अरनेस्ट ई० बनविन अपने ग्रन्थ 'Religion and Biology' के पृष्ठ ८३ पर लिखता है: 'The whole story of evolution, the struggle—action and reaction – between organism and environment is really the evolution of freedom. Freedom cannot be given, it is won.'

'विकास की सम्पूर्ण कहानी चर एवं अचर के बीच क्रिया और प्रतिक्रिया-मय संघर्ष की कहानी है। इसीसे स्वाधीनता का विकास हुआ है। स्वाधीनता दी नहीं जा सकती। वह तो युद्ध द्वारा प्राप्त की जाती है।'

मानव का अतीत उसके वर्तमान की संभावनाओं का जन्मदाता है। प्रकृति में वह इस संघर्ष का अनुभव कर चुका है। अतः प्रतिपल प्रत्येक पग

---

१ ऋग्वेद ८, २१, १३।

आगे रखते हुए वह अपने आध्यात्मिक क्षेत्र में भी विषय-वासना, धन, अभिमान आदि से संघर्ष करता चलता है। भावी संभावनाएँ उसके मार्ग को स्वच्छ एवं प्रशस्त करती चलती हैं। वह संकुचित वातावरण से निकलकर विशाल वातावरण की ओर प्रयाण करता है, जहाँ सूक्ष्म शक्तियाँ उसे और आगे बढ़ाती हैं। सृष्टि के आयोजन तथा प्रयोजन उसके समक्ष स्पष्टतर होने लगते हैं। परन्तु इनका ज्ञान स्वतन्त्रता नहीं है। इससे जीव को अपनी स्वतन्त्रता का केवल आभास प्राप्त हो जाता है। स्वतन्त्र बनने के लिये तो उसे प्रकृति के साथ युद्ध में संलग्न होना पड़ता है।

निर्जीव संसृति के निश्चित नियम और व्यवस्थित घटना-चक्र मानव को मानसिकता के विकास की ओर ले आते हैं और उसे स्वाधीनता का स्पष्ट संकेत दे देते हैं। अतः प्रकृति को छोड़कर वह दूसरी ओर, परन्तु अपने अत्यन्त समीप, स्वाधीनता के जगमगाते हुए संसार को देखता है और अनुभव करता है कि वह केवल इन्द्रियों के विषयों, अशना और पिपासा, पर ही जीवित नहीं रह सकता, ये तो उसे पराधीन करने वाले हैं। उसका मुख्य जीवन आध्यात्मिक जीवन है। वह अछूता पड़ा है। उसके अभाव में मानव परतंत्रता के पाशों में जकड़ गया है। आध्यात्मिकता मानव को स्वाधीन बनने के लिये प्रेरणा दे रही है। यह प्रेरणा उसे दिन-रात प्रकृति के बंधन से छूटने के लिये उत्तेजित करती है। मानव न जाने कब से मुक्त होने के लिये छटपटा रहा है, यत्न कर रहा है, अनेक मार्गों की दौड़ लगा चुका है; ज्ञान, कर्म, व्रत, तप, योग आदि अनेक सेनापतियों के सहारे इसने प्रकृति से मोर्चा लिया है, पर अभी स्वतन्त्र न हो सका। प्रकृति के कुछ पाश तो इस मोर्चे से कट गये, पर उसका प्रबलतम पाश जिस शस्त्र से कटेगा, वह आत्मा के इन सेनापतियों के पास है ही नहीं। वह शस्त्र जिसके पास है, वही उसका प्रयोग कर सकता है, और उसी प्रयोग द्वारा स्वाधीन भी बन सकता है। यह शस्त्र, ज्ञान, तप, योग आदि सबसे ऊपर है। यह अहंकार-समर्पण का शस्त्र है और यह आत्मा द्वारा ही प्रयुक्त हो सकता है। इसी अहंकार-समर्पण से आत्मा परमात्मा के दर्शन करता है। अहंकार-समर्पण, शरणागति या प्रपत्ति के बिना भगवान् के दर्शन नहीं होते। अन्त में जब जीव आत्मसमर्पण द्वारा अपने ही निकट वर्तमान, आध्यात्मिकता के केन्द्र तथा स्वाधीनता के सूर्य भगवान् को देखता

है, तो उसके दर्शन मात्र से उसके समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। प्रभु-परायणता, भगवद्भक्ति उसे स्वाधीन वातावरण में विचरण करने योग्य बना देती है। अतः भक्ति का एक फल स्वाधीनता है। भारतीय ऋषि जीव की इस स्वाधीन मुक्तावस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं :

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति······। शत० का० १४

भौतिक शरीर को छोड़कर आध्यात्मिक स्वाधीनता में जीव जैसा चाहता है, वैसा ही रूप धारण कर लेता है और अपनी २४ प्रकार की शक्तियों से स्वतन्त्रता का आनन्दभोग करता है।[1]

२. पवित्रता : आत्मा प्रकृति के संपर्क से मलिन हो गया था। वह अपने विशुद्ध, चेतन, पवित्र रूप को छोड़कर मलिन से मलिन होता गया। देव से मानव, मानव से पशु, पशु से पक्षी, सरीसृपादि, और वहाँ से भी कृमि-कीट आदि में होता हुआ 'स्थावर योनियों में जाकर जड़ के समान ही बन गया। प्रकृति जड़ है। जड़ का संपर्क जड़त्व को ही जन्म दे सकता है। अतः जीव का जो रूप स्थावर योनियों में दिखाई देता है, वह केवल अन्तः संज्ञावाला है। उसके चेतनरूप के चिह्न अन्य योनियों की भाँति बाहर दृष्टिगोचर नहीं होते। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जे० सी० बोस ने जो वृक्षों को रोते और हँसते हुए बताया है, वह अज्ञ बालक के हँसने-रोने के भी समान नहीं है। वह केवल उनकी प्राणवत्ता प्रकट करता है, चेतनता नहीं। पौराणिक अनुश्रुति में जीव की चौरासी लाख योनियाँ वर्णित हुई हैं :

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नव लक्षकम्।
कूर्माश्च नव लक्षं च दश लक्षं च पक्षिणः॥
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च षट् लक्षं च वानराः।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥
एतेषु भ्रमणं कृत्वा द्विजत्वमुपजायते॥ (बृहद् विष्णुपुराण)

इस श्लोक में पाठभेद भी मिलता है, जिसके अनुसार स्थावर तीस लाख

---

१. वैदिक स्वर्ग का वर्णन 'वैदिक भक्ति' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत है।

और पशु बीस लाख योनियों में विभाजित हैं। कूर्म के स्थान पर कृमि पाठ भी मिलता है, जो नौ लाख के स्थान पर ग्यारह लाख योनियों वाले हैं। वानर के स्थान पर वा और नर पृथक्-पृथक् करके किसी-किसी ने मनुष्य की ही चार लाख योनियाँ बताई हैं। अतः परिवर्तित क्रम नीचे लिखे अनुसार है :

स्थावर	३० लाख
जलचर	९ लाख
कृमि	११ लाख
पक्षि	१० लाख
पशु	२० लाख
मनुष्य	४ लाख

इस सूची के अनुसार जलचर से मनुष्य योनि तक ५४ लाख योनियाँ हैं। अरनेस्ट हेकल ने अपने ग्रन्थ 'The lost link' में मछली से मनुष्य तक ५३ लाख ७५ हजार योनियाँ मानी हैं।

गरुडपुराण में उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज चार भेदों में समस्त योनियों को विभाजित करके प्रत्येक भेद के २१ लाख प्रकार बतलाये हैं। यथा :

उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्॥
अण्डजाः पक्षिणः सर्पाः नक्राः मत्स्याश्च कच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव मनुष्याश्च जरायुजाः॥
एकविंशतिलक्षाणि प्रत्येकं परिकीर्तिताः।
एतेषु भ्रमणं कृत्वा द्विजत्वमुपजायते॥[1]

देवयोनि सतोगुण की योनि है। वहाँ से गिरकर जीव रजोगुण और तमोगुण की घोर कष्टमयी, वीभत्स एवं मलिन योनियों में केवल प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण जाता है। नाना प्रकार के पापमय परदों से आच्छादित

---

१. डा० भगवानदास द्वारा उनकी पुस्तक 'दि साइंस आफ रिलीजन', द्वितीय संस्करण, १९४८, के पृष्ठ ४६ पर उद्धृत।

होकर वह अधम, मध्यम, निकृष्ट कारागारों[1] की यन्त्रणायें झेलता हुआ, कुत्सित कर्म-विपाक को भोगकर मानवयोनि में आता है। मानवयोनि के अतिरिक्त अन्य सब भोगयोनियाँ हैं। वहाँ पराधीनता ही पराधीनता है। मानवयोनि कर्म और भोग दोनों की योनि है। यहाँ पराधीनता के साथ कर्म करने की स्वतन्त्रता भी है। अन्य योनियाँ एकान्त अपवित्र हैं, परन्तु मानवयोनि में पवित्रता के दर्शन होने लगते हैं। पवित्रता की माप सत्य है। पशुओं के पास सत्य और असत्य की पहिचान कराने वाली विकसित बुद्धि ही नहीं है। अतः उनके सम्बन्ध में सत्य और असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता। मानव विकसित बुद्धिवाला प्राणी है और सत् एवं असत् में भेद कर सकता है। जो मानव जितना ही अधिक सत्य के निकट होता जाता है, उतना ही अधिक वह पवित्रता की ओर उन्मुख होता है। उसकी बुद्धि और कर्तृत्व शक्ति, ज्ञान और कर्म दोनों ही इस सम्बन्ध में उसकी सहायता करते हैं।

सत्य का सम्पर्क उसकी चेतना को स्फुरित कर देता है। इस चेतना के आधार पर उसे सत्यस्वरूप भगवान् का बोध होने लगता है। भक्तिमार्ग यहीं आकर ज्ञान और कर्म को बल प्रदान करता है। प्रभु की भक्ति, उसके गुणों का चिन्तन, स्मरण और कीर्तन जीव के अन्दर पवित्र परमात्मा की समकक्षता में उसके अपने अपवित्र रूप का उद्घाटन कर देते हैं। वह व्यथित हो उठता है, पवित्र प्रभु के आगे कातर क्रन्दन करने लगता है, अपनी अपवित्रता को दूर करने का सङ्कल्प करता है और आत्मनिवेदन

---

१. अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना स योनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य ? न्यंचिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥
(ऋ० १, १६४, ३८)

अमर जीवात्मा प्रकृति द्वारा पकड़ा हुआ मरणधर्मा शरीर के साथ संयुक्त होकर कभी नीची योनियों में जाता है और कभी ऊँची योनियों में। कर्मफल-भोग के लिये अनेक लोकों में उसे जाना पड़ता है। पर हम उसे नहीं, उसके शरीर को ही देख पाते हैं।

'We each live our mental life in a prison-house from which there is no escape. It is our body. Our sense-organs......are windows through which we can look out & acquire knowledge.'

Physics and philosophy. pp. 6-7 by Sir James Jeans.

के सहारे सारी मलिनता को धो बहाता है। भक्ति उसे पवित्रता प्रदान करती है। पवमान प्रभु का आश्रय पाकर जीव पवित्र हो जाता है।

३. विश्वबंधुत्व-भावना : पवित्रता की प्रदीप्ति जीव में सत्त्वगुण की स्थिति की सूचक है। सतोगुण की अवस्था में राग-द्वेष का भाव नहीं रहता। राग-द्वेष का अभाव मेरे-तेरे-पन को नष्ट कर देता है, जो स्वार्थपरता एवं संकीर्णता का द्योतक है। सत्त्व की प्रतिष्ठा चिति का उद्रेक भी करती है। यह चिति व्यापक चेतत्त्व या महाचिति से मिलकर एकत्व भाव को उत्पन्न करती है। आत्मा को इस प्रतीत होती हुई भिन्नता में समता के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। संकीर्ण स्वार्थपरता नष्ट होने लगती है और आत्मा सर्वत्र उस महाचिति के प्रकाश को अनुभव करने लगता है। समस्त प्राणियों में एकरस रूप से विराजमान परम आत्मतत्त्व को जानकर वह द्वैत से परे हो जाता है। प्राणी ही क्यों, अचेतन जगत् की विविधरूपा दृश्यावलि में भी उसे उसी की बाँकी छवि दृष्टिगोचर होती है।[1]

जो कुछ यहाँ उत्पन्न हुआ है और इस बृहद् आकाश में जो कुछ अनुत्पन्न, कोष के रूप में सुरक्षित है और उत्पन्न हुए को चारों ओर से घेरे हुए है, वह सब उसी की सत्ता से सत्तावान् है, सूत्र में मणियों की भाँति उसी में ओत-प्रोत है। उससे भिन्न यहाँ कुछ है ही नहीं। ऐसा अनुभव

१. जेम्स टेन ब्रोक अपने ग्रन्थ 'Constructive basis for theology' के पृष्ठ १६६ पर लिखता है : "I, at first, regarded the natural world as other than myself, distinct and strange. But when I have sufficiently awakened, I am able to recognise even in nature and commune with the mind there expressing itself and know mpself in union with the great mind of nature. The goal is the full free life of persons whose highest life is the recognition of divine mind in all things."

मैं प्राकृतिक अचेतन जगत् को पहले अपने से भिन्न समझता था, परन्तु अब जब मैं चैतन्य का पर्याप्त रूप से जागरण अनुभव करने लगा हूँ, मुझे प्रकृति के अन्दर वही महान् चेतन मस्तिष्क अपने को अभिव्यक्त करता दिखाई देता है और इस रूप में समस्त प्रकृति, अचेतन जगत्, के साथ मैं अपने आपको संयुक्त पाता हूँ। मानव का उच्चतम जीवन यही है कि वह सबमें, चर और अचर में, उस दैवी सत्ता का अनुभव करे, विश्व-बन्धुत्व-भावना को जागृत करे।

आत्मा को निर्भय और सब का संबंधी बना देता है। भक्त भगवान् की उपस्थिति को पद-पद पर अनुभव करता है। उसका प्रेम भगवान् के प्रति होकर सब चराचर के प्रति क्रियाशील हो उठता है। उसे सब अपने, आत्मा के, ही प्रतीत होने लगते हैं। सम्पूर्ण विश्व को वह बन्धुता के बन्धन में बाँधकर अपने अन्दर समेट लेता है और आत्मा को विशाल बनाकर सब तक पहुँचा देता है।[1] यही विश्व-बन्धुत्व की भावना है।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ (भर्तृहरि)

भगवद्भक्ति में निरत प्राणी किसी का नहीं, भगवान् का है और इसी हेतु सबका है। वह ब्रह्म के संपर्क में आकर अल्प नहीं रहता, भूमा बन जाता है। उपनिषद् के ऋषियों ने इस विशाल, महनीय अवस्था की भूरि भूरि प्रशंसा की है।

४. प्रभु-प्राप्ति : प्रभु-प्राप्ति का अर्थ क्या है? क्या प्रभु किसी दूर देश में बैठा है, जहाँ पहुँचकर भक्त उसे प्राप्त कर लेता है? या वह किसी अतीत काल की वस्तु है, जो खो गई है और अब भक्त ने खोजकर प्राप्त कर ली है? नहीं, भक्तिमार्ग ऐसा नहीं कहता। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की खोजों के आधार पर हम पीछे लिख चुके हैं कि प्रभु सर्वव्याप्त है। वे निकट से निकट और दूर से दूर हैं। देश और काल के बन्धन उन्हें आबद्ध नहीं कर सकते। इनकी वहाँ गति ही नहीं है। प्रभु-प्राप्ति में देश और काल का अनवच्छेद है। प्रभु की प्राप्ति भावक्षेत्र से सम्बन्ध रखती है। प्रभु निकट ही वर्तमान हैं, वे अन्तर्यामी हैं, सबके अन्दर विराजमान हैं, पर विरले साधक ही उनकी इस समीपता का अनुभव कर पाते हैं। दधि में घी विद्यमान है, पर बिना दधिमंथन के वह प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार प्रभु आत्मा के अन्दर विराजमान हैं, पर बिना साधना, अभ्यासरूपी मंथन के वे प्राप्त नहीं होते। भक्ति ही वह अचूक साधन है, जो उन्हें प्राप्त करा देता है। ज्ञान आदि प्रभु की झलक दिखा देते हैं। उनका कार्य भी इतना ही है, इससे अधिक नहीं।

1, "The whole heaven is open to the eagle's flight. And to a noble man, the whole earth is his fatherland."

The attributes of God. P. 131.

प्रकाश आने पर अंधकार में छिपी वस्तु अपना दर्शन ही तो देती है, पर उसे प्राप्त करने के लिये तो मुझे उस तक पहुँचना होता है और हाथ बढ़ाने पड़ते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश में प्रभु की प्रतीति होने लगती है और भक्ति द्वारा साधक उन्हें प्राप्त कर लेता है।

सर्वपल्ली श्री राधाकृष्णन अपने ग्रन्थ 'The philosophy of the Upanishads' के पृष्ठ ८६ पर एक उद्धरण देते हैं : 'Though the individual is lit with the divine spark, he is not wholly divine His divinity is not an actuality, but a part of God aspiring to be the whole. As he is, he is dust and deity, God and brute crossed. It is the task of the moral life to eliminate the non-divine element, not by destroying it, but by suffusing it with the divine spirit.'

Quoted from International Journal of Ethics, 1914-p. 169,

इसी विषय से सम्बद्ध उन्होंने कांट के critic of pure reason से पृष्ठ ८७ पर एक उद्धरण और दिया है, जिसके अनुसार बुद्धिवाद, तर्क या ज्ञान मानव को ऊँचा नहीं उठा पाते, उसके अन्दर दिव्यता का प्रवेश नहीं करा सकते।[1]

ज्ञान साधक के अन्दर दैवी स्फुलिंग को ज्योतित कर देगा, पर उसे दिव्य नहीं बना सकेगा। साधक स्वयं दिव्यता का एक कण है, जो पूर्ण बनने के लिये लालायित हो रहा है। अपने स्वरूप में तो वह 'अमर्त्यो मर्त्येना स योनिः' है, मर्त्य भी है और अमर्त्य भी, पार्थिव भी है और दिव्य भी, धूल भी है और देवता भी। उसे मर्त्य, पार्थिव, अदैवी भाग को अपने से पृथक् करना है, उसे नष्ट करके नहीं, प्रत्युत उसे दिव्यता से ओत-प्रोत करके। यह कार्य भक्ति-भावना का है। लुइ रिचार्ड फरनेल अपने ग्रन्थ

1 'Man is not in the least elevated above mere animalism by the possession of reason.'

'Attributes of God' के पृष्ठ २४५ पर लिखता है : 'भक्ति-भाव से की गई प्रार्थना आध्यात्मिक दिव्य शक्ति को क्रियाशील कर देती है, जो उसके अभाव में सोई पड़ी थी और वह वस्तुत. अपना प्रभाव डालती है'।[1]

भगवद्भक्ति साधक को दिव्यता के स्रोत से संयुक्त कर देती है, इसीलिये इसे भक्तियोग भी कहते हैं। भक्ति के अंग भक्त-पावनकारिणी शक्ति रखते हैं और भक्त को परम पवित्र प्रभु के संपर्क में ले जाकर बिठा देते हैं। पवमान प्रभु इस पवित्र भक्त को अपनी दिव्य धाराओं से ऐसा आर्द्र, ऐसा सराबोर कर देते हैं कि उसका अंग-अंग दिव्यता से चमकने लगता है। अंश अंशी में, तरङ्ग समुद्र में, चिनगारी अग्नि में पड़कर तदाकार हो जाती है। दार्शनिक दृष्टि से यह जीव का प्रभु में विलय नहीं, प्रत्युत प्रभु-प्राप्ति के द्वारा जीव का अपने स्वरूप को ही प्राप्त करना है। प्रकृति ने उसे प्रभु से दूर कर दिया था। भक्ति ने प्रकृति के पाशों को छिन्न-भिन्न करके, जीव को असंग और अनावृत करके, पुनः प्रभु से मिला दिया। जीव की प्रकृति दिव्य थी, प्रपंच में पड़कर वह अदिव्य ही नहीं, जड़त्व तक पहुँच गई, भक्ति ने उसे फिर उसके दिव्य स्वरूप में प्रतिष्ठित कर दिया और परम दिव्य के साथ जोड़ दिया। प्रभु-प्राप्ति का यही तात्त्विक रूप है।

प्रभु-प्राप्ति को परमगति, अतिमृत्यु, मुक्ति, विलय, मोक्ष, स्वरूप-अवस्थान, अपवर्ग, अमृत अवस्था, पुरुषोत्तम-प्रवेश, परम धाम और निर्वाण भी कहते हैं। इनमें से कुछ शब्द ऐसे हैं, जिन्हें लेकर दार्शनिकों ने प्रभु-प्राप्ति के सम्बन्ध में भयंकर मतभेद खड़ा किया है। कुछ आचार्य प्रभु-प्राप्ति को परमात्मा में आत्मा का विलय हो जाना मानते हैं और कुछ इसके विपरीत प्रभु-प्राप्ति को परमात्मा के साथ जीव का सख्यभाव को प्राप्त हो जाना कहते हैं। अतः इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहिये।

बौद्धों का निर्वाण आत्मतत्त्व से शून्य है। विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप, इन पाँच स्कंधों का दीपक जब तक तेल और बत्ती के समान राग और वासना से संयुक्त है, तभी तक प्रज्वलित है। जब बुझ गया,

---

1 'In prayer, spiritual energy which otherwise would slumber, does become active and spiritual work of some kind is effected really.'

तो शून्य ही शून्य है। रागादि ज्ञान के प्रवाह की वासना के नाश का ही नाम मुक्ति है, ऐसा बौद्ध मानते हैं। कोई वस्तु थी, वह समाप्त हो गई, अब नहीं है, ऐसा मत आज के वैज्ञानिक युग में मान्य नहीं हो सकता। वैज्ञानिक खोज के अनुसार वस्तुओं के नाश का तात्पर्य रूप-परिवर्तन है, उनका अभाव नहीं। भाव का अभाव हो जाना न तो तर्क से ही सिद्ध हो सकता है, न वैज्ञानिक प्रयोग-पद्धति से। दीपक के बुझ जाने का भाव भी शून्यता या अभाव नहीं है। उसके तेल और बत्ती रूप-परिवर्तन द्वारा सूक्ष्म परमाणुओं के रूप में आकाश में विद्यमान रहते हैं।

शून्यवाद में संज्ञान-शून्यता की प्रधानता है। और इसी हेतु बौद्ध विज्ञानी देवों से संज्ञान-शून्य देवों को उच्च स्तर का मानते हैं जो न किसी वेदना का अनुभव करते हैं, न अपने आप का ही उन्हें कोई बोध रहता है। निर्गुण एवं कूटस्थ ब्रह्म भी इसी प्रकार का माना गया है। वास्तविक धर्म के साथ ऐसे देवों या ब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः बौद्धों का निर्वाण या शून्यवाद जीवन के मूल्य की दृष्टि से सार्थक नहीं कहा जा सकता।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद भी मुक्ति की गुत्थी को नहीं सुलझा पाता। उनका अनिर्वचनीय मायावाद ब्रह्म को ही बन्धन में डालता है और उसी को मुक्त करता है। और इस प्रकार के समग्र प्रपञ्च को प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत मानकर मिथ्या कह देता है। जब सब मिथ्या है, तो मुक्ति भी मिथ्या है। अतः जीवन के मूल्य की दृष्टि से इस मत का भी कोई मूल्य नहीं है।

जो आचार्य मुक्ति के समय ईश्वर में जीव का विलय हो जाना मानते हैं, वे यदि ऐसा कहें कि जीव का भावात्मक अस्तित्व मुक्ति में नहीं रहता, तो उनका मत ग्राह्य नहीं हो सकता। जीव जब अपना अस्तित्व ही खो देगा, तो बन्धनों से छूटने और आनन्द के उपभोग करने का अर्थ ही क्या होगा? जो प्रकृति के पाशों में आबद्ध था, वह एक सत्ता है। जो मुक्त हुआ, वह भी एक सत्ता है। मुक्त होने के पश्चात् जो प्रभु को प्राप्त करता है, वह भी एक सत्ता है। फिर जीव का विलय कहाँ? विनाश कहाँ? आचार्य वल्लभ ने इसी हेतु मुक्त हुए शुद्ध पुष्ट जीवों को पुरुषोत्तम में प्रवेश कराके भगवान्

से भिन्न ही माना है और हरिलीला में भाग लेने वाले मुक्त जीवों को ब्रह्म से पृथक् अस्तित्ववाला स्वीकार किया है।

ब्रह्मसूत्र ३, ३, ३० के अणुभाष्य में आचार्य वल्लभ लिखते हैं : 'स्वतन्त्र-पुरुषार्थरूपः तदुपलब्धेः। स्वाधीनत्वेन तत्प्राप्तेरित्यर्थः। यद्यपि पुरुषोत्तमे प्रवेशे तदानन्दानुभवो भवति, तथापि न प्रभोः तदधीनत्वम्। लीलायां सुहृत्त्वेन प्रभुनिकटे स्थितिः उक्ता भवति।'

जीव का प्रभु-प्राप्ति में स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। स्वाधीन भाव से ही वह उसे प्राप्त करता है। यद्यपि पुरुषोत्तम में प्रवेश जीव को भगवान् के आनन्द का अनुभव कराता है, परन्तु वह भगवान् के अधीन नहीं होता। लीला में प्रभु के निकट जीव की स्थिति सखा-भाव की होती है।

ऋग्वेद ने जीव को ईश्वर का सयुजा और सखा कहा है। प्रकृति-रूपी वृक्ष के फलों का आस्वाद उसके इस रूप का तिरोभाव कर देता है। वह ईश्वर से पृथक् हो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के आवरणों से आच्छादित हो जाता है। इन तीन गुणों से पृथक् होकर निस्त्रैगुण्य बनना ही उसका लक्ष्य है। भगवद्भक्ति के साधनों द्वारा वह अपने इस लक्ष्य में कृतकार्य होता है और प्रभु के साथ पुनः अपने सयुजा और सखा रूप को प्राप्त करता है। अतः प्रभु में जीव का विलय नहीं होता, प्रत्युत उसे सखा भाव की प्राप्ति होती है। इसे जीव का सर्वश्रेष्ठ विकास अथवा अपने रूप में अवस्थान कहा जा सकता है।[1]

भगवद्भक्ति प्रेम-परा है। यदि प्रेम की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी प्रिय और प्रेमी का मिलन होता है, एक का दूसरे में विलय नहीं। इमेन्युअल स्वीडनबर्ग अपने ग्रन्थ 'The divine love and wisdom' के पृष्ठ १९ पर लिखता है : 'The very nature of love is to be loved by others, for thus a union is effected. The essence of all love consists in union. Hence it is plain that the

---

1. Franz Werfel अपने ग्रन्थ Between Heaven and Earth के पृष्ठ ११६ पर लिखता है :'—In religious ecstasy, death is not only remote, but is inconsequential; there is no death. And the human I is not obliterated, but is sublimated, refined or exalted.'

divine love cannot do otherwise than have its being & manifestation in others whom it loves & by Whom it may be loved.' प्रेम का स्वभाव ही प्रेम किया जाना है, जिसमें प्रिय और प्रेमी दो का अस्तित्व है। प्रेम द्वारा वे दोनों संयुक्त होते हैं। सम्पूर्ण प्रेम का सार दो सत्ताओं के मिलन में है।

अतः यह स्पष्ट है कि दैवी प्रेम में भी यही सिद्धान्त कार्य करता है। प्रेमी प्रभु जीवों से प्रेम करता है तो जीवों में उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है, और जीव उससे प्रेम करते हैं तो उसकी सत्ता से प्रभावित होते हैं।

यह है एक का दूसरे पर प्रभाव। पर जीव प्रभु के इस प्रभाव को ग्रहण करता हुआ भी प्रभु नहीं हो जाता। वह उसका समानधर्मा सखा बन जाता है। भगवद्भक्ति के इस प्रेम रूप द्वारा जीव का प्रभु में विलय सिद्ध नहीं होता। उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है।

अपवर्ग का अर्थ है, वर्ग से हटकर ऐकान्तिक अवस्था प्राप्त करना। एकान्त एक ही स्थान पर है। वह स्थान है ब्रह्म। ब्रह्म को प्राप्त कर लेना ही ऐकांतिक होना है। ब्रह्मभाव के अतिरिक्त अन्य सभी भावदशायें वर्ग वाली हैं। वर्ग वाली दशायें रागद्वेषमयी होने के कारण दुःखदायिनी हैं। अतः न्यायदर्शन, सूत्र १, १, २२ 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' में दुख से सर्वथा छूट जाने को अपवर्ग कहा गया है। सांख्य १, १ में भी मानव के पुरुषार्थ का अन्तिम उद्देश्य त्रिविध दुखों से अत्यन्त निवृत्ति माना गया है।

स्वर्ग का अर्थ है आनन्द की प्राप्ति। आनन्द को प्राप्त करनेवाला जब तक न हो, तब तक आनन्द की प्राप्ति का अर्थ ही स्पष्ट नहीं हो सकता। जीव को यह आनन्द प्रभु से प्राप्त होता है। प्रभु आनन्दधाम है। जीव के पास यह आनन्द नहीं था। भक्ति के अभ्यास द्वारा यह आनन्द उसे प्रभु से प्राप्त हुआ। अतः जीव उसका उपभोक्ता है। उपभोक्ता की पृथक् सत्ता होनी ही चाहिये। छान्दोग्य उपनिषत्कार ने इसी हेतु जीव की मुक्तावस्था या प्रभु-प्राप्ति की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है :

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳसर्वे च लोका आत्ताः

सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति । (छान्दोग्य प्र० ८ खण्ड १२ सं० ५, ६)

प्रभु को प्राप्त कर जीव मोक्ष की दशा में दिव्य नेत्र और मन द्वारा कामों को देखता हुआ रमण करता है । दिव्यता को प्राप्त जो देवरूप जीव परमात्मा की उपासना द्वारा इस अवस्था को प्राप्त करते हैं, वे सब लोकों और सब कामों को प्राप्त कर लेते हैं ।

उपनिषद् के इस स्थल पर भी जीव को मुक्तिदशा में द्रष्टा का (पश्यन्) रूप दिया है । बन्धन की दशा में उसका यह रूप लुप्त हो गया था और इसके स्थान पर आस्वाद (भोग) के रूप ने प्रधानता प्राप्त कर ली थी । प्रभु का रूप स्वभाव से ही आस्वाद-भोक्ता का नहीं, द्रष्टा का है ।[1] जीव को यह रूप प्राप्त करना पड़ा और परिणामतः प्रभु के समान रूपवाला बनकर वह उसका सखा हो सका ।

अतिमृत्यु का अर्थ मृत्यु का अतिक्रमण कर जाना है ।[2] जीव प्रकृति के सम्पर्क से नाना प्रकार की योनियों में जाता है और एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है । इसी को जन्म-मरण का या आवागमन का चक्र कहते हैं । जीव का वास्तव में न जन्म हुआ है और न उसका मरण ही

१. अनश्नन् अभिचाकशीति । ऋग्वेद १, १६४, २० ।

२. मोक्ष के सम्बन्ध में विविध आचार्यों के मत नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदः मोक्षः । बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्काराः आत्मनो विशेषगुणाः । वैशेषिकसूत्र पर श्रीधर की टीका ।

नित्यसुख-अभिव्यक्तिः इति मीमांसकाः ।

स अहमिति प्रत्यभिज्ञाविषयः । स आत्मा अहम् प्रत्ययेन एव वेद्यः । तस्य ज्ञानम् मोक्षः । वेदान्त । प्रपञ्चविलयो मोक्षः इति शाङ्कराः । त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति, भोगायतनम् शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्यः शब्दादयो विषयः । तस्य त्रिविधस्य बन्धस्य आत्यंतिको विलयः मोक्षः इति ।

अहमर्थस्यैव ज्ञातृतया सिद्ध्यतः प्रत्यगात्मत्वम्, स च प्रत्यगात्मा । मुक्तो अपि अहम् इत्येव प्रकाशते, ततः सर्वो अहम् इत्येव प्रकाशते । अहम् इत्येव आत्मनः स्वरूपम् । मोक्षदशायाम् अहमर्थो अनुवर्तते । रामानुज श्रीभाष्य ।

ब्रह्मप्राप्तिः मोक्षः । ब्रह्मणः पुनरसंक्रान्तिः जीवे । अप्पयदीक्षित । नियोगसिद्धिः, विहितधर्माचरणम्, निषिद्ध-अधर्म-परिहारश्च मोक्षः । प्रभाकर ।

होता है। एक योनि से दूसरी योनि में आविर्भूत होने और प्रथम योनि को छोड़ने का नाम ही आवागमन है। इन दोनों अवसरों पर जीव को असह्य कष्ट सहन करने पड़ते हैं। योगदर्शन में वर्णित क्लेशों में अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का कष्ट सबसे भयङ्कर माना गया है। अनेक साधनों से सम्पन्न होकर जीव जब भगवद्भक्ति द्वारा प्रभु को प्राप्त कर लेता है, तो मृत्यु के इस अपार पारावार को अतिक्रान्त कर जाता है। मृत्यु को पार करके वह अमृतस्वरूप बनता है। प्रभु स्वभाव से ही अमृतरूप हैं। अतः इस दृष्टि से भी जीव प्रभु का सखा ही बनता है।

जीव मुक्ति की अवस्था में देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। देश और काल से ऊपर चिति की अवस्था है। यही देवत्व है। प्रभु सदैव देवत्व में रहते हैं। यह देवत्व प्रेम और ज्ञान की दशा है। जब जीव प्रेम और ज्ञान की ओर प्रयाण करता है, तो वह प्रभु के निकट आ जाता है। प्रभु स्वर्ग में हैं, इस उक्ति का भाव भी यही है। स्वर्ग स्थान-विशेष न होकर चिति की एक ऊर्ध्व अवस्था है। मुक्त जीव प्रभु को प्राप्त कर लेते हैं, या उसमें निवास करते हैं, इसे भी इसी भाव-दशा में समझना चाहिये। मुक्त जीव प्रभु से प्रेम करते हैं, या प्रभु देवों से प्रेम करते हैं। अतः दोनों संयुक्त रहते हैं। भाव की इस विशिष्ट दशा के आधार पर भी जीव के अस्तित्व का खण्डन नहीं होता। दोनों का (जीव और प्रभु का) साथ-साथ रहना ही सिद्ध होता है। यहाँ भी दोनों का सखा भाव ही प्रधान है।

कौन प्रिय है और कौन प्रेमी ? : नारद ने भक्ति को परमप्रेमरूपा कहा है। शाण्डिल्य ने भी भक्ति को ईश्वर में पराकाष्ठा की अनुरक्ति का नाम दिया है। प्रभु के प्रति भक्त का यह अनुराग या प्रेम प्रभु को भी प्रेम-स्वरूप सिद्ध करता है। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है, जिससे अन्य उसकी ओर आकर्षित हों, दूसरे उसे प्रेम करें। आचार्य वल्लभ के शब्दों में प्रेम ही वह सूत्र है जो दो पृथक्-पृथक् पड़े हुए सत्त्वों अथवा तत्त्वों को संयुक्त कर देता है।[1] नारद ने सूत्र : संख्या ५१ में प्रेम

१. भागवत दशम स्कन्ध, उत्तरार्द्ध ११, २५ के सुबोधिनी भाष्य में आचार्य वल्लभ लिखते हैं : 'प्रेमैव बन्धनम् इति भगवत्प्रेम्णैव सा बद्धा तिष्ठति।'

के स्वरूप को अनिर्वचनीय कहा है। मूक प्राणी मिठाई खाकर जैसे उसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रेमी प्रेम के आस्वाद का अनुभव करके उसकी व्याख्या नहीं कर सकता। यह प्रेम सबको प्राप्त भी नहीं होता। किसी विरले भगवद्भक्त के हृदय में ही इसका प्रकाश होता है।

प्रेम भगवान् का ही रूप है, या भगवान् प्रेमस्वरूप है, ऐसा कथन यही सिद्ध करता है कि प्रेम और भगवान्, सरिता और स्रोत, एक ही हैं। भगवान् प्रेम के स्वरूप हैं। प्रेम उन्हीं में केन्द्रित है। अन्यत्र जहाँ कहीं प्रेम का रूप उपलब्ध होता है, वह उन्हीं से आया है। और जैसे समुद्र का जल वाष्प बनकर मेघ के रूप में परिणत होता है, फिर वर्षा के रूप में झरने, नद-नदी आदि का रूप धारण कर, पुनः समुद्र में मिल जाता है, उसी प्रकार प्रेम-स्रोत भगवान् से प्रेम की धारायें निकल कर भक्तों की हृदय-भूमि को सिंचित करती हैं और पुनः प्रेम-स्रोतस्वरूप प्रभु की ओर प्रवणायित होकर उसी में केन्द्रस्थ हो जाती हैं, समा जाती हैं।

जहाँ प्रेम है, वहीं ज्ञान है, वहीं श्रेष्ठता है और वहीं सत्य है। एमेनुअल स्वीडेनबर्ग के शब्दों में 'All good comes from love and all truth comes from wisdom. God is all love and all wisdom.'[1] 'समस्त उत्तमता का स्रोत प्रेम है और समस्त सत्य का स्रोत ज्ञान है। प्रभु समस्त प्रेम और समस्त ज्ञान है।' प्रभु का यह प्रेम जिस योग्य पात्र को प्राप्त हो जाता है, उसके विचार, उद्गार और आचार स्फूर्त, स्निग्ध और सजीव हो उठते हैं, परन्तु जहाँ इसकी प्रदीप्ति न पहुँची, वहाँ विचार बासी, वाणी रूखी और कर्म निर्जीव से लगते हैं। प्रेम किसी वस्तु को चमका देता है। उसके अभाव में वह वस्तु निःसत्व हो जाती है। अतः प्रेम से विमुख होना प्रभु से विमुख होना है और प्रभु से विमुख होना ही मरण है। प्रेम में लोलुपता या कामुकता नहीं होती। काम-भावना जब विस्तृत होकर स्वयं अपने को समाप्त कर देती है, तभी उदात्त एवं आह्लादकारी प्रेम पुष्प का विकास होता है।[2]

---

1. The divine love and wisdom. Page 35.

2. It is not until lust is expanded and eradicated that it develops into the exquisite and enthralling flower of love. Psychology of sex by Havelok Elis. volume 5. Page 133.

सूर्य की उष्णता से प्रेमभाव का कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है। सूर्य की उष्णता समस्त पार्थिव वनस्पतियों की जान है। वसन्त में यह बढ़ती है, तो पृथ्वी से पौदे उगते हैं तथा पत्तों, फूलों और फलों से अलंकृत होते हैं। यही उनका जीवन है। हेमन्त में सूर्य की उष्णता कम होती है, तो जीवन के ये चिह्न भी मिट जाते हैं।

प्रेम और उष्णता दोनों एक दूसरे के अनुरूप हैं, अतएव प्रेम भी उष्ण है। प्रेम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी शरीर में ऊष्मा उत्पन्न करता है, जिससे नाड़ी-संस्थान में क्षुब्धता आती है और उसका प्रभाव शरीर के समस्त अवयवों पर पड़ता है। श्री हरिराय जी ने 'भक्तिद्वैविध्यनिरूपण', श्लोक २ और ३ में इसी हेतु पुष्टिमार्गीय भक्ति को उष्ण भक्ति का नाम दिया है, जिसका लक्ष्य गोपियों के भाव का अनुसरण करते हुए प्रभु के प्रेम को प्राप्त कर मस्त रहना और भगवान् के अधरामृत का सेवन करना है। आध्यात्मिक उष्णता का अनुभव जीवन में उस समय होता है, जब कोई धर्मोपदेष्टा आवेश में आकर बोलता है। ऐसे वाग्मियों की वाणी अन्तर्यामी भगवान् द्वारा प्रेरणा पाती है। अतएव उसमें उष्णता के साथ प्रकाश भी होता है। उष्णता त्याग तथा प्रेमभाव में और प्रकाश श्रद्धा एवं ज्ञान में प्रकट होता है।

केवल प्रभु ही साक्षात् प्रेम है, अतः वही साक्षात् जीवन भी है। अन्य सबको जीवन वहीं से मिलता है। जब जीवन वहाँ से मिलता है, तो रक्षण भी स्वभावतः वहीं से प्राप्त होता है। प्रभु की ये रक्षण-शक्तियाँ भी उसके स्वरूप की भाँति अनन्त हैं। ऋग्वेद के शब्दों में 'नास्य क्षीयन्त ऊतयः' (६. ४५. ३) प्रभु की रक्षण-शक्तियाँ कभी क्षीण नहीं होतीं। प्रभु का अन्त नहीं है, अतएव उसकी शक्तियों का भी अन्त नहीं है।

ऊपर प्रेम के स्वरूप की जो व्याख्या की गई है, उससे प्रभु का प्रेमरूप प्रकट होता है। अतः वह प्रिय है। प्रेम दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करता है। जीव भक्ति-भावना से प्रभु की ओर आकर्षित होता है। अतः वह प्रेमी है। जीव अनेक हैं, प्रभु एक है। अतः प्रेमी अनेक हैं और उन सबके प्रेम का केन्द्र एक प्रभु है।

भारतीय प्रेम-पद्धति अथवा प्रेममार्गीया भक्ति में प्रेम के इसी रूप की प्रतिष्ठा हुई है। वेद ने अनेक स्थानों पर प्रभु को 'अक्र' अर्थात् 'प्रिय' कहा

है। संसार में यह प्रेम कई रूपों में अभिव्यक्त होता है। मित्र-मित्र में प्रेम होता है। पति-पत्नी में प्रेम होता है। राजा और प्रजा में प्रेम की भावना इस समय दिखलाई नहीं देती, पर आर्य संस्कृति ने इसके भी अनेक उदाहरण विश्व के समक्ष प्रस्तुत किये हैं। आर्य राजाओं ने अपना मुख्य धर्म प्रजा का अनुरञ्जन ही समझा है और प्रजा ने भी राजभक्ति से प्रभावित हो राजा के लिये अपना तन, मन, धन सब कुछ समर्पित कर दिया है। प्रजा का अर्थ ही संस्कृत में सन्तति, सुत या पुत्र है। जिस प्रकार माता-पिता प्रेम-भाव से प्रेरित हो अपनी सन्तति का पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार राजा अपनी प्रजा का पालन-पोषण करता है, उसकी हित-चिन्तना में सदैव निरत रहता है। कर्तव्य-पालन की यह निष्ठा प्रेम से ही सम्भव होती है।

वेद में तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य के स्तोत्रों में प्रभु को प्रेम के इन सभी रूपों में प्रकट किया गया है और भक्ति-क्षेत्र में प्रेम-सम्बन्ध की यह प्रणाली मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में होती हुई आज तक चली आई है। फिर भी प्रेम-भाव की जितनी व्यापकता एवं तीव्रता वात्सल्य के रूप में प्रकट हुई है, उतनी अन्य किसी रूप में नहीं। माता का जो प्रेम अपनी कोख से उत्पन्न हुये बच्चे के लिये होता है, वह पति के लिये भी नहीं। पति-प्रेम में कुछ स्वार्थ-भावना भी निहित रहती है, पर पुत्र-प्रेम स्वाभाविक होता है। उसमें स्वार्थ की गन्ध भी नहीं होती। पिता भी माता से बढ़कर प्रेम नहीं कर सकता। पशु-जगत् में पिता को अपनी सन्तान का और सन्तान को अपने पिता का पता भी नहीं रहता, पर माता अपने बच्चे को देखते ही रँभाने लगती है और बच्चा भी अपनी माँ की ओर विशेष रूप से आकर्षित होता है। सहस्रों गौओं के बीच में भी गोवत्स अपनी माँ को पहिचान लेता है और सद्यःप्रसूता गाय या भैंस भी अपने बछड़े या पड़वे को देखकर विविध हुङ्कारों तथा सिर हिलाने की चेष्टाओं द्वारा अपने प्रेम को प्रकट करती है। कवियों ने प्रेम की तीव्रता प्रदर्शित करने के लिये गोवत्स-प्रेम के इस उपमान का अनेक बार उल्लेख किया है। वेद में भी यह उपमान कई स्थानों पर आया है। सामवेद उत्तरार्चिक मन्त्र ११९३ में ऋषि ने 'वत्सं न मातरः' तथा ऋग्वेद १०।९।२ में 'उशतीरिव मातरः' और ऋ० ९-१०४-१ में 'वत्सं न जातं रिहन्ति मातरः' कहकर प्रभु को बच्चा

और साधकों को माताओं का रूप दिया है। जीव और ईश्वर, भक्त और भगवान् के प्रगाढ प्रेम को प्रकट करने के लिये ऐसा उपमान विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता, इससे अधिक आकर्षक उपमान की तो बात ही क्या है।

लोक में पति-पत्नी-प्रेम भी अद्भुत आकर्षण रखता है। यहाँ पति प्रिय है और पत्नी प्रेमिका। पति भी पत्नी से प्रेम करता है, पर वह पत्नी के प्रेम की समता नहीं कर सकता। उसका प्रेम अन्य प्रणालियों, परिवार के अतिरिक्त लोक के अन्य क्षेत्रों, में भी अपने प्रवाह का मार्ग पा लेता है, पर पत्नी का प्रेम उसके पति या पुत्र [और पुत्र भी उसके अपने और पति के ही अपर रूप में है] के अतिरिक्त और कहीं नहीं जाता। लौकिक दाम्पत्य-प्रेम पर जो एक पति और कई पत्नियों की सम्भावना का विधान, हमारे यहाँ कार्य कर रहा है, वह भी अध्यात्म क्षेत्र की भक्ति-भावना से प्रभावित है। अध्यात्म क्षेत्र में प्रभु एक और भक्त अनेक हैं, इसी प्रकार गृहस्थ धर्म में पति एक है, पर पत्नियाँ कई हो सकती हैं। भगवद्भक्ति में दाम्पत्य-भावना ने भी भाग लिया है। ऋग्वेद (१, ७३, ३) में 'अनवद्या पतिजुष्टेव नारी'; १०, ७१, ४ में 'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' तथा १०, ४०, २ में 'मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ' मन्त्र-पद इसी भावना की ओर संकेत करते हैं। लोकमर्यादा के अन्तर्गत पत्नी जब पति के साथ होती है, तो वहाँ अन्य किसी को भी नहीं आने देती। पत्नी पति के और पति पत्नी के सधस्थ अर्थात् आमने-सामने, एक दूसरे के सम्मुख रहते हैं। भक्ति की भूमिका में भी जब भक्त भगवान् के सधस्थ होता है, उस समय कोई भी वासना उसके समीप नहीं रहती। इसी कारण हमने पीछे इस अवस्था को ऐकान्तिक अवस्था कहा है। इस अवस्था को प्राप्त भक्त प्रभु से क्षण भर के लिये भी पृथक् होना नहीं चाहता। यही अवस्था मधुमती भूमिका कहलाती है। अरनेस्ट ई० अनविन अपने ग्रंथ 'Religion and Biology' के पृष्ठ १५१ पर लिखते हैं : 'God is nearest to us. He is the ground. He is the substance. He is the teacher. He is the end. He is the meed for which every soul travaileth.' मधुमती भूमिका में उपलब्ध प्रभु की सधस्थतारूप मधु के लिये प्रत्येक भक्त लालायित रहता है।

जीव तो प्रभु की ओर चलता ही है, कवियों की कल्पना-दृष्टि ने प्रकृति की विविध रूपावलियों को भी उधर ही प्रयाण करते अनुभव किया है। अथर्ववेद १०, ७, ३७ का ऋषि कहता है :

> कथं वातो नेलयति, कथं न रमते मनः।
> किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीः नेलयन्ति कदाचन॥

यह वायु क्यों चला जा रहा है ? ठहर क्यों नहीं जाता ? ये जल किसकी कामना में बहे चले जा रहे हैं ? ये स्थिर क्यों नहीं हो जाते ? इनका मन यहीं रमण क्यों नहीं करता ? प्रतीत होता है, ये सब उस सत्य-स्वरूप प्रभु की खोज में लगे हुये हैं। उसको बिना प्राप्त किये इन्हें चैन कहाँ ? इनकी गति का अन्त तो उसी अनन्त में होगा ?

कवि को पृथ्वी का सूर्य के चतुर्दिक् भ्रमण व्यर्थ नहीं जान पड़ता। आकाश में तारे किसी विशिष्ट उद्देश्य से उसे चमकते प्रतीत होते हैं। यह उद्देश्य प्रभु की सेवा है, भगवद्भक्ति है। पुष्पों के विकसित होने और चिड़ियों के चहचहाने में उसे प्रभु के गुणों का कीर्तन प्रतीत होता है। प्रकृति की यह अनेकरूपता भी मानो प्रयाण करती हुई उस एक प्रभु के साथ एक हो जाना चाहती है। प्रकृति पत्नी है, तो प्रभु पति है।

प्राचीन साहित्य में भक्ति-भावना भक्त को प्रेमी और भगवान् को प्रिय मानकर ही अभिव्यक्त हुई है। परन्तु हमारे परवर्ती साहित्य में तथा ईरान के सूफी साहित्य में इसका रूप परिवर्तित हो गया है। इस रूप में प्रभु प्रेमी, तथा भक्त प्रिय के रूप में दिखाई देता है। प्रभु स्त्री है, तो भक्त पुरुष। एक माशूक़ है तो दूसरा आशिक।[1] वात्सल्य भाव की दृष्टि से कहना चाहें, तो प्रभु माँ है और भक्त बच्चा। वेद ने भी प्रभु को माँ कहा है, जैसे 'त्वं हि नो पिता,

---

1. 'God himself is love & the cause of the creation is love. Through the faculty of love, the parts in the universe are united to their whole, to be absorbed in the supreme fountain of love, which is a supreme beauty & supreme good. The imperfects are named lovers, who seek the help of perfects called beloved.' Shushtery—Outlines of Islamic culture p. 414.

वसो त्वं माता' ऋ० ८, ६, ७, २, पर वहाँ प्रभु का मातृरूप श्रद्धा और आदर का भाजन है। हम यहाँ भक्ति-क्षेत्र के प्रेम-भाव की विवेचना कर रहे हैं, जिसमें प्रभु माँ के रूप में अपने पुत्र भक्तों से प्रेम करता है।

भक्त प्रभु से मिलने का प्रयत्न करता है, पर जब वह प्रयत्न करके थक जाता है और प्रयत्न में कृतकार्य नहीं हो पाता, तो प्रभु को पुकारने लगता है। प्रेमी प्रभु भक्त की पुकार को सुनते ही उसके पास आ जाता है, जैसे माँ अपने बच्चे के रुदन को सुनते ही उसके पास आ जाती है। भक्त को फिर प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसमें सामर्थ्य ही कितना है? अल्प-शक्ति जीव उस सर्वशक्तिमान की शरण में आकर ही समर्थ बन पाता है। प्रभु स्वयं प्रेम-स्रोत-स्वरूप हैं। जैसे बिल्ली अपने बच्चों की चिन्ता में म्याऊँ-म्याऊँ करते हुए बच्चों के पास स्वतः पहुँच जाती है, उसी प्रकार प्रभु भी शरणागत भक्त को अपनाने के लिये स्वयं उसके पास पहुँचते हैं, भक्त के पास प्रकट हो जाते हैं, प्रकाशित हो उठते हैं। भक्त के लिये प्रभु की ओर उन्मुख हो जाना, हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल पिपासा का जागृत हो जाना भर आवश्यक है।

भक्त प्रेम की इस दशा में अपने योग-क्षेम की ओर से एकदम निश्चिन्त रहता है। बच्चे की भाँति उसके योग-क्षेम की चिन्ता माँ को है, भगवान् को है। वह किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी क्यों करे जब उसकी माँ विद्यमान है; और इच्छा भी क्यों करे, जब उसकी आवश्यकताओं और अभावों को समझने और पूर्ण करने के लिये प्रभु उपस्थित हैं? भक्ति-पथ के पथिक की यह बहुत ऊँची अवस्था है।[1] सामान्य अवस्था में तो इच्छा और प्रयत्न के बिना काम ही नहीं चलता।

ऋग्वेद १०, १२५, ५ में वागम्भृणी देवी का कथन है: 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणम्, तं ऋषिम्, तं सुमेधाम्' मैं जिसे चाहती हूँ, उसे ब्रह्मा, ऋषि, मेधावी और तेजस्वी बना देती हूँ। वाग्देवी प्रभु की ही शक्ति है। इस शक्ति के रूप में प्रभु ही, जिसे चाहते हैं, जिससे प्रेम करते हैं, उसे

---

१. गीता के १२वें अध्याय के अन्तिम आठ श्लोकों में प्रभु के ऐसे ही भक्त के लक्षण वर्णित हुए हैं, जिनमें सर्वारम्भ-परित्यागी, अनपेक्ष, अनिकेत, संतुष्ट, शुभाशुभ-परित्यागी आदि गुणों का उल्लेख है।

सब कुछ बना सकते हैं, शक्ति-सम्पन्न कर सकते हैं। कठोपनिषद् २, २३ में भी इसी तथ्य का उल्लेख है। इसके शब्द 'आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' दाम्पत्य-क्षेत्र में भी घट सकते हैं।

भक्त की अशक्ति और प्रभु के प्रेमी रूप का उल्लेख एक उर्दू के कवि ने नीचे लिखी पंक्तियों में किया है :

> आये मह खुद बेताब है जज़्बे मुहब्बत से।
> हक़ीक़त वर्ना सब मालूम है परवाज़ शबनम की॥

प्रातःकाल घास के ऊपर मोती के समान दमकती हुई ओस की बूँदें सूर्य-किरणों के चारों ओर फैलते ही उड़कर ऊपर पहुँच जाती हैं। क्या ये बूँदें अपनी शक्ति से ऊपर उठ जाती हैं? कवि कहता है, नहीं। सूर्य की किरणें ओस की बूँदों के प्रति अपने प्रेम-भाव को प्रकट होने से रोक नहीं सकतीं। बेताब होकर, हाथ फैलाये हुए, वे ओस की बूँदों के पास पहुँच जाती हैं और उन्हें अपनी गोद में उठाकर ऊपर ले जाती हैं। इसी प्रकार प्रभु अपने प्रेमी रूप में भक्त से प्रेम करता हुआ अपनी विशाल भुजाओं से उसे उठाकर अपनी गोद में बिठा लेता है, अपना आनन्द रूप उसके सामने प्रकट कर देता है, उसे आनन्दमय बना देता है।

इमेनुअल स्वीडनवर्ग लिखते हैं : 'The angels do not turn to the Lord, but the Lord turns them to Himself God is both within & without. Therefore an angel can see God, both within & without himself—within himself when he thinks from love, without himself when he thinks about. love'[१]

देवदूत प्रभु की ओर उन्मुख नहीं होते, प्रत्युत प्रभु ही उन्हें अपनी ओर उन्मुख करता है। प्रभु अन्दर भी है और बाहर भी। देवदूत प्रभु को अपने अन्दर देखते हैं जब वे प्रेमपूर्वक उस पर विचार करते हैं, और उसे बाहर देखते हैं जब वे प्रेम पर विचार करते हैं।

प्रभु का प्रेम चारों ओर अभिव्यक्त हो रहा है। सूफी भक्तों के शब्दों

१. The divine love & wisdom P. 5.

में 'दरियाये इश्क़ बह रहा लहरों में बेशुमार' प्रेम का दरिया बेशुमार लहरों में बह रहा है। जो भक्त हैं, साधक हैं, उन्हें इस प्रेम-पारावार के दर्शन होते हैं। सूफी सन्त प्रकृति के दृश्यों में उसी प्रेममयी भगवच्छवि का दर्शन करते हैं। उनकी प्रेम-प्रणाली में खुदावन्द करीम लैला है और भक्त मजनूं है।[1] इस पद्धति का हमारे मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में ही नहीं, राधावल्लभी सम्प्रदाय में भी यह प्रभाव परिलक्षित होता है और अन्त में आकर राम-सम्प्रदाय भी उससे अछूता नहीं रह सका है। दूसरी ओर वैष्णव सखी-सम्प्रदाय का सूफी सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पड़ा है। वैसे प्रेम की दोनों पद्धतियों के सम्मिश्रण या समन्वय की ओर इन सम्प्रदायों के कवियों का ध्यान गया है। जायसी ने जितना रत्नसेन को साधक के रूप में साध्य सुन्दरी पद्मावती के लिये कष्ट झेलते हुए चित्रित किया है, उतना ही पद्मावती को रत्नसेन के लिये। सूर में भी राधा और कृष्ण का अन्योन्य-आकर्षक सौंदर्य, अन्योन्य-प्रेम तथा अन्योन्य-रूप-धारण, इसी प्रभाव की ओर संकेत करता है।

प्रेम के प्रेमी और प्रिय दोनों पक्षों में प्रेम की समतुल्यता होनी चाहिये। एक उर्दू कवि ने लिखा है :

---

१. डा० ताराचन्द ने अपने ग्रन्थ 'इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम् ऑन इंडियन कल्चर' के पृष्ठ ६२-६३ पर सूफी सन्त इब्न सीना का वर्णन किया है। इब्न सीना खुदावन्द करीम या स्वयम्भू परमात्मा को शाश्वत सौन्दर्य की निधि मानते थे जिसका स्वभाव अपने सौंदर्य का प्रकाशन है। सम्पूर्ण सृष्टि में उसी परमप्रभु का सौन्दर्य व्यक्त हो रहा है। सृष्टि के जड़ तथा चेतन पदार्थ दर्पण के समान हैं। उनमें जहाँ जहाँ सुन्दरता है, वहाँ-वहाँ मानों उसी के सौंदर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। सौंदर्य की निधान उस परमसत्ता को इसी हेतु सौन्दर्यमयी आकर्षक स्त्री का रूप प्राप्त हुआ। भक्त इस छविवती के प्रतिबिम्ब को देखकर ही उस पर आसक्त और उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है।

'He conceived of the ultimate reality as eternal beauty, whose nature being self-expression, it saw itself reflected in the universe-mirror. This self-expression is love, for love is appreciation of the beauty which is perfection.' p. 63.

उल्फ़त का मज़ा तब है, जब दोनों हों बेक़रार।
दोनों तरफ हो आग बराबर लगी हुई॥

भक्त और भगवान् के इस प्रेम-सम्बन्ध में दोनों ओर प्रेम की उष्णता होती है। इसी हेतु उसमें प्रेमी प्रिय हो सकता है और प्रिय प्रेमी का रूप धारण कर सकता है। प्रेमी में प्रिय का रूप और प्रिय में प्रेमी का रूप छिपा रहता है। अतः भक्त और भगवान् दोनों ही प्रेमी और प्रिय कहे जा सकते हैं।

—०:०—

चतुर्थ अध्याय

वैदिक भक्ति

वैदिक साहित्य वेदत्रयी के नाम से प्रख्यात है, जो ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीन मार्गों का निर्देश करती है। मानव इन्हीं तीन मार्गों पर चलकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है। जैसा पीछे लिखा जा चुका है, अनेक आचार्य एक मार्ग की सम्पूर्ण उत्तीर्णता को भी अभीष्ट-प्राप्ति का साधन मानते हैं, परन्तु सर्वमान्य सिद्धान्त तीनों मार्गों के समन्वय द्वारा सम्यक् सिद्धि की प्राप्ति में सन्निहित रहा है। ज्ञान बुद्धि से सम्बन्धित है और उपासना श्रद्धा एवं विश्वास पर अवलम्बित है। प्रत्येक कार्य के मूल में इन दोनों का होना अत्यंत आवश्यक है। जिस प्रकार कर्म के लिये ज्ञान और उपासना (बुद्धि और श्रद्धा-विश्वास) की आवश्यकता है, उसी प्रकार ज्ञानार्जन के लिये कर्म (तप) और उपासना (श्रद्धा) तथा उपासना के लिये ज्ञान और कर्म अपेक्षित हैं। उपासना से पूर्व भक्ति के क्षेत्र में स्तुति तथा प्रार्थना आते हैं। स्तुति में प्रभु के गुणों का कीर्तन होता है। किसी के गुणों का ज्ञान उसके स्वरूप को समझने में अधिक सहायता देता है। अतः स्तुति (गुण-कीर्तन) ज्ञानकांड के अन्तर्गत आती है। प्रार्थना में प्रभु से पापों के प्रक्षालन और पुण्य की प्राप्ति के लिये याचना की जाती है। पापमयी दानवता का दमन तथा पुण्यमयी दैवी विभूतियों का समावेश कर्म की अपेक्षा रखते हैं। अनवरत कर्म, सतत अभ्यास के द्वारा ही उनकी सिद्धि संभव होती है। ज्ञान हमें लक्ष्य का बोध कराता है। कर्म उस स्थल तक पहुँचाता है और उपासना उस लक्ष्य के उप अर्थात् समीप आसन अर्थात् आसीन कर देती है। अतः भक्ति के ही तीन अंग, स्तुति, प्रार्थना और उपासना, वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, कर्म एवं उपासना के त्रिमार्ग का रूप धारण कर लेते हैं।

भक्ति तीनों मार्गों की पावन त्रिवेणी का संगम है। ज्ञान और कर्म-सम्पत्ति का प्रभु-अनुग्रह के साथ सामंजस्य ही वैदिक भक्ति का आदर्श है। ज्ञान

और कर्मरूपी वृक्ष का परिणामरूपी फल उपासना कहलाता है। उपासना का अर्थ है प्रभु के समीप बैठना। उसके समीप बैठकर ही हम उसके अनुग्रह-भाजन, कृपा-पात्र बनते हैं।

अध्यात्म क्षेत्र में ज्ञान मानव-मस्तिष्क का आहार है, कर्म उसकी प्राण-श्री है, और उपासना उसके हृदय की विश्राम-भूमि है, सतप्त हृदय की शीतल छाया है। ये सब मिलकर आत्मा को सन्तोष और तृप्ति प्रदान करते हैं। ज्ञान दो प्रकार का है: प्रकृति-सम्बन्धी और आत्मा-सम्बन्धी। कर्म भी दो प्रकार का है: व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक। वेद ने सर्वत्र इस द्विविध ज्ञान एवं कर्म को श्रेयस्कर कहा है और इन दोनों के भी सह-समुच्चय को महत्त्व दिया है। उपासना तो एक प्रकार से प्रभु की ही करनी है, प्रकृति की किसी भी प्रकार नहीं, क्योंकि प्रकृति उसकी सेवक है, स्वामी नहीं। प्रकृति का ज्ञान साधक को स्वतः प्रकृति की समीपता से पृथक् करने वाला है, फिर साधक उसकी प्राप्ति के लिये कर्म क्यों करेगा? कर्म लोक-साधना के लिये अनिवार्य है, पर यह कर्म साधक को लोक से ही संयुक्त न कर दे, अतः फलासक्ति का त्याग करते हुए कर्म करना चाहिये। स्तुति में जो प्रभु के गुणों का कीर्तन होता है, वह प्रभु के स्वरूप का तो उद्घाटन करता ही है, साथ ही सापेक्षता में प्रकृति का भी ज्ञान करा देता है। परिणामतः यह ज्ञान साधक को प्रकृति से हटाकर प्रभु की ओर प्रवृत्त कर देता है। फलासक्ति-रहित कर्म की गणना भक्ति के ही साधनों के अन्तर्गत है। इससे जीवन में दिव्यता एवं पवित्रता आती है, जो प्रार्थना का मुख्य भाग है। प्रभु का ज्ञान मृत्यु से पार करता है, ऐसा वेद ने कई बार कहा है।[१] उपासना प्रभु के समीप बैठने, उसके संदर्शन में सदैव जीवन व्यतीत करने का नाम है। इस प्रकार स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना तीनों मिलकर जीव को उसके घर, अयन, तक पहुँचानेवाले साधन है।

वर्ड्सवर्थ की एक कविता में परमेश्वर को सद्यःजात बालक का वास्तविक घर कहा गया है।[२] बालक उत्पन्न होकर जैसे अभी-अभी अपने घर से

---

१. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१, १८।

२. 'Our birth is but a sleep and a forgetting,

The soul that rises with us, our life's star,

संसार में आया हो, अपना घर छोड़कर किसी दूसरे घर में या बीहड़ वन में पहुँच गया हो। दूसरे से सदा भय लगता है। निर्भयता तो अपने घर पहुँच कर ही प्राप्त होती है। भयभीत बालक अपने माता-पिता की गोद में पहुँचते ही निर्भय और प्रसन्न हो उठता है। जीव भी इसी प्रकार अपने पिता, अपनी माता, अपने वास्तविक घर परमेश्वर को प्राप्त करते ही खिल उठता है। स्तुति, प्रार्थना और उपासनारूपी भक्ति-मार्ग उसे उसके घर पहुँचा देता है। वेद के शब्दों में इस घर तक पहुँचने के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः त्रिपथगा वैदिक भक्ति के स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना तीन अङ्गों को दृष्टि में रखकर ही यहाँ वैदिक भक्ति के स्वरूप का विवेचन किया जायगा।

स्तुति (गुण-कीर्तन)

ईश्वर का दार्शनिक स्वरूप : भक्त प्रभु की सत्ता में विश्वास करता है। भक्ति-भावना ईश्वर के अस्तित्व पर ही आश्रित है। साधारण मानव अपने विविध क्रिया-कलाप में उसे विस्मृत कर देता है, पर भक्त का तो वही प्राण, जीवन एवं आधार होता है। उच्च कोटि का भक्त क्षण भर के लिये भी अपने प्रभु से पृथक् होना नहीं चाहता। पल-पल में उसे ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव होता रहता है। जो अविश्वासी हैं, उन्हें भी प्रभु के अस्तित्व का भान आपत्तियों के आने पर होता है। घोर से घोर नास्तिक भी कष्ट, विघ्न और असफलताओं की विवश दशा में अपने से अधिक शक्तिशाली किसी दैवी

Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar;
Not in entire forgetfulness
And not in utter nakedness.
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home.
Heaven lies about us in our infancy
Shades of the prison-house begin to close.
Upon the growing boy.'

Odes on intimations of Immortality from recollections of early childhood. (Golden Treasury, p. 310, Lines from 57 to 68)

अस्तित्व की कल्पना करने लगते हैं। नीचे लिखे मंत्र में प्रभु की सत्ता का अनुभव ऐसी ही दशाओं में कराया गया है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है :

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेतिघोरमुतेमाहुर्नैषोऽस्तीत्येनम्।
सो अर्यःपुष्टीर्विज इवा मिनाति,श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ (२, १२, ५)

मनुष्य जिस ईश्वर के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं कि वह कहाँ है और चर्म-चक्षुओं से न दिखाई पड़ने पर कहने लगते हैं कि वह है ही नहीं, वह ईश्वर ऐसे अश्रद्धालु एवं अविश्वासी पुरुषों के सामने भयावह परिस्थितियों की अवतारणा में दिखाई देने लगता है। अरि, अदाता, लोभी, संग्रही तथा स्वार्थी व्यक्ति धन, शक्ति आदि का संग्रह करते-करते जब आवश्यकता की सीमा को अतिक्रान्त कर जाता है, न स्वयं उसका उपयोग करता है, न दूसरों को करने देता है, केवल धन की वृद्धि में ही उस धन को लगा रहा है, धन से धन की ही पुष्टि कर रहा है, तब अकस्मात् उसकी संगृहीत गगनचुम्बी पुष्टि-राशि को ऐसा धक्का लगता है कि वह समस्त वर्धमान वैभव एवं ऐश्वर्य का घटाटोप धड़ाम से धराशायी हो जाता है। इस धक्के को लोभी पात्र सहन नहीं कर पाता। उसकी स्वार्थ में सनी समग्र अन्धी आकांक्षायें धूलि-धूसरित हो जाती हैं। विभीषिका की इस विकट वेला में, इस दारुण प्रलय-कांड के पीछे उसे किसी अज्ञात सत्ता का हाथ प्रतीत होने लगता है। ऋषि कहता है : यही ईश्वर है, यही ईश्वर है, मनुष्यो! इस ईश्वर में विश्वास करो।

सामान्य अवस्थाओं में मानव जिस ईश्वर पर विश्वास करता है, उसके अस्तित्व की दो विशेषतायें सत् और चित्, व्यक्तित्व और सज्ञानता नीचे लिखे मंत्र में वर्णन की गई हैं :

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध॥
(ऋ० १।१६५।९)

हे परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु! हे सबसे प्राचीन, सनातन, शाश्वत, परमेश्वर! आपके अस्तित्व से बढ़कर अस्तित्व यहाँ किसी का भी नहीं है। आपकी ही सत्ता सर्वोत्तम सत्ता है। आपके समान कोई ज्ञानी देव भी यहाँ नहीं है।

आप जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ करेंगे, उसे यहाँ के उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले प्राणियों में से कोई भी नहीं जानता। आपका व्यक्तित्व और आपका ज्ञान अद्वितीय है।

प्रभु का अस्तित्व है, प्रभु ज्ञानवान् हैं, इसी के साथ वे आनन्द से ओतप्रोत हैं। प्रभु के आनन्दी रूप का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद का ऋषि कहता है: 'स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' (अथर्व० १०।८।१)

केवल प्रभु का आनन्दी रूप है। उन सर्वश्रेष्ठ ईश्वर को हमारा नमस्कार है। यजुर्वेद १७।८० के अनुसार प्रभु शुद्ध हैं, कान्ति और तेज से युक्त हैं, ऋतपा हैं और प्रकाश-सम्पन्न हैं। इसी प्रकार नीचे लिखे मंत्र में प्रभु को अमृत, स्वयंभू और आनन्द से ओतप्रोत कहा गया है:

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः आत्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
(अथर्व० १०।८।४४)

प्रभु कामना-शून्य, धीर, अमृत, अपने अस्तित्व से सत्तावान् और आनन्द रस से परितृप्त हैं। उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। ऐसे प्रभु को जानकर मानव मृत्यु से भयभीत नहीं होता। ऋग्वेद ८।४३।३१ में प्रभु को 'मंद्र', ऋग्वेद ४।३१।२ में 'मदानां मंहिष्ठ' और ऋग्वेद १०।५०।१ में 'मन्दमानाय' लिखा है। 'मन्द्र' का अर्थ है आनन्दित, 'मदानां मंहिष्ठ' का अर्थ है सबसे अधिक आनन्दपूर्ण और 'मन्दमानाय' का अर्थ है मोदमान, सदैव आनन्दमय। ऋग्वेद ९।११३।७ में भी प्रभु को अजस्रज्योति से सम्पन्न और आनन्दस्वरूप कहा गया है। तैत्तिरीय उपनिषत्कार के शब्दों में 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' जिसने प्रभु के आनन्दस्वरूप को समझ लिया है, वह फिर भयभीत नहीं होता।

प्रभु की पवित्रता का उल्लेख नीचे लिखे मंत्र में है:

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः। (ऋ० ८।४४।२१)

प्रभु सबसे अधिक पवित्र, पवित्र ज्ञानी और पवित्र कवि है।

यजुर्वेद ४०।८ में प्रभु के निर्गुण और सगुण रूपों का वर्णन इस प्रकार हुआ है:

स पर्यगाद् शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

प्रभु प्राकृत गुणों से विहीन होने के कारण निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने के कारण सगुण कहलाता है। मंत्र में अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम् शब्दों द्वारा प्रभु के निर्गुण रूप का वर्णन किया गया है और शुक्रम्, शुद्धम्, कविः, मनीषी, परिभूः और स्वयंभूः शब्दों द्वारा उसका सगुण रूप प्रकट हुआ है। ऋग्वेद ७।४।४ में प्रभु को अकवियों में कवि और मर्त्यों में अमृत कहा गया है। कठोपनिषद् २।५।१ उसे नित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन कहती है।

प्रभु को देश और काल की सीमायें नहीं बाँध पातीं। वह समस्त सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है, असीम है, अनन्त है, सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। अथर्ववेद ४।१६।३ का ऋषि लिखता है:

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्पे उदके निलीनः ॥

प्रभु महान् हैं, इतने महान् कि यह पृथ्वी और वह दूर से दूर तथा समीप भी वर्तमान द्यौलोक तथा इन दोनों के बीच का सब कुछ उनके अस्तित्व में समाविष्ट है। इन सब में वे विराजमान हैं। भूमि का यह विस्तृत समुद्र तथा अन्तरिक्षस्थानीय वाष्प की बृहद् जलराशि उनकी कोखों (बगलों) के पसीने के तुल्य है। और सूक्ष्म वे इतने हैं कि जल की एक स्वल्प बूँद में भी समाये हुये हैं। नीचे लिखे मंत्र भी प्रभु के व्यापक रूप का वर्णन करते हैं:

प्रयदग्नेसहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः। (ऋ० १।९७।५)
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। (ऋ० १।९७।६)

प्रकाश-पूर्ण प्रभु के प्रकाश की किरणें चारों ओर फैली हुई हैं। वह विश्वतोमुख और सबमें समाया हुआ है। कठोपनिषद् २।२० प्रभु को 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' कहती है। यजुर्वेद ४०।५ 'तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥' के अनुसार वह दूर से दूर और निकट से निकट अर्थात् अन्तर्यामी रूप से सबके अन्दर विद्यमान और सबके बाहर भी

वर्तमान हैं। यजुर्वेद ३२।८ 'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' में भी उन्हें सबमें ओतप्रोत और सर्वव्यापक कहा गया है। अथर्ववेद १०।८।१२ ने 'अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तवच्चा समन्ते' मंत्रपद द्वारा प्रभु को अनन्त तथा अन्तवालों को चारों ओर से घेरे हुए बताया है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त ने भी सहस्रशीर्षा, सहस्रपाद[1] कहकर प्रभु की अनन्तता का वर्णन किया है।

प्रभु सर्वशक्तिमान है। मरणधर्मा मानव और दिव्य-गुण-सम्पन्न देवता उसकी शक्ति का माप नहीं कर सकते, ऐसा ऋग्वेद १।१००।१५ में वर्णन आया है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् ने प्रभु की स्वाभाविक विविध शक्तियों का उल्लेख किया है।

स्वयंभू, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप सत्ता एक है, इसका उल्लेख वेद में कई स्थानों पर है। नीचे इस विषय के कुछ मंत्र दिये जाते हैं:

य एक इत्, तमुष्टुहि, कृष्टीनां विचर्षणिः।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥ (ऋ० ६।४५।१६)।
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्॥ (यजु० १३।४)
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव॥ (यजु० २३।३)
वि होत्रादधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ (यजु० ५।१४)
स एष एक एकवृदेक एव॥ १२॥
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति॥ १३॥ (अथर्व० १३।४)

वह प्रभु निश्चित रूप से एक है। देव अनेक हैं, पर देवों का देव परमेश्वर एक ही है। वह एक होकर भी अनेक नामों से पुकारा जाता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सुपर्ण, गरुत्मान् आदि विविध नाम उसी एक परमेश्वर के हैं। वेद ने स्वयं इस तथ्य की घोषणा कई बार की है, जैसे:

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्ससुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ (ऋ० १।१६४।४६)

---

१. जहाँ प्रभु सहस्रशीर्षा और सहस्रपात हैं, वहाँ ऋग्वेद ४।१।११ के अनुसार वे अपादशीर्षा भी हैं।

२. न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्च न शवसो अन्तमापुः।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (यजु० ३२।१)
यो देवानां नामधः एक एव॥ (अथर्व० २।१।३)

प्रभु के नाम :

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।
इन्द्र अभिमातिषाह्ये॥ (ऋ० ३।३७।३)

प्रभु के नाम एक वाणी में ही नहीं, विविध वाणियों में विविध प्रकार के हैं। इस संबन्ध में ऋग्वेद मंडल २ का प्रथम सूक्त देखने योग्य है। उपनिषद् साहित्य में भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद् ५।१२, कैवल्य ८ तथा मनुस्मृति १२।१२३ इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं। परवर्ती साहित्य ने भी इस तथ्य का किसी भी प्रकार प्रत्याख्यान नहीं किया है, ऐसा पीछे लिखा जा चुका है।

इस प्रभु का नाम ओ३म् है। यजुर्वेद ४०।१७ में 'ओ३म् खं ब्रह्म' शब्दों द्वारा उसी प्रभु के नाम का निर्देश किया गया है। 'ओ३म् क्रतो स्मर' यजु० ४०।१५ में जीव को उसी के नाम 'ओ३म्' का स्मरण करने के लिये कहा गया है। मुण्डक उपनिषद् २।४ में इसी नाम-स्मरण को धनुष और आत्मा को शर बनाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य को विद्ध अर्थात् प्राप्त करने का उल्लेख है। माण्डूक्य उपनिषद् ने 'ओ३म् इत्येतदक्षरमिद ऌ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' प्रारम्भ में ही लिखकर प्रभु के इस सर्वोत्तम नाम की सारगर्भ व्याख्या की है। प्रश्नोपनिषद् ५।२ में पर और अपर द्विविध ब्रह्म की संज्ञा ओ३म् ही मानी गई है और आगे सातवें श्लोक में लिखा है कि इसी ओंकाररूप अवलम्बन के द्वारा भक्त उस परब्रह्म को पा लेता है। छांदोग्य उपनिषद् ने भी इसी प्रकार अपने प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही 'ओ३मित्येतत् अक्षरमुद्गीथमुपासीत' लिखकर ओ३म् नामवाले प्रभु की उपासना करने की आज्ञा दी है। तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षावल्ली, अष्टम अनुवाक में ओ३म् की स्तुति है, जिसके द्वारा ब्रह्म की इच्छा करने वाला साधक निश्चित रूप से ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। कठोपनिषद् २।१५, १६, १७, में वेदों द्वारा प्रतिपादित, समग्र, तपश्चर्या एवं ब्रह्मचर्य का एक मात्र लक्ष्य ओ३म् है, ऐसा कहा गया है और लिखा है कि ओ३म् ही अक्षर ब्रह्म है, यही सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है। इसी को

जानकर भक्त की समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं और वह ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

ऋग्वेद ८।१।१ तथा अथर्व० २०।८५।१ में इसी ब्रह्म की उपासना करने के लिये बलपूर्वक निर्देश किया गया है और लिखा है :

माचिदन्यद् विशंसत सखायो मारिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्थ्या च शंसत॥

हे सखा साधको! प्रत्येक यज्ञकर्म में मिलकर कामनाओं को पूर्ण करने वाले परमेश्वर की स्तुति करो। बार-बार उसी के गुणगान गाओ, उसी के नाम का जाप करो। प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी की भी प्रशंसा मत करो, क्योंकि अन्य की स्तुति विनाशकारी है। अथर्ववेद २।२।१ में भी 'एक एव नमस्यो विक्षु ईड्यः' उसी एक प्रभु की स्तुति और उसी के आगे प्रणति का आदेश है।

प्रभु के अतिरिक्त जीव के सामने प्रकृति ही है। अतः वेद उसकी आराधना की आज्ञा नहीं देता। ऋग्वेद ७।३२।१७ में 'अवस्युर्नाम भिक्षते' रक्षा की इच्छा करने वाला साधक प्रभु के नाम की भीख माँगता है। प्रभु का यह नाम ओ३म् है। उसी का जाप करना चाहिये। भक्त इसी नाम का याचक है। यही नाम-जाप, प्रभु का स्मरण भक्त की रक्षा करने वाला है। यही उसका त्राता, अविता और पालक है।

जगत्-सम्बन्धी ईश्वर के गुण

अथर्व० १०।८।३२ में ईश्वर की रचना को काव्य का रूप दिया गया है। यह रचना सृष्टि के निर्माण से सम्बन्धित है। सृष्टि को कुछ वैज्ञानिक एक मशीन के सदृश मानते हैं, जिसमें निश्चित नियम काम कर रहे हैं। ये नियम अपने नियामक की ओर संकेत करते हैं। सृष्टि के निर्माण में इस प्रकार एक सर्वोत्तम बुद्धि का तो हाथ है, परन्तु इसमें जीवन नहीं है। यह बनाई जाती है, परन्तु बढ़ती नहीं। बढ़ना जीवन का चिह्न है। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि लाखों वर्षों से इसी रूप में चले आते हैं। एक जड़ मशीन के पुरजों की भाँति ये चल रहे हैं। सृष्टि की नियमबद्ध व्यवस्था मशीन के रूपक से स्पष्ट हो जाती

है और सिद्ध करती है कि इसका एक निर्माता है, जो महान् ज्ञान से सम्पन्न है। परन्तु सृष्टि में व्यवस्था ही नहीं सौन्दर्य भी है। इस सौन्दर्य से प्रभावित होकर कुछ कवियों ने सृष्टि की उपमा फूल से दी है। फूल की सुन्दरता मानव को विशेष रूप से आकर्षित करती है और सौन्दर्य के स्रोत का भी संकेत देती है। वेद ने सृष्टि को काव्य से उपमित किया है, जिसमें व्यवस्था और सौन्दर्य दोनों ही विद्यमान हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स[1] जीन्स ने अपने ग्रन्थ 'The Mysterious Universe' में लिखा है : 'सृष्टि के नियमों को देखकर मुझे उन नियमों का ध्यान नहीं आता जिनके अनुसार एक मशीन अपना काम करती है, किन्तु उन नियमों का ध्यान आता है, जिनके अनुसार एक रागी गान गाता है या कवि कविता की रचना करता है।'

सृष्टिरूपी काव्य के रचयिता ईश्वर को वेद ने कई बार कवि कहा है। इसके उदाहरण हम पीछे दे चुके हैं। कवि का अर्थ है शब्द करने वाला, वाक्शक्ति का धनी, वाणी का अधिपति। कवि से मिलता-जुलता, उसी का समानार्थी 'वाचस्पति' शब्द है। वेद ने इस नाम से भी प्रभु की स्तुति की है। यह भी विस्मय का विषय है कि रचना का प्रारम्भ आकाश से होता है, जिसका गुण शब्द है। ओ३म् शब्द अव्यय है। उपनिषद्कारों ने एक स्वर से इसी ओ३म् से, अक्षर ब्रह्म से, निखिल सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार की है।

जो उत्पादक है, वही पालक है और वही संहारक है। प्रभु ने सृष्टि उत्पन्न की है, वही उसकी रक्षा कर रहा है और वही इसे अपने में विलय भी करेगा। सृष्टि के प्रभव, विभव और निलय का स्थान ईश्वर ही है। नीचे लिखे मन्त्रों में इसी तथ्य का उल्लेख हुआ है :

न तं विदाथ य इमा जजान ? (ऋग्वेद १०।८२।७)
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता। (यजुर्वेद ३२।१०)
द्यावाभूमी जनयन् देव एकः। (यजुर्वेद १७।१९)

1. 'To my mind, The laws which nature obeys, are less suggestive of those which a machine obeys in its motion than of those which a musician obeys in writing a fugue, or a poet in composing a sonnet.' p. 169

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम । (यजु० १३।४)
यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । (यजु० २५।१३)
येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम । (यजु० ३२।६)
त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेषु ईड्यः । (ऋ० ८।११।१)
अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशत्, व्रतानि देवः सविताभिरक्षते ॥ (ऋ० ४।५३।४)
पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ॥ (अथर्व १०।८।२९)
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥ (अथर्व १०।८।२९)
इन्द्र इव नो महोनां दाता वाजानां नृतुः ।
महां अभिज्ञु आयमत् ॥ (ऋ० ८।९२।३)
इन्द्रो विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ (साम० ६।८।२)
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि । (ऋ० १।२४।१०)
य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम् । (ऋ० ६।२२।१)

मनुष्यो ! क्या तुम उस प्रभु को नहीं जानते, जिसने यह सारा संसार उत्पन्न किया है ?

वही हम सबका जनन और धारण करने वाला है ।

द्यावा से लेकर पृथ्वी तक सब कुछ उसी एक परमेश्वर का उत्पन्न किया हुआ है ।

यह प्रभु उत्पन्न हुए संसार से भी पहिले विद्यमान था । वही इसका जनक और पालक है । उसी ने पृथ्वी से लेकर द्यौलोक तक सबको धारण कर रखा है ।

ये उत्पन्न हुए सूर्य, चन्द्रमा आदि देव उसी की आज्ञा का पालन कर रहे हैं ।

जिसने उग्र द्यौ, दृढ़ पृथ्वी, स्वर्ग और नाकलोक को धारण किया है । जिसने इस अन्तरिक्ष में समस्त लोक-लोकान्तरों को विशेष रूप से नापकर रखा है ।

हे प्रभु ! इस मरणधर्मा जगत् में व्याप्त होकर तुम्हीं इसमें काम करने वाले नियमों की रक्षा कर रहे हो ।

प्रभु को कोई दबा नहीं सकता । वह सबके ऊपर है । वही इन समस्त भुवनों को प्रकाश में लाने वाला और इनकी व्यवस्था की रक्षा करने वाला है । वह देव सविता है, प्रसवकर्ता, उत्पन्न करने वाला है ।

वह प्रभु पूर्ण है। उस प्रभु से यह पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है और सींचा जा रहा है।

प्रभु अभिज्ञ हैं, सबको सब ओर से जानने वाले हैं।

वही तेज और बल के दाता हैं तथा नट की भाँति सब लोगों को नचा रहे हैं, घुमा रहे हैं। वही इस सृष्टि को व्यवस्था दे रहे हैं।

प्रभु समस्त भुवनों के नियन्ता हैं।

उनके नियम अदब्ध हैं। वे किसी के द्वारा दबाये नहीं जा सकते।

प्रत्येक यज्ञ-कर्म में इन्हीं प्रभु की पूजा करनी चाहिये।

ऊपर उद्धृत मंत्रों में प्रभु का उत्पादक, पालक, व्यवस्थापक तथा नियामक रूप स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है। इसके अतिरिक्त प्रभु संहर्त्ता भी हैं। वे इस निखिल जगत् को अपने में लीन भी कर लेते हैं। उनका प्रसन्न वदन जगत् की रक्षा करता है, तो किंचित् भ्रू-भंग इसका विनाश भी कर देता है। ऋग्वेद में लिखा है :

> समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः।
> समुद्रायेव सिन्धवः। (८।६।४)

ईश्वर के क्रोध के आगे समस्त खेती, समस्त उत्पन्न जगत् वैसे ही झुकता हुआ चला जाता है और उनके अन्दर समा जाता है, जैसे नदियाँ प्रणत होकर, नीचे की ओर बहकर चलती हुई समुद्र में समा जाती है।

नीचे लिखे मन्त्र में प्रभु के उत्पादक पालक और संहारक तीनों रूपों का वर्णन है :

> स हि क्रतुः, स मर्यः, स साधुः। (ऋ० १।७७।३)

वह प्रभु क्रतु अर्थात् सृष्टिकर्ता, साधु अर्थात् जगत् का साधक या धारक और मर्य अर्थात् मारक या संहारक भी है।

पुरुषसूक्त में 'ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः' शब्दों द्वारा इस विराट ब्रह्मांड को उसी प्रभु से उत्पन्न हुआ माना गया है। इस सूक्त में सृष्टि के चर और अचर समस्त पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन है। अघमर्षण सूक्त

में भी सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है। पुरुषसूक्त[1] के अनुसार पुरुष परमात्मा असंख्य शिर, आँख और पैरों वाला है। वह इस विश्व को सब ओर से व्याप्त करके इससे दश अंगुल आगे भी विराजमान है। जो कुछ हो चुका है या होने वाला है, जो अन्न से बढ़ता है और जो अमृतरूप मोक्ष है, उस सबका स्वामी पुरुष ही है। यह दृश्य-अदृश्य ब्रह्मांड उसकी महिमा है। पुरुष इससे कहीं अधिक महान् है। समग्र चराचर पृथिव्यादि भूत उसका एक अंश हैं। उसके तीन अंश अविनाशी मोक्षस्वरूप में सदैव रहते हैं। यह त्रिपाद् पुरुष सबके ऊपर या सबसे पृथक् प्रकाशित हो रहा है। उसका एक पाद् यह जगत् बार-बार उत्पत्ति और प्रलय के चक्र में पड़ता है। वही खाने वाले और न खाने वाले चेतन और जड़ दोनों में विशेष रूप से व्याप्त होकर स्थित है। उसी से यह विविध प्रकार के पदार्थों से प्रकाशमान विराट् ब्रह्मांड उत्पन्न होता है। पुरुष इस विराट् के ऊपर अधिष्ठाता है। वह इस भूमि के आगे और पीछे उत्पन्न सभी वस्तुओं को अतिक्रान्त कर जाता है। उसी पूजनीय सर्वग्राह्य पुरुष से दधि आदि भोग्य पदार्थ उत्पन्न हुए। वन के सिंह आदि, ग्राम के गौ आदि और वायु में विचरण करने वाले पक्षी आदि उसी ने बनाये हैं। उसी ने दोनों ओर दाँतों वाले अश्व आदि को उत्पन्न किया है। उसी ने गाय, बकरी और भेड़ को बनाया है। उसी पूज्य सर्वहुत पुरुष से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुए हैं। उसने यह जगत् यज्ञरूप बनाया है। इसी को देखकर देव, साध्य और ऋषियों ने यज्ञ किया। पुरुष के चार अंगों के समान समाज में मुखरूप ब्राह्मण, बाहुरूप क्षत्रिय, जंघारूप वैश्य और पैररूप शूद्र हैं। ये चारों मिलकर समाजरूपी यज्ञ के सम्पादक हैं। इस ब्रह्मांड में चन्द्रमा पुरुष के मन से, सूर्य चक्षु से, वायु और प्राण श्रोत्र से, अग्नि मुख से, अन्तरिक्ष नाभि से, द्यौ शिर से, भूमि पैरों से और दिशायें श्रोत्र से उत्पन्न हुई हैं। इसी प्रकार विभिन्न लोकों का निर्माण हुआ है। देवों ने उस ग्रहण करने योग्य पुरुष से जिस यज्ञ का विस्तार

---

१. यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का नाम पुरुषसूक्त है, जिसमें २२ मन्त्र हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त ९० का भी नाम पुरुषसूक्त है, जिसमें १६ मन्त्र हैं और जो स्वल्प क्रमान्तर के साथ यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त में भी हैं। छः मन्त्र वहाँ अधिक हैं। ऊपर हम यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त के आधार पर सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन दे रहे हैं।

किया, वह यज्ञ इस ब्रह्मांड में भी हो रहा है। इसकी वसन्त-ऋतु घी, ग्रीष्म-ऋतु ईंधन और शरद्-ऋतु हविष्य है। इस प्रकार व्यक्ति में, समाज में और ब्रह्मांड में सर्वत्र यज्ञ का रूप ही परिलक्षित हो रहा है। इस यज्ञ की सात परिधियाँ और इक्कीस समिधायें हैं। शरीर में सात भूः, भुवः आदि स्थान सात परिधियाँ हैं और सात रस, रक्त आदि धातुओं के सत्, रज, तम तीन भेदों से २१ भेद समिधायें हैं। ब्रह्मांड में भूः, भुवः आदि सात लोक सात परिधियाँ है और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पंचतन्मात्राओं के सत्-रज-तम भेदों से इक्कीस भेद समिधायें हैं। शरीर में दो कान, दो आँखें, दो नासिका-रंध्र और एक मुख (रसना) ही सप्तर्षि हैं, आत्मा यजमान है और दो हाथ, दो पैर, पायु, उपस्थ और मुख (वाणी) सात इस यज्ञ के रक्षक कर्मचारी हैं। प्राण और अपान दो सतत जागरूक सत्रसद् देव द्वारपाल हैं। ब्रह्मांड में इन्हीं के समानान्तर द्यौलोकस्थ सप्तर्षि हैं, हिरण्यगर्भ पुरुष यजमान है और भूमि, जल, अग्नि, वायु, विद्युत्, अन्तरिक्षस्थ वाष्पराशि और अन्तरिक्ष कर्मचारी हैं। ऋत और सत्य के रूप में फैले हुए दो नियम सतत जागरूक चौकीदार हैं। सामाजिक यज्ञ में सात प्रकार के ब्राह्मण ऋषि, सामाजिक संगठनरूपी व्यक्तित्व यजमान, सात प्रकार के शूद्र कर्मचारी और द्विविध क्षत्रिय रक्षक द्वारपाल हैं। सात प्रकार के ब्राह्मणों में पौराणिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, कवि, कर्मकांडी, पुरोहित और गुरु की गणना है। सात प्रकार के शूद्रों में नापित, धीवर, वारी, माली, कुम्भकार, शिल्पकार और मार्जनीकार आते हैं। दो प्रकार के क्षत्रिय प्रतीहार और सैनिक हैं। वैश्य हवि देने वाले हैं। मानस यज्ञ में भी सात गायत्री आदि छन्द सात परिधियाँ हैं और श्रद्धा, काम, स्मृति, मनीषा, जूति, संकल्प, धृति, असु, वश आदि २१ समिधायें हैं। प्रत्येक लोक के साथ भी ये परिधियाँ और समिधायें लगी हुई हैं। लोक के ऊपर के सात आवरण समुद्र, त्रसरेणुसहित वायु, मेघमंडलस्थ वायु, वृष्टि-जल, इसके ऊपर की वायु, सूक्ष्म धनंजय वायु तथा सूत्रात्मा वायु हैं। पाँच तन्मात्रा, पाँच स्थूलभूत, दश इन्द्रियों के स्थान और एक अन्तःकरण मिलकर २१ समिधायें हैं। इस यज्ञ द्वारा ज्ञेय पुरुष परमात्मा को ही देव अपने हृदय में बाँधते हैं, उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं; अथवा इस यज्ञ में पुरुष (जीव) को ही पशुरूप में बाँधते हैं, पशु के समान कर्तव्य-भार-वहन का उत्तरदायित्व उसी के ऊपर है। यज्ञ-

भाव से ही यज्ञ करना प्रथम या मुख्य धर्म है। पूर्वमहिमान्वित साध्य देवों ने इसी के द्वारा दुःखरहित मुक्ति-सुख को प्राप्त किया था।

हमारे सौरजगत् का पुरोहित सूर्य, जो अपने समस्त ग्रह और उपग्रहों को प्रकाश प्रदान करता है, सबसे पहिले उत्पन्न हुआ। अन्न आदि की उत्पत्ति का कारण वही है। ब्रह्माण्ड की रचना में रसरूप जल के पश्चात् पृथ्वी उत्पन्न हुई है। त्वष्टा विश्वकर्मा ने निर्माण करते हुए इसे यह रूप प्रदान किया है। मर्त्य मानव भी देवत्व (ज्ञान-प्रदीप्ति) और आजानम् (कर्म-सम्पत्ति) इसी प्रकार आन्तरिक रसरूप भावना के पश्चात् ही प्राप्त करता है। अन्धकार से परे जिस आदित्य-वर्ण पुरुष से यह संसार उत्पन्न हुआ है, उसी को जानकर मानव मृत्यु को पार करता है। अपने घर अमृत-स्वरूप मोक्ष-धाम में पहुँचने का और कोई मार्ग नहीं है। यह पुरुष ही प्रजापति है, जो अजायमान होकर भी विविध रूपों की सृष्टि करता है। उसी में समस्त भुवन ठहरे हुए हैं। धीर पुरुष इस विश्व के कारण-रूप उस पुरुष का दर्शन करते हैं। शोभा और ऐश्वर्य उस पुरुष की दो स्त्रियाँ हैं। दिन और रात इसकी दो बगलें (पार्श्व) हैं, नक्षत्रावलि रूप और सूर्य-चन्द्र दो अश्वी इसके फैले हुए मुख के समान हैं। ऐहिक और पारलौकिक सब सुख इसी पुरुष से प्राप्त होता है।

नासदीय सूक्त में भी सृष्टि विद्या का विषय है। इसके अनुसार सृष्टि-रचना से पूर्व की अवस्था को न सत् कहा जा सकता है, न असत्। उस समय न कोई लोक था, न व्योम। यह गहन गंभीर जल भी, न जाने, उस समय किसकी शरण में पड़ा था, किससे घिरा हुआ था? उस समय न मृत्यु थी, न अमृत, न रात्रि और न दिन का कोई चिह्न। केवल एक ही तत्त्व उस समय, अपनी शक्ति के साथ वर्तमान था। उससे अन्य और कुछ नहीं था। तम ही तम था और यह सब कुछ चिह्न-रहित सलिल उसी से आच्छादित था। आभु अर्थात् चारों ओर अपने अस्तित्व का विस्तार करने वाला जो एक प्रकृति-तत्त्व शून्य से ढका हुआ था, वह तप की महिमा से प्रकट हुआ। उससे भी पहले काम विद्यमान था, जो मन का प्रथम रेत है, मूल कारण है। कवियों ने अपने बुद्धि-बल से हृदय में खोजकर सत् के, अस्तित्व वाले संसार के, बन्धु को असत्, इसी ऊपर वर्णित शून्यावस्था में प्राप्त किया।

इनकी किरण तिरछी फैल रही थी। नीचे भी जा रही थी और ऊपर भी आ रही थी। वहाँ रेतोधा, वीर्य अथवा कारण को धारण करने वाले थे, महिमामय तेजस्वी थे। स्वधा (स्थित्यात्मक शक्ति) इधर थी और प्रयति (गत्यात्मक शक्ति) दूसरी ओर थी। कौन निश्चित रूप से जानता है? कौन यहाँ कह सकता है कि यह विविधरूपा सृष्टि कहाँ से आ गई? देव इस रचना के पश्चात् उत्पन्न हुए हैं, अतः यह सृष्टि जहाँ से आविर्भूत हुई है, उसे कौन जानता है? परमव्योम में विराजमान जो इस सृष्टि का अध्यक्ष है, पता नहीं, वह भी इसे जानता है या नहीं जानता।

नासदीय सूक्त के ऋषि ने काव्यमय शैली में जिस प्रलयावस्था और उसके पश्चात् की रचना का वर्णन किया है, उसमें प्रलय काल की अज्ञात अवस्था को तम या शून्य से उपमित किया है। उसने इस शून्य से आवृत एक आभुतत्त्व का भी उल्लेख किया है, जो तप की महिमा से प्रकट हुआ। तप से भी पहले काम था। उपनिषदों में भी काम को 'स अकामयत' अथवा 'स ऐक्षत' शब्दों द्वारा तप से पूर्व रखा गया है। इसके पश्चात् स्वधा और प्रयतिः आते हैं, जो अघमर्षणसूक्त के सत्य और ऋत के समान हैं। रेतोधा और महिमान शब्द सतोगुणी, तेजस्वी तथा प्रकाशमान परमाणुओं का भी संकेत देते हैं और दिव्यता से ओतप्रोत मुक्तात्माओं का भी। जड़ तथा चेतन दोनों ही प्रकार के देव रचना के पश्चात् आविर्भूत हुए हैं। जड देव ज्ञान-विहीन हैं, परन्तु सज्ञान चेतन देवों को भी उस अज्ञात अवस्था अथवा अपने से पूर्व की रचना का क्या पता हो सकता है?

वेद इस प्रकार जगत् की रचना, रक्षण और संहार का केन्द्र ईश्वर को मानता है। तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली, प्रथम अनुवाक में भी स्पष्ट रूप से इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है :

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।'

जिससे ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, तदनन्तर जिसमें जाकर प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी ब्रह्म को जानो, उसी की उपासना करो।

जगत्-रचना का उद्देश्य :

यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय ।
तस्य ते शर्मन्नुपसद्यमाने रायामदेव तन्वा३ तना च ।(ऋ० ६।४९।१३)।

सर्वव्यापक ईश्वर ने प्रकृति-पाश से बाधित मनुष्य के उद्धार के लिये भूः, भुवः, स्वः अथवा पृथ्वी, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्यौ, तीन लोकों का निर्माण किया है, जिससे वह रचना के नियमों को समझकर, इन नियमों के अधिष्ठाता प्रभु की शरण में जा सके। उसकी शरण प्राप्त हो जाने पर ही जीव का उद्धार होता है और वह अपने तनु अर्थात् स्वरूप, इसके विस्तार तथा ऐश्वर्य आदि को प्राप्त कर हर्षित हो उठता है।

जीव से सम्बन्धित ईश्वर के गुण :

ईश्वर का जीव के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर अथवा यह सम्बन्ध दृश्यमान जगत् की सापेक्षता में समझा जा सकता है। प्रत्यक्ष पदार्थ सबके सब परिवर्तनशील पुतले हैं, विशिष्ट परमाणुओं के विशिष्ट समुदाय हैं, जिनकी स्थिति कुछ काल तक रहती है। उसके पश्चात् परमाणु बिखर जाते हैं और एक नवीन समुदाय को जन्म देते हैं। मिट्टी के एक छोटे से ढेले से लेकर गगनचुम्बी अट्टालिकाओं एवं पर्वतमालाओं तक, विभिन्न योनियों के लघु शरीरों से लेकर विशाल शरीरों तक और सौर जगत् की पृथ्वी से लेकर सूर्य तक, सबकी इस विषय में एक समान स्थिति है। बड़े-बड़े राजप्रासाद आज खंडहर बने हुए हैं। शरीर तो न जाने कितने बनते और बिगड़ते देखे जाते हैं। कुछ सरितायें और समुद्र सूख गये। उनके स्थान पर निर्जन मरुस्थल साँय-साँय कर रहा है। कहीं पर्वतमालायें भी निकल आई हैं। खेतों के स्थान पर निकेतन और निकेतों के स्थान पर खेत बन गये हैं। गर्व से सिर ऊँचा उठाने और अचल कहलाने वाले अनेक पर्वत आज समुद्र में डूबे हुए हैं। प्रकृति की यह परम्परा पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि पर भी एक दिन लागू होगी। यह सब परिवर्तन मेरे क्या, किसी भी जीव के द्वारा सम्पादित नहीं होता। मैं स्वयं एक शरीर से दूसरे शरीर में भेजा जाता हूँ। जिन वस्तुओं को मैं उपयोग में लाता हूँ, उनकी उत्पत्ति में और उत्पादन के नियमों में मेरा कोई हाथ नहीं है। यह कौन है, जो प्रत्यक्ष जगत् के पीछे बैठा हुआ अज्ञात रूप से यह सब कर

रहा है ? वह है, ऐसा मेरा और सबका अनुभव सिद्ध कर रहा है। सन्तों, भक्तों, कवियों, वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने इसी सत्ता को परमेश्वर कहा है।

पाश्चात्य विचारकों के अनुसार जीव इस परमेश्वर को सर्वप्रथम नियामक, शासक और दंडदाता के रूप में अनुभव करता है। प्राकृतिक परिवर्तनों में कार्य करने वाले नियमों का वह नियामक है, प्रकृति और जीव दोनों पर शासन करने वाला वह शासक है और जीव को उसके शुभ-अशुभ कर्मों का फल देने और एक योनि से दूसरी योनि में भेजने के कारण वह दण्डदाता है या न्याय करने वाला है। जीव इन तीनों रूपों में उसकी शक्ति से भयभीत और त्रस्त रहता है और उसके महत्त्व एवं ऐश्वर्य से आकर्षित भी होता है। उसकी महान सत्ता के सम्मुख अपनी क्षुद्रता, उसकी सर्वशक्तिमत्ता की तुलना में अपनी विवशता और उसकी सर्वज्ञता की अपेक्षा में अपनी अल्पज्ञता की अनुभूति धीरे-धीरे जीव को प्रभु की ओर खींच लाती है। उसे समग्र परिवर्तनशील संसार में कार्य करने वाले नियम अपने नियामक का संदेश देते हुए प्रतीत होने लगते हैं। उसे कुछ ऐसा अनुभव होने लगता है कि उसके उपयोग में आने वाली समस्त सामग्री उस परमेश्वर ने ही प्रदान की है। अपने नियामक, शासक एवं दंडदाता के उदार दान का अनुभव करके वह कृतज्ञतापूर्वक उसके चरणों में झुक जाता है। जिसकी शक्ति से भयभीत होता था, उसी की उदारता और दयालुता से श्रद्धालु बनता है। ईश्वर को वह अपना स्वामी समझने लगता है, जिसकी दया पर उसका जीवन अवलम्बित है और जो उसके कर्मों के अनुकूल फल-प्रदाता भी है।

ईश्वर को अपना स्वामी मानकर जीव फिर उससे पराङ्मुख नहीं होता। उससे भागने या दूर हटने की अपेक्षा उसके सामीप्य-लाभ की आकांक्षा करने लगता है, जिससे वह उसकी कुछ सेवा कर सके। भक्ति के क्षेत्र में, इसी हेतु, सर्वप्रथम सेवा की भावना जागृत होती है। दास्यभक्ति का आरम्भ इसी भावना से होता है।

दास्यभक्ति में भक्त प्रभु को अपना स्वामी और इष्ट देव समझता है और अपने को उसका दास, सेवक और अनुचर। अपना वैभव, अपना सर्वस्व उसे उसी प्रभु का दिया हुआ प्रतीत होता है और उसका सर्वोत्तम उपयोग भी उसे यही समझ पड़ता है कि उस समग्र वैभव-संसार को वह अपने स्वामी

की सेवा में ही लगा दे। इस भावना से भावित हो भक्त प्रभु की सेवा में अपने सर्वस्व की आहुति चढ़ा देने के लिये सन्नद्ध हो जाता है। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता, जो उसके स्वामी को रुचिकर न हो। प्रभु की रुचि उसकी अपनी रुचि बन जाती है। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का परित्याग होने लगता है। अपने हृदय की निष्कलुषता और प्रभु की अनुकूलता सम्पादन करने का यही सर्वोत्तम मार्ग है। दास्यभक्ति इसी हेतु भक्ति की भूमिका में सर्वप्रथम स्थान पाती है। प्रभु की समीपता का अनुभव, उनके संदर्शन में जीवन व्यतीत करने की भावना, प्रभु के प्रतिकूल आचरण न करने का संकल्प, अपने प्रत्येक कार्य का सतत जागरूक रहकर आलोचन करना आदि सब साधन भक्त को ऐसी अवस्था में ले जाते हैं, जिसमें वह अपने प्रभु की प्रसन्नता सम्पादित कर सके।

प्रभु की सेवा का सातत्य भक्त को प्रभु के और भी समीप ले आता है। प्रभु के दया, दाक्षिण्य, महत्त्व और ऐश्वर्य का अनुभव, उसके गुणों का गान, कीर्तन और स्मरण भक्त को अपने और प्रभु के बीच में जिस दूरी या अन्तर की प्रतीति कराते थे, वह अन्तर समीप रहते-रहते, सेवा और उपासना करते-करते दूर होने लगता है। भक्त भगवान् के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है और उसके परिवार का एक अङ्ग बन जाता है। प्रभु उसे अपना सगा-सम्बन्धी प्रतीत होने लगता है। प्रभु मेरे हैं, मैं उनका हूँ। वे मेरे पिता हैं, पोषक हैं, पालक हैं। मैं उनका पुत्र हूँ, पोष्य हूँ, पालित हूँ। ऐसे सम्बन्ध की अनुभूति भक्त को प्रभु के और भी अधिक समीप खींच लाती है।

प्रभु में पितृभावना से भी बढ़कर मातृभावना का महत्त्व है। पुत्र पिता से प्रेम तो करता है, पर साथ ही डरता भी है। अतः पितृभावना प्रभु और भक्त के बीच में कुछ अन्तर रखती है। यह अन्तर मातृभावना में दूर होता है। माता प्रेम की मूर्ति है, ममत्व की साक्षात् प्रतिमा है। उससे भय नहीं होता। पुत्र उसके समीप निःशङ्कभाव से चला जाता है। वैदिकभक्ति में यह मातृत्वभावना स्पष्ट रूप से प्रकट हुई है। मातृत्वभावना का अपर रूप वात्सल्यभाव है। पुत्र माँ से प्रेम करे या न करे, पर माता तो पुत्र से प्रेम करेगी ही। वात्सल्यभावना का क्षेत्र व्यापक है। मानवक्षेत्र को अतिक्रान्त करके यह पशु एवं पक्षियों तक में पाई जाती है। दासत्व की दूरी इस पितृत्व

और मातृत्व अथवा वात्सल्य की सम्बन्ध-भावना में विनष्ट हो जाती है। रही-सही दूरी को दाम्पत्यभावना दूर कर देती है। भक्ति-क्षेत्र में स्वामी और पितारूप प्रभु के प्रति जो श्रद्धाभावना थी, वह मातृभावना में कम होती है और उनके प्रति जो प्रेम-भावना में न्यूनता थी, वह आधिक्य प्राप्त कर लेती है। दाम्पत्यभावना में श्रद्धा के स्थान को प्रेम विशुद्ध रूप से ग्रहण कर लेता है। प्रेम दूरी नहीं, अत्यंत नैकट्य चाहता है। और यह उसे दाम्पत्यभावना में प्राप्त हो भी जाता है। पति तथा पत्नी प्रेम द्वारा एक दूसरे के सामने रहते हैं, जो ऊपर की अवस्थाओं में संभव नहीं है। शृङ्गार, मधुर अथवा उज्ज्वल रस भक्ति-क्षेत्र में इसी कारण अधिक अपनाया भी गया है।

भक्ति-क्षेत्र की चरम साधना सख्यभावना में समवसित होती है। जीव ईश्वर का शाश्वत सखा है। दोनों सयुजा बन्धु हैं। प्रकृतिरूपी वृक्ष पर दोनों बैठे हैं। जीव इस वृक्ष के फल चखता है और अपने को ईश्वर के सखाभाव से पृथक् पाता है। प्रकृतिरूपी वृक्ष के फलों का आस्वादन जब जीव को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता, तभी वह अपने मूलभाव को, भगवान् के बन्धुत्व को, प्राप्त कर पाता है। ईश्वर साक्षी, चेता और निर्गुण है। जीव भी उसका समानधर्मा सखा बनकर इसी रूप को प्राप्त कर लेता है। इस भाव में न दास का दूरत्व है, न पुत्र का संकोच है और न पत्नी का अधीनभाव है। ईश्वर का सखा जीव स्वाधीन है, समस्त मर्यादाओं से ऊपर है और अनादिकाल से उस वरेण्य वरुण का बन्धु है, पवमान प्रभु का प्यारा साथी है। जैसा वह है, वैसा यह। प्रकृति की पराधीनता में पड़कर जीव दुखी था, द्वन्द्व और संघर्ष में पड़ा था, अब स्वाधीनसखा के रूप में आनन्दी है। आनन्द से ही वह विरहित हुआ था। अब प्रभु का सयुजा और सखा बनकर फिर सानन्द हो गया। उसकी यात्रा समाप्त हो गई। भक्तिक्षेत्र में सख्य-भावना इसी कारण ऊर्ध्वस्थान पर स्थित है।

संसार के प्राचीनतम साहित्य वेद में भक्तियोग के ये सभी स्तर विद्यमान हैं। वेद प्रभु को सृष्टि का व्यवस्थापक, शासक, राजा, दंडदाता, जीवों को कर्मानुसार फल देने वाला, न्यायी, स्वामी, पिता, माता, बन्धु और सखा सभी रूपों में प्रकट करता है। इन रूपों से सम्बन्धित मन्त्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

राजा : निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः । (ऋ० १, २५, १०)
नियमों को धारण किये हुए, शोभनकर्मा, वरणीय प्रभु अपनी समस्त प्रजाओं के अन्दर राज्य करने के लिये बैठे हुए हैं ।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वंचति यो निलायं चरति यः प्रतंकम् ।
द्वौ सन्निपद्य यन्मंत्रयेते, राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ।। (अथर्व० ४, १६, २)
जो मनुष्य खड़ा है, या चलता है, या दूसरों को ठगता है, या छिपकर काम करता है, या दूसरों को आतंकित करता है, या दो मनुष्य बैठकर कुछ गुप्त मंत्रणा करते हैं, इनसे पृथक् तीसरा वरणीय, राजा परमेश्वर इन सबके कार्यों को जानता है ।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात् न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिवःस्पशः प्रचरन्ती दमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ।।(अथर्व ४,१६,४)

दंडदाता राजा परमेश्वर के दंड से बचने के लिए यदि कोई जीव द्यौ-लोक का अतिक्रमण करके परे से परे भी जाना चाहे, तब भी वह उस ईश्वर की दृष्टि से बच नहीं सकता । प्रकाश-स्वरूप इस परमेश्वर के दूत इस ब्रह्माण्ड को अतिक्रान्त करके भी देख रहे हैं और सर्वत्र विचरण कर रहे हैं ।

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वती मनु ।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत् ।। (ऋ० ८, २१, १८)
विलक्षण शक्ति से सम्पन्न एक परमेश्वर ही सच्चे राजा हैं । अनेक जीव जो राजा कहलाते हैं, वे राजक हैं, उमराव हैं, छोटे-छोटे राजा हैं । ईश्वर जिस ऐश्वर्य-सरस्वती को मेघ की भाँति सहस्रों धाराओं में प्रवाहित कर रहे हैं, उसी का एक छोटा सा भाग दानरूप में इन्हें भी प्राप्त हो गया है ।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (यजु० २३, ३)
समग्र सृष्टि चार बृहत् विभागों में विभाजित है : १ निमिषतः = पलक खोलने और बन्द करने की भाँति संकुचन और विकसनवाली अचर जड़ भूमि, पर्वत आदि की सृष्टि ; २ प्राणतः = प्राणवाली जो बढ़ती और अपने समान अन्य को उत्पन्न करने में समर्थ, वृक्ष वनस्पति आदि; ३ चतुष्पद् = चार पैरोंवाले

पशु आदि; और ४ द्विपद् = मानव। इन चारों प्रकारों की सृष्टि का राजा और और शासक ईश्वर है।[1]

सबका अधिष्ठाता : यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। (अथर्व० १६,४,१) जो उत्पन्न हो चुका है और जो उत्पन्न होने वाला है, उस सबका अधिष्ठाता वही एक परमेश्वर है।

यो भूतानामधिपतिः यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे महतो महांस्तेन गृह्णामि त्वामहम्॥ (यजु० २०,३२)

जो समस्त भूतों का अधिपति और समस्त लोकों का आश्रय है। जो स्वयं महान् है और इस महान् संसार का ईश्वर है।

न्यायकारी : मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चित्, अपृणन्तमभिसंयन्तु शोकाः॥
(ऋ० १, १२५, ७)

जो दूसरों को प्रसन्न और सन्तुष्ट करते हैं, शोभन-ज्ञान-सम्पन्न और धार्मिक नियमों का पालन करने वाले हैं, वे कभी पापमयी दुर्गति को प्राप्त नहीं करते, नष्ट नहीं होते। परन्तु जो दूसरों को दुख देते हैं, वे शोक से संयुक्त होते हैं।

शन्नो भवतु अर्यमा। (यजु० ३६, ९)
न्यायकारी परमेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो।

यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमंगिरः (ऋ० १, १, ६)
जो दानी है, भगवान् उसे शुभ फल देते हैं।

सोऽर्यः पुष्टीर्विज इव आमिनाति। (ऋ० २, १२, ५)
जो स्वार्थी है, प्रभु उसकी सम्पत्ति को नष्ट कर देते हैं।

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिराः तेषां श्रवांसि उत्तिर॥ (ऋ० १, ११, ७)

परमेश्वर मायावी, छली, शोषक को मायाद्वारा ही नष्ट कर देते हैं। मेधावी इस रहस्य को समझते हैं। उन्हीं के यश को प्रभु ऊँचा करते हैं।

---

१ लेखक ने अपने निबन्धसंग्रह "प्रथमजा" में रचना के इन चारों प्रकारों की विस्तृत व्याख्या की है।

दयालु : यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः ।

(ऋ० ७, ८७, ७)

प्रभु पाप करने वाले व्यक्ति पर भी दया करते हैं । अतः हमें उन वरणीय प्रभु की संदृष्टि में पाप-रहित जीवन व्यतीत करना चाहिये ।

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चाद् अघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ।

(ऋ० २, ४१, ११)

प्रभु की दया से ही पाप हमारे पीछे नहीं पड़ता और शुभ फल हमारे आगे आ जाता है ।

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं, भिषक्ति विश्वं यत्तुरम् ।
प्रेमन्धः ख्यत्, निःश्रोणो भूत ॥ (ऋ० ८, ७९, २)

परम दयालु परमेश्वर नङ्गे को ढक देते हैं, रुग्ण एवं व्यथित की व्यथा को भेषज देकर दूर कर देते हैं, अन्धा उनकी कृपा से देखने लगता है और लँगड़ा-लूला चलने की शक्ति प्राप्त कर लेता है ।

शासक और स्वामी : पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः । (ऋ० ६, ४५, १६)
प्रभु हमारी कामनाओं को सफल करनेवाला है । हमारी रक्षा करनेवाला स्वामी है ।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम् धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।

(यजु० २५, १८)

स्थावर और जङ्गम जगत् के एकमात्र स्वामी परमेश्वर को हम अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं ।

इन्द्रमीशानमोजसा अभिस्तोमा अनूषत । (ऋ० १, ११, ८)

प्रभु इन्द्र अर्थात् परम ऐश्वर्य-सम्पन्न, इन्द्रिय-रूप विविध लोकों के स्वामी और सारे संसार पर अपने ओज से शासन करने वाले हैं ।

मा नो निदे च वक्तवे अर्योरन्धीरराव्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम। (ऋ० ७,३१,५७)
हे प्रभो ! अब आप ही हमारे एकमात्र स्वामी हैं । अब हमें किसी निन्दक, बकवादी और अदानी की सेवा में मत भेजिये । हमारे समस्त सेवा-कर्म आप ही के लिये हैं ।

प्रभु हमारा है, हम उसके हैं : त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः। त्वमस्माकं तव स्मसि। (ऋ० ८, ९२, ३२)

हे ईश्वर, हम तेरे साथ संयुक्त रहने से ही अपने प्रतिस्पर्धियों का सामना कर सकते हैं। तू हमारा है और हम तेरे हैं।

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह। इषं स्वश्च धीमहि।

(ऋ० ७, ६६, ९)

हे प्रभु हम तेरे ही हैं। तेरे होकर ही हम इष तथा स्वः, लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करें।

प्रभु पिता है :

शिक्षेयमिद् महयते दिवे दिवे राय आ कुहचिद् विदे।

न हि त्वदन्यद् मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च न॥

(ऋ० ७, ३२, १९)

हे प्रभु! मैं कहीं भी रहूँ, आप प्रतिदिन अपनी धन-राशि में से मुझे धन देते ही रहते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरा अपना नहीं है। आप ही मेरे श्रेष्ठ पिता हैं।

प्रभु त्राता, पिता और माता हैं :

त्वं हि नो पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे।

(ऋ० ८, ९८, ११)

प्रभु! तुम्हीं हमारे पिता हो, तुम्हीं हमारी माता हो। हे अनन्तज्ञानी! आप से ही हम आनन्द-प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं।

ऋ० ४, १७, १७ में ईश्वर को 'पितृतमः पितॄणां' कहा गया है।

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम्। (६, १, ५)

प्रभु, तुम्हीं हम मानवों के पिता और माता हो, तुम्हीं भवसागर से तारने वाले हमारे त्राता हो, तुम्हीं जानने के योग्य हो।

प्रभु बन्धु, जनिता और विधाता हैं :

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ (यजु० ३२, १०)

प्रभु ही हमारे बन्धु हैं, जनक हैं, पालन करने वाले हैं। वे समस्त धामों

और भुवनों को जानते हैं। दिव्यता को प्राप्त जीव उन्हीं के अन्दर तृतीय धाम स्वर्ग में अमृत का आस्वादन करते हुये विचरण करते हैं।

प्रभु मित्र और सखा हैं : इन्द्रस्य युज्यः सखा। (ऋ० १, २, ७, १२)
प्रभु जीवात्मा का योग्य सखा है।

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रोऽसि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः। (ऋ० १, ७५, ४)

प्रभु! तुम्हीं हमारे बंधु और सम्बन्धी हो। तुम्हीं हमारे प्रिय मित्र हो और तुम्हीं सखाओं के लिये स्तुति के योग्य सखा हो।

देवो देवानामसि मित्रोऽद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥
(अथर्व० १, ९४, १३)

प्रभु देवों के भी देव हैं। अद्भुत मित्र हैं। वसुओं के वसु हैं। हिंसा-रहित कर्मों में, यज्ञों में, उनका शोभन रूप प्रकट होता है। उन्हीं की व्यापक शरण में हम रहें। प्रभु की सख्य, मित्रता में रहने वाले का कभी विनाश नहीं होता।

प्रभु की रक्षक भुजायें चारों ओर फैली हैं :

प्रत्वक्ष्य बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति।
(ऋ० ४, ५३, ४)

धृतव्रत प्रभु इस महान् संसार पर राज्य कर रहे हैं। भुवन भर की प्रजा के रक्षण के लिये उनकी भुजायें सब ओर फैली हुई हैं।

प्रभु दानी हैं :

अग्निः सप्तिं वाजम्भरं ददात्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम्।
अग्नी रोदसी वि चरत् समञ्जन्नग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम्॥
(ऋ० १०, ८०, १)

प्रकाश-सम्पन्न, सर्व-समर्थ प्रभु शक्तिशाली तथा अन्नोत्पादक घोड़ा देते हैं, वे ही यशस्वी कर्म-परायण वीर पुत्र प्रदान करते हैं। वे ही द्यावा से पृथ्वी पर्यन्त सब को शोभायमान करते हुये विद्यमान हैं। वे ही वीर-प्रसविनी, गृहस्थ को सम्हालनेवाली नारी देते हैं।

सहस्रं यस्य रातयः उत वा सन्ति भूयसीः । (ऋ० १, ११, ८)

प्रभु के दान सहस्रों हैं अथवा अनन्त हैं ।

प्रभु सुन्दरता के स्रोत हैं :

त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः ।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवोवृष्टिरीड्यो रीतिरपाम् ॥

(ऋ० ६, १३, १)

हे सुन्दरता के स्रोत ! सौंदर्य तथा सौभाग्य की धारायें आप से निकल-निकल कर वैसे ही फैलती हैं, जैसे वृक्ष से शाखायें । आपके भक्त को धन, बल, दिव्यता तथा ज्योति शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है ।

ऋग्वेद १, ७, ६, १ में प्रभु को 'राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः' समस्त भुवनों की शोभा कहा गया है ।

प्रभु के ये विभिन्न रूप उसके अनेक गुणों का प्रकाश करने वाले हैं । पाश्चात्य विचारक प्रभु के इन रूपों को विकास-परम्परा की विभिन्न शृङ्खलायें मानते हैं । परन्तु वेद ऐसा नहीं कहता । उसके अनुसार प्रभु के ये ऐसे गुण हैं, जिन्हें जीव अपने मानसिक विकास के स्तरों में अनुभव किया करता है । भक्त प्रभु की उपासना में इन गुणों को ध्यान में लाता है और प्रभु के साथ तादात्म्य स्थापित करता है । उसे प्रभु अपना ही समझ पड़ता है । यह अपना-पन इतना घनिष्ठ हो जाता है कि भक्त क्षण भर के लिये भी अपने प्रभु से दूर नहीं होना चाहता । दूर होते ही प्रार्थना में निरत होकर वह कहने लगता है : 'माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम् । मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणमस्तु ।' मैं प्रभु को अपने से दूर न करूँ । प्रभु मुझे अपने से दूर न करे । मेरा और प्रभु का निरन्तर साथ बना रहे । वेद की ऋचा में भक्त कहता है :

उपत्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ (ऋ० १, १, ७)

हे प्रभु ! हम प्रतिदिन, रात और दिन के समय, नमन और प्रणति, श्रद्धा और भक्तिभावना अपने साथ लिये आपके चरणों में सदैव उपस्थित रहें ।

इसी नमन-क्रिया के साथ प्रार्थना का आरम्भ होता है ।

प्रार्थना :

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, साधना में निरत भक्त के आगे प्रभु के गुणोंका प्रकाश होने लगता है। वह देखता है, वह अकेला ही नहीं, उस जैसे और उससे भी अधिक ज्ञानी एवं श्रद्धेय व्यक्ति प्रभु की आराधना में निरत रह चुके हैं और अब भी रहते हैं। जो अहंकारी हैं, उनका अहंकार जब चकनाचूर हो जाता है, तो वे भी उस महाशक्ति के गुण गाने लग जाते हैं। दोनों ही दिशाओं में भक्त की दृष्टि जाती है और प्रत्येक दिशा में उसे अपना प्रभु, पूज्यों का भी पूज्य और बलवानों में शिरोमणि जान पड़ता है। वेद के शब्दों में :

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम् ।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्रकेतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् ॥

(ऋ० ८, ९६, ४)

प्रभु यज्ञियों का यज्ञिय, पूजनीयों का पूजनीय है। जिन्हें हम पूजनीय समझते हैं, वे भी उसी प्रभु की पूजा करते हैं। जो अपने को अच्युत समझे बैठे हैं, उनकी अच्युत पदवी एक दिन च्युत हो जाती है। प्रभु किसी का गर्व नहीं रखते। वे अभिमानी के गर्व को खर्व कर देते हैं। वे शक्तिशालियों में ध्वजा के समान सब से ऊपर चमक रहे हैं। वही भक्त की कामनाओं को सफल करने वाले हैं। प्रभु का यह रूप, उनके ये गुण भक्त को बड़ा बल प्रदान करते हैं। वह आश्वस्त हो जाता है। यह विचार उसे सांत्वना देता है कि उसके साथ एक समर्थ सत्ता विद्यमान है जो उसकी प्रत्येक समय रक्षा कर रही है।

ईश्वर के गुणों पर विचार करते-करते जीव को अपनी अल्पज्ञता, दुर्बलता, न्यूनता और तज्जन्य संतापों का बोध भी होने लगता है।[१] वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परिपूर्ण प्रभु के आनन्दी स्वभाव से प्रभावित होता है और अपनी

---

१. 'Eternal perfection makes us aware of our own imperfection. Thus originates the feeling of guilt, our most sacred feeling, without which there can be no refinement and progress.'

Franz Werfel : Between Heaven and earth. p. 122.

न्यूनताओं तथा क्लेशों का शमन करने के लिये उससे प्रार्थना करने लगता है। समर्थ से ही प्रार्थना करने में शोभा है। प्रभु समर्थ हैं, ज्ञानमय हैं। वे भक्त के अन्तस्तल को जानते हैं। भक्त अपने अन्तस्तल की जितनी गहराई के साथ प्रार्थना करता है, उतनी ही शीघ्र वह सुनी जाती है।[1] प्रार्थना में जीव का ध्यान सर्वप्रथम अपनी न्यूनताओं पर जाता है। वह सर्व-समर्थ प्रभु को पुकार कर विनय करता है :

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ (यजु० ३६, २)

प्रभु! मेरी चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों में जो छिद्र हैं, दोष हैं, न्यूनतायें हैं, अथवा हृदय और मन आदि अन्तःकरणों में जो गहरे घाव है, उन्हें आप ही दूर कर सकते हैं। आप निखिल जगत् के स्वामी हैं, बृहस्पति हैं, आप से बढ़-कर मेरा अन्य कोई भी रक्षक नहीं है। प्रभो, इन दोषों को दूर करके आप ही मेरा कल्याण करें।

भक्त अपने बाह्य और आन्तरिक दोनों ही रूपों में पवित्र होना चाहता है। वह सुख भी चाहता है और शान्ति भी। उसकी कामना शरीर की सुदृ-ढ़ता, इंद्रियों की बलवत्ता एवं यशस्विता तथा सर्वाङ्ग की पवित्रता के सम्पा-दन की ओर भी जाती है और आध्यात्मिक शान्ति के सम्पादन की ओर भी। वेद के शब्दों में अभीष्टि और पीति, सुख और शान्ति दोनों ही उसे चाहिये। महर्षि कणाद के शब्दों में उसके अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक और परलोक दोनों ही सिद्ध होने चाहिये।

यजुर्वेद के नीचे लिखे मंत्र में ऐसी ही भावात्मक प्रार्थना है :
शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः। (३६।१२)

---

१ इमे त इन्द्र ते वय पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरःसघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥
(ऋ० १, ५७, ४)

हे अनेक भक्तों के द्वारा स्तुत प्रभो, हम तेरे ही हैं। तेरा ही आश्रय लेकर यहाँ चल रहे हैं। नाथ! तेरे अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई भी हमारी बात सुनने वाला नहीं है। एकमात्र तू ही पृथ्वी के समान धैर्य धारण किये हुये हमारी पुकार को सुनने वाला है। अतः मैं तुझे ही पुकार रहा हूँ। तू ही मुझ दीन की प्रार्थना सुन।

प्रभो ! आप सर्व-व्याप्त हैं, कल्याणकारी हैं। देव ! हमारी अभीष्ट-सिद्धि तथा पूर्ण तृप्ति के लिए कल्याणकारी बनो। हमारे ऊपर चारों ओर से सुख और शान्ति की वर्षा करो।

प्रथम मन्त्र में बाह्य तथा अन्तः द्विविध करणों के दोषों को दूर करने की प्रार्थना थी। दोषों के दमन और पापों के प्रक्षालन से भक्त अन्दर और बाहर से पवित्र हो गया। इस पवित्र अवस्था में ही बाहर से सुख और अन्दर से शान्ति का संचार हो सकता है, जिसके लिये दूसरे मन्त्र में प्रार्थना की गई है।

बाह्य सुख के लिये अच्छी आयु, स्वास्थ्य, बल, अन्न, वीर्य, धन तथा पुष्टि की आवश्यकता है। इनके लिये नीचे लिखे मंत्रों में प्रार्थना की गई है :

अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥
अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम् ॥
(ऋ० ९।६६।१९, २१)

हे परमप्रकाश, ज्ञान के निधान, परमेश्वर ! आप हमारी आयु को अच्छा बनाइये। इसके लिये हमें सुखप्रद स्वास्थ्य, बल और अन्न प्रदान कीजिये और इस साधन में जो दुःख, क्षोभ आदि बाधायें आवें, उन्हें हटा दीजिये।

हे परमगति, शोभनकर्मा प्रभु ! हमें वीर्य तथा वर्चस्व दीजिये और उसके धारण के लिये धन तथा पुष्टि भी प्रदान कीजिये।

अच्छी आयु ज्ञान, कर्म तथा उपासनारूपी साधनों की सिद्धि के लिये परमावश्यक है। यदि बच्चा उत्पन्न होकर ही पंचत्व को प्राप्त हो गया, या युवा होकर ही चल बसा, न ज्ञान का अर्जन कर सका, न सुन्दर कर्म ही कर सका, तो उसका संसार में आना ही व्यर्थ हुआ। अच्छी आयु के रहते ही ये बातें हो सकती हैं। अच्छी आयु का आधार सुखप्रद स्वास्थ्य है। जो व्यक्ति जीवन भर रोगाक्रान्त रहेगा, वह कर ही क्या सकता है? उसकी आयु जैसी हुई, वैसी न हुई। अन्न का सेवन बल पैदा करता है और बल से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। फिर भी मार्ग में चलते हुए कभी साधक से स्वयं असावधानी हो जाती है और कभी परिस्थितियाँ उसे विवश कर देती हैं। अतः मार्ग में आने वाले इन विघ्नों को भी दूर करने के लिये प्रभु से प्रार्थना की गई है।

अन्न शब्द संस्कृत भाषा में व्यापक अर्थ रखता है। जो कुछ खाया जाता है, वह सब अन्न है। अतः इस शब्द से दूध, घी, मेवा, फल, धान्य आदि सभी का बोध होता है। ये पदार्थ धन द्वारा प्राप्त होते हैं। दीन-हीन, निर्धन व्यक्ति के भाग्य में ये पदार्थ कहाँ? अतः व्यक्ति के पास धन भी होना चाहिये। पर यदि धन भूमि में गड़ा रहा, या धन धन को उत्पन्न करने का ही साधन बना रहा, उसका उपयोग साधक अपने लिये न कर सका, तो धन का सम्पादन व्यर्थ है। इस धन का प्रयोग शरीर के पोषण के लिये होना चाहिये। अतः धन और धन से पुष्टि, शरीर का निर्माण दोनों ही आवश्यक हैं। इस पुष्टि के उपरान्त शरीर में जो रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से हड्डी, हड्डी से मज्जा, और अन्त में मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है, उस शुक्र अर्थात् वीर्य की शरीर में भलीभाँति रक्षा होनी चाहिये। इसी वीर्य से शरीर में वर्चस्व और तेज आता है। अतः मंत्र में इनके लिये प्रभु से प्रार्थना की गई है।

धन प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। उनमें कुछ अच्छे हैं, कुछ बुरे। किसी में सत्पथ का अवलम्बन है और किसी में कुपथ का। दूसरों को बिना हानि पहुँचाये, अपने गाढे पसीने की कमाई से जो धन प्राप्त होता है, वह कल्याण करता है, परन्तु छल-कपट या बल-प्रयोग द्वारा, चोरी और डाके से प्राप्त किया हुआ धन अच्छा नहीं है। उससे न अपना कल्याण होता है, न दूसरे का। जिससे छीनो, धन का अपहरण करो, वह दौर्बल्य के कारण दीन पूर्व से ही है, धन के छिन जाने से और भी अधिक दीन बनेगा। अपहर्ता समझता है कि धन उसके पास आ गया, पर यह धन उसे और भी अधिक कुपथ पर डालने का साधन बन जाता है और कुपथ का अवलम्बन उसकी शक्तियों का तो विध्वंस करता ही है, साथ ही उसके मन को भी मलिन कर देता है। अतः अश्रेयस्कर है। नीचे लिखे मंत्र में इसी हेतु धन-सम्पादन के लिये सुपथ पर चलने की प्रार्थना की गई है:

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥
(यजु० ४०, १६)

हे प्रभु, हमें ऐश्वर्य के सम्पादन के लिये सुपथ से ले चलो। हमारे अन्दर

जो इस विषय में वक्रतापूर्ण, छल-छद्म की बातें आती हैं, पापमयी प्रवृत्ति जागृत होती है, उसे हम से दूर कर दो। आपकी चरणशरण में रहते हुए हम सदैव सत्पथ पर चलकर ही ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

धनोपार्जन के लिये मधुमक्खिका का उदाहरण सर्वोपरि है। जैसे मधु-मक्खिकायें फूलों से रस लाकर अपने छत्ते में मधु का निर्माण करती हैं, फूल वैसे ही बने रहते हैं, उनमें छिद्र नहीं होता तथा उनके सौरभ में किसी प्रकार की कमी नहीं आती, उसी प्रकार मानव धनोपार्जन तो करे, पर उससे विश्व के वैभव में किसी प्रकार की न्यूनता न आने पावे, किसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, तभी धनोपार्जन की सार्थकता है।

ऊपर वर्णित साधनों द्वारा सुख का सम्पादन संभव है। परन्तु यह सुख भी व्यर्थ होगा, यदि अन्दर मन अच्छा न बना। मन को अच्छा बनाने के लिये उसके ऊपर पड़े हुए तम और रज के आवरण को दूर करने की आवश्यकता है। शरीर से सुखी बड़े-बड़े बलवान् पहलवान तमोगुण की आखेट होते हुए देखे जाते हैं। उनकी क्रोधमयी प्रवृत्ति तथा हिंसक स्वभाव उनके मन को तो अशान्त करते ही हैं, समीपस्थ वातावरण को भी विक्षुब्ध कर देते हैं। क्रोध द्वेष से उत्पन्न होता है। जब तक मन में द्वेष भरा है, तब तक शान्ति कहाँ? बाह्य सुख के साथ आन्तरिक शान्ति प्राप्त करने के लिये मन का द्वेषरहित होना अत्यन्त आवश्यक है। वेद में अनेक बार इस द्वेष-भाव को दूर करने के लिये प्रभु से प्रार्थना की गई है, जैसे :

त्वन्नोऽअग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽवयासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वाद्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्॥

(ऋ० ४, १, ४)

प्रभु! आप परम पूजनीय, सबके सर्वश्रेष्ठ नायक और संचालक, परम प्रदीप्त और पवित्र हैं। आप उन समस्त अवरोधक तत्त्वों को जानते हैं, जो हमें आगे नहीं बढ़ने देते। प्रभो, इन अवरोधक एवं बाधक तत्त्वों में द्वेष प्रमुख है। यह दिव्यता के धनी देवों का भी हमसे अपमान करा देता है, जिससे हम उनकी सहानुभूति से वंचित हो जाते हैं। नाथ! इस द्वेष-भाव को हम से दूर कर दो, जिससे हम दिव्यता का तिरस्कार न कर सकें।

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अतिद्विषः ॥ (ऋ० ८, १६, ११)

हे अनेक भक्तों द्वारा पुकारे जाने वाले और सबको पार लगाने वाले प्रभु! हमें समस्त द्वेषों से दूर कर दो, जिससे हम स्वस्ति की नाव पर बैठकर इस भवसागर को पार कर सकें।

इसी प्रकार 'स नः पर्षद् अतिद्विषः' ऋ० १०, १८७, १; 'आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु' ऋ० ६, ४७, १३; 'नयसि अति उ अतिद्विषः' ऋ० ६, ४५, ६; 'इदमुत्तश्रेयः…न वै त्वाद्विष्मः' अथर्व० १९, १४, १; 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु' अथर्व० १९, १५, ६ आदि अनेक स्थानों पर वेद ने द्वेष-भाव के परित्याग एवं मैत्री-भावना के अपनाने की आवश्यकता प्रदर्शित की है।

जैसा लिखा जा चुका है, द्वेष-भाव दिव्यता का तिरस्कार करनेवाला है। क्रोध के उद्दीप्त होते ही बुद्धि कुण्ठित ही नहीं, लुप्त भी हो जाती है। बुद्धि ही मानव शरीर के अन्दर दैवी तत्त्व है। यही वह ज्योति है, जिसके सहारे मानव अपने भावी मार्ग को देख सकता है, उचित और अनुचित में विवेक कर सकता है और दिव्यता के समीप बना रहता है। बुद्धि मानव की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक ज्यौर्ज हैमिल्टन ने एक स्थान पर लिखा है :

'On earth, there is nothing so great as man. In man, there is nothing so great as mind.' विश्व में मानव सर्वश्रेष्ठ है और मानव के अन्दर बुद्धितत्त्व सर्वोपरि है। द्वेष इस बुद्धि-तत्त्वरूपी ज्योति पर आवरण डाल देता है। भक्त को दिव्यता के धाम, परम प्रभु के निकट बैठना है। अतः उसे द्वेष से सदैव दूर रहना चाहिये और बुद्धि को शुद्ध तथा निर्मल बनाने के लिये प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये। नीचे लिखे मंत्र में प्रभु से शुद्ध बुद्धि की प्रार्थना की गई है :

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥ (यजु० ३२, १४)

हे ज्ञानस्वरूप प्रभु! पितर और देवगण जिस धारणावती बुद्धि की उपासना करते हैं, उससे आज मुझे मेधावी बना दो।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानां अवसे हुवे ॥
(अथर्व० ६, १०८, २)

आज मैं अपने अन्दर विराजमान देवताओं के दिव्य अंशों की रक्षा के लिये उस सर्वश्रेष्ठ मेधाशक्ति का आह्वान करता हूँ, जो ब्रह्मज्ञान से आपूर्ण, ब्राह्मणों द्वारा पूजित और ऋषियों द्वारा प्रशंसित है।

वेद में इस बुद्धि के जागरण के लिये भी कई मंत्रों में प्रार्थना की गई है। गायत्री मंत्र, जो वेदों का सारभूत और सब मंत्रों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है, इसी बुद्धि की प्रार्थना से सम्बन्धित है। भक्त इस मंत्र द्वारा समस्त जगत् के उत्पादक, प्रकाश-स्वरूप प्रभु से प्रार्थना करता है कि वह उनके वरणीय, श्रेष्ठ तेज का सदैव ध्यान करे और उसे सदैव अपने अन्दर धारण करे, जिससे उसकी बुद्धि सर्वदा सत्कर्मों की ओर ही प्रेरित हो।

साधारण ज्ञान और धारणावती मेधा नाम्नी बुद्धि में अन्तर है। सामान्यतया सत्संग से ज्ञान प्राप्त होता है। यह सत्संग जीवित, संस्कृत, साधु-सन्तों का हो, गुरुजनों का हो या मृत परन्तु अपने कार्यों द्वारा जीवित, अमर महापुरुषों का हो। जीवित ज्ञानी पुरुष भी यदि दूर देश में रहते हों, और जिनके साथ साक्षात् संपर्क-स्थापन असम्भव हो, तो उनके लिखे हुए ग्रन्थों के अध्ययन से भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु यह एकत्र किया हुआ ज्ञान सूचनाओं की राशिमात्र है। यह मेधा अर्थात् धारणावती बुद्धि का अंग नहीं है। जिस ज्ञान को मैंने सब स्थानों से संग्रहीत किया है, उसे, मेधारूप देने के लिये, मुझे आत्मसात् करना चाहिये, पचाना चाहिये, अपना अंग बनाना चाहिये। जब तक यह ज्ञान पचकर मेरे अन्दर जीवन्त रूप धारण नहीं करता, मेरे कृत्यों, व्यवहारों एवं जीवन-व्यापारों में प्रकट नहीं होता, तब तक यह मे = मेरे अन्दर, धा = धारित नहीं बनता, मेरे साथ संयुक्त नहीं होता, मेरा अपना नहीं बनता।

प्रार्थना द्वारा मन और बुद्धि के इस प्रकार संस्कृत हो जाने से, मानव आन्तरिक सम्पत्ति का भी धनी बन जाता है। बाहर से उसे सुख और अन्दर से शान्ति का अनुभव होने लगता है। द्वेषरहित मन और धारणावती बुद्धि द्वारा वह परम प्रशान्त देव का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, जिससे अन्दर

शान्ति का संचार होता है और बाहर से स्वस्थ, तेजस्वी शरीर अनुकूल परिस्थितियों में उसे सुख प्रदान करता है।

बुद्धि सत् का अंश है और सत् प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म आवरण है। मानव तपश्चर्या द्वारा तम पर विजय प्राप्त कर सकता है, राग और द्वेष को भी दबा सकता है, पर सत् से छूटना उसके वश के बाहर है। यह सत् उसकी सत्ता, अहमिति और अस्ति-भावना का परिचायक है। इसे मैंने परित्यक्त किया, इस कथन या संज्ञान में ही यह बैठा हुआ है। इससे मुक्ति पाना असंभव ही है। संभव तभी है, जब उस परात्पर प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो। नीचे लिखे मंत्र में तम, रज और सत्, अधम, मध्यम और उत्तम तीनों ही आवरणों से मुक्ति पाने के लिये प्रभु से प्रार्थना की गई है :

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥
(ऋ० १, २४, १५)

वरणीय वरुणदेव के सहस्रों वारक पाश जीव को घेरे हुए हैं। ये समस्त पाश प्रमुखरूप से अधम, मध्यम और उत्तम तीन विभागों में विभाजित किये जा सकते हैं। अधम पाश आलस्य, प्रमाद, अज्ञान आदि से सम्बन्ध रखनेवाले तमोगुण का पाश है। मध्यम पाश राग और द्वेष से सम्बन्धित रजोगुण का पाश है और उत्तम पाश अहंकार से संयुक्त सतोगुण का पाश है। जीव को इन तीनों पाशों से मुक्त होना चाहिये। इन्हीं पाशों ने उसे प्रभु से पृथक् कर रखा है। जीव का प्रभु से पार्थक्य तभी नष्ट होगा, जब वह इन समस्त पाशों से पृथक् होकर, निरावरण, निःसंग, नितान्त नग्न, आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित होगा। तभी वह अनागस, निष्पाप हो सकेगा। तभी वह आदित्यव्रत में स्थित हो, अदिति, अखंडनीय दिव्यता का धाम बन सकेगा। तभी वह मेधा, धारणावती बुद्धि से भी ऊपर, प्रज्ञा द्वारा अखंड आदित्य के प्रकाश का साक्षात् कर सकेगा।

व्याकुलता : ऊपर हमने मनोविज्ञान पर आधारित, बाहर से अन्दर तक की परिशुद्धि की प्रार्थना से सम्बन्धित वेद-मंत्रों को उद्धृत किया है। अब हम कुछ ऐसे मंत्र लिखते हैं, जिनमें प्रभु के पार्थक्य की गंभीर अनुभूति से उत्पन्न जीव की व्याकुलता अभिव्यक्त हुई है और जिनमें जीव कातर-क्रन्दनपूर्वक प्रभु को पुकार उठा है।

भक्त ने सुना है, प्रभु भक्तवत्सल हैं। वे अपने जन को लघु से महान्, रंक से राजा, दीन से स्वाधीन और राई से पर्वत बना देते हैं। वेद के शब्दों में उसे विश्वास है :

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोः इन्द्र सिन्धून्॥
(ऋ० ४, १९, ६)

प्रभु काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाले अपने भक्त के लिये इस विशाल पृथ्वी को दूध देनेवाली कामधेनु बना देते हैं। उनके अनुग्रह से, उछलता हुआ तूफानी समुद्र परम प्रशान्तरूप धारण कर लेता है और दुस्तर, अनुल्लंघनीय सिन्धु गौ के खुर के समान सुगमता से पार होने योग्य बन जाता है।

इसी विश्वास को लेकर वह भी प्रभु की चरण-शरण में पहुँचता है और प्रभु से प्रार्थना करता है :

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे॥
(अथर्व० १९, ४३, ८)

दीक्षा और तपश्चर्या द्वारा ब्रह्मवेत्ताओं ने जिस धाम को प्राप्त किया है, प्रभु! वहाँ मुझे भी पहुँचा दो।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तत्र मा धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते॥ (ऋ० ९, ११३, ७)

हे पवमान! जिस लोक में सुख ही सुख है, जहाँ अजस्र ज्योति है, उस अमृत, अक्षित लोक में मुझे भी पहुँचा दो।

ऋग्वेद के इस सूक्त में स्वर्गलोक की अमृतमयी आनन्दपूर्ण अवस्था का वर्णन हुआ है। इस स्थल के चुने हुये अन्य तीन मंत्र नीचे लिखे जाते हैं :

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तः तत्र माममृतं कृधि॥ इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९॥
यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि॥ " " ॥ १०॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।

कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र मामृतं कृधि ॥ इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥११॥

त्रिनाके = तीनों दुःखों से रहित । त्रिदिवे = तीनों प्रकाशों से प्रकाशित । ब्रध्न = सूर्य । स्वधा = स्वरूप में अवस्थिति ।

जहाँ तीनों दुःखों से रहित और तीनों प्रकाशों से प्रकाशित अवस्था है, जहाँ संकल्प के अनुकूल विचरण है, जहाँ ज्योतिष्मान लोक हैं, जहाँ काम और निकामों की पूर्णता है, जहाँ सूर्य का लोक है, जहाँ आत्मस्वरूप में अवस्थिति और तृप्ति है, जहाँ आनन्द, मोद, मुद और प्रमुद हैं, जहाँ काम की भी कामनायें अवशिष्ट नहीं रहतीं, वहीं मुझे अमृत बनाकर रख दो। हे परम कारुणिक ! मुझ जीव के लिये भी द्रवित हो जाओ ।

उरुं नो लोक मनुनेषि विद्वान् स्वर्वत ज्योतिरभयं स्वस्ति ।

ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थे याम शरणा बृहन्ता ॥

(ऋ०, ६, ४७, ८)

भगवान्, तुमने बहुतों को पार किया है । दीक्षा और तप के द्वारा तुम्हारे भक्त ऐसे लोक में पहुँचे हैं, जहाँ निरन्तर प्रकाश बना रहता है, जहाँ आनन्द ही आनन्द है, जहाँ मरण-रहित और भय-रहित अवस्था है, जहाँ अखंड निर्भयता और कल्याण है । हे पवित्र प्रभु ! मुझे भी उस लोक में ले चलो । मैंने सुना है, तुम महान् हो । तुम्हारी विशाल भुजायें चारों ओर फैली हुई हैं और भक्तों के कष्टों को दूर कर रही हैं । पिता ! क्या तुम्हारी यह व्यापक शरण मुझे नहीं मिल सकती ? मैं भी तुम्हारी इस शरणदायिनी, आनन्दमयी गोद में बैठना चाहता हूँ ।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।

मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ (ऋ० ७, ८९, ४)

प्रभु, तुम सर्वव्यापक हो । मेरे आगे, पीछे, दायें, बायें, नीचे, ऊपर, अन्दर, बाहर सर्वत्र तुम्हारा अमृतस्वरूप भरा हुआ है । मैं तुम्हारे अन्दर वैसे ही बैठा हूँ, जैसे मछली समुद्र के अन्दर रहती है । पर नाथ ! मछली से मेरी दशा कितनी विपरीत है । मछली समुद्र के अन्दर किलोलें करती है, पर मैं आपके अन्दर बैठा हुआ भी प्यास के मारे मरा जा रहा हूँ । अतृप्ति मुझे व्याकुल कर रही है । हे अनुपम रक्षणशक्तियों से युक्त ! तुम्हारी दया मेरे ऊपर कब होगी ? हे दयालु देव ! दया करो, दया करो ।

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वां आगांसि कृणवत् सखा ते ।
मा न एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥
(ऋ० ७, ८८, ६)

हे वरणीय देव! तुम्हारा सदा का बन्धु और प्यारा सखा होकर भी मैं दिन-रात कितने पाप किया करता हूँ। इन पापों के करते हुए भी मुझे तुमने कितने भोग प्रदान किये हैं। हे पूज्य देव! ये भोग मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो अब अपनी शरण प्रदान करो। इन पापों से हटाओ।

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षुः उपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुः अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥
(ऋ० ७, ८६, ३)

नाथ! तुम्हें देखे कितने दिन हो गये। तुमसे वियुक्त होकर इस भव-व्योम में अपने प्राण और अपान तथा ज्ञान और कर्मरूपी पंख फड़फड़ाता हुआ मैं न जाने कब से घूम रहा हूँ। तुम्हारे दर्शनों से जब से वंचित हुआ हूँ, कष्ट ही कष्ट उठा रहा हूँ। संकट पर संकट झेल रहा हूँ। इनसे घबड़ाकर आज पुनः तुम्हारे दर्शनों की लालसा जागृत हुई है। क्या ये दर्शन मुझे न मिलेंगे? नाथ! ऐसा कौन-सा मुझसे पाप हुआ है, जो तुम्हारे दर्शनों से भी मुझे वंचित कर रहा है? यहाँ जितने ज्ञानी हैं, सब के पास हो आया हूँ, सब से पूछता फिरा हूँ कि प्रभु-दर्शन का कौन-सा उपाय है? पर सब ने एक स्वर से एक ही उत्तर दिया है: प्रभु तुमसे रुष्ट हैं। उन्हें मनाओ, प्रसन्न करो।

का त उपेतिर्मनसो वराय, भुवदग्ने शंतमा का मनीषा ।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप, केन वा ते मनसा दाशेम ॥
(ऋ० १, ७६, १)

देव, मैंने बहुत सोचा है, बहुत विचारा है, पर मेरी समझ में नहीं आया कि तुम्हें कैसे प्रसन्न करूँ? तुम्हारे मन को वरण करने के लिये, अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कौन-सा उपाय है? हमारी कौन-सी मनीषा, मति और इच्छा आपको सर्वश्रेष्ठ सुख दे सकती है? नाथ! यहाँ पर क्या ऐसी कोई मानवशक्ति है, जो तुम्हारे दक्ष में व्याप्त होकर जान सके कि तुम क्या चाहते हो? हे नाथ! किस मन को मैं लाऊँ, जिसे देकर मैं तुम्हारे मन को वरण कर सकूँ, तुम्हारी प्रसन्नता सम्पादित कर सकूँ?

उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किम्मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ॥
(ऋ० ७, ८६, २)

देव ! मैं स्वयं अपने अन्दर मन्थन करता हूँ, अपने आप से कहता हूँ कि कब मैं आप जैसे वरेण्य प्रभु का अन्तरंग बन सकूँगा ? अपनी समग्र शक्ति जुटाकर उस मंगलमय दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब मैं आपके हृदय में स्थान पा सकूँगा । प्रभो ! क्या वह दिन, वह कल्याणकारिणी घटिका, वह विमल वेला इस जीवन में देखने को मिलेगी, जब मैं तुम्हारे अन्दर प्रवेश पा सकूँगा ? क्या आप मेरी भेंट को, मेरी हवि को, मेरी समर्पण-भावना को प्रसन्नमन होकर स्वीकार कर सकेंगे ? हे दयालु देव ! तुम्हारे आनन्ददायक दर्शन मुझे किस दिन होंगे ?

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य अस्मान्निधयेव बद्धान् ॥
(ऋ० १०, ७३, ११)

नाथ ! दर्शन की अभिलाषा लेकर चला था, पर कुमार्ग में पड़कर अपनी दर्शन-शक्ति भी खो बैठा । इस मार्ग में कहीं भी प्रकाश नहीं । अन्धकार ही अन्धकार है । इस अन्धकार ने मेरी आँखें बन्द कर दी हैं, उनकी ज्योति को छीन लिया है । इन आँखों को अब भी तुम्हारा संगमन प्रिय है । इसीलिये इस भयावह अन्धकार में भी, ये बंधन में बँधी हुई तुमसे प्रार्थना करती हैं । पिता ! इस अन्धकार के पर्दे को हटा दो । इन आँखों को प्रकाश दो । इन बन्धनों से मुझे मुक्त करो ।

न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥
(ऋ० २, २७, ११)

हे परम-प्रकाश-पूर्ण प्रभु ! अन्धकार ने मुझे चारों ओर से घेर लिया है । न मुझे दाहिनी ओर कुछ दिखाई देता है, न बाईं ओर । न सामने दृष्टि जाती है, न पीछे । नाथ ! मैं कच्चा हूँ, अधीर हूँ । आज तक ऐसी परिस्थिति का मुझे सामना नहीं करना पड़ा । तो क्या यह अन्धकार मुझे खाकर ही रहेगा ?

नहीं, नाथ ! तुम्हारे प्रकाशस्वरूप के आगे इसके अस्तित्व की बिसात ही कितनी ? पिता ! कृपा करो । इस अन्धकार से मेरा त्राण करो । तुम्हीं मुझे अभय ज्योतिर्धाम की ओर ले चलो ।

इमं मे वरुण श्रुधि हव मद्या च मृळय । त्वा मवस्यु राचके ॥
(ऋ० १, २५, १९)

हे सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम, वर्णन करने के योग्य, पापों के निवारक प्रभु ! आज, मेरी पुकार सुन लो । कब से तुम्हारे द्वार पर पड़ा विनय कर रहा हूँ । आज मेरे कष्टों का निवारण हो जाना चाहिये । रक्षा की कामना हृदय में लिये, आज, मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ ।

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते । उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥
(ऋ० ८, ४५, २०)

हे अखिल बलों के अधिपति ! प्रार्थना करते-करते, तुम्हारे पास तक आने का प्रयत्न करते-करते, मैं तो थक गया । अब मेरे अन्दर थोड़ी-सी भी शक्ति अवशिष्ट नहीं रही है । इसलिये बुड्ढे की लकड़ी की तरह मैंने तुम्हारा, केवल तुम्हारा अवलम्बन ग्रहण कर लिया है । तुम्हारी ही शरण में पड़ा हूँ । तुम्हारा आश्रय छोड़कर अब मैं अन्यत्र, इधर-उधर, कहीं भी जाने वाला नहीं हूँ । प्रभो ! अब मेरी यही कामना है, केवल एक कामना, कि तुम मेरे सामने आ जाओ । अपना दर्शन देकर इस दीन को कृतार्थ कर दो और सदैव मेरे सामने ही बने रहो ।

आत्मनिवेदन के अंग : भक्ति-भावना संसार-सन्तप्त आत्मा की शाश्वत पुकार है । विश्व के बीहड़ वन में भटकता हुआ जीव जब व्यथित हो उठता है, तब अपने स्रोत, चिदानन्द-घन परमात्मा को याद करने लगता है । असहाय अवस्था में वह उस अपने को पुकार उठता है । यह पुकार ही आत्मनिवेदन है, भक्ति-भावना की भव्य भूमिका है । यह भावना किसी सम्प्रदायविशेष के बन्धनों में आबद्ध नहीं होती । प्रत्येक युग और प्रत्येक देश ऐसे भक्त उत्पन्न करता रहा है, जो विश्व-वैभव पर लात मारकर उस अनन्त सत्ता के चरणों में अपना हृदय खोलकर रखते रहे हैं, उसकी प्राप्ति के लिये अपना सर्वस्व समर्पित करते रहे हैं, जिनकी समस्त अभिलाषायें, भावनायें और धारणायें उसी एक सत्ता में केन्द्रित रही हैं । भावनायें पूर्व से विद्यमान हैं । उनका नामकरण,

सिद्धान्त-विवेचन परवर्ती आलोचकों और आचार्यों का काम रहा है। उदाहरण के लिये हम कुछ वेद-मन्त्र नीचे उद्धृत करते हैं, जिनमें परवर्ती वैष्णव आचार्यों द्वारा वर्णित आत्मनिवेदन के सभी अंग आ गये हैं। इन मन्त्रों में आत्मनिवेदन के साथ कहीं विनय है, कहीं विरह-पीड़ा है, कहीं घर पहुँचने की अभिलाषा है, कहीं भक्त का दैन्य और साधनअक्षमता है, कहीं विचारणा, व्याकुलता और पश्चात्ताप की भावनायें हैं, कहीं प्रभु की उदारता, क्षमता, सुन्दरता, शरणागतवत्सलता और आश्वासन है, कहीं अपने पापों का स्मरण, कहीं उद्बोधन और कहीं समर्पण है। भागवत धर्म के आचार्यों ने भक्ति का जो विवेचनात्मक स्वरूप उपस्थित किया है, उसकी समग्र पृष्ठ-भूमि वेद के इन मन्त्रों में विद्यमान है। वैष्णव धर्म के आचार्यों ने आत्मनिवेदन या प्रपत्ति (शरणागति) को छः भागों में विभाजित किया है: अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्ववरण, रक्षा का विश्वास, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य[1]। इनसे सम्बन्धित वेद-मन्त्र नीचे दिये जाते हैं:

अनुकूल का संकल्प: प्रभुप्राप्ति के पथ में जो साधन अनुकूल पड़ते हैं, उन्हीं को अपनाने के लिये भक्त दृढ़ संकल्प करता है:

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये॥
(ऋ० ८, ६३, १०)

भक्त संकल्प करता है कि आज मैं निष्पाप होकर ऐसी नाव पर पैर रखता हूँ, ऐसे साधनों का अवलम्बन लेता हूँ, जो निस्सन्देह मेरा कल्याण करने वाले हैं। ये नावरूपी साधन भलीभाँति रक्षा-शक्तियों से युक्त हैं, विशाल हैं, प्रकाशमय हैं, अनिष्ट की आशंका से रहित हैं, सुखद हैं, सुन्दर पथ पर ले जाने वाले हैं, शत्रुओं से बचाने वाले हैं और दृढ़ हैं।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमावहन्तु॥
(अथर्व ९, २, ११)

---

१. अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। २८
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥ २९॥ अहिर्बुध्न्यसंहिता ३७। २८२, ९

आज मेरा काम, मेरा संकल्प, जागृत हो चुका है। इसने मार्ग में आने वाले शत्रुओं को निहत कर दिया है। विस्तृत लोक मेरे लिये उन्मुक्त हो गये हैं। मेरे दृढ़ संकल्प के आगे सब दिशायें झुक जावेंगी और मेरे वांछित-फल-साधन में सहायक बनेंगी।

प्रतिकूल का त्याग : प्रभु की प्राप्ति में जो साधन अवरोध उपस्थित करते हैं, उनका परित्याग ही श्रेयस्कर समझा जाता है :

नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चिता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै॥
(ऋ० ४, १८, २)

अब मैं इस माया के मार्ग का अवलम्बन नहीं लूँगा। यह तो अत्यन्त दुर्गम है। संसार के ऊपर से लुभावने विषय परिणाम में तो भयंकर होते ही हैं, प्राप्ति के मध्य में भी अतीव भीषण हैं। संसार के इस टेढ़े-मेढ़े पथ का परित्याग करके अब मैं सीधे सामने के पार्श्व से निकल जाऊँगा। इस सीधे मार्ग पर चलकर ही मैं उन कार्यों को कर सकूँगा, जो अभी तक अकृत पड़े हैं। आज मैं विषय-वासनाओं की ओर ले जाने वाले साधनों से युद्ध करूँगा और प्रभु की प्राप्ति कराने वाले साधकों के आगे विनम्र होकर शिक्षा ग्रहण करूँगा। इस मन्त्र में प्रतिकूल का त्याग और अनुकूल का संकल्प दोनों ही समाविष्ट हैं।

गोप्तृत्ववरण : प्रभु के रक्षक स्वरूप का वरण करना, उसे ही अपने त्राता के रूप में स्वीकार करना :

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्॥
(ऋ० १, ५७, १)

प्रभु! आज मैं आपके महान् से महान्, प्रवणायित जल की भाँति दुर्निवार, सबके लिये अनावृत, बृहत् से बृहत् शक्ति देने वाले रक्षक स्वरूप को अपनी मति में भरता हूँ, हृदय से वरण करता हूँ।

वयं घा ते, त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता॥
(ऋ० ८।६६।१३)

प्रभु, आप पुरुहूत हैं, आपको अनेक भक्त अनेक बार पुकार चुके हैं। आपके समान शक्ति और सुख का दाता अन्य कोई भी नहीं है। नाथ! हम आपके ही हैं। आपही के सहारे हमारा सर्वस्व सुरक्षित हो सकता है।

रक्षा का विश्वास : सुख-दुःख के संघर्ष में पड़ा हुआ साधक जब साधना में विचलित हो उठता है, उस समय प्रभु अपनी रक्षा का वरद हस्त उसके ऊपर रखकर उसे समाश्वस्त कर देते हैं। प्रभु की इस रक्षण-शक्ति में विश्वास ही भक्त को उस समय बल देता है। न जाने, कहाँ से, किस प्रकार, प्रभु की रक्षा की छाया उसके सिर के ऊपर छा जाती है और भक्त संघर्ष-संताप में शीतलता का अनुभव करने लगता है। वेद कहता है :

> महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः।
> नास्य क्षीयन्त ऊतयः॥ (ऋ० ६।४५।३)

भगवान् की प्रणीतियाँ, रक्षा-प्रणालियाँ महान् हैं। उन्हें कोई भी नहीं जानता। इस संबन्ध में प्रभु की प्रशंसा भक्त जन बहुत पहले से करते आये हैं। प्रभु अनेक भक्तों का उद्धार कर चुके, बहुतों का कर रहे हैं, परन्तु उनकी रक्षा-शक्तियों में क्षीणता नहीं आई। वे न तो कम हुई हैं और न भविष्य में कम होंगी।

> आ घा गमद् यदि श्रवत् सहस्रिणीभिरूतिभिः।
> वाजेभिः उप नो हवम्॥ (ऋ० १।३०।८)

प्रभु ने यदि भक्त की पुकार सुन ली, तो वह अपने समस्त बलों और सहस्रों रक्षण-शक्तियों को लेकर निश्चितरूप से भक्त के दुःख दूर करने के लिये उसके पास आ जाता है।

> इन्द्रो अङ्ग महद्भयम् अभीषद् अपचुच्यवत्।
> स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ (ऋ० २।४१।१०)

प्यारे साधक! भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। प्रभु सब कुछ अविचल भाव से देख रहे हैं। वे सामने आये हुये बड़े से बड़े भय को भी नष्ट कर देते हैं।

आत्मनिक्षेप : भक्त सर्वात्मना अपने आप को प्रभु के हाथों में समर्पित कर देता है। प्रभु उसके लिये, जो कुछ उपयुक्त समझें, करें।

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये विवो मदे यज्ञेषु चित्रमाभरा विवक्षसे ॥
(ऋ० १०।२१।४)

हे अमर, सर्व-ज्ञान-निधान प्रभु ! जिस धन को आप बल-प्राप्ति के लिये मेरे योग्य समझें, वही धन मुझे दें। यज्ञकर्मों में प्रसन्नता-सम्पादन के लिये आप वही विचित्र धन मुझे प्रदान करें। मेरी विवक्षा भी आप ही में केन्द्रित है।

का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
विश्वा मतीरा ततने त्वाया अधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥
(ऋ० ७।२९।३)

हे परमैश्वर्यसम्पन्न प्रभु ! इन सुन्दर स्तुतियों से क्या तुम्हारी शोभा हो सकती है ? नाथ ! अब तो यही इच्छा है कि मैं अपने आपको ही तुम्हें दे दूँ। प्रभु, मेरी यह समर्पण की पुकार है। इसे सुनो। मेरी समस्त मतियाँ आज केवल तुम्हारे अन्दर समा जाने के लिये ही विस्तार कर रहीं हैं।

कार्पण्य : भक्त का दैन्यभाव, उसकी विवश एवं कातर अवस्था में ही प्रभु के आगे प्रकट होता है। अपने दुःख को भक्त प्रभु के समक्ष करुण क्रन्दन द्वारा उन्मुक्त करता है।

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥
(ऋ० २।३३।७)

हे परम-बल-सम्पन्न प्रभु ! क्षमा करो। तुम्हारे वरद, सुखद क्रोड के संरक्षण से निकलकर आज मैं कितना दुखी हूँ, कितना रोगाक्रान्त हूँ ! नाथ ! तुम्हारा वह सुखदायक हाथ आज कहाँ है ? वही तो मेरे संतापों का शमन करने में अमोघ ओषधि का कार्य करता है। देवताओं के सम्बन्ध में पाप करके आज मैं कितना दुखी हूँ। रुद्र ! अपने रोगविनाशक, आनन्दप्रदायक हाथ को पुनः मेरे शिर पर रख दो।

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ॥
(ऋ० १०।३३।३)

हे अनन्तज्ञानी, हे अनन्तकर्मा, हे परमैश्वर्यशाली प्रभु ! मैं तेरी स्तुति करता हूँ, तेरे गुणगान गाता हूँ, फिर भी मानसिक शान्ति उपलब्ध नहीं होती। विविध प्रकार की आधियाँ, मानसिक वेदनायें मुझे उसी प्रकार खाये जा रहीं हैं, जैसे चूहा आटे से लिपटे सूत को खाता है। हे पिता! एकमात्र तुम्हीं मेरे रक्षक हो। इन कष्टों से इस बार तो मेरा उद्धार कर दो।

ऊपर आत्मनिवेदन के जिन अंगों का वर्णन किया गया है, वे अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार हैं। लक्ष्मीतंत्रसंहिता में भी इन्हीं अंगों का उल्लेख हुआ है। कुछ आचार्यों ने आत्मनिवेदन के सात विभाग और किये हैं, जिन्हें प्रपत्ति एवं विनयभाव की आधारशिला कहा जाता है। ये सात विभाग हैं: दीनता, मानमर्षण, भयदर्शन, भर्त्सना, मनोराज्य, आश्वासन और विचारणा। दीनता आर्त प्रार्थना में प्रकट होती है और कार्पण्य का ही अपर नाम है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। आश्वासन में प्रभु की उदारता, शरणागतवत्सलता और रक्षा का विश्वास आते हैं। इसका भी उल्लेख 'रक्षा का विश्वास' शीर्षक में हो चुका है। शेष विभागों का वर्णन नीचे किया जाता है:

मानमर्षण: अभिमान के परित्याग और विनयप्रदर्शन में प्रकट होता है, जैसे:

यद्या व इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ (ऋ० ८, ७०, ५)

हे परमशक्तिशाली परमेश्वर! सौ द्युलोक, अनेक भूमियाँ, सहस्रों सूर्य, समस्त उत्पन्न पदार्थ और यह विशाल द्यावा-पृथ्वी के बीच का प्रदेश कोई भी तेरे ओर-छोर का पता नहीं लगा सकते।

प्रभु की महिमा का अनुभव करके भक्त का अभिमान दूर हो जाता है।

तमित्पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत्।
न मृष्यते प्रथमं नापरं वचो अस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः॥
(ऋ० १, १४५, २)

सिमः अर्थात् सब व्यक्ति उस परमात्मा को ही पूछते हैं, पर विशेषरूप से पूछना किसी को भी नहीं आता। बड़े बड़े धैर्यशाली व्यक्ति भी, जो कुछ उन्होंने मन से पकड़ रक्खा है, उसीको कहते और समझते हैं। पर यह निश्चित है कि वह परम सत्ता किसी के सर्वप्रथम उच्चरित अथवा प्रत्युत्तर में प्रतिवादी के रूप में बाद में उच्चरित वचन को सहन नहीं करती। उसके

समीप तो जो अप्रदपित अर्थात् निरभिमान होकर जाता है, वही उसके क्रतु के साथ अपने आपको संयुक्त कर सकता है।

भयदर्शन : मनके सामने पाप का भयंकर परिणाम प्रस्तुत करने से मन पाप की ओर प्रवृत्त नहीं होता।

> सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
> मा घोषा उत्स्थुः बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते॥
>
> (अ० ७, ५२, २)

हे देव! जब मन आपके साथ संयुक्त नहीं रहता, आपके दैवी मन के सम्पर्क से दूर भाग जाता है, तभी तो इस मन के अन्दर हाहाकार की ध्वनि उठती है, बहुल अर्थात् अन्धकार मुँह बाकर खड़ा हो जाता है और दैवी वज्र ऊपर गिरता है। भगवान्! ऐसी कृपा करो जिससे ये विपत्तियाँ मेरे ऊपर न टूट सकें। इस मन को अपने दैवी मन से दूर मत होने दो।

> असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद्व्यचः।
> तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु॥
>
> (अथर्व० ४, १९, ६)

असत् अर्थात् पाप भूमि से उत्पन्न होकर बड़े रूप में फैलता हुआ द्युलोक तक पहुँच जाता है। परन्तु अन्त में कर्ता को संतप्त करता हुआ लौटकर उस के ऊपर आ पड़ता है।

भर्त्सना : सत् की ओर न चलने पर मन को डाटना, फटकारना ही भर्त्सना है। जैसे :

> न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
> नीहारेण प्रावृता जल्प्याः, चासुतृपउक्थशासश्चरन्ति॥
>
> (ऋ० १०, ८२, ७)

अरे मनुष्यो! तुम उस प्रभु को भी नहीं जानते, जिसने इस संसार का निर्माण किया है? यह अन्तर तुम्हारे अन्दर कैसे आ गया? तुम्हें अज्ञान के नीहार ने आच्छादित कर लिया है। जल्पना और प्राणतृप्ति में मग्न होकर तुम केवल अपनी प्रशंसा बघारते हुए घूम रहे हो।

विचारणा : जब मन स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने अन्दर ही अपनी गति-विधि पर विचार करने लगता है, तब विचारणा का जन्म होता है। अपने पापों का स्मरण और पश्चात्ताप की भावनायें इसी स्थिति में उत्पन्न होती हैं। यथा :

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुः वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमुनूमनिष्ये ॥

(ऋ० ६, ९, ६)

मेरी कैसी विचित्र दशा है। प्रभु की भक्ति में आसन लगाकर बैठता हूँ, पर कोई भी अङ्ग मेरा साथ नहीं दे रहा है। कानों से कहता हूँ, भाई! थोड़ी देर के लिये चुप हो जाओ, बाहर के प्रिय शब्दों को न सुनो, आँखों से कहता हूँ, थोड़ी देर बाहर के रूपों का देखना बन्द कर दो, पर न कान मेरी बात सुनते हैं, न आँखें मेरा कहना मानती हैं। दोनों भाग-भाग कर बाहर की ओर जा रहे हैं। और यदि इन दोनों को जैसे तैसे मना भी लेता हूँ, तो ये अन्दर बैठी हुई ज्योति, यह मन नहीं मानता। आँख और कान के बन्द रहने पर भी यह मन नाना दिशाओं में दौड़ लगाता फिरता है। देव! तुम्हीं बताओ, किस प्रकार इस जिह्वा से मैं तुम्हारा जाप करूँ और किस प्रकार इस मन को तुम्हारे ध्यान में लगाऊँ?

पापों का स्मरण और पश्चात्ताप :

यत्किंचेदम् वरुण दैव्येजनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देवरीरिषः ॥

(ऋ० ७, ८९, ५)

नाथ! तुम्हारे उपासकों से, दैवी जनों से, द्रोह करके हमने बड़ा पाप किया है। हम अज्ञान मानव तुम्हारे द्वारा निर्दिष्ट धर्मों का, नियम और व्रतों का उल्लंघन करते रहे हैं। प्रभो! ये पाप ही तो हमें मार रहे हैं। पिता! कृपा करो जिससे हम इन पापों से पृथक् होकर विनाश से बच सकें।

मनोराज्य : मनमें यह अनुभव करना कि मैं प्रभु से संयुक्त हूँ, प्रभु मेरी रक्षा कर रहे हैं, पाप-कलाप नष्ट हो गया है और मैं शुद्ध, प्रबुद्ध, आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हूँ। अनुकूल का संकल्प भी इसके अन्तर्गत आ जाता है। यथा :

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषम् अवदेवानां बृहतामनर्वणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥
(ऋ० ७, ८, १)

दिति के पुत्र दानवी भावों को मैंने अदिति के पुत्र दैवी भावों में परिवर्तित कर लिया है। अब मैं उन बृहत् (महान्) अनर्वण (स्वाधीन) देवों के बीच में हूँ। इन देवों का धाम अर्थात् तेज बड़ा गम्भीर है, यह समुद्रिय है, उस महान् द्यौलोक से उत्पन्न हुआ है। इनकी सबसे बड़ी शक्ति नम्रता है। जिसके कारण ये सबसे बड़े हैं, कोई भी दूसरा व्यक्ति इनकी समता नहीं कर सकता।

आसक्तियाँ : नारदभक्तिसूत्र संख्या ८२ में जिन एकादश आसक्तियों का वर्णन है, उनमें से भी अधिकांश की रूपरेखा वेदमन्त्रों में विद्यमान है। यथा :

गुणमाहात्म्यासक्ति : प्रभु के गुणों का श्रवण और कीर्तन

विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद् वृषा हरिः॥
(ऋ० ९, ८६, ४४)

उस ज्ञानी, परम पवित्र, आप्यायनीय हरि के गुणगान गाओ, जो बहती धारा के समान समस्त बन्धनों को तोड़कर सर्वत्र पहुँचा हुआ है। साँप जैसे केंचुल[1] को छोड़कर और घोड़ा जैसे क्रीडा करता हुआ दूर-दूर तक चला जाता है, वैसे ही वे बलवान्, समस्त कामनाओं की वर्षा करने वाले प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं।

पूजासक्ति : अर्चन, सेवन और वन्दन

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥
(ऋ० १०, ५०, १)

हे मनुष्यो! तुम सब उस महान्, आनन्दस्वरूप, सौख्यप्रदाता, विश्वव्याप्त, विश्वानर देव का पूजन करो, जिसके परम यजनीय, महान् तेज, यश तथा

---

१. यह उपमा जीव और परमात्मा दोनों पर घट सकती है। मन्त्र में आया 'हरि' शब्द भी दोनों ओर लग सकता है। जीव का केंचुल छोड़ना एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना है। विश्ववपु परमात्मा ब्रह्माण्डरूपी केंचुल को भी अतिक्रान्त करके विद्यमान है। हरि का अर्थ है हरणशील, जो दोनों का विशेषण या नाम हो सकता है।

बल से आकर्षित हो द्यावा से पृथ्वी पर्यन्त यह समग्र संसार उसकी पूजा, वन्दना और सेवा कर रहा है।[1]

रूपासक्ति : भगवान् का कोई रूप या आकार नहीं है, पर वेद ने उसके पुरुषरूप की कल्पना करके उसे विश्ववपु नाम से कई बार अभिहित किया है। जैसे :

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
(अथर्व० १०, ७, ३२, ३३)

यह पृथ्वी जिसके पैर, अन्तरिक्ष उदर, द्यौलोक शिर, सूर्य और चन्द्र नेत्र तथा अग्नि मुख है, उस विश्ववपुधारी भगवान् के रूप को हमारा बार-बार प्रणाम हो।

स्मरणासक्ति : मन, कंठ और वाणी द्वारा स्मरण के तीन भाग हो जाते हैं। प्रभु के नाम को जब वाणी द्वारा उच्च स्वर से बार-बार बोलते हैं, तो वह कीर्तन कहलाता है। कंठ के ही संयोग द्वारा जब प्रभु का नाम वाणी द्वारा धीरे-धीरे अनेक बार बोला जाता है तब वह जाप कहलाता है। मन में ही प्रभु के नाम का बार-बार उच्चारण स्मरण है। वेद कहता है :

त्वामग्ने मनीषिणस्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ (ऋ० ८, ४४, १९)

प्रभो! तुझे, केवल तुझे, भक्तजन अपने मन को लगाकर बढ़ाते हैं। अपने चित्त की समस्त शक्तियों को तेरे अन्दर केन्द्रित करके तेरा, केवल तेरा ही स्मरण करते हैं। नाथ! हमारी वाणियाँ भी तुझे बढ़ावें। हम अपनी वाणी द्वारा तेरे नाम का जाप, तेरे गुणों का स्मरण, गान और कीर्तन करते हुए तेरा प्रकाश करें, तेरा अनुभव करें।

---

१. सखायो ब्रह्मवाहसेऽर्चत प्रच गायत। स हि नः प्रमतिर्मही॥ (ऋ० ६, ४५, ४)
मित्रो, हमारी बुद्धि की महत्ता इसीमें है कि हम उस चेतना तथा ब्रह्मांड के धारण करने वाले प्रभु की ही पूजा करें और उसी के गुणों का गायन करें।

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम् ।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ ॥

(ऋ० ६, १, ४)

प्रभु को जानने की इच्छा करनेवाले व्यक्ति प्रणति और नमन द्वारा उसे प्राप्त कर लेते हैं। वे बार-बार पवित्र प्रभु के पवित्र नामों का जाप और स्मरण करते हुए उसके कल्याणकारी संदर्शन में ही रहकर आनन्द प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद ३, ३७, ३ में लिखा है कि जो प्रभु के नामों का बार-बार स्मरण और उच्चारण करते हैं, उनका अभिमान नष्ट हो जाता है। योगदर्शन १।२९, ३० के अनुसार भगवान् के ओ३म् नाम के जाप से व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व नाम के नौ विघ्न नष्ट हो जाते हैं। इससे प्रत्यगात्मा की प्राप्ति भी हो जाती है। यजुर्वेद ४०-१५ में लिखा है: 'ओ३म् क्रतो स्मर' हे जीव! तू ओ३म् का स्मरण कर। ऋग्वेद ७, ३२, १७ में लिखा है: 'त्वायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो अवस्युर्नाम भिक्षते।' हे अनेक भक्तों द्वारा पुकारे गये प्रभु! रक्षा की कामना करता हुआ यह विश्व तुम्हारे ही नामस्मरण की भीख मांग रहा है। सामवेद पूर्वार्चिक ३, १, ४, २ के अनुसार 'कद्रु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते। तदिद्धि अस्य वर्धनम्।' प्रभु के स्तुति-गान में, स्मरण और जाप में जो कुछ थोड़ा-सा भी वचन भक्त के मुख से निकल जाता है, वही उसकी उन्नति करने वाला है।

दास्यासक्ति: भगवान् मेरे स्वामी हैं। मैं उनका सेवक हूं। मेरा जो कुछ है, उन्हीं का है। भगवान् के अतिरिक्त मेरा अपना और कुछ भी नहीं है। इस भावना से की गई भक्ति को दास्यासक्ति कहा गया है। यथा:

त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः॥

(ऋ० ७, २५, ४)

हे परमैश्वर्य-सम्पन्न स्वामी! मेरा जो कुछ है, आपके ही लिये है। मैं आप जैसे रक्षक के दान में हूँ। आप जहाँ कहीं भी मेरा उपयोग करेंगे, उससे मेरा भला ही होगा। अब मैं प्रतिदिन तुम्हारी तविषी, सेना का एक क्षुद्र सेवक, सिपाही हूँ। नाथ! मुझे अब अपने रहने का स्थान बना लो, जिससे सदैव मैं

तुम्हारी सेवा में ही निरत रहूँ। प्रभो ! अब मुझे मरने से बचा लो। आपके अतिरिक्त अब तक धन, यश जिसकी भी सेवा में रहा, वहाँ सर्वत्र कष्टदायक मरण ही मरण था। अब मुझे मत मरने दो। अपनी सेवा में लेकर मेरा त्राण करो।

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥

(ऋ० ७, ८६, ७)

जैसे सेवक अपने स्वामी की सेवा करता है, उसी प्रकार मैं कामनाओं को वर्षाने वाले, सफल करने वाले, विश्व का भरण-पोषण करने वाले परम देव परमेश्वर की अपराध-रहित अर्थात् निष्पाप होकर सेवा करता रहूँ। प्रभु दिव्य हैं, मेरे अर्यः = स्वामी हैं। वे मुझ जैसे अचित् अर्थात् अज्ञानी को चेताया करते हैं। वे सर्वज्ञ हैं और अपने स्तुति-कर्ता भक्तजन को कल्याण की ओर ले जाते हैं।

दास्यासक्ति में भक्त भगवान् की उपस्थिति को पग-पग पर अनुभव करता है। वह प्रभु की महत्ता और ऐश्वर्य से प्रभावित रहता है। विश्व में चारों ओर उसे भगवान् का वैभव ही विकीर्ण हुआ दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद १०, १२१, ४ के अनुसार ये हिमधवल ऊँचे-ऊँचे पर्वत उसी प्रभु की अविचल सत्ता को प्रकट कर रहे हैं। सरिताओं के साथ समुद्र उसकी उज्ज्वल कीर्ति का वर्णन कर रहे हैं। ये समस्त दिशायें जिसकी रक्षक बाहुओं के समान फैली हुई हैं, भक्त त्यागपूर्वक उसी प्रभु की सेवा करने के लिये सन्नद्ध हो जाता है।

परम विरह : सभी भक्त प्रभु के विरह की अनुभूति से व्याकुल रहे हैं। यही व्याकुलता उन्हें प्रभु के पास भी ले गई है। लौकिक विरह में आचार्यों ने एकादश अवस्थाओं का परिगणन किया है। अध्यात्मपक्ष में उन सब का समावेश असंभव है। उसमें स्मरण, गुणकथन, व्याकुलता, अभिलाषा जैसी कुछ थोड़ी-सी अवस्थायें ही आ सकती हैं। स्मरण और गुण-कथन का वर्णन हम कर चुके हैं। विरहजन्य व्याकुलता का वर्णन एक पृथक् शीर्षक में हो चुका है। अभिलाषा का उल्लेख नीचे लिखे मंत्रों में है :—

स त्वन्नोऽअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि॥

(ऋ० ४, १, ५)

परम देव ! तुम कितने परम हो । तुमसे मैं कितनी दूर हूँ । जब से तुमसे पृथक् हुआ हूँ, तब से तुम्हारे महनीय महल के दर्शन नहीं हुये । इस अवम, नीची, कष्टमयी भूमि पर पड़ा हुआ कितने कष्ट उठा रहा हूँ । नाथ ! क्या मेरी रक्षा करने के लिये तुम अपने परमधाम को छोड़कर नीचे, मेरे निकट से निकट नहीं आ सकते ? देखो, यह उषा ऊपर से उतरकर नीचे आ गई है । तुम भी मेरे पास आ जाओ । और यह आना-जाना भी क्या ? तुम केवल उस वारक आवरण को फाड़ दो, जो तुमको मुझसे अलग किये है । बस, नाथ ! इस परदे के फटते ही तुम्हारे मंगलमय दर्शन मुझे हो जायेंगे । नाथ ! कृपा करो । मेरे पास रममाण होकर मुझे सुख दो, अपने आनन्दप्रद रूप को प्रकट करो । मेरी पुकार पर एक बार तो दर्शन दे दो ।

> यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
> स्युष्टे सत्या इहाशिषः । (ऋ० ८, ४४, २३)

हे प्रत्यक्ष प्रभु ! यह वियोग अब असह्य हो उठा है । इसे दूर करो । अब या तो तुम मैं बन जाओ या मैं तुम बन जाऊँ । तुम्हारे आशीर्वाद तभी सत्य सिद्ध हो सकेंगे ।

तन्मयता : तन्मयता में अनन्यता रहती है । भक्त प्रभु में अपने आपको इतना लीन कर देता है कि उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की रुचि ही नहीं करता । उठते, बैठते, सोते, जागते सदैव उसी के ध्यान में मग्न रहता है । यथा :—

> न घा त्वद्रिक् अपवेति मे मनः त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय ।
> राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सुसोमेऽवपानमस्तु ते ॥
> (ऋ० १०, ४३, २)

हे प्यारे पुरुहूत ! अब तुम्हें छोड़कर मेरा मन अन्यत्र कहीं भी नहीं जाना चाहता । मेरी समस्त कामनायें तुम्हारे ही अन्दर आश्रित हो गई हैं । हे परम दर्शनीय ! अब तुम राजा की भाँति मेरे हृदयासन पर बैठो और यहीं सोमपान करते रहो ।

> न घेम् अन्यत् आपपन वज्रिन् अपसो नविष्टौ ।
> तवेदु स्तोमं चिकेत ॥ (ऋ० ८, २, १७)

हे पाप-निवारक प्रभु ! अब मैं अन्य किसी को भी प्राप्त करना नहीं चाहता। तुम एक को प्राप्त करके मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया। अब मैं प्रत्येक अभिनव कर्म के प्रारम्भ में एक तुम्हारी ही स्तुति करना जानता हूँ।

महे चन त्वा मद्रिवः पराशुल्काय देयाम्।

न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ (ऋ० ८, १, ५)

हे सर्ववशी ! हे शक्तिशाली ! हे परम अमूल्य प्रभु ! अब चाहे कोई व्यक्ति मुझे कितना ही लुभाये, कितना ही दे, सौ, सहस्र, लाख, पर मैं कितने भी मूल्य के बदले में अब तुझे देने वाला नहीं हूँ। तुझ अमूल्य का यह विश्व मूल्य ही क्या लगा सकता है ?

सख्यासक्ति : जो हृदय विकारों से विहीन, प्रपञ्च से पृथक् और राग से रहित हो चुका है, वही प्रभु के सखाभाव को प्राप्त करता है। भक्ति-साधना में यह सर्वोच्च कोटि की भाव-स्थिति मानी गई है। इसी स्थिति में मानस चिति की लहरों से ओत-प्रोत होता है और ऐसा ही आत्मा आनन्द का अनुभव करता है। वेद के शब्दों में :

पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः। सखित्वमावृणीमहे ॥ (ऋ० ९,६१,४)

जीवात्मा जब प्रभु के सखाभाव को वरण कर लेता है, तो पवमान प्रभु उसके पवित्र अन्तःकरण को अपनी आनन्दधाराओं से आर्द्र कर देते हैं।

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः।

यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ॥ (ऋ० ८, ६१, ११)

उस बलवान् परमेश्वर को जो जीव अपने प्रत्येक यज्ञकर्म में सखा बना लेते हैं, वे फिर पाप नहीं करते, प्रत्युत पवित्र, त्यागी एवं ज्ञान से प्रदीप्त हो उठते हैं।

बृहदिद् इध्म एषां भूरिशस्तं पृथुःस्वरुः।

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ (ऋ० ८, ४५, २)

वह सतत समर्थ परमेश्वर जिनका सखा बन गया, उनका इध्म अर्थात् संदीप्ति विशाल हो जाती है, अनेक मनुष्य उनकी प्रशंसा करने लगते हैं और उनका स्वरु अर्थात् यज्ञ का आधार सुदृढ एवं पुष्ट हो जाता है।

अयुद्ध इद् युधावृतं शूर आजति सत्वभिः।

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ (ऋ० ८, ४५, ३)

वह सतत समर्थ परमेश्वर जिनका सखा है, वे ही सच्चे शूरवीर हैं। वे युद्ध नहीं करते, पर अपने सात्विक बल से अनेक योधाओं के बल को पराजित कर सकते हैं।

आत्मनिवेदन के सम्बन्ध में इसके पूर्व लिखा जा चुका है। वात्सल्य आसक्ति को सामवेद ने 'वत्सं न मातरः' कहकर प्रकट किया है। इसका भी संकेत हम पहले कर चुके हैं। कान्तासक्ति के उदाहरण वेद में अधिक उपलब्ध नहीं होते, केवल कुछ संकेत प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। ऋग्वेद के दो मन्त्र और नीचे अङ्कित किये जाते हैं, जो इस भावना का अच्छा परिचय देते हैं—

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वाउशतीरनूषत।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥

(१०, ४३, १)

सुख का ज्ञान रखने वाली, एक ही मार्ग में बढ़ने वाली, प्रभु-प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियाँ आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं, और जैसे स्त्रियाँ अपने पति का आलिङ्गन करती हैं, वैसे ही मेरी बुद्धियाँ ऐश्वर्यशाली पवित्र प्रभु का स्वरक्षा के लिये आलिङ्गन कर रही हैं।

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः।
पतिं न पत्नीरुशती रुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः॥

(ऋ० १, ६२, ११)

हे दर्शनीय देव! सनातनत्व की अभिलाषिणी और तुम्हारे अन्दर बस जाने की कामना करने वाली मेरी बुद्धियाँ नवीन स्तोत्रों और नमन के द्वारा तुम्हारी ओर दौड़ रही हैं। हे सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु! ये बुद्धियाँ तुम्हारा वैसा ही स्पर्श करना चाहती हैं, जैसे कामनाशील पत्नी कामनायुक्त पति का स्पर्श करती है।

आचार्यों ने भक्ति-सम्बन्धी भावनाओं को वर्गीकरण के वृत्त में आवृत करने का प्रयत्न किया है, पर भावनायें अनन्त हैं। वे बन्धनों में नहीं बाँधी जा सकतीं। आगे हम कुछ ऐसी ही साधन तथा सिद्धि से सम्बन्ध रखने वाली ऋचायें प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें अंकित कुछ भावनाओं का वर्गीकरण अभी तक नहीं हो सका है।

साधन :

पीछे प्रार्थना में भक्त की जो भावनायें प्रकट हुई हैं, वे उसके अभावों से सम्बन्ध रखती हैं। अभावों की पूर्त्ति साधन-पथ का भी निर्देश करती है। अतः जो कुछ लिखा जा चुका है, उसमें कतिपय साधनों का उल्लेख भी आ गया है। यहाँ हम उन विशिष्ट साधनों पर वेद-मन्त्रों के आधार से कुछ लिखेंगे, जिन्हें प्रभु-प्राप्ति के लिये परमावश्यक माना गया है और भक्ति भी जिनमें से एक साधन है।

साधन-क्षेत्र में सर्वप्रथम साधक को साधना के लिये उद्बुद्ध किया जाता है। उसके मन को साधना में लगाने के लिये स्वशक्ति से परिचित कराया जाता है। नीचे उद्धृत वेद-मन्त्र इसी प्रकार के उद्बोधन को सूचित करता है :

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासान्तरिक्षमापृण।
ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद् दृंह॥

(यजु० १७, ७२)

'साधक जीव! तू सुन्दर पंखों से उड़ने वाला, उन्नति करने वाला और गौरवशाली सत्त्व है। तू पृथ्वी की पीठ पर बैठ जा और अपनी ज्योति से अन्तरिक्ष को भर दे। अपने प्रकाश से तू द्युलोक को ऊपर उठा दे। अपने तेज से दिशाओं को दृढ़ कर दे।'

इस वेद-मन्त्र के दो भाग हैं। प्रथम भाग जीव की शक्तियों का परिचायक है। अपनी शक्ति का ज्ञान हो जाने से प्रत्येक प्राणी को बड़ा बल मिलता है। इस ज्ञान के अभाव में सारी शक्ति कुण्ठित पड़ी रहती है। जीव के गुण, उसका सामर्थ्य स्वभावतः उन्नतिपथ-गामी हैं। वह प्रकृति या माया के संसर्ग से अपने इन गुणों को विस्मृत कर देता है। वह सुपर्ण है, सुन्दर पंखों वाला अर्थात् उड़ने वाला है। उसकी शक्ति अधोगामिनी न होकर ऊर्ध्व-गमन[1] वाली है। वह गरुत्मान् अर्थात् गौरवशाली है; हलका, निष्प्रभ और कायर नहीं है। यदि प्रकृति उसे दबाती है, तो उसे दबना नहीं चाहिये। प्रकृति के सच्चे स्वरूप से परिचित होकर, उसे उसकी पीठ पर बैठ

---

१. अथर्ववेद ८।१।६ में भी 'उद्यानन्ते पुरुष नावयानम्' शब्दों द्वारा जीव की इसी शक्ति का वर्णन किया गया है।

जाना चाहिये। प्रकृति उसकी सेविका है, स्वामिनी नहीं। जीव प्रकृति की सवारी के लिये नहीं, प्रत्युत प्रकृति जीव की सवारी के लिये है। प्रकृति की पीठ पर बैठकर जीव उसका यथोचित उपयोग कर सकता है।

मन्त्र का दूसरा भाग जीव के कर्त्तव्य का निर्देश करता है। जीव को सर्वप्रथम प्रकृति का बनना स्वामी है। इसके अनन्तर उसे अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से परिपूर्ण करना है। अध्यात्मक्षेत्र में हृदय अन्तरिक्ष का स्थानीय या प्रतीक है। इस हृदय को अपने प्रकाश से ओत-प्रोत करना चाहिये। इसके पश्चात् द्युलोक को अपनी ज्योति से ऊपर उठाने का कार्य है। द्युलोक अध्यात्म में मस्तिष्क या बुद्धि है। बुद्धि को ऊपर उठाने का अर्थ है—उसे परम ज्योति के साथ संयुक्त करना। अन्तिम कार्य है दिशाओं को दृढ़ करना, जिसका अर्थ है अपनी परिस्थिति या श्रुत को सुदृढ़ बनाना।

उद्बोधन के पश्चात् साधक को अपने लक्ष्य या गन्तव्य का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। गन्तव्य के ज्ञान से ही उसके लिये उपयुक्त साधनों का निर्णय किया जा सकता है। नीचे लिखे मन्त्र में इस लक्ष्य का उल्लेख किया गया है :

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (ऋ० १, ५०, १०)

जीव को अन्धकार से परे होकर आत्मदर्शन करना चाहिये और उसके पश्चात् उसे सर्वोत्तम ज्योति, देवों के देव परम सूर्य परमेश्वर को प्राप्त करना चाहिये।

अन्धकार क्या है? साधारण अँधेरा मानव की नेत्र-ज्योति को, दर्शन-शक्ति को विफल बना देता है। आँखें रहते हुए भी उसे कुछ दिखाई नहीं देता। प्राकृतिक-पदार्थों का उपभोग और स्वाद भी यही कार्य करता है। यह जीव की चेतना को नष्ट कर देता है। जीवको भोगोंमें रस आने लगता है। संसार के सामान्य भोगों से लेकर महान्, ऐश्वर्यशाली भोग-विभवों तक की यही दशा है। उनका परिणाम तृप्ति नहीं, तृष्णा है। यही तम है, नभ (न भाति इति) है, अन्धकार है। भोग से विरत होने पर ही आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। तम के अन्त में रज और रज के अन्त में सत् के आविर्भाव का क्रम है। सत् आत्म-ज्योति की झलक दिखा जाता है। अतः उसे उत् की संज्ञा मन्त्र में दी गई है। इससे उत्तर, श्रेष्ठतर स्वः है, आत्मस्वरूप है, अपना-आप है। परन्तु

आत्मस्वरूप से भी बढ़ कर वेद ने देवों के देव परमेश्वर को माना है, जो उत्तर से भी ऊपर उत्तम ज्योति है। उत्, उत्तर और उत्तम का यह श्रेणीविभाग मनन करने योग्य है। वेद ने इस विभागपद्धति का सर्वत्र निर्वाह किया है।

ब्रह्माण्ड में जैसे सूर्य अन्य पृथ्वी, मंगल, शुक्र आदि देवों का देव है, उसी प्रकार अध्यात्म में इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूपी देवों का देव आत्मा है और समस्त आत्माओं का भी आत्मा परमात्मा है। भक्ति के क्षेत्र में इसी को प्रभु, ईश्वर, भगवान्, नारायण आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। जीव का लक्ष्य इसी प्रभु की प्राप्ति है। इस प्राप्ति के लिये वेद में नीचे लिखे साधनों का वर्णन हुआ है :

जगत् का ज्ञान :—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश॥
(यजु० ३२, ११)

परि द्यावा पृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वेषो अग्निः॥
(अथर्व २, १, ४)

परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परिलोकान् परि दिशः परिस्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥
(यजु० ३२, १२)

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशेकम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त॥
(अथर्व २, १, ५)

जीवात्मा भिन्न-भिन्न प्राणियों की योनियों में घूमकर, भिन्न-भिन्न लोकों और समस्त दिशाओं एवं प्रदिशाओं में घूम कर जब ऋत की प्रथमजा का आश्रय लेता है, तब वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है और आत्म-ज्ञान द्वारा परमात्मा में प्रवेश करता है।

द्यावापृथ्वी, समस्त भुवन, दिशा और स्वर्-लोक को सब ओर से शीघ्र ही समझकर, जब साधक (आत्मा) ऋत के फैले हुए तन्तु को चीर डालता है, तभी वह प्रभु के दर्शन करता है और वही हो जाता है। वही वह था।

पृथ्वी से लेकर द्युलोक तक मैं घूम आया हूँ और अब ऋत की प्रथमजा की शरण ग्रहण करता हूँ। इसी की शरण में आने पर मुझे ज्ञान हुआ है कि जैसे वक्ता के अन्दर उसकी समस्त वाणी निहित रहती है, उसी प्रकार उस धारण करने वाले प्रकाशस्वरूप परमात्मा में समस्त भुवन समाये हुये हैं।

मैं समस्त भुवनों में घूम आया हूँ। घूमकर मैंने एक ही वस्तु देखी कि ऋत का तन्तु सर्वत्र विस्तृत हो रहा है। यह ऋत ही समस्त देवताओं की वह समान योनि है, मूल-स्थान है, जहाँ देव अमृत का उपभोग करते हुये स्वेच्छा-पूर्वक विहार करते हैं।

इन मन्त्रों में प्रभु के अमृत पद को प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम जगत् का ज्ञान आवश्यक माना[१] गया है। समस्त जगत् में और विभिन्न योनियों में घूमकर ही जीव को उसका ज्ञान प्राप्त होता है। वह जगत् के मूल कारण ऋत की प्रथमजा को अनुभव करने लगता है, जिसका तन्तु ही इस निखिल जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों में फैला हुआ है। ऋत के ज्ञान में वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है और फिर देखता है कि वह परमात्म-तत्त्व जगत् में और अपने में सर्वत्र ओत-प्रोत है।

ऋत की प्रथमजा क्या है? ऋग्वेद के अघमर्षणसूक्त में प्रभु के अभीद्ध-तप से ऋत और सत्य दो तत्त्वों की उत्पत्ति वर्णित हुई है। ऋत गत्यात्मक तत्त्व है और सत्य सत्ता, स्थिरता या अस्तित्व का कारण है। एक को शक्ति और दूसरे को द्रव्य कहा जा सकता[२] है। शक्ति का प्रथम रूप बुद्धि है। बुद्धि-तत्त्व ही ऋत की प्रथमजा है। यही सांख्य और कठोपनिषद् का महत्तत्त्व है। यही

---

१. Sir James Jeans अपने ग्रन्थ 'The universe around us' (संस्करण १९३०) के पृष्ठ ८ पर लिखता है: 'Before he can understand himself, man must first understand the universe from which all his sense-perceptions are drawn.

२. Sir Arthur Eddington अपने ग्रन्थ 'The Expanding universe' के पृष्ठ ४९ पर लिखता है: 'The Situation has been summed up in the statement that Einstein's universe Contains matter, but no motion, and Desitter's contains motion, but no matter. But the fact is this that the actual universe contains both matter and motion. - मेटर और मोशन ही वेद के सत्य और ऋत कहे जा सकते हैं।

सत्व अर्थात् स्थिति-परक तत्व के साथ विश्व भर में फैला हुआ है। वैज्ञानिक ऐटम, एलेक्ट्रन और फ़ोटोन में गति के जिन कम्पनों या लहरों को अनुभव करते हैं, उनका भी मूल कारण यही है। सर जेम्स जीन्स अपने ग्रन्थ The Mysterious universe के पृष्ठ[१] १६९ पर एलेक्ट्रन या ऐटम में पाये जाने वाले गति के इन कम्पनों को यन्त्र (मशीन) के अवयवों की गति से नहीं, प्रत्युत एक नर्तक की नृत्यसम्बन्धी गतियों से उपमित करता है। जैसे नर्तन-गतियाँ अपने नर्तक का ज्ञान कराती हैं, वैसे ही ऋतितत्त्व परमात्मा का ज्ञान कराता है। वेद ने प्रभु को कवि तो अनेक स्थानों पर कहा है, पर कहीं-कहीं उसे नर्तक का भी रूप प्रदान किया है, जैसे—

इन्द्र इद् नो महोनां दाता वाजानां नृतुः।
महाँ अभिज्ञु आयमत् ॥ (ऋ० ८, ९२, ३)

परमेश्वर समस्त तेजों और बलों के देने वाले हैं। वे महान् हैं और इस निखिल जगत् को नचाने वाले हैं। वे इसकी समस्त गति-विधियों में समाये हुये हैं और सबका नियमन करने वाले हैं।

आत्मज्ञान

ऋत की प्रथमजा प्रथम आत्मज्ञान कराती है। इसी की सहायता से मानव अपने वास्तविक रूप को अनुभव करता है। वह देखता है:

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥ (ऋ० ४, २, १)

जो मरणशील शरीर के अवयवों के अन्दर कभी न मरने वाला, इन्द्रियादि देवताओं के बीच असंगरूप से संयुक्त आत्मदेव ऋततत्त्व से रक्षित होकर निहित है, वह आदान-प्रदान करने वाला है, यजनीय है और शरीर के अन्दर अपनी महिमा द्वारा प्रदीप्त होने के लिये विराजमान है।

इस आत्मा का शरीर के अन्दर स्वराज्य होना चाहिये। बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ सब जब आत्मा के शासन में चलती हैं, तभी सच्चा स्वराज्य होता है और तभी वास्तविक आनन्द की प्राप्ति भी होती है। वेद के शब्दों में—

---

१. The motions of electrons and atoms do not resemble those of the parts of a locomotive so much as those of the dancers in a cotillion.

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥
(ऋ० १, ८४, १०)

जो गौरी अर्थात् इन्द्रियाँ आत्मा के साथ मिलकर चलती हैं, उच्छृङ्खल नहीं बनतीं, स्वराज्य का, आत्मा के राज्य या शासन का अनुसरण करती हैं, वे वसुरूप बनकर व्यापक स्वादुमय मधु का पान करती हैं।

आत्मज्ञान से आत्मशक्तियों अर्थात् बुद्धि, मन, इन्द्रियादि को अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वे प्रदीप्त हो उठती हैं। बाह्यकरण अन्तःकरण के साथ और अन्तःकरण आत्मा के साथ मिलकर अनेक अलौकिक सिद्धियों से शोभित हो उठते हैं। इस अवस्था में इन्द्रियों का अधिपति इन्द्र अर्थात् आत्मा समस्त इन्द्रियरूप देवों को अतिक्रान्त कर जाता है। वह सबके ऊपर प्रतिष्ठित होता है और इसी ऊर्ध्व अवस्था में निकट से प्रभु का दर्शन करता है। ऐतरेय ७-१६ में इन्द्र (आत्मा) को सब देवों (इन्द्रियों) में ओजिष्ठ, बलिष्ठ, सहिष्ठ, सत्तम और पारयिष्णुतम कहा गया है। आगे लिखा है-

इन्द्रो अतितरामिव अन्यान् देवान्।
स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, स हि एनत् प्रथमो विदांचकार ब्रह्म इति।

आत्मपुरुष जिस पुरी में रहता है, वहाँ पाँच चोर आँख बचाकर सदैव चोरी करते रहते हैं और आत्म-सम्पत्ति को ह्रास की ओर ले जाते हैं। ये पाँच चोर हैं: काम, मोह, क्रोध, लोभ और अहंकार। अनुभवी सन्तों का कहना है कि काम और मोह की नाड़ियाँ शिर के बाईं ओर हैं, क्रोध और लोभ की नाड़ियाँ दाहिनी ओर हैं तथा अहंकार की नाड़ी शिर के बीचोबीच होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक गई है। सामान्यतया काम और मोह का युग्म तमोमय तथा क्रोध और लोभ का युग्म रजोमय होता है। इन युग्मों में से काम, क्रोध और लोभ पर विजय प्राप्त करनी चाहिये, संयम द्वारा इन्हें सिकोड़ना चाहिये। मोह को सिकोड़ना नहीं, प्रत्युत् फैलाना चाहिये। इसी से विश्व-बन्धुत्व-भावना का जागरण होता है। अन्तिम पाँचवें चोर अहंकार को 'इदम् मम' कहकर प्रभु के आगे समर्पित कर देना चाहिये। यह समर्पण वैष्णवभक्तिमार्ग में प्रपत्ति संज्ञा से अभिहित हुआ है। ये सिमिटाव, फैलाव तथा समर्पण मानसिक रूप से

भक्ति-भावना के अङ्ग हैं और आत्मा को परमात्मा की ओर ले जाने वाले हैं। इनके बिना आत्म-ज्ञान का होना असम्भव है।

शरीर का दमन :

आत्मिक स्वराज्य में शरीर को बिगड़ने के लिये उन्मुक्त या स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता। आत्मा की शक्ति शरीर को वशीभूत करने में ही निहित है। वेद कहता है :

> यो अग्निं तन्वो दमे देवं मर्त्तः सपर्यति।
> तस्मा इदीदयद् वसु॥ (ऋ० ८, ४४, १५)

जो शरीर को अपना घर समझता है, अर्थात् उसका दमन करके अपने वश में रखता है, जो शरीर के लिये नहीं, प्रत्युत शरीर जिसके लिये है, वही प्रभु की पूजा कर सकता है और उसी को वसु अर्थात् वासवी शक्ति प्राप्त होती है।

ऋग्वेद १–७२–५ में 'रिरिक्वांसः तन्वः कृण्वत स्वाः' अपने शरीरों को तप से कृश करने वाले प्रभु के भक्तों का वर्णन है। ऋ० ९–८३–१ में लिखा है : 'अतप्त तनूर्न तदामो अश्नुते'—जो कच्चा है, जिसने तप की भट्ठी में अपने को डालकर पका नहीं लिया, वह उस प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता।

कर्म, ज्ञान और प्रेम :

आत्मा के पास कर्म, ज्ञान और प्रेम तीन ऐसे साधन हैं, जो उसे परमात्मा से मिलाने वाले हैं। इन तीनों साधनों का उल्लेख नीचे लिखे मन्त्र में है :

> त्वं हि अग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता।
> सखा सख्या समिध्यसे॥ (ऋ० ८, ४३, १४)

हे परम-प्रकाश-स्वरूप प्रभो! तुम अग्नि अर्थात् तपरूप कर्म द्वारा प्रदीप्त होते हो। तुम महान् विप्र हो, ज्ञानी हो और ज्ञान द्वारा ही प्रदीप्त होते हो। तुम सखा हो, परम प्रिय मित्र हो, अतः प्रेम द्वारा प्रदीप्त होते हो।

वेद कर्म, ज्ञान और प्रेम तीनों साधनों को प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक समझता है। परवर्ती साहित्य में वैष्णवों ने प्रेम अथवा भक्ति को कर्म और ज्ञान दोनों से उच्चतर माना है और कर्मको माया का जञ्जाल समझकर अत्यन्त हीन स्थान प्रदान किया है। वेद ऐसा नहीं कहता। नीचे लिखे मन्त्र में कर्म अनिवार्य साधन के रूप में वर्णित हुआ है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजु० ४०, २)

सतत कर्म करते हुए ही मानव को सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये। कर्म से अलिप्त रहने का एक ही मार्ग है—कर्म को कर्तव्य समझकर करना, उसमें आसक्ति या फलाकांक्षा न रखना। इसी से कल्याण की प्राप्ति होती है। ऋ० ६, ७, ४ के अनुसार 'तव क्रतुभिः अमृतत्वमायन्' जो अपने लिये नहीं प्रभु के लिये कर्म करता है वह मोक्ष पाता है।

कर्महीन की निन्दा

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधो दासस्य दम्भय॥

(ऋ० १०, २२, ८)

जो मनुष्य कर्महीन है अर्थात् कर्म नहीं करता, वह दस्यु है। जो कर्म नहीं करेगा, स्वयं पसीना बहा कर नहीं कमावेगा, वह दस्यु बनकर दूसरों की पैदा की हुई सामग्री छीनेगा। वह अमन्तु अर्थात् सत्य और असत्य में भेद करनेवाली मननशक्ति से वंचित होकर अन्यव्रत अर्थात उल्टे, अविहित मार्गों पर चलेगा और इस प्रकार अमानुष बनेगा, मनुष्यता से पतित हो जायगा। भगवान् ऐसे मनुष्य का विनाश कर देते हैं।

जागरूक कर्मकाण्डी की प्रशंसा

इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ (ऋ० ८।२।१८)

दिव्य शक्तियाँ निद्रा-ग्रस्त प्राणी को नहीं, सतत जागरूक कर्मकाण्डी व्यक्ति को ही चाहती हैं। वे स्वयं प्रमाद-रहित हैं, अतः प्रमादी पुरुष को दण्ड देती हैं। ऋग्वेद ४, ३३, ११ के अनुसार देवों की मैत्री उसी व्यक्ति को प्राप्त होती है, जो परिश्रम करके श्रान्त हो जाता है, थक जाता है।[1] ऋग्वेद ५, ४४, १४ में लिखा है कि जो व्यक्ति जागृत रहते हैं, प्रमाद नहीं करते, उनको ही ऋचायें और सामस्तुतियाँ चाहती हैं। सोम अर्थात् अपनी शक्ति से सम्पन्न प्रभु भी उनके अपने बन जाते हैं।[2]

---

१. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

२. यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।

सच्चरित्र :

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।

उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥ (यजु० ४, २८)

हे प्रभो ! मुझे दुश्चरित से बाधित करके सुचरित में लगा दो । मैं अपने जीवन द्वारा अमृतरूप मुक्तात्माओं के पथ पर चलकर ऊपर उठूँ । ऋ० १०, ३३, ९ में लिखा है कि जो मनुष्य देवों या मुक्तात्माओं के व्रत का अतिक्रमण करता है, उनके व्रत के अनुसार जीवन व्यतीत नहीं करता, वह शतात्मा अर्थात् सौ मनुष्यों की शक्ति वाला होकर भी अपने शाश्वत सखा प्रभु से ही नहीं, अपने सांसारिक साथियों से भी वियुक्त हो जाता है।[1] ऋ० १०, ५७, १ में इसीलिए प्रार्थना की गई है :—'मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः । माऽन्तः स्थुर्नो अरातयः' ॥ प्रभु हम सत्पथ को छोड़कर असत्पथ पर कभी न चलें, हम यज्ञकर्म का कभी परित्याग न करें, अदान अर्थात् स्वार्थ, लोभ, मोह आदि शत्रु हमारे अन्दर न ठहरें ।

सत्संकल्प :

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे ।

ताभिष्ट्वमस्माँ अभि संविशस्व, अन्यत्र पापीरपवेशया धियः ॥

(अथर्व ९, २, २५)

हे काम ! जो तुम्हारे शिव और भद्र रूप हैं, जिनके द्वारा इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाती है, उन्हीं के साथ तुम हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाओ, पापीयसी बुद्धियों और संकल्पों को हमसे दूर कर दो । यजुर्वेद अध्याय ३४ के प्रथम ६ मन्त्रों में भी मन को शिव-संकल्प बनाने की प्रार्थना की गई है ।

ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ।

(अथर्व ११, ५, १९)

ब्रह्मचर्य तप द्वारा देवों ने मृत्यु को मार डाला था । इन्द्र ने भी ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवताओं को तेज और आनन्द प्रदान किया था । मृत्यु को मार डालना और अमृत की प्राप्ति करना मानव का प्रमुख उद्देश्य है । ब्रह्मचर्य उसके लिये एक प्रबल साधन है ।

---

१. न देवानामतिव्रतं शतात्मा चन जीवति । तथा युजा विववृते ।

तप और दीक्षा :

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे। (अथर्व १९,४१,१)

कल्याण की इच्छा रखने वाले आत्मज्ञानी ऋषियों ने दीक्षा ग्रहण करके तप का अनुष्ठान किया था। मन्त्र में स्वर्विदः शब्द एक ओर आत्मज्ञान का संकेत देता है, तो दूसरी ओर तृतीय धाम अर्थात् स्वर्ग का भी। आत्मा का भद्र अर्थात् भला मोक्ष की प्राप्ति में ही है। इस वेद-मन्त्र में दीक्षा और तप उसके लिये साधनरूप में वर्णित हुए हैं।

व्रत और श्रद्धा :

अभ्यादधामि समिधं अग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमि ईन्धेत्वादीक्षितो अहम्॥ (यजु० २०, २४)

हे व्रतों के पालक परमात्मा! मैं अपने को समिधा बनाकर तेरे अन्दर डाले देता हूँ। आज से मैं यही व्रत लेता हूँ और श्रद्धा को धारण करता हूँ। मैं दीक्षित होकर तुझे प्रदीप्त करता हूँ।

सत्य, श्रद्धा और तप :

ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः।
इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ (ऋ० ९, ११३, २)

प्रभु को सत्य वचन, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप द्वारा सम्पादित किया जाता है।

विवेक :

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा ᳪ सत्ये प्रजापतिः॥ (यजु० १९, ७७)

प्रजापति परमात्मा ने देखकर सत्य और असत्य को अलग-अलग कर दिया है। उसने अनृत में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा को धारण किया है। इसी प्रकार ऋग्वेद ७, १०४, १२ में लिखा है कि विज्ञानी पुरुष के सामने सत्य और असत्य दोनों ही प्रतिस्पर्धापूर्वक अपने अनेक रूप लेकर उपस्थित होते हैं, परन्तु वह समझता है कि इनमें सत्य ही सरल है, असत्य को तो भगवान् नष्ट कर देते हैं। अतः वह सत्य और असत्य में विवेक करके सत्य को ही ग्रहण करता है।

व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और श्रद्धा :

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ (यजु० १९, ३०)

व्रत अर्थात् नियम-पालन से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा (योग्यता और निपुणता), दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त किया जाता है। परमेश्वर सत्यरूप हैं। उनकी प्राप्ति के क्रमिक सोपान व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और श्रद्धा हैं।

दान :

हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते। (ऋ० १०, १०७, २)

हितकर और रमणीय पदार्थों का दान देने वाले अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

शत हस्त समाहर सहस्र हस्त सङ्किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ (अथर्व ३, २४, ५)

मानव, यदि तू सौ हाथों से इकट्ठा करता है, तो सहस्र हाथों से दान दे। इसी प्रकार तेरी तैयार की हुई और आगे होने वाली फसल वृद्धि को प्राप्त होगी। दान का महत्त्व आत्मविकास के लिये इसलिये भी स्वीकार किया गया है कि यह मानव को संकीर्णता की ओर जाने से बचा देता है। उदार हृदय सद्वृत्तियों का केन्द्र बनता है और सद्वृत्तियाँ ही मानव को प्रकाश की ओर ले जाती हैं। जो संघर्ष सत् और असत् के बीच चलता है, वह आसुरी और दैवीभावों का संघर्ष है। असुर दान नहीं देते। वे सब कुछ अपने मुख में ही डालना चाहते हैं[1]। देव इसके विपरीत दूसरों के लिये जीवन धारण करते हैं, दान देते हैं।

अनृण-भावना :

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम॥
(अथर्व० ६, ११७, ३)

इस लोक में हम ऋण-रहित हों, परवर्ती लोक में हम ऋण-रहित हों और तीसरे लोकमें भी ऋण-रहित हों। जो लोक देवयान या पितृयाण के मार्गों में पड़ते हैं, उन सब लोकों में हम ऋण-रहित हों। लोक जीवन के पश्चात्

१. असुराः स्वेषु एव आस्येषु जुह्वतश्चेरुः। शतपथ ११-१-८

भी हैं और जीवन के अन्दर भी हैं। एक जीवन में ब्रह्मचर्य से गृहस्थ आदि में प्रवेश मानों एक लोक से दूसरे लोक में जाना है। पितृयाण इष्टापूर्त का पथ है, जिसमें कर्मकाण्ड के साथ भाव का भी योग होता है। वापी, कूप, तड़ाग आदि के निर्माण में अन्दर निहित श्रद्धा की भावना निश्चितरूप से कार्य करती है। देवयान ज्ञान अथवा प्रकाश का मार्ग है, जिसकी अन्तिम परिणति भाव-योग में होती है। अतएव पितृयाण अथवा देवयान दोनों मार्ग भक्ति-भावना के सहायक और उसके अङ्गीभूत बन जाते हैं।

यज्ञ-भावना :

आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्, श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्।
मनो यज्ञेन कल्पताम्, आत्मा यज्ञेन कल्पताम्॥ (यजुर्वेद १८, २९)

मेरी आयु, प्राण, दर्शन-शक्ति, श्रवण-शक्ति, मनन-शक्ति तथा आत्मा सब यज्ञ के लिये समर्पित हों। मानव के पास जितनी सम्पत्ति है, चाहे वह बाह्य सम्पत्ति हो और चाहे आन्तरिक, वह सब यज्ञ के लिये ही अर्पित होनी चाहिये। जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता, उसका यह लोक भी नहीं बनता, परलोक के बनने की तो बात ही दूर है। लम्बी आयु, प्राणवत्ता, पर्यवेक्षण आदि से सम्बद्ध कलायें, सुना हुआ ज्ञान, उस सुने हुए का मनन अर्थात् तात्त्विक-विवेचन और अन्त में स्वयं आत्म-तत्त्व सब यज्ञमय बनने चाहिये।

यच्चिद्धि शश्वता तना देवं देवं यजामहे।
त्वे इत् हूयते हविः॥ (ऋ० १, २६, ६)

यदि यज्ञ भिन्न-भिन्न देवों के निमित्त भी किया जाता है, तो भी वह भगवान् को ही प्राप्त होता है। गीता ९, २३ में भी इसी तथ्य का[1] उल्लेख है।

योग :

युञ्जानः प्रथमं मनः तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ (यजु० ११, १)

प्रभु-प्राप्ति की आकांक्षा रखने वाला साधक पार्थिवता से ऊपर उठकर प्रथम

---

१. येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अपने मन को और तत्पश्चात् बुद्धि को उस परम तत्व के साथ योग द्वारा संयुक्त कर देता है। इसी योग से उस अग्निरूप, परम प्रकाशमय प्रभु की ज्योति उसे प्राप्त होती है। इस स्थल के आगे के अन्य मन्त्र भी योग का वर्णन करते हैं।

सत्सङ्ग :

स्वस्तिपन्था मनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददता घ्नता जानता संगमेमहि॥ (ऋ० ५, ५१, १५)

सूर्य और चन्द्र की भाँति हम कल्याणकारी मार्ग पर चलें और दानी, अहिंसक तथा ज्ञानी पुरुषों का सत्संग करें। सत्संग सत् अर्थात् भले पुरुषों की संगति करना है। हम जिस प्रकार के व्यक्ति की सङ्गति में रहेंगे, उसके विचार एवं आचरण का प्रभाव हमारे ऊपर अवश्य पड़ेगा। सत्संग इस रूप में हमें सत् की ओर प्रवृत्त करेगा, जो भक्तिमार्ग के लिये तथा अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति के लिये परमावश्यक साधन है।

मैत्रीपूर्ण व्यवहार :

दृते दृꣳहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
(यजु० ३६, १८)

हे दृढ़ बनाने वाले, मुझे ऐसा दृढ़ बना दे कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं स्वयं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ और चाहता हूँ कि हम सब आपस में एक दूसरे के प्रति मैत्री-पूर्ण व्यवहार रखें।

निर्भयता :

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥
(अथर्व १९, १५, ६)

मित्र, शत्रु, परिचित, अपरिचित सबसे हम अभय हों। रात्रि और दिन में हम निर्भय रहें। समस्त दिशायें हमारे मित्ररूप में हों।

समत्वभावना :

व्यवहार में हम किसी भी प्राणी को अपने से नीच न समझें। हम सबका पिता परमात्मा है। उसी के हम सब पुत्र हैं। इसी विचार को ध्यान में रखकर हमारा व्यवहार होना चाहिये। वेद कहता है :

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥
(ऋ० ५, ६०, ५)

हममें कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं। हम सब भाई की भाँति मिलकर सौभाग्य के लिये उन्नति करें। कल्याणकारी श्रेष्ठकर्मा रुद्र परमेश्वर हम सब के पिता हैं और हम सबको सुख देने वाली, उत्तम दूध पिलाकर पालन करने वाली प्रकृति ही हम सब की माता है।

मुदिता :

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। (ऋ० ६, ५२, ५)

हम सदैव सुमनस, आनन्दित, मुदित रहते हुए सूर्य के उदय को देखते रहें।

करुणा :

प्रथम जो दान के अन्तर्गत वेद-मन्त्र उद्धृत किया गया है, वह भी इसके अन्तर्गत आ सकता है। करुणा में मुख्य भाव दीनों पर दया करना है, यथा—

पृणीयाद् इद् नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसं अनुपश्येत पन्थाम्।
ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः॥
(ऋ० १०, ११७, ५)

धनी पुरुषों को चाहिये कि वे दीन याचक को अवश्य दान दें। इस विषय में वे जीवन-मार्ग को विशाल समझें। धन तो रथ के चक्र की भाँति ऊपर नीचे आता जाता रहता है। वह एक के पास स्थिर होकर कभी नहीं रहता। ऋग्वेद २, १२, ६ में प्रभु को "यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य" दुःखित और दुर्बल का प्रेरक अर्थात् उन्नायक कहा गया है।

पवित्रता

शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः। (ऋ० १०, १८, २)

हमें शुद्ध, पवित्र और यज्ञिय बनना चाहिये।

अथा वयमादित्य व्रते तवा नागसोऽदितये स्याम्। (यजु० १२, १२)

प्रभो! हम अखंड अवस्था की प्राप्ति के लिये पाप-रहित अर्थात् पवित्र बनें।

परमात्मज्ञान

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु० ३१, १८)

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
(ऋ० १, १६४, ३९)

जो साधक अन्धकार से परे, प्रकाशस्वरूप उस परम पुरुष को जान लेता है, वही मृत्यु को अतिक्रान्त कर पाता है। अपने घर, प्रभु के पास पहुँचने के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है। अक्षर, परम व्योम में समस्त ऋचायें सन्निहित हैं। उसी में समस्त देव विराजमान हैं। जो इस अक्षर ब्रह्म को नहीं जानता, वह ऋचाओं के पाठ से क्या प्राप्त कर सकता है? जिन्होंने इस अविनाशी ब्रह्म को जान लिया है, वे ही आनन्द-धाम में समासीन हो सकते हैं।

मन और बुद्धि का योग :

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होता दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥
(यजु० ११, ४)

व्यापक ज्ञान वाले विप्र उस महाचेतन ज्ञानी के साथ अपने मन और बुद्धियों को संयुक्त कर देते हैं। उस देव की महती स्तुति उन्हें चारों ओर से धारण कर लेती है।

ज्ञान और कर्म का योग

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥
(अथर्व० १७, १, २७)

मैंने प्रजापति परमात्मा के महान् ज्ञानरूपी कवच से अपने को आच्छादित कर लिया है। उस सर्व-दर्शी प्रभु के तेज और प्रकाश से सुरक्षित मैं वृद्धावस्था पर्यन्त, सहस्र वर्षों की आयु को भी भोगता हुआ तथा पावन कर्म करता हुआ जीवित रहूँगा।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयᳬं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (यजु० ४०, १४)

जो विद्या और अविद्या, ज्ञान और कर्म दोनों को साथ-साथ जानता है, वह कर्म से मृत्यु को पार करके ज्ञान द्वारा अमृत अवस्था को प्राप्त करता है।

हृदय और मूर्धा का योग—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। (अथर्व १०, २, २६)

अथर्व का अर्थ है अविचलित अवस्था, जिसे वेद अथर्वा भी कहता है। इस अवस्था में मूर्धा अथवा मस्तिष्क जो बुद्धि का केन्द्र है, हृदय के साथ जो भाव का केन्द्र है, एक हो जाता है।

वास्तविक ज्ञान और कर्म से शून्य प्राणी आवागमन के क्लेश सहता है :

य ईं चकार न सो अस्य वेद, य ईं ददर्श हिरगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तः, बहु प्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥
(ऋ० १, १६४, ३२)

जिसे न अपने कर्म का ज्ञान है, न जो कुछ देखता है, उसे ही जानता है, जिसका किया हुआ और देखा हुआ अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों ही व्यर्थ हैं, वह माता के गर्भ में बार-बार झिल्ली या अज्ञान से ढका जाकर बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ घोर कष्ट पाता है।

विस्तृत अनुभवी, कुशाग्रबुद्धि, पाप शून्य ज्ञानी ही अमृतरूप प्रभु को प्राप्त करते हैं :

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥

(ऋ० १०, ६३, ४)

मनुष्यों की पहिचान रखने वाले, सतत जागरूक, दिव्य-गुण-सम्पन्न, ज्योतिरूपी रथ में रमण करने वाले, व्यापक बुद्धि वाले, पाप-रहित जीव ही दिव्यता के सर्वोच्च शिखर पर कल्याण के लिये निवास करते हैं। गीता ४-३८ के अनुसार ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाली और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञानाग्नि द्वारा समस्त मलिनता को भस्म कर देता है।

सुकृत, यज्ञ और ज्ञानाग्नि द्वारा स्वर्ग, नाक और द्यौ की क्रमशः प्राप्ति :

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान् स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥

(अथर्व० १८, ४, १४)

पुण्य कर्म करने वाले प्राणी के आगे स्वर्ग की ओर ले जाने वाला देवयान मार्ग इस अन्धकारमय संसार में प्रकाशित हो उठता है। ईजानः अर्थात् यजनशील देवता नाक की पीठ पर बैठ जाते हैं और चित्स्वरूप अग्नि का आरोहण करने वाले साधक नाक से भी ऊपर प्रकाश-परिपूर्ण द्यौ लोक को प्राप्त कर लेते हैं, ऊपर उड़कर प्रकाश में विचरण करने लगते हैं। इस मन्त्र में जिन तीन मंगल-मयी स्थितियों का निर्देश है, उनका उल्लेख परवर्ती साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। स्वर्ग, नाक और द्यौ लोक में क्या अन्तर है, इसे हृदयंगम करने के लिये वैदिक ऋषि की अनुभूति चाहिये। वैष्णव आचार्यों ने वैकुण्ठ के विभाग तो अनेक किये हैं, परन्तु उन विभागों में शृङ्गार की सज्जा अधिक दिखाई देती है। 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' में हमने पद्मपुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण के जो उद्धरण इस सम्बन्ध में दिये हैं, वे राधा और कृष्ण के इसी शृङ्गारी रूप से अधिकतर सम्बद्ध हैं। उनमें स्वर्ग, नाक और द्यौ जैसा विभाग दिखाई नहीं देता।

साधन में जुटे रहो और ज्ञान की रक्षा करो

अप्रतीतो जयति सन्धनानि, प्रतिजन्यानि उत या सजन्या ।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥

(ऋ० ४, ५०, ९)

जो साधक साधना-पथ पर चल कर पीछे की ओर पैर नहीं हटाता, वह प्रतिजन-सम्बन्धी तथा समाज-सम्बन्धी समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है। इसी के साथ जो रक्षा की कामना रखने वाले ज्ञानी ब्राह्मण की सेवा और रक्षा करता है, उसकी रक्षा और सहायता देवता करते हैं।

ज्ञानपूर्वक त्याग

जुहुरे विचितयन्तो अनिमिषं नृम्णं पान्ति ।
आ दृळ्हां पुरं विविशुः ॥ (ऋ० ५, १९, २)

जो ज्ञान-पूर्वक त्याग करते हैं, अथवा ज्ञान का भी अभिमान नहीं रखते, वे सतत जागरूक रह कर आत्मशक्ति को बचा लेते हैं और ऐसी पुरी में प्रवेश करते हैं, जो अभेद्य है। साधारण नगरों में चोरों के आक्रमण प्रायः होते रहते हैं, परन्तु जिस दृढ़ नगरी में त्यागी महात्मा ज्ञान का सम्बल लेकर प्रवेश करते हैं, वह नगरी भूमण्डल की साधारण नगरियों से विभिन्न है। यह नगरी अध्यात्म क्षेत्र की अयोध्या है, जिसके साथ कोई युद्ध नहीं कर सकता, जिसके ऊपर कोई आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकता। लौकिक तथा मानसिक चोर इस नगरी के बाहर भले ही उछल-कूद मचा लें, परन्तु इसके अन्दर प्रवेश पाना उनके लिये सर्वथा असम्भव है।

प्रेमा भक्ति

कर्म और ज्ञान की सम्पत्ति के साथ वेद ने प्रभु-प्रेम को भी महत्ता दी है। इस सम्बन्ध में कुछ संकेत हम इसके पहले ही कर चुके हैं। जिन स्थलों पर वैदिक मन्त्रों में कर्म और ज्ञान द्वारा अमृत तत्त्व की प्राप्ति का वर्णन है, वहाँ प्रभु में प्रवेश पाने के लिये द्वारोद्घाटन जैसा सिद्धार्थ समझना चाहिये। स्वयं कर्म कर्म के जटिल जाल को काटने वाला है। ज्ञान की अग्नि भी वासना-जाल को भस्म करती है और भक्ति भी समस्त कर्म-कलाप को प्रभु-अर्पित करके उसे क्षीण कर देती है। अतः तीनों साधन भिन्न-भिन्न स्वरूप के होते हुये भी अन्त में एक ही उद्देश्य के साधक सिद्ध होते हैं। तीनों एक-दूसरे के पूरक भी हैं। कर्म-काण्ड मालिन्य का परिक्षालन करता है, ज्ञान प्रकाश देता है, मार्ग-प्रदर्शन करता है और भक्ति-भावना आत्मा को परमात्मा के समीप आसीन कर देती है। नीचे अङ्कित वेद-मन्त्र एकान्त प्रेम-प्रवण भक्ति-भावना को अभिव्यक्त करते हैं :

> को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्तउस्राः।
> क इन्द्रस्य युज्यं कः सखायं भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती॥
>
> (ऋ० ४, २५, २)

यहाँ कौन है, जो उस सोम्य प्रभु के आगे स्तुतिवचनों द्वारा प्रणत होता है? ऐसा कौन है, जो उसके मनन की, उसे मन में लाने की इच्छा करता है और उसकी किरणों को अपने अन्दर धारण करता है? ऐसा कौन है, जो

प्रभु के साथ रहने की, उसका सखा बनने की और उसके भ्रातृ-भाव की कामना करता है ? है कोई ऐसा प्रभु का प्यारा भक्त, जो उस महान् कवि के लिये अपने हृदय में भक्ति-भावना रखता हो ?

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः॥ (ऋ० ७, ३२, २)

प्रभो! ये हैं तेरे उपासक, तेरे भक्त! ये प्रत्येक सवन में, तेरे कीर्तन-गान में ऐसे तन्मय होकर बैठते हैं, जैसे मधु-मक्षिकायें मधु को चारों ओर से घेर कर बैठ जाती हैं। तेरे अन्दर बस जाने की कामना रखने वाले तेरे ये स्तोता अपनी समस्त कामनाओं को तुझे सौंपकर वैसे ही निश्चिन्त हो जाते हैं, जैसे कोई व्यक्ति रथ में पैर रखकर निश्चिन्त होकर बैठ जाता है।

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद् गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियन्धा हृदा यत्तष्टान् मन्त्रां अशंसन्॥
(ऋ० १, ६७, २)

प्रभो! जब ये भक्त तुम्हारे स्तुति-गीतों को हृदय से गाते हैं और तुम्हें अपनी बुद्धि में धारण कर प्राप्त कर लेते हैं, तो तुम भी इनकी हृदयरूपी गुहा में बैठे हुए, इन दिव्यता-सम्पन्न भक्तों को अपने घर में, अपनी शरण में रख लेते हो। उस समय इन भक्त देवों के लिये तुम समस्त ऐश्वर्य अपने हाथ में लिये रहते हो। अपना ऐश्वर्य देकर इन्हें भी अपने समान ईश्वर बना देते हो।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥
(ऋ० ५, ८१, १)

प्रभो! तुझ महान् ज्ञानी के ज्ञान से ज्ञानी बने हुए ये भक्त अपने मन को, अपनी बुद्धि को तेरे साथ जोड़ देते हैं। एकमात्र तू ही इनके ज्ञानों और सङ्कल्पों को जानता है। तू ही इनको अपने अन्दर धारण करता है, इन्हें शरण देता है। इनके योग-क्षेम का एकमात्र तू ही विधाता है। बाहर के संसारी व्यक्ति तो इन्हें मन और बुद्धि दोनों से पागल समझते हैं, परन्तु तेरे ये प्यारे भक्त उनकी असत् मान्यताओं की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। हे सत्प्रेरक देव! तेरी कीर्ति, तेरी स्तुति-महिमा महान् है।

यस्मादृते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योग मिन्वति ॥ (ऋ० १, १८, ७)

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव, यो अच्युतच्युत स जनास इन्द्रः ॥
(ऋ० २, १२, ९)

जिस प्रभु की कृपा के विना बड़े से बड़े ज्ञानी का यज्ञ भी सफल नहीं होता, वह प्रभु भक्तों के बुद्धि-योग में सहज ही व्याप्त हो जाता है ।

युद्ध करते हुए साधारण जन, या वासनाओं से संघर्ष करते हुये, प्रकृति से मोर्चा लेने वाले साधक पग-पग पर जिस प्रभु को पुकारते हैं, जिसकी सहायता के बिना यहाँ किसी को भी विजय प्राप्त नहीं होती, जो विश्व के प्रत्येक पदार्थ के साथ तद्रूप होकर सर्वत्र अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान है, वह परम शक्तिशाली, साधक का एकमात्र बल, परमेश्वर साधक के मन से कभी न हटने वाले अच्युत पाप-पुंज को पल भर में च्युत कर देता है, भक्त को पवित्र बना देता है ।

य उद्रीचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम ।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥
(ऋ० १, ५३, ११)

हे सर्वचीर्ण, सर्वव्याप्त प्रभो ! श्रेष्ठ ऋचाओं में तेरा श्रेष्ठ गान गाने वाले हम भक्त, दिव्य शक्तियों की रक्षा करते हुये तेरे आनन्द से आनन्दित और सखा-भाव को प्राप्त करने में समर्थ हों । वीर्य-सम्पन्न होकर, दीर्घायु को धारण करते हुये हम सब नित्यशः तेरी स्तुति-भक्ति में ही निरत रहें ।

उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान् स्वर्वत् ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥
(ऋ० ६, ४७, ८)

हे परमैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! तुम सब कुछ जानते हो । प्रभो, हमें भी तुम उन विस्तृत लोकों में ले चलो, जहाँ आनन्द है, प्रकाश है, निर्भयता है और कल्याण है । नाथ ! आपकी भुजायें समस्त कष्टों को नष्ट करने वाली हैं । उन्हीं भुजाओं की विशाल छाया में हमें भी आश्रय दो । हे परम आश्रय ! अपनी शरण प्रदान करो ।

सिद्धि :

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगाद् अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥

(ऋ० १, ११३, १६)

तपश्चर्या में निरत साधक, स्तुति और प्रार्थना में लीन उपासक, प्रभु के विरह में व्याकुल भक्त ! उठ, जिस लक्ष्य को सामने रखकर तू साधना पथ का पथिक बना था, प्रपत्तिपूर्वक प्रभु की आराधना में मग्न हुआ था, अशरण-शरण के चरणों में प्रणत हुआ था, उस लक्ष्य की सिद्धि-वेला सामने प्रस्तुत है। तू माया की मार से मरा पड़ा था, जीवन के लिये प्रभु को पुकार उठा था, तेरी पुकार सच्ची थी, अन्तस्तल से निकली थी। प्रभु ने उसे सुना और तुझे वरदान दिया। देख, तू जीवित है, प्राण का तेरे अन्दर संचार हो रहा है और तुझे मारने वाली माया मरी पड़ी है। तम दूर हो चुका है। ज्योति झिलमिलाती हुई चली आ रही है। ज्योतिपुंज सूर्य को जिस मार्ग से आना है, वह मार्ग उन्मुक्त हो चुका है। उसके अवरोधक नष्ट हो गये। अब तू ऐसे स्थान पर खड़ा है, जहाँ जड़त्व का ठंडापन नहीं, विनाश नहीं, मृत्यु नहीं, प्रत्युत आयु ही आयु है, जीवन ही जीवन है,[१] चैतन्य ही चैतन्य है।

भक्त ने चैतन्य की ऊष्मा अनुभव की। उसने अपने अन्दर और बाहर प्रकाश ही प्रकाश देखा, जैसे वह प्रकाश के अन्दर ही बैठा हो, अथवा स्वयं ही प्रकाशस्वरूप हो गया हो। ज्योतिर्मय प्रभु की कृपा से विश्वस्त होकर भक्त गाने लगा :

अहमिद्धि पितुः परि मेधा ऋतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥ (ऋ० ८, ६, १०)

मैंने निश्चितरूप से अपने पिता ऋतरूप प्रभु की मेधा को चारों ओर से पकड़ लिया है। यह मेधा धारणावती है, प्रकाशवती है। इसके प्रकाश को पकड़ कर मैं सूर्य जैसा ही हो गया हूँ।

---

१. मोक्ष की अवधि एक परान्त काल तक की मानी गई है। परान्त काल ३६ हजार बार सृष्टि के बनने और बिगड़ने का समय है। इस बीच में जीव को जन्म-मरण के क्लेशदायक चक्र का अनुभव नहीं करना पड़ता। वेद ने इसी हेतु इसे लम्बा जीवन कहा है।

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम् ॥ (ऋ० १, ५०, १३)

अपने समग्र तेजोबलके साथ यह सूर्य मेरे सामने उदय हो रहा है। इसने मेरे लिये समस्त शत्रुदल को विध्वंस कर दिया। मुझे उसे मारने के लिये हिंसा करने की आवश्यकता ही नहीं हुई।

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणाय अक्षये।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन् स्वः ॥ (अथर्व० १९, ५२, ३)

मैंने कितनी दूर से, कितनी देर से अविनश्वर प्रभु के चरणों में प्रार्थना की थी, बार-बार प्रभु से अपने अन्तस्तल की अभिलाषा प्रकट की थी कि प्रभु मेरा प्रतिपालन करें, मेरे कष्टों का निवारण करें। आज प्रतीत होता है, सभी दिशाओं[१] ने मेरी उस प्रार्थना को सुन लिया, सभी दिशाओं में व्याप्त प्रभु के श्रवणों तक मेरी पुकार पहुँच गई। मेरा काम, मेरा संकल्प परिपूर्ण हो गया। प्रभु ने मेरे दुःख दूर कर दिये। अब मेरे लिये चारों ओर आनन्द ही आनन्द है।

अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥
(ऋ० ८, ४८, ३)

मैंने सोमरस का पान कर लिया। अब मैं अमर हूँ। मुझे ज्योति[२] प्राप्त हो गई और मैं दिव्य शक्तियों का धनी बन गया। अब शत्रु के वार से मैं पार हो चुका हूँ। हे अमर देव! तुम्हें पाकर मुझे सब कुछ मिल गया। अब मरणधर्मा माया की हिंसा मेरा क्या बिगाड़ सकती है?

---

१. दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। (अथर्व० १०, ७, ३४) इस मन्त्र में दिशाओं को प्रज्ञानी अर्थात् प्रभु के कान कहा गया है।

२. पूर्ण ज्योति तो नहीं, पर ज्योति के निचले स्तर के सम्बन्ध में प्लेटो लिखता है:
If one has lived with it, long enough, it suddenly rises up in the soul like a light ignited by a flickering fire, and then continues to feed itself by its own strength. (Epistle VII-341)

'Franz werfele' द्वारा अपने ग्रन्थ 'Between heaven and Earth' के पृष्ठ ११७ पर उद्धृत।

सोम प्रभु का मधु अथवा अमृतानन्द है। जिसे यह मिल गया, उस पर हिंसा का या काम-क्रोधादि शत्रुओं का आक्रमण नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ तक इनकी पहुँच ही नहीं हो पाती। वह इनकी सीमा को अतिक्रान्त करके असीम में प्रवेश पा जाता है।

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षाद् अपां स्तोकोऽभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥

(अथर्व० ६, १२४, १)

द्युलोक से बृहत् अन्तरिक्ष में होता हुआ तुम्हारे अनुग्रहरूप जल का एक स्वल्प बिन्दु अपने समस्त रस के साथ मेरे ऊपर गिरा। उसे पाकर, हे परम दयालु देव! मुझे ऐसा अनुभव हुआ, जैसे मेरे समस्त सुकृत सफल हो गये हों। मैं कृतार्थ हो गया। मुझे आत्मशक्ति, ज्ञान, वेद-मन्त्र तथा यज्ञ सबका फल एक साथ प्राप्त हो गया। इस कृत-कृत्यता ने मुझे आनन्द से संयुक्त कर दिया।

तुम्हारी करुणा का कण एक।
आज मिला है मुझे भाग्य से, भागे कष्ट अनेक॥
उस प्रकाशमय बृहत् स्वर्ग से अन्तरिक्ष में आया।
जल का बिन्दु रसीला मेरे लिये सघन घन लाया॥
उसकी सरस मधुर वर्षा में मैंने सब कुछ पाया।
ज्ञान, आत्मबल, वेद-यज्ञफल, सकल सौख्य मन भाया॥
नाथ! तुम्हारी स्वल्प बूँद से जन्म-जन्म की प्यास बुझी।
मैं सनाथ हो गया, तृप्ति की अब न रही आशा उलझी॥[1]

न पापत्वद्रिक् अपवेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि, अस्मिन् त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते॥

(ऋ० १०, ४३, २)

हे बहुतों के द्वारा पुकारे गए प्रभु! तुम्हारी ओर गया हुआ मेरा मन अब किसी अन्य की ओर नहीं जाता। मेरी समस्त कामनायें अब तुम्हारे ही अन्दर केन्द्रीभूत हो गयी हैं। हे परमशोभा-सम्पन्न! अब तुम मेरे हृदयरूपी सिंहासन

१. लेखक की लिखी 'भक्ति तरङ्गिणी' से उद्धृत।

पर राजा की भाँति विराजमान हो जाओ और यहाँ मेरे निर्लिप्त सोमस्वरूप आत्मार्पण को स्वीकार करो।

आज मिला तट-वाट री, डूब उच्छल संसृति-सरिता में।
इन मादक चंचल लहरों ने, डाल रूप के जाल सलोने॥
खींच लिया मुझको उर अन्तर, बन्द विवेक-कपाट री॥
अघ में अटका, भ्रम में भटका, झेल झेल झटके पर झटका।
विलख उठा, प्रभु करुणा जागी, पाई पावन बाट री॥
अब मन नहीं हटाये हटता, बार बार प्रभु ही प्रभु रटता।
अब न लुभाता मोहक गति से सुन्दर सरिता-पाट री॥
न्योछावर बाँकी झाँकी पर, जीवन का सर्वस्व निरन्तर।
आश्रित सकल मनोरथ मेरे, चञ्चल चित की चाट री॥
हृदयासन पर देव विराजे, मनहर मङ्गल वादन बाजे।
सोम-पान, उल्लास-हास के शोभित सुखकर ठाठ री॥[1]

---

१. लेखक की लिखी 'भक्ति तरङ्गिणी' से उद्धृत।

वैदिक भक्ति पर एक दृष्टि :

वैदिक भक्ति के जिस रूप का विवेचन हमने अभी किया है, उससे प्रकट होता है कि प्रभु निराकार होते हुए भी निर्गुण और सगुण द्विविध रूप वाले हैं। प्रकृति और जीव के गुणों से ऊपर होने के कारण वे निर्गुण और अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त होने के कारण वे सगुण हैं। सगुण का अर्थ न तो साकार है और न नराकाररूप में अवतरित होकर जीव-समान-धर्मा होना। जब अवतार नहीं, तो प्रतिमाओं के रूप में उसकी अर्चा भी वेद-विहित नहीं दिखाई देती। शिवलिंग के अतिरिक्त जितनी प्रतिमायें पूजा-पद्धति में प्रयुक्त होती हैं, वे सब की सब किसी न किसी ऐतिहासिक महापुरुष या देवी के साथ सम्बन्ध रखती हैं। शिव-लिंग ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। लिंग का अर्थ ही संस्कृत भाषा में चिह्न या प्रतीक है। शालिग्राम की बटिया भी प्रतीकार्थ रखती है और उसका कुछ ओषधि-परक उपयोग भी बताया जाता है। प्रतीकोपासना वेद में तो नहीं, पर उपनिषद्-साहित्य में कहीं-कहीं उल्लिखित हुई है। प्रतिमा-पूजन का कोई पता वैदिक-वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। वेद ने 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'[1] कहकर प्रभु की किसी भी प्रकार की प्रतिमा का स्पष्टरूप से प्रत्याख्यान कर दिया है।

प्रतिमा-पूजन यदि प्रतीक-पद्धति तक ही सीमित रहता, तो विशेष हानि नहीं थी; परन्तु अब वह प्रतिमारूप में ही समवसित हो गया, उसके द्वारा गुणों के बोध अथवा भाव-राशि तक साधक की वृत्ति, न पहुँच सकी, तो यह निःसन्देह शोचनीय है। प्रतिमा को स्नान कराना, फूल, चन्दन, अक्षत आदि द्वारा उसकी अर्चा करना, श्रृङ्गार-प्रसाधन आदि द्वारा उसे सुसज्जित करना, सुलाना और जगाना, भोग लगाना और चरणामृत लेना आदि ऐसी बातें हैं, जो प्रतिमा-पूजन के साथ अनिवार्य रूप से संलग्न हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं में इनका विराट् विधि-विधान वर्णित हुआ है।[2] प्रभु को छोड़कर प्रतिमाओं

---

१. यजुर्वेद ३२-३।

२. एस० एन० दास गुप्ता : A History of Indian Philosophy, भाग ३, पृष्ठ २१-२२ इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं।

को ही सब कुछ समझ लेना, उन्हीं की अर्चा-पूजा में लग जाना एक ऐसा कार्य है, जो निश्चितरूप से मानव की चेतना-शक्ति को कुण्ठित करने वाला है। भागवतकार ने सम्भवतः इसी आधार पर इसे हेय तथा गर्हित कहा है।[१]

जो साधन साधक के अन्दर चेतना के स्फुलिङ्ग उद्बुद्ध न कर सके, वह साधना की दृष्टि से एकान्त-भ्रान्त एवं नितान्त निरर्थक है। वेद का अर्थ ज्ञान है। प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं, सर्वोत्तम प्रकाश हैं और आनन्द के धाम हैं। वैदिक भक्ति-पद्धति साधक को चेतना के, ज्ञान के, उत्तुङ्ग शिखरों तक ले जाती है, जहाँ आनन्द का स्रोत है। वह प्रतिमा-पूजन की भाँति देव-विग्रह को देव-मन्दिरों में बन्द नहीं कर देती, प्रत्युत उसकी व्याप्ति ब्रह्माण्ड भर में अनुभव कराती है। देवाधिदेव परमेश्वर इस ब्रह्माण्ड में तो व्याप्त है ही, इस ब्रह्माण्ड को अतिक्रान्त करके भी विद्यमान हैं। ब्रह्माण्ड उनकी महिमा का केवल एकांश है। ब्रह्माण्ड में तमोगुण और रजोगुण से ऊपर सतोगुण है। तमोगुण में पार्थिव स्थूलता, जड़त्व और निष्क्रियत्व है। रजोगुण में प्राणवत्ता, क्रियाशीलता तथा अपेक्षाकृत सूक्ष्मता है। सतोगुण में इससे भी अधिक सूक्ष्मता और प्रकाश है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड अपने सूक्ष्मतम रूप में प्रकाशमय है। सतोगुण से ऊपर आत्मतत्त्व की स्थिति है। यह भी प्रकाशमय है और सत् के प्रकाश से उत्तर अर्थात् श्रेष्ठतर है। परन्तु उस सर्वोत्तम ज्योति, प्रकाशस्वरूप, तेज-पुञ्ज प्रभु के प्रकाश के सामने इनमें से किसी का प्रकाश नहीं ठहर पाता। उसका वरेण्य भर्ग, सर्व-श्रेष्ठ प्रकाश अन्य समस्त तेजों का स्रोत है, ज्योतियों का उद्गम है। इस प्रकाश में ज्ञान है, निर्भयता है, जीवन है, आनन्द है। प्रभु के प्रकाश का जो व्यक्ति ध्यान और धारण करता है, वह निर्भय, ज्वलन्त जीवनमय तथा आनन्दमय बन जाता है। वैदिक भक्ति के स्वरूप का अध्ययन पाठकों को इसी स्थिति का ज्ञान कराता है।

प्रभु की उपासना मानव-निर्मित प्रकोष्ठों में, परिमित प्राकारों में नहीं की जानी चाहिये, क्योंकि चेतना और भावना की उन्मुक्त उड़ान परिमिति के पाशों में जकड़ कर अवरुद्ध हो जाती है। भावना के स्वच्छन्द विहार के लिये बन्धनों

१. भागवत ३-२९-२२ ॥ 'God himself is essentially spirit and all true worship must be real and spiritual—in spirit and in truth.' Pathways to the reality of God. पृ० १९५।

से मुक्त सरिता-तट का सङ्गम तथा गिरि-शिखर का अधिष्ठान ही सहायक हो सकता है। वेद इसी हेतु इन दोनों दशाओं की ओर संकेत करता हुआ उपलक्षण द्वारा अन्य समान-धर्मा दशाओं का भी विधान करता है[1]।

प्रभु तक पहुँचने के लिये भक्त जिन साधनों का अवलम्बन लेता है, उनमें ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तीनों का सामञ्जस्य है। भक्ति वहाँ ज्ञान और कर्म का तिरस्कार नहीं करती। योग, याग, तप, मन, श्रद्धा, दीक्षा सबकी वहाँ मान्यता है, सबकी सहायता की अपेक्षा है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में योग के साथ ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों को स्थान दिया है। यमों और नियमों में तो ये अन्तर्मुक्त हैं ही, इनसे पृथक् भी योगदर्शन में इनका वर्णन आया है। इस सम्बन्ध में सूत्र १-१६,२३,२७ और २८ देखने योग्य हैं। वस्तुतः ज्ञान, कर्म और भक्ति एक दूसरे के पूरक बनकर, पारस्परिक सहयोग द्वारा साधक को प्रकाशपुञ्ज, सुधासिन्धु, आनन्द के आगार प्रभु तक पहुँचाने वाले हैं। परवर्ती भक्तिकाल में उन्हें यह स्थान प्राप्त नहीं हो सका। वेद-कालीन उच्च स्तर से वे च्युत कर दिये गये हैं और परिस्थितियों के प्रभाव ने उन्हें भक्ति के समान स्तर पर बैठने से वंचित कर दिया है।

वेद जितने उत्साहवर्धक शब्दों में जीव को उद्बोधन देता है, परवर्ती भक्ति-काल में इसका अभाव भी खटकता है। वेद साधक को कामी, कुटिल, पापी, निर्बल और कायर नहीं कहता। वह उसे उसकी वास्तविक शक्ति से परिचित कराता है। जीव हंस पक्षी के समान ऊर्ध्वगमनशील है, अधोगति उसके स्वभाव में ही नहीं है। प्रकृति का संसर्ग उसे पतन की ओर प्रेरित करता है। अतः इस संसर्ग से उसे दूर रहना चाहिये। इससे बचने का सुगम मार्ग है—प्रकृति की प्रकृति को पहिचान लेना, जो प्रवृत्तिमार्ग द्वारा ही सम्भव है। इस प्रवृत्ति में साधक को प्रकृति का सेवक नहीं, स्वामी बनना चाहिये और साधना द्वारा शनैः शनैः प्रकृति के सूक्ष्मतर स्तरों पर आधिपत्य प्राप्त करते हुए पूर्ण स्वाधीनता की ओर अग्रसर होना चाहिये। स्वाधीनता स्व अर्थात् अपने में प्रतिष्ठित होने का नाम है। यही अवस्था आनन्द-धाम प्रभु तक पहुँचाने वाली है।

वैदिक भक्ति के साधनों में प्रवृत्ति-एवं निवृत्ति, अभ्यास तथा वैराग्य दोनों

---

१. यजुर्वेद २६-१५।

सम्मिलित हैं। परवर्ती भक्तिकाल में निवृत्ति को प्रधानता प्राप्त हो गई है। वेद शरीर को बलिष्ठ, यशस्वी और पवित्र बनाने का आदेश देता है, समाज के साथ मैत्री-पूर्ण व्यवहार तथा उदारता-पूर्वक अपने सुख के साथ सबके सुख की कामना करने का निर्देश करता है। उसे अपने चारों ओर दृष्टि रखनी है और साथ ही अपने में केन्द्रस्थ भी होना है। यह वैदिक व्यक्तिवाद और समाजवाद का समन्वय है, जिसमें एक ओर व्यक्तिवाद की समाज-निरपेक्षता दूर होती है और दूसरी ओर उसकी घोर स्वसापेक्षता। व्यक्तिवाद का भयङ्कर तथा हानिकारक रूप एकान्त स्वार्थलिप्सा है, जो समाजवाद की सापेक्षता द्वारा ही नष्ट हो सकता है। व्यक्तिवाद का ऊर्जस्वित तथा श्रेयस्कर रूप शरीर, मन एवं बुद्धि को निर्बल बनाकर आत्मा की पवित्रता सम्पादन करना है।

बैन्थम, मिल और सिजविक के उपयोगितावाद में 'अधिक मनुष्यों का अधिक सुख' धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक दबावों और विभी-षिकाओं से रखा जाता है। वेद मानव के सर्वाङ्गीण विकास को लक्ष्य में रखकर किसी दबाव की कल्पना नहीं करता। वह साधक को कल्याण-मार्ग में जुटा-कर सबके सुख की ओर दृष्टि रखने के लिये प्रेरणा देता है और उसकी स्वेच्छा को ही सबकी मङ्गल कामना का रूप प्रदान करता है। मिल का आन्तरिक दबाव या नैतिक-भावना इस अवस्था के निकट है।

पी० डब्लु० ब्रिगमैन ने अपने ग्रन्थ 'Reflections of a Physisist' के पृष्ठ ७७ पर व्यक्तिवाद के जिस उदात्त स्वरूप की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है, वह भी ध्यान देने योग्य है। उसके विचार में शिक्षा की सबसे महत्वपूर्ण और अन्तिम समस्या मानवों को सामाजिकता से आगे अपने व्यक्तिगत धरातल को समझ लेने की है, जिसमें वे सामाजिक जीवन के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन का साक्षात् करते हुये स्वाधीनतापूर्वक जीवन व्यतीत करना सीख सकें।[1] वैदिक भक्ति व्यक्ति के इस उदात्त स्वरूप को तो हृदयंगम करा ही देती है, वह इससे एक पग और आगे रखती है। वह

---

[1]. The Most important and the ultimate prob em of edu.ation is to get people to see that the e is a private le.el be,o d the public le.el and to learn how to live with this realisation, or in other words to learn to live with their freedom.

व्यक्ति को समाज से पृथक् करके नहीं देखती। उसके अनुसार साधक का जो स्वरूप बाहर समाज के अन्तर्गत दिखाई देता है, वह अन्तरात्मा-निरपेक्ष नहीं है। उसका उद्भव आन्तरिक स्वाधीनता में हुआ है। वेद 'यदन्तरं तद् बाह्यं, यद् बाह्यं तदन्तरम्'[1] सिद्धान्त का समर्थक है। इसी हेतु वैदिक भक्ति में साधक का विचार, उच्चार और आचार अर्थात् आन्तरिक और बाह्यरूप, व्यक्तिगत और सामाजिक रूप एक है।

वैदिक भक्ति के तीन अंग हैं: स्तुति, प्रार्थना और उपासना। भागवत भक्ति के, जिसका निरूपण हम आगे चलकर करेंगे, नवधा भेद वैदिक भक्ति में समग्र रूप से अन्तर्भुक्त नहीं हो पाते। इसका एक कारण भागवत भक्ति का अर्चा अर्थात् मूर्तिपूजा से सम्बद्ध होना है। भागवतों की नवधा भक्ति को यद्यपि सन्त सुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञानसमुद्र' के द्वितीय उल्लास में निर्गुण भक्ति पर भी घटा दिया है, पर यह कार्य उन्होंने पार्थिव पूजन के रूप में नहीं, मानसिक पूजन के रूप में ग्रहण किया है। हमने वैदिक भक्ति के तीनों अङ्गों को गुण-कीर्तन, प्रार्थना, व्याकुलता, साधन और सिद्धि नाम के पाँच अङ्गों में विभक्त किया है। इस विभाजन से वैदिक भक्ति में स्थान पाने वाली वे भावनायें भी पाठकों के समक्ष आ जाती हैं, जो सगुण एवं साकार अवतारी इष्टदेवों के सम्बन्ध में भागवत भक्तों के हृदय से निःसृत हुई हैं।

वेद ने भक्त के लिये जिन साधनों का प्रतिपादन किया है, वे जगत्-ज्ञान, आत्म-ज्ञान और परमात्म-ज्ञान से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेद ८-४३-१४ के अनुसार भक्त को अग्नि, मित्र और सखा के क्रमशः कर्म, ज्ञान और प्रेमभाव को सम्पादित करने का निर्देश प्राप्त होता है। कर्म के द्वारा वह जागतिक प्रपञ्च से, ज्ञान द्वारा कर्म के बन्धन से और प्रेम द्वारा ज्ञान का भाव में समावेश कर लेने से मुक्ति पाता है। यह भावापन्न मुक्ति भी अन्त में प्रभु के दर्शन, ज्ञान और आनन्दरूप से ही मण्डित है। अन्तर्दृष्टि की जो व्यापकता और गम्भीरता वैदिक भक्ति-पद्धति के साधनों में अभिव्यक्त हुई है, वह परवर्ती मुनियों की वाणी में परिलक्षित नहीं होती। अनुग भावना का चतुर्दिक्-स्पर्शी वर्णन, ज्ञानपूर्वक त्याग का प्रतिपादन, योग, यज्ञ और ज्ञान का समन्वय ऐसे साधन हैं,

---

१. अथर्ववेद २-३०-४

जो परवर्ती भक्तिकाल में अपदस्थ ही नहीं, तिरस्कृत भी हुये हैं। वेद ने इन सबको साधनों के अन्तर्गत स्थान दिया है और जैसा हम लिख चुके हैं, इनके सहयोग में सिद्धि को निश्चितरूप से स्वीकार किया है।

सिद्धि का जैसा वर्णन वेद में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं, और वह अन्यत्र उपलब्ध हो भी नहीं सकता। परवर्तीकाल के मानव ऋषियों की क्रान्त दृष्टि अथवा साक्षात्कार की भूमिका तक पहुँच ही नहीं सके। इस क्षेत्र में मानव का विकास नहीं, ह्रास हुआ है। गङ्गाजल की जो पवित्रता हिमालय के अञ्चल में है, वह हरद्वार में नहीं और जो हरद्वार में है, वह प्रयाग और काशी में नहीं। कलकत्ते के पास तो उसका नाममात्र रह गया है। वेद के तपःपूत ऋषि जिसे साक्षात् देख सके थे और अपनी निर्मल परन्तु समर्थ वाणी में जिसकी अभिव्यक्ति कर सके थे, उसकी थोड़ी-सी झलक ही बाद के अधिकांश साधक और भक्त दिखा सके हैं। सम्भवतः वे प्रभु-प्राप्तिरूप सिद्धि तक पहुँच ही नहीं सके। सत् की झाँकी देख कर ही वे शान्त और सन्तुष्ट हो गये हैं।

वैदिक भक्ति में जिस सिद्धिरूप मोक्ष की अवस्था का वर्णन है, उसमें जीव का अहंभाव बना हुआ है। आचार्य रामानुज और वल्लभ ने भी मोक्ष अथवा लीलाधाम-प्रवेश में जीव की अहम्भावना तथा उसके पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया है। साकार इष्टदेव की भावना वैदिक भक्ति में दिखाई नहीं देती, पर प्रभु के जिस रूप की वहाँ मान्यता है, वह भी कोरी कल्पना पर आश्रित नहीं है। उसकी सत्ता है, एक व्यक्तित्व है, जो निराकार है। वेद प्रेम-परक, प्रकृति-परक तथा दर्शन-परक कुछ ऐसी रहस्यमयी भावनायें भी प्रकट करता है जो सामी सम्प्रदायों की साधना में प्रकट हुई हैं। ऋग्वेद १-२४-१० में ऋषि कहता है :

'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद् दिवेयुः ?'

जो तारे रात्रि में चमक रहे थे, वे दिन निकलते ही कहाँ चले गये ?

यजु० १७, २०तथा ऋग्वेद १०-८१-४ में ऋषि कौतूहलपूर्वक जिज्ञासा से भरा प्रश्न करता है :

'किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ?'

अरे ! वह कौन-सा वन है ? वहाँ का कौन-सा वृक्ष है जिसके उपादान से इस द्यावापृथ्वी का निर्माण हुआ है ?

अथर्व १०-७-३७ का ऋषि बाहर प्रकृति के और अन्दर मन के आश्चर्यकारी रूपों को अनुभव करके गा उठता है :

> कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
> किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीः नेलयन्ति कदाचन ?'

अरे ! यह वायु क्यों चली ही जा रही है ? ठहर क्यों नहीं जाती ? ये बाहर जल के प्रवाह बढ़ते ही जा रहे हैं, ये विश्राम क्यों नहीं लेते ? और यह अन्दर की ज्योति, यह मन, क्यों भागा-भागा फिरता है ? एक ही स्थान पर रमण क्यों नहीं करता ?

इसी प्रकार प्रभु-प्राप्ति के रूप में आत्मा के जो उद्गार वेद में अभिव्यक्त हुए हैं, वे भी हम साधारण मानवों के लिये कम रहस्यमय नहीं हैं। वेद में जीव की प्रभु से विरहावस्था का भी अत्यन्त करुण, मर्मस्पर्शी तथा हृदय-द्रावक वर्णन उपलब्ध होता है। 'व्याकुलता' शीर्षक में इस सम्बन्ध के मन्त्र पाठकों को मिलेंगे। वैदिक भक्ति इस प्रकार परवर्त्तीकाल की भागवत, शैव आदि भक्ति-पद्धतियों से कई अंशों में भिन्नता एवं समता रखती है।

ब्राह्मण और भक्ति

ऐतरेय ब्राह्मण : प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जब इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता, तब वेद ही हमारा सहायक बनता है। वेद का वेदत्व इसी में निहित है कि वह अलौकिक उपाय का ज्ञान कराता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद की व्याख्या करने वाले हैं, जिनमें ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। कहा जाता है कि एक महर्षि के कई पत्नियाँ थीं। उनमें से एक का नाम इतरा था। इसी इतरा का पुत्र महिदास था, जिसे ऐतरेय भी कहा जाता है। एक दिन किसी यज्ञ-सभा में उस महर्षि ने महिदास की अवज्ञा करते हुए अन्य पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों को अपनी गोद में बिठा लिया। ऋषि का स्नेह भी महिदास पर नहीं था। इस घटना से महिदास अत्यन्त खिन्न हुआ। उसकी खिन्नता से आहत होकर इतरा ने अपनी कुलदेवता-भूमि का स्मरण किया। भूमि देवता ने दिव्य मूर्ति धारण करके यज्ञसभा में महिदास को दिव्य सिंहासन पर बैठाया और उसे पाण्डित्य-प्रवीणता का वरदान दिया। उसी वरदान के परिणामस्वरूप ऐतरेय-ब्राह्मण का निर्माण हुआ। इस ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं। सर्वप्रथम चार संस्था वाले ज्योतिष्टोम यज्ञ का वर्णन है। उसके पश्चात् गौ, आदित्य और आङ्गिरसों के अयन का उल्लेख है। उसके पश्चात् द्वादश यज्ञ आदि आते हैं। यज्ञों में ज्योतिष्टोम यज्ञ की प्राथमिकता है।

ऋग्वेद दिव्य शक्तियों की स्तुति का वेद है। ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही निम्नाङ्कित शब्द आते हैं :

'ओ३म् अग्निर्वै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।'

दिव्य शक्तियों में सबसे नीचा स्थान अग्नि का है और सबसे उत्तम स्थान विष्णु का है। यास्क ने अपने निरुक्त में भी ज्योतियों का वर्णन करते हुए अग्नि को पृथ्वीस्थानीय और विष्णु को द्यौस्थानीय लिखा है। यद्यपि अग्नि और विष्णु शब्द पृथ्वी की अग्नि और द्यौलोक के सूर्य के वाचक है, तथापि दोनों शब्द एक परमात्मा का अर्थ भी देते हैं और ऐसी दो कोटियों के प्रतिपादक हैं, जिनके बीच में इन्द्र, वायु आदि सभी प्रधान देवता सुरक्षित

रहते हैं। जो मध्य में रहता है, वह अपनी अवम और परम दोनों कोटियों के द्वारा गृहीत होता है। अतः अग्नि और विष्णु के बीच में आने वाले देवता भी उनसे पृथक् नहीं कहे जा सकते। इसीलिये ऐतरेय ब्राह्मणकार कहता है :

'अग्निर्वै सर्वा देवताः। विष्णुः सर्वा देवताः।'

इस प्रकार एक ही दिव्य तत्त्व अन्य समस्त दिव्य तत्त्वों का वाचक बन जाता है। पौरोडाषिक काण्ड में तैत्तिरीय कहते हैं :

'ते देवाः अग्नौ तनूः सन्यदधत। तस्मात् आहुः अग्निः सर्वा देवताः।' सौमिक काण्ड में भी लिखा है :

'देवासुराः संयत्ता आसन्। ते देवा बिभ्यतः अग्निं प्राविशन्। तस्मात् आहुः अग्निः सर्वा देवताः।'

विष्णु शब्द विष्लृ धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है व्याप्ति। इसीलिये कहा जाता है : 'भूतानि विष्णुः भुवनानि विष्णुः।'

यास्क ने निरुक्त में यह भी लिखा है कि एक ही आत्मा विभिन्न देवताओं के नामों से स्तुत हुई है, अर्थात् अग्नि, विष्णु, इन्द्र आदि नाम उसी एक परम तत्त्व की व्याख्या करने वाले हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन यज्ञों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, वे भी मूलतः इसी परम तत्त्व की व्याख्या करते हैं। अग्नि और विष्णु यदि दो दैवकोटियाँ हैं, तो यही सोमयाग के आदि और अन्त भी हैं। यज्ञों के द्वारा मानो दिव्य शक्तियों की परिचर्या की जा रही है। गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द भी इन्हीं दिव्य शक्तियों के साथ सम्बद्ध हैं। न केवल छन्दोविधान, प्रत्युत ओ३म् अक्षर की तीन मात्रायें, वेदत्रयी, त्रिलोकी आदि भी इनके साथ सम्बन्ध रखती हैं। इसी आधार पर ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासना या भक्तिकाण्ड का भी प्रवर्तन आर्य जाति में हुआ। अतः यज्ञ भक्ति के विरोधी नहीं, प्रत्युत अविरोध भाव से उसके साथ साथ चलने वाले हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के शब्दों में :

'प्रजायते प्रजया पशुभिः यः एवं वेद।'

जो ऐसा जानता है, वह प्रजा और पशुओं द्वारा समृद्ध होता है।

यज्ञकर्ता दीक्षित होकर जब यज्ञ का प्रारम्भ करता है, तो वह सर्वप्रथम उस परमतत्त्व के वाचक ओ३म् नाम का उच्चारण करता है। यदि कार्यकर्ताओं

से किसी प्रकार की त्रुटि हो जाती है, तो वह पुनः उच्चस्वर से ओ३म् नाम का उच्चारण करता है। यज्ञों में जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उनकी निरुक्ति करता हुआ ऐतरेय ब्राह्मणकार कहता है :

'आहूतयो वै नाम ऐता यत् आहुतयः एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति, तत् आहुतीनाम् आहुतित्वम्।'

अर्थात् आहुतियों का नाम आहुति इसलिए है कि इनके द्वारा यजमान दिव्य शक्तियों का आह्वान करता है। दिव्य शक्तियों का आह्वान स्वतः दिव्यता की ओर ले जाने वाला है। भक्तिकाण्ड भी मानव की इसी सिद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय है और वह यज्ञ के अन्दर सम्मिलित है। आचार्य सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण २।८ की भूमिका में लिखा है :

'ईदृशं यजनं यदस्ति तत् क्रियमाणस्य यज्ञस्य अदितिद्वारा देवेषु प्रज्ञानाय सम्पद्यते। तच्च देवप्रज्ञानं यजमानस्य स्वर्गलोकावगमाय भवति।'

यज्ञ की प्रक्रिया वास्तव में देव-प्रज्ञान के लिए ही है। यह देवप्रज्ञान सुख-विशेष की ओर ले जाने वाला है। पीछे हम भक्तिकाण्ड को आनन्दमय कोश के साथ सम्बन्ध रखने वाला लिख ही चुके हैं।

मानव के सभी कर्म विविध शक्तियों के आधार पर कल्पित हुए हैं। इसका संकेत तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में इस प्रकार उल्लिखित है :

देव विशः कल्पयितव्या इत्याहुः ताः कल्पमाना अनु मनुष्य विशः कल्पन्ते इति सर्वा विशः कल्पन्ते कल्पते यज्ञोऽपि।'

दिव्य शक्तियों में ब्राह्मण आदि जातिभेद हैं। अग्नि और बृहस्पति ब्राह्मण हैं। इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, यम, मृत्यु, ईशान क्षत्रिय हैं। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत वैश्य हैं। पूषा शूद्र है। इन्हीं दिव्य शक्तियों के कार्यों को देखकर मानव जाति में ब्राह्मण आदि चार वर्णों की कल्पना की गई है। यज्ञ का विधान भी इन्हीं विविध शक्तियों के आधार पर किया गया है। उपासना-काण्ड भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। यज्ञ में जप का विधान भक्तिकाण्ड की ही भाँति है। ऐतरेय ब्राह्मण, दशम अध्याय के छठे खण्ड के प्रारम्भ में ऋषि लिखता है :

'होतृ जपं जपति उपांशु जपति ।'

सायण ने इसकी व्याख्या में लिखा है :

'होतुः कर्तव्यो यो जपः तम् अनुतिष्ठेत्, ओष्ठस्पन्दनं एव परैः दृश्यते न तु शब्दः श्रूयते तादृशं उपांशुत्वं तस्य जपस्य शौं सावोम् इति एतस्मात् आह्वावात् पूर्वभावित्वं विधत्ते ।'

ओंकार के जप का विधान ब्राह्मण-युग की विशेषता कही जा सकती है। उपासना में जिस प्रकार दिव्य तत्त्व का ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार यज्ञ के अन्दर भी करना पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण ११।८ के प्रारम्भ में ही लिखा है :

'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् ताम् ध्यायेत् ।'

जिस देवता के लिए हवि दी जाती है, उसी देवता का ध्यान करना चाहिये। आचार्य सायण ने इसके भाष्य में लिखा है : देवता अर्थात् दिव्य शक्ति आँखों से दिखाई नहीं देती। अतः उसका मानस प्रत्यक्ष करना विवक्षित है, जो ध्यान द्वारा ही सम्भव है।

ऐतरेय ब्राह्मण के २५ वें अध्याय के सप्तम खण्ड में ओ३म् की उत्पत्ति और उसकी महत्ता वर्णित हुई है। प्रजापति ने कामना की : 'मैं प्रजा उत्पन्न करूँ और बहुत हो जाऊँ।' उसने तप किया और तप करके पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को उत्पन्न किया। तीनों लोकों के तप्त होने से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं। पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्यौलोक से आदित्य। पुनः इन तीन ज्योतियों के तप्त होने से तीन वेद उत्पन्न हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद उत्पन्न हुआ। तीनों वेदों के तप्त होने से तीन शुक्र उत्पन्न हुए। ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः और सामवेद से स्वः। इन तीन शुक्रों के तप्त होने पर 'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार तीन वर्ण उत्पन्न हुए, जिनका एकधा समकरण ओ३म् कहलाता है। यह ओंकार स्वर्ग-प्राप्ति का हेतु है।

ऐतरेय ब्राह्मण भक्ति-सम्बन्धी स्वल्प सामग्री देता है। ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा। ओ३म् और उसके जाप का महत्त्व इस ब्राह्मण में अवश्य मिलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है, जो ज्ञानकाण्ड का वेद है। ज्ञान को भावना तक पहुँचने में देर लगती है। जब तक ज्ञान भावना में परिणत न हो, तब तक वह सबसे दूर-दूर रहता है। अतः ऐतरेय ब्राह्मण में भक्ति-भावना की सामग्री का यदि अभाव या स्वल्पांश है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, मूल का परित्याग करना सबके लिये असम्भव है। समस्त वेदों, विद्याओं तथा स्वर समूहों का मूल ओ३म् है। अतः उसकी महत्ता ऐतरेय ब्राह्मण में भी असंदिग्धरूप से वर्णित हुई है।

शतपथ ब्राह्मण : शतपथ ब्राह्मण के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। वैदिक वाङ्मय का इनके साथ विशेष सम्बन्ध है। कहा जाता है, इन्होंने सर्वप्रथम महामुनि शाकल्य से ऋग्वेद का अध्ययन किया, परन्तु आनर्त देश के राजा के सम्बन्ध में किसी विवाद के उठने पर गुरु ने इनकी अत्यन्त भर्त्सना की। अतः गुरु की आज्ञा और उनके शाप से भयभीत होकर इन्होंने शाकल्य से पढ़े हुए ऋग्वेद का परित्याग कर दिया। इसके पश्चात् अपने मातामह महामुनि वैशम्पायन से इन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन किया। परन्तु उनसे भी याज्ञवल्क्य का झगड़ा हो गया और परिणामतः इन्हें अधीत यजुर्वेद को भी छोड़ना पड़ा। अन्त में मानुष गुरु से न पढ़ने की प्रतिज्ञा करके इन्होंने २४ लाख गायत्री के पुरश्चरण और तपस्या द्वारा भगवान् आदित्य को प्रसन्न किया और इनसे चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त किया।

याज्ञवल्क्य विश्वामित्र के वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता चारायण, देवरात, ब्रह्मरात, यज्ञवल्कः, वाजसनिः आदि कई नामों से पुकारे जाते हैं। इनकी दो पत्नियाँ थीं : मैत्रेयी और कात्यायनी। कात्यायनी से कात्यायन नाम के पुत्र का जन्म हुआ था। कात्यायन का ही दूसरा नाम पारस्कर भी कहा जाता है। आर्यों की इतिहास-परम्परा के आधार पर वैशम्पायन राजा जनमेजय के समकालीन हैं। अतः उनके दौहित्र याज्ञवल्क्य महाभारत युद्ध के लगभग १०० वर्ष बाद के माने जा सकते हैं।

वेद के दो सम्प्रदाय हैं। ब्रह्म-सम्प्रदाय और आदित्य-सम्प्रदाय। याज्ञवल्क्य दूसरे सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनके बनाये हुए शतपथ ब्राह्मण की भी दो शाखाएँ प्रचलित हैं : माध्यन्दिन शतपथ और काण्व शतपथ। प्रथम में १४ और दूसरी में १७ काण्ड हैं। पहली शाखा का प्रथम काण्ड दूसरी शाखा

का दूसरा और दूसरी शाखा का प्रथम काण्ड पहली शाखा का दूसरा काण्ड है। मध्य में किंचित् वैपरीत्य भी है। अन्य काण्डों में भी पर्याप्त वैषम्य है।

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद के मन्त्रों और शब्दों की व्याख्या करता है। यथा: 'मेध्या वा आपः। वज्रो वा आपः। योषा वा आपः। ज्योतिर्वै हिरण्यम्। अमृतं हिरण्यम्।' निरुक्तकार ने इस प्रकार की गुण-कल्पना को भक्ति नाम दिया है।[1]

यह एक प्रकार की शब्द-भक्ति कही जा सकती है। जैसे भक्तिकाण्ड में प्रभु के नाना गुणों को लेकर उनकी स्तुति की जाती है, वैसे ही यहाँ शब्द की स्तुति है। स्तुति का अर्थ ही गुण-कथन है। अतः गुण-कल्पना की क्रिया में स्तुति का मूल अर्थ निहित है। शतपथ ब्राह्मण में यह गुण-कथन बाहुल्य से पाया जाता है।

यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है। अतः उसके ब्राह्मण में भी याज्ञिक कर्म-काण्ड की ही प्रधानता है। आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, आग्रयण, दाक्षायण-यज्ञ, चातुर्मास-यज्ञ, दर्शपूर्णमासेष्टि, सोमयाग, वाजपेययाग, राजसूययाग, चयनयाग, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, साकमेध, प्रघासयाग, महाहविर्याग, दशरात्र, पितृमेध, शतरुद्रिय होम, पञ्चमहायज्ञ आदि विविध प्रकार के यज्ञ विपुल विवरण के साथ इस ब्राह्मण में वर्णित हुए हैं। यज्ञ करने के समय व्रत का उपायन और विसर्ग भी किये जाते हैं। यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति को मन तथा शरीर दोनों से पवित्र बनने के लिये व्रत करना आवश्यक होता है। यज्ञ में प्रयुक्त पदार्थों को भी वह पवित्र रखता है और उनमें वेदत्रयी के यज्ञभाव की कल्पना करता है। शतपथ ब्राह्मण के हविर्यज्ञ नामक काण्ड के प्रारम्भ में ही इस व्रतोपायन तथा पवित्रीकरण का उल्लेख हुआ है। भक्तिकाण्ड के लिये ये दोनों ही कार्य सुदृढ़ भूमिका का निर्माण करते हैं।

याज्ञवल्क्य कहते हैं: 'व्रत को प्राप्त हुआ पुरुष बीच-बीच में आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नि के सामने खड़ा होकर जल का आचमन करे। इससे अन्तः-करण में पवित्रता आती है। व्रती पुरुष सत्य बोले। वह अरण्य में उत्पन्न अर्थात् वन्य ओषधि अथवा वृक्ष के फल अथवा व्रीहि, यवादि का भोजन करे।

---

१. (निरुक्त ७, ७, २४)

वह आहवनीय अथवा गार्हपत्य आगार में भूमि पर सोवे। यही श्रेयस्कर उपचार है। जो व्रती बनता है, वह देवों को प्राप्त करता है[1]।

देवों की प्राप्ति वस्तुतः दिव्य-गुणों की प्राप्ति है, जिस पर आर्य संस्कृति में बहुत बल दिया गया है। मानव-जीवन का प्रमुख उद्देश्य ऊर्ध्व-गमन करना है। विकास की स्थिति में ऊर्ध्व-गमन दिव्यता की ओर चलना ही है। जिस प्रकार यज्ञ के मूल में इस पावन उद्देश्य को सन्निहित किया गया है, उसी प्रकार अन्य अनुष्ठानों के अन्दर भी। भक्ति-मार्ग का भी यह परम पवित्र सोपान है। भक्त देवों के देव प्रभु के निकट पहुँचने ही का तो प्रयत्न करता है।

अयं वै पवित्रं योऽयं पवते।

……सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च। ३।२

'यही पवित्र है, जो पावन कर रहा है। वह पुरुष के अन्दर प्रविष्ट है, सामने भी है और पीछे भी।'

जैसे प्राण अन्दर जाता है, अपान बाहर निकलता है, व्यान सर्वाङ्ग में व्याप्त है, वैसे ही परमदेव अन्दर, बाहर, सामने, पीछे सर्वत्र व्याप्त हैं। प्राण शरीर को पवित्र करता है। परमदेव आत्मा को पवित्र करते हैं। अतः शतपथ ब्राह्मण की उक्ति भक्तिकाण्ड के निकट ही है।

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। ३।४; तमिन्द्रो जघान। ३।५

जो आत्मा को चारों ओर से आच्छादित कर लेता है, उसे पाप से आवृत बनाता है, वही वृत्र है। इस उक्ति के अनुसार पाँचों कोष ही वृत्र हैं, क्योंकि वही आत्मा को आच्छादित करने वाले, वारक परदे हैं। इन्द्र इस वृत्र के आवरण को नष्ट करते हैं। आत्म-साक्षात्कार ही पाँच कोशों को ऊपर पड़े रहने से हटाता है।

---

१. व्रतमुपैष्यन् अन्तरेण आहवनीय च प्राङ् तिष्ठन् अप उपस्पृशति।
तद्यदपः उपस्पृशति……तेन पूतिरन्तरतः १।१
स वै सत्यमेव वदेत् १।५
स वा आरण्यमेव अश्नीयात्। या वा आरण्या ओषधयः यद्वा वृक्ष्यम् १।१०
स आहवनीयागारे वा एतां रात्रिं शयीत, गार्हपत्यागारे वा
देवान् वा एष उपावर्तते यो व्रतमुपैति १।११

यजमान जैसे-जैसे यज्ञ को आगे बढाता है, वैसे-वैसे वह इस वारक वृः से त्राण पाता जाता है। भक्तिकाण्ड भी इस रूप में यज्ञ ही है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है :

वार्त्रघ्नं वै पौर्णमासम्। इन्द्रो हि एतेन वृत्रमहन्।
अथ एतदेव वृत्रहत्यं यत् आमावस्यं (१, ५, ३, ११)

वृत्र, सत् के वारक, को ही आमावस्य कहते हैं। इन्द्र पूर्णिमा के द्वारा वृत्र का वध करता है। पूर्णिमा १६ कलाओं से युक्त चन्द्रमा को प्रकाशित करने वाली है। अतः इन्द्र (आत्मा) जब १६ कलाओं से पूर्ण बन जाता है, तभी उसके ऊपर पड़े हुए समस्त आवरण, जो अमावस्या के सदृश हैं, नष्ट होते हैं। जब सम्पूर्ण चन्द्रमा आकाश में चमकता है, तब पूर्णिमा है। जब सम्पूर्ण रूप से छिप जाता है, तब अमावस्या है। आत्मा जब अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, तो मानों उसकी सोलहों कलायें चमक रही हैं, परन्तु जैसे-जैसे ये कलायें तिरोहित होती जाती हैं, वैसे ही वैसे वह अपने स्वरूप को विस्मृत करता जाता है, यहाँ तक कि अन्त में सभी कलायें तिरोहित हो जाती हैं और अमावस्या का वृत्र आकर उसे आच्छादित कर लेता है। उस समय आत्मारूप चन्द्रमा की कलायें अस्त हो जाती है। वह अन्नाद नहीं रहता, अन्न बन जाता है। जो दूसरों के भोग की सामग्री बन गया, वह अपनी कर्तृत्व-प्रभा से वञ्चित हो गया। उसमें वह चमक कहाँ, जो भोजक में है, कर्ता में है।[1]

यजुर्वेद का निम्नांकित पद यज्ञ और भक्ति दोनों पर घट सकता है :

दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्। १,१३

देवकर्म के लिये अपने को पवित्र करो। यज्ञ भी दैव्य कर्म है और भक्ति भी। दोनों में प्रवेश करने से पहले मानव अपने को पवित्र करता है। पवित्र होने का

१. एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः
स यत्र एष एतां रात्रिं न पुरस्तात् न पश्चात्
ददृशे, तत् इमं लोकम् आगच्छति
स इहैव अपश्च ओषधीश्च प्रविशति
स वै देवाना वसु, अन्नं हि एषाम्
तद् यत् एष एतां रात्रिम् इह अमा वसति, तस्मादमावस्या नाम। शतपथ १,५,३,५.

अर्थ ब्राह्मी वृत्ति का सम्पादन है। इसी हेतु शतपथ ब्राह्मणकार लिखता है : 'ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता' १, ४, ६ अर्थात् ब्राह्मण ही राक्षसों, दुष्कर्मियों या पापों का विनाशक है। ब्राह्मण भी जब अपने आपको ब्रह्मरूप अग्नि में रख देता है, तभी यह शक्ति उसे प्राप्त होती है। मूलतः यह शक्ति अग्नि की है, परम पवित्र प्रभु की है। इसी हेतु यजुर्वेद १, १८ में लिखा है, 'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व' हे अग्निरूप परमात्मा! इस ब्राह्मण को ग्रहण करो, क्योंकि 'अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता'[1] शतपथ २, १, ९ आपही पाप-विनाशक हैं, 'अग्निः पावक ईड्यः' शतपथ १, ३, ३, ३८ आप ही पवित्र करने वाले और स्तुति करने के योग्य हैं।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की बड़ी महिमा है। लिखा है : 'अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापद्' जो यज्ञ को प्राप्त करता है, वह महावीर्यवान् है। फिर लिखा है : 'ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः' १–४–२–१२ ब्राह्मण इस यज्ञ के रक्षक हैं। वही इसको प्रकट करते हैं और वही इसका विस्तार करते हैं।

यज्ञ में स्वस्त्ययन जप का भी विधान है। यह जप कल्याणपूर्वक यज्ञ का सम्पादन कराता है। जप करनेवाला सब जगत् के उत्पादक परमदेव की सन्निधि में अपने को रखता है और कहता है : 'यूयं अनुब्रूत, यूयं यजत' देव! आपही बतावें और आप ही इस अनुष्ठान को संपूर्ण करें, 'वसूनां रातौ स्याम, रुद्राणां उर्वायाम् , स्वादित्या अदितये स्यामानेहसः' १–४–२–१७ हम वसु, रुद्र और आदित्य रूप आप देव के संरक्षण में रहें। हमसे कभी पाप न हो, हम निष्पाप रहें। हम देवों के लिये प्रिय, ब्राह्मणों के लिये प्रिय तथा समस्त प्रजा के लिये प्रियवाणी का उच्चारण करें। १–४–२–१८, १९, २०

यज्ञ के समय किसी से द्वेष करना पाप माना गया है। लिखा है :
'तद्वै देवानामागं आस ! कनीयः इव् नु भत्तो द्विषन् ।' शतपथ १–४–६–४
जो द्वेष करता है, वह कनीय है, निकृष्ट है। वह देवताओं के प्रति पाप करता है। द्वेषी व्यक्ति के अन्दर दिव्य शक्तियाँ प्रविष्ट नहीं हो पातीं। वह

१. शतपथ ब्राह्मण में राक्षसों का एक विशेषण 'नाष्ट्र' दिया है, जिसका अर्थ है अपनी और दूसरों की हानि या नाश करने वाले। जो दूसरों को हानि पहुंचाता है, वह आन्तरिक रूप से अपनी भी हानि करता है।

दिव्यता से वंचित हो जाता है। फिर लिखा है: 'यज्ञेन ह वै देवा इमां जितिं जिग्युः।' १।५।१।२ यज्ञ के द्वारा ही देव इस जीत को जीतते हैं। देवों की दिव्यता द्वेष-भाव पर विजय प्राप्त करने में ही निहित है। भक्ति कांड में भी द्वेष पर विजय प्राप्त करने की परम आवश्यकता है। भक्त के पास यह अमूल्य साधन के रूप में रहती है। शतपथ में 'द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनानि' वाक्य यज्ञ के प्रकरणों में कई बार आया है। उसका भाव यही प्रतीत होता है कि द्वेष आत्मा का भ्रातृव्य है, शत्रु है। इसका वध करना ही श्रेयस्कर है। द्वेष असुर है, प्रेम देव है। दोनों ही प्रजापति की सन्तान हैं और दोनों को ही पिता का दाय भाग प्राप्त हुआ है। अतः एक—दूसरे का भ्रातृव्य है। भक्ति काण्ड की पूजा पद्धति द्वेष भाव को भी दूर कर देती है। लिखा है:

'तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः'। १—५—१—३ मानव जब परम देव की अर्चना करता है और पर्याप्त परिश्रम करता है, तब उसे द्वेष पर विजय प्राप्त होती है। पवित्र प्रभु तक पहुंचने के ये साधन अपना विशेष मूल्य रखते हैं। अर्चना भक्ति का ही अंग है।

स ह अग्निरुवाच: 'मय्येव वः सर्वेभ्यो जुहुवतु, तद्वोऽहं मयि आ भजामि' इति। तस्मात् अग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति; तस्मादाहुः अग्निः सर्वा देवता:' १—५—२—२०

अथ ह सोम उवाच 'मामेव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु तद्वोऽहं मयि आभजामि' इति। तस्मात् सोमं सर्वेभ्यो जुह्वति। तस्मादाहुः 'सोमः सर्वा देवताः' १—५—२—२१

जैसे अग्नि में समस्त दिव्य शक्तियां निहित हैं, वैसे ही सोम में भी। जो अग्नि का तेज धारण करने के पश्चात् सोम की सौम्यता को धारण नहीं करता, वह एक प्रकार से अधूरा है। यज्ञ में अग्नि और सोम दोनों का जोड़ा है, दोनों को साथ-साथ आहुतियाँ दी जाती है। भक्त भी अग्नि और सोम दोनों को अपनाता है। वह अग्नि तत्व के द्वारा असत् पर विजय प्राप्त करता है और सोम तत्व के द्वारा सत् का आधान करता है। सोम ब्राह्मणों का, ब्राह्मी प्रवृत्ति सम्पादन करने वालों का राजा है। इसकी शोभा (विराजता) ब्राह्मी

वृत्ति अर्थात् सत् के धारण करने में ही है। भक्ति इसी सत्तोगुण पर आधारित है। आत्मा में जब अग्नि और सोम दोनों तत्वों का समावेश हो जाता है, तब वह इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् बनता है और उसमें निखिल दिव्य शक्तियाँ आकर निवास करने लगती हैं। पर जैसा हम भक्ति के विवेचन में लिख चुके हैं, भक्त इस ऐश्वर्य से, ईश्वर-भाव से अथवा देव-संसर्ग से भी ऊपर उठता है। दिव्यता की तीन सर्वोच्च कोटियों, ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्तरों, से भी ऊँचा जाता है। अतः हमारी समझ में यज्ञ भी भक्ति का एक मुख्य अंग माना जाना चाहिये, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ-रूप साधन के द्वारा जिस साध्य की प्राप्ति कही गई है, वह द्यौ, दिव्य शक्तियों के धाम, से भी ऊपर है। 'यज्ञेन वै देवा दिवम् उप उदक्रामन्' (१–६–३–१) यज्ञ से देव द्यौ को भी निकट से उल्लंघन कर जाते हैं। द्यौ के पास पहुँचकर वे वहीं नहीं रम जाते, उसका भी अतिक्रमण कर जाते हैं।

भक्ति का मार्ग प्रियत्व अथवा प्रेम का मार्ग है। श्रद्धा इसका मुख्य अंग है। शतपथ ब्राह्मण (२–३–२–३४) में लिखा है :

'अहं वः प्रियो भूयासम् इत्येव एतदाह।'

यह देवों का प्रेम-भाजनत्व कैसे प्राप्त होगा? याज्ञवल्क्य यजुर्वेद की ऋचा इसके पूर्व उद्धृत करते हुए लिखते हैं :

'उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि' (३–२२) नमः एव अस्मा एतत् करोति। यथा एनं न हिंस्यात्। जिससे देवों का प्रेमभाव साधक या याज्ञिक के प्रति बना रहे, इसी हेतु प्रति प्रातः और सायं साधक प्रभु के आगे प्रणत होता है। प्रणति, नमस्कार का भाव मानव को अहन्ता और दम्भ से बचाता है तथा हिंसा-वृत्ति से दूर रखता है। इस प्रकार उसके अन्दर निरभिमानिता, जो दैवी-सम्पदा है, बनी रहती है। याज्ञवल्क्य ने इस स्थल पर प्रार्थना-विषयक और भी कई मंत्र उद्धृत किये हैं।

यज्ञ में पवित्र बनने की प्रार्थना अनेक बार की गई है। याज्ञवल्क्य यजुर्वेद (४–४) की ऋचा को उद्धृत करते हुए लिखते हैं :

'चित्पतिर्मा पुनातु। प्रजापतिर्वै चित्पतिः। प्रजापतिर्मा पुनातु'।

चित्पति प्रजापति ही है। वह मुझे पवित्र करे। वाक्पति प्रजापति है।

वह मुझे पवित्र करे। सबको उत्पन्न करने वाला सविता देव मुझे पवित्र करे। मेरी पवित्रता में किसी प्रकार का छिद्र या दोष न रहे। (३–१–३–२२) इसी प्रकार यज्ञ का व्रत लेने पर याज्ञिक प्रार्थना करता है :

'ये देवा मनो जाता मनोयुजो दक्षक्रतवः। ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा'। यजुर्वेद (४–११)

मनन से उत्पन्न, मनन के साथ संयुक्त, यज्ञ करने में दक्ष जो देव हैं, वे हमारी रक्षा करें, हमें पवित्र करें। उनके लिए मैं त्याग-व्रत की दीक्षा लेता हूँ। (३–२–१–१८)

प्रार्थना की भावमयिता से याज्ञिक का शरीर यज्ञिय हो जाता है। 'इयं ते यज्ञिया तनूः'। यजु० (४–१३)

'अथ यद्दीक्षितः अमत्यं वा व्याहरति, क्रुध्यति वा तन्मिथ्या करोति, व्रतं प्रमीणाति, अक्रोधो ह्येव दीक्षितस्य' (३–२–१–२४)

दीक्षित होकर जो यज्ञकर्ता व्रतविहीन वा व्रत-बाह्य बातें करता है, या क्रोध करता है, वह व्रत का विनाश करता है। दीक्षित को अक्रोध होना चाहिये। भक्त भी भक्ति की दीक्षा में इसी पथ का पथिक होता है। शतपथ (४–२–१) के आरम्भ में आत्मा का वर्णन है।

'आत्मा ह वा अस्य आग्रयणः सोऽस्य एष सर्वमेव सर्वं हि अयम् आत्मा तस्मादनया गृह्णाति' ।१.

'पूर्णं गृह्णाति, सर्वं वै पूर्णम् , सर्वमेष ग्रहः, तस्मात् पूर्णम् गृह्णाति, २. विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति, सर्वं वै विश्वेदेवाः, सर्वमेष ग्रहः। तस्मात् विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति, ३. सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति, ४. आत्मा वा आग्रयणः आत्मनो वा इमानि सर्वाणि अंगानि प्रभवन्ति, ५.

भक्त याज्ञिक की भांति आत्मा को सबसे आगे रखता है। उसे यह समग्र प्रसार आत्मा का या आत्मा से ही निकला हुआ दिखाई देता है। अतः वह इस सबके द्वारा आत्मा को ही ग्रहण करता है। आत्मा से यह जगद् पूर्ण हो रहा है, अतः वह पूर्णरूप से इसे ग्रहण करता है। विश्वेदेव उसी आत्मा के स्फुलिंग हैं, अतः वह निखिल दिव्य शक्तियों के द्वारा उसे ग्रहण करता है।

वह सभी सवनों, पशिय अवस्थाओं में उसे ग्रहण करता है। आत्मा ही सब में प्रमुख है। आत्मा से ही ये समस्त अंग उत्पन्न होते हैं।

(४-२-२-१) में लिखा है: आत्मा अनिरुक्त है, यह प्रशंसनीय है, अजर और अमर है। अतः इसे ग्रहण करना चाहिये। समस्त उक्थों अर्थात् कथनीय साधनों द्वारा इसे प्राप्त करना चाहिये।

(४-२-३-२१) में गायत्री की प्रशंसा की गई है और लिखा है:

'एवम् इयम् गायत्री यजमानाय सर्वान् कामान् दोहाताऽइति तस्माद्गोपायन्ति'।

गायत्री का जाप गुप्तभाव से चुप रहकर किया जाता है। यह गायत्री यजमान या जपकर्ता की समस्त कामनाओं को पूर्ण करती है। गायत्री कामधेनु है, जो अपने समस्त वत्सरूप साधकों को दूध पिलाकर, कामनाओं की वर्षा कर सुरक्षित रखती है।

(४-२-६-१२) में ओ३म् का वर्णन है। यह जो द्यावापृथ्वी के बीच में सरसता है, वह कहाँ से आई? यह समस्त प्रजा जिससे रसवती है, जिसके जीवन से जीवन ग्रहण करती है, वह कौन है? 'स वै ओ३म्' वह ओ३म् है। 'तद्वि सत्यम्' वह निश्चितरूप से सत्य है। 'तद्देवा विदुः' उसे देव जानते हैं। तस्मात् 'ओ३म्' प्रतिगृणीयात् १२. अतः ओ३म् की ही स्तुति करनी चाहिये।

(४-५-८) के छठे और आठवें प्रकरण में ब्रह्मा और मैत्रावरुण के मंत्रजाप का उल्लेख है।

काण्ड ८, प्रपाठक २ के छठे ब्राह्मण में प्रजापति समस्त भूतों को पापरूप मृत्यु से मुक्त करके सन्तानोत्पत्ति की कामना करता है और प्राणों से कहता है:

'तुम्हारे साथ इन प्रजाओं को उत्पन्न करूँ'। प्राण बोलेः 'हमलोग किसके द्वारा स्तुति करेंगे'। १, 'प्रजापति ने कहा: हम और तुम दोनों ही इस स्तुति के साधन होंगे'। इसके बाद वाणी, प्राण, मन, शीर्ष प्राण, नवप्राण, अंगुलि, बाहु, पाद आदि अनेक अंगों से स्तुति किये जाने का उल्लेख है।

अन्त में ३३ अंगों से जो स्तुति की गई है, उसे मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। ३३ अंगों में दश हाथ की अंगुलियों, दश पैर की, दश प्राण, दो प्रतिष्ठा और एक आत्मा का परिगणन है। यही स्तोम सर्वश्रेष्ठ है। इसी से प्रजापति परमेष्ठी अधिपति बनता है। 'परमे निरतिशये स्थाने तिष्ठति इति परमेष्ठी' जो सबसे उत्कृष्ट स्थान में स्थित होता है, उसे परमेष्ठी कहते हैं। सर्वांग-समर्पण द्वारा जो स्तुति की जाती है, उसका यह महत्व है।

शतपथ ब्राह्मण के भक्ति-सम्बन्धी जो वाक्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि यह ब्राह्मण भक्ति के कतिपय अंगों का विशद् वर्णन करता है। द्वेष से दूर रहना, सब से प्रेम करना, दिव्यता और पवित्रता की ओर प्रयाण करना, ओ३म् तथा मन्त्रों का जाप करना, व्रत-परायण बनना, आत्मतत्त्व को प्राप्त करना, यज्ञ करना, क्रोध न करना आदि ऐसे साधन हैं, जो भक्ति के अनिवार्य अंग कहे जा सकते हैं। याज्ञिक कर्मकाण्ड का विस्तृत विवरण देते हुए भी, शतपथ ब्राह्मण, इस प्रकार, भक्तिकाण्ड की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है।

आर्षेय ब्राह्मण

सामवेद के आठ ब्राह्मणों में आर्षेय ब्राह्मण की गणना है। किसी-किसी के मत से प्रौढ, षड्विंश और मन्त्रोपनिषत् तीनों मिलकर छान्दोग्य ब्राह्मण कहलाते हैं, जिसमें ४० प्रपाठक हैं। सामविधि, आर्षेय, दैवत, संहितोपनिषत् और वंश नाम के पाँच ब्राह्मण सामवेदीय अनुब्राह्मण कहलाते हैं।

आर्षेय ब्राह्मण के अध्ययन से गायत्र, गेय, आरण्य, महानाम्न सामों के नामों का ज्ञान होता है। ऋषि और देवतासम्बन्धी ज्ञान भी इसमें निहित है। इसको बिना पढ़े सकल सामवेद का ज्ञाता भी ऐसे वैद्य के समान है, जो तृण, गुल्मादि का ज्ञान नहीं रखता।

इसके प्रथम प्रपाठक में ओ३म् की महिमा इस प्रकार वर्णित हुई है :

अथातः उपदेशः ओम् इति एतत् परमेष्ठिनः प्राजापत्यस्य साम। परमेष्ठिनो वा ब्राह्मस्य ब्रह्मणो वा ब्रह्मवाचो वा सत्यं साम। स्वर्गस्य वा लोकस्य द्वारविवरणं देवानां वा ओकस्त्रयस्य वा वेदस्य आप्यायनम्।

सायणाचार्य इसके भाष्य में लिखते हैं :

अथ प्रणवस्य वेदत्रयसारत्वात् वेदान्तरूपसामादौ प्रयोक्तव्यत्वात् ओम् इति उद्गायति इति ओमित्येतत् प्राजापत्यस्य प्रजापतिः हिरण्यगर्भः तत्पुत्रस्य परमेष्ठिनः सम्बन्धि साम। तेन दृष्टत्वात् परमेष्ठि साम इति अन्वर्थसंज्ञा इत्यर्थः। अथवा ब्राह्मस्य, ब्रह्म सर्वजगत्कारणं परमात्मा, तत्पुत्रस्य परमेष्ठिनः स्वभूतं साम। अथवा ब्रह्मवाक्, ब्रह्म इव वाक्, तस्य, शब्द-ब्रह्मसम्बन्धि, एवं बहूनां ऋषीणां सम्बन्धप्रतिपादनात् एषामन्यतमस्य नाम्ना। किन्तदेतत्? प्रणवाख्यं साम इत्यर्थः :

प्रणव वेदत्रयी का सार है। वेदों का अन्तिम रूप सामवेद है। उसके आदि में प्रयोक्तव्य होने से ओम् ऐसा गाया जाता है। प्रजापति हिरण्यगर्भ है। अतः उसका पुत्र परमेष्ठी प्राजापत्य कहलाता है। उससे सम्बन्धित साम ओम् है अथवा सर्व जगत् के कारण परमात्मा को ब्रह्म कहते हैं, उसके पुत्र परमेष्ठी को ब्राह्म कहा जाता है। उसी का स्वभूत साम ओम् है। अथवा ओम् ब्रह्म का ही साम है, अथवा ब्रह्म का अर्थ वाणी है, ब्रह्म की ही भाँति

उसकी वाणी है। अतः ओम् शब्द ब्रह्म-सम्बन्धी साम है, इस साम की संज्ञा प्रणव है।

यही साम व्याहृतियों में गाया जाता है। इसी को सत्यसाम कहते हैं। व्याहृतियाँ ओम् की ही व्याख्या करती हैं। यह ओम् साम स्वर्ग का द्वार है, ज्योति है। भूः, भुवः, स्वः तीन महाव्याहृतियाँ त्रयी विद्या का सार हैं। समस्त वेदों द्वारा प्रतिपाद्य अग्नि आदि देव इन्हीं महाव्याहृतियों के रूप हैं। उन समस्त देवों का ओक, निवासस्थान, ओम् साम है। यह वेद का आप्यायन अर्थात् प्रवर्द्धन है।

आर्षेय ब्राह्मण के अन्त में देव-व्रत, सोम-व्रत, दीर्घतमस-व्रत, पुरुष-व्रत दिशा-व्रत, कश्यप-व्रत, आदित्य-व्रत आदि व्रत दिये हैं। सामवेदीय व्रत अन्य व्रतों में विशिष्ट है। इनका सम्बन्ध गानों से है। आदित्य-व्रत वह साम है जो शाण्डिलीपुत्र के मत से २१ बार और वार्ष्यायणीपुत्र के मत से २२ बार गाया जाता है। कश्यप-व्रत दशानुगान का होता है। पुरुष-व्रत दो प्रकार का है : पंचानुगान और एकानुगान। दिशाव्रत दशानुगान होता है।

सामवेद की गीतिकायें औ होइ, हुम्मा आदि स्वरों में गाई जाती हैं, जिन्हें स्तोम कहते हैं। ये तेरह प्रकार के हैं : 'हाउ' (मनुष्यलोक का वाचक), 'हाइ' (वायुलोक), 'अथ' (चंद्रलोक), 'इह' (आत्मा), 'ई' (अग्निरूप), 'ऊ' (सूर्यरूप), 'ए' (आवाहनबोधक), 'औहोयि' (विश्वेदेव), 'हिं' (प्रजापतिस्वरूप) 'स्वर' (प्राणरूप), 'या' (अन्नरूप), 'वाक्' (विराटरूप) और 'हुं' (ब्रह्मरूप)। १—१३—१, २, ३। ये स्वर कहीं मन्द्र, कहीं उच्च और कहीं सम होते हैं। विशेष ध्वनियों में लपेटा हुआ गान मन को आकर्षित कर लेता है। गान के साथ एक हुआ मन अपनी दौड़ छोड़ कर एकतानता में रम जाता है, चित्त की वृत्तियाँ अपने आप निरुद्ध हो जाती हैं और इस प्रकार उनके एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने से अद्भुत शान्ति प्राप्त होती है। जगत् का जंजाल तभी तक कष्टप्रद है, जब तक मन उसमें फँसा हुआ है। जब मन इस जाल से निकल आया, तो दुःख कहाँ ? दुख-दाह से बचा हुआ मन ही शान्ति का हेतु है। सामवेद इसी हेतु समस्त वेदों का रस कहलाता है, क्योंकि यह मन को सरस संगीत की लहरियों में डुबो कर रस-रूप ब्रह्म के साथ तद्रूप कर देता है। इसीलिए

इसे भक्तिकाण्ड का वेद भी कहते हैं। व्याहृतियों में स्वः के साथ इसका सम्बन्ध है, जिसका अर्थ आनन्द होता है। भक्तिकाण्ड का भी आनन्दमय कोष से सम्बन्ध है, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं।

जिस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का एक भाग है और यजुर्वेदीय है, उसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का भाग है और सामवेदीय है। इस उपनिषद् के अनुसार ओ३म् अविनश्वर उद्गीथ है। हमें उसी की उपासना करनी चाहिये। ओ३म् की इतनी स्तुति-गीतिका क्यों है? इसका उत्तर देते हुए छान्दोग्य के ऋषि कहते हैं: इन भूतों का रस पृथिवी है। पृथिवी का रस जल है। जल का रस ओषधि है। ओषधियों का रस पुरुष है। पुरुष का रस वाणी है। वाणी का रस ऋचा है। ऋचाओं का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है, प्रणव या ओ३म् का गान है। यह रसों में सर्वश्रेष्ठ रस है, परम और परार्ध्य है, परम ब्रह्म परमात्मा का धाम है। छान्दोग्य १-२-३

ओ३म् से ही त्रयी विद्या प्रकट हुई है। इसीलिये 'ओ३म्' ऐसा सुनाया जाता है, 'ओ३म्' ऐसा कहा जाता है और 'ओ३म् ऐसा गाया जाता है। इसी अक्षर ओ३म् की महिमामयी रस-धारा से साधक की उन्नति और वृद्धि होती है। ओ३म् का श्रावण, शंसन और गान क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से सम्बद्ध है। ओ३म् में ऋक् और साम, वाणी और प्राण दोनों संयुक्त है।

आत्मानमन्ततः उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन् अप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीत इति यत्कामः स्तुवीत इति। १-३-१२

अन्त में प्रमादरहित होकर अपनी कामना को ध्यान में रखते हुए प्रभु के समीप ध्यान द्वारा तन्मय भाव से स्तुति करनी चाहिये। इस प्रकार स्तुति करने वाला साधक जिस कामना से स्तुति करता है, वह कामना पूर्णरूप से सफल हो जाती है।

यदा वा ऋचम् आप्नोति ओ३म् इत्येव अतिस्वरति, एवं साम, एवं यजुः, एष उ स्वरो यद् एतद् अक्षरम् एतत् अमृतम् अभयम्, तत्प्रविश्य देवा अमृताः अभयाः अभवन्। ४.

स य एतदेवं विद्वान् अक्षरं प्रणौति एतदेव अक्षरम् स्वरम् अमृतम् प्रविशति तत् प्रविश्य यदमृता देवाः तदमृतो भवति। ५. प्रथमस्य चतुर्थः खण्डः

जो व्यक्ति ऋग्वेद को जान जाता है, वह उच्च स्वर से ओ३म् का उच्चारण करता है। इसी प्रकार सामवेद और यजुर्वेद के ज्ञाता ओ३म् का ही गान गाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो यह ओंकार रूप अक्षर परमात्मा है, वही ऊपर कहा हुआ स्वर है, वही मृत्यु से पार करनेवाला अभय धाम है। उसी का आश्रय लेकर देव अमर और निर्भय हुए। ओंकार को इस रूप में जानकर जो भक्त ओंकारवाची अविनश्वर प्रभु की स्तुति करता है, और एकमात्र इसी अमृत रूप, अभय तथा अविनाशी परमात्मा के स्वरूपभूत इस ओ३म् स्वर में प्रविष्ट हो जाता है, उसकी शरण ग्रहण कर लेता है, वह इस साधना द्वारा उसी अमृत तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, जिसे देवताओं ने प्राप्त किया था।

अथ खलु यः उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथः इति असौ वा आदित्यः उद्गीथः एप प्रणवः ओ३म् इति ह्येष स्वरन्नेति। १-५-१

निश्चितरूप से जो उद्गीथ है, गेय परमदेव है, वही प्रणव है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। इस प्रकार नाम और नामी का अभेद है।

यह जो आदित्य है, वह भी उद्गीथ है और वही प्रणव भी है। अर्थात् जो साधक आदित्य में परमात्मा और उनके वाचक ओ३म् की भावना करता है, वह ओ३म् स्वर का उच्चारण करता हुआ वहीं पहुँच जाता है, सफल-काम होता है। एक बार कौषीतकि ऋषि ने सूर्य को लक्ष्य करके ओंकार का भलीभाँति गान या जाप किया था, तो उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई थी। अन्य जो कोई साधक इसी प्रकार ओ३म् का जाप करेगा, उसे भी पुत्रों की प्राप्ति होगी।

इसी प्रकार प्राण, हृदय आदि को लक्ष्य करके ओ३म् का जाप किया जा सकता है। छन्दोग्य के इस स्थल पर उद्गीथ की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है, यथा 'उत्' उत्थान या प्राण का वाचक है, 'गी' वाणी का द्योतक है और 'थ' अन्न का, स्थिति का बोधक है। 'उत्' स्वर्ग है, तो 'गी' अन्तरिक्ष है और 'थ' भूलोक है। 'उत्' आदित्य है, तो 'गी' वायु है और 'थ' अग्नि है। 'उत्' सामवेद है, तो 'गी' यजुर्वेद है और 'थ' ऋग्वेद है। ओंकारवाची प्रभु की जो इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिये वाणी के निखिल रहस्य प्रकट हो जाते हैं, वेदों का आशय स्पष्ट हो जाता है और वह भोग-सामग्री तथा भोगने की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। १-३-६-७

इसी के आगे साधक को सात बातें स्मरण रखने का आदेश दिया गया है, जो इस प्रकार हैं :

१—जिस साम के द्वारा साधक स्तुति करना चाहता है, उसे याद रखे।

२—वह साम जिस ऋचा में प्रतिष्ठित हो, उस ऋचा को ध्यान में रखे।

३—जिस ऋषिने उस ऋचा का साक्षात् किया है, उसका स्मरण करे।

४—सामगान द्वारा जिस देवता की स्तुति करनी हो, उसे स्मरण रखे।

५—वह ऋचा जिस छन्द में है, उस छन्द को याद रखे।

६—सामवेद के जिस स्तोत्र-समूह से स्तुति करनी है, उसे ध्यान में रखे और,

७—जिस दिशा की ओर मुख करके स्तुति करनी है, उस दिशा का भी ध्यान रखे।

ये बातें तान्त्रिक-साधना में और भी अधिक विकसित हुई हैं। वज्रयानी बौद्ध ही नहीं, शक्ति के उपासक शाक्तों में भी इनका जो विकास दिखाई देता है, उसका मूल बीज इसी प्रणव या उद्गीथ की उपासना-विधि में सुरक्षित है। छान्दोग्य के इस स्थल की समता आर्षेय ब्राह्मण की इन पंक्तियों से की जा सकती है :

यो ह वा अविदित-आर्षेयच्छन्दो दैवत-ब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति, गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते, पापीयान् भवति, यातयामानि अस्य छन्दांसि भवन्ति[1]। १—१

जो व्यक्ति छन्द, ऋषि, दैवत, विनियोग आदि के बिना जाने ही मंत्र का जाप करता है, या अध्यापन करता है, वह वृक्षयोनि को प्राप्त करता है, या गर्त में गिरता है, या नष्ट हो जाता है, पापी बनता है। उसके छन्द बासी और फीके हो जाते हैं। इसके विपरीत यह भी कहा गया है कि जो उपर्युक्त बातों को जान कर जाप करता है, वह स्वर्ग, यश, पुण्य, पुत्र, पशु, ब्रह्मवर्चस्व आयु, अन्न (प्राक् प्रातराशिक) आदि सब कुछ पा जाता है। वह परलोक में सहस्र दिव्य वर्षों तक एक-एक ऋषि का अतिथि बना हुआ अभिनन्दित,

---

१—आचार्य सायण ने इसके भाष्य में किसी स्मृति का निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया है :

'अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं विनियोगकम्।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः'।

पूजित और प्रतिनन्दित होता है। इस लोक में वह पंक्तिपावन और तेजस्वी बनता है।

सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् में उद्गीथ, प्रणव या साम की उपासना के अनेक प्रकार वर्णित हुये हैं। साम का अर्थ साधु या शुभ होता है। सामोपासना साधु, शुभ या कल्याण करने वाली है। इसमें हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन पाँच विधान हैं। प्रस्ताव या स्तुति-पाठ का सम्बन्ध प्राण से, उद्गीथ या उद्गान का सम्बन्ध सूर्य से और प्रतिहार का सम्बन्ध अन्न से है। हिंकार प्रारम्भिक स्वर भरना है और निधन गान का अन्त है। साम सा और अम से मिल कर बना है। सा पृथिवी है, तो अग्नि अम है। अन्तरिक्ष सा है, तो वायु अम है। द्युलोक सा है, तो सूर्य अम है। नक्षत्रमण्डल सा है, तो चन्द्रमा अम है। साम ऋक् में प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद की ऋचायें ही सन्तनित होकर सामवेद की गीतिकायें बन जाती हैं।

सामवेद उपासना का वेद कहा जाता है। इसके प्रारम्भिक मंत्र कतिपय सृष्टि-विद्या-सम्बन्धी मंत्रों को छोड़ कर, प्रायः सब के सब उपासना से सम्बन्ध रखते हैं। सामवेद के कई ब्राह्मण हैं, परन्तु हमने यहाँ केवल आर्षेय ब्राह्मण को लेकर ही भक्ति के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। आर्षेय ब्राह्मण प्रणव, ओंकार तथा उद्गीथ की मुक्त-कण्ठ से स्तुति करता है। उसने उद्गीथ की उपासना-विधि का भी उल्लेख किया है। इस विधि के अनुकूल जाप करने वाला लोक तथा परलोक दोनों में समादृत होता है और उस परम सत्ता के समीप बैठने का श्रेय भी उसे मिलता है।

साधक का ज्ञान जब भावना का रूप धारण करता है और उसमें अपने सर्वस्व को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देने की आकांक्षा जागृत हो उठती है, तो उसके आन्तरिक-रूप में संकोच के स्थान पर विस्तार आ जाता है। राग में भी कुछ इसी प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। भक्ति-भावना इसी हेतु संकोच से हटकर विशाल और उदार रूप धारण करती है। सामवेद जो ऋग्वेद की ऋचाओं से कई गुना बढ़ कर बोला जाता है और उसका एक-एक शब्द दूर-दूर तक अनेक वर्णों और मात्राओं में फैल जाता है—उसका यही कारण-विशेष है। ज्ञानी के समक्ष भक्त की महत्ता भी इसी हेतु अधिक है।

गोपथ ब्राह्मण

गो-पथ-ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्व वेद के साथ है। जिस प्रकार अथर्ववेद के सम्बन्ध में अन्य वेदों की अपेक्षा निर्माण की तिथि परवर्ती काल की मानी जाती है, उसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण को भी विद्वान् अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् बना हुआ मानते हैं। इस ब्राह्मण के पूर्व भाग प्रपाठक १, कण्डिका २९ के अन्त में निम्नांकित शब्द आये हैं—

'एतस्मात् व्यासः पुरोवाच'।

ये शब्द सिद्ध करते हैं कि इस ब्राह्मण का निर्माण व्यास के बहुत बाद हुआ है। इसी प्रपाठक की कण्डिका ३१ में मौद्गल्य और मैत्रेय का वार्त्तालाप दिया है। श्रीमद्भागवत में भी ये दोनों नाम आते हैं और बौद्धधर्मावलम्बियों के तो ये विशेष परिचित नाम हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण की रचना श्रीमद्भागवत के रचना-काल के आस-पास ही हुई होगी। प्रथम प्रपाठक की कण्डिका २५ में पौराणिक देवत्रयी अपने विशिष्ट रंगों के साथ विद्यमान है, जिसमें ब्रह्मा का रंग लाल, विष्णु का काला और ईशान् अर्थात् महादेव का कपिल वर्ण वर्णित है। सम्भव है, ईशान को शर्व देवता के साथ मिला कर उनका रंग शुद्ध स्फटिक के समान आगे चलकर कल्पित कर लिया गया हो। महादेव को शुद्ध भस्मावृत तथा कांचन-सन्निभ भी कुछ स्थानों पर कहा गया है। नैमिषारण्य के ८८ सहस्र ऋषियों के नेता शौनक भी प्रपाठक ३, कण्डिका ८ में विद्यमान हैं। उत्तर भाग के प्रपाठक १ की कण्डिका १४ में मांस-भक्षण का निषेध किया गया है, जो उन दिनों के भागवत-प्रभाव को भी सूचित कर सकता है। भागवतों के नारायण (५—११) भी इसमें विद्यमान हैं। उत्तर भाग के प्रपाठक ३ की कण्डिका १४ और १५ में इन्द्र, सूर्य और अग्नि की स्तुतियाँ भी पाई जाती हैं। गोपथ ब्राह्मण में अन्य ब्राह्मणों की भाँति वेद और यज्ञ के विषय ही प्रमुख रूप से वर्णित हुए हैं। गोपथ ब्राह्मण के दो भाग हैं: पूर्व और उत्तर। पूर्व में पाँच और उत्तर में छः प्रपाठक हैं। अथर्ववेद का ब्राह्मण होने के कारण उसकी दाधिक्री, पवमानी, आहनस्या, आदित्या, आंगिरसी, ऐन्द्रावार्हस्पत्य आदि

ऋचाओं का विशेष प्रयोग भी इसमें उल्लिखित है। उत्तर भाग के प्रपाठक ६ में कुडिल और गोश्ल जैसे मुनियों के नाम सूचित करते हैं कि इस ब्राह्मण के निर्माता का सम्बन्ध विदेहों के भी साथ था। यज्ञ-सम्बन्धी विवरणों के साथ इस ब्राह्मण ने गायत्री का जाप, ओ३म् को सहस्र बार जपने की महिमा तथा प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में ओ३म् का उच्चारण करने का आदेश दिया है। भगवान् में विश्वास रखने वालों का महत्त्व, यज्ञों के अन्दर भी आत्मिक यज्ञ से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति (प्रपाठक ५-८), स्तोत्रों द्वारा मृत्यु का पराभव (उत्तर ३–१२) आदि कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जिन्हें भक्ति-काण्ड के अन्तर्गत स्थान प्राप्त हो सकता है।

ओ३म् का सहस्र बार जाप :

'तत् एतत् अक्षरं ब्राह्मणो यं कामं इच्छेत् त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखो वाग्यतो बर्हिषि उपविश्य सहस्रकृत्वा आवर्तयेत सिद्ध्यन्ति अस्य अर्थाः सर्वकर्माणि च' (१–२२)

जो इस एकाक्षर अविनाशी ओ३म् नाम की ऋचा का एक सहस्र बार कुशासन पर बैठ कर, पूर्व की ओर मुख किये, वाक्-संयम-सहित तथा तीन रात्रि तक उपवास करता हुआ जाप करता है, उसके समस्त अर्थ और काम सिद्ध होते हैं।

ओ३म् का जाप असुरत्व से देवत्व की रक्षा करता है :

'ये देवा देवयजनस्य उत्तरार्धे असुरैः संयता आसन्, तान् ओंकारेण अग्नीध्रीयात् देवाः असुरान् पराभावयन्, तत् यत् पराभावयन्त तस्मात् ओंकारः पूर्वं उच्यते यो ह वा एतं ओंकारं न वेद अवशः स्यात् इति। अथ य एवं वेद ब्रह्मवशः स्यात् इति। तस्मात् ओंकारः ऋचि ऋग् भवति, यजुषि यजुः, साम्नि साम, सूत्रे सूत्रं, ब्राह्मणे ब्राह्मणं, श्लोके श्लोकः, प्रणवे प्रणवः' (१–२३)

वे देवता देव-यजन के उत्तरार्ध में असुरों द्वारा घेर लिये गये। तब देवताओं ने यज्ञवेदी से ओंकार के द्वारा ही उन असुरों को पराभूत किया, क्योंकि असुर ओंकार के द्वारा ही पराभूत किये गये, अतः सर्वप्रथम ओंकार का ही उच्चारण करना चाहिये। जो इस ओंकार को नहीं जानता, वह प्रभु

का प्यारा नहीं बनता, परन्तु जो इसे जानता है, वह प्रभु का प्यारा बनता है। इसीलिये ओंकार को ऋचाओं की ऋचा, यज्ञों का यज्ञ, साम का साम, सूत्र का सूत्र, ब्राह्मण का ब्राह्मण, श्लोक का श्लोक और प्रणव का प्रणव कहा जाता है। ओंकार के जाप का, इसी हेतु, इतना महत्त्व आर्य ऋषियों के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त कर सका है। इसके आगे कंडिका २८ के निम्नांकित शब्द भी इसी भाव का समर्थन करते हैं।

'स (ओ३म्) एभ्यः उपनीय प्रोवाच मामिकाम् एव व्याहृतिम् आदितः आदितः श्रृणुध्वम्""""तस्मात् ब्रह्मवादिनः ओंकारं आदितः कुर्वन्ति'।

उपनीत हुए ब्रह्मवादियों से ओंकार बोला : 'मेरी ही व्याहृति को प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में बोलो'। इसी हेतु ब्रह्मवादी ऋषि ओंकार का उच्चारण सभी कार्यों के आदि में करते हैं। कण्डिका ३० में ओंकार को अध्यात्म, आत्म-भैषज्य और आत्मकैवल्य कहा गया है। ओ३म् के जाप का फल मोक्ष है, ऐसा सभी मनीषियों ने स्वीकार किया है। प्रपाठक २, कण्डिका १७ में लिखा है : 'उपयज्ञः आत्रेयः किं भवति' ? अर्थात् यज्ञरूप पूजनीय प्रभु के पास आया हुआ आत्रेय अर्थात् ब्राह्मण क्या होता है, क्या फल प्राप्त करता है ?

'आदित्यं हि तमो जग्राह तत् अग्निः अपनुनोद'

आदित्यरूप प्रभु के उपासकों के मार्ग में तमरूप विघ्न आते हैं, तो नित्य रक्षक परमात्मदेव उन विघ्नों को मार्ग से हटा देते हैं। प्रभु का भक्त अपनी कुशल-क्षेम प्रभु पर छोड़ देता है। अतः विघ्न-बाधायें उसे मार्ग से विचलित नहीं कर पातीं।

प्रपाठक ५ की कण्डिका १२, १३ और १४ में प्रातः, माध्यन्दिन और तृतीय सवन की कुछ स्तुतियाँ दी हुई हैं, जो विशुद्ध रूप से भक्ति-परक हैं। इन्हें हम नीचे उद्धृत करते हैं :

'श्योनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनुत्वा आरभे स्वस्ति मा सपारय'।

हे सोम ! अपनी शक्ति से समवेत परमात्मन्। आप गायत्रच्छन्द अर्थात् गेय अथवा स्तुतियोग्य और आनन्दपूर्ण हैं। आप परम ज्ञानरूप सामर्थ्य

रखते हैं। मैंने आपही का सहारा लिया है। आप कल्याण के साथ मुझे पार लगा दें।

'अथ माध्यन्दिने पवमाने वाचयति सम्राडसि त्रिष्टुप् छन्दा अनुत्वा आरभे स्वस्ति मा सम्पारय'।

सम्यक् प्रकार से प्रकाशमान प्रभु! तुम दैहिक, दैविक एवं भौतिक तीनों तापों से हम सब की रक्षा करने वाले हो। हम अपनी वाणी, मन और आत्मा तीनों के द्वारा आपकी स्तुति करते हैं। आप आनन्द-धाम हैं। मैंने आपही की शरण ग्रहण की है। आप ही मुझे कल्याणपूर्वक इस भवसागर से पार करें।

'अथ आर्भवे पवमाने वाचयति स्वरोऽसि गयोऽसि जगच्छन्दा अनुत्वा आरभे स्वस्ति मा सम्पारय'।

प्रभु! आप स्वर हैं। आप यहीं नहीं, द्यु-लोक तक संचरण कर रहे हैं। आप सर्व-व्यापक हैं। आपसे बढ़ कर गय अर्थात् सर्वत्र पहुँचा हुआ और कोई भी नहीं है। आप ही समग्र विश्व के प्राणाधार हैं। आप अनन्त आनन्द वाले हैं। मैंने आपका ही अवलम्बन लिया है। आपही मेरा कल्याण करें। मुझे पार [1]लगावें।

उत्तर भाग प्रपाठक ३, कण्डिका ११ में लिखा है :

> 'अमृतं वै प्रणवः अमृतेनैव तद् मृत्युं तरति......
> ब्रह्म ह वै प्रणवः ब्रह्मणा एव अस्मै तद् ब्रह्म उपसन्तनोति'

प्रणव, सदैव अभिनव बना रहनेवाला ओंकार, अमृत है। इसी प्रणव ओ३म् के द्वारा साधक मृत्यु को पार करता है। प्रणव, ओ३म्, सब से बड़ा है। इसी महान् ब्रह्म के द्वारा प्रभु का ज्ञान चारों ओर फैलता है। अर्थात् ओंकार समस्त ज्ञानोंकी निधि और स्रोत है। प्रजाकाम तथा प्रतिष्ठाकाम मानव प्रणव की ही उपासना करते हैं।

---

१. शतपथ १२-२-१-३, ४, ५ में भी कुछ शब्दान्तर के साथ ये स्तुतियाँ दी हुई हैं।

उत्तर भाग प्रपाठक ५, कण्डिका ७ में सामवेद को सब वेदों का रस कहा गया है। सामवेद उपासनाकांड का वेद है। उसे सब वेदों का रस कहने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि गोपथ ब्राह्मण का रचयिता भक्ति-काण्ड को ज्ञानकाण्ड का सार समझता है, अथवा नीरस ज्ञान-काण्ड में यदि सरसता का संचार किसी प्रकार से होता है, तो वह प्रकार भक्ति या उपासना ही है।

'अथो सर्वेषां वा एषः वेदानां रसः यत् साम, सर्वेषामेव तत् वेदानां रसेन अभिषिंचति'।

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भक्ति-काण्ड-परक जो पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें प्रभु के ओ३म् नाम का तथा उसके जाप का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। भक्ति को ज्ञान का रस कहना केवल तथ्य पर ही प्रकाश नहीं डालता, याज्ञिकों की भक्ति के सम्बन्ध में प्रगाढ़ आस्था को भी प्रकट करता है।

उपसंहार

चारों वेदों से सम्बन्धित चार ब्राह्मणों की जो भक्ति-विषयक सामग्री हमने गत परिच्छेदों में दी है, वह अपने-अपने वेद के अनुकूल ही है। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का ब्राह्मण है, और ज्ञान-काण्ड से सम्बद्ध है। अतः उसमें भक्ति-काण्ड से सम्बन्धित सामग्री का प्रायः अभाव है।

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद के साथ सम्बद्ध है, जो कर्मकाण्ड का वेद है और श्रेष्ठतम कर्म करने का आदेश देता है। कर्म अपने सूक्ष्मरूप में ज्ञान और उपासना दोनों के अन्दर निहित है। उसकी स्थिति दोनों के बीच में है। अतएव वह दोनों ओर जाता है और दोनों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करता है। शतपथ ब्राह्मण भी इसी हेतु ज्ञान तथा उपासना दोनों काण्डों की सामग्री रखता है। उसमें दी हुई निरुक्तियाँ तथा कुछ आख्यायिकायें ज्ञानकाण्ड का उद्घाटन करती हैं। उपासना-सम्बन्धी सामग्री भी उसमें पुष्कल है, जो यथास्थान दी जा चुकी है। सामवेद के ब्राह्मण में उपासना का रूप स्पष्ट हो उठा है। गो-पथ ब्राह्मण भक्ति को ज्ञान का रस कहकर इस सम्बन्ध में सामवेद की प्रतिष्ठा को ही वर्द्धमान करता है।

उपनिषद् और भक्ति

वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का विशेष मूल्य है। इनकी संख्या १०८ मानी जाती है, परन्तु विभिन्न सम्प्रदायों की विभिन्न उपनिषदें हैं और वे सब मिलकर इस संख्या से कहीं अधिक हैं। प्रामाणिक उपनिषद् ग्यारह हैं: ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। उपनिषदों में तपःपूत ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव वर्णित हैं, जिन्हें पढ़कर सांसारिक दुखों से दग्ध मानव शान्तिलाभ करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञकांड सम्बन्धी विस्तृत विवरणों का यहाँ एकान्त अभाव है। कतिपय उपनिषद् तो यागों का विरोध भी करती हैं। शब्दों की जो निरुक्तियाँ और विद्वत्ता का जो प्रदर्शन वहाँ है, वह भी यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। ऋषियों ने अपनी प्रातिभ एवं प्रज्ञात्मक शक्ति से जिस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया, उसी सत्य का इन उपनिषदों में प्रतिपादन हुआ है।

उपनिषदों के ऋषि मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत दो रूपों का प्रायः उल्लेख करते हैं।[1] जो मूर्त है, वह प्रत्यक्ष है और वही मर्त्य है। जो अमूर्त है, वह परोक्ष है और वही अमृत है। मूर्त साधन है तो अमूर्त साध्य। अमूर्त से ही मूर्त का प्रभव है, ऐसा कथन भी उपनिषदों में प्राप्त होता है। बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण के अन्त में लिखा है: जैसे मकड़ी (ऊर्णनाभि) के अन्दर से तन्तुजाल और अग्नि से क्षुद्र विस्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा से प्राण, लोक, देव, भूत सब प्रकट होते हैं। जो जिससे निकलता है, वही उसका साधन है। अतः प्राण आदि सब उसी अमूर्त आत्मा को जानने के साधन हैं।

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, अनन्त है, शाश्वत है, सर्वशक्तिमान् है, समग्र विश्व और उसके बाहर भी केन्द्रस्थ ज्योति है। यह सर्वव्यापक है, मानव-जीवन की चेष्टाओं और प्रयत्नों का एकमात्र अन्तिम लक्ष्य है। वही. हमारी पूजा, प्रशंसा और श्रद्धा का भाजन होना चाहिये।

बृहदारण्यक: ३: ३२ में याज्ञवल्क्य कहते हैं: 'एषाऽस्य परमा गतिः, एषाऽस्य परमा संपद्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः, एतस्यैव

---

१. बृहदारण्यक, द्वितीय अध्याय, तृतीय ब्राह्मण।

आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।' आत्मा ही मानव की परम गति, परम सम्पत्ति, परम लोक और परम आनन्द है। आत्मा के आनन्द का लघु अंश पाकर ही अन्य भूत जीवन धारण कर रहे हैं।

जिसने इस आत्मा को नहीं जाना, उसका दर्शन, श्रवण, वचन, स्पर्श, मनन आदि सभी व्यर्थ हैं। कठोपनिषद् का ऋषि कहता है: 'इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।' २ : ३ : ४. शरीर छोड़ने से पहले ही यदि मानव इस आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ हो गया, तो ठीक है, अन्यथा वह जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।' १ : ३ : १५ जन्म-मरण के चक्र से छूटने का एकमात्र साधन इस अनादि, अनन्त, महत् से भी परे, निश्चल आत्मतत्त्व को जान लेना है।

इस आत्मा को कैसे जानें? उपनिषद् के ऋषि इस प्रश्न का समाधान कई प्रकार से करते हैं। हम यहाँ भक्तिक्षेत्र से सम्बन्धित समाधानों पर ही विचार करेंगे।

भक्तिभावना: आत्मसाक्षात्कार के लिये भक्ति की महत्ता प्रायः सभी सम्प्रदायों को मान्य है। भक्त अपने आराध्य देव को भक्तिभावना द्वारा अवगत करना चाहता है। ज्ञानमार्ग की दुरूहता, योगपथ की जटिलता तथा वाम मार्ग की बीभत्सता से घबड़ाकर सरल वृत्ति का साधक भक्तिभाव को ही अपनाता है। अन्य पथों पर सीमित साधक-वृन्द ही चल सकता है, पर भक्ति-पथ सबके लिये उन्मुक्त है। इस मार्ग में साधक को अपनी मनोवृत्ति केवल एक ओर से दूसरी ओर मोड़ देनी पड़ती है। भक्त अपने इष्टदेव की आराधना में अपने सर्वस्व को समर्पित कर देता है। वह किसी से द्वेष नहीं करता, सबके प्रति प्रेमभाव रखता है, क्योंकि उसका प्यारा प्रभु सबके अन्दर विद्यमान है। वह विनयशील है। उसका अस्तित्व प्रभु की पूजा के लिये है। इसके अतिरिक्त उसकी अपनी कोई भी कामना नहीं। भक्त का जीवन भगवन्मय होता है। उसके अन्दर प्रभु-दर्शन की उत्कट लालसा रहती है और उसकी बाँकी झाँकी पर, स्वल्प झलक पर, वह आनन्द-विभोर हो उठता है। भक्तिमार्ग सरस मार्ग है। तैत्तिरीय उपनिषद् का ऋषि कहता है: 'यद्वै

तत्सुकृतं रसो वै सः। रसं हि अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति ॥' ७,२. प्रभु निश्चय ही रस-रूप हैं। भक्त इन्हीं रस-रूप प्रभु को पाकर आनन्दपूर्ण हो जाता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ॥' ९,१ जहाँ वाणी-विलास, ज्ञान-कथन और मनन नहीं पहुँच पाते, हाथ-पैर मारकर लौट आते हैं, वहाँ ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने वाला साधक सब ओर से निर्भय हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् प्रभु के उपासक का रूप निम्नांकित शब्दों में उपस्थित करती है: 'स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वानः एवं विजानन् आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।' ७:२५:२. प्रभु का उपासक सर्वत्र प्रभु को ही देखता है, प्रभु का ही चिन्तन करता है, उसी का बोध करता है, वह आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन तथा आत्मानन्दी बन जाता है। वह स्वराट् है, समस्त लोकों में उसकी यथाकाम गति होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् प्रभु के भक्त को बालक के समान बनने का उपदेश देती है: 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।' ३,५. ब्रह्म की ओर जाने वाला साधक अपने पाण्डित्य का परित्याग करके बालभाव से रहे। जैसे बालक निरीह होता है, सांसारिक एषणाओं में आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार भक्त भी निरीह और निस्पृह होता है। बालक अपनी सुरक्षा के लिये माँ पर अवलम्बित है, वैसे ही भक्त अपने प्रभु पर। परमदेव की कृपा ही भक्त का सर्वस्व है। भक्त को प्रभु की प्राप्ति प्रभु के प्रसाद से ही सम्भव होती है। कठोपनिषद् का ऋषि कहता है: 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते, तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥' २,२३ [यह श्लोक मुण्डक उपनिषद् के ३,२,३ में भी मिलता है।] यह आत्मतत्त्व व्याख्यान से नहीं मिलता, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से मिलता है। यह आत्मा जिसे स्वीकार कर लेता है, उसे ही यह प्राप्त होता है, उसी के सामने यह अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है।

'अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात् महिमानमात्मनः ॥' २-२० [यह श्लोक श्वेताश्वतर उपनिषद् का ३,२० भी है।] आत्मदेव सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान्

से महान् हैं। कामनाओं से रहित साधक उन्हीं की कृपा से शोक-रहित होकर उनकी महिमा के दर्शन करता है।

श्रद्धा :

श्रद्धा भक्ति-भावना का अनिवार्य अङ्ग है। श्रद्धा से विहीन व्यक्ति भक्त नहीं, और कुछ हो, सो हो। उपनिषदों के आधार पर भी आत्मा को जानने का सर्वप्रमुख साधन श्रद्धा ही है। अविचल आत्म-विश्वास आत्मतत्त्व तक पहुँचा देता है। कठोपनिषद् में लिखा है: 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।' २,३,१२ यह आत्मा वाणी से नहीं जाना जाता, न चक्षु और मन से प्राप्त होता है। जो मनुष्य कहता है—'यह है', उसके अतिरिक्त यह किसी अन्य को कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् जो प्रभु में अचल आस्था रखते हैं, उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, ईश्वर-विश्वासी हैं, वही उसे प्राप्त कर सकते हैं। आत्मतत्त्व में जिस प्राणी का विश्वास ही नहीं है, उसके लिये आत्म-प्राप्ति का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता। श्रद्धा-विश्वास इस रूप में भक्तिभावना का मूलाधार है। मुण्डक उपनिषद् का ऋषि कहता है: 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः सपुरुषो ह्यव्ययात्मा। (१, २, ११) जो विद्वान् शान्त स्वभाव वाले हैं, भिक्षा-वृत्ति पर अवलम्बित रहकर वन में निवास करते हैं और तप तथा श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे रजोगुण से शून्य हुए, सूर्यद्वार से चलकर अमृत, अव्ययात्मा पुरुष को प्राप्त करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है:

> यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति। १,१,१०

साधक जो कुछ कार्य विद्या, श्रद्धा और समीपस्थ सेवा के द्वारा करता है, वही तेजस्वी होता है।

श्रद्धा मन की वह वृत्ति है, जो साधक को विश्व की विविधता के भीतर एकसूत्रता के दर्शन कराती है। तर्क द्वारा यह सम्भव नहीं है। यम नचिकेता से कहते हैं:

> 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'। कठ १, २, ९

तर्क से वह बुद्धि नहीं प्राप्त होती, जो अध्यात्म-निष्ठा में दृष्टिगोचर होती है। श्रद्धा ऐसा विश्वास है जो तर्क-सम्मत कारण की अपेक्षा नहीं रखता। परन्तु तर्क के क्षेत्र से बाहर रहकर भी यह तर्क का विरोधी नहीं है। ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति का कार्य श्रद्धा-विश्वास के आधार पर ही चलता है। प्रत्येक व्यक्ति यह मानकर ही कार्य में संलग्न होता है कि दिन के पश्चात् रात्रि आवेगी और रात्रि के पश्चात् सूर्योदय होगा। इसके मानने के लिये उसे तर्क के झमेले में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। सर आर्थर ऐडिंग्टन और आइन्स्टाइन जैसे वैज्ञानिक श्रद्धा-विश्वास के इस पक्ष को स्वीकार करते हैं।[1] प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट और आचार्य शंकर ने भी अज्ञात को ज्ञात करने में तर्क की व्यर्थता तथा श्रद्धा की उपयोगिता का समर्थन किया है। योगदर्शन नियमों के अन्तर्गत ईश्वर-प्रणिधान को रखता है, जिसमें प्रपत्ति, श्रद्धा और अटल विश्वास निहित हैं।

गुरु : हम सब जीवनयात्रा के यात्री हैं। इस यात्रा में जो गन्तव्य स्थल के निकट पहुँचता जाता है, वह अन्यों के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य

---

1. 'In this age of reason, faith yet remains supreme Consider, for instance, the knowledge that the distance of the moon is about 2,40,000 miles. This means that 2,40,000×1760 yard sticks placed end to end would reach from here to moon. This is called hypothetico-observational knowledge.'

—Arthur Eddington—'Philosophy of physical science.'

'You could not be a scientist, if you did not know that the external world existed in reality, but that knowledge is not gained by any process of reasoning. It is a direct perception akin to what we call faith.'

—Albert Einstein

'Science can only be created dy those who are thoroughly imbued with the aspiration towards truth and understanding. This source of feeling, however, springs from the sphere of religion. To this there also belongs the faith.........I can not conceive of a genuine scientist without that profound faith'.

Albert Einstein—'Out of my later years' P. 26

कर सकता है। ऐसा व्यक्ति पथ की सहजगम्यता, वैषम्य, रपटन, चढ़ाई आदि सभी बातों से परिचित रहता है। अतः जो व्यक्ति उसके सम्पर्क में आता है, उसे वह इन सभी से सावधान कर सकता है। जीवन-पथ में पगडण्डियाँ भी अनेक हैं और सभी व्यक्ति एक ही पगडण्डी नहीं पकड़ते। अतः सबका अनुभव भी अपना अपना होता है। अध्यात्ममार्ग भी एक नहीं, अनेक दिशाओं में जाता है। इस मार्ग में कोई ज्ञान का आश्रय लेता है, कोई कर्म का और कोई भक्ति का। सभी स्वभावना द्वारा अपने लक्ष्य की सिद्धि करना चाहते हैं। अतएव जिसको जिस दिशा का अनुभव है, वह उसी दिशा में चलने वाले पथिक को मार्ग दिखा सकता है और उस पथ पर आगे बढ़ा सकता है। गुरु अर्थात् समर्थ पथ-प्रदर्शक का महत्त्व इसी हेतु प्रत्येक दिशा में आवश्यक माना गया है। उपनिषदों के निम्नाङ्कित उद्धरण इसी तथ्य का उद्घाटन करते हैं :

> श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
> आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ ७॥
> न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
> अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति, अणीयान् ह्यतर्क्यमणु प्रमाणात्॥ ८॥
> नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
> यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि, त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ ९॥
>
> (कठ, अध्याय १, दूसरी वल्ली)

अनेक व्यक्तियों को तो आत्मा के सम्बन्ध में सुनने का अवसर ही नहीं मिलता। कुछ व्यक्ति सुन लेते हैं, पर उसे समझ नहीं पाते। इसका वर्णन करने वाले और प्राप्त करने वाले अत्यन्त विरल हैं। कुशल आचार्य द्वारा सिखाया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप ही है।

यह आत्मा अयोग्य गुरुओं द्वारा सिखाये जाने पर समझ में नहीं आता। और जब तक योग्य आचार्य इसके सम्बन्ध में न समझावे, तब तक इस क्षेत्र में प्रवेश ही सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मा अतीव सूक्ष्म है।

हे नचिकेता! आत्मज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं होता। जब कोई ऐसा आचार्य मिले, जिसने इसे प्राप्त किया है, और वह आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान

दे, तभी यह सुगमता से समझ में आ सकता है। नचिकेता! तुम सत्य धारणा वाले हो। हमें तुम्हारे समान और भी शिष्य मिलें।

इन उद्धरणों में योग्य आचार्य की अनिवार्यता का तो उल्लेख है ही, साथ ही यह भी कहा गया है कि शिष्य भी योग्य जिज्ञासु हो।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १२॥
तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म-विद्याम्॥ १३॥
(मुण्डक १, २)

कर्म से प्राप्त किये जाने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य धारण कर ले, क्योंकि इस कृत से, किये हुए सकाम कर्म से, अकृत अर्थात् स्वतः सिद्ध आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं होता। उसे आत्मज्ञान के लिये हाथ में समिधा लेकर वेदज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ही जाना चाहिये।

वह विद्वान् गुरु समीप आये हुए, पूर्णतया शान्त चित्त वाले, इन्द्रियजयी शिष्य को ब्रह्मविद्या का तात्त्विक रूप से उपदेश करे जिससे वह शिष्य उस अविनश्वर सत्य पुरुष को जान सके।

इन उद्धरणों में शिष्य के गुण इस प्रकार वर्णित हुए हैं: उसका चित्त शान्त हो, वह इन्द्रियसंयमी हो, विरागी हो और उसके हाथ में समिधा हो अर्थात् हृदय में उच्चकोटि की श्रद्धा हो। जैसे समिधा अग्नि के पास जाकर अपने व्यक्तित्व को नष्ट कर देती है और अग्निमय बन जाती है, उसी प्रकार शिष्य निरभिमान होकर गुरु के समीप पहुँचे और उसके बताये हुए ज्ञान में अपने को लीन कर दे।

योग्य गुरु के गुण इस प्रकार कहे गये हैं: गुरु श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ हो, परब्रह्म परमात्मा में उसकी एकान्त निष्ठा हो और वह तत्त्व-विवेचनपूर्वक ब्रह्मविद्या का उपदेश कर सकता हो।

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्यो अभिनद्धाक्षम् आनीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् स यथा तत्र प्राङ्वा उदङ्वा अधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीत अभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षः विसृष्टः। १

तस्य यथा अभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयाद् एतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रज इति। स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गान्धारानेव उपसंपद्येत एवमेव इह आचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्येथ, संपत्स्ये इति। २ (छान्दोग्य ६,१४)

आरुणि उद्दालक श्वेतकेतु को समझाते हैं : हे सोम्य ! जैसे किसी आँखें बँधे हुए पुरुष को गान्धार देश से लाकर जन-शून्य स्थान में छोड़ दें, तो वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण या पश्चिम की ओर मुख करके जोर से बोलेगा : 'मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया गया है।' उस समय उसके चिल्लाने को सुनकर कोई पुरुष उसकी आँखों पर बँधी पट्टी को खोल दे और कहे : 'गान्धार इस दिशा में है, इसी दिशा को जा,' तो वह व्यक्ति, यदि मेधावी और चतुर है, एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ गान्धार में ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार इस लोक में आचार्यवान् पुरुष को समझो। अर्थात् जिस समझदार जिज्ञासु को योग्य आचार्य मिल गया है, वही आत्मज्ञान प्राप्त करता है। उसके मुक्त होने में, जब तक शरीर है, तभी तक विलम्ब है।

इन उद्धरणों में शिष्य का मायावी प्रपञ्चों से अन्धा अर्थात् अविवेकी बनना, गुरु की सहायता से अविवेक का नष्ट होना, और मार्ग की दिशा का ज्ञान होने पर स्वयं अपनी प्रातिभ शक्ति से उस दिशा में चलकर गन्तव्य प्राप्त करना वर्णित हुआ है। कबीर का नीचे लिखा दोहा इन्हीं भावों को प्रकट करता है :

पीछे लागा जाइथा, लोक वेद के साथि।
आगे थे सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥

सद्गुरु अपने शिष्य के हाथ में ज्ञान-दीपक रख देता है, जिसके प्रकाश में चलता हुआ शिष्य आत्म-बोध प्राप्त करता है।

ऊपर के उद्धरण ज्ञानपरक कहे जा सकते हैं, यद्यपि भक्ति के क्षेत्र में भी प्रभु की प्राप्ति को ज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है और दी भी गई है। संस्कृत में जो धातु ज्ञानपरक है, वह प्राप्तिपरक भी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का निम्नांकित श्लोक विशुद्ध रूप से भक्तिपरक कहा जा सकता है :

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ६,२३

जिसकी परमेश्वर में परम भक्ति है, और जैसी परमेश्वर में है, वैसी ही गुरु में भी है, उस महान पुरुष के हृदय में ये कहे हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं ।

इस उद्धरण में शिष्य का पूर्णतया श्रद्धालु तथा भक्त होना आवश्यक माना गया है ।

भक्ति के अन्य अङ्ग : ज्ञान अर्थात् स्वाध्याय, तप तथा त्याग भी भक्ति के अङ्ग है । उपनिषदों के ऋषि इन तीनों के महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं । मुण्डक उपनिषद् का ऋषि कहता है :

सत्येन लभ्यस्तपसा हि एष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ३,५

जो स्वाध्यायशील तथा सम्यक् ज्ञान रखने वाले हैं, जो सत्यवादी, नित्य ब्रह्मचारी और तपस्वी हैं, जो यती अर्थात् त्यागी हैं, भोगी नहीं, जिनके दोष इन समस्त साधनों द्वारा क्षीण हो चुके हैं, वे ही शुभ्र, ज्योतिर्मय परमात्मा का दर्शन करते है । उपनिषदों में अन्यत्र भी इन साधनों का बाहुल्य से वर्णन हुआ है, परन्तु इन्हें भक्तिभावना के अङ्ग नहीं, ज्योतिर्मय प्रभु के दर्शन कराने वाले साधन कहा गया है । भक्तिभाव का जो विवेचन वैष्णवसम्प्रदाय में हुआ है, उसमें इन साधनों को भक्ति का अङ्ग माना गया है । वहाँ भक्ति साध्य है, और ज्ञान, तप आदि साधन । अन्त में भक्ति भी साधन है, जिसका साध्य परमदेव परमात्मा है ।

ओ३म् नाम का आश्रय : प्रभु का निज नाम ओ३म् है । गुणों के आधार पर प्रभु के और भी अनेक नाम हैं, पर वे जीवात्मा पर भी घट सकते हैं । ओ३म् एक ऐसा नाम है, जो केवल परमात्मा का ही वाचक है, अन्य किसी का नहीं । यह अव्यय है, जिसका लिङ्ग, वचन आदि कुछ नहीं है । यह समस्त नामों का ही नहीं, निखिल वाङ्मय का मूलाधार है । छान्दोग्य उपनिषद् के प्रारम्भ में ओ३म् की उपासना का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है । तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रथम शिक्षाध्याय वल्ली के अष्टम अनुवाक में भी ओ३म् की

महिमा का वर्णन है। ईशोपनिषद्, जो स्वल्प अन्तर के साथ यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय से ही निर्मित हुई है, कहती है, 'ओ३म् क्रतो स्मर' हे पुरुषार्थी जीव! तू ओ३म् का स्मरण कर। कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की दूसरी वल्ली के श्लोक १५,१६ और १७ में लिखा है कि समस्त वेद ओ३म् अक्षर की ही व्याख्या करते हैं, सारे तप इसी का वर्णन करते हैं और ब्रह्मचारी व्रती बनकर इसी पद की कामना करते हैं। ओ३म् अक्षर ही ब्रह्म है, यही सबसे श्रेष्ठ है। इसको जानकर मनुष्य जिस वस्तु की कामना करता है, उसे प्राप्त कर लेता है। ओ३म् का अवलम्बन सबसे श्रेष्ठ है। यही सबसे उत्कृष्ट अन्तिम आश्रय है। इसी को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

प्रश्नोपनिषद् ५,७ में भी ओंकार को आयतन अर्थात् आश्रय कहा गया है और लिखा है कि ओ३म् की प्रथम मात्रा की उपासना से साधक ऋचाओं द्वारा इस लोक में पहुँचाया जाता है, दो मात्राओं की उपासना करने वाला यजुःश्रुतियों द्वारा अन्तरिक्ष में चन्द्रलोक तक और पूर्ण रूप से ओ३म् की उपासना करने वाला सामश्रुतियों द्वारा ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है। विवेकशील ज्ञानी साधक ओंकाररूप अवलम्बन के द्वारा उस परमदेव को प्राप्त कर लेता है, जो शान्त, अजर, अमर, अभय और सर्वश्रेष्ठ है।

मुण्डक उपनिषद्, द्वितीय खण्ड के श्लोक ३ और ४ में आत्मा को बाण तथा ओ३म् को धनुष अर्थात् उसका आश्रय कहती है :

> 'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत।'
> 'आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।
> प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्।'

जिस प्रकार किसी बाण को लक्ष्य पर छोड़ने से पहले उसकी नोक को सान पर धरकर तेज किया जाता है, उस पर चढ़े हुए मोर्चे आदि को दूर करके उसे उज्ज्वल एवं चमकीला बनाया जाता है, उसी प्रकार आत्मारूपी बाण को उपासना द्वारा निर्मल एवं शुद्ध बनाकर उसका प्रणवरूप धनुष पर भलीभाँति संधान करना चाहिये। आत्मा

को ओ३म् के जाप एवं भावन द्वारा परमात्मा में लीन करना चाहिये। जैसे धनुष को भलीभाँति खींचकर उस पर रखे बाण को लक्ष्य पर छोड़ा जाता है, उसी प्रकार दीर्घ काल तक अर्थभावना द्वारा ओ३म् का जप आत्मा को निश्चित रूप से परमात्मा में प्रविष्ट कर सकता है। इसी उपासना द्वारा आत्मा को परमात्मा के अन्दर अविचल स्थिति प्राप्त होती है। ओंकार धनुष है, आत्मा बाण है और परब्रह्म परमेश्वर उसका लक्ष्य है। प्रमादरहित सावधान साधक ही इस लक्ष्य का वेध कर सकता है। उसे वेधकर बाण की तरह उस लक्ष्य में तन्मय हो जाना चाहिये। इसके आगे श्लोक ६ में भी ओंकार के ध्यान का आदेश है। इन कथनों से सिद्ध होता है कि उपनिषदों के ऋषि ओंकार के प्रेमपूर्वक उच्चारण तथा उसके अर्थरूप परमात्मा के प्रगाढ़ चिन्तन अर्थात् निदिध्यासन को प्रभु-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय मानते हैं। उनकी सम्मति में ओंकार का अवलम्बन ही तमरूप क्लेश-जाल से पार कराने वाला है।

भक्ति के क्षेत्र में नाम के जाप का महत्त्व सभी ने स्वीकार किया है। उपनिषद् युग तक प्रभु का मुख्य नाम ओ३म् ही रहा है। परवर्ती युगों में इसका स्थान अन्य नामों ने ले लिया, पर यह भी साथ-साथ चलता रहा और आज भी अनेक साधक इसी के आश्रय से रहते हैं। यह ऐसा हाथी का पैर है जिसमें अन्य सभी नाम रूपी पशुओं के पैर समा जाते है।

ब्राह्मणोपनिषदीय भक्ति पर एक दृष्टि

पीछे ब्राह्मण ग्रंन्थ और उपनिषदों में भक्ति के तत्वों को खोजने का जो प्रयत्न किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि वह युग भक्ति के सर्वांगीण रूप की अभिव्यक्ति के लिये असमर्थ था। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ-सम्बन्धी विवरणों से ओतप्रोत हैं और उपनिषदों में अध्यात्म ज्ञान की चर्चा प्रमुख है। यज्ञों के साथ जिस जप, तप, व्रत, दान आदि का अनुष्ठान विहित समझा गया है, उसके उल्लेख में हमें भक्ति के कुछ तत्व उपलब्ध हो जाते हैं। उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड की प्रधानता है। यह ज्ञानकाण्ड विश्व के मूल में निहित अन्तिम अध्यात्म सत्य से सम्बद्ध है। आध्यात्मिक भावना भक्ति के मूल तक पहुँचती है और उपनिषदों में उसकी असन्दिग्ध अभिव्यक्ति है। प्रभु के प्रसाद और अनुग्रह पर कठ तथा मुंडक दोनों ही उपनिषदों ने बल दिया है। भक्ति का मूलाधार प्रभु की कृपा ही है, यह तथ्य आगे चलकर शैव एवं वैष्णव दोनों ही सम्प्रदायों में स्वीकृत हुआ। वैष्णवों में आचार्य वल्लभ ने प्रभु के प्रसाद को पुष्टि नाम दिया, तो शैवों और शाक्तों ने उसे शक्तिपात कहकर पुकारा।

भक्ति के अङ्गों में श्रद्धा, तप, जप, स्वाध्याय तथा व्रत की प्रधानता है। श्रीमद्भागवत में जैसा हम आगे चलकर लिखेंगे, भक्ति के इन अङ्गों के अनुष्ठान को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषद् दोनों ही इनके महत्व का प्रतिपादन करते हैं। ब्राह्मण ग्रंथ जिस यज्ञकांड को प्रमुखता देते हैं, उसका स्रोत भी परमदेव प्रभु ही हैं। यही कारण है कि यज्ञों के समय प्रभु के ओ३म् नाम तथा मन्त्रों के जप का विधान पाया जाता है। गोपथ ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही ओ३म् सम्बन्धी प्रशंसापरक अनेक वाक्य हैं। उपनिषदों के जो अंश हमने पीछे उद्धृत किये हैं, वे भी ओ३म् की स्तुति मुक्त-कण्ठ से करते हैं। ओ३म् अक्षर को वे सर्वश्रेष्ठ आश्रय कहते हैं और इसी आश्रय से परम गति की प्राप्ति बतलाते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञ-प्रक्रिया एक ओर स्वर्ग के लक्ष्य को सम्मुख रखती है, तो दूसरी ओर प्रजा तथा प्रतिष्ठा जैसी लौकिक कामनाओं के उद्देश्य की ओर भी अग्रसर होती है और इनकी सिद्धि के लिये प्रणव के जप का निर्देश करती है। भक्तिकांड लौकिक एषणाओं से असंपृक्त है। उसका एक मात्र लक्ष्य प्रभु है।

उसी की आराधना, उपासना, पूजा और स्तुति उसकी विशेषता है। उपनिषदें भी ओ३म् के माहात्म्य रूप में यश तथा समृद्धि जैसे फलों की प्राप्ति का उल्लेख करती हैं, पर प्रधानता वहाँ ब्रह्म-प्राप्ति की ही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् भक्ति का नाम लेती है और प्रभु-भक्ति के साथ गुरु-भक्ति को भी मान्यता देती है। गुरु-भक्ति ने आगे चलकर जो महत्त्व प्राप्त किया, उसे हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य के अध्येता भली भाँति जानते हैं।

प्रत्येक युग अपनी कतिपय सैद्धान्तिक विशेषताओं को लेकर आगे बढ़ता है, जो उस युग की चिन्तन-पद्धति तथा आचार-प्रणाली को विशेष रूप से प्रभावित करती हैं। ब्राह्मणयुगीन यज्ञ की परिपाटी तथा उपनिषदों की अध्यात्म चर्चा उसी का परिणाम हैं। पर कोई वस्तु समूल नष्ट नहीं हो जाती। इसी हेतु भक्ति कांड के उपादानों की चर्चा भी ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में उपलब्ध हो जाती है। फिर भी वैदिक युग में भक्ति का जैसा सर्वांग-विकसित रूप दिखाई देता है, वैसा ब्राह्मण तथा उपनिषदों के युग में नहीं। वैदिक मंत्रों में, ऋग्वेदीय वरुण सूक्त के अन्तर्गत प्रभु के विरह और तज्जन्य व्याकुलता का जो मर्मवेधी वर्णन है, प्रभु के साथ एक हो जाने की जो भक्त की हृदयस्पर्शी तीव्र भावना प्रकट हुई है, साथ ही भक्ति के जिन अंगों तथा साधनों का बाहुल्य से उल्लेख हुआ है, वह ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होता।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि वैदिक युग में जिस ज्ञान, कर्म और उपासना का समुचित समन्वय अथवा परिपूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है, जिसमें न कोई आगे है, न कोई पीछे है, वह ब्राह्मण तथा उपनिषदीय युग में एकांगी बन गया, अपने उसी रूप में सुरक्षित न रह सका। ब्राह्मणों ने कर्मकांड को अपनाया तो उपनिषदों ने ज्ञानकांड को। भक्तिकांड इस युग में यद्यपि क्षीण हो गया, फिर भी उसके अंकुर वहां विद्यमान हैं। ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के ऋषि उसका एकान्त परित्याग नहीं कर सके। वे उसे पकड़े रहे और उसके अंगों का कुछ न कुछ प्रचार भी चलता रहा। ओ३म् नाम के जाप का महत्त्व तो ज्यों का त्यों बना रहा। ब्राह्मणों का यज्ञकांड किस प्रकार मूर्तिपूजा के रूप में परिणत हुआ, इसे हम वैखानस संहिताओं पर लिखते हुए प्रदर्शित करेंगे।

पञ्चम अध्याय

भागवत-धर्म

भागवतधर्म पांचरात्र, ऐकान्तिक, नारायण, वासुदेव, वैष्णव, सात्वत आदि कई नामों से अभिहित किया जाता है। महाभारत, अध्याय ३४८ के नीचे लिखे श्लोक इस धारणा पर प्रकाश डालते हैं:—

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः ॥ ४ ॥
परस्पराङ्गान्येतानि पांचरात्रं च कथ्यते।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥ ८२ ॥
एष ते कथितो धर्मः सात्वतः कुरुनन्दन ॥ ८४ ॥

तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक में जो विष्णुगायत्री दी है, उसमें नारायण, वासुदेव तथा विष्णु को एकत्र कर दिया है, यथा:

नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

अतः वासुदेव और नारायण की एकता नारायण और वासुदेव धर्म को भी एक ही सिद्ध करती है। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः गुणों से युक्त तथा हेय गुणों से विहीन होने के कारण, सब में बसने और सबको अपने में बसाने वाले वासुदेव[1] नाम से प्रसिद्ध परमात्मा ही भगवान् कहलाते हैं और उनकी भक्ति करने वाले भागवत कहे जाते हैं। बाणभट्ट के समय में, जैसा उसके हर्षचरित के अष्टम उच्छ्वास में दिवाकर मित्र के आश्रम-वर्णन से प्रकट होता है, भागवत और पाञ्चरात्र सम्प्रदायों में भेद था। वे दो पृथक् सम्प्रदाय समझे जाते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल अपने 'हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन' के पृष्ठ १९१ पर लिखते हैं: कुषाण और गुप्तयुग में भागवतधर्म का कई रूपों में विकास हुआ। वैखानस-मतानुयायी लोग विष्णु और उनके चार सहयोगी: अच्युत, सत्य, पुरुष और अनिरुद्ध: की उपासना

---

१. सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्वात्मा, वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥ विष्णुपुराण ६-५-८०

करते थे। सात्वत लोग विष्णु की नारायण के रूप में उपासना करते थे। नृसिंह और वराह के रूप में महाविष्णु की मूर्ति की कल्पना उनकी विशेषता थी। नृसिंह, वराह और विष्णु की कितनी ही गुप्तकालीन मूर्तियाँ मथुराकला में मिली हैं। वे सात्वतों के सिद्धान्त से अनुप्राणित जान पड़ती हैं। इन दोनों से प्राचीन मूल पञ्चरात्र-सिद्धान्त था। इसी आगम के अनुयायी पांचरात्र या पांचरात्रिक कहलाते थे। ये वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में चतुर्व्यूह को मानते थे। इनमें भी जो केवल वासुदेव की आराधना करते थे, वे ऐकान्तिन् कहलाते थे। नारदपञ्चरात्र के अनुसार ऐकान्तियों के दो भेद थे: शुद्ध जो केवल वासुदेव को ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा करते थे (वासुदेवैकयाजिन्), और दूसरे मिश्र जो विष्णु के अतिरिक्त और भी विष्णुरूपधारी देवताओं (जैसे शिव, इन्द्र, ब्रह्मा, पार्वती, सरस्वती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी आदि) को मानते थे। शनैः शनैः कई सम्प्रदाय एक में मिलते गये। बाण के समय में पांचरात्रिक और भागवत ये दो मोटे भेद रह गये थे। आगे चलकर वे सब केवल भागवत इसी एक नाम से पुकारे जाने लगे और उनके पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी लुप्त हो गये।

वैष्णवों के कम से कम चार सम्प्रदाय हमें परवर्ती काल में मिलते हैं और उनके पांचरात्र तथा वैखानस दो भेद प्राचीनकाल से ही चले आ रहे हैं। आगामी प्रकरणों में हम इन दोनों के साहित्य तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करेंगे। जिन भेदों की ओर डा० अग्रवाल ने संकेत किया है, वे हमारी सम्मति में नष्ट नहीं हुए, क्योंकि वे अपने परिवर्तित रूप को लिये हुए वैष्णवों के कई सम्प्रदायों में आज तक जीवित हैं। रामानुज का सम्प्रदाय मध्व-सम्प्रदाय से मेल नहीं खाता और निम्बार्क, वल्लभ तथा महाप्रभु चैतन्य के सम्प्रदाय भी एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। स्वयं हरिदासी सम्प्रदाय, जो निम्बार्कसम्प्रदाय का अनुयायी है, आज भी दो भागों में विभाजित है।

वैदिकों की धारणा भागवतधर्म के सम्बन्ध में अनुकूल नहीं रही है। इसमें मूर्तिपूजा, उससे सम्बन्धित नाना प्रकार के विधि-विधान तथा दीक्षा के साथ भक्तों की बाहु आदि पर तप्त लौहादि के द्वारा विशिष्ट साम्प्रदायिक चिह्नों का अङ्कन वैदिक विधान के विपरीत समझा जाता रहा है। मूर्तिपूजा

भारतवर्ष में बहुत दिनों से प्रचलित है। विक्रम संवत् के आरम्भ से पाँच सौ वर्ष पूर्व अर्थात् पाणिनि के समय में भी इसका प्रचार था। उन दिनों वासुदेव, संकर्षण, महाराज (कुवेर), राम, विष्णु, शिव, आदि की मूर्तियाँ बनती थीं और मन्दिरों का भी निर्माण होता था। सूत्रयुग में भवानी, रुद्राणी, मृडानी आदि देवियों की पूजा होती थी। शतपथ ब्राह्मण ६,१,३,१८ में रुद्र, शर्व, भव एक अग्नि के ही नाना रूप कहे गये हैं। प्राच्य देश में शर्व शब्द का प्रचार था, तो पाश्चात्य वाहीक देश में भव का। स्थानभेद के कारण देवों तथा देवियों के नामों में अन्तर पड़ जाता था। उन दिनों ऐसा भी विश्वास था कि देवताओं के प्रसन्न होने से पुत्र-प्राप्ति हो सकती है। पुत्र प्राप्त होने पर उनके वरुणदत्त, अर्यमादत्त आदि नाम भी उसी देवता के नाम पर रखे जाते थे, जिसको प्रसन्न करने से सन्तान-लाभ होता था। आज भी दुर्गादेवी या भवानी को अपना इष्ट समझने वाले अपनी सन्तानों के नाम देवी के विभिन्न नामों के साथ प्रसाद या दत्त शब्द जोड़ कर रखते हैं। प्रकृति की उदात्त शक्तियाँ तथा कालवाची ऋतुओं के नाम भी उन दिनों देवताओं का रूप धारण कर चुके थे। प्रकृति की पूजा पञ्चायतन में अभिव्यक्त हुई है। वैष्णवों की व्यूहपूजा में जो नाम आते हैं, वे भी प्रकृति की मूल विकृतियों के ही नाम हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी ५, ३, ९९ में देवमूर्तियों का वर्णन है तथा ५, २, १०१ में अर्चा अर्थात् प्रतिमा शब्द का उल्लेख है। कौटल्य के अर्थशास्त्र २, ४ में विष्णुमन्दिर के निर्माण की आज्ञा वर्णित है तथा शिव और वैश्रवण की मूर्तियों का उल्लेख है। ये मूर्तियाँ मन्दिर में प्रतिष्ठित की जाती थीं। इस मूर्ति-पूजा का सूत्रपात इस देश में याज्ञिक विधानों की अनुरूपता को लेकर हुआ, ऐसा हमने अन्यत्र सिद्ध किया है, पर वह कब और किनके द्वारा हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। वेद में प्रतिमा-पूजन का विधान किसी भी स्थल पर नहीं है। अतः बहुत दिनों तक वैदिकों और भागवतों में अननुकूलता रही है। कूर्मपुराण में लिखा है :

न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि शंकर।
सङ्गच्छते महादेव पुण्यो वेदादि निर्बभौ ॥ १४,११४ ॥

यह श्लोक पाञ्चरात्रों को वेद-बाह्य तथा पुण्य-बाह्य कहता है। पराशर पुराण, वशिष्ठसंहिता, सूतसंहिता, आश्वलायनस्मृति आदि भी पाञ्चरात्रों को

अवैदिक मानते हैं। इसके विपरीत महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण आदि पाञ्चरात्रों का समर्थन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत-धर्म प्रारम्भ में वेद-बाह्य समझा जाता था। इसे वेदपरक सिद्ध करने के लिये इसके अनुयायियों को प्रभूत परिश्रम करना पड़ा है। यामुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'आगमप्रामाण्य' में पाञ्चरात्र धर्म को प्रामाणिक सिद्ध करने का अथक प्रयत्न किया है।[1]

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान के अनुसार पाञ्चरात्र-उपासना का प्रमुख स्थान श्वेतद्वीप है, परन्तु इस द्वीप की भौगोलिक स्थिति क्या रही है, इसका कुछ भी ज्ञान अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। स्वर्गीय दासगुप्त तथा भाण्डारकर जैसे विद्वानों की सम्मति में संभवतः इसी द्वीप से पाञ्चरात्र-उपासना का आगमन भारतवर्ष में हुआ।

शांडिल्य के सम्बन्ध में, जिन्होंने भक्तिसूत्रों का निर्माण किया, कहा जाता है कि उन्हें वेदों में अपनी लक्ष्य-प्राप्ति का कोई साधन प्राप्त न हो सका, अतः वे भागवतधर्म के भक्तिमार्ग की ओर झुके। भागवतों की इस धारणा से वेदों की हीनता झलकती है। यामुनाचार्य का यह कथन कि पाञ्चरात्र संहिताएँ उसी स्रोत, परमपुरुष नारायण, से आविर्भूत हुई हैं, जिससे वेद, अतः वे वेद के समान ही प्रामाणिक हैं, भागवत-सम्प्रदाय के ग्रन्थों को वेद के समकक्ष रखने का प्रयत्न मात्र है। कभी-कभी पाञ्चरात्रसंहिताओं को वेदरूपी वृक्ष का मूल भी कहा जाता है, यथा :

'इदं महोपनिषदं पांचरात्रानुशब्दितं।
महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्॥' वेंकटनाथ, सेश्वर मीमांसा

जिस एकायन वेद या विद्या को पाञ्चरात्रमत का मूल माना जाता है, उसे पाञ्चरात्र श्रीप्रश्नसंहिता वेदों के शिर के ऊपर स्थित अर्थात् वेदों से बहुत ऊँचा और श्रेष्ठ बताती है, यथा :

'वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पांचरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥'

---

१. डॉ० एस० एन० दास गुप्त—'A History of Indian Philosophy,' Vol. 3. pp. 14-18

भागवतों की ये बातें वैदिकों के अनुकूल तो किसी भी प्रकार नहीं कही जा सकतीं। वेद का जो स्थान आर्यजाति के हृदय में है, और शतपथादि ब्राह्मणों, षड्दर्शनों तथा मनु आदि स्मृतियों में वर्णित है, वह इनके अन्दर दिखाई नहीं देता।

भागवतसंप्रदाय के प्रारंभिक रूप में वेदों के प्रति इस प्रकार की अनास्था का एक कारण हमारी समझ में आता है। वेदों में समस्त विद्याओं के बीज हैं, जिन्हें पवित्र-हृदय तथा विकसित मानव ही समझ सकते हैं। सामान्य मानवों की बुद्धि उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ है। महर्षि यास्क ने निरुक्त में लिखा है कि उनके समय से बहुत पूर्व ही वेदार्थ का साक्षात् करने वाले ऋषियों का अभाव हो गया था। महर्षि अरविन्द के मतानुसार उपनिषद् काल के ऋषि भी वास्तविक वेदार्थ से बहुत दूर हो गये थे, पर वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार करते थे।[1] साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने वेदविद्या को आन्तरिक तथा बाह्य दो रूपों में प्रकट किया था। बाह्य रूप में उन्होंने निखिल सृष्टि को यज्ञरूप समझकर यज्ञसंस्था के विपुल विधि-विधान की प्रतिष्ठा की, जो लौकिक एवं सामान्य प्राणियों के लिये उपयोगी होने के साथ ही दीक्षित साधकों के लिये आन्तरिक अनुशासन का काम देती थी। आन्तरिक रूप में वह अध्यात्म पथ के पथिकों को प्रकाश-मार्ग दिखलाती थी। इस प्रकार उसका एक स्थूल अर्थ लगता था और दूसरा सूक्ष्म। स्थूल अर्थ परम्परा द्वारा प्रचलित रहा, पर सूक्ष्म अर्थ गुह्य होने के कारण कालान्तर में तिरोहित हो गया। उपनिषद्-युग के ऋषियों ने उसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया, पर मूल रूप को पकड़ने में वे भी अक्षम थे। अपने विचारों के प्रतिपादन में वे श्रुति भगवती को उद्धृत करते हैं, पर वेदों का याज्ञिक कर्मकाण्ड वाला स्थूल रूप ही अधिकतर उनके समक्ष रहा है।

वैदिक ऋषियों ने आन्तरिक एवं बाह्य, आध्यात्मिक एवं लौकिक जीवन में जो संतुलन स्थापित किया था, वह इस प्रकार, उपनिषद्-युग के ही आते-आते अस्तव्यस्त हो चुका था। परवर्ती काल की परिस्थिति तो उससे भी अधिक विकृत कही जा सकती है। मुंडक उपनिषद् में इस प्रकार की

---

१. वेदरहस्य, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण पृ० २४४।

परिस्थिति का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है, जहाँ वेदों को परा विद्या से हटाकर अपरा विद्या के अन्तर्गत स्थान दिया है और यज्ञों की पहले तो प्रशंसा की है, परन्तु पश्चात् उन्हें अदृढ़ नौका कहकर गर्हणीय भी बना दिया है। इस प्रवृत्ति ने वैदिक कर्मकाण्ड की ही नहीं, मूल वेद की उपयोगिता को भी धक्का पहुँचाया। भागवत-धर्म, हमारी समझ में, इसी प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न हुआ होगा, जब वेद का वास्तविक अर्थ विस्मृत हो चुका था और वैदिक पुरोहित उसके बाह्य रूप अर्थात् याज्ञिक विधि-विधानों से ही चिपटे हुए थे। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में, इसी कारण, वह द्विविधा में भी पड़ा। न वह वेदों का परित्याग कर सकता था और न उसके नाम पर प्रचलित यज्ञ-काण्ड को ग्रहण कर सकता था। कभी वह वेद की निन्दा करता था, अपने साम्प्रदायिक ग्रन्थों को वेद का भी मूल सिद्ध करता था और कभी उन्हें उनके समकक्ष घोषित करता था। वेद की अज्ञात मोहिनी उसे आकर्षित भी करती थी, पर तत्कालीन वैदिक धर्म का बाह्य रूप उसके विकर्षण का कारण भी बनता था। महाभारत, शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में भागवत-धर्म की इस स्थिति तथा उसके प्रारम्भिक एवं परवर्ती दोनों रूपों का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। अतः उसे हम नीचे उद्धृत करते हैं।

नारायणीय उपाख्यान भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनाया था। इसके अनुसार स्वायंभुव मन्वन्तर के सत्ययुग में नारायण के चार स्वयंभू अवतार हुए थे: नर, नारायण, हरि और कृष्ण। नर और नारायण ने बदरिकाश्रम में जाकर घोर तपस्या की। एक समय नारद घूमते हुए उनके समीप पहुँचे और कहने लगे: 'समग्र विश्व आपकी पूजा करता है। फिर ऐसा कौन-सा देव या पितर है, जिसकी आप पूजा करते हैं?' नारायण ने कहा: 'जो परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों का अन्तरात्मा, त्रिगुणातीत और त्रिगुणात्मिका प्रकृति का जनक है, वह सद्‌सत्स्वरूप परमात्मा हम दोनों, नर और नारायण, की उत्पत्ति का कारण है। हम दोनों उसी की पूजा करते हैं। वह परमात्मा सर्व-गुण-सम्पन्न तथा साथ ही निर्गुण भी है। ज्ञानयोग के द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। जो सदैव उसका स्मरण करते तथा उसकी शरण ग्रहण करते हैं, वे उसके स्वरूप में प्रवेश करते हैं।'

नारद इसके पश्चात् श्वेतद्वीप में स्थित नारायण के आदिविग्रह का दर्शन करने के लिये चल दिये। वे उड़कर सहसा मेरुपर्वत के शिखर पर पहुँच गये और वहाँ क्षण भर विश्राम करने के उपरान्त जब उन्होंने उत्तर-पश्चिम की ओर दृष्टि डाली, तो उन्हें क्षीरसागर के उत्तर भाग में स्थित श्वेतद्वीप के दर्शन हुए। इस द्वीप में प्राकृतिक इन्द्रियों से शून्य, सुगन्धित तथा दिव्य रूप-सम्पन्न, परम तेजस्वी, श्वेत वर्ण वाले पुरुष उन्हें दिखाई दिये, जिनके ललाट का आकार छत्र के समान तथा स्वर मेघ के समान गम्भीर था।

युधिष्ठिर ने भीष्म से इन श्वेतद्वीप-निवासियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो उन्होंने उपरिचर नाम के राजा का आख्यान सुनाया। यह राजा इन्द्र का मित्र तथा भगवान् नारायण का भक्त था। सूर्य के द्वारा उपदिष्ट वैष्णवशास्त्रों की विधि के अनुसार वह नारायण की पूजा करता था,[1]

---

१. सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुखनिःसृतम्। पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥१९
पितृशेषेण विप्रांश्च संविभज्याश्रितांश्च सः। शेषान्नभुक् सत्यपरः सर्वभूतेष्वहिंसकः ॥२०॥
तस्य नारायणे भक्तिं वहतोऽमित्रकर्षिणः। एकशय्यासनं देवो दत्तवान्देवराट् स्वयम् ॥२२॥
शान्तिपर्व अ० ३३५

आत्मराज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा। यत्तद् भागवतं सर्वम् इति तत् प्रोक्षितं सदा ॥२३॥
काम्य-नैमित्तिका राजन् यज्ञियाः परमक्रियाः। सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः ॥
पाञ्चरात्रविदो मुख्याः तस्य गेहे महात्मनः। प्रायेण भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाऽग्रभोजनम् ॥२५॥
ये हि ते ऋषयः ख्याताः सप्तचित्रशिखंडिनः ॥ २७ ॥
तैरेकमतिभिः भूत्वा यत्प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम्। वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ ॥ २८ ॥
आस्यैः सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्ममनुत्तमम्। मरीचिरत्र्यांगिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वासिष्ठश्च महातेजास्ते हि चित्रशिखण्डिनः ॥ २९ ॥
सप्त प्रकृतयो ह्येतास्तथा स्वायम्भुवोऽष्टमः। एताभिर्धार्यते लोकस्ताभ्यः शास्त्रं विनिःसृतम् ॥
आराध्य तपसा देवं हरिं नारायणं प्रभुम्। दिव्यं वर्षसहस्रं वै सर्वे ते ऋषिभिः सह ॥३४॥
नारायणानुशास्ता हि तदा देवी सरस्वती। विवेश तान् ऋषीन्सर्वान् लोकानां हितकाम्यया ॥
ततः प्रवर्तिता सम्यक्तपोविद्भिः द्विजातिभिः। शब्दे चार्थे च हेतौ च एषा प्रथमसर्गजा ॥३६॥
ततः प्रसन्नो भगवान् अनिर्दिष्टशरीरगः। ऋषीनुवाच तान् सर्वान् अदृश्यः पुरुषोत्तमः ॥३८॥
कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्। लोकतंत्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्मः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतत् भविष्यति। यजुऋक्सामभिर्जुष्टं अथर्वांगिरसैस्तथा ॥४०॥
यथा प्रमाणं हि मया कृतो ब्रह्मा प्रसादतः। भविष्यति प्रमाणं वै एतत्मदनुशासनम् ॥
तस्मात्प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम् ॥ ४४ ॥

फिर अवशिष्ट सामग्री द्वारा पितरों और ब्राह्मणों का सम्मान करके तथा आश्रित-जनों को अन्न देकर स्वयं भोजन करता था। वह सत्य एवं अहिंसा का आचरण करता हुआ अनन्य भाव से भगवान की भक्ति में निरत रहता था। इससे प्रसन्न होकर इन्द्र उसे अपने साथ एक शैया तथा एक सिंहासन पर बिठाया करते थे।

राजा उपरिचर अपने राज्य तथा वैभव के समस्त उपकरणों को प्रभु-प्रदत्त समझकर त्यागभाव से सकाम तथा नैमित्तिक यज्ञादि किया करता था। उसके यहाँ पाञ्चरात्र आगम के प्रमुख विद्वान् सदैव विद्यमान रहते थे। भगवान् को अर्पण किया हुआ प्रसाद सर्वप्रथम इन्हीं विद्वानों को दिया जाता था। पाञ्चरात्र तन्त्रशास्त्र की उत्पत्ति बताते हुए भीष्म ने कहा कि चित्रशिखण्डी नाम के सात प्रसिद्ध ऋषियों ने जिनमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ की गणना है, मेरुगिरि पर एकमत होकर इस उत्तम शास्त्र का निर्माण किया था। यह शास्त्र चारों वेदों के सिद्धान्त के अनुकूल था। इन ऋषियों ने एक सहस्र दिव्य वर्षों तक तपस्या करके भगवान् नारायण की आराधना की, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने सरस्वती देवी को उनके पास भेजा। सरस्वती ने इन ऋषियों के भीतर प्रवेश किया, तब उन तपस्वियों ने यथार्थ रूप से शब्द, अर्थ और हेतु से संयुक्त वाणी का प्रयोग किया। उनकी यह वाणी ही ओंकार तथा स्वर से विभूषित पाञ्चरात्र-तन्त्र है। इसमें एक लाख श्लोक हैं। भगवान् ने ऋषियों को आशीर्वाद दिया कि यह शास्त्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के विषय में चारों वेदों के समान ही प्रामाणिक माना जायगा। स्वायंभुव मनु इसी के अनुसार धर्म का उपदेश करेंगे। जब शुक्राचार्य और बृहस्पति का जन्म होगा तो वे दोनों भी तुम्हारी बुद्धि से प्रकट हुए इस शास्त्र का प्रवचन करेंगे। इसके पश्चात् राजा वसु उपरिचर बृहस्पतिजी से इस शास्त्र का अध्ययन करेगा। राजा उपरिचर की मृत्यु के पश्चात् यह शास्त्र संसार से लुप्त हो जायगा।

उशना बृहस्पतिश्चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः। तदा प्रवक्ष्यतः शास्त्रं युष्मन्मतिभिरुद्धृतम् ॥४५॥
युष्मत्कृतमिदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस्ततः। बृहस्पतिसकाशाद्वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः ॥ ४७ ॥
संस्थिते तु नृपे तस्मिन् शास्त्रमेतत् सनातनम्। अन्तर्धास्यति तत्सर्वमेतद्वः कथितं मया ॥५१॥

आदिकल्प के प्रारम्भिक युग में बृहस्पति का प्रादुर्भाव हुआ और ऋषियों ने साङ्गोपाङ्ग वेद तथा उपनिषदोंसहित वह पाञ्चरात्र-शास्त्र उन्हें पढ़ाया। बृहस्पति ने चित्रशिखंडियों के बनाये हुए उस शास्त्र को राजा उपरिचर को पढ़ाया। राजा उपरिचर ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमें बृहस्पति होता बने तथा प्रजापति के तीन पुत्र महर्षि एकत, द्वित और त्रित तथा धनुष, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मेधातिथि, तांड्य, शान्ति, वेदशिरा, शालिहोत्र के पिता कपिल, आदि कठ, वैशम्पायन के ज्येष्ठ बन्धु तैत्तिरि, कण्व और देवहोत्र, इन सोलह ऋषियों ने ऋत्विज का कार्य किया। इस यज्ञ में आरण्यक विधि से देवताओं को भाग अर्पित किये गये।[1] भगवान् नारायण ने राजा को दर्शन दिये, पर अन्यों के लिये वे अदृश्य ही रहे और अलक्षित रूप से ही उन्होंने अपने भाग पुरोडाश को ग्रहण किया। बृहस्पति इस बात से क्रुद्ध हो गये। ऋषियों ने उन्हें समझाया कि भगवान् के दर्शन सबको नहीं होते। जिस पर वे कृपा करते हैं, उसीको उनका दर्शन होता है। कल्याण-कामना से हम लोग उत्तर की दिशा में आकर, मेरु के उत्तर, क्षीरसागर के किनारे एक पवित्र स्थान में सहस्र वर्षों तक कठोर तपश्चर्या करते रहे हैं। फिर भी व्रत की समाप्ति पर हमें यही आकाशवाणी सुनाई दी कि भगवान् के दर्शन इस प्रकार नहीं होंगे। हमें श्वेतद्वीप में जाना चाहिये, जो कि क्षीरसमुद्र के उत्तर में है और जहाँ चन्द्रमा के समान कान्ति वाले, इन्द्रियशून्य, निराहारी, अविचल, सुगन्धि-सम्पन्न भगवान् के अनन्य भक्त रहते हैं। वहीं मेरी आत्मा प्रकाशित है। जो भक्त नहीं है, वह उस देव के दर्शन नहीं कर सकता। जो एकान्त भाव से दीर्घकाल तक भगवान् की आराधना करता है, उसी को उस प्रभा-मण्डल के समान दुर्दर्शनीय देव के दर्शन होते हैं।[2]

---

१. तस्य यज्ञो महानासीत् अश्वमेधो महात्मनः ॥ ५ ॥
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥ १० ॥
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥ महा० शान्तिपर्व, अ० ३३६

२. क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभुः ॥ २७ ॥
तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः ।
एकान्तभावोपगताः ते भक्ताः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥

'हम लोग श्वेत द्वीप में पहुंचे और सौ वर्षों तक कठोर तपश्चर्या की। तपस्या के पूर्ण होने पर हमें वहाँ रहने वाले पुरुषों के दर्शन हुए जो चन्द्रमा के समान गौर वर्ण थे, ईशानकोण की ओर मुख करके ब्रह्म का मानस जप करते थे और प्रलयकालीन सूर्य के समान प्रभावान् थे। कुछ समय के उपरान्त ही सहस्रों सूर्यों के समान एक प्रभा प्रकट हुई। सभी पुरुष स्तुतिपरक शब्द करते हुए उस तेज की ओर दौड़े और पूजा की सामग्री अर्पण करने लगे। उस तेज के सामने हमारी नेत्र-दृष्टि निरर्थक हो गई और हम कुछ भी न देख सके। एक शरीर-रहित देवता ने हमसे कहा: 'तुमने श्वेतद्वीप-निवासी इन्द्रिय-रहित पुरुषों का दर्शन कर लिया, जो भगवान् के दर्शन के ही तुल्य है। अब तुम लौट जाओ। अनन्य भक्ति के बिना भगवान् का साक्षात् दर्शन नहीं होता।' इस प्रकार कठोर तपस्या और पूजन-अनुष्ठान आदि के द्वारा भी हमें भगवान् के दर्शन नहीं हुए; फिर तुम्हें कैसे हो सकते हैं? बृहस्पति ऋषियों की बात मान गये और उन्होंने यज्ञ समाप्त कर भगवान् की पूजा की।

आगे के श्लोकों में एक स्थान पर भगवान् के प्रसाद से ब्रह्मा और क्रोध से रुद्र की उत्पत्ति का उल्लेख है तथा शिव और विष्णु की एकता का प्रतिपादन है। वासुदेव की निरुक्ति सबको आच्छादित करने तथा सबका अधिवास होने के अर्थ में वर्णित है। हरि शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि हरण करने तथा हरित रंग वाले होने के कारण भगवान् को हरि कहते हैं। सात्वत शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है: 'भगवान् सत्त्व से कभी च्युत नहीं होते। सत्त्व उन्हीं से उत्पन्न हुआ है। सत्त्व के कारण वे पाप-रहित हैं। पांचरात्रादि के सात्वत ज्ञान से भगवान् के स्वरूप का बोध होता है। अतः वे सात्वत हैं।' आरण्यकों के अध्येताओं को परम दुर्लभ भक्त माना गया है।

अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः॥ २९॥
एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः।
गच्छध्वं तत्र मुनयः तत्रात्मा मे प्रकाशितः॥ ३०॥
न स शक्यः त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथंचन।
कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः॥ ५४॥
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः॥ ५५॥

अध्याय ३३६, महा० शान्तिपर्व

युधिष्ठिर ने श्वेतद्वीप-निवासियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर इस आख्यान में कहीं पर भी नहीं है। समस्त आख्यान से ध्वनि यह निकलती है कि यज्ञानुष्ठान, तपस्या आदि का भगवत्प्राप्ति के लिये उतना महत्त्व नहीं है, जितना प्रभु के प्रति अनन्य-भावयुत भक्ति का है। यह भक्ति भी निवृत्तिपरक नहीं, प्रत्युत प्रवृत्तिपरक है और युगों के धर्म तथा निष्काम कर्म का विधान करती है। इसमें अहिंसा की प्रधानता है। श्वेतद्वीप के निवासी इसी भक्ति-भावना से अशरीरी तथा तेजोमयी अवस्था को प्राप्त हुए।[1]

भक्ति-धर्म की क्रम-परम्परा का वर्णन करते हुए महाभारतकार लिखता है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्माजी ने दक्ष प्रजापति को इस धर्म का उपदेश किया। दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र आदित्य को, आदित्य ने अपने लघु भ्राता विवस्वान् को, विवस्वान् ने त्रेता युग के आरम्भ में मनु को और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इस धर्म की शिक्षा दी। इक्ष्वाकु ने विश्व भर में इस धर्म का प्रचार किया। गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भी यही क्रम संक्षेप से दिया हुआ है। महाभारत के अनुसार नारद ने इस भक्ति-धर्म को रहस्य और संग्रह के सहित साक्षात् नारायण से प्राप्त किया था। यह धर्म महान्, सबसे प्रथम और सनातन है। यद्यपि इसके सत्त्व को समझना और इसका पूर्णतः पालन करना कठिन है, पर भगवान् के भक्त इसे सदैव धारण किये रहते हैं। भक्ति-धर्म ऐकान्तिक धर्म है।

---

१. श्वेतद्वीप हमारी सम्मति में कहीं बाहर नहीं, अन्दर है। आध्यात्मिक विकास की अवस्था में वह सत् के आविर्भाव के समय प्रकट होता है। सतोगुणी स्थिति में जो भक्त पहुँच जाते हैं, उनका वर्ण शुभ्र तथा शरीर इन्द्रियरहित इसलिये कहा गया है कि विकास की यह दशा विशुद्ध रूप से अन्तर्मुखी होती है। वहाँ न तो इन्द्रियों की बाह्योन्मुखता रहती है और न तमोगुण का कालापन और रजोगुण का लाल रङ्ग ही रहता है। राग-द्वेष से शून्य सतोगुण की यह स्थिति वास्तव में शुभ्र एवं श्वेत है। रजोगुण में चंचलता रहती है, परन्तु सतोगुण की अवस्थिति चांचल्यविहीन और प्रसन्न। इसी अवस्था में प्रभु के प्रति एकात्मभाव जाग्रत होता है। यहीं से सहस्रों सूर्यों की प्रभा को भी पराजित करने वाले प्रभु के अनन्त प्रकाश की झलक दिखाई देने लगती है।

महाभारत में उल्लिखित उपर्युक्त विवरण के अनुसार यद्यपि भागवत धर्म को वेद के अनुकूल कहा गया है, फिर भी उसकी स्वतन्त्र स्थिति स्पष्ट स्वीकार की गई है और आरण्यक विधि को प्रधानता दी गई है, जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के स्थूल यज्ञ-यागादि के प्रतिकूल कही जा सकती है और हिंसा-प्रधान यज्ञों के तो एकदम विपरीत। भक्तिधर्म के उपदेष्टाओं की जो क्रम-परम्परा दी गई है, वह भी ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा अन्य आगमों में दी हुई धर्मोपदेष्टाओं की परम्परा से मेल नहीं खाती।

महाभारत इसी आख्यान के अन्तर्गत वासुदेव को परमात्मा तथा समस्त प्राणियों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से व्याप्त कहता है। वही स्रष्टा है। समस्त जीव संकर्षण हैं। संकर्षण वासुदेव का ही रूप है। संकर्षण से प्रद्युम्न अर्थात् महत्तत्व (बुद्धि) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार की उत्पत्ति हुई। ये चारों ही भगवान् की मूर्तियाँ हैं।[1] वासुदेव श्रीकृष्ण का ही एक नाम है। वसुदेव के पुत्र होने के कारण उन्हें वासुदेव कहा जाता है। संकर्षण बलराम का दूसरा नाम है, जो श्रीकृष्ण के बन्धु हैं। प्रद्युम्न श्रीकृष्ण के पुत्र और अनिरुद्ध प्रद्युम्न के पुत्र तथा श्रीकृष्ण के पौत्र हैं। ऊपर उद्धृत महाभारत के विवरण में इन चारों को परमात्मा, जीव, महत्तत्व और अहङ्कार माना गया है। सृष्टि की उत्पत्ति में सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो कारण हैं। पुरुष की प्रेरणा से प्रकृति विकृति की ओर अग्रसर होती है और संसार का आविर्भाव होता

---

१. न च जीवं विना ब्रह्मन् वायवश्चेष्टयन्त्युत।
स जीवः परिसंख्यातः शेषः संकर्षणः प्रभुः ॥ ३६ ॥
यस्मिंश्च सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति संक्षयम् ॥ ३७ ॥
स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते।
तस्मात्प्रसूतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च ॥ ३८ ॥
तस्मात् सर्वं सम्भवति जगत्स्थावरजङ्गमम्।
सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः सः सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥
यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ ४० ॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते।
प्रद्युम्नाद्योऽनिरुद्धस्तु सोऽहङ्कारः स ईश्वरः ॥ ४१ ॥
मयैतत् कथितं सम्यक् तव मूर्तिचतुष्टयम् ॥ ४६ ॥
महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३९

है। प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्त्व उत्पन्न होता है और महत्तत्त्व से अहङ्कार का जन्म होता है। भागवत सम्प्रदाय वालों ने रचना के इस क्रम को एक परिवार के व्यक्तियों के साथ सम्बद्ध कर दिया है।[1]

स्वर्गीय भांडारकर के मतानुसार भागवत-धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप में वासुदेव और उनके बन्धु, पुत्र तथा पौत्र की पूजा का कोई विधान नहीं था। भगवान् को उस समय हरि कहा जाता था और यज्ञादि के अनुष्ठान भी उसमें विहित माने जाते थे। द्वापर के अन्त में जो श्रीकृष्ण आदि ऐतिहासिक महापुरुष हुए, उनका भी उस समय भागवत-धर्म के प्रचारकों से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। उस समय के भागवत-धर्म के उपदेष्टा चित्रशिखण्डी ऋषि हैं। भागवत-धर्म के परवर्ती स्वरूप में जो सुधार हुआ, उसका सूत्रपात करने वाले सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्ण थे। इस परिमार्जित स्वरूप की प्रतिष्ठा भगवद्गीता में हुई और उसके उपदेष्टा को नारायण कहा गया।[2] इससे सिद्ध होता है कि भागवत-भक्ति को बहुत पूर्व ही महत्ता प्राप्त हो गई थी, परन्तु उसके निश्चित स्वरूप की प्रतिष्ठा श्रीकृष्ण ने गीता द्वारा की। उसके पश्चात् यह एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन गया और श्रीकृष्ण के पारिवारिक व्यक्तियों को उसके साथ सम्बद्ध कर दिया गया।[3] श्रीकृष्ण के साथ मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा अन्य अवतारी पुरुषों को भागवत-धर्म में सम्मिलित किया गया और पांचरात्र-संहिताओं के विपुल साहित्य का सृजन हुआ।

गीता ४,२ के अनुसार भागवत-धर्म राजर्षियों को परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ था। यह परम्परा भी राजर्षियों की ही थी। मनु और इक्ष्वाकु राजा थे। उपनिषदों में ऐसे कई क्षत्रिय राजाओं के नाम आते हैं, जिनके पास ब्रह्मज्ञानी

---

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अध्याय २१२ में राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न को क्रमशः नारायण, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का अवतार माना गया है।

२. सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर : 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स्।' संस्करण १९२८, पृष्ठ १०, ११.

३. गीता में चतुर्व्यूह-सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं है। गीता से वासुदेव और नारायण का एकत्व भी सिद्ध नहीं होता। यह सब बाद में हुआ। श्रीमद्भागवत १–५–३६,३७ में चतुर्व्यूह का वर्णन है जिसके आधार पर इसे गीता के पश्चात् निर्मित कहा जायगा।

ब्राह्मण उपदेश प्राप्त करने जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में पाँचवें अध्याय के तृतीय खण्ड से लेकर दशम खण्ड तक प्रथम श्वेतकेतु और राजर्षि जैवलि प्रवाहण का सम्वाद दिया है, उसके उपरान्त श्वेतकेतु के पिता, गौतम-गोत्रोत्पन्न, महर्षि आरुणि को राजर्षि प्रवाहण का दिया हुआ उपदेश है। तृतीय खण्ड के ही सातवें सन्दर्भ में प्रवाहण कहते हैं : 'गौतम! इयं न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति, तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति।' गौतम! तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। इसीसे सम्पूर्ण लोकों में इस विद्या द्वारा क्षत्रियों का ही (शिष्यों के प्रति) अनुशासन होता रहा है।

यहाँ परलोकसम्बन्धी देवयान और पितृयान विद्या के सम्बन्ध में कहा गया है और क्षत्रियों को ही उसका एकमात्र ज्ञाता तथा अधिष्ठाता माना गया है।

इसी स्थल के एकादश खण्ड में उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल तथा अन्य श्रोत्रियों को केकयनरेश महाराज अश्वपति के दिये हुए वैश्वानर आत्मा के ज्ञान का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण १०—४—४ में भी कैकेय अश्वपति के पास सत्ययज्ञ, जाबाल, बुडिल आदि वैश्वानर का उपदेश लेने आते हैं।

बृहदारण्यक, द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में गर्गगोत्रोत्पन्न बालाकि और काशिराज अजातशत्रु का सवाद है, जिसमें बालाकि ब्रह्मोपदेश के लिये शिष्यभाव से अजातशत्रु की शरण लेता है। अजातशत्रु कहता है:—'प्रतिलोमं चैतद् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियम् उपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति।' 'ब्राह्मण क्षत्रिय के पास इसलिये जावे कि वह उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश करेगा, यह तो विपरीत बात है।' ऐसा कहकर अजातशत्रु ने बालाकि को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण यज्ञादिसम्बन्धी पौरोहित्य-कार्यों में इतने अधिक व्यस्त हो गये कि उन्हें वास्तविक ब्रह्मज्ञान विस्मृत-सा हो गया, परन्तु उनकी ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी लालसा निःशेष नहीं हुई थी। इधर क्षत्रिय आरण्यक एवं औपनिषद् काल में इस दिशा की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए और ब्राह्मण अपनी स्वभावसिद्ध ब्रह्म-जिज्ञासा को उनके पास जाकर शान्त करते रहे। ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मज्ञानी भी उत्पन्न हुए, जिन्होंने योग में निपुण जनक राजा को ब्रह्मज्ञान दिया।

क्षत्रियों में शाक्यवंशी महामुनि सिद्धार्थ, जो गौतम बुद्ध के नाम से प्रख्यात हुए, और तीर्थंकर महावीर का भी नाम प्रसिद्ध है। दोनों महापुरुष आध्यात्मिक ज्ञान के धनी थे और दोनों ने एक एक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जिसने कोटि-कोटि श्रद्धालु-हृदय मानवों को शान्ति प्रदान की। क्षत्रियों में महाराज ऋषभ को भी जैनागम तथा श्रीमद्भागवत में आत्मज्ञान का निधान माना गया है। वासुदेव श्रीकृष्ण तो गीता-ज्ञान के प्रतिष्ठाता तथा योगाचार्य हैं ही। महाभारत उन्हें वेद-वेदांग का ज्ञाता और योगिराज कहता है।

ऊपर जिन राजर्षियों के नाम आये हैं, उनमें श्रीकृष्ण यदुवंशी हैं। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार भृगुवंशी ब्राह्मण शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी के गर्भ से क्षत्रियनरेश ययाति के पुत्र यदु की उत्पत्ति हुई थी। अतः यदुवंश ब्रह्म-क्षत्र-संयोग से समुद्भूत हुआ है। केकय देश के महाराज अश्वपति को भी महाभारत सूत-नरेश कहता है। सूत भी ब्रह्म-क्षत्र-संयोगज माने गये हैं। सम्भव है, अन्य राजर्षियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कोई ऐतिहासिक गाथा छिपी हो। कम से कम उपर्युक्त दो राजर्षि तो अपने अन्दर ब्राह्मणत्व का अंश रखते ही हैं। वेद ने तथा परवर्ती आगम-साहित्य[1] ने भी ब्राह्म एवं क्षात्र दोनों शक्तियों के संयोग को कल्याणकर माना है। एकाकी रूप में दोनों ही पंगु हैं। इस सत्य को सम्भवतः ब्राह्मणवर्ग ने विस्मृत कर दिया था। अर्थकरी वृत्ति के साथ चिपटकर उसने आर्यजाति के विभिन्न अङ्गों में वैषम्य-जनित अशान्ति भी उत्पन्न कर दी थी। शूद्र वर्गहीन कोटि में पहुँच गया था। स्त्रियाँ भी धर्मक्षेत्र में अवहेलना की दृष्टि से देखी जाती थीं। जो विदेशी इस देश में बस गये थे, उन्हें भी पुरोहितवर्ग व्रात्य, दस्यु और म्लेच्छ कहकर पुकारता था। यहाँ रहकर भी वे यहाँ के मूल निवासियों के साथ एक नहीं हो पाते थे। भागवत-सम्प्रदाय ने इस स्थिति को पहिचाना और उसके अनुरूप ही उसने समाज को औषधि प्रदान की।

भागवत-सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित भक्ति-धर्म के सम्बन्ध में महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ६६ के अन्त में लिखा है : 'शाश्वत, रहस्यमय, दयालु और

---

१. ब्रह्मक्षत्रे तु संपृक्ते ह्यग्नीषोममयात्मनि। निवसत्यतिसम्प्रीता ग्रीष्मे शीत इव ह्रदे ॥२१॥
द्वे हि ते बिभ्रतो लोकस्थितिं संभूय तेजसी।
तयोर्हि सकला शक्तिः स्थिता विष्णोः क्रियात्मिका ॥२२ अहिर्बुध्न्य सं. १६॥

प्रेमी प्रभु वासुदेव के नाम से विख्यात हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा करते हैं।' गीता ९, ३२ में भी इसी उक्ति का समर्थन मिलता है :

'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ॥

जिसने भगवान का आश्रय ग्रहण कर लिया, वह पापयोनि, स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी क्यों न हो, परम गति को प्राप्त हो जाता है।'[1]

भागवत-भक्ति ने अपने इस रूप में समाज द्वारा हेय एवं निरादृत व्यक्तियों को आश्वासन प्रदान किया। शूद्र, विदेशी तथा अन्य निम्न वर्ग के प्राणी दिल खोलकर भागवत सम्प्रदाय में दीक्षित होने लगे।

आरण्यक तथा उपनिषद्-काल से जिस सन्त विचार-धारा का प्रारम्भ हुआ था, जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय उसीकी दो शाखायें थीं। इन्होंने जगत्

---

१. श्रीमद्भागवत २, ४, १८ में भी इसी भाव का प्रतिपादन है :

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा, आभीरकंका यवना खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः, शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खश आदि जिस भगवान् विष्णु का आश्रय पाकर शुद्ध हो जाते हैं, उसे प्रणाम है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भागवत का निर्माण भारत में इन जातियों के आगमन के पश्चात् हुआ और भागवत-धर्म ने अनेक विदेशियों को अपने क्रोड में आश्रय दिया। कूर्मपुराण अध्याय १४ के नीचे लिखे श्लोक सिद्ध करते हैं कि वेदबाह्य समझे जाने वाले व्यक्तियों की रक्षा के लिये केशव ने शिव से प्रेरित होकर पञ्चरात्रादि तन्त्रों का निर्माण किया था :

तस्माद् वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम्।
विमोहनाय शास्त्राणि करिष्यावो वृषध्वज ॥ ११६ ॥'
चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ॥ ११७ ॥'
कापालं लागुडं वाम भैरव पूर्वपश्चिमम्।
पञ्चरात्रं पाशुपतं तथाऽन्यानि सहस्रशः ॥ ११८ ॥

ये शास्त्र मोहक थे जिनकी मोहिनी ने विदेशियों तथा वेदबाह्यों को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। यह आश्चर्य की बात है कि वाराहपुराण जो १८९३ ई० में गिरीश विद्यारत्न यन्त्र में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था, के अध्याय ६६, श्लोक १२ में पांचरात्र विधि से उपासना करना शूद्रों के लिये विहित नहीं माना गया है :

ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते। शूद्रादीना न तच्छ्रोत्रपदवीमुपयास्यति ॥

के रचयिता ईश्वर को स्वीकार नहीं किया, पर भागवत-सम्प्रदाय तो प्रमुख रूप से उसीको पकड़कर चला। जैन तथा बौद्धों की कर्म-प्रणाली से मानव भयभीत भी हो सकता था, पर भागवत-भक्ति में तो उसे अपने सन्तप्त हृदय के लिये शीतल विश्रामभूमि प्राप्त हो गयी। चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में विद्यमान यवनदूत मेगास्थनीज ने उस समय प्रचलित सात्वत अर्थात् वासुदेव कृष्ण की पूजा का स्पष्ट उल्लेख किया है। बेस नगर (भेलसा) में जो शिलालेख प्राप्त हुआ, उसके अनुसार दियपुत्र, तक्षशिलावासी यवन हेलियोडोरस ने, जो शुंगवंशीय ब्राह्मण राजा भद्रक के यहाँ पश्चिमोत्तर प्रदेश के ग्रीकशासक एण्टियलकिडाश का राजदूत था, एक गरुड़ध्वज स्तम्भ की स्थापना की थी और वह अपने को देवाधिदेव वासुदेव का भक्त और भागवत कहता था। उसके समानधर्मा अन्य विदेशियों ने भी भागवत-सम्प्रदाय में दीक्षा ली होगी, ऐसा अनुमान से ज्ञात होता है।

पतञ्जलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी सूत्र ४, ३, ९८ पर जो भाष्य लिखा है, उसके अनुसार वासुदेव ईश्वर का नाम है, जिसकी पूजा की जाती है। अतः भागवतों का आराध्य देव वासुदेव और उसके नाम से प्रचलित सम्प्रदाय विक्रम संवत् से कई सौ वर्ष पूर्व ही इस देश में प्रतिष्ठित हो गये थे। भागवत शब्द इतना अर्थ-गर्भ समझा जाता था कि शिवसम्प्रदाय वाले भी अपने को शिव भागवत कहने में प्रतिष्ठा का अनुभव करते थे।

महाभारत भागवत-धर्म को लोकधर्म कहता है और उसका सम्बन्ध सांख्य, योग तथा वेदारण्यक के साथ जोड़ता है।[1] इस समय भी भारत की ग्रामीण जनता वेद और लवेद अर्थात् वैदिक या शास्त्रीय धर्म और लोकधर्म दो का नाम लिया करती है और कहा करती है कि कोई कार्य, फिर वह चाहे जितना वेद के अनुकूल हो, यदि लोकधर्म के प्रतिकूल पड़ता है, तो आचरणीय नहीं है। इससे लोकधर्म वेदधर्म से पृथक् जान पड़ता है और कुछ बाता

---

१. आस्यैः सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्ममनुत्तमम्॥ शान्तिपर्व ३३५, २९
लोकान् सञ्चिन्त्य मनसा ततः शास्त्रं प्रचक्रिरे॥ शान्तिपर्व ३३५, ३२
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्मः प्रवर्तते॥ शान्तिपर्व ३३५, ३९
एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च॥ शान्तिपर्व ३४८, ८१

में उसके प्रतिकूल भी। यही बात सांख्य और योग के साथ वेदारण्यक शब्द के संग्रथित होने से भी सिद्ध होती है। वेदारण्यक का अर्थ वेद नहीं, अपितु आरण्यक ग्रन्थों का ज्ञान है। महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६ के ११वें श्लोक में भी 'आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः।' कथन के द्वारा वैदिक विधान नहीं, आरण्यक विधान के अनुसार यज्ञ में देवभाग कल्पित किये जाने का उल्लेख है। यह लोकधर्म अथवा आरण्यक विधान, जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, सन्तपरम्परा के अनुकूल है और ब्राह्मणधर्म अर्थात् वैदिक-धर्म के साथ एक नहीं है। वैदिकधर्म ज्ञान, कर्म और भक्ति की पावन त्रिवेणी है। वह ज्ञान, यज्ञ, योग, तप, व्रत, उपासना सभी साधनों के द्वारा मानव के सर्वाङ्गीण विकास का पथ प्रशस्त करता है। भागवत-धर्म इसके विपरीत नारायण, वासुदेव, हरि अथवा कृष्ण नाम के भगवान् में एकान्त निष्ठा रखने और सर्वतोभावेन तत्परायण बनने की आज्ञा देता है। उसने भक्ति को प्रमुखता दी है। इस आधार पर कुछ विद्वान् भागवत-धर्म को वेद का प्रतिद्वन्द्वी और उसके पूर्व का भी सिद्ध करते हैं। पर भागवत-धर्म के प्रसिद्ध उपदेष्टा श्री यामुनाचार्य ने अपने 'आगमप्रामाण्य' में इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया है। यामुनाचार्य के मतानुसार पांचरात्रसंहिताओं में कर्मकाण्ड की कुछ प्रक्रियायें ऐसी अवश्य वर्णित हुई हैं, जो वैदिक विधान के अतिरिक्त हैं, परन्तु वे वेद के प्रतिकूल कैसे कही जा सकती हैं? वे वेद के सर्वथा विपरीत भी नहीं हैं। उनका यह भी कथन है कि उपनिषदों और पुराणों में जिस ब्रह्म अथवा परमपुरुष का वर्णन है, वह भागवतों का नारायण ही है। पांचरात्र-संहिताओं को भगवान् नारायण ने उन भक्तों के लिये प्रकट किया है, जो वेदवर्णित विपुल याज्ञिक क्रियाओं के परिपालन में अधीरता का अनुभव करते हैं, अथवा अपने आपको असमर्थ पाते हैं। इसके साथ यह भी विचारणीय है कि वैष्णव धर्म के सभी आचार्य वेद के पुरुषसूक्त को प्रामाणिक मानते हैं और प्रायः उसका पाठ किया करते हैं। पुरुषसूक्त का ऋषि नारायण है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान तथा अन्य कुछ स्थानों पर नारायण को एक ऋषि माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में भी पांचरात्र यज्ञ और नारायण का उल्लेख है : पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहमेवेदं सर्वं स्यामिति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्। तमाहरत्, तेन अयजत,

तेन इष्ट्वा अत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि । १३, ५, १, १ नारायण पुरुष ने इच्छा की कि मैं सब भूतों में श्रेष्ठ बनूँ और मैं ही यह सब हो जाऊँ। उसने यह पञ्चरात्र यज्ञ देखा। उसको लाया। उसका अनुष्ठान किया और उसके अनुष्ठान से वह सब भूतों में श्रेष्ठ बना।

अतः यामुनाचार्य का मत बहुत कुछ साधार है, फिर भी वैष्णवपरम्परा में वैदिक पुरुषसूक्त के मन्त्रों के साथ गीता के श्लोकों को भी बोलकर और उनके अन्त में स्वाहा जोड़कर यज्ञानुष्ठान किये जाते रहे हैं और इस समय भी होते हैं। यह पद्धति वैदिक परम्परा के अनुकूल नहीं है। देखा तो नहीं, पर सुनने में आया है कि कुछ वैष्णव गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस के दोहे-चौपाइयों को पढ़कर भी यज्ञ करने लगे हैं। ये कार्य उस वेद-निरपेक्ष भावना के द्योतक हैं, जो संभवतः वैष्णवों को अपनी पूर्व परम्परा से प्राप्त हुई है और जो उसे वेद-शास्त्रों से पृथक् लोकतन्त्र तथा लोकधर्म कहती रही है।

कहा जाता है कि ब्राह्मण-धर्म हिंसापरक और वैष्णव-धर्म अहिंसाप्रधान है। ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन यज्ञों का विधान है, उनमें पशुओं की बलि दी जाती थी। यह मत भी हमें तो अग्राह्य प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है:—

'पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। ते अश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम। स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त। तस्यालब्धाया मेधोपचक्राम। सोऽविं प्रविवेश। तेऽविमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम। सोऽजं प्रविवेश। तेऽजमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम। स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इवान्वीषुः। तमन्वविन्दन्। ताविमौ व्रीहियवौ। शतपथ ब्राह्मण १।२।१।६

आरम्भ में देवों ने पुरुषरूप पशु का आलंभन किया। उसका आलंभन (वध) होते ही उसमें से पवित्र भाग चला गया। वह अश्व में प्रविष्ट हुआ उन्होंने अश्व का आलंभन किया, उसका आलंभन होते ही उसमें से पवित्र भाग चला गया। वह गौ में प्रविष्ट हुआ। उन्होंने गौ का आलंभन किया। गौ का आलंभन होते ही उसमें से पवित्र भाग चला गया। वह अवि (भेड़) में प्रविष्ट हुआ। उन्होंने अवि का आलंभन किया। उसका वध होते ही उसमें

से पवित्र भाग चला गया। वह अज (बकरे) में प्रविष्ट हुआ। उन्होंने अज का आलंभन किया। उसका वध होते ही उसमें से पवित्र भाग चला गया। वह इस पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ। उसको खोद कर ढूँढा और उसको प्राप्त किया। वही ये चावल और जौ हैं।

शतपथ का यह उद्धरण हिंसा का समर्थन नहीं, खण्डन करता है। यज्ञ में पशुवध होते ही उसमें आहुति के योग्य पवित्र भाग नहीं रहता। आहुति के योग्य पवित्र भाग तो पृथ्वी से उत्पन्न चावल और जौ में ही है। अतः इन्हीं पदार्थों से यज्ञ करना चाहिये। इसी प्रकार का विधान ऐतरेय ब्राह्मण २।८ में है। दोनों स्थानों पर लगभग एक जैसी शब्दावलि का प्रयोग हुआ है। अतः ब्राह्मणों का यज्ञकांड हिंसापरक सिद्ध नहीं होता। हाँ, एक ध्वनि इस उद्धरण में से अवश्य निकलती है कि शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों के लिखने के समय अथवा उनके पहले पशुयज्ञ होते थे, पर वह आर्यों की नहीं, दस्युओं की प्रथा रही होगी। इन दस्युओं को आर्यपद्धति पर लाने के लिये ही ऊपर उद्धृत वाक्य जैसे उपदेश ब्राह्मणग्रन्थों में अंकित हुए हैं।

सम्भव है, जैसे ब्राह्मणग्रन्थों ने दस्युओं को नरबलि अथवा पशुबलि से विरत करने के लिये उपदेश दिये, उसी प्रकार भागवत-धर्म के प्रतिष्ठाताओं ने भी दिये होंगे। इससे अधिक से अधिक यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भागवत-धर्म शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों के समकालीन या उनके कुछ पहले का है। वेदों की समकक्षता में उसे रखने का प्रयत्न करना निरर्थक है।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७ के अन्दर एक प्रसंग ऐसा अवश्य आया है, जिसमें देवों और ऋषियों के संवाद में यज्ञ के अन्दर अजबलि के प्रसंग पर वसु उपरिचर ने देवों का साथ दिया और यज्ञ में पशु-बलि को विहित माना। देव कहते थे : 'अजेन यष्टव्यं' ॥३॥ यज्ञ में बकरा काट कर चढ़ाना चाहिये। ऋषि कहते थे : 'बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः' ॥४॥ बीजों अर्थात् धान्यों से यज्ञ करना चाहिये, ऐसी वैदिक परम्परा है। 'नैषः धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः' हे देवो! यह श्रेष्ठ पुरुषों (आर्यों) का धर्म नहीं है, जो पशु का वध किया जाता है। उसी समय अन्तरिक्षमार्ग से चलकर वसु उपरिचर वहाँ आ पहुँचे। ऋषियों और

देवों ने उनसे पूछा, 'भो राजन्। केन यष्टव्यं अजैनाहोस्विदौषधैः' ॥ १० ॥ हे राजन्! यज्ञ बकरे से करना चाहिये या औषध से? राजा ने देवों का पक्षपात करते हुए कहा, 'छागेनाजेन यष्टव्यम्' ॥ १४ ॥ बकरे से यज्ञ करना चाहिये। इस उत्तर को सुनकर देवपक्षवादी उपरिचर को ऋषियों ने शाप दिया कि आज से तुम आकाश में विचरण न कर सकोगे। पृथ्वी को भेदकर गुहा-विवर में निवास करोगे। अन्त में लिखा है कि इस गुहा-विवर से, वासुदेव भगवान् ने अपना गरुड़ भेजकर वसु उपरिचर का उद्धार किया था। श्लोक ३४ में इन्हीं ऋषियों को द्विजोत्तम कहा गया है। इस प्रसंग से भी ब्राह्मणधर्म हिंसापरक सिद्ध नहीं होता। वसु उपरिचर ने भी जो यज्ञ बृहस्पति को होता बनाकर किया था, वह पशु-बलि से रहित था। अतः पशुबलिपरक यज्ञों को हम वेद-विहित नहीं मान सकते।

पर, एक दल हिंसा-पूर्ण यज्ञों का समर्थन करता अवश्य था, जिसका विरोध करना और जिसके विरुद्ध खड़ा होना आर्यों के लिये आवश्यक था। यह दल यज्ञों में वेद-मन्त्रों का पाठ भी करता था। ब्राह्मण ऋषिवर्ग, जैसा हम लिख चुके हैं, इस दल के साथ नहीं था। महाभारत ने हिंसा का पक्ष लेने वाले जिस दल का उल्लेख किया है, वह देवताओं का दल है। देवजाति हिमालय और उसके उत्तर के प्रदेश में निवास करती थी। इन्द्र इस जाति के राजा का नाम था। देवजाति का आर्यनरेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह जाति शैत्य-प्रधान प्रदेश की निवासिनी होने के कारण मांसाहार करती थी। इसी जाति के सम्पर्क से आर्यों का भी एक दल मांसाहारी बन गया और उस मांसाहार को पवित्र भोजन में सम्मिलित करने के लिये यज्ञ जैसे पवित्र कार्य में पशुओं की बलि चढ़ाकर शेष पशु-मांस को खाने लगा, क्योंकि यज्ञ का शेष भाग पवित्र समझा जाता था। ऐतिहासिक अनुक्रम में यह कार्य गर्हित दृष्टि से ही देखा जायगा। आर्यों के इस दल को छोड़कर और कोई भी वर्ग मांसाहार का प्रेमी नहीं था। दस्यु वेद का नाम लेकर यज्ञ में पशु-बलि चढ़ाते थे। आर्यजाति के चिन्तकों ने अपनी अनुपम निधि वेद का इससे घोर अपमान समझा होगा। यही कारण है कि हम ब्राह्मणग्रन्थों में हिंसापरक यज्ञों का खण्डन पाते हैं। आर्य ब्राह्मणों ने अहिंसक यज्ञों के प्रचार का प्रभूत प्रयत्न किया, परन्तु जनता हिंसापूर्ण यज्ञों के बीभत्स दृश्यों से भयभीत होकर याज्ञिक

कर्मकांड के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करने लगी थी। सामान्य जन पुरोहित-वर्ग की कठोर मनोवृत्ति से घबड़ाकर वेद से भी पराङ्मुख होते गये। भागवतों ने इस स्थिति से लाभ उठाया और पशुहिंसापूर्ण यज्ञों का खण्डन करके यज्ञों के रूप को ही परिवर्तित कर दिया। उन्होंने द्रव्ययज्ञों के स्थान पर प्राणयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का प्रचार किया। छान्दोग्य उपनिषद् ३, १७, ४ में लिखा है, 'अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।' जो तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य वचन है वही यज्ञ की दक्षिणा है। इन शब्दों से द्रव्यरूप दक्षिणा का ही नहीं, द्रव्यमय यज्ञों का भी निषेध हो जाता है। गीता ४।३३ में भी द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञानमय यज्ञ को श्रेष्ठ कहा गया है और लगभग वैसी ही शिक्षा वर्णित हुई है, जैसी हम ऊपर उद्धृत छान्दोग्य के वाक्य में पाते हैं। सकाम द्रव्ययज्ञों से चिपटे हुए याज्ञिकों को मुण्डक उपनिषद् २,७ में भी अविद्या में वर्तमान, पण्डितम्मन्यमान और अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः कहा गया है। ऐसे यज्ञों के फल को भी तुच्छ बताया गया है और तप तथा श्रद्धाभाव की सराहना की गई है।

जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों में भी हिंसापूर्ण यज्ञों के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और वे यज्ञ के साथ वेद तथा सृष्टि-रचयिता ईश्वर से भी दूर हो गये। भागवतों ने इन दोनों का साथ नहीं छोड़ा। प्रारम्भ में उनकी नोंक-झोंक वैदिकों से भले ही चलती रही हो, परन्तु बाद में तो समझौता करके वे वैदिकों के मेल में ही बने रहे। वैष्णवों के प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय स्कन्ध, द्वितीय अध्याय; ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय ८७, श्लोक ५९,६० तथा गरुडपुराण, आचारकाण्ड, ९३:४, ९४:२६ में वेद की प्रशंसा भरी पड़ी है। उनका आस्तिकवाद अपनी आन्तरिक रूपरेखा में विशुद्ध वैदिक आस्तिक-वाद है और ईश्वर को सृष्टिरचयिता के रूप में स्वीकार करता है। आर्य जाति में भागवत-धर्म के व्यापक प्रचार का यही कारण है।

ब्राह्मणधर्म के जटिल वर्णाश्रम-विभाग तथा कर्मकाण्ड की कठोरता में भी साधारण जनसमुदाय को आकर्षण के स्थान पर विकर्षण तथा प्रेम के स्थान पर उपरति के कारण ही अधिक दिखाई दिये होंगे। इस हेतु भी वह भक्ति-प्रधान भागवत-धर्म की ओर आकर्षित हुआ होगा।

कल्याणी वेदवाणी, अपने अन्तःसाक्ष्य (यजु० २६, २) के आधार पर

ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज आदि सबके लिये थी, परन्तु कर्तव्य कर्म और अधिकारों के विभाजन से अर्थ-साधन में जो विषमता उत्पन्न हुई, उसने वर्णों को कर्मणा के स्थान पर जन्मना बना दिया और एक वर्ग को याज्ञिक तथा पुरोहित की संज्ञा देकर अन्यों को हीन कोटि में फेंक दिया। पुराकाल में क्षत्रिय भी याज्ञिक हुए हैं। श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध के अध्याय २१ के अनुसार कई क्षत्रियपुत्रों को ब्राह्मण वर्ण प्राप्त हुआ है। उस समय धर्म उदार और व्यापक था। परवर्ती काल में उसका यह रूप अक्षुण्ण न रह सका और फलस्वरूप समाज में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, जो एक ओर उपनिषदों के उपर्युक्त शब्दों में प्रकट हुई और दूसरी ओर जैन, बौद्ध, लोकायत आदि सम्प्रदायों के प्रचार में परिलक्षित हुई। यह प्रतिक्रिया बलवती बनती गई और उसका शक्तिशाली रूप वैदिकों के विरुद्ध उत्पन्न हुए सन्त-सम्प्रदायों में उन्मुक्त रूप से अभिव्यक्त हुआ।

श्रीमद्भागवत जहाँ वेद की प्रशंसा करता है, वहाँ गीता की कुछ पंक्तियाँ वेदमर्यादा को उसके पद से नीचे गिराती प्रतीत होती हैं, यथा :

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥ २, ४५ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥ २, ५३ ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ २, ४२ ॥

वेद को त्रैगुण्य कहना और उसके कारण बुद्धि को विक्षिप्त मानना तथा वेद-वादियों की वाणी को अविद्वानों की वाणी कहना वेद का सम्मान करना नहीं है। गीता ने यज्ञों तथा याज्ञिक ब्राह्मणों की वही स्थिति स्वीकार की है, जो वेदबाह्य सम्प्रदायों को मान्य थी, यथा :

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप ॥ ४, ३३ ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २, ४६ ॥

द्रव्यमय यज्ञों का खण्डन और वेदज्ञ ब्राह्मण को हेय दृष्टि से देखना भी वैसा ही है जैसा हमें हिन्दी-साहित्य के सन्तों की वाणी में मिलता है। पर, जैसा

हम पीछे लिख चुके हैं, भागवत-सम्प्रदाय अपने परवर्त्ती रूप में वेदों और ब्राह्मणों का साथ देने लगा था।

जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय कर्मकाण्ड के तप, व्रत, सदाचार, त्याग आदि अङ्गों को लेकर चले थे। धर्म का यह क्रियात्मक स्वरूप है, परन्तु इसे धर्म का पूर्ण स्वरूप नहीं कहा जा सकता। इन्होंने जनता को आकर्षित किया, पर अपनी एकांगिता के कारण व्यापक बनने के स्थान पर वे सीमित क्षेत्र में आबद्ध हो गये। बौद्धों को तो अपने भारत-विरोधी कृत्यों के कारण यह देश ही छोड़ देना पड़ा। इनके विरोध में जो शाक्त, कापालिक, भैरव, कालमुख आदि सम्प्रदाय खड़े हुए, वे स्वयं अपने भीषण, क्रूर एवं जघन्य कर्मों के कारण जनता के श्रद्धाभाजन न बन सके। भागवत-धर्म ने जैन-बौद्धों की अहिंसा के साथ समस्त वर्णों की अभेदता को अपनाया। इसने शूद्र, वैश्य, स्त्री आदि उन समस्त वर्गों को आश्वासन दिया, जिन्हें ब्राह्मणधर्म ने यज्ञादि कर्मों के अधिकार से वञ्चित कर दिया था। भक्तिमार्ग इस धर्म की अपनी विशेषता थी, जिसे सबके लिये विहित घोषित करके इसने जनता के हृदय में स्थान पा लिया। जन-ग्राह्य होने के कारण तथा जनमत को स्वीकार करने के कारण इसे लोकधर्म या लोकतन्त्र कहा गया है।

यादवों के सात्वतकुल में उत्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण से इसका सम्बन्ध है। वही इसके परवर्त्ती रूप के मुख्य संस्कर्त्ता और प्रचारक भी हैं। अतः इसे सात्वत धर्म कहा जाता है। मैगास्थनीज इस धर्म का प्रचार प्रमुख रूप से सात्वतों के अन्दर ही बताता है, जो शूरसेन-प्रदेश के निवासी थे। विष्णु-पुराण, तृतीय अंश, अध्याय १२ के अन्त में यादवों का जो वंशानुक्रम दिया है, उसमें सत्वत को अंश का पुत्र कहा गया है। सत्वत के पश्चात् उसके वंशज सात्वत कहलाये। महाभारत के भीष्मपर्व में आये निम्नाङ्कित श्लोक के अनुसार :

> सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः।
> द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च॥

द्वापरयुग के अन्त और कलियुग के प्रारंभ में संकर्षण ने सात्वतविधि का आश्रय लेकर इस मत का प्रचार किया था। ऐतरेय ब्राह्मण ८:३:१४ के

अनुसार सत्वत वंश के राजा दक्षिण दिशा में राज्य करते थे और अभिषिक्त होते थे। इन अभिषिक्त राजाओं को भोज कहा जाता था। ये भौज्य (प्रजा-पालन) के लिये ही अभिषिक्त किये जाते थे। पण्डित बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'आर्य-संस्कृति के मूलाधार' के पृष्ठ ३२२ पर तथा वी० भट्टाचार्य ने 'जयाख्यसंहिता' के प्राक्कथन में पृष्ठ १० पर पराशर भट्ट द्वारा प्रस्तुत सात्वत शब्द की एक व्याख्या उद्धृत की है, जिसके अनुसार सातयति, सुखयति आश्रितान् इति सात्परमात्मा। स एतेषामस्ति इति वा सात्वताः सात्वन्तो वा महाभागवताः। (विष्णुसहस्रनाम, भाष्य, वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण, पृष्ठ ४६५) जो आश्रितों को सुख दे, वह सात्, परमात्मा जिनका है, वे सात्वत अर्थात् महाभागवत हैं। सात्वत उत्तर से ही दक्षिण में गये थे, जहाँ आन्ध्र, देवगिरि और द्वारका उनके प्रमुख उपनिवेश थे। उत्तर को दक्षिण से मिलाने का अपूर्व कार्य भी इनके द्वारा सम्पादित हुआ। सत्वत का एक अर्थ सत्ता वाला (सत् + वतुप्) भी है। सत्वत में जो श्रद्धा रखता है, वह सात्वत है।

भगवान् में एकान्त निष्ठा और अहैतुक भक्ति ही जीव का उद्धार करने वाली है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने तथा एकायन वेद या विद्या से संबद्ध होने के कारण इसे ऐकान्तिक कहते हैं।[1]

नारायण परम सत्य हैं, ऋत हैं। वेद, यज्ञ तथा तप सभी नारायण से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हीं परमपुरुष नारायण से इस धर्म का आविर्भाव हुआ, अतएव भागवत धर्म नारायण-परायण और नारायणप्रिय धर्म कहलाता है।[2]

---

१. एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि। ईश्वरसंहिता, १:४३
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते। तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः। ईश्वरसंहिता १:१८। नागेश ने काण्वशाखा-महिमासंग्रह में एकायन को शुक्लयजुर्वेद की काण्वशाखा माना है।

२. नारायणपरा वेदा यज्ञा नारायणात्मकाः। तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥८१॥
नारायणपरं सत्यं ऋतं नारायणात्मकम्। नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥८२॥
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ॥ ८३ ॥
नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः ॥ ८४ ॥
महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४७–३४८

पंचरात्र यज्ञ द्वारा नारायण सब भूतों से श्रेष्ठ अर्थात् पंचरात्रियों, आवरणों या कोषों का अतिक्रमण करके सबसे ऊर्ध्व स्थान के अधिकारी और सर्वमय बने। अतः इसे पांचरात्र कहा जाता है। पंचरात्र शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४८ श्लोक ८१, ८२ के अनुसार वेद, आरण्यक, सांख्य तथा योग को अपने साथ एक कर देने से इसकी पांचरात्र संज्ञा हुई। ईश्वरसंहिता, अध्याय २१ के अनुसार शांडिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज पाँच ऋषियों को पाँच रात्रियों में इसका उपदेश दिया गया था। अतः ये पांचरात्र कहलाये। पद्म-संहिता, ज्ञानपाद, अध्याय १ के अनुसार अन्य पाँच शास्त्र इसके समक्ष रात्रि के समान मलिन पड़ गये। अतः इसे पांचरात्र कहा गया। नारदपांचरात्र १।४४, ४५ तथा अहिर्बुध्न्यसंहिता ११।६४ के अनुसार रात्र का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान पाँच प्रकार का है : परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार)। इन्हीं पाँच विषयों का प्रतिपादन करने से इस शास्त्र का नाम पांचरात्र पड़ा। श्री बी० भट्टाचार्य ने 'जयाख्यसंहिता' के प्राक्कथन, पृष्ठ १० में 'शक्ति-संग्रह-तन्त्र' का यह श्लोक उद्धृत किया है :—

पंचरात्रिव्रतं प्राप्ताः पंचरात्राः प्रकीर्तिताः।
दिनपंचकपर्यन्तं शैवानां न विलोकनम्॥
वर्तन्ते वैष्णवाः ये च शिवनिन्दापरायणाः।

इसके अनुसार पंचरात्रियों का व्रत रखने से पांचरात्र नाम प्रख्यात हुआ। पांचरात्र वैष्णवों के पाँच दिन तक शैवों के दर्शन न करना और शिवनिन्दा में तत्पर रहना, ये दो तत्त्व भी उनकी पांचरात्र संज्ञा बनाने वाले हैं। 'शक्ति-संग्रहतन्त्र' के इस कथन में कोई तथ्य नहीं है। यह केवल शैवों और वैष्णवों के वैमनस्य को प्रकट करता है। भागवतों की मान्यता के अनुसार पांचरात्रसिद्धान्त मानव के सर्वोत्तम विकास का साधक है।

पाञ्चरात्र-साहित्य

भागवतसम्प्रदाय में वैखानस तथा पाञ्चरात्र-संहिताओं की विशिष्ट मान्यता रही है। दक्षिण में इन्हीं संहिताओं के आधार पर वैष्णव दो मार्गों में विभाजित हो गए थे। कुछ वैखानससूत्रों के अनुसार और कुछ पाञ्चरात्र-संहिताओं में विहित विधि के अनुसार मन्दिरों में पूजा करते थे। आचार्य रामानुज ने वैखानससंहिताओं के स्थान पर पाञ्चरात्रसंहिताओं का प्रचार किया था और वैष्णवों के दोनों सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने का भी प्रयत्न किया था। दक्षिण के कुछ मन्दिरों में जैसे तिरुपति गिरि पर स्थित श्री वेङ्कटेश्वर के मन्दिर में तथा कञ्जीवरम और श्री पेरुम् बुदुर के मन्दिरों में वैखानस-संहिताओं का आज भी प्रयोग होता है। ये संहिताएँ वैदिक विधियों के मेल में हैं। कृष्ण यजुर्वेद के कल्पसूत्रों में बौधायनगृह्यसूत्र विशेष रूप से प्रख्यात है। इसे कभी कभी स्मार्त्तसूत्र भी कहा जाता है। इसके परिशिष्टों में स्मार्त्त-पूजा-पद्धति का वर्णन है। बौधायनगृह्यसूत्र २, ६, १७ के अनुसार वैखानस का अर्थ वानप्रस्थ है। आरण्यक शब्द भी वनस्थ पुरुषों के योग्य शास्त्र के अर्थ का परिचायक है। मनु ने ६, ४१ में वानप्रस्थियों को 'वैखानस-मते स्थितः' अर्थात् वैखानस मत का पालन करने वाले कहा है। वैखानस नारायण को सब देवताओं में प्रधान स्थान देते हैं और नित्य सायं प्रातः हवन करके विष्णु भगवान् की विष्णुसूक्त तथा पुरुषसूक्त से पूजा करते हैं। वैखानस-आगम का विवरण हम आगे देंगे। स्मार्त्त वैष्णव पाञ्चरात्रों से पृथक् रहे हैं। इन्होंने गृह्यसूत्रों की मर्यादा को सुरक्षित रखा है और शिव तथा विष्णु दोनों में एकता स्थापित की है। पाञ्चरात्रसंहिताओं के मानने वाले विष्णु तथा श्रीकृष्ण के चतुर्व्यूह से चिपटे रहे हैं। अन्य देवों के साथ इन्होंने सामञ्जस्य नहीं किया।

पाञ्चरात्रसंहिताओं का प्रचार आचार्य रामानुज के पश्चात् विशेष रूप से वैष्णवों के अन्तर्गत हुआ। ये कब और कहाँ लिखी गईं, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। दशवीं शताब्दी में इनका प्रचार काश्मीर के अन्दर था। ग्यारहवीं शताब्दी में तमिल देश के अन्दर और दक्षिण कनाडा (कर्णाटक) में उसके भी बाद ये प्रचलित दिखाई देती हैं। शैवागम तथा तन्त्रसाहित्य के साथ इनका अद्भुत साम्य है। अतः या तो दोनों ने किसी समान स्रोत से अपनी अपनी

सामग्री ग्रहण की है अथवा एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। हमारी सम्मति में शैवागम तथा तन्त्रसाहित्य ने पाञ्चरात्रसाहित्य को प्रभावित किया है। क्योंकि इसकी कई संहिताओं में शिवरात्र जैसे अध्याय तथा नारद का शिव से अर्चा-विधि सीखने का वर्णन है। फर्कुहर की सम्मति में दोनों के निर्माण का समय लगभग एक ही है।[1] वैष्णवों के लिये पाञ्चरात्रसंहिताएँ वैदिक कल्पसूत्रों के समान हैं। 'जयाख्यसंहिता' के नीचे लिखे श्लोक पाञ्चरात्रों को शुक्लयजुर्वेदीय काण्वशाखाध्यायी सिद्ध करते हैं :

> काण्वीं शाखामधीयानौ औपगायनकौशिकौ।
> प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितौ उभौ॥ १।१०९॥
> शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिः मौञ्जायनस्तथा।
> इमे च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः॥ १।११६॥

पाञ्चरात्रसंहिताएँ संख्या में १०८ कही जाती हैं। डाक्टर श्रेडर ने अपने ग्रन्थ 'इंट्रोडक्शन टू दी पाञ्चरात्र' के पृष्ठ ६ से १२ तक इनका उल्लेख किया है, और इनकी संख्या २१५ दी है; परन्तु ये सब उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों (२-३९, ४०, ४१, ४२) के भाष्य में इन संहिताओं में से कुछ के उद्धरण दिये हैं, जिनमें से एक सात्वतसंहिता है। इस संहिता का नाम महाभारत, अहिर्बुध्न्यसंहिता, ईश्वरसंहिता तथा कुछ अन्य संहिताओं में भी आया है। यह कञ्जीवरम से १९०२ ई० में प्रकाशित हो चुकी है और २५ अध्यायों में विभक्त है। इसमें नारायण के चतुर्व्यूहपूजन का विधान, उनका वेश, अलङ्कार, पूजा के विशिष्ट प्रकार, मूर्तियों की प्रतिष्ठा आदि विषय वर्णित हुए हैं।

इस संहिता के प्रारम्भ में नारद ऋषि की कथा आती है, जिसके अनुसार वे मलय पर्वत पर परशुराम से मिले। परशुराम ने नारद को उन ऋषियों का दर्शन करने के लिये कहा, जो हरि-धाम की खोज में थे। नारद इन ऋषियों के पास पहुंचे और उन्हें परम्परा द्वारा प्राप्त रहस्याम्नाय का उपदेश दिया। नारायण को यहाँ परम दैवत कहा गया है। संहिताकार ने अष्टांगयोग तथा वेद के मार्ग पर चलने वाले प्रपन्न भक्तों को चतुर्व्यूह की पूजा करने का

1. J. N. Farquhar.
'Outline of the religious literature of India.' P. 182

अधिकारी बताया है। मन्त्रों के द्वारा अनेक रहस्यमय पूजाविधानों का भी वर्णन इसमें पाया जाता है।

ईश्वरसंहिता : यह कंजीवरम से १९२३ में प्रकाशित हुई थी। इसमें २४ अध्याय हैं, जिनमें से १६ अध्यायों में पूजा के विधानों का वर्णन है। अन्य अध्यायों में मूर्तियों के विवरण, दीक्षा, ध्यान, मन्त्र, प्रायश्चित्त, संयम, यादव गिरि की पवित्रता आदि विषय वर्णित हुए हैं। इस संहिता के अनुसार समस्त वेदों का स्रोत एकायन वेद है, जो वासुदेव से उत्पन्न हुआ। यह सृष्टि के प्रारम्भ में वर्तमान था। यह अन्य सभी वेदों का मूल था, जो इसके पश्चात् उत्पन्न हुए और विकारवेद कहलाये। विकारवेदों के उदय से मनुष्य संसारी बने। अतः वासुदेव ने एकायन वेद को उनके बीच से हटा लिया और सन, सनत्, सुजाति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सनातन जैसे कुछ चुने हुए ऐकान्तिकों को ही उसका ज्ञान दिया। मरीचि, अत्रि, आंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ और स्वायंभुव ऋषियों ने इस एकायन वेद का ज्ञान नारायण से प्राप्त किया। इसी वेद के आधार पर एक ओर पाञ्चरात्रसंहिताओं का निर्माण हुआ और दूसरी ओर मन्वादि धर्मशास्त्रों का। द्वापर के अन्त तथा कलियुग के प्रारम्भ में शांडिल्य ने घोर तपश्चर्या के पश्चात् सङ्कर्षण से एकायन वेद के सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त करके सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, उपगायन तथा मौंज्यायन ऋषियों को इसका ज्ञान दिया। अध्याय २१ में शांडिल्य, औपगायन, मौंज्यायन, कौशिक और भारद्वाज पाँच योगियों को भगवान् के पञ्चायुधों के अंश माना गया है, जिनमें से प्रत्येक को जगत्-प्रभु ने पाँच दिन-रात में पांचरात्रतन्त्र का उपदेश दिया था।

नारायण द्वारा उपदिष्ट एकायन वेद[1] सात्त्विक शास्त्र कहलाता है। एकायन

---

१. ईश्वरसंहिताकार ने एकायन शब्द की व्याख्या में लिखा है :

शृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम्। मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते॥
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

मोक्षरूपी अयन (धाम) को प्राप्त करने के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः इसे एकायन कहा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् ७, १, २ में भी एकायन विद्या का नाम आता है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इस स्थल के एकायन शब्द का अर्थ नीतिशास्त्र किया है, जो उचित नहीं। छान्दोग्य में एकायनविद्या भक्तिपरक

वेद पर आधारित, परन्तु ऋषियों द्वारा निर्मित शास्त्र राजस और मानव-लिखित शास्त्र तामस कहलाते हैं। पांचरात्र और वैखानस संहिताओं की गणना राजस शास्त्रों में है। ईश्वरसंहिता अध्याय २१ के अनुसार पांचरात्र-साहित्य चार प्रकार का है :

चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पञ्चरात्राख्य आगमः।
पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम्॥
तृतीयं तन्त्रमित्युक्तं अन्यत् तन्त्रान्तरं भवेत्॥

पाद्मसंहिता, चर्यापाद, अध्याय १९ में भी इन्हीं मन्त्रसिद्धान्त, आगम, तन्त्र-सिद्धान्त और तन्त्रान्तर नाम के चार विभागों को स्वीकार किया गया है। ईश्वरसंहिता, अध्याय १, श्लोक ५४, ५६ में पांचरात्र साहित्य के दो विभाग और हैं : दिव्य तथा मुनिभाषित।

वासुदेवेन यत्प्रोक्तं शास्त्रं भगवता स्वयम्।
अनुष्टुप्छन्दोबद्धेन समासव्यासभेदतः॥
तथैव ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रमुखैश्च प्रवर्तितम्।
लोकेष्वपि च दिव्येषु तद्दिव्यं मुनिसत्तमाः॥
ब्रह्मरुद्रमुखैर्देवैः ऋषिभिश्च तपोधनैः।
स्वयं प्रणीतं यच्छास्त्रं तज्ज्ञेयं मुनिभाषितम्॥

सात्वत, पौष्कर और जयाख्य संहिताओं की गणना दिव्य आगमों में है।

हयशीर्षसंहिता : इसके चार भाग हैं : प्रथम भाग का नाम प्रतिष्ठा-काण्ड है, जिसमें ४२ अध्याय हैं। द्वितीय भाग का नाम सङ्कर्षण है, जिसमें ३७ अध्याय हैं। तीसरा भाग लिङ्ग कहलाता है, जिसमें २० अध्याय हैं और चौथे भाग, सौरकाण्ड में ४५ अध्याय हैं। इनमें छोटे-छोटे देवताओं के विग्रहों की प्रतिष्ठा, उनका निर्माण तथा अन्य विधियों का वर्णन है।

विष्णुतत्त्वसंहिता : इसमें ३९ अध्याय है, जिनमें प्रतिमा की अर्चन-विधि, भोग, वैष्णव मुद्राओं का अङ्कन तथा पवित्रीकरण की विधि आदि वर्णित है।

परमसंहिता : इसमें ३१ अध्याय हैं। इनमें सृष्टि की उत्पत्ति, दीक्षा-विधि तथा पूजा के प्रकारों का वर्णन है। दसवें अध्याय में योग का निरूपण

शास्त्रविशेष के अर्थ में ही आई है और नारद ने चारों वेदों के साथ इस एकायन विद्या का भी अध्ययन किया था। अतः वेदों से इस विद्या का पार्थक्य स्पष्ट है।

है, जिसमें ज्ञानयोग को कर्मयोग से बढ़कर माना गया है, यद्यपि दोनों की सह-स्थिति भी स्वीकार की गई है। ज्ञानयोग में दर्शन, इन्द्रियों का दमन, प्राणायाम और समाधि भी सम्मिलित है। योग का अर्थ यहाँ संयोग है। योग के द्वारा साधक सांसारिक बन्धनों से अपने को पृथक् करके अपनी समस्त मनोवृत्ति ईश्वर पर केन्द्रित करता है। पाञ्चरात्रों का कर्मयोग संभवतः प्रतिमा-पूजन तक ही सीमित है। इस संहिता के भी उद्धरण रामानुज के श्रीभाष्य में पाये जाते हैं, जिनमें त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा शांडिल्य द्वारा वेदों के अध्ययन और परिणाम में उस अध्ययन की निष्फलता का उल्लेख है।

पराशरसंहिता : इसमें ईश्वर के नाम-जाप की विधि का वर्णन है। पद्म तथा परमेश्वर-संहिताएँ भी मंत्र-जाप, उत्सव तथा प्रायश्चित्त आदि का वर्णन करती हैं।

परमेश्वरसंहिता : इसके प्रथम अध्याय के नीचे लिखे श्लोक एकायन वेद को, जिसमें सात्वतविधि का वर्णन है, द्वापर के अन्त तथा कलियुग के प्रारम्भ में संकर्षण से प्राप्त हुआ कहते हैं :

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात् संकर्षणात् भक्तात् प्राप्त एष महत्तरः॥
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्वतो विधिः।

ईश्वरसंहिता में भी इसीसे मिलता जुलता विवरण आया है, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

पौष्करसंहिता : इसमें ४३ अध्याय हैं। आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों के श्रीभाष्य में इसके उद्धरण दिये हैं। यह प्राचीन संहिता है। इसमें प्रतिमा-पूजन, अन्त्येष्टि यज्ञ आदि का वर्णन है। इसके तत्त्वसंख्यान नाम के अध्याय में कतिपय दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

अन्य संहितायें : प्रकाशसंहिता के दो भाग हैं। प्रथम भाग का नाम परम-तत्त्वनिर्णय है, जिसमें १५ अध्याय हैं और दूसरे अध्याय का नाम परतत्त्व-प्रकाश है, जिसमें १२ अध्याय हैं। महासनत्कुमारसंहिता में चार अध्याय तथा चालीस परिच्छेद हैं। यह संहिता पूजा की विधियों से भरी पड़ी है। इसमें दस

हजार श्लोक हैं। इसके चारों अध्यायों के नाम क्रमशः ब्रह्मरात्र, शिवरात्र, इन्द्ररात्र और ऋषिरात्र है। अनिरुद्धसंहिता, महोपनिषद्, विहगेन्द्रसंहिता, हिरण्यगर्भसंहिता, सुदर्शनसंहिता, अगस्त्यसंहिता, वशिष्ठसंहिता, विश्वामित्र-संहिता, विष्णुसंहिता आदि सब के विषय लगभग एक जैसे हैं। विष्णुसंहिता पर सांख्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। यह पुरुष को सर्वव्यापक और उसे प्रकृति को विकृति की ओर संचालित करने वाला मानती है। इसके अनुसार पाँचों इन्द्रियों की शक्ति विष्णु की ही शक्ति है, जो स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की है। सूक्ष्म रूप में जो चेतना, कर्तृत्वशक्ति, ग्रहणशीलता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता नाम की पाँच शक्तियाँ हैं, उन्हींसे ईश्वर का सूक्ष्म शरीर बना है। विष्णुसंहिता के तीसवें अध्याय में भागवतयोग का वर्णन है, जो श्रद्धा-भक्ति का उत्पादक है। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में अष्टांगयोग का प्रचार रहा है और श्रीमद्भागवत तथा गीता में भी उसका वर्णन है।

मार्कण्डेयसंहिता १०८ पाञ्चरात्रसंहिताओं में से ९१ संहिताओं के नाम देती है। श्रेडर ने अपने 'इन्ट्रोडक्शन टू पाञ्चरात्र' नामक ग्रन्थ में भी इनके नाम दिये हैं। विश्वक्सेनसंहिता का प्रयोग रामानुज, सौम्य, जामातृ मुनि तथा अन्य आचार्यों ने किया है। यह भी बहुत प्राचीन संहिता है।

नारदपाञ्चरात्र के अन्तर्गत ज्ञानामृतसार नाम की संहिता को बंगाल की रौयल एशियाटिक सोसायटी ने प्रकाशित किया था। इसके अनुसार नारद श्रीकृष्ण का माहात्म्य तथा उनकी अर्चा-विधि सीखने के लिये शंकर के पास जाते हैं। कैलास पर्वत पर पहुँचकर वे सात द्वारों वाले शंकर के भवन में प्रवेश करते हैं। इन द्वारों पर वृन्दावन, यमुना, कदम्ब पर गोपियों के वस्त्र लेकर बैठे हुए श्रीकृष्ण, गोपियों का नग्न रूप में स्नान के पश्चात् जल से बाहर आना, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण, श्रीकृष्ण का मथुरागमन, गोपियों का शोक-प्रदर्शन आदि श्रीकृष्ण की बाललीलाओं के चित्र अंकित थे। जोधपुर के पास मन्दसौर में भी खुदाई करने पर एक ऐसा स्तंभ मिला था जिस पर इसी प्रकार के चित्र अंकित थे। द्वारों पर चित्रांकन की प्रथा के प्रचलित होने के बाद ही इस प्रकार के लेख लिखे जा सकते हैं। मेघदूत ५:१५ में कालिदास ने इन्द्रधनुष से संयुक्त मेघ की उपमा मोर-मुकुट से शोभित

गोपाल कृष्ण से दी है। यह रचना पाँचवीं शताब्दी के आस-पास की है। ज्ञानामृतसारसंहिता संभवतः इस शताब्दी के बाद की रचना है।

इस संहिता में कृष्ण के निवासस्थान गोलोक का भी विशद वर्णन किया गया है। ऐसे मंत्र भी दिये गये हैं, जिनका जाप करने से स्वर्ग प्राप्त होता है। इस संहिता के अनुसार श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक प्रभु की सेवा करना ही सर्वोत्तम मोक्ष है। भगवद्भक्ति ६ प्रकार की है: स्मरण, कीर्तन, प्रणति, चरणों का आश्रय या पादवन्दन, श्रद्धापूर्वक अर्चा करना और सर्वात्मना समर्पण। इनके अतिरिक्त भागवत में भक्ति के श्रवण, सेवन और सख्य नाम के तीन प्रकार अधिक वर्णित हैं। इस संहिता में कृष्ण की प्रिय गोपिकाओं में राधा सर्वश्रेष्ठ कही गई है और वह भगवान् के अर्द्धांश से निर्मित हुई है। इस संहिता में चतुर्व्यूहों का वर्णन नहीं पाया जाता। यह आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों से अधिक मेल खाती है। अतः १६वीं शताब्दी से पहले की बनी हुई प्रतीत नहीं होती।

बृहद् ब्रह्मसंहिता आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना से [१९१२] प्रकाशित हुई है। इसमें हरिलीला का वैसा ही वर्णन है, जैसा पुष्टिमार्ग में है। इसके अनुसार हरि और लीला में कोई अन्तर नहीं है। जो हरि हैं, वही लीला है और जो लीला है, वही हरि हैं। राधा भी लीलारूपिणी है। गोलोक में यह लीला नित्य और सूक्ष्म रूप से कल्प के अन्त में भी होती रहती है। जो जीव रसमार्गीय और नित्य लीला के आकांक्षी हैं, वे विष्णु की कृपा से इसमें निवास करते हैं। इस संहिता के तृतीय पाद के द्वितीय अध्याय में श्लोक ३२ से ४५ तक गोपियों के कई गण दिये हुए हैं, यथा:—सुरूगण, श्रुति, देवकन्यागण, मुनि-कन्याएँ आदि। पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७२, श्लोक १६ में भी गोपियों के ऐसे ही गण वर्णित हुए हैं। दोनों में पर्याप्त साम्य है। अतः यह संहिता भी बहुत प्राचीन नहीं जान पड़ती।

जयाख्यसंहिता : यह संहिता गायकवाड़ औरियंटल सीरीज़ नम्बर ५४ में प्रकाशित हुई है। इसके पटल १, अधिक पाठ में पृष्ठ ८ पर नीचे लिखे श्लोक आते हैं :

> पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् ॥ १ ॥
> सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्यं तन्त्रमुत्तमम्।

रत्नत्रयमिति ख्यातं तद्विशेष इहोच्यते ॥ २ ॥
सारं सात्वतशास्त्रस्य रहस्यं प्राज्ञसम्मतम् ।
रत्नत्रयमिदं साक्षाद् भगवद्वक्त्रनिःसृतम् ॥ ३ ॥

इन श्लोकों में सात्वत, पौष्कर और जयाख्य संहिताओं को रत्नत्रय कहा गया है और लिखा है कि ये संहिताएँ साक्षात् भगवान् के मुख से निकली हैं। ईश्वरसंहिता में भी इन संहिताओं को दिव्यागम कहा गया है। क्या यह रत्नत्रय बौद्धों के त्रिपिटकरूपी रत्नों का ही अनुकरण नहीं है ? श्री बी० भट्टाचार्य ने जयाख्यसंहिता के प्राक्कथन में सिद्धान्त तथा अक्षर-लिपि के संकेत-चिह्नों के आधार पर इस संहिता का समय ४५० ई० [गुप्त साम्राज्य काल] निश्चित किया है। इस संहिता के अनुसार कोई भी व्यक्ति जो यज्ञ करता है, दान देता है, वेद का स्वाध्याय करता है, प्रायश्चित्त और तप करता है, आवागमन के बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता। परतत्त्व का ज्ञान ही, जो सर्वव्याप्त, शाश्वत, स्वानुभूतिगम्य और पवित्र है, मोक्षप्राप्ति का कारण है। वह परम सत्ता जो हमारे हृदय में निवास करती है, निर्गुण, गुण-गुह्य और अनामक है।

इस संहिता में लिखा है कि कुछ ऋषि गन्धमादन पर्वत पर परमतत्त्व के ज्ञान की विधि जानने के लिये शांडिल्य ऋषि के पास पहुँचे। शांडिल्य ने कहा कि यह विद्या गुह्य तथा प्राचीन है और उन्हीं को बताई जा सकती है जो गुरु में सच्चा विश्वास और श्रद्धा रखते हैं। विष्णु ने सर्वप्रथम इसकी शिक्षा नारद को दी थी। भगवान् विष्णु ही हमारे एकमात्र ध्येय हैं। शास्त्र-ज्ञान से ही हम उन तक पहुँच सकते हैं। शास्त्र-ज्ञान गुरु द्वारा होता है। अतः साधक के लिये गुरु ही सर्वप्रथम साधन है जो भगवान् तक शास्त्र-ज्ञान देकर पहुँचाता है।

इस संहिता में तीन प्रकार की सृष्टि का वर्णन है : ब्रह्मसर्ग, प्रकृतिसर्ग और शुद्धसर्ग। ब्रह्मसर्ग में विष्णु से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उन्होंने अहंकार से सृष्टि को दूषित कर दिया। उनके पसीने की दो बूँदों से दो दैत्य, मधु और कैटभ, उत्पन्न हुए, जो वेदों को चुरा ले गये। इससे विश्व क्षुब्ध हो उठा। विष्णु ने प्रथम अपनी शारीरिक शक्ति द्वारा इन दैत्यों से युद्ध किया, परन्तु सफल न हुए। अन्त में उन्होंने मंत्र-शक्ति द्वारा दैत्यों का विध्वंस किया।

प्रकृतिसर्ग में सांख्य दर्शन के अनुसार विश्व को त्रिगुणात्मक प्रधान से विकसित हुआ माना है। जैसे तेल, बत्ती और अग्नि के समन्वय को दीपक संज्ञा प्राप्त होती है, वे भिन्न-भिन्न होते हुए भी एकात्म-लक्षण हैं, वैसे ही सत, रज और तम तीनों गुण भिन्न होकर भी अपनी साम्यावस्था में प्रधान (प्रकृति) कहलाते हैं। रचना के समय ये पृथक् होते हैं। इन्हीं से सर्वप्रथम बुद्धि का आविर्भाव होता है। बुद्धि से तीन प्रकार का अहङ्कार उत्पन्न होता है: प्रकाशात्मा, विकृत्यात्मा तथा भूतात्मा। प्रकाशात्मा अथवा तैजस अहङ्कार से मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनती हैं। विकृत्यात्मा अथवा राजस अहङ्कार से पाँच कर्मेन्द्रियाँ और भूतात्मा अथवा तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा और उनसे पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) की उत्पत्ति होती है। प्रकृति स्वरूप से जड़ और अचेतन है। अतः उससे जिस विश्व का विकास होता है वह भी अचेतन है। जैसे धान के बीज से चावल पैदा होता है, वैसे ही प्रकृति से सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रकृति से बने विश्व में जो चेतना दिखाई देती है, वह आत्मा के संसर्ग से है। आत्मा ब्रह्म में स्थित और उससे अभिन्न है। वासनाओं का जाल उसे ब्रह्म से पृथक् किये हुये है। कर्मों के क्षय द्वारा जब वह वासना से मुक्त हो जाता है, तब ब्रह्म के साथ एक हो जाता है।

शुद्धसर्ग में भगवान् वासुदेव से अच्युत, सत्य और पुरुष तीन की उत्पत्ति का वर्णन है। पुरुषरूप में भगवान् सामान्य देवों के अन्तर्यामी और नियन्ता हैं। इसी रूप में वे वासनाओं के बन्धन में आबद्ध मानवों की गतिविधि का नियन्त्रण करते और अन्त में उन्हें मोक्ष की ओर ले जाते हैं। भगवान् चिदानन्दघन हैं। वे सत् और असत् दोनों अवस्थाओं से ऊपर हैं। देश और काल का बन्धन उन्हें बाँध नहीं सकता। जैसे अग्नि तप्त लोहे में व्याप्त होती है, वैसे ही प्रभु सर्वव्याप्त हैं। वे तर्क और प्रमाणों से नहीं जाने जा सकते। जैसे सरिता का जल समुद्र के जल से भिन्न भी है और अभिन्न भी, वैसे ही उपासक और उपास्य में भेदाभेद सम्बन्ध है। मानव जब अनुभव करता है कि उसका कर्म-जाल प्रकृति के गुणों का खेल है, तब उसे आत्म-स्वरूप का भान होता है। गुरु द्वारा उपदिष्ट शारीरिक संयम तथा मन्त्र-साधन द्वारा वह सांसारिक सुखों से विरत, शारदीय जल के समान निर्मल और निर्वात अवस्था में अचञ्चल दीप-शिखा के समान स्थिर हो जाता है।

इस संहिता में सत्ताख्य तथा क्रियाख्य दो प्रकार के ज्ञान और अष्टांग योग का भी वर्णन है। भक्त योग-साधना द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर वासुदेव के साथ एक हो जाता है। भागवतों का भक्ति-सम्प्रदाय इन संहिताओं के युग में योग-साधना से इतना आक्रान्त एवं प्रभावित रहा है कि विष्णु-संहिताकार ने भी इस योग को भक्ति से ऊँचा स्थान दिया है। उन दिनों केवल भक्ति को सम्भवतः पर्याप्त साधन नहीं समझा जाता था। भक्त के लिये योगी होना आवश्यक था। परमसंहिता में भी ब्रह्मा और परम के संवाद द्वारा योग की महत्ता का निरूपण किया गया है। जीव का परमात्मा के साथ संयोग ही योग है। अहिर्बुध्न्यसंहिता ३१, १५ में लिखा है: 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः'। वैसे मन का किसी भी पदार्थ के साथ शान्त संयोग योग कहलाता है। जब मन किसी कर्म पर स्थिर रूप से केन्द्रित हो जाता है, तब कर्मयोग होता है और जब ज्ञान पर केन्द्रित होता है, तब ज्ञानयोग कहलाता है। कर्मयोग में यम, नियम, व्रत, दान तथा अन्य आत्मसंयम-सम्बन्धी कर्म आते हैं। ज्ञानयोग में स्वाध्याय अर्थात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आदि की गणना है। योगदर्शन में स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान को नियम के अन्तर्गत रखा है। ईश्वर-प्रणिधान ही भक्तियोग है और आसक्ति का विनाशक है। विशिष्ट साधक सभी प्रकार के योगों के प्रयोग द्वारा सिद्धिलाभ करते हैं।

इस संहिता के पन्द्रहवें पटल में अग्निहोत्र, कुण्डनिर्माण आदि का विस्तृत वर्णन है। बीसवें पटल में मूर्ति, मन्दिर, ध्यान आदि वर्णित हुए हैं। २२ वें पटल में वैखानस का लक्षण इस प्रकार दिया है:

> य. परिग्रहवान् विप्रः पूजयेत परमेश्वरम् ॥ १३ ॥
> याचितानि द्विजेन्द्राच्च प्राप्तेनायाचितेन तु।
> धनेन क्षत्रियाद्वैश्यात् कुटुम्बमपि पालयन् ॥ १४ ॥
> विद्धि वैखानसः सोऽपि जटी छत्री सिताम्बरः ॥ १५ ॥

वैखानस वास्तव में जैसा इस श्लोक से प्रकट होता है, गृहस्थ में ही वानप्रस्थ- आचार का पालन करते थे। इनका एक रूप ऐसे ऋषियों में देखा जा सकता है, जो परिवार सहित रहते थे और तितिक्षा, शान्ति, वैराग्य आदि द्वारा गृहस्थ होते हुए भी निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की साधना किया करते थे।

वैष्णव सम्प्रदाय की वैखानस शाखा ऐसे ही तपस्वी गृहस्थों की ओर संकेत करती है। वेद में वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों का पृथक् रूप से उल्लेख नहीं हुआ है। सम्भवतः स्मृतियुग में इन दो आश्रमों की प्रतिष्ठा हुई। वैखानस सम्प्रदाय इस सम्बन्ध में प्राचीन वैदिक विधानों का अनुसरण करने वाला प्रतीत होता है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता : यह संहिता अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित हुई है। इसके अनुसार अहिर्बुध्न्य ने बहुत दिनों तक तपस्या करने के उपरान्त सङ्कर्षण से सुदर्शनस्वरूप का सत्य ज्ञान प्राप्त किया, जो संसार की समस्त वस्तुओं का आधार है। अन्तिम सत्ता अनादि, अनन्त, शाश्वत, नाम-रूप-रहित, वाणी और मन से परे तथा अविकारी है। इससे सङ्कल्प उत्पन्न होता है। ब्रह्म निःसीम-सुखानुभव-लक्षण वाला है। वह ऊर्मि-शून्य समुद्र के समान प्रशान्त है। वह अपने में परिपूर्ण और अव्याकृत है। वह परमात्मा, भगवान्, वासुदेव, अव्यक्त आदि कई नामों से पुकारा जाता है। जब सत्य ज्ञान के द्वारा जीव के पाप-पुण्य समाप्त हो जाते हैं, वासनायें नष्ट हो जाती हैं, और तीन गुण तथा उनके कार्य उसे आबद्ध नहीं कर पाते, तब उसे परब्रह्म का अनुभव होता है। परब्रह्म प्राकृतिक गुणों से विहीन होने पर भी अपने षड्-गुणों से युक्त है। वह ज्ञान, शक्ति, कर्तृत्व (ऐश्वर्य), बल, वीर्य और तेज से मण्डित है। वह वस्तुतः ज्ञानमय है। उसके अन्य पाँच गुण ज्ञान के ही विशेषण हैं। यह एक ब्रह्म जब अपने को बहुत करने का सङ्कल्प करता है, तब वह सुदर्शन कहलाता है। (अध्याय २)

प्रभु की शक्ति चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान उससे अपृथक् स्थित है। विश्व इसी शक्ति की अभिव्यक्ति है। यह शक्ति आनन्दरूप है और निरपेक्ष है। इसीको लक्ष्मी, श्री, पद्मा, कमला, कुण्डलिनी, गायत्री, प्रकृति, माता, अदिति, शिवा, रति, सरस्वती, नारायणी और विष्णुशक्ति आदि कहा जाता है। इसी से भौतिक तथा आध्यात्मिक सत्तायें उत्पन्न होती हैं, जो अव्यक्त, काल और पुरुष कही जाती हैं। इसी की प्रेरणा से पुरुष और प्रकृति का संगम होता है तथा त्रिगुणात्मिका प्रकृति रचनात्मक विकास की ओर प्रवृत्त होती है। (अध्याय ३)

अध्याय ४ में प्रतिसञ्चरता का वर्णन करते हुये लिखा है कि प्रथम वृक्ष इत्यादि वायु से शुष्क और अग्नि से दग्ध होकर भूमि में परिणत होते हैं, भूमि जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश अहङ्कार में, अहङ्कार बुद्धि में, बुद्धि तम में, तम रज में, रज सत में, सत काल में, काल नियति में, नियति शक्ति में, शक्ति कूटस्थ पुरुष में, कूटस्थ पुरुष अनिरुद्ध में, अनिरुद्ध प्रद्युम्न में, प्रद्युम्न संकर्षण में और संकर्षण वासुदेव में लय हो जाते हैं। इस क्रम में आये हुये चतुर्व्यूह के नाम अन्यत्र वर्णित क्रम से मेल नहीं खाते।[1]

षड्गुणों में ज्ञान और बल से सङ्कर्षण का, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का तथा शक्ति और तेज से अनिरुद्ध का जन्म हुआ है। ये तीन आध्यात्मिक रूप व्यूह कहे जाते हैं, क्योंकि ये गुण-युग्म के परिणाम हैं। ये विष्णु की अभिव्यक्ति होने के कारण षड्गुणों से उपेत भी हैं। (अध्याय ५)

महासनत्कुमारसंहिता के अनुसार वासुदेव अपने मन से शुक्ल देवी शान्ति को उत्पन्न करते हैं। उसी के साथ संकर्षण या शिव की उत्पत्ति होती है। शान्ति के वामाङ्ग से लोहित वर्ण की श्री देवी, जिसका पुत्र प्रद्युम्न या ब्रह्मा है, और श्री देवी से पीली सरस्वती और उसके साथ अनिरुद्ध या पुरुषोत्तम का जन्म होता है। अनिरुद्ध की शक्ति श्यामा रति का रूप धारण करती है। ये शक्तियाँ ब्रह्माण्ड से बाहर और शिव आदि संसारी देवों से पृथक् हैं। व्यूहों के तीन कार्य हैं: १. सृष्टि-स्थिति-प्रलय २. संसारी जीवों की रक्षा और ३. भक्तों को निर्वाण-प्राप्ति में सहायता देना। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को विष्णु का पवित्र अवतार माना जाता है। संकर्षण व्यष्टि-रूप जीवों के निरीक्षक और उन्हें प्रकृति से पृथक् करने वाले हैं। प्रद्युम्न सबके मनों के निरीक्षक और धार्मिक कार्यों की विशिष्ट शिक्षा देने वाले हैं। अनिरुद्ध संसार के रक्षक और जीवों को ज्ञान की अन्तिम प्राप्ति तक पहुँचाने

---

१. आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र २, २, २४ के भाष्य में सङ्कर्षण को जीव, प्रद्युम्न को मन और अनिरुद्ध को अहङ्कार माना है। विश्वक्सेनसंहिता के अनुसार संकर्षण जीवों के निरीक्षक और प्रद्युम्न मनोमय हैं। लक्ष्मीतन्त्र ६, ९, १४ के अनुसार सङ्कर्षण जीव, बुद्धि और मन के समान हैं। वासुदेव लीलामय सृजनात्मक क्रिया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के अनुसार पुरुष और प्रकृति का भेद सङ्कर्षण से नहीं, प्रद्युम्न से प्रारम्भ होता है। अनिरुद्ध सत्त्व का अधिष्ठाता है।

वाले हैं। शुभ-अशुभ-मिश्रित सृष्टि के रचयिता भी यही हैं। इनके अतिरिक्त भगवान् के आवेश और साक्षात् दो अवतार और होते हैं। आवेशावतार स्वरूपावेश [परशुराम, राम आदि] और शक्त्यावेश [ब्रह्मा या शिव] दो प्रकार का होता है। आवेशावतार की अपेक्षा साक्षात् अवतार अप्राकृत और दिव्य होते हैं। मोक्षाकांक्षियों को साक्षात् अर्थात् दिव्य अवतारों की ही उपासना करनी चाहिये।

चतुर्व्यूहों में से प्रत्येक व्यूह से उपव्यूहों की सृष्टि मानी गई है, यथा :— वासुदेव से केशव, नारायण और माधव, संकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन, प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर, अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर। ये प्रत्येक मास के अधिष्ठातृ देवता समझे जाते हैं, जो बारह राशियों में संक्रान्त सूर्य के प्रत्येक रूप के प्रतिनिधि हैं। इनके अतिरिक्त ३९ विभव अवतार गिनाये गये हैं, जो संसारी रूप में सन्तों के साथी एवं परित्राणकर्ता, उनके विरोधियों के विनाशक और भगवद्भक्तिपरायण वैदिक धर्म के प्रतिष्ठाता होते हैं। अन्तर्यामी रूप में प्रभु हमारे पाप-पुण्य के नियामक और ध्यान के केन्द्र हैं। मिट्टी, पत्थर या धातु द्वारा निर्मित तथा विधिपूर्वक प्रतिष्ठित मूर्तियों में अपनी विशिष्ट शक्तियों से विराजमान भगवान् का रूप अर्चावतार कहलाता है। इस प्रकार भगवान् की सत्ता पाँच प्रकार की है : पर, व्यूह, विभवावतार, अन्तर्यामी और अर्चावतार। पर रूप में प्रभु अपनी शक्ति लक्ष्मी या श्री से सदैव संयुक्त रहते हैं। अन्य स्थानों पर उनकी लक्ष्मी, भूमि और लीला तीन पत्नियाँ मानी गई हैं। विहगेन्द्रसंहिता और सीताउपनिषद् इन्हीं को इच्छा, क्रिया और साक्षात् शक्ति कहती हैं। सीता-उपनिषद् के अनुसार सीता महालक्ष्मी है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया इसी के तीन रूप हैं। इन्हीं को लक्ष्मी, भूमि और लीला कहते हैं। वैखानस-परम्परा में भी इन्हीं की मान्यता है। विगहेन्द्रसंहिता सुदर्शन की आठ शक्तियाँ मानती है : कीर्ति, श्री, विजया, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा। सात्वतसंहिता [९ : ८५] विष्णु के श्रीवत्स से उद्भूत बारह शक्तियों का वर्णन करती है : लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि और मति। दुर्गा सप्तशती में भी दुर्गा का वर्णन ऐसे ही अनेक रूपों में किया गया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता अध्याय १२, श्लोक ३९ में पशु-पाश-प्रमोचन पाशुपत-

तंत्र को भी विष्णु के मुख से उत्पन्न हुआ कहती है। अध्याय २२, श्लोक १५ में बौद्धों की तारा तथा श्लोक १७ में मातृकाएँ और बाद में तांत्रिकों के हुं, मों, फट् तथा यंत्र, मंत्र, चक्र आदि का भी वर्णन है। अध्याय ३४ और ३५ में वरुणपाश, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेय, वायव्यादि अस्त्र तथा शक्ति आदि शस्त्रों का वर्णन है। जीव, काल, नियति आदि के वर्णन के साथ गुणों में सत का विष्णु से, रज का ब्रह्मा से और तम का रुद्र से सम्बन्ध दिखाया गया है। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध यहाँ वेद की ही भाँति सयुजा और सखा का है। सृष्टि के आविर्भाव के समय जीव ब्रह्म से पृथक् होते हैं, परन्तु प्रलय के समय वे पुनः ब्रह्म के अन्दर लीन हो जाते हैं। मुक्ति के समय वे भगवत्ता प्राप्त करते हैं, परन्तु उनकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है। प्रभु के अनुग्रह से वे वैकुण्ठ में सायुज्य मुक्ति पाते हैं। जीव अणु रूप है, पर प्रभु के सायुज्य से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बन जाता है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में शरणागति के छः प्रकार कहे गये हैं :

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥ ३७ : २८, २९

इन्हीं छः प्रकारों को परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने भी ग्रहण किया है। शरणागति के सम्बन्ध में संहिताकार एक स्थल पर कहता है : जैसे नदी के पार जाने का अभिलाषी नाव पर बैठकर निश्चिन्त हो जाता है, उसके पार पहुँचाने का समग्र उत्तरदायित्व नाव के खेने वाले पर होता है, उसे नाव पर बैठने के अतिरिक्त स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, इसी प्रकार भक्त का कार्य केवल प्रभु की शरणरूपी नाव पर बैठ जाना है। आत्मनिवेदन और सर्वात्मना समर्पण के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं करना है। भवसागर से पार लगाने और उसके योग-क्षेम को साधने की चिन्ता स्वयं भगवान् करेंगे, वह नहीं।

पांचरात्र सम्प्रदाय वेद और तन्त्र दोनों का आधार लेकर चला है। उसके प्रचारक भले ही किसी अन्य स्रोत का उल्लेख करें, परन्तु वास्तविकता यही है। मन्त्र-क्रिया में भी इसी हेतु उसका विश्वास है। मन्त्रों को विष्णु की साक्षात् शक्ति माना जाता है। इस शक्ति का सर्वप्रथम प्रकाश नाद में होता है, जिसे केवल महायोगी ही अनुभव कर सकता है। नाद के पश्चात् बिन्दु

आता है। विन्दु से शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति होती है। यहीं से नाद और विन्दु अर्थात् नाम और रूप का स्पष्ट अभिव्यञ्जन प्रारम्भ हो जाता है। अर्थात् प्रत्येक आक्षरिक ध्वनि के विकास के साथ उसके समानान्तर एक पदार्थ-शक्ति भी विकसित होती जाती है। अध्याय १६ में संहिताकार ने विन्दु से स्वर और व्यञ्जनों का विकास दिखाया है। विष्णु की कुण्डलिनी शक्ति के नृत्य से १४ स्वर १४ प्रयत्नों में उत्पन्न होते हैं। यही शक्ति अपनी द्विविध सूक्ष्म शक्ति से सृजन और विध्वंस का कारण बनती है। यह शक्ति मूलाधार में उदय होती है। जब यह नाभि के समीप पहुँचती है, तो पश्यन्ती कहलाती है। योगी इसीका साक्षात्कार करते हैं। इसके पश्चात् यह हृदय-कमल में होती हुई कंठ द्वारा वैखरी वाणी के रूप में बाहर आती है। स्वर-ध्वनियों की शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के बीच में सञ्चरित होती है। व्यञ्जन-ध्वनियाँ विश्व-शक्तियों के अभिव्यञ्जन रूप में अथवा उनके अधिष्ठातृ देवताओं के रूप में हैं। कतिपय वर्णों की एकत्र संगति ही कमल अथवा चक्र है। इन चक्रों में ध्यान लगाने से उनसे सम्बन्धित पदार्थों पर आधिपत्य प्राप्त होता है। अध्याय ३२ में भी नाड़ी, प्राण तथा अष्टांगयोग का निरूपण है। पातंजलयोग में वर्णित यम-नियमों के संख्यान से इस संहिता में कुछ वैपरीत्य है। इस संहिता [१८ : २३] के अनुसार यमों में सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय और अहिंसा की गणना है। इनमें सत्य, अस्तेय, अहिंसा और ब्रह्मचर्य पतंजलि-प्रोक्त हैं। अपरिग्रह को छोड़ दिया गया है और उसके स्थान पर दया, धृति, शौच, क्षमा, आर्जव और मिताहार जोड़ दिये गये हैं। नियमों में सिद्धान्त-श्रवण, दान, मति, ईश्वर-पूजन, सन्तोष, तप, आस्तिक्य, ह्री, जप और व्रत गिनाये गये हैं, जिनमें सिद्धान्त-श्रवण स्वाध्याय के स्थान पर है। सन्तोष और तप योगदर्शन के अनुसार हैं। ईश्वर-प्रणिधान के स्थान पर ईश्वर-पूजन, जप और आस्तिक्य तीन रख दिये गये हैं। दान, मति, ह्री और व्रत अधिक जुड़े हुए हैं। शौच को यमों में सम्मिलित कर दिया है। पातंजलयोग [२ : ३०, ३२] में वर्णित यम और नियमों की संख्या अधिक वैज्ञानिक है। उसमें यम सामाजिक और नियम व्यक्तिगत विकास के द्योतक हैं। इस संहिता में दोनों को एक दूसरे में सम्मिलित कर दिया गया है और संख्या बढ़ा दी गई है।

ऊपर अहिर्बुध्न्य-संहिता में वर्णित जिन विविध मन्त्र-चक्रों और विभिन्न देवताओं में साहचर्य-सम्बन्ध दिखाया गया है, वह बहुत कुछ मौलिक है और उससे संसार-चक्र के मूल में निहित दिव्य तत्वों और नियमों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पांचरात्रसाहित्य का अधिकांश भाग इन्हीं देवताओं की मूर्तियों, मन्दिरों और अर्चा-विधियों के वर्णन से भरा पड़ा है। अर्चा-विधि के पाँच प्रकार नीचे लिखे अनुसार हैं।

१—अभिगमन···मन, वचन, कर्म से देव-प्रतिमा में ध्यान केन्द्रित करके मन्दिर जाना।

२—उपादान···धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा की सामग्री का संचय करना।

३—इज्या···मन्दिर में जाकर विधिपूर्वक पूजन करना।

४—स्वाध्याय···जिस देवता की पूजा करनी है, उसके मन्त्र का विधि-पूर्वक जाप करना।

५—योग···देव-मूर्ति का ध्यान करना और उसके स्वरूप एवं गुणों के चिन्तन में तन्मय हो जाना।

इस विधि द्वारा पूजा करने से भक्त के पाप नष्ट होते हैं और वह भगवान् को प्राप्त करता है।

उपसंहार—पांचरात्र-साहित्य परिमाण में विशाल है। सामान्यतः उसमें चार विषयों का वर्णन है: ज्ञानपाद जिसमें ब्रह्म, जीव तथा सृष्टिसम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त आते हैं, योगपाद जिसमें यौगिक क्रियाओं का उल्लेख है, क्रियापाद जिसमें मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण की विधि वर्णित है और चर्यापाद जिसमें साम्प्रदायिक पूजन-विधान, वर्णाश्रम एवं पर्व आदि का उल्लेख है। पद्म तथा विष्णु-तत्त्व संहिताओं में ये चारों विषय पाये जाते हैं, परन्तु अधिकांश संहिताएँ क्रियापाद और चर्यापाद दो विभागों का ही वर्णन करती हैं। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में प्रतिपादित दिशाओं का विकास ही यद्यपि इनका केन्द्र-बिन्दु रहा है, फिर भी शैव, शाक्त और तान्त्रिक सिद्धांतों का भी इनमें पर्याप्त मिश्रण है। वैष्णव अपने माथे पर जो तिलक लगाते हैं, उसकी दो श्वेत रेखाएँ विष्णु का प्रतिनिधित्व करती हैं और उनके बीच की लाल रेखा विष्णु की शक्ति का प्रतिरूप है। यह शक्ति शाक्तों अथवा तांत्रिकों की शक्ति के ही समान है।

भागवत-सम्प्रदाय को वैदिक-सम्प्रदाय सिद्ध करने के लिये कतिपय वैष्णव आचार्यों ने उसे ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त से सम्बद्ध किया है। यह सूक्त वैष्णवदर्शन का मुख्य आधार बन गया है। परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि वैदिक वाङ्मय के समस्त विभाग इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। पुराणों में विष्णु, नारद, भागवत, गरुड, पद्म और वराह जो सात्विक पुराण कहलाते हैं, पाञ्चरात्रों के पक्ष में हैं। स्मृतियों में वशिष्ठ, हारीत, व्यास, पाराशर और काश्यप स्मृतियाँ पाञ्चरात्रसिद्धान्तों का समर्थन करती हैं। महाभारत, गीता, विष्णुधर्मोत्तर, प्राजापत्य स्मृति, इतिहाससमुच्चय, हरिवंश, वृद्ध मनु, शांडिल्यस्मृति और ब्रह्माण्डपुराण भी इस सम्प्रदाय का पक्ष ग्रहण करते हैं।[1] परन्तु कूर्मपुराण, स्कन्दपुराण, शाम्बपुराण, सूतसंहिता, बृहन्नारदीयपुराण, लिङ्गपुराण, आदित्य तथा अग्निपुराण पाञ्चरात्रों की निन्दा करते हैं। विष्णु, शातातप, हारीत, बोधायन और यम-संहिताएँ भी पाञ्चरात्रों एवं उनके सहयोगियों का विरोध करती हैं। आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्र २, २, ४२ से ४५ तक के शारीरिक भाष्य में पाञ्चरात्रों की आलोचना करते हुए उन्हें अवैदिक माना है। रामानुज ने इसी स्थल के श्रीभाष्य में पाञ्चरात्र मत को सांख्य, योग, पाशुपत और वेदों के समान स्वतःप्रमाण लिखा है, यथा :

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥ श्रीभाष्य, २, २, ४२

रामानुज के इस मन्तव्य के आधार पर ही पाञ्चरात्रमत वैदिक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह उसी की भाँति स्वतःप्रमाण के उच्च सिंहासन पर बिठाया जा रहा है।

पांचरात्र-साहित्य का अनुसरण करने वाली कुछ वैष्णव-उपनिषदें हैं, जो निश्चितरूप से उसके पश्चात् बनी हैं। अव्यक्तोपनिषद्, कलिसन्तरणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, गरुडोपनिषद्, गोपालतापिनी, गोपालोत्तरतापिनी, तारासारोपनिषद्, त्रिपादविभूति महानारायण-उपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, नृसिंहतापिनी, नृसिंहोत्तरतापिनी, रामतापिनी, रामोत्तरतापिनी,

---

१. S. N. Das gupta : 'A History of Indian Philosophy.' P. 20.

रामरहस्य, वासुदेव आदि ऐसी ही उपनिषदें हैं। उपनिषद्-ब्रह्मयोगी ने इन उपनिषदों पर टीका लिखी है। ये उपनिषदें अनावश्यक विवरणों से ओतप्रोत हैं और विशिष्ट मन्त्रों के जाप का वर्णन करती हैं। पांचरात्र-साहित्य से इनका बहुत न्यून सम्बन्ध है। नृसिंहतापिनी और गोपालतापिनी उपनिषदों का प्रचार गौडीय वैष्णवों में रहा है।[1]

श्रौतसूत्रों का अनुसरण करने वाले वैदिक विद्वान् पांचरात्र वैष्णवों को सर्वधर्मबहिष्कृत समझते रहे हैं। पांचरात्रों ने अपनी वृत्ति सामञ्जस्यकारिणी बनाई और धीरे-धीरे वैदिकों के साथ मेलजोल स्थापित करके वे उनके अन्दर प्रवेश कर गये। प्रारम्भ में वैदिकों के प्रति उनकी विरोधी भावना अवश्य थी, परन्तु कालान्तर में वह भावना विरोधी न रहकर अपने रक्षण में अधिक तत्पर रही। अन्त में एक दिन ऐसा भी आया, जब पांचरात्रों ने वेद की वही मान्यता स्वीकार की, जो ब्राह्मणों को अभिमत थी। ब्राह्मणवर्ग भी धीरे-धीरे वैदिक के स्थान पर भागवत कहलाने में गौरव का अनुभव करने लगा। 'अन्तःशाक्ताः बहिःशैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः' की उक्ति भी चलती रही, पर अहिंसा-प्रधान वैष्णव धर्म ने अपनी जो छाप जनसमाज पर लगाई, वह व्यापक रूप धारण करती चली गई। आज वैष्णव धर्म वेद-विपरीत नहीं, वेद-सम्मत समझा जाता है, यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में वह वैदिकों पर छींटे भी कसता रहा है। अष्टछापी रचनाओं के अध्येता इस तथ्य से अवश्य अवगत होंगे।

---

१. S. N. Das gupta 'A History of Indian Phylosofy. P. 13. Edi. 1940.

वैखानस-आगम

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह आगम मरीचि ऋषि द्वारा निर्मित सिद्ध होता है। इसका सम्पादन श्री के० साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् ने १९३५ में किया था। यह अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावलि न० १२१, चित्रोदयमञ्जरी, ग्रन्थाङ्क १० में प्रकाशित हुआ है। विद्वान् सम्पादक ने इस ग्रन्थ की भूमिका मे विखनस ऋषि के सम्बन्ध में कतिपय ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार विखनस ऋषि नारायण के पुत्र थे। नीचे लिखे श्लोक इस विषय पर अधिक प्रकाश डालते हैं :

> नारायणः पिता यस्य माता चापि हरिप्रिया।
> भृग्वादिमुनयः पुत्राः तस्मै विखनसे नमः॥
> नमस्ते भगवन् ब्रह्मन् नमस्ते ब्रह्मणः सुत।
> त्वमेव सर्वं वेत्तासि त्वमेव ब्रह्मणः प्रियः॥ अर्चनाधिकार

इसी प्रकार के शब्द खिलाधिकार के निम्नांकित श्लोक में आये हैं :

> ब्रह्मपुत्र मुनिश्रेष्ठ त्वमेव ब्रह्मणः प्रियः।
> त्वमेव सर्वं वेत्तासि त्वमेव वदतां वरः॥

अर्चनाधिकार और खिलाधिकार के इन श्लोकों से सिद्ध होता है कि विखनस नारायण के पुत्र थे। विखनस के पुत्रों में भृगु, मरीचि आदि ऋषियों की गणना है। विखनस की माता का नाम हरिप्रिया था। विखनस की एक संज्ञा ब्रह्मन् भी है।

नरसिंह वाजपेयी, जो माधवाचार्य के पुत्र थे, स्वलिखित 'प्रतिष्ठाविधि-दर्पण' में वैखानस-आगम के ऋषि-क्रम का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

> नारायणो ब्रह्मण आह सर्वं, वैखानसं वैदिकमंत्रयुक्तम्।
> सोऽयं विराजो विखना मुनीन्द्रः स काश्यपादेरवदत् तदेतत्॥

इस प्रमाण से वैखानसों की आचार्य-परम्परा में सर्वप्रथम नारायण आते हैं। नारायण के पश्चात् विखनस, विखनस के पश्चात् काश्यप और काश्यप के पश्चात् मरीचि का नाम है। वैखानस-आगम इन्हीं अन्तिम मरीचि ऋषि की रचना है।

विखनस नारायण और लक्ष्मी के औरस पुत्र थे। ब्रह्मा नारायण के नाभि-जन्य कमल से उत्पन्न हुए थे। अतः दोनों ही नारायण के पुत्र हैं। ब्रह्मा की संज्ञा भी विखनस-आगम के पढ़ने से विखनस हो सकती है। पीछे हमने पाञ्चरात्र-साहित्य को महाभारत के साक्ष्य से मेरुगिरिनिवासी चित्रशिखण्डी नाम के सात ऋषियों द्वारा निर्मित माना है। इन सात ऋषियों में सबसे पहले मरीचि का नाम आता है। वैखानस-आगम का प्रवर्तन भी इन्हीं मरीचि ऋषि द्वारा हुआ। अतः दोनों आगमों में समता होनी चाहिये। यह समता कई बातों में दिखाई देती भी है। दोनों आगम नारायण को परमदैवत मानते हैं। मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-पूजन की पद्धतियाँ भी दोनों में लगभग एक जैसी हैं, परन्तु जैसा हम लिख चुके हैं, वैखानस-आगम वैदिकों के अधिक मेल में हैं। उन्हें विशुद्ध वैष्णव-आगम भी कहा जाता है। पांचरात्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा नहीं रही है। उनमें वैष्णव, अवैष्णव आदि कई प्रकार के तत्त्वों का मिश्रण है। पांचरात्र-साहित्य का विवरण देते हुए उसके अन्त में हमने भी इसी मत को ग्राह्य समझा है। ब्रह्मपुराण के ज्ञान-खण्ड में लिखा है :

> रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।
> तेनेदं पञ्चरात्रं च प्रवदन्ति मनीषिणः॥
> पञ्चरात्रं सप्तविधं ज्ञानिनां ज्ञानदं परम्।
> ब्राह्मं शैवं च कौमारं वासिष्ठं कापिलं परम्॥
> शौनकीयं नारदीयमिदं सप्तविधं स्मृतम्।

इन श्लोकों के आधार पर कहा जा सकता है कि पांचरात्रसम्प्रदाय में ब्राह्म, शैव, कौमार [स्कन्दमत], वासिष्ठ, कापिल [सांख्यमत], शौनकीय [पौराणिक-सम्प्रदाय] और नारदीय [भक्ति-सम्प्रदाय] सात सम्प्रदायों का समावेश है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार पाणिनि के समय में ब्रह्मा, शिव, स्कन्द आदि कई देवताओं के नाम पर मन्दिर बनते थे और उन मन्दिरों में इन देवताओं की प्रतिमा का पूजन भी होता था। अतः इन देवताओं से सम्बन्धित सम्प्रदायों का प्रचार उन दिनों अवश्य रहा होगा। डाक्टर भंडारकर ने भी अपने ग्रन्थ 'Vaishnavism, Shaivism and miner religions system.' में इन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। कपिलप्रोक्त सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों का

समावेश पांचरात्रमत में हुआ है, ऐसा महाभारत के साक्ष्य से ही स्पष्ट है। शौनक ऋषि का नाम पुराणों में बाहुल्य से आया है। उन्होंने अपने समय में वैदिक तथा पौराणिक साहित्य के उद्धार का श्लाघनीय कार्य किया था। उनके नाम से कई वैदिक ग्रन्थों की प्रसिद्धि है। महाभारत ने पांचरात्रमत में वेदारण्यकमतों का समावेश भी माना है[1]। वासिष्ठ मत योग के लिये प्रसिद्ध है। इसका भी समावेश पांचरात्रमत में है। नारदीय भक्तिमत तो पांचरात्रों की विशेषता ही है। अनेक सम्प्रदायों को अपने साथ ले चलने का श्रेय, इस प्रकार, पांचरात्रसम्प्रदाय को ही है और जैसा हम पीछे लिख चुके हैं पांचरात्रमतानुयायी वैष्णवों ने अपनी इसी उदार भावना के कारण वेद-बाह्य, देशी-विदेशी सभी व्यक्तियों को अपने अङ्क में आश्रय दिया था। वैष्णव-सम्प्रदाय की यह नीति परवर्ती युगों में भी दिखाई देती है। मुगलकाल में रहीम, रसखान आदि अनेक मुसलमान अपने को वैष्णव कहते थे। आचार्य वल्लभ ने भी अपने अनुयायियों के लिये जातिगत विभेद-भावना को प्रश्रय नहीं दिया था। उन दिनों 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि कों भजै सो हरि कौ होई', इस उक्ति का प्रभूत प्रचार था।

वैखानस-सम्प्रदाय पांचरात्रों की अपेक्षा श्रौत विधि-विधानों के साथ अधिक चिपटा रहा। वैखानसों की अपनी संहिता तथा अपने श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र हैं। पांचरात्रों की भाँति नारायण की प्रतिष्ठा तथा अर्चा का विशिष्ट विधान इनके भी अन्तर्गत है।

जैसे लिखा जा चुका है, वैखानस-आगम मरीचिप्रोक्त है। इसमें ७० पटल [अध्याय] हैं। यह सम्पूर्ण रूप से गद्य में लिखा गया है। वैखानस-आगम के प्रारम्भ में ऋषि महामुनि मरीचि से प्रश्न करते हैं: 'किस मार्ग से, किन मन्त्रों के द्वारा, किस देव की अर्चना करते हुए, किन लोकों को प्राप्त किया जाता है?' मरीचि उत्तर देते हैं: 'श्रुति-अनुकूल मार्ग से चतुर्वेदोद्भव मन्त्रों के द्वारा नारायण की पूजा करनी चाहिये। इससे विष्णु के साथ सालोक्यादि पद की प्राप्ति होती है। नारायण परब्रह्म हैं, परम ज्योति हैं, अक्षर हैं, सब भूतों के आधार हैं, सर्वात्मक, सनातन और परमपुरुष हैं। भक्त को

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४८, श्लोक ८१.

चाहिये कि वह अग्नि में नित्य होम करने के बाद, घर में या मन्दिर में भक्तिपूर्वक नारायण विष्णु भगवान् की नित्य अर्चना या आराधना करे। वैखानससूत्रों में कथित विधान के द्वारा वह निषेकादि संस्कारों से संस्कृत आचार्य, अर्चक, परिचारक, स्थापक और ऋत्विजों का वरण करे। यह आराधन दो प्रकार का है: अमूर्त और समूर्त। अग्नि में जो हवन किया जाता है, वह अमूर्त है। प्रतिमा का अर्चन करना समूर्त आराधन है। यजमान के अभाव में भी उसे यह आराधना अविच्छिन्न रूप से करनी चाहिये। विमानार्चन अर्थात् सिंहासन पर आसीन देव-प्रतिमा की पूजा समस्त यज्ञों का फल प्रदान करती है। उससे समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं, ऐसा ब्रह्मा ने कहा है।'

द्वितीय पटल में साधक के विशेषणों का वर्णन करते हुए मरीचि लिखते हैं: 'साधक निषेकादि संस्कारों से संस्कृत, विप्र और वेदविद् हो। उसे नित्य स्वाध्याययुक्त, पत्नी और अपत्य से संयुक्त गृहस्थ और दयादि शुभ लक्षणों से समन्वित होना चाहिये। वह क्रियामार्गज्ञ, ज्ञानयोगवेत्ता, जितेन्द्रिय, नित्य-विधान-परायण, निश्चल, नित्यार्चनतत्पर तथा भक्तिमन्त वैष्णव हो। इससे सिद्ध होता है कि वैखानस-आगम वेद पर आधारित है। उसका अनुयायी और साधना में निरत साधक वेद-ज्ञाता होता है। पत्नी और अपत्य से संयुक्त गृहस्थ का विशेषण वैखानसों को घर-बार से पृथक् नहीं करता। यही धारणा हम पीछे अभिव्यक्त कर चुके हैं। वैखानस-मतानुयायी गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी जितेन्द्रिय और ध्यान-परायण, अविचल योगी हो सकता है। यही भावना सिद्धों के सहज सुख से ध्वनित होती है और सहजियासम्प्रदाय वाले इसी मत के अनुयायी हैं। कबीर भी इसी कोटि के थे। वैखानससम्प्रदाय में वेद-मान्यता के साथ प्रतिमा का अर्चन, ध्यान, ज्ञान, योग और भक्तिभाव की प्रधानता है।

आगे के पटलों में मन्दिर तथा प्रतिमाओं के निर्माण का विस्तारयुक्त एवं विधान-विवरण-सहित वर्णन मिलता है। मन्दिर-निर्माण के लिये सर्वप्रथम भूमि का शोधन करना पड़ता है। उपयुक्त भूमि को खोजकर ही मन्दिर-निर्माण-सम्बन्धी अन्य विधान किये जा सकते हैं। भूमि-शोधन के पश्चात् उसे हल से जोतना चाहिये। इस विधि का नाम कर्षण है। कर्षण के पश्चात् धान्य-वपन किया जाता है। इसके पश्चात् शिलेष्टका-विधि होती है, जिसमें

मन्दिर के निर्माण के लिये पत्थर तथा ईंटों का प्रबन्ध करना होता है। इसके पश्चात् शिलाओं का ग्रहण एवं स्थापन किया जाता है। तदनन्तर भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ होता है। भवन-निर्माण में प्राकार, गोपुर, गर्भागार तथा मुख-मण्डप विभागों की प्रधानता है। मुख-मण्डप के पश्चात् शैया-सोपान, विमान अर्थात् प्रतिमा को आसीन करने के लिये सिंहासन और फिर मूर्ति की प्रतिष्ठा के विधान आते हैं। मन्दिर के शिखर, तोरण, स्तम्भ, द्वार तथा प्राकार किस प्रकार के होने चाहिये, इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। देवालयों में मूर्ति-निर्माण से लेकर उसकी प्रतिष्ठा तक के विविध विवरण इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। मन्त्र-विनियोगपूर्वक कर्मकांड के विपुल विधान भी इसमें विद्यमान हैं। देवालय में किस देवता की मूर्ति कहाँ पर हो, उसके लिये किस प्रकार की यज्ञशाला हो तथा प्रपा (प्याऊ) का प्रबन्ध किस स्थान पर हो, इस सबका विस्तृत वर्णन किया गया है। श्री तथा भूमि देवियों की पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठा-विधि, सात कलशों से स्नान कराना, अर्चकों की विधिगत विशेषताएँ, आग्रयणविधि, स्नपनविधि, अर्चना-पुष्प, अर्चना-विधि, उत्सव-विधान, ध्वजारोहण आदि के वर्णन के साथ पूजन की क्रिया में जो प्रमाद हो जाता है, उसके प्रायश्चित्त की भी विधि दी गई है। नारायण के दिव्य भवन के वर्णन में पद्मपुराण के वृन्दावन-वर्णन की कतिपय बातों का समावेश है। नाड़ी-चक्र का वर्णन भी इस आगम में पाया जाता है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में मरीचि ऋषि लिखते हैं: 'मृत्यु के पश्चात् जीव आकाश बनकर वायु में विचरण करता है, वायु बनकर अग्नि में, अग्नि बनकर जल में, जल बनकर बादल में और फिर बादल बनकर भूमि पर वर्षा के साथ ओषधि-वनस्पतियों में प्रवेश करता है। ओषधियों से वह अन्न में, अन्न से शुक्र में और उसके पश्चात् स्वयोनि में जाता है। (पटल ६९)

पटलसंख्या ७० में जीव का देहधारण करके माया के वशीभूत होना, काम-क्रोधादि में पड़ना, पुनः पुनः जन्म लेना और स्वर्ग तथा नरक के सुख-दुःख रूपी फल प्राप्त करना, भगवान् नारायण की उपासना से माया-बन्धन से छूटकर भवसागर से पार होना और सालोक्य, सायुज्य मोक्षादि का विस्तृत वर्णन है।

मरीचि के अनुसार आराधन के चार प्रकार हैं: जप, अग्निहोत्र, अर्चना और ध्यान। आराधक को सावित्री अर्थात् गायत्री का जाप करके अष्टाक्षर वा द्वादशाक्षर मन्त्रों से भगवान् का ध्यान करना चाहिये। परम पुरुष ही विष्णु

हैं। विष्णु का अंश रूप पुरुष सत्य है। सदा विष्णु का अंश अच्युत और सर्वव्यापी का अंश अनिरुद्ध है। इस प्रकार धर्मादि गुणों से भगवान् के चार रूप हैं: परमपुरुष धर्ममय है, सत्यरूप ज्ञान और सर्व तेजों से युक्त है, अच्युतरूप अपरिमित ऐश्वर्यमय है और अनिरुद्ध रूप महान् वैराग्यमय तथा संहारस्वरूप है। वैखानस-आगम के इस मत से पांचरात्रों का मत मेल नहीं खाता। पांचरात्रों में भगवान् विष्णु के चतुर्व्यूह की जो कल्पना की गई है, वह सांख्यप्रोक्त सृष्टिरचना के क्रम का अनुसरण करती है। वैखानसों में भगवान् के जो चार रूप ऊपर लिखे क्रम के अनुसार उपलब्ध होते हैं, उन्हें पौराणिकों की देवत्रयी में सम्मिलित किया जा सकता है। अनिरुद्ध का वैराग्यमय तथा संहारस्वरूप होना शिव और रुद्र का स्मरण कराता है। अच्युत का अपरिमित ऐश्वर्यशाली होना विष्णु के लक्ष्मी-संयुक्त रक्षक रूप की ओर संकेत करता है। सत्य का सज्ञान और तेजोयुक्त रूप ब्रह्मा के ज्ञान का प्रतिनिधि है। परमपुरुष धर्ममय हैं। उनका धर्म इसी देवत्रयी पर आधारित है। पांचरात्रों की जयाख्यसंहिता के शुद्ध सर्ग में भगवान् वासुदेव से जो अच्युत, सत्य और पुरुष तीन की उत्पत्ति का वर्णन है, वह भी अच्युत और सत्य दो नामों में तो मेल खाता है, परन्तु पुरुष को वहाँ अनिरुद्ध की संज्ञा प्राप्त नहीं है। वैखानस-आगम में विष्णु के अंशरूप पुरुष को ही सत्य कहा गया है। पांचरात्रों के षड्गुणोपेत भगवान् तथा उनके तीन आध्यात्मिक रूपों के व्यूह खींच-तान कर इनके समानान्तर रखे जा सकते है, परन्तु दोनों में पूर्ण एकत्व का स्थापित करना कठिन है।

वैखानस तपस्वी गृहस्थों का सम्प्रदाय कहा जा सकता है, जिसने वेद-मर्यादा को कभी भङ्ग नहीं होने दिया। पांचरात्रसम्प्रदाय वाले वेद-मर्यादा के समकक्ष रहने का ही नहीं, उससे भी ऊपर उठने का प्रयत्न करते रहे हैं। मर्यादा-भङ्ग भी इनके यहाँ अन्तिम स्थिति में प्रवेश के लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य समझा गया है। वैखानसों में पांचरात्रों के तप्तमुद्रांकन विधेय नहीं हैं और जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, ये अङ्कन वैदिक विधानों के अनुकूल नहीं प्रतीत होते। याज्ञिक कर्मकांड वैखानससम्प्रदाय में विशेषरूप से मान्य रहा है। पांचरात्रसम्प्रदाय वालों ने प्राणयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि की स्थापना करके उसकी अवहेलना की है।

वैखानस-धर्मसूत्र

वैखानस-धर्मसूत्र नाम का एक ग्रन्थ रामानुजाचार्य औरिएण्टल इंस्टीट्यूट, प्रकाशन की संख्या २ में मद्रास लॉ जर्नल प्रेस, मेलापुर, मद्रास से प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन की तिथि नहीं दी है। इसके सम्पादक श्री के० रङ्गाचार्य एम० ए० हैं। प्रकाशित वैखानस-धर्मसूत्र में प्रवरखण्ड भी सम्मिलित है। गार्ग्य गोविन्दाचार्य स्वामी ने इसका उपोद्घात लिखा है।

वेदमन्त्रों का जो विनियोग ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रदर्शित किया है, उसीको काल-क्रम से प्रवृद्ध एवं विकसित रूप में सूत्रग्रन्थों में निबद्ध किया गया है। ये सूत्र श्रौत, गृह्य तथा धर्म तीन प्रकार के हैं और वेद के छः अङ्गों में कल्प सूत्रों के अन्तर्गत आते हैं। श्रौतसूत्रों में यज्ञ, गृह्यसूत्रों में गर्भाधानादि संस्कार और धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम धर्मादि के विषयों का प्रतिपादन है। कृष्ण-यजुर्वेद के कल्पसूत्रोंमें आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि, बोधायन, भारद्वाज, मानव और वैखानस-सूत्रों की गणना है। चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की प्रधान शाखायें पांच हैं: आपस्तम्ब, बौधायन, सत्यासाढ, हिरण्यकेशि तथा औखेय। वैखानस श्रौतसूत्र के भाष्यकार श्री वेंकटेश के अनुसार वैखानसों का सम्बन्ध इसी औखेय शाखा के साथ था, यथा :

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥[1]

आचार्य रामानुज ने पांचरात्रसंहिताओं का अधिक प्रचार किया और उनके पश्चात् यह प्रचार बल पकड़ता गया। संभव है, इसी हेतु वैखानस-साहित्य अब तक दबा पड़ा रहा है।

वैखानस श्रौतसूत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हो सके, परन्तु जो धर्मसूत्र प्रकाशित हुए हैं, वे स्मृतियों में वर्णित धर्म से किसी भी प्रकार पृथक् प्रतीत नहीं होते। 'वैखानसे वानप्रस्थधर्माः प्रतिपादिताः' अर्थात् वैखानससूत्रों में वानप्रस्थ के धर्मों अथवा कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है, यह उक्ति भी सर्वांशतः सत्य नहीं है, क्योंकि वैखानस धर्मसूत्रों में प्रत्येक आश्रम और प्रत्येक वर्ण के धर्मों का निरूपण हुआ है। वैखानससम्प्रदाय वनस्थ ब्रह्मचारियों का सम्प्रदाय रहा है। इसीसे श्रमणसंस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ।

बौधायन धर्मसूत्र ३:३:१,१४,१७,१८ में विशेष रूप से वैखानससम्प्रदाय के आधार पर ही तृतीयाश्रम के भेद और उनके आचारों का वर्णन हुआ है। जर्मनी के एक विद्वान् डा० क्लौच ने वैखानस गृह्यसूत्रों पर जर्मन भाषा में एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उन्होंने वैखानससूत्रों में आपस्तम्ब सूत्रों की ही भाँति पाणिनीय अनुशासन-विषयक प्राचीन प्रयोगों के अभाव का उल्लेख किया है। नक्षत्र, ग्रह-क्रम, बुधवारादि प्रकार का जो यवन-ज्ञान है और जो प्राचीन भारतीयों को अज्ञात था, वह वैखानससूत्रों में पाया जाता है, ऐसी स्थापना करके डा० क्लौच ने इन सूत्रों को शकों और हूणों के आगमन के पश्चात् ईसा की तीसरी शताब्दी में निर्मित हुआ माना है। परन्तु वैखानस-सूत्रों की प्राचीनता कई कारणों से सिद्ध है। पीछे हम जिन देवताओं की प्रतिमाओं के निर्माण का उल्लेख कर आये हैं, वे ईसा से कम से कम छः सौ वर्ष पहले इस देश में मान्यता प्राप्त कर चुकी थीं। ईसा की परवर्ती शताब्दियों में ब्रह्मा और स्कन्द की मूर्तियों की पूजा अप्रचलित हो गई थी। अतः जिस वैखानस-साहित्य में इन मूर्तियों की पूजा की मान्यता वर्णित है, वह ईसा से पूर्व का है। सम्भव है, प्राचीन वैखानससूत्र अपने मूल रूप में सुरक्षित न रह सके हों। इन सूत्रों का नवीन संस्करण हुआ हो और उसमें अपने युग के अनुरूप व्यवहारों का सम्मिश्रण कर दिया गया हो। उदाहरण के लिये वैखानस धर्मसूत्रों में जो वर्णसंकर जाति-विभाग पाया जाता है, वह निश्चित रूप से बौद्धयुग के बाद का है। परन्तु बुधवार आदि का ज्ञान प्राचीन भारतीयों को नहीं था, ऐसा मानना असंगत है।

वैखानस शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं : ऋषिविशेष, तृतीयाश्रमी या वनस्थ व्रतचारी और वैखानससूत्राध्यायी। तैत्तिरीय आरण्यक १:२३ के अनुसार वैखानस शब्द ऋषिपरक है। वैखानस ऋषि बालखिल्यादि के समान तपःपरायण तथा वनस्थ वृत्ति वाले थे। महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २५०, श्लोक १७; रामायण, किष्किन्धाकाण्ड ४०:५७ तथा ४३:३३,३५ और शकुन्तलानाटक, १:१० तथा १:२१ इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं। शकुन्तला नाटक में 'ततः प्रविशति आत्मना तृतीयो वैखानसः' तथा 'वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात्' वाक्यों द्वारा वैखानस की प्रशंसा की गई है और उसके प्रति आदर भाव प्रकट किया गया है। मनु कहते हैं :

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत् सदा।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैः वैखानसमते स्थितः ॥ ६:१२

इस श्लोक में वैखानसों की वृत्ति और आचार का वर्णन किया गया है। वैखानस वन में रहते हैं; पुष्प, कन्द और फलों पर निर्वाह करते हैं। कन्द, मूल, फल भी वृक्षों से तोड़े नहीं जाते, समय पाकर जब वे वृक्षों पर ही पक जाते हैं और शीर्ण होकर स्वयं गिर पड़ते हैं, तभी वैखानस उन्हें प्रयोग में लाते हैं।

बालखिल्यादि ऋषि वैखानसव्रत का पालन करते हुए वन में सपत्नीक और अपत्नीक दोनों प्रकारों से रहते थे। इनके अपत्य तथा शिष्य भी इनके साथ ही रहते थे, ऐसा अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में वर्णित कण्वऋषि तथा बाणकृत कादम्बरी में वर्णित हारीतादि ऋषियों के आश्रमविवरणों से ज्ञात होता है। वैखानस धर्मसूत्रों में तथा मन्वादि स्मृतियों में तृतीय आश्रमियों के लिये सपत्नीक या अपत्नीक रहने का द्विविध विधान तो उपलब्ध होता है, परन्तु वहाँ अपत्य को साथ रखने का विधान नहीं है। लिखा यह है कि यदि वानप्रस्थी पत्नी को साथ नहीं ले जाता, तो उसे अपने पुत्रों के साथ गृहस्थाश्रम में ही पत्नी को रहने की आज्ञा देनी चाहिये। संन्यासी निश्चित रूप से अपत्नीक होता है। अपत्य और पत्नी के साथ रहने वाले कतिपय यतियों का वर्णन भागवत में मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि तृतीयाश्रम के अतिरिक्त कुछ ऐसे यति अवश्य थे, जो गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए वनस्थ तपस्वियों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे। वैखानससम्प्रदाय ऐसे ही यतियों का सम्प्रदाय प्रतीत होता है। वैष्णवसम्प्रदाय में अब तक ऐसे यतियों को मान्यता प्राप्त है। स्मृतियों के अनुकूल वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में क्रमपूर्वक जाना पुष्टिमार्ग जैसे वैष्णव सम्प्रदायों को भी अभिमत नहीं है।

वैखानससूत्राध्यायी, जो इस समय दक्षिण भारत में पाये जाते हैं, आपस्तम्बादि सूत्रों के अध्येताओं के समान ही कर्मकांड तथा आचार का पालन करने वाले, पत्नी-पुत्रादि के साथ रहने वाले और नारायण भगवान् की पूजा करने वाले हैं। दक्षिण में पांचरात्र तथा वैखानस दोनों ही विधियाँ भगवान् के आराधन में प्रयुक्त होती हैं। वैखानसों का एक प्रमुख दल तप्तचक्राङ्कन-विधि को आवश्यक नहीं मानता।

वैखानस धर्मसूत्र में चार प्रश्न हैं। प्रथम प्रश्न में ११ खण्ड हैं। द्वितीय प्रश्न में १५, तृतीय प्रश्न में १५ और चतुर्थ प्रश्न में ८ खण्ड हैं। प्रथम प्रश्न में वर्णाश्रम धर्म का निरूपण है। अधिकांश बातें मनु के ही अनुकूल हैं, परन्तु कुछ बातों में भिन्नता है, जैसे : वैखानसधर्मसूत्र प्रथम प्रश्न, तृतीय खण्ड में ब्रह्मचारियों के चार प्रकार वर्णित हैं : गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य और नैष्ठिक। गायत्र ब्रह्मचारी उपनयन के पश्चात् तीन रात्रियों तक क्षार-लवण छोड़कर भोजन करने वाला तथा गायत्री पढ़कर सावित्रव्रत की समाप्ति पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला होता है। ब्राह्म ब्रह्मचारी सावित्रव्रत के पश्चात् पुण्यशील, कुलीन गृहस्थों के घर से भिक्षा माँगकर वेदव्रत का पालन करते हुए बारह या बीस वर्ष गुरुकुल में रहता है। वहाँ सूत्रसहित चार वेद, दो वेद या एक वेद का अध्ययन करके वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। प्राजापत्य ब्रह्मचारी स्नान करके नित्य कर्म करता हुआ, ब्रह्मचर्यशील एवं नारायण-परायण बनता है और वेद-वेदाङ्गों के अर्थ का विचार करके दार-संग्रहण करता है। वह तीन वर्ष से अधिक ब्रह्मचर्य आश्रम में नहीं ठहरता। नैष्ठिक ब्रह्मचारी काषाय, धातु वस्त्र, मृगचर्म या वल्कल धारण करके जटी, शिखी, दण्डी, सूत्राजिनधारी, शुचि, अक्षार-लवणाशी रूप में आत्मविप्रयोग अर्थात् मृत्युपर्यन्त गुरुकुल में रहकर अन्नादि भिक्षाभोजी होता है।

वैखानस धर्मसूत्र के अनुसार जो विवरण चार प्रकार के ब्रह्मचारियों का दिया गया है, वह मनुस्मृति में उपलब्ध नहीं होता। मनु ने २, २१९ में ब्रह्मचारियों के तीन भेद किये हैं : मुण्डितमस्तक, जटावान (जटिल) और शिखाजट। भेद केवल बाह्य शिरस्थानीय केशों से सम्बन्ध रखते हैं। २,२४३ में मनु ने नैष्ठिक ब्रह्मचारी का नाम तो नहीं लिया, परन्तु उसके लक्षण वही लिखे हैं, जो वैखानस धर्मसूत्र में मिलते हैं। ब्रह्मचारी के लिये वेदों का अध्ययन मनु ने भी विहित माना है। वैखानस धर्मसूत्र में अङ्कित भेद परिस्थिति के अनुकूल किये जान पड़ते हैं।

वैखानस धर्मसूत्र प्रथम प्रश्न, पञ्चम खण्ड में चार प्रकार के गृहस्थों का उल्लेख है : वार्तावृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोराचारिक। वार्तावृत्ति वाले कृषक, गोरक्षक और वाणिज्योपजीवी होते हैं। शालीनवृत्ति वाले नियमों के पालक, पाकयज्ञों द्वारा अग्नियों को धारण करके अमावस्या, पूर्णिमा तथा

चातुर्मास्य के दिनों में यजन करने वाले, छः-छः मासों में पशुबन्धयाजी और प्रति संवत्सर में सोमयाजी होते हैं। यायावर हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ से यजन करते और कराते हैं, पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं, दान देते और लेते हैं। इस प्रकार षट्कर्मनिरत होकर नित्य अग्नि-परिचरण तथा अतिथि और अभ्यागतों की अन्न-दानादि द्वारा सेवा करते हैं। घोराचारिक नियमों का पालन करते हुए, यज्ञ करते हैं, कराते नहीं, पढ़ते हैं, पढ़ाते नहीं, दान देते हैं, लेते नहीं। उञ्छ वृत्ति (शिलाग्रहण) पर वे जीवन यापन करते हैं, नारायण-परायण होकर सायं-प्रातः अग्निहोत्र करते हुए मार्गशीर्ष ओर ज्येष्ठ के महीनों में असि-धारा-व्रत का पालन करते हैं और वनौषधियों से अग्निपरिचरण करते हैं। गृहस्थ के ये चार भेद वैखानससम्प्रदाय की विशेषता को स्पष्ट कर देते हैं। मनु ने गृहस्थों के ये भेद नहीं किये। उन्होंने शिलोञ्छादि वृत्तियों का वर्णन किया है, पञ्च यज्ञ को गृहस्थ के लिये आवश्यक कर्तव्य कहा है, इन्द्रियसंयम की प्रशंसा की है, दर्श-पौर्णमास आदि यज्ञों का विधान किया है, अर्थ-संग्रह की आज्ञा देते हुए भी अश्वस्तनिक की प्रशंसा की है, सोमयाग, श्राद्ध आदि को कर्तव्य कर्मों में स्थान दिया है, परन्तु जो कृच्छ्र तपश्चर्या वैखानस 'धर्मसूत्रों में गृहस्थ के लिये विहित समझी गई है और उस आधार पर गृहस्थों के जो भेद किये गये हैं, वे मनु के विधान में दृष्टिगोचर नहीं होते। मनु ब्राह्मीभावना, आचार-मान्यता तथा कर्मकांड पर जितना बल देते हैं, उतना जटिल तपश्चर्या पर नहीं, घोराचारिक जैसे गृहस्थी के उग्र व्रत पर नहीं।

वैखानस धर्मसूत्रों में वानप्रस्थी दो प्रकार के हैं : सपत्नीक और अपत्नीक। सपत्नीक के पुनः चार भेद हैं : औदुम्बर, वैरिञ्च, वालखिल्य और फेनप। औदुम्बर अकृष्ट फल, ओषधि, मूल-फल का सेवन करने वाले, लवण, हिंगु, लशुन, मधु, मत्स्य-मांस, पूत्यन्न (सड़ा गला अन्न), अम्ल (खटाई), दूसरे के द्वारा छुए हुए या पकाए हुए (परपाक) अन्न को वर्जित समझ कर सेवन न करने वाले, देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य की पूजा करने वाले, वन में रहने वाले, ग्राम-परित्यागी, सायं-प्रातः अग्निहोत्र करने वाले, श्रामणक अग्नि तथा वैश्वदेव होम करते हुए तप का आचरण करते हैं। वैरिञ्च प्रातःकाल जिस दिशा का दर्शन करते हैं, उसी दिशा में जाकर प्रियङ्गु, यव, श्यामाक, नीवार आदि उपलब्ध करके उनके द्वारा अपने सम्बन्धित प्राणियों तथा अतिथियों का पोषण

करते हुए अग्निहोत्र करते हैं और आमणक अग्नि वाले बनते हैं। बालखिल्य जटाधारी, चीर-वल्कल आदि द्वारा शरीर को आच्छादित करने वाले, अर्कांग्नि होकर कार्त्तिकी पौर्णमासी के दिन पुष्कल भोजन दान में देकर पुनः उञ्छ-वृत्ति द्वारा अपने सम्बन्धियों तथा अतिथियों का पोषण करते हैं। शेष महीनों में तपस्या द्वारा जीवन धारण करते हैं। इनके लिये सूर्य ही अग्नि होता है। फेनप दण्ड-त्यागी, उन्मत्त, निरोधक, पके तथा गिरे हुए पत्तों का आहार करने वाले, चान्द्रायण व्रत रखने वाले, पृथ्वी पर सोने वाले और नारायण का ध्यान करते हुए मोक्ष के अभिलाषी होते हैं।

अपत्नीक वानप्रस्थ कई प्रकार के होते हैं, जैसे कालशिक, उद्दण्ड-संवृत्त, अश्मकुट्ट, उद्ग्रफली, दन्तोलूखलिक, उञ्छवृत्तिक, संदर्शनवृत्तिक, कपोत-वृत्तिक, मृगचारिक, हस्तादायी, फलखादी, दुग्धाशी, अर्कदुग्धाशी, बिल्वाशी, कुसुमाशी, पाण्डुपत्राशी, कालान्तरभोजी, एककालिक, चतुष्कालिक, कंटकशायी, वीरासनशायी, पंचाग्निमध्यशायी, धूमाशी, पाषाणशायी, अभ्यवगाही, उदकुम्भवासी, मौनी, अवाक्शिरस्, सूर्यप्रतिमुख, ऊर्ध्वबाहुक, अधोबाहुक, एकपादस्थित इत्यादि।

वानप्रस्थी के इन भेदों में जिस कठोर जीवन की साधना निहित है, वह केवल कल्पना द्वारा ही अनुभव की जा सकती है। आज के युग में भी कहीं कहीं पर खोज करने से ऊर्ध्वबाहुक, एकपादस्थित, दुग्धाशी आदि वानप्रस्थी दिखाई दे सकते हैं, परन्तु मानवता के सामान्य स्तर में ऐसी कठोर तपश्चर्या के अब दर्शन नहीं होते। मनुस्मृति में भी वानप्रस्थियों के इन भेदों का वर्णन नहीं है। सपत्नीक और अपत्नीक भेदों की चर्चा तो मनु ने की है, परन्तु कंटक-शायी, कपोतवृत्तिक, अवाक्शिरस् जैसे भेद वहाँ दिखाई नहीं देते। सम्भवतः इन भेदों पर जैनियों के दिगम्बर-सम्प्रदाय और वाममार्गियों अथवा वज्रयानियों के हठयोग का प्रभाव पड़ा हो अथवा ये सभी साधनायें किसी एक ही सामान्य स्रोत से उद्भूत हुई हों। ऋग्वेद आङ्गिरस ऋषियों की घोर तपश्चर्या का उल्लेख करता ही है। मनुस्मृति में वानप्रस्थियों के विविध भेदों का उल्लेख न होते हुए भी सामान्य रूप से उनके लिये जो नियम और व्रतचर्या कर्तव्य के रूप में निर्धारित की गई है, उसमें मृगचर्म, चीर, जटा आदि का धारण, फल-मूल से पञ्चयज्ञ करना, मधु-मांसादि का वर्जन, फालकृष्टादि अन्न

का निषेध, नीवारादि का प्रयोग, देह-शोषण, वृक्ष के मूल में अथवा भूमि पर शयन आदि तपस्विजनोचित बातों का उल्लेख अवश्य है।

वैखानस धर्मसूत्र प्रश्न १ के नवम खंड में संन्यासी का नाम भिक्षुक दिया है। भिक्षुक मोक्षार्थी होते हैं। इनके चार भेद हैं: कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। कुटीचक वे हैं, जो गौतम, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, हारीत इत्यादि के आश्रमों में आठ ग्रास भोजन करते हुए योगमार्ग के तत्त्व को जानने का प्रयास और केवल मोक्ष की प्रार्थना करते हैं। बहूदक वे हैं, जो त्रिदण्ड, कमण्डलु, काषाय, धातु वस्त्र आदि का वेश धारण करने वाले, मधु, मांस, लवण और बासी अन्न का परित्याग करके साधुवृत्त ब्रह्मर्षियों के पास रहते हुए सात घरों से भिक्षा माँग कर मोक्ष के अभिलाषी बनते हैं। हंस वे हैं, जो ग्राम में एक रात और नगर में पाँच रात बसते हुए, उससे अधिक न रहकर गोमूत्र तथा गोमयाहारी अथवा एक महीने का उपवास करने वाले अथवा नित्य चान्द्रायणव्रती बनकर सतत उत्थान की कामना रखते हैं। परमहंस वे हैं जो किसी वृक्ष के मूल में, शून्यागार में अथवा श्मशान में साम्बर अथवा दिगम्बर रूप में निवास करते हैं। इनके अन्दर धर्माधर्म, सत्यानृत अथवा शुद्धि-अशुद्धि का द्वैतभाव नहीं रहता। ये सबको समान समझते हैं, सब में आत्मतत्त्व का अनुभव करते हैं, और स्वर्ण, पत्थर तथा ढेले को एक जैसा मानते हुए समस्त वर्णों से भिक्षा मांग लेते हैं। वैखानस धर्मसूत्रों में सांख्य और योग का भी वर्णन है।

मनुस्मृति में दो प्रकार के संन्यासियों का उल्लेख है: एक वे जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रम-क्रम से परिव्राजक बनते हैं और दूसरे वे जो सीधे ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले लेते हैं। सन्तति उत्पन्न न करके अर्थात् पितृऋण का शोधन किये बिना ही जो संन्यासी बनते हैं, सामान्य रूप में वे मनुस्मृति के अनुसार अधोगति को प्राप्त होते हैं। विशेष अवस्थाओं में उत्कट वैराग्य की अनुभूति होने पर ही किसी असाधारण व्यक्ति को ब्रह्मचर्य से संन्यास में जाने का आदेश दिया गया है। समत्व-भावना, भिक्षा-ग्रहण, इन्द्रिय-निग्रह, जीवन-धारण की कामना से शून्य होना, वर्षा ऋतु में एक स्थान पर ठहरना, ध्यानयोग के द्वारा ब्रह्म का साक्षात् करना आदि ऐसी सामान्य बातें हैं, जो प्रत्येक संन्यासी के जीवन में सम्मिलित होनी चाहिये। मनुस्मृति ने लिङ्गमात्र को अर्थात्

केवल बाह्य वेष-भूषा और ऊपरी आचार-प्रदर्शन को धर्म का कारण नहीं समझा और न संन्यासियों के वे भेद ही किये हैं, जिनका उल्लेख वैखानस धर्मसूत्र में है। वैखानस-सम्प्रदाय के वानप्रस्थी और संन्यासी निवृत्तिपरायणता की ओर अधिक उन्मुख हैं और प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा आरण्यक पथ के पथिक हैं। योगियों के भी कई भेद इन सूत्रों में मिलते हैं, यथा सारङ्ग, एकर्षि, विसरग आदि। पातञ्जल योगदर्शन में इनका कोई उल्लेख नहीं है। इन भेदों में भी निवृत्तिपथ की ही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

द्वितीय प्रश्न के प्रथम आठ खण्डों में पुनः वनाश्रमी और संन्यासी की दिनचर्या का वर्णन है। आठवें खण्ड के उपरान्त नवम एवं दशम खण्डों में सामान्य आरण्यकधर्म का कथन है, जो सभी वर्णों के लिये परिपालनीय समझा गया है। तृतीय प्रश्न में गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के कुछ कर्तव्यों का पुनः वर्णन है और उसके अन्त में वर्ण-मर्यादा तथा अनुलोम एवं प्रतिलोम संकर जातियों का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ प्रश्न में ऋषि, गोत्र तथा प्रवर वर्णित हुए हैं।

वर्णसंकर जातियों का उल्लेख मन्वादि स्मृतियों में भी है। गोत्र और प्रवरों का भी उल्लेख पुराणों में पाया जाता है। परन्तु इनके विवरणों में वैखानस धर्मसूत्र के विवरण से कुछ अन्तर है, जैसे वैखानस धर्मसूत्र प्रश्न ३, खण्ड १३ के अनुसार वैश्य से ब्राह्मणी स्त्री में मागध उत्पन्न होता है, परन्तु मनु मागध की उत्पत्ति वैश्य से क्षत्रिया स्त्री में मानते हैं। इसी प्रकार चतुर्दश खण्ड में वैश्य से क्षत्रिया में आयोगव की उत्पत्ति लिखी है, जिसका कार्य जुलाहे या ठठेरे का है, परन्तु मनुस्मृति के अनुसार आयोगव शूद्र से वैश्य स्त्री में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार के और भी कई भेद दोनों स्थानों पर दृष्टिगोचर होते हैं। हमारी समझ में वर्ण-संकर-विभाग में कुछ ऐतिहासिक सत्य तो अवश्य है, परन्तु स्मृतियों के इस विषय में परस्पर विभिन्न वर्णन यह भी सिद्ध करते हैं कि इस विभाग का अधिकांश कल्पनाप्रसूत है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कुछ ऐसी जातियों का भी उल्लेख है, जो मुसलमान-युग की देन हैं, परन्तु पुराणों तथा स्मृतियों में परवर्ती काल के पण्डितों ने इन्हें भी वर्णसंकर का रूप दिया है, यद्यपि वे किसी विशेष कार्य के करने के कारण विशिष्ट नामों से पुकारी गई हैं। ऐसे क्षेपक हमें पुराणों में बाहुल्य

से मिलते हैं। इन क्षेपकों का एक ही उद्देश्य था; जो कुछ समाज में है, उसे शास्त्रीय ढाँचे में ढाल देना, समाजगत विषमताओं को एक नियम में आबद्ध कर देना। शास्त्रीय दृष्टि से यह कार्य भले ही सङ्गत सिद्ध किया जा सके, परन्तु सामाजिक दृष्टि से इसके जो दूषित परिणाम सामने आये हैं, वे सर्वथा अवांछनीय हैं और समाज-संशोधकों एवं सुधारकों ने उसके विरोध में उच्च स्वर से घोषणा की है।

यज्ञ से मूर्तिपूजा तक

विगत परिच्छेदों में जिस पाञ्चरात्र और वैखानससाहित्य का विवरणात्मक वर्णन उपस्थित किया गया है, उसकी एक प्रमुख विशेषता मन्दिर-निर्माण और देव-विग्रह की पूजा-पद्धति है, जिसे सामान्यतया मूर्ति-पूजा कहा जा सकता है। मूर्ति-पूजा इस देश में कब और कैसे प्रारम्भ हुई, इस सम्बन्ध में विद्वज्जन एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों के मत में मूर्ति-पूजा की पद्धति हमने विदेशियों से ग्रहण की है। संभवतः यूनान और मिश्र दो ऐसे प्राचीन देश हैं, जो बहु-देव-वाद में विश्वास रखते थे और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। इन देशों से जब भारतीय सम्पर्क बढ़ा, तो इनकी प्रतिमा-पूजन की प्रथा भी इस देश में आई[1] और सर्वप्रथम जैनमतानुयायियों ने इनके अनुकरण पर अपने तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठित कीं। जैनधर्म वालों से मूर्ति-पूजा की यह पद्धति शैवों, भागवतों और महायानी बौद्धों ने ग्रहण की। कुछ विद्वानों की सम्मति में गणेश देवता चीन और उसकी संस्कृति से प्रभावित अन्य देशों से आये। शिव को कुछ विद्वान् सेमेटिक देवता मानते हैं। शीतला देवी द्रविड़संस्कृति की देवी मानी जाती है और नाग-पूजा तथा कुबेरपूजा को यक्षसंस्कृति की देन कहा जाता है। अन्य विद्वान् इसके विपरीत धारणा रखते हैं। उनकी सम्मति में मूर्ति-पूजा विदेशी नहीं, इसी देश के मस्तिष्क की उपज है। इस सम्बन्ध में हम भी अपने विचार प्रकट कर देना आवश्यक समझते हैं, जिससे विद्वान् आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा किसी निर्णय पर पहुँच सकें। किसी के विचारों से सर्वांशतः सहमत होना प्रत्येक विद्वान्

---

१. Pt. Jawahar Lal Nehru : The discovery of India. p. 152. (Chapter- India & Greece) 'It is an interesting thought that image-worship came to India from greece. The vaidik religion was opposed to all forms of idol and image-worship.......Greek artistic influence in Afghanistan and round about the frontier was strong and gradually it had its way.'

के लिये आवश्यक नहीं है, फिर भी विचार-सागर का मन्थन कुछ रत्न तो हाथ में रख ही देता है।

भारतीय ऋषि श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ब्रह्माण्ड के साथ जिस बुद्धि-योग का प्रयोग करते थे, उससे उन्हें शाश्वत सत्य के दर्शन हो जाते थे। इसी प्रणाली पर चलते हुए उन्होंने सृष्टि में कार्य करने वाले ऋत और सत्य, दो नियमों का पर्यवेक्षण किया। इन्हीं नियमों के अनवरत अनुशीलन तथा सतत सम्पर्क से प्रभावित हो, उन्होंने यज्ञ संस्था की नींव डाली। वैदिक वाङ्मय में ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं, जो सृष्टि के मूल में विद्यमान याज्ञिक प्रक्रिया की सूचना देने वाले हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता (३–१०) में—

'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वं एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

कहकर इसी तथ्य को प्रकट किया है। ऋग्वेद भी 'यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त' कहकर सृष्टि की सर्व-प्रधान क्रिया यज्ञ का उल्लेख करता है। यज्ञ के इस प्रथम धाम को समझकर ही ऋषियों ने नाना प्रकार के याज्ञिक अनुष्ठानों को जन्म दिया था। ये अनुष्ठान बढ़ते-बढ़ते विराट् जगद्व्याल की सीमा तक पहुँच गये। शतपथ, ऐतरेय, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा श्रौतसूत्रों में यज्ञ के इस विविध क्रिया-कलाप के दर्शन होते हैं। जो यज्ञ भौतिक रूप धारण करते हुए भी, अपने प्रारम्भिक स्वरूप में आध्यात्मिक भावनाओं के प्रतीक थे, वे कालान्तर में प्रतीक न रहकर स्वयं भौतिक सत्य बन गये। भारतीय ऋषियों का ध्यान इस परिवर्तन की ओर गया था। शतपथ ब्राह्मण में ही पाञ्चरात्र यज्ञ के सम्बन्ध में जो कथा आती है, वह स्पष्ट रूप से परिवर्तन की इस दिशा की ओर इंगित करती है। यज्ञों का भौतिक रूप अथवा द्रव्यमय रूप अपनी सीमा का उल्लंघन करता हुआ हिंसा-प्रधान हो चुका था। ब्राह्मणकाल के ऋषि उसे वास्तविक अध्वर अर्थात् अहिंसा-प्रधान रूप देना चाहते थे। संभवतः कुछ समय तक पशु-मांस-लिप्सु याज्ञिकों और सात्विक प्रवृत्ति वाले अहिंसा-प्रधान ऋषियों में पर्याप्त संघर्ष रहा होगा। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में जो इन्द्र, राजा वसु उपरिचर और

उनके पुरोहित बृहस्पति के बीच में इसी प्रसंग को लेकर उपस्थित हुआ है, वह भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। यही कारण है कि स्वयं वेदानुयायियों में वेद के नाम पर दो दल हो गये :—प्रथम प्रवृत्तिमार्गी और द्वितीय निवृत्तिमार्गी। प्रवृत्तिमार्गी हिंसाप्रधान यज्ञों से चिपटे रहे, परन्तु निवृत्तिमार्ग वालों ने कतिपय नवीन पन्थों की उद्भावना की। वैष्णवों का वैखानस सम्प्रदाय निवृत्तिपथगामी है, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं।

वेदमंत्रों का वास्तविक अर्थ और उनका साक्षात् दर्शन परवर्ती ऋषियों की बुद्धि को अग्राह्य हो चला था। महर्षि अरविन्द ने 'वेदरहस्य' के प्रथम भाग में ऐसा संकेत किया है कि उपनिषद् काल के ऋषि भी वेद के सत्य अर्थ से बहुत दूर जा पड़े थे। उन्होंने वैदिक ऋषियों की अनुभूतियों तक पहुँचने के लिये प्रबल प्रयास किया है, फिर भी उन्हें साक्षात् कृतधर्मा नहीं कहा जा सकता। निरुक्तकार ने भी ऐसे असाक्षात्कृतधर्मा व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जो वेदार्थ-प्रणाली तक को विस्मृत कर चुके थे।

निवृत्तिपथगामियों ने वेद के नाम पर चलने वाले हिंसा-प्रधान यज्ञों का बहिष्कार किया, पर वे जनता को अपनी ओर कैसे आकर्षित करें, यह उनके सामने एक समस्या रही होगी। यज्ञनिर्माण की जो विधियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों तथा और सूत्रों में वर्णित हुई हैं, वे विपुल विवरण और अमित अलङ्कारों से संयुक्त हैं। सम्भवतः दूसरे पक्ष वालों ने इसी प्रकार के अलंकृत विधानों को सर्वसामान्य जनता के आकर्षण का उपयुक्त साधन समझा होगा और उन्हें अपनाकर अपने समक्ष उपस्थित समस्या का समाधान किया होगा।

वैष्णव धर्म का प्राचीन रूप प्रमुखतया निवृत्ति-प्रधान है। जिस वैखानस आगम और धर्म के विषयों का विवरण हम पीछे दे चुके हैं, वह इसी विशेषता क' प्रकट करता है। वैष्णवों की दूसरी शाखा पाञ्चरात्रसंहिताओं से सम्बन्ध रखती है। महाभारत इस शाखा को प्रवृत्ति लक्षण वाली कहता है, परन्तु इसमें भी हिंसा-प्रधान यज्ञों की नहीं, अहिंसा भाव की ही प्रधानता रही है। वैष्णवों की दोनों शाखाओं में वैदिक कर्मकांड का वह प्रवृत्तिमार्गी स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, जो बृहस्पति जैसे देव-पुरोहित तक को हिंसा के लिये प्रेरित करता है। ब्राह्मणग्रन्थों के याज्ञिक विवरणों से वैष्णवों ने अपने सम्प्रदाय के आकर्षण के लिये जो उपकरण संगृहीत किये, वे मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-

प्रतिष्ठान के रूप में दिखाई दिये। यज्ञों के हिंसामय उपकरणों का उन्होंने सर्वथा परित्याग कर दिया और द्रव्यमय यज्ञों की ओर से भी अपना हाथ खींच लिया। अहिर्बुध्न्य तथा ईश्वरसंहिताओं में, जो पाञ्चरात्र साहित्य के अन्तर्गत हैं, और वैखानस आगम में मन्दिर-निर्माण सम्बन्धी जो विस्तृत विवरण आते हैं, और प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा एवं पूजा-विधि से सम्बन्धित जिस विस्तृत क्रिया-कलाप का वर्णन है, वह बहुत कुछ उसी रूप का है, जिस रूप का यज्ञसम्बन्धी विवरण हमें ब्राह्मणग्रंथों में उपलब्ध होता है। अतएव हमारी सम्मति में मूर्तिपूजा का मूलरूप यज्ञों के ही अन्तर्गत है। यज्ञसंस्था ही विकसित होती हुई अपनी हीनताओं के परित्याग एवं अलंकृत प्रसाधन-सामग्री के ग्रहण द्वारा मूर्तिपूजा के रूप में परिणत हो गई। यद्यपि प्राचीन हिंसक पुरोहितों के समान आगे चलकर शक्तिमतानुयायियों ने अपनी इष्ट देवी कालिका की मूर्ति पर पशु-बलि चढ़ाकर मूर्तिपूजा को भी हिंसाप्रधान यज्ञ की वेदी की भाँति रक्तरञ्जित कर दिया, फिर भी मूर्तिपूजा का वैष्णव रूप परमसात्विक और अहिंसामय ही रहा है।

यज्ञसंस्था स्वयं सृष्टि के निराकार ऋत एवं सत्य नियमों का साकार एवं मूर्त रूप है। हमारे पूर्वजों ने प्रत्येक वस्तु के अन्तस्तल तक पहुँचने और उसे पहिचानने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। जहाँ उन्होंने किसी मूर्त सत्ता के अन्तस् में विद्यमान निराकार या अमूर्त तत्त्व के दर्शन किये हैं, वहाँ उन्होंने अमूर्त को मूर्त रूप में परिणमित तथा उसके नाना शाखाओं में फूटते हुये विशाल रूप को भी देखा है। किस प्रकार ओंकार अक्षर से ४९ स्वर एवं व्यंजन निकले और उनसे किस प्रकार वाङ्मय का विस्तार हुआ, ऋत से सत्य, प्राण से रयि, नाद से बिन्दु और नाम से रूप की किस प्रकार समानान्तर सृष्टि हुई, शब्द के साथ अर्थ और अर्थ के साथ शब्द किस प्रकार समकक्ष गति से चलते हैं, किस प्रकार मुख से बाहर आने वाला अक्षर ध्वनि-तरंगें उत्पन्न करता हुआ आकृतिविशेष को जन्म देता है, और आकृति के साथ वह सतरंगी लहरों से किस प्रकार अपना रङ्ग ग्रहण करता है, विश्व की नानामूर्त शक्तियाँ किस प्रकार अपने देवता रूपी अर्थों से सम्बन्ध रखती हैं.........इन विषयों की जितनी सूक्ष्म खोजबीन हमारे ऋषियों की पारदर्शिनी बुद्धि ने की है, उतनी सम्भवतः अन्य किसी ने नहीं।

मूर्तियों के निर्माण के मूल में भी यही प्रक्रिया प्रारम्भिक समय में प्रचलित रही होगी। हम अपनी कल्पना अथवा प्रातिभ शक्ति द्वारा जिन गुणों का आभास पाते हैं, और जिन दिव्य शक्तियों का उनके सगुण परन्तु अमूर्त रूप में अनुभव करते हैं, उनका एक रूप भी, कालान्तर में हमारे सामने बन जाता है। कहना यों चाहिये कि वाणी जिस गुण का नाम-विधान करती है, नेत्र उसीका एक रूप-विधान भी प्रस्तुत कर लेते हैं। इस प्रकार अनयन गिरा और अवाक् नेत्र परस्पर सहयोगी बनकर ऐसा कार्य सम्पादित करते हैं, जो अन्तः को बाह्य से और बाह्य को अन्तस् से एक कर देने वाला है। अतः हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक ऋषियों की जिस बुद्धि ने सृष्टि में निहित यज्ञ की अमूर्त भावना को अलंकृतवेदीसम्पन्न तथा विविध प्रकार के सुसज्जित कुण्डों से युक्त साकार यज्ञ-संस्था का रूप प्रदान किया, उसी बुद्धि ने कालान्तर में याज्ञिक विवरणों के आधार पर उन्हींके स्वरूप की व्याख्या करने वाले और उन्हींकी अलंकृतियों को विकसित रूप प्रदान करने वाले देवालयों को भी जन्म दिया। कोई भी संस्था काल के कराल चक्र में पड़कर अपने मूल रूप से सम्बद्ध नहीं रह पाती। देवालयों तथा देव-विग्रहों का मूल रूप भी इसी आधार पर परवर्ती समय में नष्ट हो गया। हम मूल के महत्त्व को छोड़कर पल्लवों को ही सब कुछ समझने लगे। जो मूर्ति हमें अपने पीछे निहित दिव्य गुणों की ओर ले जाती थी, व्यक्त से हम जिस अव्यक्त का बोध प्राप्त करते थे, वह हमारी अन्तःसम्पत्ति से निकल गया। स्पिरिट के स्थान पर हम फ़ार्म को महत्त्व देने लगे, आत्मा के स्थान पर हम शरीर के पुजारी बन गये, इतिहास का यह एक कठोर सत्य है। इस सत्य का उद्घाटन समय समय पर वैष्णवाचार्य स्वयं करते हैं। गीता का निम्नाङ्कित श्लोक इस सत्य की उच्च स्वर से घोषणा कर रहा है :

> अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
> परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ ७:२४

मैं अव्यक्त अर्थात् अरूप हूँ, पर मूर्ख मनुष्य मुझे साकार देहधारी समझते हैं। मेरी नित्य और सर्वोत्तम स्थिति को वे नहीं जानते। श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में इसी भाव को इस प्रकार कहा गया है :

'यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥' २९:२२

जो व्यक्ति सब भूतों में विद्यमान मुझ ईश्वर को छोड़कर अपनी मूर्खता से केवल प्रतिमा की पूजा करता है, वह मानों राख में आहुति डाल रहा है।

अब यज्ञसंस्था से विशिष्ट मूर्तियों का निर्माण किस प्रकार हुआ, इस बात पर भी किंचित् विचार कर लेना चाहिये। यज्ञों के विवरणों में कहा गया है कि सर्वप्रथम यज्ञ-वेदी के निर्माण के लिये भूमि का शोधन करना चाहिये। भूमि-शोधन के पश्चात् इष्टिकाओं का निर्माण और चयन किया जाता था, निर्माता की शुद्धि को मंत्र-जाप द्वारा भावित कर पवित्र किया जाता था। इष्टिकाओं से त्रिकोण (ताम्बूलाकार), समकोण, वर्गाकार, वृत्ताकार (पद्माकार) तथा अन्य प्रकार के कुंडों का निर्माण होता था, तदनन्तर वेदी बनती थी और वेदी पर विविध प्रकार की अलंकृतियाँ रची जाती थीं। प्रणव अर्थात् ओ३म् अक्षर को भी चित्रों द्वारा वेदी पर चित्रित किया जाता था और सौरमंडल के ग्रहों को तथा ब्रह्माण्ड की आकृति को वेदी पर अक्षत आदि द्वारा अंकित कर ब्रह्मांड के विधान को समझाने का स्तुत्य प्रयत्न किया जाता था। किसी न किसी रूप में ये बातें आज भी परम्परा द्वारा प्राप्त यज्ञ-वेदी की रचना में प्रकट की जाती हैं। हमारे घरों में, मांगलिक अवसरों पर जो स्वस्तिका का चिह्न द्वार-दीवारों पर बनाया जाता है, वह उसी ओ३म् अक्षर का प्रतीक है। यह भी असंभव नहीं है कि जिस गणेश का पूजन समस्त पौराणिक कृत्यों के प्रारम्भ में होता है, वह अपने मूल रूप में ओंकार की ही मूर्ति रहा हो। श्रीकृष्ण की जिस त्रिभंगी मुद्रा का दर्शन हम प्रायः चित्रों में करते हैं, वह ओंकार का ही विकसित रूप है। ओंकार से ही इस विराट् ब्रह्मांड की रचना हुई है। अतः इस मुद्रा को विराट् ब्रह्मांड का सूक्ष्म रूप भी कहा जा सकता है। ओंकार तांत्रिकों में ॐ रूप में लिखा जाता है। कुछ विद्वानों की सम्मति में ओंकार-लेखन का यही रूप प्राचीन है और अरबी लिपि में लिखित अल्लाह इसी का प्रतिरूप है।

यज्ञ में सामग्री, घी, मिष्टान्न आदि की जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उनसे हवनकुण्ड के अन्दर पर्वत-शिखर की भाँति ऊपर को उठती हुई एक पिण्डी बन जाती है। इस पिण्डी का आकार शिवलिङ्ग के समान है। महादेव की

मूर्ति की कल्पना इसी पिण्डी के आधार पर की गई है। शिव की योगेश्वरी मूर्ति, जिसकी जटाओं में गंगा और ग्रीवा में सर्पों की माला है, परवर्ती काल में इसी यज्ञ के रूप से निर्मित की गई है। यज्ञकुण्ड से धधकती हुई ज्वाला की जो लपटें ऊपर को उठती हैं, वे सर्प और उसके फन को मुद्रित करती-सी प्रतीत होती हैं। घी की जो आहुतियाँ इन लपटों के ऊपर पड़ती है, वे आकाश से उतरती हुई और शिव की जटाओं में निवास करती हुई देवापगा गङ्गा की जलधाराएँ हैं। महादेव-पूजा का मूलरूप लिंग-पूजा ही है, जो एक ओर यज्ञ की पिण्डी का प्रतीक है और दूसरी ओर शून्य का प्रतिरूप है, जिसे ऋग्वेद के नासदीय सूक्तकार ने सत् और असत् दोनों से विलक्षण कहा है और जो गणितशास्त्र का बीजाक्षर है। महादेव की इस लिंगमूर्ति को जिस वेदी पर समासीन किया जाता है, उसकी आकृति यज्ञकुण्ड के समान ही होती है। हवनकुण्ड की परिखा जो वेदी के ऊपर बनी होती है, और जिसमें 'अदिते अनुमन्यस्व' आदि मन्त्रों द्वारा चारों दिशाओं में जल डालते हैं, वही शिव-लिङ्ग के चारों ओर बनी हुई जलधारी या परिखा है। शिवलिङ्ग के ऊपर डाला हुआ जल इस वेदी के जिस द्वार से बाहर जाता है, वह यज्ञ-वेदी का घृत डालने वाला स्थान है। मन्दिरों का निर्माण भी इसी यज्ञवेदी का अनुसरण करता है। मन्दिर के अन्दर जिस सिंहासन पर मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है, वह सिंहासन कुण्ड है और उस कुण्ड में सामग्री की पिण्डी सिंहासन पर बैठी हुई मूर्ति है। यज्ञ-वेदी की परिखा मन्दिर की परिक्रमा या प्रदक्षिणा वाला पथ है।

वेद ने ऋत और सत्य नाम की जिन दो शक्तियों का उल्लेख किया है, वही अग्नि और सोम के रूप में वेद में ही वर्णित हुई हैं। पुराणों ने इन्हीं को रुद्र और विष्णु की संज्ञा प्रदान की है। विष्णु, सोम, सत्ता या स्थिति के प्रतिनिधि हैं तो रुद्र अग्नि के। पुराणकारों ने इसीलिये विष्णु को रक्षक और रुद्र को अग्नि के अन्तिम गुण संहारक का रूप दिया है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ वसुओं की प्रतिनिधि हैं, परन्तु रुद्र को साक्षात् अग्नि का ही रूप माना जाता है। अग्निहोत्र के अन्त में 'वसोः पवित्रमसि शतधारं' आदि मन्त्र द्वारा सामग्री की बनी हुई पिण्डी पर जो सहस्र धाराओं में घी डाला जाता है, वही महादेव के लिङ्ग के ऊपर लटके हुए कलश से टपकती हुई

सहस्रों बूँदें हैं। मन्त्र में आठ वसुओं को पवित्र करने वाले अग्निदेव हैं, तो रुद्र की आठ मूर्तियों के बीच में बैठी हुई रुद्र की साक्षात् मूर्ति को पावक, पवित्रकारक अग्नि कहा ही जाता है। यज्ञ के साथ जो पशु बाँधा जाता है, वही महादेव का वृषभ है। निरुक्त में 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' की व्याख्या में शब्द को भी वृषभ की संज्ञा प्रदान की गई है।

पौराणिकों में जिस पंचायतन-पूजा का प्रचार है, उसमें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश की मूर्तियाँ होती हैं। रामायतन में भी चारों भाइयों के साथ सीता की मूर्ति इन्हीं पंचदेवों के समकक्ष है। पंचदेव भी विश्व की उदात्त शक्तियों के प्रतीक हैं और उनकी मूर्तियों की कल्पना उनके गुणों के आधार पर की गई है। पांचरात्रों का चतुर्व्यूह भी सांख्य के प्राकृतिक तत्त्वों का ही प्रतिरूप है।

आर्य ऋषियों के चिन्तन और भावन का मुख्य लक्ष्य वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तिम तत्त्व रहा है, जिसका नाम और रूप द्वारा इस जगत् में व्याख्यान हुआ[1] तथा जो अव्याकृत से व्याकृत और अनिरुक्त से निरुक्त बना। मूल तो वही है और वही अक्षर तथा अविनाशी सत्ता है। मूर्तियाँ नामरूपात्मक जगत् के अन्दर आती हैं और अपने विनश्वर रूप को लिये हुए उसी अविनश्वर सत्ता की स्तुति करती हैं। इन मूर्तियों का तथा इस निखिल मूर्त ब्रह्माण्ड का पर्यवसान उसी अविनश्वर सत्ता में होता है। यह मर्त्य उसी अमर्त्य में विश्राम पाता है। वैदिक शब्दों में 'अथ मर्त्यो अमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते।' यह मरणधर्मा विनश्वर शरीर एक दिन अमृत बनता है और उस ब्रह्म के साथ आनन्द का उपभोग करता है। पर यह मर्त्य अमृत कैसे बनेगा, यही विचारणीय है। वेद कहता है: 'मर्त्य अपने परिमाण में चाहे जितना विशाल हो, उस महान् के आगे वह अणुरूप ही है। यह अणु जब उस महान् का संस्पर्श करेगा, तभी ब्रह्म अर्थात् बड़ा बनेगा। अपनी सङ्कीर्णता का परित्याग करके, अहन्ता की स्वल्प सीमा का उल्लङ्घन करके जब यह असीम और अनन्त अर्थात् भूमा बनेगा, उसी दिन यह अमृत बन सकेगा।' इसके पूर्व तो कालिदास के

---

१. अथ ब्रह्मैव परार्द्धमगच्छत्। तत् परार्द्धं गत्वा ऐक्षत कथं नु इमान् लोकान् प्रत्यवेयामिति। तद्द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद् रूपेण चैव नाम्ना च। (शतपथ ११, २, ३, ३)

शब्दों में, 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' इसे मरना ही मरना है। पर उस अन्तिम दिन का मरण भी कितने सौभाग्य और समृद्धि का परिचायक होगा, जिस दिन यह मरण की सीमा को अतिक्रान्त करता हुआ अमृत में प्रवेश करेगा।

मानव जिस दिन मूर्ति-पूजा के द्वारा परम दैवी तत्त्वों तथा गुणों की आराधना करने लगेगा, दूसरे शब्दों में आकार से यज्ञ के त्यागरूपी भाव में प्रवेश करेगा और अन्त में यज्ञ से यज्ञरूप प्रभु तक पहुँचेगा, उसी दिन वह कल्याण का केन्द्र बन सकेगा।

भागवत भक्ति का स्वरूप

नारदभक्तिसूत्र, शांडिल्यभक्तिसूत्र, रूपगोस्वामी के उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु और मधुसूदन सरस्वती का भक्तिरसायन भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष का तात्विक विवेचन करने वाले ग्रन्थ हैं। अन्तिम तीन सोलहवीं शताब्दी की रचनायें हैं और प्रथम दो संभवतः गुप्त-साम्राज्यकाल तक बन चुके थे। नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में शांडिल्य का नाम लिया है। अतः शांडिल्यभक्तिसूत्र नारदभक्तिसूत्र से पूर्ववर्ती है। नारद ने सूत्रसंख्या १६, १७ तथा ८३ में ब्रह्मकुमार सनक-सनन्दनादि, व्यास, शुक, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, विभीषण आदि को भक्ति के आचार्य रूप में मान्यता दी है। शाण्डिल्य ने काश्यप, बादरायण और जैमिनि के नाम सूत्रसंख्या २९, ३० और ६१ में दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि नारद और शाण्डिल्य से भी पूर्व कई आचार्य हुए हैं, जिन्होंने भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष का विवेचन किया होगा, परन्तु उनके ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। व्यासविरचित भागवत में इस विषय की सामग्री विद्यमान है, जिसका विवेचन हम इसी अध्याय में कर रहे हैं। उपलब्ध आर्ष ग्रन्थों में नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मत का समावेश कर दिया है। अतः प्रमाणरूप में उसे गृहीत किया जा सकता है। उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु बहुत परवर्त्ती ग्रन्थ हैं। उज्ज्वलनीलमणि में राधा-कृष्ण-सम्बन्धी प्रेम पर आधारित शृङ्गार रस को रूपगोस्वामी ने सम्पूर्ण रूप से भाव-विभावादि के अंगसहित भक्ति-रस के पद पर प्रतिष्ठित किया है। भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति का गम्भीर विवेचन पाया जाता है। उज्ज्वलनीलमणि पर जीवगोस्वामी की टीका महत्त्वपूर्ण है।

प्रत्येक ग्रन्थ पर अपने समय की प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है। ये ग्रन्थ भी उसका अपवाद नहीं हैं। पिछले दोनों ग्रन्थ उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु महाप्रभु चैतन्य के वैष्णव सम्प्रदाय की गौडीय शाखा के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। प्रथम दो सूत्रग्रन्थों पर भागवत धर्म के प्रारम्भिक रूप का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इन सूत्रग्रन्थों में गौडीय

सम्प्रदाय में प्रचलित भक्ति रस की सर्वाङ्गपूर्णता पर पहुँचे हुए राधा-कृष्ण के शृङ्गार का जिसे उज्ज्वल या मधुर रस भी कहते हैं, अभाव है। इसी प्रकार नारदभक्तिसूत्र में वर्णित रूपासक्ति और कान्तासक्ति श्रीमद्भागवत में वर्णित नवधा भक्ति के अन्तर्गत नहीं आती। श्रीमद्भागवत की नवधा भक्ति के पादसेवन, अर्चन और वन्दन की अनुष्ठानविधि वैदिक काल की भक्ति में दिखाई नहीं देती। सूत्रग्रन्थों में वर्णित तथा श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित भक्ति से ज्ञान और कर्म की अवर स्थिति अथवा हेयता भी वैदिक भक्ति की विशेषता नहीं जान पड़ती। प्रत्येक युग अपनी विशिष्ट मान्यताओं एवं अभिव्यक्तियों को लेकर आता है और वे तत्कालीन साहित्य द्वारा आत्मसात् कर ली जाती हैं। अतः भक्ति का विवेचन करने वाले इन ग्रन्थों पर भी अपने समय की मान्यताओं का अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ा है।

वेदत्रयी में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति तीनों साधन एक दूसरे के पूरक हैं। उनकी समन्विति मानवजीवन के चरम लक्ष्य को सिद्ध करने वाली है। ज्ञान हमें लक्ष्य का बोध कराता है, कर्म उस लक्ष्य तक पहुँचाता है और भक्ति उस लक्ष्य में तल्लीन कर देती है। ज्ञान कर्म और भक्ति को प्रदीप्त करता है। भक्ति ज्ञान और कर्म का उद्रेक करती है। कर्म अन्य दोनों के निष्पादन में सहायता देता है। अतः तीनों की क्रमपरक नहीं, प्रत्युत सह-समिन्विति लक्ष्य-प्राप्ति के लिये अनिवार्य मानी गई है। गीता में भी ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का त्रैत विद्यमान है, यद्यपि भक्ति अपना स्वर दोनों से कुछ ऊँचा अवश्य किये हुए है। श्रीमद्भागवत में ज्ञान और कर्म को भक्ति से नीचा स्थान प्राप्त है। उसके माहात्म्य-प्रकरण में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की सन्तान कहा गया है।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में भक्ति की महिमा इस प्रकार वर्णित हुई है :

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ २१ ॥

भगवान् उद्धव से कहते हैं कि मैं न योग के द्वारा और न सांख्य (ज्ञान) के

द्वारा ही प्राप्त होता हूँ। मेरी प्राप्ति का सुलभ साधन तो भक्ति है।'[1] एकनिष्ठा से की हुई मेरी भक्ति चाण्डाल तक को पवित्र कर देती है।

इसके पश्चात् श्लोक २४, २५ और २६ में लिखा है कि जो गद्गद् वाणी से द्रवितचित्त हो, कभी रोता हुआ, कभी हँसता हुआ, कभी लज्जा को छोड़ गाता हुआ और नाचता हुआ मेरी भक्ति में निरत होता है, वह इस निखिल विश्व को पवित्र कर देता है। जैसे अग्नि द्वारा स्वर्ण का मल दूर होकर, फूँकने पर स्वर्ण अपने रूप में मिल जाता है, उसी प्रकार मेरे भक्तियोग से कर्म-विपाक को दूर करता हुआ आत्मा मुझे ही प्राप्त कर लेता है। मेरे पवित्र चरित्रों का श्रवण एवं ध्यान करता हुआ आत्मा जैसे-जैसे शुद्ध होता जाता है, वैसे ही वैसे अञ्जनाञ्जित आँखों की तरह वह सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करने लगता है।

श्रीमद्भागवत के ऊपर उद्धृत वर्णन से भक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं :

१. भगवान् भक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

२. योग, ज्ञान, स्वाध्याय, तप अर्थात् वानप्रस्थ, और त्याग अर्थात् संन्यास प्रभुप्राप्ति के वैसे साधक नहीं हैं।

३. भक्ति में एकनिष्ठा होनी चाहिये।

४. भक्ति से चित्त द्रवित हो जाता है और वाणी गद्गद् हो उठती है।[2]

---

१. गीता (अ० ११, श्लोक ४८, ५३ और ५४ में) इस पक्ष का लगभग इन्हीं शब्दों में समर्थन करती है।

'The nearest road to god is through the gate of love.'

Angelus Silesius. Quoted by Werfel in his 'Between Heaven and Earth.' P. 114

२. श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भी भक्तिरसायन में चित्तद्रुति को महत्ता दी है और भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है :—

द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते॥ १-३॥

अथवा

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा। सा भक्तिरित्यभिहिता......॥ २-१॥

द्रुतचित्त जब आनन्दपूर्ण भगवान् को ग्रहण कर लेता है, तब वह तद्रूप हो जाता है। इससे बढ़कर और क्या उपलब्धि होगी?

५. भक्त कभी प्रभु के वियोग में रोता है, कभी उनके संयोग से हँसता है और कभी अतिमिलन-भावना में लज्जा छोड़कर गाता और नाचता है।

६. भक्ति से भक्त में पवित्रता आती है, जो उसके संसर्ग में आने वालों को पवित्र करने वाली है।

७. भक्ति से कर्म-विपाक नष्ट होता है और उसके नष्ट होने पर भगवान् प्राप्त होते हैं।

८. भक्ति में भगवान् के चरित्रों का श्रवण एवं ध्यान करना चाहिये। इससे आत्मा शुद्ध होता है।

९. शुद्ध हुआ आत्मा ईश्वर जैसी सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करता है।

ऊपर लिखी बातों में संख्या २ निषेधात्मक है, क्योंकि वह पितृयान के अन्तर्गत भी आ सकती है, यद्यपि देवयान के लिये भी उसका महत्त्व कम नहीं है। पितृयान के कर्मनिष्ठ पथिक ज्ञान, स्वाध्याय, योग, तप एवं त्याग का समावेश अपने जीवन में करते हैं। संख्या ३, ४, ५ और ८ में भक्ति के अंगों का निरूपण हुआ है। संख्या ६, ७ और ९ में भक्ति का परिणाम बताया गया है। पवित्रता का सम्पादन, कर्म-विपाक का विनाश तथा सूक्ष्म वस्तुओं का साक्षात्कार भक्ति द्वारा होता है। संख्या १ के अनुसार भक्ति ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इन सभी बातों का परवर्त्ती भक्ति-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। नारदभक्तिसूत्र 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्य-धिकतरा' २५ तथा शाण्डिल्यभक्तिसूत्र 'तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्यः आधिक्य-शब्दात्' २२ में भागवत के ही अनुसार भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से ऊँचा पद दिया गया है। सूत्रसंख्या २५ से ४० तक नारद ने विषयत्याग, संगत्याग, अव्यावृत्त भजन, भगवत्गुणों का श्रवण और कीर्तन, दुर्लभ, अगम्य, अमोघ सत्संग, पुण्यात्माओं की कृपा (महत्कृपा) अथवा भगवान् की कृपा के एक कण का भक्ति के साधनों के रूप में वर्णन किया है, जो ऊपर वर्णित भागवत के संख्या ३, ४, ५ और ८ में बताये साधनों के समान है। सूत्रसंख्या ६८ में उल्लिखित कण्ठावरोध, रोमांच, अश्रु और आलाप भागवत के संख्या ४ और ५ के समान हैं। भक्तिसूत्र 'पावयन्ति कुलानि पृथ्वीं च' ६८ तथा 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि' ६९ में वर्णित भक्ति का फल संख्या ६ के समान है।

भक्तों के भेद तथा लक्षण : सामान्य रूप से भक्तों के तीन भेद हो सकते हैं : विधि के अनुगामी, निषेधपरक तथा साधारण। साधारण भक्त दैनिक आचार के रूप में केवल प्रथा के निर्वाह के लिये भक्ति करते हैं, जिसे धोखा देना या खानापूरी करना अर्थात् जैसे-तैसे नाम मात्र के लिये, बिना मन लगाये हुये भी पूजा-परिपाटी का पालन करना कहा जा सकता है। विधि के अनुगामी भक्त नियत समय पर नियत स्थान में शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुकूल अपने इष्टदेव का अर्चन, पूजन, ध्यान आदि करते हैं। निषेधपरक भक्ति में दुःसंग अर्थात् भक्ति-विद्वेषी ज्ञान, भक्ति के प्रतिकूल आचार तथा काम, क्रोध, मोह आदि का त्याग अपेक्षित है। नारदभक्तिसूत्र संख्या ४३ और ४४ में इन निषेध्यों का वर्णन आया है। सूत्र ४५ में लिखा है कि यदि ये निषेध्य काम-क्रोधादि तरंगित भी हो गये, तो सहवर्गियों का साथ पाकर समुद्र का रूप धारण कर लेंगे। निषेधपरक भक्तों में हम उन व्यक्तियों को भी ला सकते हैं, जिन्होंने भगवान् से द्वेष तथा मर्यादा-मान्यता का निषेध करके मुक्ति पाई थी। शाण्डिल्य भी सूत्रसंख्या ६ में प्रभु के प्रति शत्रु के द्वेष को राग में सम्मिलित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रभु के साथ भक्त का द्वेषसम्बन्ध भी मुक्ति का कारण होता है। नारदभक्तिसूत्रों में सूत्रसंख्या १५ से १८ तक भक्तों के लक्षण दिये हैं, जिनमें पूजा-कथा आदि में अनुराग, अविरोधपूर्वक आत्मरति, निखिल आचारों को प्रभु के अर्पित कर देना तथा प्रभु के विस्मरण में परम व्याकुल हो उठना परिगणित हुए हैं।

गीता ७, १६ के अनुसार भक्त चार प्रकार के हैं : आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन चारों में ज्ञानी भक्त को ही भगवान् ने श्रेष्ठ स्वीकार किया है। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और नारद ऐसे ही ज्ञानी भक्त थे—प्रशान्त और गम्भीर। ज्ञानी भक्त उच्च कोटि के विरागी भी होते हैं। नारदभक्ति-सूत्रों के अनुसार भक्ति परा और गौणी दो प्रकार की है। शाण्डिल्यभक्तिसूत्र संख्या ७२ 'गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुति अर्थत्वात् साहचर्यम्' तथा नारदभक्ति-सूत्र संख्या ५६ 'गौणी त्रिधा गुणभेदात् आर्तादिभेदाद्वा' में गौणी भक्ति तीन प्रकार की मानी गई है : १. सात्त्विकी : जिसमें कर्तव्यकर्म समझकर भक्ति की जाती है। २. राजसी : जो किसी कामना से प्रेरित होकर की जाती है और ३. तामसी : जो किसी को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से की

जाती है। गीता के ऊपर उल्लिखित जिज्ञासु, आर्त और अर्थार्थी भक्त क्रमशः गौणी भक्ति के इन्हीं तीन प्रकारों के प्रतिरूप हैं। ज्ञानी भक्त परा भक्ति का अधिकारी है। श्रीमद्भागवत ३, २९ में श्लोक ७ से १४ तक भक्तों के सगुण और निर्गुण दो भेद करके सगुण भक्तों के सात्त्विक, राजस तथा तामस तीन भेदों का वर्णन किया गया है। यही सकाम भक्त भी कहलाते हैं। निर्गुण भक्त में प्रभु के प्रति निष्काम भाव से अनन्य प्रेम रहता है। निर्गुण भक्त गीता के ज्ञानी भक्त के समान हैं।

भक्ति क्या है ? : नारदभक्तिसूत्र संख्या[1] २ और शाण्डिल्यभक्तिसूत्र संख्या[2] २ के अनुसार प्रभु में पराकाष्ठा की अनुरक्ति रखना ही भक्ति है। भागवत १, २, ६ में भी भक्ति की यही परिभाषा दी गई है, यथा :

'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ॥

अर्थात् भगवान् में हेतुरहित, निष्काम, एकनिष्ठायुक्त, अनवरत प्रेम का नाम ही भक्ति है। यही पुरुषों का परम धर्म है। इसी से आत्मा प्रसन्न होता है। भक्तिरसामृतसिंधु, पूर्व विभाग, लहरी २ के अनुसार परा भक्ति सर्वोच्च कोटि की और सिद्धावस्था की सूचक है। गौणी भक्ति साधनावस्था के अन्तर्गत है और दो प्रकार की है : वैधी तथा रागानुगा। वैधी भक्ति में शास्त्रानुमोदित विधि-निषेध का अनुसरण करना पड़ता है।[3] रागानुगा भक्तिभावना राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है। वैधी भक्ति मर्यादा का मार्ग है, जिसमें भक्त ईश्वर के ऐश्वर्य-ज्ञान से सम्पन्न रहता है। रागानुगा भक्ति दो प्रकार की है : कामरूपा और सम्बन्धरूपा। गोपियों की भक्ति कामरूपा थी, जिसमें कृष्ण-सुख के अतिरिक्त अन्य भावना नहीं रहती। सम्बन्धरूपा भक्ति भगवान् और भक्त के सम्बन्ध की दृष्टि से चार प्रकार की है : दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य। दास्य भक्ति के आदर्श हनुमान् हैं। सख्य भक्ति के आदर्श उद्धव, अर्जुन और सुदामा हैं। वात्सल्य भक्ति का आदर्श नन्द, यशोदा, वासुदेव और देवकी में दिखाई देता है। राधा और रुक्मिणी दाम्पत्य भाव वाली भक्ति की आदर्श हैं। जीवगोस्वामी की उज्ज्वल-

१. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। २. सा परानुरक्तिरीश्वरे। ३. शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते। लहरी २, श्लोक ४।

नीलमणि के अनुसार दाम्पत्य भाव ही माधुर्य भाव है। इसी भाव से विभावादि के संयोग द्वारा निष्पन्न रस मधुर, उज्ज्वल या भक्ति रस कहलाता है। रूपगोस्वामी ने लौकिक माधुर्य से भक्ति रस के माधुर्य भाव में अन्तर किया है। लोक में माधुर्य भाव सबसे नीचे, उससे ऊपर वात्सल्य, फिर सख्य, फिर दास्य और सबसे ऊपर शान्त रस है। पर भक्ति रस में चिद् जगत् के निम्नतम भाग में शान्तस्वरूप निर्गुण ब्रह्मलोक, उसके ऊपर दास्यरूप वैकुण्ठतत्त्व, उसके ऊपर गोलोकस्थ सख्य रस और सबके ऊपर मधुररसपूर्ण वृन्दावन है, जहाँ परमपुरुष प्रकृतिरूपा व्रजाङ्गनाओं के साथ क्रीडा करते हैं।

वैधी और रागानुगा दोनों प्रकार की भक्ति साधनावस्था के अन्तर्गत है। जब भक्त को भगवान् से प्रेम करने का व्यसन हो जाता है, तभी रागानुगा भक्ति की कृतार्थता समझनी चाहिये। नारदीय भक्तिसूत्रों के अनुसार यही परा भक्ति की अवस्था है। भक्तिरसामृतसिंधु में भी रागानुगा भक्ति को परा भक्ति के लिये अन्तिम सीढी माना गया है। नारद-भक्तिसूत्र संख्या ५५ के अनुसार परा भक्ति की भूमिका में पहुँचकर भक्त प्रभु-प्रेम में विभोर हो उसीको देखता है, उसीको सुनता है, उसीको कहता है और उसीकी चिन्ता करता है।[1] सूत्रसंख्या ५१ और ५२ के अनुसार प्रेम का यह स्वरूप मूक के आस्वाद की भाँति अनिर्वचनीय है। इस अवस्था में पहुँचा हुआ भक्त गुणरहित, कामनाशून्य, प्रतिक्षण अविच्छिन्न रूप से बढ़ता हुआ, सूक्ष्मतर और अनुभवरूप हो जाता है।

भक्तिरसामृतसिंधु[2] के समान आचार्य वल्लभ ने भी ब्रह्मसूत्र ३,३,२९ के अणुभाष्य में भक्ति के विहिता और अविहिता दो भेद किये हैं: 'माहात्म्य-ज्ञानयुत ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका विहिता। अन्यतो अप्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा सा तु अविहिता।' अर्थात् प्रभु में माहात्म्य-ज्ञानयुत निरुपधि स्नेह विहिता भक्ति है और कामादि उपाधियों के संसर्ग से अविहिता भक्ति होती है। आचार्य वल्लभ ने दोनों प्रकार की भक्ति को मोक्ष की साधिका माना है। कामादि उपाधियों में उन्होंने न केवल पुत्रत्व आदि के सम्बन्ध को स्वीकार

१. 'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।'

२. महिमाज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम्।
रागानुगाश्रितानां तु प्रायशः केवलो भवेत्॥ पूर्वभाग ४-५

किया है, प्रत्युत द्वेषादि सम्बन्ध को भी। उनके मतानुसार 'भगवत्संबंध-मात्रस्य मोक्षसाधकत्वम्' भगवत्सम्बन्धमात्र मोक्ष का कारण है। रावण पौराणिक आख्यानों के अनुसार भगवान् से द्वेष करके ही मोक्ष को प्राप्त हुआ था। नारदभक्तिसूत्र संख्या ६५ के शब्द 'कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।' भी इसी तथ्य का समर्थन कर रहे हैं। आचार्य वल्लभ की विहिता भक्ति नारद और रूपगोस्वामी की परा भक्ति के समकक्ष है तथा अविहिता गौणी भक्ति के रागानुगा भेद के समान। शांडिल्य ने भक्तिसूत्र संख्या १० में भक्ति के मुख्या और इतरा दो भेद किये हैं। सूत्रसंख्या २० में इतरा को ही उन्होंने गौणी नाम दिया है और लिखा है कि इससे साधक समाधि-सिद्धि तक ही पहुँच पाता है। सूत्रसंख्या २१ के अनुसार इसमें राग बना रहता है, फिर भी वह हेय नहीं है, क्योंकि जैसे उत्तम का साथ करने से कुछ न कुछ उत्तमता प्राप्त होती ही है, वैसे ही गौणी भक्ति में संसर्ग तो पुरुषोत्तम का ही रहता है। सूत्र १८ में गौणी भक्ति के अन्तर्गत देवभक्ति को भी, प्रभुभक्ति की सहचरी होने के कारण, स्थान प्राप्त हुआ है। नारद ने सूत्रसंख्या २१ और शांडिल्य ने सूत्रसंख्या १४ में भक्ति के आदर्श के लिये ब्रजगोपिकाओं (बल्लवियों) का उदाहरण दिया है। भक्तिरसामृतसिंधु में रूपगोस्वामी ने भक्ति रस की प्रतिष्ठा करते हुए उसके पाँच भेद किये हैं: शान्त भक्ति, प्रीत भक्ति, प्रेयो भक्ति, वत्सल भक्ति और मधुरा भक्ति। शान्त भक्ति में भगवान् के शान्त, चतुर्भुज स्वरूप का ध्यान किया जाता है। वेदादि का पठन, विविक्त स्थान का सेवन इसके उद्दीपन हैं। अन्तर्वृत्तिविशेष और ज्ञानी भक्तों का संसर्ग अनुभाव हैं। मौन, निरहंकारिता, नैरपेक्ष्य, निर्ममता आदि इसके संचारीभाव हैं। प्रीत भक्ति में द्विभुज या चतुर्भुज गोकुलवासी कृष्ण से प्रेम किया जाता है, जो ईश्वर, परमाराध्य, सर्वज्ञ, दृढव्रत, समृद्ध, क्षमाशील, शरणागतपालक और प्रेमवश्य हैं। उनके दास चार प्रकार के हैं: १. अधिकृत जैसे ब्रह्म, शंकर आदि। २. आश्रित जैसे कालीय, जरासंध, बद्ध नृप आदि। ये भी शरण्य, ज्ञानिचर और सेवानिष्ठ तीन प्रकार के हैं। ३. पारिषद् जैसे उद्धव और दारुक। ४. अनुग जैसे ब्रज के गोप। प्रेयो भक्ति में सखाभाव की प्रधानता है। इसमें हरि तथा उनके सखा श्रीदामा, वसुदामा आदि की क्रीडायें प्रमुख हैं। वत्सल

भक्ति में प्रभु को वत्स के रूप में समझ कर उनके कौमार आदि वय के अनुरूप वेश, शैशव, चापल्य, जल्पित, स्मित, लीला आदि उद्दीपन का कार्य करते हैं। गुरु, माता, पिता आदि के रूप में भक्त का भगवान् के प्रति जो प्रेम प्रकट किया जाता है, वही स्थायीभाव है। मधुरा भक्ति में कृष्ण का अनुपम सौन्दर्य आलम्बन का कार्य करता है। गोपिकारूपी भक्तों के अन्दर रतिभाव का जागरण स्थायीभाव है, तथा राधा, गोपी आदि के साथ प्रेम-क्रीडा और रासलीला अनुभाव हैं। मुरली-वादन विभाव का कार्य करता है।

भागवत में नवधा भक्ति का वर्णन पाया जाता है, जो इस प्रकार है :

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ ७, ५, २३

प्रभु के गुणों का श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य-भाव (प्रणति), सखाभाव और आत्मनिवेदन''''''भक्ति के ये नौ प्रकार हैं। नारदभक्तिसूत्र संख्या ८२ के आधार पर भक्ति एक प्रकार की होती हुई भी ग्यारह प्रकार की है : गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति। इसके गुणमाहात्म्य में भागवत की नवधा भक्ति के श्रवण और कीर्तन का समावेश हो जाता है; अर्चन, पाद-सेवन और वन्दन पूजासक्ति में आ जाते हैं; स्मरण स्मरणासक्ति में, दास्य दास्यासक्ति में, सख्य सख्यासक्ति में और आत्मनिवेदन आत्मनिवेदनासक्ति में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। रूपासक्ति, कान्तासक्ति और वात्सल्यासक्ति भागवत के नवधा-भक्ति-वर्णन में स्थान नहीं पातीं। ये प्रेमासक्ति के रूप हैं और सगुण भक्ति के अन्तर्गत हैं।

नवधा भक्ति के अर्चन और पाद-सेवन को छोड़कर शेष सात निर्गुण भक्ति के भी अंग कहे जा सकते हैं। परमविरहासक्ति और तन्मयतासक्ति निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति की चरम अवस्थायें हैं। सन्त सुन्दरदास ने अपने 'ज्ञानसमुद्र' नामक ग्रन्थ के द्वितीय उल्लास में छन्दसंख्या ४ से लेकर अन्तिम छन्दसंख्या ५६ तक जो भक्ति का वर्णन किया है, उसमें भागवत की नवधा भक्ति को कनिष्ठ कोटि की माना है और निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त होने के कारण उन्होंने पाद-सेवन आदि को मानसिक रूप प्रदान

कर दिया है। इसके पश्चात् उन्होंने मध्यम कोटि की प्रेमा भक्ति और उत्तम कोटि की परा भक्ति का वर्णन किया है।

भक्ति के अंग : श्रीमद्भागवत स्कंध ३, अध्याय २९ के श्लोक १५ से १९ तक[1] भक्ति के अङ्गों का वर्णन हुआ है, जो इस प्रकार है :

१. नित्य-नैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन।

२. शास्त्रोक्त हिंसा-रहित क्रियायोग का अनुष्ठान।

३. भगवान् के विग्रह के दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति, वन्दना और नाम-संकीर्तन।

४. समस्त प्राणियों में भगवान् की भावना करना।

५. सत्त्व = धैर्य और असंगम=वैराग्य का अवलम्बन।

६. महापुरुषों का मान, दीनों पर दया और समान स्थिति वालों के प्रति मित्रता का व्यवहार।

७. यम-नियमों का पालन, जिसमें स्वाध्याय अर्थात् अध्यात्मशास्त्रों का श्रवण और ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् प्रभु की शरण ग्रहण करना (प्रपत्तिमार्ग या आत्मनिवेदन) भी आता है।

८. मन की सरलता और अहङ्कार का त्याग।

९. सत्पुरुषों का सङ्ग।

इसके पश्चात् श्लोक २० में लिखा है कि जैसे पुष्प की सुगन्ध वायु द्वारा उड़कर नासिका तक पहुँच जाती है, वैसे ही भक्ति के इन अङ्गों में तत्पर, राग-द्वेषादि विकारों से शून्य चित्त परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। इसी श्लोक के आगे मोहवश प्रतिमा-पूजन (अर्चा) करने वालों की निन्दा की गई है, क्योंकि प्रभु अन्तर्यामी हैं, समस्त प्राणियों के अन्दर विराजमान हैं। उन्हें छोड़कर प्रतिमा का पूजन (अर्चा) करना भस्म में हवन करने के समान है।

---

१. भागवत. स्कंध ३, अध्याय २९

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा। क्रिया योगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः। भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासंगमेन च॥१६॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया। मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥१७॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्तनाच्च मे। आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा॥१८॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः। पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥१९॥

नारद ने भक्तिसूत्र संख्या ३४ में लिखा है : 'तस्याः साधनानि गायन्ति आचार्याः।' आचार्यों ने भक्ति के साधनों की प्रशंसा की है। ये साधन नारद के शब्दों में इस प्रकार हैं :

'तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च' ॥ ३५ ॥

'अव्यावृतभजनात्' ॥ ३६ ॥

'लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्' ॥ ३७ ॥

'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा' ॥ ३८ ॥

'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च' ॥ ३९ ॥

'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव' ॥ ४० ॥

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' ॥ ४१ ॥

'तदेव साध्यताम् तदेव साध्यताम्' ॥ ४२ ॥

'दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः' ॥ ४३ ॥

'कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्' ॥ ४४ ॥

'तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति' ॥ ४५ ॥

'कस्तरति मायाम्? यः संगांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति' ॥ ४६ ॥

'यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति' ॥ ४७ ॥

'यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति' ॥ ४८ ॥

'वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते' ॥ ४९ ॥

'स तरति स तरति लोकांस्तारयति' ॥ ५० ॥

'लोकहानौ चिन्ता न कार्या' ॥ ६१ ॥

'न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः, किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव ॥ ६२॥

'स्त्री-धन-नास्तिक-वैरि-चरित्रं न श्रवणीयम्' ॥ ६३ ॥

'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्' ॥ ६४ ॥

'वादो नावलम्ब्यः' ॥ ७४ ॥

'भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि' ॥ ७६ ॥

'अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि' ॥ ७८ ॥

'सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः' ॥ ७९ ॥

इन सूत्रों में सूत्र ३६ तथा ६१ सूत्र ७९ में एकत्र हैं। सूत्र ३७ की विधि-भावना की पूरक सूत्र ६३ की निषेध-भावना है। सूत्र ६२ का फल-त्याग सूत्र ४८ में विद्यमान है। सूत्र ६२ का लोक-व्यवहार सूत्र ७८ में आ जाता है। सूत्र ७८ यम-नियम की ओर स्पष्ट सकेत कर रहा है, अतः सूत्र ७६ उसके अन्तर्गत आ सकता है। सूत्र ६४ और ७४ सूत्र ४३ के अंग बन सकते हैं। सूत्र ६१ की लोक-हानि कर्मफल में समा सकती है, जो सूत्र ४८ में आया है। सूत्र ४४ सूत्र ४३ की कारणपरक व्याख्या करता है। सूत्र ३९, ४०, ४१ और ४२ कारण-कार्य-पूर्वक एक ही हैं और सूत्र ३८ से संबद्ध हैं। इस प्रकार जो नारदीय भक्तिसूत्र ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनसे निम्नांकित बातें भक्ति के अंगरूप में गृहीत की जा सकती हैं :

१. विषय-त्याग तथा विषय-संग (विषयासक्ति) का त्याग।

२. सर्वदा सभी भावों में निश्चिन्त रहकर भगवान् का लगातार भजन।

३. भगवान् के गुणों का श्रवण और कीर्तन (नामजाप)। स्त्री, धन, नास्तिक और शत्रुओं के चरित्र श्रवणीय नहीं हैं।

४. महान् पुरुषों की कृपा अथवा भगवान् की दयादृष्टि।

५. महान् पुरुषों का सत्संग दुर्लभ और अगम्य है, पर प्राप्त हो जाने पर निश्चित रूप से सफलता प्रदान करता है, कभी व्यर्थ नहीं जाता, अमोघ है। यह सत्संग प्रभु-कृपा से ही प्राप्त होता भी है। महान् पुरुष भगवान् के भक्त होते हैं और किसी में भेद-भावना नहीं रखते। अतः महान् पुरुषों का सत्संग अवश्य करना चाहिये।

६. दुष्टों का साथ सभी प्रकार से त्याज्य है, क्योंकि वह काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और सर्वनाश का कारण है। अभिमान, दम्भ आदि आसुरी वृत्तियाँ हैं, अतः परित्याज्य हैं। वितण्डावाद दूषित वृत्तियों को उभाड़ता है, अतः उसमें भाग नहीं लेना चाहिये।

७. एकान्त में रहना, संग या आसक्ति का त्याग, महान् पुरुषों की सेवा, ममत्व-विहीनता, लोक-बन्धन तथा योगक्षेम का त्याग, कर्मफल का त्याग, कर्म का भी त्याग, त्रैगुण्य वेदों का भी त्याग, निस्त्रैगुण्य-प्राप्ति और भगवान् में अनवरत अनुराग।

८. लोक-व्यवहार अथवा फलाकांक्षारहित होकर कर्तव्यपालन ।

९. यम-नियम तथा तत्सम्बन्धी आचार का पालन। इसीमें भक्तिशास्त्रों का मनन और उसके उद्बोधक कर्म भी आ जाते हैं।

शाण्डिल्य ने नीचे लिखे सूत्रों में भक्ति के अङ्गों का संकेत किया है :

देवभक्तिरितरास्मिन् साहचर्यात् ॥ १८ ॥

हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् संगवत् ॥ २१ ॥

ब्रह्मकाण्डं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात् ॥ २६ ॥

सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ॥ ४५ ॥

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥ ४९ ॥

ताभ्यः पावित्र्यम् उपक्रमात् ॥ ५६ ॥

अवन्धोऽर्पणस्य मुखम् ॥ ६४ ॥

ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात् ॥ ६५ ॥

स्मृतिकीर्त्योः कथादेः ॥ ७४ ॥

ऐकान्तभावो गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात् ॥ ८३ ॥

भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात् ॥ ८५ ॥

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिः ॥ ९६ ॥

इन सूत्रों से भक्ति के जिन अङ्गों की ओर संकेत जाता है, वे इस प्रकार हैं :

१. देवभक्ति जिसमें उत्तमास्पद महान् पुरुषों का सत्संग भी आ जाता है, क्योंकि उससे भक्त दिव्यता-प्राप्ति की ओर अग्रसर ही नहीं होता, उसमें दिव्यता का संचार भी हो उठता है। सूत्र १८ और २१

२. प्रभु के गुणों का ज्ञान, उसकी कथादि का स्मरण और कीर्तन। सूत्र २६ और ७४

३. प्रभु का सतत एकान्तभाव से ध्यान। सूत्र ६५, ८३

४. प्रभु के प्रति समर्पणभावना। सूत्र ६४

५. भगवान् के महत्त्व का ध्यान और अपनी समस्त शक्तियों को उसी के लिये लगा देना—प्रभुसेवा तथा भक्तसेवा। सूत्र ४५

६. कारुण्यभाव। सूत्र ४९

७. पवित्रता (मन, वचन, कर्म में)। सूत्र ५६

सूत्र ८३ से जान पड़ता है कि शाण्डिल्य भक्तिसूत्र गीता के पश्चात् बने। शाण्डिल्य भक्तिसूत्रों में वह विशदता नहीं है, जो नारद भक्तिसूत्रों में पाई जाती है। भक्तिरसामृतसिन्धु में उत्तम भक्ति के अङ्ग नीचे लिखे श्लोक द्वारा वर्णित हुये हैं :

'अन्याभिलषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा' ॥ १, ९

भगवत्प्रेम का क्रम रूपगोस्वामी ने इस ग्रन्थ में इस प्रकार दिया है :

'आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिस्स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥ ६ ॥
अथाऽऽसक्तिस्ततो भावः ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥ ७ ॥
पूर्वभाग, चतुर्थ लहरी'

ऊपर जो भक्ति के अंगसम्बन्धी विवरण दिये गये हैं, उनमें भक्त के अन्तःकरण की पवित्रता और प्रभु-परायणता प्रमुख हैं। अन्तःकरण की पवित्रता के लिये देवभक्ति, महान् पुरुषों का सत्संग और मान, दीनों पर दया और समान स्थिति वालों के साथ मित्रता, यम-नियम तथा तत्सम्बन्धी आचार का पालन, कर्मफल-योग-क्षेम-ममत्व आदि का त्याग, दुर्जन-संसर्ग से पृथक् रहना और नित्य-नैमित्तिक कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक समझे गये हैं। प्रभु-परायणता के लिये मन की सरलता, अहंकार का त्याग, धैर्य और वैराग्य का अवलम्बन, भक्ति-सम्बन्धी शास्त्रों का श्रवण, समस्त प्राणियों में भगवान् की भावना करना, भगवान् के गुणों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजा और आत्मनिवेदन की आवश्यकता है। दुष्टों का संपर्क, स्त्री-विषय, धन, नास्तिक और शत्रुओं के चरित्रों का श्रवण प्रभु-परायण बनने तथा अन्तःकरण को पवित्र रखने में बाधक होते हैं। अतः ऐसे बाधकों का

१. श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भगवद्भक्तिरसायन में यह क्रम इस प्रकार दिया है :-
प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः। श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥ ३२ ॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः। प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः ॥ ३३ ॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता। प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिका ॥ ३४ ॥
प्रथम उल्लास

परित्याग करने में ही कल्याण है। कारुण्यभाव दीनों पर दया दिखाने में प्रकट होता है, जिससे अन्तःकरण में पवित्रता आती है। शांडिल्य ने इसीलिये उसको मुख्य भाव माना है। कारुण्यभाव हृदय को शीघ्र द्रवित भी कर देता है। यह क्रिया भक्त को प्रभु-प्रवण बनाने में अनुपम सहायता देती है। निस्त्रैगुण्यभाव में इन सबका समावेश हो जाता है। नारद ने अपने सूत्रों में इस भाव का स्पष्ट उल्लेख किया है।

रूपगोस्वामी ने सर्वभावानुकूलता के साथ भगवान् के अनुशीलन को महत्त्व दिया है और लिखा है कि यह अनुशीलन ज्ञान और कर्म से आच्छादित नहीं होना चाहिये। भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की भी ओर भक्त की अभिलाषा नहीं जानी चाहिये। भगवत्प्रेम कैसे उत्पन्न होता है, इसके लिये उन्होंने भाव तथा तदनुकूल क्रियाओं के अनुष्ठान का एक क्रम दिया है, जो इस प्रकार है : सर्वप्रथम भक्त के अन्दर भगवान् के प्रति श्रद्धा-विश्वास की भावना उत्पन्न होनी चाहिये। श्रद्धा के पश्चात् प्रभु-भक्तों तथा सज्जनों का साथ करना चाहिये, जिससे प्रभु के समीप बैठने का स्वभाव बने। साधु-संग के पश्चात् प्रभु के गुण-कीर्तन द्वारा उसका सतत स्मरण करना, इसके साथ जो बाधाएँ आती हैं, जो अनिष्ट और अनर्थ भजन में व्यवधान डालते हैं, उनको दूर करना; तदनन्तर भजन में निष्ठा लाना अर्थात् अन्य सभी बातों को छोड़कर प्रभु-भजन में लीन होने का यत्न करना, इसके पश्चात् भजन में रुचि उत्पन्न हो जायगी, रुचि के पश्चात् आसक्ति और आसक्ति के अनन्तर भगवद्भाव का जागरण होगा, इसके पश्चात् प्रभु-प्रेम का प्रादुर्भाव हो सकेगा।

रूपगोस्वामी ने नीचे लिखे श्लोक में भक्तिजन्य सुख के अभ्युदय के लिये भुक्ति और मुक्ति दोनों की आकांक्षा के परित्याग को श्रेयस्कर समझा है :

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥ पूर्वभाग २ : ११

भक्ति के अंगों का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम् ॥ २४ ॥

पूर्वभाग २ लहरी

विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम्।
सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे ॥ २५ ॥

निवासो द्वारकादौ च गंगादेरपि सन्निधौ।
व्यवहारेषु सर्वेषु यावदर्थानुवर्तिता ॥ २६ ॥
हरिवासरसम्मानो धात्रीअश्वत्थादिगौरवम्।
एषामत्र दशांगानां भवेत् प्रारम्भरूपता ॥ २७ ॥
संगत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः।
शिष्यादि अननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः ॥ २८ ॥
बहुग्रन्थकलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम्।
व्यवहारेऽपि अकार्पण्यं शोकाद्यवशवर्तिता ॥ २९ ॥
अन्यदेव अनवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता।
सेवा नामापराधानामुद्भवा भावकारिता ॥ ३० ॥

ऊपर उद्धृत श्लोकों से ज्ञात होता है कि रूप गोस्वामी ने भक्ति के समस्त अंगों को दो भागों में विभाजित किया है : प्रारंभरूपता और उत्तररूपता। प्रारंभरूपता के नीचे लिखे दस अंग हैं :

१. गुरु के चरणों का आश्रय।

२. उससे भगवान् कृष्ण की भक्ति की दीक्षा के सम्बन्ध में प्रारम्भिक शिक्षण।

३. विश्वस्त होकर गुरु की सेवा करना।

४. सन्तों के पथ का अनुसरण।

५. सद्धर्म के जानने की इच्छा।

६. भगवान् कृष्ण के लिये भोगादि का त्याग।

७. द्वारका अथवा गंगा आदि के समीप निवास।

८. जितना आवश्यक है, अर्थात् जितने से मतलब है, उतना ही समस्त व्यवहारों में बर्तना।

९. हरिदिवस [एकादशी] का सम्मान।

१० धात्र अर्थात् आँवला या गाय और पीपल आदि के प्रति गौरव की भावना।

उत्तररूपता में नीचे लिखे नौ अंग हैं :

१. भगवान् से विमुख मनुष्यों के संग का दूर से ही परित्याग।

२. शिष्यादि बनाने के झमेले में न पड़ना।

३. बहुत बड़े आरम्भों [अनुष्ठानों] के लिये उद्यम न करना।

४. अनेक ग्रन्थ तथा कलाओं के अभ्यास, व्याख्या एवं वाद से पृथक् रहना।

५. व्यवहार में भी उदारता।

६. शोकादि के वशीभूत न होना।

७. किसी भी प्राणी की अवज्ञा न करना।

८. किसी भी प्राणी को भय न पहुँचाना।

९. भगवान् की सेवा तथा नाम-जाप में किसी प्रकार के अपराध को उत्पन्न न होने देना।

उपर्युक्त विवरण में पूर्वोक्त आर्षग्रन्थों के विवरणों का ही अनुसरण किया गया है, किसी नवीन तथ्य का संकेत नहीं पाया जाता। उत्तररूपता के चौथे अंग में अनेक ग्रन्थों के अभ्यास को भी वर्जनीय समझा गया है, जो स्वाध्याय का विरोधी प्रतीत होता है। संभवतः लेखक का ध्येय विभिन्न मतावलम्बी ग्रन्थों के विवाद में न पड़ने का है। प्रारंभरूपता के पांचवें अंग में सद्धर्म-पृच्छा को इसीलिये आवश्यक समझा गया है। भक्त को जो कुछ पूछना है, और सद्धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ जानना है, उसे वह गुरुमुख से पूछ और सीख लेगा। स्वाध्याय के अन्तर्गत मत-मतान्तरों के झगड़ों से पृथक् रहते हुए अपने धर्म के ग्रन्थों का अध्ययन या गुरु से ज्ञान प्राप्त कर लेना ही अभिप्रेत जान पड़ता है।

पीपल तथा आँवले के वृक्ष का सम्मान आर्षविवरणों में स्थान नहीं पाता। यह परवर्ती काल की देन है। वैष्णव सम्प्रदाय में भुक्ति एवं मुक्ति की स्पृहा का परित्याग बल पकड़ता गया है। वैदिकभक्ति में अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति आवश्यक समझी गई है। त्याग-भाव से भोग भोगते हुए त्रिविध प्रकार के दुखों से परित्राण पाना मानव-जीवन का सर्वोत्तम ध्येय था। वैष्णवों ने जिस भक्ति का प्रवर्तन एवं प्रचलन किया, उसमें भगवद्भजन ही एकमात्र आदर्श बन गया। भुक्ति और मुक्ति, अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों पीछे पड़ गये। गुरु-सेवा पर भी आवश्यकता से अधिक बल दिया गया, जिससे स्वाध्याय की प्रवृत्ति को ठेस पहुँची और विभिन्न वादों के परिशीलन से तत्त्व की प्राप्ति में जो सहायता मिलती है, वह भी दूर हो गई। यदि गुरु इस सम्बन्ध में विशेष रूप से जागरूक है, स्वाध्यायशील और तत्त्वज्ञाता है, तब तो लाभ हो जायगा, अन्यथा दोनों के ही अन्ध गर्त में गिरने की आशंका है। नारद और शांडिल्य जैसे ऋषियों ने भी

स्वाध्याय को वर्जनीय नहीं समझा है। श्रीमद्भागवत भी उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखता है। स्वाध्याय यम-नियमों के अन्तर्गत आता है, जो योग के अंग हैं। १६ वीं शताब्दी में वैष्णवों के जो सम्प्रदाय भक्ति का प्रचार कर रहे थे, उनका एक उद्देश्य योगमार्ग तथा ज्ञानमार्ग का खंडन करना भी था। रूपगोस्वामी के ऊपर उद्धृत भक्ति-अंग-विवरण में इसी हेतु ये बातें आ गई हैं।

भक्ति के अंगों में आत्मनिवेदन मुख्य है। इसी के द्वारा भक्त प्रभु के चरणों का सान्निध्य प्राप्त करता है। प्राचीन आचार्यों ने इसे छः भागों में विभाजित किया है : अनुकूल का संकल्प[1], प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्ववरण, रक्षा का विश्वास, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य। भगवद्भक्ति प्राप्त करने के लिये जो वातावरण अनुकूल है, उसी में रहने के लिये भक्त की जो निश्चित धारणा बनती है, वही अनुकूलता का संकल्प कहलाती है, जैसे एकान्तवास, सत्संग, भक्ति-सम्बन्धी शास्त्रों का स्वाध्याय अथवा श्रवण और भगवान् के कीर्तन आदि में सम्मिलित होना। जिस वातावरण से भक्ति-भावना का उत्थान नहीं होता, प्रत्युत विनाश होता है, उसका परित्याग कर देने में ही कल्याण है, यही प्रतिकूल का त्याग है; जैसे दुष्टों के साथ में न रहना। नास्तिकों के चरित्रों को न सुनना, विषय-वासना में न फँसना आदि। प्रभु को रक्षक के रूप में स्वीकार कर लेना गोप्तृत्ववरण और उसकी रक्षण-शक्तियों में अटल विश्वास का होना रक्षा का विश्वास है। आत्मनिक्षेप आत्मसमर्पण का नाम है और कार्पण्य भक्त का दैन्य है। आत्मनिवेदन में भक्त प्रभु के आगे नग्न हो जाता है, अपना हृदय खोलकर प्रभु के आगे रख देता है। वह प्रभु से उसकी सेवा में रहने योग्य परिस्थिति उत्पन्न करने की प्रार्थना करता है, विपरीत आचरण तथा प्रभु से विमुख कराने वाले स्त्री, पुत्र, धन आदि से बचने के लिये निवेदन करता है, 'प्रभु! तुम्हें छोड़कर मैं और कहीं न जाऊँ, मैंने तुम्हारा पल्ला पकड़ लिया है, तुम्हारे पतित-पावन विरद को वरण किया है, हे नाथ! अब मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ में है,' इस प्रकार की विनय करता है, कभी प्रभु की रक्षणशक्तियों में अविचल विश्वास प्रकट करता हुआ उनके ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करता है, और अपनी घोर निराश दशा में

१. अहिर्बुध्न्य संहिता ३७—२७,२८

आपत्तियों से त्राण पाकर इस विश्वास को दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित भी देखता है और अन्त में प्रभु के माहात्म्य के सामने भक्त जब अपने कार्पण्य को, दैन्य को, परम असहाय अवस्था को रखता है, तो क्या प्रभु चुप बैठा रहता है? भक्त रुदन करे, आर्त्त चीत्कार करे और भगवान् उसके हृदयगत हाहाकार को सुनकर भी अनसुना कर दे, वह भगवान् कैसा? प्रभु सत् हैं, व्यक्तित्व वाले हैं, चित् हैं, ज्ञानमय हैं, समझने और समझाने वाले, सुनने और सुनाने वाले हैं। उन्हें अभिमान से द्वेष और दैन्य से प्रेम है[1]। वे भक्त की पीड़ित पुकार को सुनते हैं और अपनी आनन्दमयता का एक अंश उसे प्रदान कर समस्त दुख-द्वन्द्वों का शमन कर देते हैं। उनकी करुणा का एक कण ही भक्त के क्लेश-कलाप को काटने में समर्थ है।

आत्मनिवेदन का मनोवैज्ञानिक आधार :

भक्ति के अंगों में हमने अन्तःकरण की पवित्रता और प्रभु-परायणता को प्रमुखता दी है। आत्मनिवेदन द्वारा भक्त को ये दोनों बातें सहज-सिद्ध हो जाती हैं। प्रभु के आगे अपने हृदय को खोलकर रखना, अपनी समस्त निर्बलता का उद्घाटन, मनोविज्ञान में आत्मनिरीक्षण या अन्तःदर्शन [इन्ट्रोस्पेक्शन कहलाता है। अपने दोषों का स्वयं विश्लेषण करने से उनका समग्र रूप अनावृत हो उठता है और उनके मूल का अभिज्ञान भी हो जाता है। दोष-दर्शन दोषों को दूर करने का अनुपम साधन है। दोष के कारणों का, उसके मूल में कार्य करने वाली प्रवृत्तियों का ज्ञान साधक के हाथ में ऐसा अस्त्र दे देता है, जिससे वह पाप-पाश को काट सके। परन्तु केवल विश्लेषण-क्रिया, कोरा कारण-ज्ञान साधक को लक्ष्य-प्राप्ति कराने में अक्षम है। भक्त को अपने दोषों का ज्ञान है, पर परिस्थिति, जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार उसे पाप-पथ से नहीं हटने देते। आत्मनिवेदन, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, यहीं पर भक्त की सहायता के लिये आ पहुँचता है। जब आत्मनिवेदन करते हुए भक्त अपनी पाप-प्रवृत्ति का परित्याग करने में असफलता का अनुभव करने लगता है और अपनी विवशता से खीजकर क्षुब्ध हो उठता है, इतना दुखी कि उसका परिताप तापमान की डिग्री का स्पर्श करने लगे, तभी उसका दुःख उफनकर अपना प्रवाहमार्ग खोज लेता है। यह मार्ग अश्रु-धारा है। जिस

१. ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च। नारदभक्तिसूत्र २७

भक्त ने परिताप की गंभीर अनुभूति से उत्पन्न इस अश्रु-धारा में स्नान कर लिया, उसके सब पाप धुल जाते हैं। कभी-कभी प्रभु को स्वीकार करके भी, भक्त माया के मोहक रूप की ओर आकर्षित हो जाता है, परन्तु जब आत्म-निरीक्षण की घड़ियों में बैठकर चिन्तन करता है, तो अपने पतन पर उसे घोर पश्चात्ताप होता है। इस ताप के समय भी उसकी यही दशा होती है। वह रो-रो कर प्रभु के चरणों में अपनी विवशता का उल्लेख करता है। इस निवेदन में, मन के इस मन्थन में, अश्रु रूपी मोती निकलकर उसके सारे मैल को काट देते हैं। उसकी अशक्तता नष्ट हो जाती है। वह पुनः प्रभु-प्रार्थना में निरत हो जाता है। जब मल हट गया, दोष दूर हो गये, पाप पृथक् हो गया, तो अन्तरात्मा स्वच्छ दर्पण की भाँति निर्मल और दूध के समान पवित्र हो जाता है। आत्मनिवेदन इस प्रकार उसे पवित्रता तक पहुँचा देता है। प्रभु-परायणता इसी के आगे का पड़ाव है।

विलियम मैकडूगल ने अपने ग्रन्थ, 'An introduction to social psychology' के तीसरे अध्याय के पृष्ठ ४३ पर जो सहज वृत्तियाँ और भाव दिये हैं उनमें एक सहज वृत्ति है आत्महीनता [सैल्फ अबैसमेन्ट], जो नम्रता या अधीनता [सब्जैक्शन] का भाव उत्पन्न करती है। भक्ति भावना इसी सहज वृत्ति और उससे उत्पन्न भाव पर अवलम्बित है। जैम्स ऐस० रौस ने अपने ग्रन्थ 'Ground work of educational psychology' के पृष्ठ ४४ पर इस वृत्ति को यही नाम [सबमिशन] दिया है। और इसके समानान्तर जो क्रिया उत्पन्न होती है, उसे 'निगेटिव सैल्फ फीलिंग' कहा है। इसका अर्थ है, अपने को किसी से कम समझना। निषेधात्मक आत्मानुभूति में मानव अपने को दूसरों से शक्ति और ज्ञान में हीन समझता है। इस दिशा में उसे अनेक व्यक्ति अपने से अधिक शक्तिशाली और ज्ञानी दिखाई देते हैं, पर मानवों में जो सबसे अधिक ज्ञानी या शक्तिशाली समझा जाता है, वह भी अवसर पड़ने पर अपने से अधिक शक्तिशाली और सज्ञान किसी अज्ञात सत्ता का अनुभव करने लगता है। इस सत्ता को शक्तियों की भी शक्ति, ज्ञान का भी ज्ञान, समस्त सिद्धान्तों का एक प्रमुख सिद्धान्त, समस्त विचारों का स्रोत, सृष्टि का विधाता और शासक, समस्त अस्तित्वों का अस्तित्व, विश्वव्यापी क्रम, सामञ्जस्य, सौन्दर्य, उत्तमता एवं भद्रता का एकमात्र उद्भव स्थान,

पवित्रता का मूल स्रोत और परब्रह्म कहा जाता है। जीव को अपनी अल्प शक्ति की अनुभूति इस महान् सत्ता के आगे श्रद्धा से झुका देती है। जो जीव जितना ही अधिक पवित्र होता जाता है, उतना ही अधिक उसके अन्दर इस सत्ता के प्रति पूज्यभाव बढ़ता जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूजा के भाव का अर्थ पूज्य का अनुकरण करना या उसके समान बनने का प्रयत्न करना है। इसी हेतु अन्तःकरण की पवित्रता का सम्पादन भक्त को पवित्रता के स्रोत प्रभु की ओर उन्मुख कर देता है। वह उसी के समान बनता जाता है और उसे अपनी पवित्रता उसी के सम्पर्क से आती हुई प्रतीत होने लगती है।

प्रभु-परायणता में भक्त को सब कुछ भगवन्मय दिखाई देता है। मन की यह वृत्ति जीव को द्वेष-भाव की ओर नहीं जाने देती। वह किससे द्वेष करे? जब सब प्रभुमय ही हैं, तो भेद-भावना के लिये स्थान ही कहाँ रहा? द्वेष भेद-भावना पर अवलम्बित है। जब अवलंबन ही नहीं रहा, तो अवलंबन लेने वाला ठहरेगा कहाँ? अतः भक्त के अन्दर द्वेष का शमन हो जाता है। द्वेष का शमन विश्व-बन्धुत्व-भावना को जागृत कर देता है। भक्त के पवित्र अन्तःकरण को प्रभु-परायणता की भावना और भी अधिक पवित्र करती जाती है। उसके अन्दर का रहा-सहा मल भी समाप्त हो जाता है। उसकी न्यूनता न्यून होती जाती है और भक्त पूर्णता की ओर प्रयाण करने लगता है। आत्मा पर पड़े हुए आवरण फटते जाते हैं। तम, रज, सत के सभी पर्दे नष्ट हो जाते हैं और आत्मा निस्त्रैगुण्य की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

प्रभु में लगी हुई भक्तकी एकतानवृत्ति भक्तके आत्मा को प्रभु के साथ तदाकार कर देतीहै। मनोविज्ञान की प्रसिद्ध उक्ति है: 'As a man thinketh, So is he.' हम जैसा विचार करते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। प्रभु-परायणता की भावना आत्मा की कामनाओं को सब ओर से हटाकर प्रभु में केन्द्रित कर देती है। आत्मा का लक्ष्य प्रभु रह जाता है। मनोविज्ञान की दृष्टि में जीवन की यह सबसे बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। संस्कृत में परब्रह्म का अर्थ ही सबसे बड़ी वस्तु है।

—oo:o:oo—

विष्णु की महत्ता

विष्णु शब्द विष्लृ धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है व्याप्त होना। जो व्यापक है, वह विष्णु है। वेद में विष्णु शब्द अपने मूल धात्वर्थ को लिये हुये कई पदार्थों का वाचक है। विष्णुसूक्त (ऋग्वेद १ । १५४) में जिस विष्णु का वर्णन है, वह यास्क के अनुसार सूर्य है, क्योंकि सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा समस्त संसार में व्याप्त हो जाता है। सूर्य ही अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौलोक तीनों को प्रकाशित करता है, अतः वह त्रिविक्रम कहलाता है। कुछ विद्वान् त्रिविक्रम से सूर्य के उदय, मध्य तथा अस्त होने की तीन गतियों का भी अर्थ लेते हैं। उसे उरुगाय तथा उरुक्रम भी कहा गया है। इन दोनों शब्दों का अर्थ भी विस्तृत गति वाला है। विष्णु का एक विशेषण गिरिस्थित भी है, जिसका अर्थ है वाणी में अथवा पर्वत पर स्थित। सूर्योदय होते ही वाणी विलास करने लगती है और सूर्य की किरणें पर्वतमाला के शिखरों को स्वर्ण रंग से अनुरंजित कर देती हैं। सूर्य के तीन पैर मधु से पूर्ण कहे गये हैं, जो अक्षीयमाण हैं और स्वधा अर्थात् अपनी शक्ति में ही आह्लाद से ओतप्रोत हैं। सूर्य वस्तुतः सब प्राणियों के लिये मधु है, जीवन है, समस्त भुवनों को धारण करने वाला है। वह प्रजा का प्राण और जीवनी शक्ति का स्रोत है। वह स्वस्तिपथ पर चलने वाला है। जो मानव दिव्यता के अभिलाषी हैं, देव बनने की कामना रखते हैं, उन्हें सूर्य के प्रिय पथ का ही अनुसरण करना पड़ता है। विष्णु का एक परम पद भी है, जहाँ मधु का स्रोत है, भूरिश्रृंगों वाली गायें हैं तथा जिसे सूरी, प्रज्ञाधनी विकसित मानव ही देख सकते हैं।

विष्णुसूक्त के इस वर्णन में यदि हम विष्णु का अर्थ केवल सूर्य लें, तो कुछ शब्दों का पूरा रहस्य नहीं खुल सकेगा। व्यापक होने से सूर्य तो विष्णु है ही, परन्तु जो तत्त्व इस सूर्य में व्याप्त है और उस तत्त्व का भी जो परम तत्त्व है, वह भी व्याप्त होने के कारण विष्णु-पद-वाची होना चाहिये। मधु सूर्य की किरणों में है, परन्तु वहाँ वह अपने मूल तत्त्व से आया है। जो प्रकाशों का भी प्रकाश है, जिससे समस्त ज्योतियाँ अपनी-अपनी ज्योति प्राप्त करती हैं, जो अग्नि, वरुण (विद्युत्) और मित्र (सूर्य) के तेज, इन्द्रत्व

और आज का मूल कारण है, उसे हमारे ऋषि देवताओं के देवता, सूर्यों के भी सूर्य और सर्वव्यापक परम प्रभु के नाम से पुकारते रहे हैं। विष्णु शब्द का यह सबसे अन्तिम अर्थ है। इस अर्थ को ग्रहण करने से वेदमन्त्रों में निहित वे अर्थ भी प्रकाशित हो उठते हैं, जो अनेक विद्वानों के लिये रहस्य बने हुये हैं। ऋग्वेद १–१५६–२, ३ में विष्णु शब्द ईश्वर के ही अर्थ में आया है। वह सबसे पूर्व्य (पहला) और जगत् का उत्पादक है। हमें उसी का भजन, स्मरण और उसीके समक्ष आत्मसमर्पण करना चाहिये। उसके नाम का कीर्तन स्तोता या भक्त को यश तथा श्री से सम्पन्न कर देता है। ये विशेषण ईश्वर के ही हो सकते हैं, अन्य किसी के नहीं।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को विष्णु कहा गया है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में पुरुष को भी यज्ञ माना गया है, जिससे प्राणी, ज्ञानी तथा साध्य उत्पन्न हुये। वेद की ज्ञान-राशि भी इसी यज्ञरूप पुरुष से उत्पन्न हुयी। ऋषियों ने यज्ञ का प्रारम्भ इसी की अनुकृति पर किया और धर्म की स्थापना की। जीवन के समस्त नियम उन्होंने यहीं से प्राप्त किये। पुरुषसूक्त इन नियमों को प्रथम धर्म कहता है। इस सूक्त में पुरुष को सहस्र शिर, नेत्र और चरणों वाला कहा गया है। यह पुरुष चतुष्पाद है। यह जो कुछ दिखाई देता है—अगणित तारे, सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, पृथ्वी, शुक्र-बृहस्पति आदि—वह सब उसका एक पाद है, एक भाग है और उसकी महिमा को प्रकट करता है। उसके तीन पाद अमृत हैं। एक पाद मर्त्य है, विनश्वर है, परन्तु तीन पाद अविनश्वर हैं। एक पाद मृत्यु है, तो तीन पाद जीवन हैं। एक पाद विष है, तो तीन पाद मधु हैं। विष्णुसूक्त में विष्णु का परम पद मधु का उत्स है। इसका आनुषंगिक अर्थ यह भी है कि उसका अवम पद मधु नहीं, विष है। पुरुष-सूक्त जिसे अमृत कहता है, विष्णुसूक्त उसीको मधु कहता है। वेद में अन्यत्र इसी को तृतीय धाम भी कहा गया है और लिखा है कि इस धाम में देव अमृत का उपभोग करते हैं। इस प्रकार पुरुषसूक्त का पुरुष और विष्णु-सूक्त का विष्णु दोनों एक हो जाते हैं। वैष्णव आचार्यों ने दोनों में एकता स्थापित की भी है।

जिसके गर्भ में हिरण्य हो, वह हिरण्यगर्भ है। 'हिरण्यं वै ज्योतिः' इस शतपथ वाक्य के अनुसार हिरण्यगर्भ हमारे सौर जगत् का सूर्य है, क्योंकि

इसी के अन्दर ज्योति है। ब्रह्माण्ड में और भी अनेक सूर्य हैं जो स्वयं ज्योतिष्मान् हैं, तथा अन्यों के लिये ज्योति विकीर्ण करते रहते हैं। सूर्य विष्णु है, अतः हिरण्यगर्भ भी विष्णु है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ प्राजापत्यसूक्त ८, ७, ३ के अन्तिम मन्त्र में हिरण्यगर्भ को प्रजापति शब्द से सम्बोधित किया गया है। इस मन्त्र के पूर्व के दश मन्त्रों में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' पद छन्द के अन्तिम चरण के रूप में आता है, जिसमें कस्मै का अर्थ 'प्रजापतये' किया जाता है। वस्तुतः इस शब्द में प्रश्न और उत्तर दोनों ही विद्यमान हैं। कः जहाँ प्रश्नवाचक 'कौन' है, वहाँ 'कः वै प्रजापतिः' ऐसा उत्तर-वाचक ब्राह्मण-वाक्य भी है। सूर्य अथवा विष्णु प्रजाओं का प्राण, अत एव प्रजापति है, ऐसा हम पीछे लिख आये हैं। इसी आधार पर हिरण्यगर्भ प्राजापत्य-सूक्त को वैष्णव आचार्य पूजा के अन्तर्गत प्रयोग में लाते रहे हैं।

हिरण्यगर्भ प्रजापति की विशेषतायें क्या हैं? सूक्त के अनुसार वह सबसे पहले विद्यमान था। जो कुछ यहाँ उत्पन्न हुआ है, उसका वही पालक है। वही द्यावा-पृथ्वी को धारण करने वाला है। वही बल का दाता है। समस्त देव उसी की आज्ञा का पालन करते हैं। अमृत और मृत्यु दोनों उसी के अधिकार में रहते हैं। वही निमिषवान्, प्राणवान्, चतुष्पद और द्विपद चार प्रकार की सृष्टि का राजा है, शासक है। हिमवान् पर्वत, समुद्र, सरिता, दिशायें, पृथ्वी, स्वर्ग, नाक सबका वही धाता है। उसने समस्त लोक-लोकान्तरों को इस अन्तरिक्ष में दूरी, परिमाण, गति आदि की दृष्टि से नापकर रख दिया है। क्रन्दन करते हुये द्यावा-पृथ्वी अथवा अन्य द्युम्नों ने जिसे अपने रक्षण, आश्रय के लिये पकड़ा है, जिसने कम्पितों पर सहृदयता-पूर्ण दृष्टि डालकर उन्हें आश्वासन दिया है, जिसके अन्दर ही सूर्य उदय होकर चमकता है, विशाल जलीय शक्ति गर्भ धारण करती हुयी तथा अग्नि की उत्पादिका बनकर जिसके कारण विश्व को प्राप्त हुई है, देवताओं की एकमात्र प्राणशक्ति जिसकी कृपा का फल है, यज्ञ की जननी, बलवती कर्मशक्ति जिसके कारण महत्त्वशालिनी बनी है, जो समस्त देवताओं में उनके ऊपर एक देव है, जिससे अन्य (पृथक्) यहाँ कुछ भी नहीं है, वह प्रजापति हमारी कामनाओं को पूर्ण करे।

हिरण्यगर्भ प्रजापति के ये विशेषण अकेले भौतिक सूर्य पर नहीं घट सकते। सूक्त के अनुसार स्वयं सूर्य उस प्रजापति के अन्दर उदित होता है। यही

नहीं, प्रजापति ने सूर्यादि समस्त लोकों को अन्तरिक्ष में माप कर रख दिया है और उससे कोई अन्य नहीं है अर्थात् जो सर्वव्यापक है, ऐसा प्रजापति तो वही देवाधिदेव है, जिसे इस सृष्टि का जनिता, विधाता और संहर्ता कहा जाता है। वैष्णवों ने विष्णु को इन्हीं सब विशेषणों से विशिष्ट मानकर उसे भगवान् की संज्ञा प्रदान की है।

वेद ने इस भगवान् को अनेक नामों से पुकारा है। वही अग्नि, मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, गरुत्मान् आदि नामों वाला है। ये विभिन्न नाम उसके विभिन्न गुणों को प्रकट करते हैं। इन्द्र शब्द वेद में कई बार आता है और पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में इन्द्र ही वेद का सर्वश्रेष्ठ देवता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के मन्त्रों का कम से कम चतुर्थांश इन्द्र देवता की स्तुति से भरा पड़ा है। निरुक्त के अनुसार इन्द्र शब्द वेद में कहीं इन्द्रियों के अधिपति मन या आत्मा के लिये, कहीं विद्युत् के लिये और कहीं सूर्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] इन्द्र का अर्थ इनके अतिरिक्त परमात्मा भी है। 'यः इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः' जहाँ ऐश्वर्य है, वहीं मानो इन्द्र की शक्ति कार्य कर रही है। ईश्वर शब्द का भी यही अर्थ है। ऋग्वेद द्वितीय मण्डल के १२ वें सूक्त में इन्द्र का गुणगान है, जिसके अनुसार इन्द्र वज्रबाहु, वज्री, रथेष्ठ, सोमपा, मरुत्वान्, शचीपति, शक्र, अप्सुजित्, वृत्रहन् आदि नामों वाला है। उसने प्रसिद्ध होते ही समस्त देवों को अपने कर्म से विभूषित कर दिया, जिसके महान् बल के सामने द्यावा-पृथ्वी काँपते हैं, जो व्यथमान पृथ्वी और प्रकुपित पर्वतों को शान्त करता है, जो अहि को मार कर सप्त सिन्धुओं को उन्मुक्त करता है, जिसके सामने विश्व के सभी पदार्थ झुक जाते हैं, जो कृश और सबल दोनों को धन देता है, जो स्तोता ब्राह्मण का रक्षक है, जिसके बिना समर में मानव विजय नहीं प्राप्त कर पाते और युद्ध करते हुये अपनी रक्षा के लिये जिसे बार-बार पुकारते हैं, जो विश्व के एक-एक पदार्थ में

---

१. The gods of the Rigevda do not stand out in clear individuality and distinctness the one from the other. They are personifications of nature, lack character & tend to melt into one another.

J.N. Farquhar : An outline of the religious literature of India. p.15 यह कथन भी इसी उपर्युक्त मत का समर्थन करता है।

तद्रूप बनकर समाया हुआ है; जो बड़े से बड़े अच्युतों को भी च्युत करने की शक्ति रखता है; जो दस्युओं का हन्ता, पापियों का संहर्ता, सुरक्षित स्थानों पर भी बैठे हुये शान्ति के शत्रुओं का विनाशक, याज्ञकों और स्तोताओं का संवर्धक वज्रहस्त इन्द्र है, उसी में हम सबको श्रद्धा रखनी चाहिये। इस सूक्त में आये हुये इन्द्र के विशेषण उसे सर्वोच्च कोटि के देव पद पर आसीन कर देते हैं। इन्द्र शब्द यहाँ भी ऊपर वर्णित कई शक्तियों का द्योतन करते हुये परमात्मा का भी वाचक सिद्ध हो जाता है।

विष्णु को इन्द्र का योग्य सखा भी कहा जाता है। 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' पद में इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। विष्णु अर्थात् ईश्वर उसका योग्य सखा है। ऋग्वेद में अन्यत्र भी आत्मा और परमात्मा दोनों को सयुजा और सखा कहा गया है। इन्द्र-वृत्र-युद्ध में इसी प्रकार यदि एक ओर भौतिक क्षेत्र के सूर्य और मेघ के संघर्ष का वर्णन है, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र की दैवी एवं आसुरी वृत्तियों के द्वन्द्व का संकेत है। ऋ० १,५२ में यदि इन्द्र 'रजसः व्योम्नः पारे' कहे गये हैं तो ऋ० ७, १०० में विष्णु को भी 'रजसः पराके' कहा गया है। इन्द्र देवों का राजा है, तो विष्णु भी देवों में परम अर्थात् श्रेष्ठ हैं। इन्द्र वर्षा का देवता है और अन्न, भोजन तथा चारा उत्पन्न करता है जो धन और समृद्धि के कारण हैं, तो विष्णु श्री और लक्ष्मी के पति हैं। राधा का अर्थ भी अन्न, हरा तथा धन है।[1] अतः विष्णु को आगे चलकर राधापति भी कहा गया है। गोवर्धन शब्द भी अन्न की ओर संकेत करता है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत धर्म के अनुयायियों ने इन्हीं अमूर्त वैदिक भावनाओं को लेकर मूर्त रूप प्रदान कर दिया है। श्रुतियों को तो उन्होंने गोपिका बनाया ही है, वैदिक राधा शब्द को भी उन्होंने सर्वश्रेष्ठ राधा नाम की गोपी बना दिया है।

इस प्रकार इन्द्र और विष्णु दोनों अनेक समान विशेषताओं से युक्त हैं। दोनों ने साथ रहकर असुरों से युद्ध किया है। कुछ बातें अवश्य ऐसी हैं,

---

१. सीता शब्द का अर्थ भी (हल के फाल से जोतने पर पृथ्वी में पड़ी गहरी रेखा) खेती तथा धान्य से सम्बद्ध है बाली द्वीप में नारायण की पत्नी श्री देवी भी धान्य की देवी मानी जाती है। वहाँ धान के बीज को उमा देवी तथा नवीन पौदे को गिरिनाथ कहते हैं। लक्ष्मी का अर्थ तो धन-धान्य प्रसिद्ध ही है।

जो एक को दूसरे से पृथक् करती हैं, यथा इन्द्र को त्रिविक्रम कहीं भी नहीं कहा गया है। यह विशेषण विष्णु के साथ ही संयुक्त है और भावी पौराणिक गाथाओं का आधार है। अतः जो व्यक्ति वेदार्थ की प्रणाली से परिचित हैं, उन्हें वेद में आये इन्द्र, विष्णु तथा अन्य शब्दों के अर्थ करने में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती।

ऐतरेय ब्राह्मण १, १ में अग्नि को अवम और विष्णु को परमदेव कहा गया है। इन दोनों के बीच में अन्य सब देव हैं। इस स्थल पर विष्णु के सूर्य और परमदेव परब्रह्म दोनों अर्थ लग सकते हैं। विष्णु के त्रिविक्रम नाम को लेकर ऐतरेय ब्राह्मण ६, ३, १५ और शतपथ ब्राह्मण १, ९, ३, ९ में एक कथा गढ़ी गई है, जो इस प्रकार है :

'इन्द्र और विष्णु दोनों का असुरों से युद्ध हुआ है। असुरों को जीतकर इन्द्र और विष्णु बोले : आओ, हम आपस में अपना-अपना क्षेत्र चुन लें।' असुरों ने कहा : 'तथास्तु'। इन्द्र कहने लगे : 'विष्णु तीन पैर चलने में जितना क्षेत्र घेर लें, उतना हमारा, शेष तुम्हारा अर्थात् असुरों का।' विष्णु ने तीन पैरों के रखने में ही इन समस्त लोकों को नाप लिया, लोकों के साथ वेदों को भी।' वामनपुराण में वामनावतार के साथ इसी प्रकार की कथा सम्बद्ध है। वामन का रूप लघु है, परन्तु वही फैलकर विष्णु अर्थात् व्यापक रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार की कथाओं में अलङ्कारों द्वारा सूक्ष्म तत्वों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव में जो पिण्ड या अण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। इस कथा में इन्द्र और विष्णु का परस्पर सहयोग तथा उसके द्वारा दोनों की असुरों पर विजय ध्यान देने योग्य है। इन्द्र यहाँ आत्मा है। विष्णु परमात्मा है। आत्मा परमात्मा के सम्पर्क में रहकर, भक्ति-योग द्वारा उसकी सहायता प्राप्त करके ही आसुरी वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर पाता है।

इन्द्र और विष्णु की प्रतिस्पर्द्धा का उल्लेख परवर्ती साहित्य में अवश्य मिलता है। विष्णुपुराण में दुर्वासा के शाप से इन्द्र की श्री छीनी जाती है और वह विष्णु की बन जाती है। विष्णु के अवतार कृष्ण इन्द्र को पराजित करके स्वर्ग से पारिजात वृक्ष को लाते हैं। भागवत के अनुसार कृष्ण इन्द्र की पूजा मिटाकर गोवर्धन-पूजा का आरम्भ करते हैं। इन कथाओं में भागवत धर्म की एक विशेषता छिपी है। यह विशेषता है स्वर्ग-प्राप्ति की आशा दिलाने

वाले याज्ञिक कर्मकाण्ड का खण्डन और उसके स्थान पर लोक-धर्म तथा भक्ति की प्रतिष्ठा करना। भागवत धर्म शीर्षक परिच्छेद में इस सम्बन्ध के पर्याप्त संकेत मिलेंगे। स्वर्ग में ऐश्वर्य है, इन्द्र उसका अधिपति है। 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग-प्राप्ति का अभिलाषी यज्ञ करे। इस प्रकार के कथनों से भागवतों को सन्तोष नहीं हुआ। अतः स्वर्ग और यज्ञ दोनों के स्थान पर भक्ति तथा स्वर्ग के अधीश्वर इन्द्र के स्थान पर स्वर्ग से भी बढ़कर परम पद के अधिष्ठाता विष्णु की प्रतिष्ठा भागवतों ने की और उसे वासुदेव कहकर पुकारा। महा-नारायण उपनिषद् (१–३१) में जो सम्भवतः ईसा पूर्व तृतीय शतक के पश्चात् की निर्मित नहीं है[1] वासुदेव को विष्णु का एक विशेषण माना गया है। दोनों का निरुक्ति-जन्य अर्थ एक ही है: सर्व-व्यापक या सब में निवास करने वाला।

भागवतों ने विष्णु के कई अवतारों की कल्पना की है और उन सब में कोई न कोई सूक्ष्म तत्त्व छिपा है। पीछे हमने अग्नि को रुद्र और सोम का विष्णु माना है। अग्नि का संबन्ध यज्ञ से है और 'यज्ञो वै विष्णु.' शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य से यज्ञ ही विष्णु है। अतः दोनों में ऐक्यभावना होनी चाहिये थी, परन्तु याज्ञिकों के अत्यधिक कामपरक होने के कारण ऐसा संभव न हो सका। यज्ञ की पशुबलि ने भागवतों को सोमस्वरूप विष्णु के रक्षक एवं शान्तभाव की ओर आकृष्ट कर दिया। हाँ, भागवतों ने अग्नि के दूसरे रूप रुद्र के साथ विष्णु की अभिन्नता का प्रतिपादन अवश्य किया। रुद्र और विष्णु एक ही हैं, इस तथ्य के पोषक वाक्य पुराण-साहित्य में अनेक स्थानों पर हैं। पद्म पुराण, भूमिखण्ड अध्याय २ के नीचे लिखे श्लोक इस तथ्य का समर्थन करते हैं:

शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे। शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदये शिवः। एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिताः। इसी संबन्ध में पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय ७३, श्लोक ५१ भी देखने योग्य है। विष्णुपुराण, ५।३३।४९ में भी लिखा है:

---

1. J. N. Farquhar: An outline of the religious literature of India. p. 49

अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः । वदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर । ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, उत्तरार्ध, ७३।५३ में इस एकता का प्रतिपादन इन शब्दों में हुआ है : 'चतुर्भुजोऽहं वैकुंठे शिवलोके शिवः स्वयम् ।' वायुपुराण, अध्याय २५, श्लोक २० से २५ तक महादेव का विष्णु और रुद्र की एकता प्रतिपादन करने वाला कथन अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें जड़ एवं जंगम समग्र विश्व को रुद्र-नारायणात्मक कहा गया है। रुद्र अग्नि है तो नारायण अर्थात् विष्णु सोम है, एक रात्रि है तो 'दूसरा दिन, एक ज्ञान है तो दूसरा ज्ञेय, एक यज्ञ है तो दूसरा उसका फल, एक का जप दूसरे को प्रसन्न करने वाला है। वायुपुराण का यह कथन : 'मां विशन्ति त्वयि प्रीते जनाः सुकृतिकारिणः' तुलसीकृत रामचरितमानस के इन शब्दों की स्मृति करा देता है : 'शिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावै।'

पाञ्चरात्रों ने जिस यज्ञपुरुष नारायण को अपना आराध्य देव बनाया था, वह विष्णु ही है। यह विष्णु वेद का ज्योतिःस्वरूप, निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म ही है, इस तथ्य को भागवतकार ने नीचे लिखे श्लोक में अभिव्यक्त किया है :

रूपं यत्तद् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥

(भाग० १०।३।२४)

महाभारत के तृतीय पर्व में भीम द्वारा एवं द्वादश पर्व में भीष्म द्वारा विष्णु की जो स्तुति की गई है उसमें और त्रयोदश पर्व के विष्णुसहस्रनाम में विष्णु की जो महत्ता तथा गुण वर्णित हुए हैं, वे भी वैदिक विष्णु के गुणों से समता रखते हैं।

विष्णु या नारायण को क्षीरसागर का निवासी कहा जाता है। यह क्षीर-सागर महाभारत के नारायणीय उपाख्यान का श्वेतद्वीप है। तैत्तिरीय आरण्यक १०।११ में भी नारायण शब्द परमात्मा का वाचक है। हमारी सम्मति में यही क्षीरसागर कबीर का गगन, हठयोगियों का शून्य और शैवों का मानसरोवर है। इसी को वैकुंठ और गोलोक भी कहा जाता है। नारायणीय उपाख्यान में जो नारायण विश्वात्मा हैं और धर्म के पुत्र हैं, उन्हीं

को व्यासजी नर, नारायण, हरि और कृष्ण कहते हैं। वामनपुराण, अध्याय ६ में नारायण के इन चारों रूपों के साथ अहिंसा और धर्म को संबद्ध किया गया है। शतपथ ब्राह्मण १४।१।१ में देवता तेज, यश और अन्न की प्राप्ति के लिये यज्ञ करते हैं, परन्तु इस यज्ञ के अन्तिम छोर तक सबसे पहिले विष्णु ही पहुँचते हैं, अन्य कोई देव नहीं। विष्णु को इस हेतु भी सब देवताओं में शिरोमणि माना जाता है। महाभारत में इन्हीं विष्णु के साथ वासुदेव कृष्ण की एकता स्थापित की गयी है। इस प्रकार वैदिक देव विष्णु, जागतिक देव नारायण और ऐतिहासिक देव वासुदेव कृष्ण तीनों वैष्णवधर्म के आराध्य देव बनते हैं। गोपालकृष्ण की लीलायें इन्हीं के साथ बाद में संयुक्त हो जाती हैं।

वैष्णवधर्म के विष्णु, हरि, कृष्ण और नारायण चारों देव एक ही हैं, इस मत का प्रतिपादन ब्रह्मपुराण, अध्याय ७० के नीचे लिखे श्लोकों में हुआ है:

विष्णुत्वं श्रूयते यस्य हरित्वं च कृते युगे।
वैकुंठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च।
नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवोऽव्यय एव च॥

इस संबन्ध में भास-रचित बालचरित का यह प्रारम्भिक श्लोक भी ध्यान देने योग्य है, जिसमें विभिन्न नामों का सम्बन्ध विभिन्न युगों के साथ जोड़ा गया है:—

शंखक्षीरवपुः पुरा कृतयुगे नाम्ना तु नारायणः
त्रेतायां त्रिपदार्पितं त्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः।
दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे
नित्ये योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः॥

वैष्णवधर्म की विशेष प्रतिष्ठा सात्वतों के अन्दर हुई। श्रीकृष्ण का जन्म सात्वत वंश के ही अन्तर्गत हुआ था। पाञ्चरात्र या भागवतधर्म के प्रतिष्ठाता द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण और उनके ज्येष्ठ बन्धु संकर्षण हुए। पातञ्जल महाभाष्य (१-४-३६) में दोनों बन्धुओं को आराध्य देव माना गया है, परन्तु किसी प्रकार संकर्षण इस पद से हटा दिये गये और श्रीकृष्ण के ही अन्तर्गत विष्णुत्व का सम्पूर्ण समावेश हो गया। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' की उक्ति चारों ओर फैल गई।

अवतार

जब हम अवतारवाद की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान उस सिद्धान्त-विशेष की ओर जाता है, जिसका प्रवर्तन भागवतधर्म के साथ हुआ। अवतार-वाद भागवतधर्म की ही देन है। भागवतधर्म का प्राचीन रूप पाञ्चरात्रतन्त्र है, जिसे चित्रशिखण्डी ऋषियों ने प्रचारित किया था। भागवतधर्म के परवर्ती रूप के प्रतिष्ठाता भगवान् श्रीकृष्ण हैं, यद्यपि कतिपय पाञ्चरात्रसंहिताओं में यह श्रेय संकर्षण को भी दिया गया है, जो श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम का एक नाम है। भागवतधर्म को सात्वत-विधि की उपासना या आचार भी कहा जाता है। सात्वतवंश यादवों की ही एक शाखा है और सात्वत-विधि भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट विधि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। चतुर्व्यूहों में संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध नाम भी श्रीकृष्ण के सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों अथवा पुत्र-पौत्रादि के हैं। अतः विद्वान् भगवान् श्रीकृष्ण को ही भागवतधर्म का अभिनव प्रतिष्ठाता मानते हैं।

श्रीकृष्ण ने गीता में जितने निरावरण शब्दों में अवतारवाद का प्रतिपादन किया है, उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। पुराणों में जहाँ-जहाँ अवतारवाद का उल्लेख है, वहाँ गीता के शब्दों को ही दुहरा दिया गया है।

गीता (७-४-५) अष्टधा प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार) और जीव को भगवान् की ही द्विविध प्रकृति कहती है। अध्याय ४ के श्लोक ६ के अनुसार इसी प्रकृति का अधिष्ठान लेकर भगवान् अज, अव्ययात्मा तथा समस्त प्राणियों के ईश्वर होते हुए भी अपनी माया द्वारा उत्पन्न होते हैं। उनके इस सम्भव, उत्पत्ति या अवतार का कारण धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है। भगवान् अवतार लेकर धर्म की स्थापना, साधुओं का परित्राण एवं दुष्कृतियों का विनाश करते हैं। उनके जन्म और कर्म दिव्य होते हैं, साधारण मानवों के स्तर के नहीं। भागवतों का यह सिद्धान्तविशेष ही अवतारवाद के मूल में है।

जैसे व्यक्ति और उस व्यक्ति की प्रकृति दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते, इसी प्रकार प्रभु से जीव तथा जड़-जगत् के आदि कारण को पृथक् नहीं किया जा सकता। जब प्रकृति तथा प्राणी परमात्मा के ही रूप हैं या उन्हीं की प्रकृति हैं, तो उन्हें ईश्वर मानने में किसको आपत्ति हो सकती

है ? इसी आधार पर प्रकृति की मूल विकृतियों (बुद्धि, अहंकार तथा मन) को तथा जीव को चतुर्व्यूह के नामों में परिगणित किया गया है।

यह द्विविध प्रकृति प्रभु की शक्ति है, जो चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान उससे अपृथक् स्थित है। विश्व इसी शक्ति की अभिव्यक्ति है। इस रूप में समग्र विश्व को ही प्रभु का अवतार माना जा सकता है, पर अवतार वस्तुतः दिव्य जन्म एवं कर्म से सम्बन्ध रखता है, अतः विश्व की प्रत्येक सत्ता अवतार नहीं मानी जाती। गीता के अनुसार—
'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्'॥
जिस सत्त्व में विभूति, श्री तथा ऊर्जं दिखाई दे, उसी को भगवान् के तैजस अंश से उत्पन्न अर्थात् अवतार मानना चाहिये।

भागवतों की मान्यता के अनुसार भगवान् षड्गुणोपेत हैं। इन छः गुणों में से संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य और अनिरुद्ध में शक्ति और तेज की प्रधानता है। इनमें दो-दो गुण हैं, अतएव इन्हें भगवान् का आध्यात्मिक रूप और पवित्र अवतार भी कहा जाता है। भगवान के दो अवतार और होते हैं :—आवेशावतार तथा साक्षात् अवतार। आवेशावतार दो प्रकार के हैं :—स्वरूपावेश, जैसे परशुराम, रामचन्द्र आदि। शक्त्यावेश, जैसे ब्रह्मा, शिव आदि। आवेशावतार श्रेष्ठ माने जाते हैं। वे अप्राकृत तथा दिव्य होते हैं। मोक्ष के अभिलाषी साक्षात् अर्थात् दिव्य अवतारों की ही उपासना करते हैं।

भागवतों का यह सिद्धान्त चतुर्व्यूहों के उप-व्यूहों पर भी लागू होता है। एक-एक व्यूह के तीन-तीन उपव्यूह हैं। यह बारह उपव्यूह बारह राशियों में संक्रान्त सूर्य के प्रत्येक रूप के प्रतिनिधि तथा बारह महीनों के अधिष्ठातृदेवता समझे जाते हैं। पांचरात्रसाहित्य के अन्तर्गत 'अहिर्बुध्न्य संहिता' के विषय-विवरण में इनका उल्लेख हम कर चुके हैं। वहाँ ३९ विभव अवतारों का भी वर्णन दिया हुआ है, जो सन्तों के परित्राता, खलों के विनाशक, धर्म के स्थापक तथा भगवद्-भक्त होते हैं। भागवतों ने भगवान् के पाँच रूप माने हैं :—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। ये भी इसी उपर्युक्त सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं। इन अवतारों में प्रकृति तथा प्राणी-जगत् दोनों के उदात्तरूप सम्मिलित हैं। जो सम्प्रदाय

भागवतों के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं, उन्होंने अवतारवाद में आस्था प्रकट नहीं की है। पर भागवतों के अवतारवाद की मोहिनी ने आकर्षित सभी को किया है। बौद्धों ने महात्मा बुद्ध के अनेक अवतारों का वर्णन किया है। गोरखसंप्रदाय वाले गोरख को, कबीर पंथी कबीर को, सिक्ख गुरु नानक को तथा अन्यमतवादी अपने-अपने सम्प्रदाय-प्रवर्तकों तथा संस्थापकों को अवतार कहते हैं। भागवतों ने भी इन महापुरुषों में से कुछ को अपनी अवतारश्रृंखला में सम्मिलित कर लिया है। श्रीमद्भागवत महात्मा बुद्ध तथा जैन तीर्थंकर ऋषभ देव को अवतार मानती है।

भागवतों ने अवतारों की मान्यता में कुछ भेद-भावना अवश्य रखी है। श्रीकृष्ण जैसा लिखा जा चुका है, इस भागवत धर्म के अभिनव रूप के प्रतिष्ठाता हैं, अतः उनके परिवार वालों को गुण-गुम्म की प्रधानता के कारण पवित्र अवतार माना गया है। दाशरथि राम को आवेशावतारश्रेणी में रखा गया है। साक्षात् अवतारों में उन्हें परिगणित नहीं किया गया। इसका क्या कारण है? विभूति में, श्री में, ऊर्ज में अथवा षड्गुणों की स्थिति में वे किससे कम हैं? राम के चरित-सम्पत्ति, शील, गुण आदि का जो प्रभाव भारतीय जनता पर है, वैसा कदाचित् अन्य किसी के भी व्यक्तित्व का नहीं है, फिर राम को साक्षात् भगवान् का पद क्यों नहीं दिया जा सकता?

भागवतों की यह अवतार-मान्यता, जीव और प्रकृति के उदात्त अंशों को देव नहीं, पूज्य ईश्वर भाव तक पहुँचाना, पाणिनि युग के आते-आते भारतवर्ष में फैल चुकी थी। ऋतुओं को देवता मानना; स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि धातुओं से निर्मित प्रतिमा ही नहीं, मिट्टी की बनी मूर्तियों तक में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा करना; इन्द्र, कुबेर, शिव, स्कन्द, संकर्षण आदि के लिये मन्दिर बनाना, देवप्रसाद से पुत्रोत्पत्ति को सम्भव मानना और पुत्रों का नामकरण उसी आधार पर करना आदि इसी तत्त्व के द्योतक[1] हैं। यह है सात्वतवंश की भारतवर्ष को देन।

भागवत २-६-४१ के अनुसार 'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'-परमेश्वर का आद्यावतार पुरुष है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में जिस पुरुष का वर्णन है, वह यही अवतारी पुरुष है। भागवत ११-४-३ में लिखा है:—'आत्मसृष्ट

१. डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल : India as known to Panini पृ. ३५८-३६०

पाँच भूतों के द्वारा परमपुरुष आदिदेव नारायण जिस विराट् ब्रह्माण्ड-रूपी पुरी की रचना करता है, इसमें अपने अंश से प्रविष्ट होकर वह पुरुष संज्ञा को प्राप्त होता है। इसी पुरुष से अन्य अवतारों का भी जन्म होता है।' श्रीमद्भागवत में तीन स्थलों पर अवतारों का वर्णन है। उसके प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में २२ अवतारों का उल्लेख है, द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में २३ और एकादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में १६ अवतारों का वर्णन है। इन अवतारों में सनत्कुमार, सात्वतविधि के उपदेष्टा नारद, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, धन्वन्तरि, बुद्ध तथा अन्य प्रसिद्ध अवतारों की गणना है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में शूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण छः अवतार लिखे हैं। हरिवंशपुराण में भी यह छः अवतार हैं, पर कृष्ण के स्थान पर वहाँ सात्वत नाम दिया है, और हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि चार अवतार और जोड़ कर संख्या १० कर दी गई है। वाराहपुराण हंस के स्थान पर बुद्ध लिखकर अवतारों के अन्य यही नाम स्वीकार करता है। अग्नि-पुराण वाराहपुराण का अनुकरण करता है। वायुपुराण महाभारत के ६ अवतारों में दत्तात्रेय, पञ्चम, वेदव्यास और कल्कि के नाम जोड़ कर संख्या १० कर देता है। अमरकोष बुद्ध के पश्चात् चतुर्व्यूह के देवों के नाम देता है। इस प्रकार आदिदेव नारायण के पुरुषावतार के पश्चात् जो अवतार हुये हैं, उनकी संख्या सब पुराणों में एक समान नहीं है। अवतारों का वर्णन भी उन्हीं पुराणों में है, जो भागवतधर्म से विशेषरूप से प्रभावित हैं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे प्रकट होता है कि अवतारवाद भागवतधर्म की ही विशेषता है। महाभारत के अनुसार भागवतों ने अपने धर्म में सांख्य, योग, तन्त्र, वेद आदि सभी को सम्मिलित किया है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् अवतारवाद का मूल वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों तक में दिखलाते हैं। वेद के तो नहीं, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में शतपथ, ऐतरेय और जैमिनीय तथा संहिताओं में तैत्तिरीयसंहिता के प्रमाण, स्वमत-समर्थन में, इन विद्वानों ने उद्धृत किये हैं। अतः इन प्रमाणों पर भी विचार कर लेना चाहिये। नीचे हम शतपथब्राह्मण के प्रमाणरूप में प्रयुक्त स्थलों को अपने हिन्दी अनुवाद के साथ अविकलरूप में उपस्थित करते हैं। जैमिनीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीयसंहिता के उद्धरण शतपथ ब्राह्मण जैसे ही हैं। अतएव

उनको उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। इन उद्धरणों में वराह, वामन, कूर्म तथा मत्स्य अवतारों के संकेत विद्वानों को उपलब्ध हुये हैं, अतः नीचे इन्हीं के सम्बन्ध में लिखा जायगा।

वराह

शतपथ ब्राह्मण १४–१–२–११

अथ वराहविहतम्। 'इयती अग्रे आसीत्' इति। इयती ह्वा इयम् अग्रे पृथिवी आस प्रादेशमात्री। ताम् एमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः। तेनैव एनम् एतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्द्धयति। कृत्स्नं करोति। 'मखस्य ते द्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।' (यजु० ३७–५) इति। असावेव बन्धुः॥ ११॥

(जो आख्यायिका इस अध्याय में दी गई है, उसका सम्बन्ध यज्ञ के शिर अर्थात् ऊर्ध्व भाग के साथ है, जिसे इसमें प्रवर्ग्य भी कहा गया है। यज्ञ यदि शिर-रहित है, तो वह कोई फल नहीं देगा। यज्ञ के अनुष्ठाता को, इसी हेतु, यज्ञ के शिर की रचना करनी चाहिये। इसके पूर्व प्रथम ब्राह्मण में यज्ञ के अनुष्ठाता को व्रतों के पालन के लिये निर्देश दिया गया है। इस द्वितीय ब्राह्मण में यज्ञ के शिर का विधान कैसे करना चाहिये, उस विधि का वर्णन है। इस ब्राह्मण का शीर्षक 'महावीरादिप्रवर्ग्यपात्रसंभरण ब्राह्मण' है। मिट्टी और जल को मिलाकर जो मृत्पिण्ड बनाये जाते हैं, उन्हें महावीर कहते हैं।)

(सर्वप्रथम कृष्णाजिन और अभ्रि (वज्र या वीर्य) का वर्णन है। अभ्रि औदुम्बरी, उदुंबरवृक्ष की या वैकंकती, विकंकतवृक्ष की बनानी चाहिये। यह अभ्रि अरत्निमात्री, एक हाथ भर अर्थात् २४ अंगुल की हो। अरत्नि की मात्रा कुहनी से कनिष्ठका अंगुली तक एक हाथ की होती है। इस अभ्रि को वाम हाथ में लेकर दक्षिण हाथ से स्पर्श करे 'युंजते मन उत युंजते धियो' आदि मंत्र का जाप करे। यह मंत्र यज्ञ के शिर का बन्धु अर्थात् छिन्न-यज्ञ-शिर का बन्धक है। इस अभ्रि से मिट्टी खोदकर लावे और उसमें जल मिलाकर मृत्-पिण्ड बनावे। यज्ञ के छिन्न शिर का रस क्षरित हो गया था, वह द्यावापृथ्वी को प्राप्त हुआ। यह मिट्टी पृथ्वी है और

जल द्यौलोक का प्रतीक है। इस मिट्टी और जल से अर्थात् पृथ्वी और द्यौ से मृत्पिण्ड तैयार करे। यह मृत्पिण्ड महावीर हैं। इन्हें उत्तर की ओर बिछाये हुए कृष्णाजिन पर रक्खे। ये मृत्पिण्डरूप महावीर प्रादेशमात्र ऊँचे, तीन पर्व वाले तथा क्षुण्टिका के आकार के होते हैं। इसके पश्चात् वल्मीक अर्थात् बामी के अन्दर की मिट्टी लावे और उसे भी कृष्णाजिन अर्थात् काले मृग के चर्म पर रक्खे।)

इसके पश्चात् वराह अर्थात् शूकर के द्वारा खोदी हुई मिट्टी लावे और कृष्णाजिन पर रखे। 'इयती अग्र आसीत् इति' इस मंत्र में कहा गया है कि पृथ्वी पहले जल में डूबी हुई थी। जब वह जल में से निकली, तब वह पहले इतनी ही प्रादेशमात्री थी। उस पृथ्वी को 'ए पृथ्वी, तुम मूषः = चोर के समान कहाँ अदृश्य थी—ऐसा कह कर वराह ने ऊपर मारा अर्थात् ऊपर निकाला। वह वराह इस पृथ्वी का पति प्रजापति है। इन दोनों के मिथुनरूप प्रिय तेज से वह यज्ञ का छिन्न शिर समृद्ध अर्थात् सम्पूर्ण होता है। 'मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासम्' यह मंत्र इसका बन्धु है।

इसके पश्चात् सोम की प्रतिनिधिरूप लताविशेष और अजाक्षीर को लाने का वर्णन है। कृष्णाजिन पर पूर्वोक्त तीन प्रकार की मिट्टी के पिण्ड, लता और अजाक्षीर पाँचों को संभाल कर रखे। यज्ञ पाँक्त अर्थात् पांच संख्या वाला होता है। महावीर शब्द यहाँ पर पुराणों में वर्णित दक्ष प्रजापति के यज्ञ के विध्वंसक महादेव के गणों की ओर भी संकेत करता है। यहाँ शतपथ में ये महावीर विध्वंसक नहीं, यज्ञ के शिर को जोड़ने वाले कहे गये हैं।

वामन

शतपथब्राह्मण, प्रथम काण्ड, द्वितीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण।

'देवाश्च वा असुराश्च—उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यम् इव आसुः। अथ ह असुरा मेनिरे अस्माकमेव इदं खलु भुवनम् इति' ॥ १ ॥ देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। ये आपस में स्पर्धा करने लगे। इस स्पर्धा में देव असुरों से पराभूत हुए। देवों को पराजित करके असुर समझने लगे कि यह समस्त जगत् हमारा ही है।

ते ह ऊचुः, हन्त इमां पृथिवीं विभजामहै, तां विभज्य उपजीवामेति।

ताम् औक्ष्णैः चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चः विभजमाना अभीयुः ॥ २ ॥

असुर हर्षपूर्वक कहने लगे—अब हम इस पृथ्वी को आपस मे बाँट लें और (सुखपूर्वक) अपना जीवन व्यतीत करें। इसके पश्चात् वे बैल के चर्मों से पश्चिम दिशा से प्रारम्भ करके पूर्व दिशा की ओर पृथ्वी को विभक्त करते हुए चले।

तद्वै देवाः शुश्रुवुः विभजन्ते ह वा इमाम् असुराः पृथिवीम् , प्रेत तदे-ष्यामो यत्र इमाम् असुरा विभजन्ते। के ततः स्याम—यत् अस्यै न भजेमहि इति। ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्य ईयुः ॥ ३ ॥

असुर इस पृथ्वी का आपस में बटवारा कर रहे हैं, यह बात देवताओं के कान में पड़ी। उन्होंने सोचा, इस समय चुप रहना अनुचित है, चलो, जहाँ असुर पृथ्वी का विभाग कर रहे है, वहाँ चलें। यदि इस पृथ्वी का भाग हमें प्राप्त न हुआ, तो हमारी क्या दशा होगी? अतः वे यज्ञात्मक विष्णु (सर्वव्यापक यज्ञभाव) को अपने सामने रख कर चले।

ते ह ऊचुः, अनु नो अस्यां पृथिव्याम् आभजत, अस्त्वेव नोऽपि अस्यां भागः इति। ते ह असुराः असूयन्तः इव ऊचुः—

यावदेव एषः विष्णुः अभिशेते, तावद्वो दद्मः इति ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँच कर देव बोले : 'हमें भी इस पृथ्वी के विभाजन में सम्मिलित कर लो। इसमें हमारा भी भाग है। असुर असूया के भाव से, देवों की बात को न सहते हुए बोले–जितनी भूमि को यह विष्णु (यज्ञ) सोकर व्याप्त कर ले, उतनी तुमको देते हैं।'

वामनो ह विष्णुरास। तद्देवाः न जिहीडिरे—महद्वैनोऽदुर्येनो यज्ञसम्मित-मदुः इति ॥ ५ ॥

विष्णु अर्थात् यज्ञ-भाव उस समय वामन अर्थात् लघुरूप का था। फिर भी देवों ने असुरों के वाक्य का तिरस्कार नहीं किया, प्रत्युत कहा, 'आपने हमें बहुत दिया, क्योंकि आपने हमें यज्ञसम्मित, यज्ञ-माप के बराबर दिया है।'

ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिः अभितः पर्यगृह्णन्—'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' (१–२७) इति दक्षिणतः। 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' (१–२७) इति पश्चात्। 'जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' (१–२७) इति उत्तरतः ॥ ६ ॥

तं छन्दोभिः अभितः परिगृह्य, अग्निं पुरस्तात् समाधाय, तेन अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः। तेन इमां सर्वां पृथिवीं समविन्दत। तद् यद् अनेन इमां सर्वाम् समविन्दत, तस्माद्वेदिर्नाम। तस्मादाहुः-यावती वेदिः तावती पृथिवी इति। एतया हि इमां सर्वां समविन्दत। एवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां संवृंक्ते। निर्भजति अस्यै सपत्नान्-य एवमेतद् वेद॥ ७॥

ऐसा विचार करके देवों ने यज्ञात्मक विष्णु को पूर्व की ओर शिर करके सुला दिया और दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर सब ओर से गायत्री आदि छन्दों के द्वारा उसे परिग्रहण कर लिया।

छन्दों के द्वारा उसे चारों ओर से परिगृहीत करके उन्होंने पूर्व की दिशा में आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित किया और उस विष्णुरूप यज्ञ के द्वारा अर्चना करते हुये, कर्मानुष्ठान-जनित श्रम को सहते हुए, पहले की भाँति ही चलते रहे। चलकर इन्होंने उस यज्ञात्मक विष्णु के आधारभूत स्थान से इस समग्र पृथ्वी को भलीभाँति प्राप्त कर लिया। यज्ञस्थान का नाम तभी से वेदी पड़ा, क्योंकि इसके द्वारा यह सब पृथ्वी प्राप्त हुई थी। इसी हेतु कहा जाता है—जितनी वेदी है, उतनी ही पृथ्वी है। इस वेदी के द्वारा ही यह सब पृथ्वी प्राप्त की गई। इस प्रकार सपत्नों अर्थात् शत्रुओं से यह समग्र पृथ्वी छीनी गई। जो इसे इस प्रकार जानता है, वह इस पृथ्वी से शत्रुओं को भाग-रहित कर देता है।

ऊपर जो कथा दी गई है, उसका भाव यही है कि जब देव असुरों से, दिव्य शक्तियाँ आसुरी प्रवृत्तियों से, पराजित हों, तब उन्हें यज्ञ करना चाहिये, पूजा-संगतिकरण और दान करना चाहिये। इसी क्रिया से देव असुरों पर विजय प्राप्त करते हैं। यज्ञ करने के लिये यह समग्र पृथ्वी वेदी का काम देती है। किसी भी समय, किसी भी स्थान में यज्ञ-भाव से कार्य किया जायगा, तो वह अवश्य आसुरी प्रवृत्तियों को शमन कर सकेगा।

इसके आगे जो कथा दी गई है, उसमें यज्ञकर्ता को यह निर्देश प्राप्त होता है कि वह यज्ञ-भावना को मन्त्रों द्वारा खींची गई रेखाओं में आबद्ध यज्ञ-वेदी तक ही सीमित न कर दे। जहां यज्ञ (विष्णु) सीमित वेदी के रूप में वामन है, लघु है, वहां वह अपने विशाल रूप में विष्णु है, सर्वव्याप्त है। अतः याज्ञिक को उदारचेता तथा विशाल हृदय का बनना चाहिये।

असुरों पर विजय प्राप्त करने का यही साधन है, यही उपाय है। दिव्यता का आह्वान और उसका सम्पादन इसी उपाय से संभव होता है।

मत्स्य

शतपथ ब्राह्मण, प्रथम काण्ड, अष्टम अध्याय, प्रथम ब्राह्मण।

'मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यम् उदकम् आजहुः यथेदं पाणिभ्याम् अवनेजनाय आहरन्ति-एवम्। तस्य अवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ॥ १ ॥

परिचारक प्रातः के समय मनु के हाथ-पैर धोने के लिये पानी लाये, जैसे इसे आजकल लाते हैं। मनु जब पानी से प्रक्षालन कर रहे थे, उस समय एक मछली उस पानी में से उनके हाथ में आ गई।

स ह अस्मै वाचमुवाद—'बिभृहि मा, पारयिष्यामि त्वा'- इति। 'कस्मान्मा पारयिष्यसि। इति' औघः इमाः सर्वाः प्रजाः निर्वोढा; ततस्त्वा पारयिताऽस्मि इति। कथं ते भृतिः इति ॥ २ ॥

मछली मनु से बोली—'मेरा पोषण करो, मैं तुम्हें पार लगाऊंगी'। मनु बोले—'मुझे किससे पार करेगी'? मछली बोली—'जलप्रवाह इस समस्त प्रजा को देशान्तर को बहा ले जायगा, उससे मैं तुझे पार लगाऊंगी'। मनु ने पूछा—'तेरा भरण-पोषण कैसे होगा?

स होवाच—'यावद् वै क्षुल्लका भवामः, बह्वी वै नः तावत् नाष्ट्रा भवति। उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति, कुम्भ्यां मा अग्रे बिभरासि। स यदा ताम् अतिवर्द्धै, अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि। स यदा ताम् अतिवर्द्धै, अथ मा समुद्रम् अभ्यवहरासि। तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मि' ॥ ३ ॥

मछली बोली—'जब तक हम क्षुल्लक या छोटे रहते हैं, तब तक हमारा नाश करने वाले बहुतेरे होते हैं। फिर मछली ही मछली को निगल जाती है। अतः आप मुझे पहले कुम्भी में (पानी भर कर) रख दें और मेरा पोषण करें। जब कुम्भी में बढ़कर न समा सकूँ, तो एक गड्ढा खोद कर, उसमें पानी भर कर, मुझे वहाँ रख कर पुष्ट करें। जब मैं बढ़ कर उसको भी अतिक्रान्त कर जाऊँ, तो मुझे समुद्र में ले जाकर रख देना। वहाँ पहुँच कर मैं नाश करने वालों से बच जाऊँगी।

शश्वद्ध झष आस, स हि ज्येष्ठं वर्द्धते । 'अथ इतिथीं समां तदौघ आगन्ता, तन्मा नावम् उपकल्प्य उपासासै । स औघ उत्थिते नावम् आपद्यासै, ततस्त्वा पारयिताऽस्मि इति ॥ ४ ॥'

वह मछली शीघ्र ही झष (महामत्स्य) हो गई, क्योंकि मछली पानी में बहुत शीघ्र बढ़ती है। मछली बोली—'इतने वर्षों के बाद औघ (जल-प्रवाह) आवेगा। तब तुम नाव बना कर मेरा ध्यान करना और जलप्रवाह के उठने पर उस नाव पर चढ़ जाना। इसके पश्चात् उस औघ से मैं तुम्हें पार लगा दूँगी'।

तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार। स यतिथीं तत्समां परिदिदेशततिथीं समां नावमुपकल्प्य उपासाञ्चक्रे। स औघ उत्थिते नावमापेदे। तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे। तस्य शृंगेनावः पाशं प्रतिमुमोच। तेन एतम् उत्तरं गिरिम् अतिदुद्राव ॥ ५ ॥

मछली का इस प्रकार पोषण करके मनु ने उसे समुद्र में पहुँचा दिया। मछली ने जितने वर्षों का समय-निर्देश किया था, उतने वर्षों तक मनु नाव बना कर ध्यानमग्न रहे। औघ के उठने पर वे नाव पर चढ़ गये। वह मछली भी मनु की नाव के पास औघ में से कूदती-फुदकती आ पहुँची। भवितव्यतावश नाव का पाश मछली के शृंग में (अग्रभाग में) प्रतिबद्ध हो गया। उसी पाश के सहारे मछली ने नाव को उत्तर गिरि (हिमालय) से लगा दिया।

स हो वाच—'अपीपरं वैत्वा। वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तं तुत्वा मा गिरौ सन्तम् उदकम् अन्तश्छैत्सीद्, यावद् उदकं समवायाव्, तावत् तावद् अन्ववसर्पासि' इति। स ह तावत् तावदेव अन्ववससर्प। तदपि एतद् उत्तरस्य गिरेः मनोः अवसर्पणमिति। 'औघो हि ताः सर्वाः प्रजाः निरुवाह, अथेह मनुः एव एकः परिशिशिषे ॥ ६ ॥

मछली बोली—मैंने तुमको पार लगा दिया। अब इस वृक्ष में नाव को बांध दो। इस पर्वत पर रहते हुए तुम्हारे अन्दर यह जल प्रवेश नहीं कर सकेगा। फिर जैसे-जैसे यह जल नीचे उतरता जाय· वैसे ही वैसे तुम इसके पीछे-पीछे नीचे उतरते जाना। समय प्राप्त होने पर मनु नीचे उतर आये।

जिस मार्ग से मनु नीचे आये, उस मार्ग को उत्तर गिरि पर आज तक मनु का अवसर्पण-मार्ग कहा जाता है। ओघ सारी प्रजा को बहाकर ले गया। यहाँ केवल एक मनु ही अवशिष्ट रहे।

इसके पश्चात् शतपथ के इस स्थल पर मनु का तपस्या करना, पाक यज्ञ करना, इडा से भेंट होना और प्रजा की उत्पत्ति आदि का वर्णन है। इडा को आगे चलकर पशु भी कहा गया है। (पशवो वा इडा) १३।

कूर्म

काण्ड ७ अ० ५ प्रथम ब्राह्मण

कूर्म्ममुपदधाति। रसो वै कूर्म्मो, रसमेवैतदुपदधाति। यो वै स एषां लोकानाम् अप्सु प्रविद्धानां पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स एष कूर्मः।

तमेव एतत् उपदधाति। यावान्नु वै रसः, तावानात्मा। स एष इमे एव लोकाः॥ १॥

कूर्म के सम्बन्ध में स्थापना की जाती है, कहा जाता है। रस ही कूर्म है। रसात्म-रूप से ही इसका कथन किया जाता है। जो रस है, वही कूर्म है। जल में मग्न इन पृथिव्यादि लोकों का जो रस बाद में स्रवित हुआ वही कूर्म है। अतः वही रस कूर्म नाम से पुकारा जाता है। जितना रस होता है, उतने ही परिमाण का आत्मा अर्थात् शरीर होता है (क्योंकि देह के अन्दर रस ही अन्तर्भाव से कार्य करता है)। वह रसरूप कूर्म ये लोक ही हैं (रसरूप कूर्म में समस्त लोक सूक्ष्मरूप से प्रतिष्ठित हैं)।

तस्य यत् अधरं कपालं, अयं स लोकः। तत्प्रतिष्ठितमिव भवति। प्रतिष्ठित इव हि अयं लोकः। अथ यद् उत्तरं सा द्यौः ; तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति। व्यवगृहीतान्ता इव हि द्यौः। अथ यत् अन्तरा, तद् अन्तरिक्षम्। स एष इमे एव लोकाः। इमान् एव एतल्लोकानुपदधाति॥ २॥

उस कूर्म का जो (कठिन त्वचा वाला) नीचे का कपाल है, वह यह पृथ्वी लोक है। जैसे नीचे का कपाल सारे शरीर की प्रतिष्ठा या आधार होता है, उसी प्रकार से यह पृथ्वी सब का आधार है। जो ऊपर का कपाल है, वह द्यौलोक है। जैसे कूर्म का ऊपर का कपाल मण्डला-

कारूप में अपने अन्तिम छोरों को झुकाये हुए और समस्त शरीर को आच्छादित किये हुये प्रतीत होता है, वैसे ही यह द्यौलोक है, जिसके अवनत प्रान्तों को पृथ्वी ने पकड़ा हुआ है। दोनों कपालों के जो बीच में है, वही यह अन्तरिक्ष है। अतः वह कूर्म ये पृथ्वी आदि लोक ही हैं। अतः कूर्म के नाम से इन लोकों का ही कथन होता है।

तम् अभ्यनक्ति, दध्ना मधुना घृतेन। दधि ह एव अस्य लोकस्य रूपम्, घृतमन्तरिक्षस्य, मधु अमुष्य। स्वेनैव एनम् एतद्रूपेण समर्धयति। अथोदधि हैव अस्य लोकस्य रसः। घृतमन्तरिक्षस्य, मधु अमुष्य। स्वेनैव एनम् एतद्रसेन समर्धयति ॥ ३ ॥

इस कूर्म को दधि, मधु, घृत से समृद्ध किया जाता है। दधि इस पृथ्वीलोक का रूप है, घृत अन्तरिक्ष का और मधु उस द्यौलोक का। अतः कूर्म को अपने ही रूप से समृद्ध किया जाता है, क्योंकि इन लोकों का रूप ही तो कूर्म है। दही इस पृथ्वी लोक का रस है, घृत अन्तरिक्ष का और मधु उस द्यौलोक का। अतः इसे अपने ही रस से समृद्ध किया जाता है। सायण इसके भाष्य में लिखते हैं कि दही में पृथ्वी की भाँति सघनता है, दही के ऊपर घी होता है, अन्तरिक्ष भी पृथ्वी के ऊपर है, मधु वृक्ष, पर्वतशिखर आदि के ऊपरी भागों में अवस्थित पाया जाता है, अतः उसे द्युलोकात्मक कहा गया है। अथवा मधु में मधुरस रहता है, जो सोमात्मक है और सोम की अवस्थिति द्यु-लोक में मानी गई है, अतः मधु द्यु-लोक रूप है। प्रकारान्तर से यहाँ दधि आदि के द्वारा सम्पादित समृद्धि की प्रशंसा की गई है।

स यत् कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजाः असृजत। यत् असृजत अकरोत् तत्, यत् अकरोत् तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः इति ॥ ५ ॥

जो यह कूर्म नाम है। प्रजापति ने इसी का रूप धारण करके प्रजाओं की रचना की। जिसे रचा, उसको किया। अतः करने रूप क्रिया से कूर्म नाम पड़ा है। कश्यप प्रजाकारक हैं। अतः कश्यप ही कूर्म हैं। इसी हेतु समस्त प्रजा काश्यपी (कश्यप की) कहलाती है। इसके पश्चात् कूर्म को

आदित्य तथा प्राण कहा गया है, क्योंकि ये दोनों ही प्रजा की उत्पत्ति तथा जीवन के कारण हैं।

कथाओं पर एक दृष्टि—ऊपर हमने शतपथब्राह्मण की जिन ज्ञान-वर्द्धक कथाओं को उद्धृत किया है, उनमें से वामन वाली कथा तैत्तिरीयसंहिता २–१–३–१ में, वराह की कथा तैत्तिरीयसंहिता ७–१–५–१ में तथा कूर्म की कथा जैमिनीयब्राह्मण ३–२७२ में भी किञ्चित् रूपान्तर के साथ आती है। क्या ये कथायें अवतारवाद की पोषक हैं? हमें तो इन कथाओं में अवतारवाद की गंध भी नहीं मिली। कूर्म की कथा में याज्ञवल्क्य स्वयं कूर्म का अर्थ रस, आदित्य और प्राण करते हैं। उन्होंने कूर्म के रूपक से सृष्टि-विद्या की एक अद्भुत बात कह दी है। जैसे कूर्म के अधस्तन तथा ऊर्ध्व दो कपाल होते हैं, वैसे ही सृष्टि के दो सिरे हैं, एक सिरे पर पृथ्वी है तो दूसरे सिरे पर द्युलोक है। दोनों के बीच में अन्तरिक्ष है। जो बात ब्रह्माण्ड पर घटती है, वही उसके सूक्ष्मरूप पिंड पर भी। शरीर में पैर पृथ्वीरूप है, तो शिर द्युस्थानीय। बीच में मनरूपी अन्तरिक्ष है। आदित्य के भी इसी प्रकार दक्षिणायन तथा उत्तरायण दो पक्ष हैं। शरद्काल बीच में है। प्राण की भी प्राण तथा अपान दो मुख्य गतियाँ हैं, व्यान बीच की गति है। कूर्म का रस रूप भी याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कर दिया है। कूर्म यदि रस में रहता है, जल उसका निवासस्थान है, तो ये समस्त लोक भी रस में रहते हैं। पिण्ड की पिण्डी रस के कारण ही अस्तित्व रखती है, रसरूप वीर्य ही उसका आधार है। इसी प्रकार समस्त लोक-लोकान्तर अपने अन्दर निहित रस रूप विद्युत के आधार से ही स्थित हैं। कूर्म को याज्ञवल्क्य ने कश्यप भी कहा है। और उससे उत्पन्न प्रजा को काश्यपी। सृष्टि का रूप कूर्म के समान है, ऐसा हम अभी लिख चुके हैं। कूर्म के अन्दर निहित क्रिया उसके नामकरण की हेतु है। सृष्टि में भी रचनारूप क्रिया का अन्तर्भाव है।

कूर्म को दधि, मधु और घृत से समृद्ध करो, इसका क्या अर्थ है? सायण इस स्थल के भाष्य में दधि का पृथ्वी से, घृत का अन्तरिक्ष से तथा मधु का द्युलोक से सम्बन्ध जोड़ते हैं। दधि पृथ्वीरूप बाह्य शरीर को पुष्ट एवं समृद्ध करता है, इसे सभी वैद्य स्वीकार करते हैं। घृत मानसिक शक्ति का

संवर्धक है, जो शरीर के अन्दर है। सबसे अन्त में मस्तिष्क का बुद्धितत्व है। इसका संवर्धक मधु है। मधुमक्खी न जाने कितने फूलों के रस से मधु का निर्माण करती है। मधु का इसी हेतु दूसरा नाम सोम है। यह बुद्धिवर्धक है। सोम का एक अर्थ वीर्य भी है। वीर्य अनेक रसों का अन्तिम पचाया हुआ सूक्ष्म रूप है। सोम और वीर्य दोनों का रङ्ग शुक्र अर्थात् श्वेत है। सतोगुणी बुद्धि भी श्वेत है। बुद्धि की समृद्धि इसी मधुरूप सोम से होती है।

सृष्टि विद्या का जो ज्ञान इस कूर्म की कथा से होता है, वह अवतारवाद से सम्बन्ध रखने वाली पौराणिक कूर्म-कथा में कहाँ है?

मत्स्यवाली कथा शतपथब्राह्मण में ऐतिहासिक क्रम में घटित जल-प्लावन की वास्तविक घटना से सम्बन्ध रखती है। याज्ञवल्क्य ने उसे केवल चमत्कार-पूर्ण ढङ्ग से उपस्थित कर दिया है। जल-प्लावन में किसी समय समुद्र बढ़ता हुआ हिमालय से टकराने लगा था। उसमें पड़ कर यहाँ रहने वाली देव-जाति सम्भवतः नष्ट हो गई। एकमात्र मनु, दैवगत्या, जीवित रह सके। यह भी सम्भव है कि कुछ व्यक्ति भाग कर दूसरे देशों को चले गये हों और वहाँ जाकर उन्होंने जल-प्लावन की कहानी सुनाई हो। तभी तो इस भयङ्कर घटना का रूप यहूदियों के ओल्ड टेस्टामेण्ट तथा मिश्र और अरब के कथा-साहित्य में अभी तक अवशिष्ट रहा है। शतपथब्राह्मण की इस कथा में अवतारवाद का लेश भी नहीं है।

वामनवाली कथा में 'वामनो ह विष्णुरास' पद अवतार की सूचना नहीं देता। इसका तात्पर्य निरुक्त की पद्धति पर यही करना उचित होगा कि जो वामन है, लघु या सूक्ष्म रूप में है, वही विष्णु अथवा विशालरूप में है। सूक्ष्म रूप में जो तत्व कार्य कर रहा है, वही तत्व व्यापकरूप में भी क्रियाशील है। जो प्रभु स्वरूप जल-बिन्दु में समाहित हैं, वे ही इस समग्र विश्व में व्याप्त हैं। विष्णु का अर्थ यज्ञ भी है। जो यज्ञ अपने लघुरूप में गार्हपत्याग्नि में दिखाई देता है, वही यज्ञ अपने विराट् रूप में इस ब्रह्माण्ड भर में हो रहा है।

वराहवाली कथा का मूल एक विद्वान् को ऋग्वेद (८-७७-१०) में प्राप्त हुआ है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि विद्वज्जन भी वेद में शब्दविशेष

को पकड़ कर वैदिककाल के पश्चात् घटित हुई घटनाओं तथा चरितावलियों का मूल उसमें ढूँढने लगते हैं। वेद में राधा शब्द मिल गया तो इन्हें वहाँ वृषभानुजा राधा के दर्शन होने लगते हैं, सीता शब्द मिल गया, तो जनकजा सीता का भ्रम हो जाता है, राम शब्द मिल गया तो रामावतार और वराह शब्द मिल गया तो शूकरावतार इन्हें वेद में दिखाई देने लगता है। जो राम और कृष्ण सभी उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर वेद का अध्ययन करते हैं; वेद उनका अपने अन्दर उल्लेख करेगा, यह अत्यन्त असमीचीन एवं तर्क-शून्य बात इनके मस्तिष्क में कैसे घर कर जाती है, समझ में नहीं आता। राम, कृष्ण, सीता आदि के नाम, मनु के अनुसार, वेद के शब्दों को देखकर रखे गये, यह तथ्य वेदार्थ करते हुए हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये।

वराह की कथा का वेद में चिह्न तक नहीं है। वराह का अर्थ है—श्रेष्ठ शब्द, सुन्दर कथन अथवा वह पदार्थ जिसकी सब प्रशंसा करते हैं। ऋग्वेद का यह मन्त्र अर्थसहित नीचे दिया जाता है:—

विश्वेत् ता विष्णु राभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्। ऋ० ८-७७-१०

इन्द्र = परमैश्वर्यशाली, विष्णु = सर्वव्यापक ईश्वर ने, जो उरुक्रमः = महान् सामर्थ्य से युक्त है, जीवों के प्रेम से प्रेरित होकर उनके लिये वे सब पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में भर दिये हैं, जो इस लोक में जीवनयापन के लिये आवश्यक हैं, जिनकी अभिलाषा की जाती है और जिनकी प्रशंसा की जाती है—जैसे क्षीरपाक, ओदन तथा सैकड़ों महिष नाम के पशु आदि अथवा जड़ी-बूटियाँ।

इस मंत्र में न कहीं शूकर अवतार है और न उससे सम्बद्ध पौराणिक कथा का कोई संकेत। जिन विद्वानों ने वराह का अर्थ शूकर किया है, वे भी उसका नाम 'एमुष' लिखते हैं, विष्णु का अवतारी नाम नहीं लिखते।

अब शतपथब्राह्मण की कथा पर दृष्टिपात कीजिये। ऋग्वेद के मंत्र में जो 'एमुष' शब्द आया है, वह यहाँ भी विद्यमान है और उसका ए + मूष दो टुकड़े करके अर्थ किया गया है। सामान्यतः, शतपथ में, वराह द्वारा खोदी गई मिट्टी को यज्ञ के लिये लाने का वर्णन है। प्रसंगवश यह भी लिखा गया है कि जल के पश्चात् जब पृथ्वी निकली, तब वह उतने ही परिमाण की थी,

जितनी शूकर के पृथ्वी को खोदने पर उसके थूथड़े पर रखी हुई मिट्टी होती है। जल में से निकलती हुई पृथ्वी के रूप को समझाने के लिये यह अलंकार प्रयुक्त हुआ है। शूकर पृथ्वी को खोद-खोद कर उसमें से नागरमोथा आदि की जड़ों को निकाल कर खाता है। इस क्रिया में उसके थूथड़े पर कुछ मिट्टी लग ही जाती है। शूकर और वराह दोनों शब्दों का एक जैसा अर्थ है—सू-सू ऐसा शब्द करने वाला या वर = अच्छा, आह = बोलने वाला। जल भी कुछ ऐसा ही शब्द करता है। उसकी उद्वेलित तरंगों से सू-सू जैसी ध्वनि निकलती है। अतः शब्दायमान तरंगों के साथ जल शूकर नाम को चरितार्थ कर सकता है। प्रजापति परमात्मा जब जल से पृथ्वी-भाग को सृष्टि-रचना में ऊपर निकालता है, तब ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसने जल में डूबी हुई, चोर के समान छिपी हुई पृथ्वी को मार कर ऊपर की ओर फेंक दिया है। चोर को भी मार कर घर के अन्दर से बाहर निकालते हैं। पृथ्वी मानों जलरूप घर में छिपी थी। प्रजापति ने उसे मार कर ऊपर फेंका, बाहर निकाला। सर्वप्रथम पृथ्वी का जो भाग ऊपर निकलता है, वह जलरूप शूकर के थूथड़े पर रखी हुई मिट्टी के परिमाण का होता है, अर्थात् पृथ्वी का अतीव स्वल्पांश दिखाई देता है। शूकर भी पृथ्वी को खोदता है, मारता है, इसी हेतु शतपथ में 'वराह-विहत' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

इस कथा में भी अवतारवाद का उल्लेख कहीं पर नहीं है। जल में से निकलती हुई पृथ्वी को शूकर के थूथड़े पर रखी हुई मिट्टी के रूपक द्वारा समझाने का प्रयत्न मात्र किया गया है। निखिल सृष्टि एक यज्ञ का रूप है। आकाश, वायु, अग्नि और जल के निकल आने पर भी यह सृष्टिरूपी यज्ञ तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक पृथ्वी भी इनके साथ न निकले। सृष्टिरूपी यज्ञ का शिर मानों तब तक छिन्न है, कटा हुआ है। पृथ्वी के आविर्भाव के समय ही यह शिर सृष्टि के ऊपर बँधता है। इसी हेतु यज्ञानुष्ठान से पूर्व तीन प्रकार की मिट्टी, जिसका शतपथ में उल्लेख हुआ है, लाई जाती है और जल में सान कर उसके पिण्ड बनाये जाते है, जिन्हें कृष्णाजिन पर रखा जाता है। वल्मीक-वपा, वराहखात तथा अखिखात मिट्टी पवित्र मानी जाती है। इन तीनों के साथ लता तथा अजाक्षीर मिला कर पाँच

वस्तुयें हो जाती हैं। यज्ञानुष्ठान में इन पाँचों का प्रयोग होता है। यज्ञ के शिर अर्थात् ऊपरी भाग का निर्माण इन्हीं से होता है।

शतपथ ब्राह्मण की ये आख्यायिकायें अवतारवाद की समर्थक नहीं हैं। विष्णु के अवतार का उल्लेख तो इन कथाओं में कहीं पर भी नहीं है। प्रजापति परमात्मा जब सृष्टि की रचना करता है, तब इस सृष्टि का रूप क्या होता है, इसे कूर्म और वराह की कथाओं द्वारा समझाया गया है। कूर्म के रूपक को याज्ञवल्क्य ने शतपथ में अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है, अतः उसके सम्बन्ध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। वराह वाले रूपक को इतना स्पष्ट करने की आवश्यकता ही नहीं थी। अतः उसकी ओर याज्ञवल्क्य ने केवल एक पद में संकेतमात्र कर दिया है। मत्स्य वाली कथा जल-प्लावन की ऐतिहासिक घटना से सम्बन्ध रखती है, अतः अवतारवाद से एकदम असंपृक्त है। वामन वाली कथा में विष्णु अर्थात् यज्ञ के लघु और विशाल दो रूप वर्णित हुये हैं। विष्णु शब्द के वहाँ आ जाने से विष्णु का पौराणिक अवतार सिद्ध नहीं होता। विष्णु का अर्थ यज्ञ है, इस बात को शतपथ ने कई बार कहा है।

जब योगाचार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने पाञ्चरात्र अथवा भागवत धर्म को अभिनव रूप प्रदान किया, तब उनके अनुयायियों ने नारायण, विष्णु और कृष्ण में एक ही विभूति के दर्शन किये। अवतारवाद की जड़ यहीं से पड़ी। श्रीकृष्ण को महाभारत तथा पुराणों में नारायण का अवतार कहा गया है, जो महाभारत के अनुसार एक ऋषि हैं। भागवतों ने इन्हीं नारायण को परात्पर सत्ता माना है। यह ब्रह्माण्डरूपी पुरुष इन्हीं आदि देव नारायण का प्रथम अवतार है, ऐसा हम भागवत के प्रमाण से पीछे लिख चुके हैं। गीता श्री, ऊर्ज तथा विभूति से सम्पन्न सत्त्वोंको भगवान् के तेज से संभूत मानती है। अतः भागवतों या सात्वतों को जहाँ कहीं प्राणि-जगत् में असाधारणता या विभूति दिखाई दी, वहाँ उन्होंने अपनी मान्यता के अनुकूल अवतार की कल्पना कर ली। मत्स्य के कारण मनु जल-प्लावन में बच सके और मानव-वंश का प्रवर्तन करने में समर्थ हुए। अतः भागवतों को इस मत्स्य में भगवान् की विभूति दिखाई दी और पुराणों में मत्स्यावतार की कथा प्रसिद्ध हो गई। शतपथ ने इस सृष्टि को, द्यावा-पृथ्वी को, कूर्म के रूपक द्वारा समझाया था।

कूर्म का ऊर्ध्व कपाल द्यौ और अधस्तन कपाल पृथ्वी है। अतः इस सृष्टिरूप कूर्म को अवतार मानने में कठिनाई ही क्या थी? सृष्टि है ही नारायण का आद्य अवतार। प्रजापति ने वराह के रूप में इस पृथ्वी को जल से बाहर किया—इस कथा पर कल्पना का पुट चढ़ाकर और भी रंगीनी दी गई और वराह भगवान् का एक अवतार माना गया। वामनरूप यज्ञ के सहारे ही देव असुरों से पृथ्वी को छीन सके। अतः वामन भी अवतार माने गये। अवतार का उद्देश्य ही देवों की रक्षा तथा असुरों का विनाश करना है। यह कार्य भागवतों को जहाँ दिखाई दिया, वहीं अवतार की कल्पना कर ली गई। 'जिसने जगत् की रक्षा के लिये असाधारण कार्य कर दिखाया, वही अवतार हो गया। एक ओर सनकादि ऋषि, ऋषभदेव, कपिल, राम, परशुराम, व्यास आदि अवतार माने गये, तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध तक उस सूची में सम्मिलित कर लिये गये'[1]।

भागवत धर्म भक्ति-प्रधान धर्म रहा है। पुराणकारों ने इस धर्म के अभ्युत्थान में श्लाघनीय योग दिया है। पौराणिक सूतों को ब्रह्म-क्षत्र-संभव कहा गया है। यादववंश भी पुराणों के साक्ष्य से ब्रह्म-क्षत्र-संभव है। 'विश्व की दो महान् शक्तियों के सम्मिलन से श्रीकृष्ण जैसी एक महान् विभूति उत्पन्न हुई, जिसने अपने समय के प्रचलित वैदिक धर्म में महत्त्वपूर्ण सुधार किये। उनमें एक ओर क्षात्र शक्ति की बलवती कर्मनिष्ठा थी, तो दूसरी ओर ब्राह्मशक्ति की महनीय सज्ञानता एवं योग-परायणता। सूतों के अन्दर भी ये दोनों शक्तियाँ थीं। व्यास जैसे महर्षि से इतिहास-पुराण में दीक्षित होकर लोमहर्षण तथा उग्रश्रवा ने पुराणों में वैदिक आख्यायिका-सूत्रों की, आलंकारिक योजना एवं संवर्धना द्वारा, जो व्याख्या की, वह मनोरञ्जन के साथ जनता के लिये अनुपम उपदेश-शेवधि बन गई। भागवत धर्म को इन आख्यायिकाओं द्वारा बड़ा बल मिला। इतिहास तथा आख्यायिकाओं पर कल्पना का आवरण चढ़ाकर, इन पौराणिकों ने एक ओर भागवतों के अवतारवाद की प्रतिष्ठा की, तो दूसरी ओर भक्तिकांड का भी प्रभूत प्रचार किया। यह अवश्य सत्य है कि ब्राह्मणग्रन्थों की जो आख्यायिकायें ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा

---

१. डा० बलदेव प्रसाद मिश्र : तुलसीदर्शन, पृष्ठ ४९-५०, प्रथमावृत्ति।

को अपने आवरण में लपेटे रहती थीं, वह ज्ञान-विज्ञान पौराणिक आख्यायिकाओं में आकर तिरोहित हो गया।

ब्राह्मणग्रन्थों की आख्यायिकाओं को, भागवतधर्म की मान्यताओं के अनुकूल इस युग में, विकासवाद की दृष्टि से भी समझाने का प्रयास किया गया है। विकास में मानव की सृष्टि अन्य सब प्राणियों के पश्चात् हुई है। जल के बाद पृथ्वी निकली, तो प्राण-तत्त्व भी प्रथम जल के साथ ही सम्बद्ध रहा होगा। प्राणियों में मत्स्य जल का जीव है। वह स्थल पर नहीं रह सकता। जल में ही उसका जीवन निहित है। अतः पुरुषरूप ब्रह्माण्ड के अवतार के पश्चात् प्राणि जगत् का प्रथम जीव मत्स्य, प्राणतत्त्व की दृष्टि से सर्वप्रथम अवतार माना गया। मत्स्य के पश्चात् कूर्म आता है, जो जल और स्थल दोनों का जीव है। वह पानी में भी रहता है और पृथ्वी पर भी। अतः विकास की दृष्टि से इसे अवतार की दूसरी कोटि में रखा गया। वराह विशुद्ध रूप से स्थल का प्राणी है, परन्तु कीचड़ से भी प्रेम करता है। विकास के प्रथम स्तर का स्नेह कुछ न कुछ इसके साथ भी चिपटा हुआ है। अतः इसे अवतार की तीसरी कोटि में रखा गया। नरसिंह एक ओर पशुत्व का द्योतक है, तो दूसरी ओर मनुजत्व का। सिंह पशुओं में राजा है। पशुत्व का सर्वश्रेष्ठ अंश उसके अन्दर है और साथ ही नरसिंह रूप में वह नरत्व की ओर झुका हुआ है। पाशवकोटि से ऊपर तथा नरकोटि से संपृक्त नरसिंह का रूप विकास की दृष्टि से उत्तम माना जाना चाहिये। अतएव यह भी अवतारकोटि में सम्मिलित किया गया और इतिहास में कल्पना मिला कर नरसिंह अवतार की कहानी गढ़ ली गई, जो चमत्कारपूर्ण एवं कौतूहलवर्धक होने के साथ ही भगवद्भक्ति का उन्नयन करती है। इसके पश्चात् मानव का खर्वरूप—वामनजी आते हैं, जो लघु एवं विशाल दोनों रूपों को अपने अन्दर छिपाये हुये हैं। मानव में अपने से नीची कोटि के प्राणियों की लघुता है, तो साथ ही देवकोटि की दिव्यता तक पहुँचने की विशालता भी है। वामन और विष्णु के सम्बन्ध की व्याख्या इसी प्रणाली पर की जा सकती है। वामन के पश्चात् विकास में पूर्ण मानव की अवस्था आती है। पौराणिकों को इन मानवों में जहाँ चरित्र, गुण, आदर्श आदि की दृष्टि से लोकोत्तरता दिखाई दी है, वहीं पर इन्होंने अवतारवाद का आरोप कर दिया है। एक बात अवश्य ध्यान

में रखी गई है कि वह महामानव लोक तथा वेद दोनों का समर्थक हो, दोनों में से किसी का विरोध न करता हो।

अवतारवाद, इस प्रकार, भागवतधर्म के अभिनव रूप के साथ प्रारम्भ होता है, जिसके प्रतिष्ठाता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अवतारों में, इसी हेतु, 'पूर्णावतार श्रीकृष्ण को ही माना जाता है और उन्हें साक्षात् विष्णु कहा जाता है, क्योंकि वैष्णवधर्म में प्रजापति ब्रह्मा और संहारकर्ता रुद्र देवकोटि में रखे गये हैं। पीछे हमने विष्णु की महत्ता पर जो प्रकाश डाला है, वह भी वैष्णव-धर्म की इसी मान्यता को स्पष्ट करता है। श्रीकृष्ण अन्य सभी अवतारों से ऊपर हैं। परशुराम पाँच कलाओं के अवतार हैं, राम में बारह कलायें हैं, परन्तु श्रीकृष्ण में सोलह कलायें हैं। वे साक्षात् भगवान् हैं। अन्य अवतार उनसे निम्न कोटि के हैं। ऐतिहासिक अवतारी महापुरुषों में राम और कृष्ण दो के व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुये। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व-विकास पर हम 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' में पर्याप्त सामग्री दे चुके हैं। अतः उसके पुनः उद्धरण द्वारा पिष्टपेषण की यहाँ आवश्यकता नहीं है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सम्बन्ध में हम कुछ विचार नीचे प्रस्तुत करते हैं।

राम

वैष्णवाचार्यों ने अवतारों के अनेक भेद तथा प्रभेद किये हैं और जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, राम को उन्होंने साक्षात् अवतार की कोटि में नहीं रखा। वे स्वरूपावेश अवतार की श्रेणी में आते है। राम का यह अवतारी रूप भागवत के नवम स्कन्ध में वर्णित हुआ है। भागवत सम्भवतः तीसरी शताब्दी तक बन चुकी थी। 'सूरसौरभ' के परिशिष्ट १ में इस विषय के पुष्कल प्रमाण हमने प्रस्तुत किये हैं। वाल्मीकीय रामायण ने अनेक विद्वानों के अनुसार, अपना प्रचलित रूप, ईसा की दूसरी शताब्दी तक प्राप्त कर लिया था। उसके बाल तथा उत्तर दो काण्डों में राम को स्पष्ट रूप से ईश्वर का अवतार माना गया है। अयोध्याकाण्ड का निम्नांकित श्लोक भी राम को विष्णु का अवतार कहता है:—

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः।
प्रार्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥ १—७

महाभारत के आरण्यपर्व के अनुसार भी राम विष्णु के अवतार हैं—

—रामो महाबलः ।

विष्णुर्मानुष्यरूपेण चचार वसुधामिमाम् ॥ ३-१४७-२२

विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै । ३-२९९-१८

हरिवंशपुराण (४१—१२२) राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न चारों बन्धुओं को विष्णु के ही चार रूप मानता है। भागवतों का चतुर्व्यूह रूप भी चारों भ्राताओं के साथ परवर्ती साहित्य में संघटित हुआ है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का अध्याय २१२ तथा नारदपुराण का उत्तर खण्ड, अध्याय ७५ इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं। अध्यात्म रामायण आदि अर्वाचीन रचनाओं में चारों बन्धुओं को पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुकरण पर विष्णु, शेष, शंख तथा सुदर्शन का अवतार माना गया है।

रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के ने अपनी थीसिस 'रामकथा' में रामचरित्र-सम्बन्धी अमूल्य सामग्री एकत्र कर दी है। पुण्य-श्लोक राम की पावन जीवन-गाथा कितनी लोकप्रिय और आकर्षक रही है, इसका एक प्रमाण बौद्ध-साहित्य है, जिसमें राम को बोधिसत्त्व मानकर उनकी जीवन-कथा वर्णित हुई है। यह साहित्य ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व का है। जैन साहित्य में भी रामकथा मिलती है। पुरातत्त्ववेत्ता कहते हैं कि कोशल की राजधानी साकेत को शुङ्गवंश के राज्यकाल में, ईसा से २०० वर्ष पूर्व, अयोध्या नाम दिया गया। इस नामकरण के साथ राम का जीवन भी अभिनव रूप में प्रख्यात हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं है। ब्राह्मणों ने कृष्ण के साथ राम को विष्णु का अवतार स्वीकार किया। बौद्धधर्म में वे बोधिसत्त्व समझे गये और जैन-धर्मानुयायियों ने उन्हें आठवें बलदेव[1] के रूप में उपस्थित किया। रामकथा, इस प्रकार भारत के इन तीन प्रमुख सम्प्रदायों में ईसा से पूर्व ही प्रख्यात हो चुकी थी। जावा, सुमात्रा तथा कम्बोज में मन्दिरों और प्रस्तर-खण्डों पर खुदी हुई राम-जीवन की घटनायें, मेक्सीको का रामसीतोत्सव आदि ऐसे प्रमाण हैं, जो रामगाथा को दसवीं शताब्दी के पूर्व द्वीप-द्वीपान्तरों में फैली हुई सिद्ध करते हैं। परवर्ती काल में रामकथा की प्रसिद्धि तथा राम के विष्णु अथवा नारायण का अवतार माने जाने में तो कोई अन्तर नहीं आया, पर

१. डा० कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० १४६

भक्ति-भाव-पूर्वक उनकी पूजा का प्रचार इस देश में दसवीं शताब्दी के अनन्तर ही हो पाया। इसका कारण राम के नाम पर किसी सम्प्रदायविशेष की स्थापना का अभाव ही प्रतीत होता है। स्वर्गीय भाण्डारकर के मतानुसार आचार्य मध्व (स्वामी आनन्दतीर्थ) बदरिकाश्रम से राम की प्रतिमा लाये और १२६४ ई० के लगभग उन्होंने नरहरितीर्थ को राम और सीता की प्रतिमायें लाने के लिये जगन्नाथपुरी भेजा। अतः ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास रामसम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ होगा। तेरहवीं शताब्दी में हेमाद्रि ने व्रतखण्ड के अन्दर तथा वृद्ध हारीत ने अपनी स्मृति के अन्दर रामपूजा का विधान लिखा है। रामतापनी उपनिषद् भी इसी समय के आसपास लिखी गई होगी।

अध्यात्मरामायण संभवतः सोलहवीं शताब्दी की रचना है। अन्य वैष्णव-तन्त्रों की भाँति इस पर भी सांख्यशास्त्र का प्रभाव पड़ा है। अध्यात्मरामायण सीता को मूल प्रकृति तथा योगमाया का रूप मानती है:

एषा सा जानकी लक्ष्मीर्योगमायेति विश्रुता। २-५-११
मूलप्रकृतिरित्येकं प्राहुर्मायेति केचन। ३-३-२२

अध्यात्मरामायण प्रथम अध्याय में राम को परब्रह्म तथा लक्ष्मण को शेष का अवतार कहती है। इस ग्रन्थ का रचयिता कौन है, इसका समाधान-पूर्वक उचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। रामानन्द के सम्प्रदाय में इस रामायण की अधिक मान्यता है। कुछ विद्वान् तो इसे रामानन्द की ही रचना स्वीकार करते हैं। इसके अन्तिम अंश का पाँचवाँ अध्याय रामगीता है, जिसमें राम लक्ष्मण को ज्ञान का उपदेश देते हैं।

स्वामी रामानन्द के साथ रामभक्ति की गंगा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रवाहित होने लगी और पूर्णावतार का जो पद भगवान् कृष्ण को प्राप्त था, वही पद मर्यादापुरुषोत्तम राम को भी प्राप्त हो गया। जनता की अभिरुचि तथा आचार्यों की विश्लेषण-बुद्धि में कितना अन्तर है। वासुदेव कृष्ण जिन्हें साक्षात् भगवान् घोषित किया गया था, एक प्रदेश तक सीमित रह गये, परन्तु राम जो केवल स्वरूपावेश अवतार की अपेक्षाकृत हीन कोटि में रखे गये थे, जन-जन के मानस में प्रतिष्ठित हो गये।

राम और कृष्ण दोनों अवतारों की महिमा दक्षिण के आळवार भक्तों की रचनाओं में प्रकट हुई है। कुलशेखर ने राम के प्रति विशेष रूप से तथा कृष्ण के प्रति सामान्य रूप से गीत लिखकर अपनी भक्ति-भावना अभिव्यक्त की है। आळवारों के उपरान्त दाक्षिणात्य आचार्यों ने भी इन्हीं दो अवतारों के प्रति अपनी विशेष आस्था प्रदर्शित की। आगामी प्रकरण इन्हीं आळवार भक्तों तथा आचार्यों से सम्बन्ध रखते हैं।

आळवार

श्रीमद्भागवत ११-५-३८, ३९, ४० में लिखा है कि विष्णु के परम भक्त दक्षिण में ताम्रपर्णी, कृतमाला [वैगे], पयस्विनी [पळर], कावेरी और महानदी [पेरियर] के तटों पर उत्पन्न होंगे। यह आश्चर्यजनक है कि ताम्रपर्णी प्रदेश में आळवार, नाम्म आळवार और मधुर कविय आळवार उत्पन्न हुए। कृतमाल में पेरिय आळवार और उनकी दत्तक पुत्री अन्दाळ उत्पन्न हुई। पयस्विनि में पोयगेय आळवार, भूतत्त आळवार, पेय आळवार और तिरुम ऌयय पिरान, कावेरी में टोंडर अडिपोडिय आळवार, तिरुपाणि आळवार एवं तिरुमंगेइ आळवार और महानद प्रदेश में पेरिय आळवार तथा कुलशेखर पेरुमाळ उत्पन्न हुए। ये सभी परम वैष्णव भक्त हुए हैं। श्रीमद्-भागवतमाहात्म्य में भी द्रविड़देश को भक्ति की जन्मभूमि कहा गया है और लिखा है कि यह भक्ति कर्णाटक में युवती बनी, महाराष्ट्र और गुजरात में इसे बुढ़ापे ने आ घेरा, मार्ग में चलते चलते उसके ज्ञान और वैराग्य नाम के दोनों पुत्रों का निधन हो गया, परन्तु वृन्दावन में आते ही यह भक्ति पुनः युवती हो गई। भागवतमाहात्म्य के इस उल्लेख से दक्षिण भारत भक्ति-भावना का उद्गम स्थान माना जा सकता है। इस उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि भक्ति दक्षिण से चलकर कर्णाटक, महाराष्ट्र और गुजरात में होती हुई उत्तराखंड के वृन्दावन प्रदेश में पहुँची, जहाँ पर इसका वही रूप दृष्टिगोचर हुआ, जो दक्षिण कर्णाटक में था। महाराष्ट्र और गुजरात प्रदेशों के निवासी भक्ति की ओर आकृष्ट न हो सके, ऐतिहासिक परम्परा के अनुशीलन से यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। दोनों प्रदेशों ने सन्त तुकाराम और नरसी मेहता जैसे वैष्णव भक्त उत्पन्न किये हैं। महाराष्ट्र का वारकरीसम्प्रदाय तो भक्ति के क्षेत्र में अत्यन्त ख्याति प्राप्त कर

चुका है। गुजरात आज भी पुष्टिमार्गीय भक्तों का केन्द्र बना हुआ है। अतः भागवतमाहात्म्य का यह उल्लेख सर्वांशतः सत्य नहीं है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इस माहात्म्य के लिखे जाने के समय भक्ति, इन प्रान्तों में अपनी गरिमामयी अवस्था में विद्यमान नहीं थी।

आळवार दक्षिण के अत्यन्त प्राचीन वैष्णव सन्त हैं, जिनका समय दो सौ ईसवी से लेकर नौ सौ ईसवी तक है। इनमें सरोयोगिन् [पोयगेइय आळवार], भूत या पूत योगिन् [भूतत्त आळवार], महायोगिन् [पेय आळवार] और भक्तिसार [तिरुम ऋषय पिरान्] सबसे प्राचीन हैं। नाम्म आळवार [शठकोप], मधुरकविय आळवार, कुलशेखर पेरुमाल, विष्णु चित्तम [पेरिय आळवार] और गोदा [अन्दाल] उनके पश्चात् हुए। भक्तांघ्रिरेणु [टोण्डर अडिपोडिय आळवार], योगिवाह [तिरुपान आळवार] और परकाल [तिरुमंगेइ आळवार] सबसे अन्त में हुए। आळवारों की परम्परा प्रारंभिक आळवारों को ईसा से चार हजार दो सौ तीन वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ मानती है। इस गणना से अन्तिम आळवार ईसा से २७ सौ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए होंगे। आधुनिक विद्वान् अन्तिम आळवारों को आठवीं शताब्दी के लगभग का मानते हैं। गुरुपरम्परा पर लिखे हुए विभिन्न ग्रन्थों से इस काल-गणना का निश्चय किया जा सकता है।

गुरुपरम्परा के अनुसार भूतत्त, पोयगेइय और पेय आळवार क्रमशः विष्णु के गदा, शंख और नन्दक के अवतार हैं। तिरुमऋषयपिरान विष्णु के चक्र का अवतार हैं। नाम्म आळवार विष्वक्सेन के अवतार तथा कुल-शेखर पेरुमाल विष्णु की कौस्तुभमणि के अवतार हैं। पेरिय, टोण्डर अडिपोडिय और तिरुमंगइ क्रमशः गरुड, वनमाला और शार्ङ्ग के अवतार हैं।[1] आळवारों में अन्तिम तिरुपाण हैं। पेरिय आळवार की दत्तक पुत्री अन्दाल और नाम्म आळवार के शिष्य श्रीमधुरकविय भी आळवार [भगवद्भक्त] माने जाते हैं। ये सब तमिलप्रदेश से सम्बन्ध रखते हैं। तमिल का अर्थ है प्रभु प्रेम में मग्न भक्त। आळवार शब्द का भी ऐसा ही आध्यात्मिक अर्थ है। जो ईश्वरीय ज्ञान के मूल तत्त्व तक पहुँच चुका है और उसके ध्यान में मग्न रहता है, वही आळवार है। इन आळवारों में सात ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, दो शूद्र

१. वल्लभ, हरिदास, हितहरिवंश आदि के सम्प्रदायों में भी इसी से मिलती जुलती अवतार-परम्परा सुरक्षित है।

और एक किसी निम्न वर्ग का था। गुरुपरम्पराओं में आळवारों की जीवन-घटनाएँ तथा विचित्र जन्मतिथियाँ दी हुई हैं। इनके अतिरिक्त गरुड़वाहन पण्डित का दिव्य सूरिचरित ग्रन्थ रामानुज के समय में लिखा गया। दिव्य सूरिचरित के आधार पर मणिप्रवाल शैली, जिसमें संस्कृत तथा तमिळ दोनों का मिश्रण है, प्रचलित हुई। इसमें पिन्ब अलगिय पेरुमाल जीयर ने 'गुरु-परम्पराप्रभावम्' ग्रन्थ का निर्माण किया। आंबिलइ कंडाडइ यप्पन ने तमिळ में 'पेरिय तिरुमुडिय अडइवु' ग्रन्थ लिखा। मणवाड मामुनि ने तमिळ में 'उपदेश रत्न मालइ' और पिल्लइ लोकाचारयर ने 'यतीन्द्रप्रवणप्रभावम्' लिखा। आळवारों के विषय में कुछ जानकारी उनकी रचनाओं के संग्रह, नालायिरदिव्यप्रबन्धम् से भी प्राप्त हो सकती है। दिव्यप्रबन्धम् और नाम्म आळवार-रचित तिरुवायमोरी पर कुछ टीकाएँ भी लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ शिलालेख तथा ताम्रपत्र भी आळवारों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य सामग्री प्रदान करते हैं।

मणवाळ मामुनि ने 'यतीन्द्रप्रवणप्रभावम्' में लिखा है कि आरम्भिक आळवार...पेय, भूतत्त, पोयगेइय और तिरुमङ्गयपिरान पल्लवों के समय में थे, जो चौथी शताब्दी ईसवी में काञ्ची आए। नरसिंहवर्मा प्रथम ने सातवीं शताब्दी में ममल्लइ नगर को बसाया। यह नगर भूतत्त की जन्मभूमि मानी जाती है। अतः भूतत्त सातवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हो सकते। तिरुमंगइ आळवार ने काञ्ची के वैष्णव मन्दिर का यशोगान किया है, जिसे परमेश्वरवर्मा द्वितीय ने बनवाया था। अतः आळवारों का युग आठवीं शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ जान पड़ता है। इन्हीं दिनों के आसपास चोल तथा पांड्य प्रदेशों में वैष्णव-भक्ति-भावना का प्रसार हुआ था। आचार्य शंकर के प्रचार का भी यही युग था।

नाम्म आळवार काडी का पुत्र था और पांड्यों के समय में एक उच्च पदाधिकारी था। उसी का नाम काडीमाडन, परांकुश और शठकोप था। उसका शिष्य मधुरकविय आळवार था और वह तिरुक्कुरगुर में उत्पन्न हुआ था। मदूरा में दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एक पर कलि संवत् ३८७१ खुदा हुआ है। उस समय परान्तक राजा राज्य करता था। उसका उत्तर मंत्री माल का पुत्र था। माल को ही मधुर कविय आळवार कहा जाता

है। दूसरा शिलालेख मारंजदयियन राजा के समय का है। कलि संवत् ३८७१ ई० ७७० में पड़ता है। इसी वर्ष के आसपास परान्तक पांड्य राजगद्दी पर बैठा। उसके पिता परांकुश की मृत्यु ७७० ई० के लगभग हो चुकी थी। माणंकारि उत्तर मंत्री के रूप में बना रहा। नाम्म आळवार का दूसरा नाम काळीमाळन सूचित करता है कि उसका पिता काळो था। गुरु-परम्परा में दिये वृत्तान्तों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। अतः नाम्म आळवार और मधुरकवियि आळवार आठवीं शताब्दी के अन्त में विद्यमान रहे होंगे। कुलशेखर पेरुमाल का समय भी नवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध प्रतीत होता है। पेरियि आळवार और उसकी दत्तक पुत्री अन्दाल दोनों श्री वल्लभ-देव के समकालीन रहे होंगे, जिनका समय नवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। तिरुमंगइ आळवार ने पल्लवमल्ल की युद्ध-दुन्दुभि का उल्लेख किया है। इसने ७१७ से ७७९ ई० तक राज्य किया था। टोण्डर अडिपोडियि आळवार और तिरुपान आळवार तिरुमंगइ आळवार के समकालीन हैं। अतः ये इस युग से पहले के नहीं हो सकते। भांडारकर के मत से जब वैष्णव आळवार और शैव सन्त नाम्मार बौद्ध तथा जैनों के संघर्ष में आए, उस समय आळवारों को अपने उत्थान का विशेष अवसर मिला होगा। संभव है, ईसा की प्रथम शताब्दी से भी वैष्णव आळवार तमिलप्रदेश में रहे हों।

नालायिरदिव्यप्रबन्धम् में ४ हजार पद्य हैं। यह रचना-संग्रह रामानुज या नाथ मुनि के समय में सम्पादित हुआ था। इसका एक भाग रामानुज के शिष्य कुरत्तम का बनाया हुआ है। इसमें आळवारों का जो क्रम वर्णित है, वह गुरुपरम्परा द्वारा प्राप्त क्रम से भिन्न है। इसमें नाम्म आळवार का नाम नहीं है। रामानुज के एक शिष्य पिल्लान ने नाम्म आळवार द्वारा रचित तिरुवायमोडी पर टीका लिखी है, जिसके एक पद्य में उसने सब आळवारों के नाम लिखे हैं। केवल अन्दाल का नाम उसमें नहीं है। यह पद्य इस प्रकार है :

भूतं सरश्च महदान्वयभट्टनाथ श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान्।
भक्ताङ्घ्रिरेणुपरकालयतीन्द्रमिश्रान् श्रीमत्पराङ्कुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

कुलशेखर ने स्वरचित मुकुन्दमाला में अपने को कोल्ली [उरइयूर, चोल राजधानी] पांड्य राजधानी कुडल [मदूरा] और कांगू का राजा लिखा है।

त्रावणकोर का निवासी होने से वह पांड्य और चोल दोनों देशों की राजधानी का अधिपति बन गया। ९०० ई० के पश्चात् चोल राजा परान्तक का प्रभुत्व फैल गया और उसने युरइयूर के स्थान पर तंजौर को अपनी राजधानी बनाया। अतः कुलशेखर इसके पश्चात् का नहीं हो सकता।

आळवारों की रचनाओं में विष्णु के प्रति अत्यन्त गंभीर, श्रद्धा-संवलित प्रेम प्रकट हुआ है। यह प्रेम परवर्ती प्रपत्ति के व्यवस्थित सिद्धान्त का आधार है। आळवारभक्तों के पश्चात् अरगिय अर्थात् आचार्य आते हैं, जिन्होंने आळवारों की रचनाओं में निहित दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या की। पोयगेइ, भूतत्त और पेय ने तिरुवन्तादि ग्रन्थ के तीन विभागों का निर्माण किया है। प्रत्येक विभाग में १०० पद्य हैं।

नाम्माळ्वार शूद्रकुल में उत्पन्न हुआ था। इसकी रचना सबसे अधिक मात्रा में उपलब्ध होती है। इसने १०० पद्यों में तिरुवृत्तम, सात पद्यों में तिरुवाशिरियम, ८७ पद्यों में तिरुवन्तादि और ११०२ पद्यों में तिरुवायमोळी ग्रन्थ लिखे हैं। यह सदैव ध्यान में मग्न रहता था। इसके शिष्य मधुरकवि ने इसे विष्णु का अवतार माना है। कुलशेखर राम का भक्त था। इसके मुख्य ग्रन्थ का नाम पेरुमाळ तिरुमोळी है। अन्दाळ कृष्ण की भक्त थी और अपने को गोपी समझती थी। देवदासीप्रथा के अनुसार वह श्रीरंगम् के देवता रंगनाथ को समर्पित की गई थी और उसी को अपना पति समझती थी। उसके मुख्य ग्रन्थ तिरुपावइ और नच्चिआर हैं।

नालआयिर-दिव्यप्रबन्धम् जिसमें आळवारों की रचनायें संगृहीत हैं, तामिल प्रदेश में अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ माना जाता है और वेद के समकक्ष रखा जाता है। इसके पद्य मन्दिर में तथा विवाहादि के अवसरों पर घर में भी गाये जाते हैं। वैदिक मन्त्रों के साथ यज्ञ आदि अनुष्ठानों में भी इसका प्रयोग होता है।

आळवारों की भक्ति का स्वरूप

अभिरामवराचार्य ने द्रमिडोपनिषद्तात्पर्य नामक ग्रन्थ में आळवार भक्तों की रचनाओं का सार संगृहीत किया है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि शठकोप उच्चकोटि के भक्त थे। ईश्वर के प्रति उनके हृदय में 'जो श्रद्धा और

भक्ति की धारा प्रवाहित हो रही थी, वह वहीं तक सीमित न रहकर वाणी द्वारा पद्यों में फूट-फूटकर बहने लगी, जिसे पढ़कर या सुनकर पीड़ित प्राणियों को अपार सान्त्वना प्राप्त हुई। इन पद्यों में शठकोप ने पुरुषोत्तम भगवान् के समक्ष अपने पुरुषत्व और सामर्थ्य को समर्पित कर दिया है। इनका मत है कि जैसे स्त्री अपने पति के आश्रय में रहती है, वैसे ही भक्त को भगवान् के आश्रय में रहना चाहिये। अपनी प्रथम रचना में इन्होंने भगवान् से आवागमन के चक्र को समाप्त कर देने की प्रार्थना की है, द्वितीय रचना में इन्होंने प्रभु के गुणों का गान किया है, तृतीय रचना में प्रभु-प्राप्तिरूपी आनन्द की आकाङ्क्षा प्रकट की है और चतुर्थ रचना में इनकी विरह-वेदनाजन्य घोर निराशा अभिव्यक्त हुई है।

शठकोप की भक्ति दास्य-भाव की है। लौकिक लाभ को वे प्रभु-प्रपत्ति के समक्ष तुच्छ समझते हैं और आत्म-निवेदन द्वारा अपने पापों को प्रभु के आगे खोलकर रख देते हैं। उनकी मान्यता है कि भाव की तुलना में पार्थिव पदार्थों द्वारा प्रभु की पूजा करना निकृष्टतर है। भक्त के हृदय में प्रभु के लिये विशुद्ध श्रद्धा और प्रेम की भावना ओतप्रोत होनी चाहिये। प्रभु के अनुग्रह से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। भक्त को केवल अपने सर्वस्व का समर्पण प्रभु के लिये कर देना चाहिये। तत्पश्चात् उसे किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रभु का प्रेम अहेतुक है और वह भक्त को अनायास प्राप्त है।

आचार्य रामानुज का मत इस विषय में आळवारों से भिन्न है। वे प्रभु-प्रेम को निर्हेतुक और सहेतुक दो प्रकार का मानते हैं। रामानुज प्रपत्ति अर्थात् सर्वात्मना समर्पण की भावना को प्रधानता देते हैं और कहते है कि प्रभु का अनुग्रह और उनका प्रेम प्रपत्ति द्वारा ही सम्भव है। भक्त जब तक अपने आप को प्रभु की शरण में समर्पित नहीं कर देता, तब तक उसे प्रभु-प्रेम का अनुभव नहीं हो सकता। भक्त की यह प्रपत्ति-भावना उपायशून्यता भी कहलाती है। प्रभु की शरण जाने के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय इस अवस्था में लाभदायक नहीं माना जाता। परन्तु प्रपत्ति के साथ जो लोक-संग्रह का कार्य भक्त को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है, उससे भी भक्त

प्रभु-प्रेम का अधिकारी बन जाता है। प्रपत्ति से प्राप्त प्रेम निर्हेतुक और लोक-संग्रह कार्य से प्राप्त प्रभु-प्रेम सहेतुक कहलाता है।

निम्नांकित पंक्तियाँ शठकोप के सिद्धांत को भक्ति के क्षेत्र में स्पष्ट कर रही हैं :

मोक्षादरं स्फुटमवेक्ष्य मुनिर्मुकुन्दे मोक्षं प्रदातुमसदृक्फलं प्रवृत्ते।
आत्मेष्टमस्य पदकिंकरतैकरूपं मोक्षाख्यवस्तुनवमे निरणायि तेन॥
सर्वं जगत् समवलोक्य विभोः शरीरं तद्वाचिनश्च सकलानपि शब्दराशिम्।
तं भूतभौतिकमुखान् कथयन् पदार्थान् दास्यं चकार वचसैव मुनिश्चतुर्थे॥

शठकोप मोक्ष की अपेक्षा प्रभु-सामीप्य को श्रेष्ठतर समझते हैं। उनकी दृष्टि में दास्यभाव से प्रभु की भक्ति करना ही मोक्ष है। निखिल जगत् और उसकी वस्तुओं अर्थात् द्रव्यों का वे भगवान् के शरीररूप में अनुभव करते हैं। जो व्यक्ति भगवान् की आराधना नहीं कर सकते, उनके लिये वे कृष्णचरित्र तथा प्रतिमाओं के ध्यान को आवश्यक समझते हैं। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवों में आस्था रखना उनके मतानुसार अनुचित है। उनकी रचनाओं में प्रभु के वियोग की तीव्र अनुभूति प्रकट हुई है। अपने समस्त अन्तःकरण को समेटकर वे इन्हीं नेत्रों से भगवान् के दिव्य दर्शन करने के अभिलाषी हैं। इसी के साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रभु का दर्शन बाहर की आँखों से नहीं, श्रद्धा-संवलित अन्तःकरण की आँखों से ही होता है। शठकोप अपने को प्रभु की पत्नी के रूप में बार-बार प्रस्तुत करते हैं। कुम्भकोनम के मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीकृष्ण भगवान् की प्रतिमा का वे बहुत दिनों तक पूजन करते रहे और प्रभु का प्रसाद पाकर उन्होंने उसे ही स्वर्ग समझा। परिमाणस्वरूप सांसारिक जीवन में उन्हें कुछ भी रुचि न रही।

कुलशेखर की भक्ति भी अनन्यभाव की है। तिरुमल तिरुमोलि के छन्द ५ में वे लिखते हैं :

'यद्यपि अग्नि अपनी समस्त ऊष्मा के साथ प्रकट होती है, फिर भी कमल को विकसित करने में वह असमर्थ है। कमल तो तभी प्रस्फुटित होता, जब उसे प्रखर किरणोंवाले सूर्य का प्रकाश प्राप्त होता। इसी प्रकार मेरा हृदय आपके (प्रभु के) चरणकमलों के प्रेम के बिना अन्य किसी भी साधन से द्रवित नहीं हो सकता।'

जैसे निखिल झरनों और सरिताओं का जल दौड़ लगाता हुआ अन्त में समुद्र में विश्राम पाता है, वैसे ही मेरा हृदय, हे घनश्याम! आपके अन्दर ही शान्ति प्राप्त कर सकता है।

अन्दाल का नाम दाक्षिणात्य भक्तों के सम्बन्ध में श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। जैसे कृष्ण अपनी गायों के पीछे-पीछे वन में विहार करते थे, उसी प्रकार अन्दाल ने अपने को गोपी के रूप में कृष्ण की गायों के पीछे वन में भेजा है। गोपियाँ प्रेम की ध्वजा कही जाती हैं। अन्दाल भी ऐसी ही भगवान् कृष्ण के प्रेम की आदर्श पुजारिन है। जैसे अन्दाल ने अपने को गोपी के रूप में अनुभव किया है, वैसे ही पेरिय आळवार ने यशोदा बनकर कृष्ण की बाल-लीलाओं में अपने को मग्न कर दिया है।

आळवारभक्त प्रभु के जिस प्रेम का वर्णन करते हैं, वह क्षणिक प्रेम नहीं है। यह प्रेम सतत, नित्य रूप में रहने वाला है। जब यह प्रेम सघन एवं सान्द्र रूप धारण करता है, तब उसकी संज्ञा अनिर्वचनीय हो जाती है। इस प्रगाढ़ प्रेम की अवस्था में भक्त भी मूक और नीरव बन जाता है। यह प्रेम तीन अवस्थायें प्राप्त करता है: स्मरण, मूर्च्छा और अनन्त विराम। स्मरण में प्रभु की कृपा से प्राप्त आनन्द की अवस्था का भक्त के हृदय में बार-बार जागरण होता रहता है। मूर्च्छा में भक्त उस आनन्द की स्मृति से आत्म-विभोर हो उठता है। अनन्त विराम में उसकी अवस्था एकदम स्तब्ध हो जाती है। उस समय बाह्यरूप से उसमें और जड़ ठूँठ में विशेष अन्तर नहीं रहता।

दैवी सम्पदा को उत्साहपूर्वक अपनानेवाले तथा अध्यात्म-सिन्धु का गम्भीर अवगाहन करने वाले आळवारों को दाक्षिणात्यों ने सम्मान भी उन्हीं के अनुरूप प्रदान किया। उन्होंने आळवारों की मूर्तियों को दक्षिण के वैष्णव-मन्दिरों में स्थापित किया, जहाँ इनकी पूजा होती है, इनके बनाये हुए पद्य गाये जाते हैं और इनकी जीवन-घटनायें नाटक के रूप में प्रदर्शित की जाती हैं।

आळवारों की भक्ति में दास्य, वात्सल्य तथा कान्ता—तीन भावों की प्रधानता है। भगवद्भक्तों की सेवा को वे भगवान् की ही सेवा का एक अंग मानते हैं और परमेश्वर को वासुदेव, नारायण, भगवान्, राम, कृष्ण आदि नामों से पुकारते हैं।

आचार्य

दक्षिण में आळवार वैष्णवभक्तों के अतिरिक्त कुछ आचार्य भी हुए हैं। आळवारों की रचनाओं में प्रेम और श्रद्धा की भावनाओं का अतिरेक है, जिन्हें वे नारायण, विष्णु, राम या कृष्ण के प्रति प्रकट करते हैं। आचार्यों का कार्य विवाद तथा शास्त्रार्थ द्वारा विरोधी पक्ष का निराकरण और अपने मत तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है। आचार्य मीमांसा तथा वैदिक कर्मकांड के प्रकांड ज्ञाता थे। इनका समय दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक है। इन्होंने आळवारों के तमिल भाषा में लिखित भक्तिपरक पद, जिन्हें तमिल वेद कहा जाता है, और वास्तविक वेद—दोनों का गंभीर अध्ययन किया था। कर्म एवं भक्ति, लोक तथा वेद दोनों में सामंजस्य स्थापित करके इन्होंने भक्तिमार्ग को विप्र, शूद्र, स्त्री, पुरुष सबके लिये उन्मुक्त कर दिया।

आचार्यों में सर्वप्रथम नाथ या रंगनाथ मुनि आते हैं, जिन्होंने लुप्त हुए भक्ति-भरित तमिल वेद का पुनरुद्धार किया था। ये परांकुश मुनि के शिष्य थे। इन्होंने श्रीरंगम के प्रसिद्ध मन्दिर में तमिल वेद के गायन तथा अध्यापन की व्यवस्था की। यामुनाचार्य या यामुन मुनि इनके शिष्य थे। कुछ विद्वान् यामुनाचार्य को नाथमुनि का पौत्र तथा राममिश्र का शिष्य कहते हैं। यामुनाचार्य अध्यात्म विद्या में पारंगत थे। इनका तमिल नाम आळवन्दार है। इनके पश्चात् आचार्य रामानुज हुए, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर श्रीभाष्य लिखा। शंकर के अद्वैत मत को मान लेने पर भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं रहता। अद्वैतवादियों के लिये भक्ति की प्रतिष्ठा करना कठिन कार्य है। रामानुज ने इसी हेतु श्रीभाष्य द्वारा अद्वैत मत का खंडन किया। इनका मत विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है और भक्तिमार्ग का सहायक है। इसके आधार पर भक्तितत्त्व की प्रतिष्ठा सुगमता से हो जाती है।

आचार्य रामानुज—रामानुज यामुनाचार्य के सम्बन्धी थे। इनका जन्म १०१७ ई० के आसपास तरुकुदूर में हुआ था, जो मद्रास के पास है। इनके पिता का नाम केशवभट्ट था। रामानुज सर्वप्रथम कांजीवरम् में यादव-प्रकाश के शिष्य बनकर रहे। यादवप्रकाश अद्वैतवादी थे, परन्तु रामानुज की रुचि वैष्णवधर्म की ओर थी, अतः इन्हें वहाँ से हटना पड़ा। रामानुज

ने आळवारों के प्रबन्धों को पढ़ा और वे यामुनाचार्य के शिष्य बनकर त्रिचनापल्ली के समीप श्रीरंगम में रहने लगे। इन्होंने उत्तरापथ की तीर्थ-यात्रा भी की। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें चोलप्रदेश के राजा से कुछ कष्ट भी प्राप्त हुआ, क्योंकि वे उसके कहने से वैष्णवधर्म का परित्याग एवं शैवधर्म का स्वीकार न कर सके। इसी कारण वे उसके राज्य प्रदेश को छोड़कर मैसूर राज्य में १०९६ ई० में चले आए। वहाँ रहकर रामानुज ने विट्ठलदेव को जो राजा बल्लाल के भाई थे, वैष्णवधर्म में दीक्षित किया और उनका नाम विष्णुवर्धन रखा। रामानुज की मृत्यु ११३७ ई० में हुई। इनके लिखे हुए ग्रन्थ इस प्रकार हैं: वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह, वेदान्तदीप और ब्रह्मसूत्र तथा गीता के भाष्य।

रामानुज के मतानुसार चिद् जीव भोक्ता है और अचिद् जगत् भोग्य है। परमेश्वर इन दोनों का अन्तर्यामी है। तीनों नित्य हैं, परन्तु प्रथम दो स्वतः स्वतंत्र होते हुए भी ईश्वर के अधीन हैं। वे उससे भिन्न तो नहीं कहे जा सकते, परन्तु उसके शरीर अवश्य कहे जा सकते हैं, क्योंकि ईश्वर दोनों में व्यापक है। रामानुज किसी भी पदार्थ को निर्गुण नहीं मानते। संसार के सभी पदार्थ गुण-विशिष्ट हैं। ईश्वर सदैव सगुण है। वह प्राकृतिक गुणों से रहित होते हुए भी अपने गुणों से अमित कल्याणगुणगुणाकर, अनन्तज्ञानानन्दस्वरूप और संसार की सृष्टि, स्थिति एवं संहृति का मूल कारण है। जब हम निर्गुण ब्रह्म का नाम लेते हैं, उस समय निर्गुण का अर्थ प्राकृत गुणों से विहीन होता है। निर्विकल्प समाधि में भी जीव सविशेष वस्तु का ही प्रत्यक्ष करता है। ईश्वर सजातीय एवं विजातीय दोनों भेदों से शून्य है। चिद् जीव भी अचिद् जगत् से सर्वथा भिन्न है। तीनों में अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध है। बाह्य रूप से तीनों में समवायसम्बन्ध है, परन्तु आन्तरिक रूप से अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध है। जो सम्बन्ध जीव का शरीर के साथ है, वही ईश्वर का चित् और अचित् के साथ है।

ईश्वर चित् एवं अचित् का आश्रय, नियमनकर्ता तथा उन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला है। नियामक होने से ही ईश्वर को विशेष्य तथा नियम्य होने से जीव और जगत् को विशेषण कहा जाता है। विशेष्य की सिद्धि पृथक् रूप से भी की जा सकती है, परन्तु विशेषण सदैव विशेष्य के साथ ही रहेगा।

रामानुज त्रिविध तत्त्वों की स्थिति स्वीकार करते हैं और उनमें अङ्गाङ्गी-सम्बन्ध को मानते हैं। यही विशिष्टाद्वैत मत है। इस मत के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये ईश्वर पांच रूप धारण करता है : पररूप, व्यूह (जिसमें पांचरात्रों का चतुर्व्यूह आता है), विभव (जिसमें मुक्ति-मुक्तिप्रद ३९ अवतारों की गणना है), अन्तर्यामी (जो सबके हृत्कमल में बैठकर सबको व्यापार में प्रवृत्त करता है) और अर्चावतार (मूर्तियाँ)।

जीव को शेष और ईश्वर को शेषी कहते हैं। दोनों में देह-देही अथवा स्फुलिंग और अग्नि का सम्बन्ध है। अचित के तीन भेद हैं : शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व और सत्त्व-शून्य। सत्त्व-शून्य काल है। प्राकृत सृष्टि का उपादान मिश्रित सत्त्व है। इसी को माया, अविद्या या प्रकृति कहते हैं। शुद्ध सत्त्व नित्य, ज्ञानानन्द का जनक और अनन्त तेजोरूप है। इसीसे मुक्त पुरुषों के शरीर और स्वर्ग की रचना होती है। भगवान् के व्यूह रूप इसी शुद्ध सत्त्व से बनते हैं। मुक्त दशा में भी जीव का अहंभाव रहता है। शुद्ध सत्त्व से निर्मित नित्य-विभूति को परमपद, परमव्योम, वैकुंठ, अयोध्या आदि नामों से पुकारा जाता है।

रामानुज के मत में भगवान् की कृपा ही उनकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। प्रपत्ति या शरणागति इस कृपा से लिये साधन है। गुरु भी एक साधन है। विशिष्टाद्वैतमत में भक्ति अन्तिम सोपान है, जिस पर चढ़कर जीव प्रभु को प्राप्त करता है। भक्ति के पूर्व ज्ञानयोग और उससे भी पूर्व कर्मयोग की स्थिति है। कर्म द्वारा हृदय शुद्ध होता है और वह ज्ञानयोग की ओर ले जाता है। ज्ञानयोग से प्रकृति का अनुभव होता है और उस अनुभव से जीव अपने को प्रकृति से पृथक् समझने लगता है। जीव का आत्मज्ञान ही उसे भगवद्भक्ति की ओर आकर्षित करता है। भक्तियोग में अष्टाङ्गयोग की साधना भी सम्मिलित है। भक्तियोग की प्राप्ति के लिये रामानुज ने सात साधनों का वर्णन किया है : १—पवित्र अन्न के सेवन द्वारा शरीर की शुद्धि। २—सदाचार। ३—अनवरत अभ्यास। ४—पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन। ५—सत्य, दया, दान, अहिंसा आदि का पालन। ६—आशावादिता और ७—अहंकार का त्याग। इन साधनों द्वारा भक्ति-भावना सिद्ध होती है।

रामानुज की भक्ति में विष्णु और नारायण नामों की प्रधानता है। व्यूहों के साथ वासुदेव नाम भी आ जाता है, पर राम, कृष्ण और विशेषरूप से राधा तथा गोपालकृष्ण नाम नहीं आते। रामानुज भक्ति-भावना में परमेश्वर के सतत ध्यान पर बल देते हैं, जो उपासना के अन्तर्गत आता है और जिसमें वह असीम प्रेमभाव या माधुर्यभाव की भक्ति नहीं है, जो चैतन्य या वल्लभ के भक्तिमार्ग में आगे चलकर दिखाई दी।

तेरहवीं शताब्दी के अन्त में रामानुजसम्प्रदाय, जिसे श्रीवैष्णवसम्प्रदाय भी कहा जाता है, दो दलों में विभक्त हो गया : टेंकलै और वडकलै। टेंकलै तमिल वेद को ही सब कुछ मानते थे। वडकलै तमिल वेद और वेदादि संस्कृत ग्रन्थ दोनों को प्रामाणिक मानते थे। दोनों दलों में सिद्धान्तसम्बन्धी कई भेद हैं। टेंकलै शुद्ध सत्त्व को जड़ और वडकलै इसे चित् मानते हैं। टेंकलै प्रपत्ति को ही एकमात्र मोक्षोपाय मानते हैं। वडकलै प्रपत्ति के लिये भी कर्म को आवश्यक मानते हैं। दोनों के मतों को मार्जार-किशोर और कपि-किशोर का दृष्टान्त स्पष्ट कर देता है। टेंकलैमत के प्रतिष्ठापक श्रीलोकाचार्य तेरहवीं शताब्दी में हुए हैं। वडकलैमत के संवर्द्धक वेदान्ताचार्य श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिक का जीवनकाल १२६९ से १३६९ ई० तक माना जाता है। वेदान्तदेशिक ने हनुमान् को गुरुतत्त्व रूप में स्वीकार किया है। आचार्य रामानुज द्वारा प्रवर्तित श्रीवैष्णवसम्प्रदाय का प्रधान कार्यक्षेत्र आन्ध्र तथा तमिल प्रान्त रहा है।

मध्वभट्ट : श्रीनारायण ने 'मध्वाचार्यविजय' और 'मणिमंजरी' में मध्वभट्ट का जीवन-चरित्र लिखा है, जिसके अनुसार मध्वभट्ट तुलुव देश के बेलिग्राम में ११९९ ई० की विजयादशमी को उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम वेदवती और पिता का नाम मध्यगेहभट्ट था। बाल्यावस्था में इनका नाम वासुदेव था। संन्यास लेने पर आचार्य मध्वस्वामी आनन्दतीर्थ के नाम से प्रख्यात हुए। इनकी मृत्यु १३०३ ई० में मानी जाती है।

माध्वमतवालों का प्रधान कार्यक्षेत्र कर्णाटक तथा दक्षिणी महाराष्ट्र प्रान्त रहा है। आचार्य मध्व के सम्प्रदाय को ब्रह्मसम्प्रदाय भी कहा जाता है। माध्वमतानुयायी ब्रह्मा को अपने सम्प्रदाय का मूल प्रवर्तक मानते हैं। पद्मपुराण के नीचे लिखे श्लोकों में श्रीकृष्ण को समस्त वैष्णवसम्प्रदायों का

परमाचार्य कहा गया है। श्रीकृष्ण ने अपने चार शिष्यों को वैष्णवतत्त्व का उपदेश दिया था जिनके नाम श्री, ब्रह्मा, रुद्र और सनक हैं:—

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥

प्रमेयरत्नावली का नीचे लिखा श्लोक भी इसी मत की पुष्टि करता है:

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥

इसी आधार पर रामानुजसम्प्रदाय को श्रीसम्प्रदाय, माध्वसम्प्रदाय को ब्रह्मसम्प्रदाय, विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय को रुद्रसम्प्रदाय और निम्बार्क के सम्प्रदाय को सनकसम्प्रदाय कहते हैं। श्रीसम्प्रदाय में श्री का अर्थ सीताजी है। विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय का संवर्द्धन करने वाले आचार्य वल्लभ हुए, जिन्होंने इन्हीं के सिद्धान्तों को अपनाकर पुष्टिमार्ग की स्थापना की। माध्वमत का बंगाल के गौडीय वैष्णवसम्प्रदाय पर विशेष प्रभाव पड़ा है। श्री बलदेव विद्याभूषण ने स्वरचित 'प्रमेयरत्नावली' में श्री चैतन्य को मध्वभट्ट की शिष्य-परम्परा में अठारहवीं पीढ़ी पर रक्खा है।

आचार्य मध्व ने उदीपि में कृष्णमूर्ति की स्थापना की थी। यह स्थान माध्वमत वालों का तीर्थस्थान बन गया है। वैष्णव सहज स्वभाव से ही अहिंसक होते हैं। दक्षिण में एक वर्ग यज्ञों के अन्दर पशुहिंसा को विहित समझता था। वैष्णवाचार्य मध्वभट्ट को यह कार्य सह्य नहीं हुआ, अतः उन्होंने यज्ञ से पशु-हिंसा को हटाकर आटे के बने हुए पशु की बलि देने का विधान अपने अनुयायियों के लिये निश्चित कर दिया। श्रीवैष्णवसम्प्रदाय की भाँति शंख-चक्रादि की तप्तमुद्रा धारण करने का नियम माध्वमतावलम्बियों के भी अन्तर्गत है। आचार्य मध्व अपने ग्रन्थों में न वासुदेव का नाम लेते हैं और न उनके चार व्यूहों का। वे भगवान् को विष्णु कहकर पुकारते हैं। राम और कृष्ण अवतारों के नाम आते हैं, परन्तु राधा, गोपियाँ तथा गोपालकृष्ण की लीलायें इनके ग्रन्थों में स्थान नहीं पातीं। आचार्य मध्व के नाम से कई ग्रन्थों की प्रसिद्धि है, जिनमें गीता, ब्रह्मसूत्र और दसों उपनिषदों के भाष्य, भागवत-

-तात्पर्य-निर्णय, गीता-तात्पर्य-निर्णय, महाभारत-तात्पर्य-निर्णय आदि प्रमुख समझे जाते हैं। मायावाद का खंडन इस मत की विशेषता रही है। माध्व-सम्प्रदायवालों ने अद्वैतवादियों पर घोर आक्रमण किये हैं और उनके विरोध में अनेक ग्रन्थों की रचना की है।

माध्वमत में नीचे लिखे सिद्धान्त विशेष रूप से मान्य हैं:—

१. हरि से बढ़कर और कोई तत्त्व नहीं है। हरि ही विष्णु हैं। वे ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष के कारण हैं।

२. चेतन के दो भेद हैं: जीव और ईश्वर। जीव हरि के अनुचर हैं, वे स्वल्प शक्ति और स्वल्प ज्ञान वाले हैं। जीव आपस में कर्म-सम्पत्ति की विभिन्नता के कारण उच्चावच स्थितियों में सदैव वर्तमान रहते हैं। मुक्तावस्था में भी वे एक समान आनन्द का उपभोग नहीं करते।

३. जगत् सत्य है। जब ईश्वर सत्य-संकल्प है, तब उसकी कोई भी कल्पना, कोई भी रचना, मिथ्या नहीं हो सकती।

४. ईश्वर, जीव और प्रकृति में तात्त्विक भेद है। यह भेद पाँच प्रकार का है… : ईश्वर का जीव से, जीव का जीव से, ईश्वर का जड़ प्रकृति से, जीव का जड़ से और जड़ का जड़ से।

५. मुक्ति नैज सुखानुभूति का नाम है। इसमें दुःखनाश के अनन्तर आनन्द का उदय होता है। मुक्ति चार प्रकार की है: कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादि मार्ग और भोग। भोग भी चार प्रकार का है: सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सायुज्य मुक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

६. मुक्ति का सर्वोच्च साधन अमला भक्ति है। यह भक्ति अनन्य और अहैतुकी होनी चाहिये।

७. वेदों के द्वारा वेद्य अर्थात् जानने योग्य हरि ही हैं। वेदों के नाना देवता उसी हरि के नाना रूप हैं। वेद आदि, मध्य और अन्त में भगवान् का ही गान गाता है। माध्वमतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाणों के आधार पर अपने प्रमेयों का प्रतिपादन करते हैं।

निम्बार्क—निम्बार्क तैलङ्ग ब्राह्मण थे और निम्ब के निवासी थे। निम्ब बिलारी जिले का निम्बापुर प्रतीत होता है। इनका जन्म वैशाख शुक्ल सप्तम

तृतीया के दिन माना जाता है। जन्म संवत् के सम्बन्ध में सन्देह है। परन्तु यह संवत् रामानुज के पश्चात् ही पड़ना चाहिये। भाण्डारकर अपने ग्रन्थ 'Vaishnavism. Shaivism and minor religious systems.' के पृष्ठ ६२ की पादटिप्पणी में निम्बार्क का जन्म संवत् ११६२ ई० लिखते हैं। इनके पिता का नाम जगन्नाथ और माता का नाम सरस्वती था।[1] सम्प्रदाय वाले इन्हें विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार मानते हैं।

आचार्य निम्बार्क के लिखे हुये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं: वेदान्तपारिजात-सौरभ और सिद्धान्तरत्न। प्रथम ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रों पर संक्षिप्त भाष्य के रूप में है। द्वितीय ग्रन्थ का दूसरा नाम दशश्लोकी है। इनकी शिष्यपरम्परा में श्रीनिवास, हरिव्यासदेव, देवाचार्य, सुन्दरभट्ट, केशवभट्ट आदि की गणना है।

निम्बार्क द्वैताद्वैतवादी हैं। दशश्लोकी का भाष्य करते हुये इनके शिष्य हरिव्यासदेव लिखते हैं: 'जीवब्रह्मणोरभेदेऽपि वैलक्षण्यव्यवहारोऽवतारात-

१. कुछ विद्वान् दक्षिण देश में गोदावरी के तट पर वैदूर्यपत्तन के निकट अरुणाश्रम में श्रीअरुण मुनि की पत्नी जयन्तीदेवी के गर्भ से इनका जन्म मानते हैं (कल्याण, सन्तवाणी अङ्क, १९५५)।

श्री रूपकलाजी भक्तमाल के भक्तिसुधास्वादतिलक, पृष्ठ २६६ पर इन्हें गोदावरी गङ्गा के तट पर स्थित मुङ्गेर ग्राम का निवासी और महाराष्ट्र ब्राह्मण लिखते हैं।

भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व, पृष्ठ ३३८, चतुर्थ खण्ड, अध्याय ७ में श्लोक ६९ से ८५ तक निम्बादित्य के जीवनचरित्र का उल्लेख पाया जाता है। इसके अनुसार देवर्षि-वर-सेवित तैलंग देश में पवित्र सुदर्शन नाम के आश्रम में भृगुवंशी, वेद-वेदांग-पारग अरुण नाम के ऋषि-रूपधारी ब्राह्मण रहते थे। इनकी पत्नी का नाम जयन्ती था। इन्हीं दम्पति के पुत्र निम्बादित्य थे, जिनका जन्म कार्त्तिक शुक्ल पक्ष पूर्णिमा, वृष राशि, कृत्तिका नक्षत्र, उच्चस्थ पञ्चग्रह, सूर्यावसानवेला तथा मेष लग्न में हुआ था। इन्होंने समग्र विश्व को वेद धर्म में नियोजित किया। एक दिन निम्बार्क के आश्रम में ब्रह्मा पहुँचे और कहने लगे:—'मैं भूखा हूँ। जब तक सूर्य व्योम में हैं, तब तक मुझे भोजन करा दो।' इधर वे भोजन करने बैठे, उधर सूर्य अस्ताचलगामी हुये। यह देखकर निम्बार्क ने निम्ब वृक्ष के ऊपर अपने तेज से सुदर्शन तेज तत्त्व को स्थापित कर दिया। सूर्य के समान उस तेज को देखकर ब्रह्मा विस्मय में पड़ गये और निम्बार्क के तप से, जो उस समय भिक्षुवेष धारण किये हुये बालक के रूप में थे, सन्तुष्ट होकर उन्हें प्रणाम करने लगे। तभी से इनका नाम निम्बादित्य पड़ गया। प्रियादासजी ने भक्तमाल की टीका कवित्त संख्या १०६ में इसी कथा की ओर संकेत किया है, पर वहाँ अतिथि ब्रह्मा नहीं, एक दण्डी स्वामी हैं।

तारिणोरिव नित्यः तेन न कापि वाक्यव्याकोपो भक्तिसिद्धिश्च। न च धर्मसांकर्यम्। घटकपालयोर्गुणगुणिनोश्च सत्यप्यभेदे तद्दर्शनात्।' अर्थात् जीव और ब्रह्म में अभेद होते हुए भी दोनों का विलक्षण व्यवहार है। जैसे अवतार और अवतारी अथवा गुण और गुणी में अभेद होते हुये भी भेद है, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक होते हुये भी दो हैं।

ब्रह्म निम्बार्क के मत में जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। मकड़ी के जाले की तरह सृष्टि ईश्वर से उद्भूत होती है। ईश्वर प्राकृत दोषों से रहित और ज्ञान, बल आदि कल्याणकारी गुणों के निधान हैं। जीव संसारी दशा में भी कर्ता है और मुक्त दशा में भी। वह अणु परिमाण वाला है। जीव सदैव ईश्वर के अधीन रहता है। जीव और ईश्वर का सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान् तथा अंश और अंशी का है। अचित् तत्त्व प्राकृत, अप्राकृत और काल तीन प्रकार का है। प्राकृत तत्त्व त्रिगुणात्मक, कारणरूप में नित्य तथा कार्यरूप में अनित्य है। अप्राकृत तत्त्व विशुद्ध सत्त्व है। इसी को आचार्य रामानुज के शुद्ध सत्त्व की भाँति नित्यविभूति, विष्णुपद, परमव्योम, परमपद, ब्रह्मलोक आदि कहा जाता है। काल-प्रभाव से पृथक् रहने के कारण यह परिणाम आदि विकारों से शून्य है। काल जड़ तत्त्व का सहकारी तथा प्राकृत पदार्थों का नियामक है। यही भूत, भविष्य तथा वर्तमान व्यवहारों का हेतु है।

निम्बार्क के मत में भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म हैं। जीव प्रपत्ति द्वारा भगवान् के अनुग्रह का अधिकारी होता है। भगवत्कृपा से ही आत्मा के अन्दर भक्ति भाव का आविर्भाव होता है, जिससे भगवान् के साक्षात्कार की सिद्धि होती है। दशश्लोकी की टीका करते हुये हरिव्यासजी लिखते हैं: 'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्। कृष्ण एव परो देवः। तं ध्यायेत्, तं रसेत्, तं भजेत्, तं यजेत् ओं तत्सदिति'। अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरण-कमलों के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है। कृष्ण ही परमदेव हैं, उन्हीं का ध्यान करना चाहिये। उन्हीं से प्रेम करना चाहिये, उन्हीं का भजन करना चाहिये और उन्हीं की पूजा करनी चाहिये। वही ओंकार हैं और वही सत् हैं।

निम्बार्क ने राधा की उपासना पर भी बल दिया है। दशश्लोकी में राधा की स्तुति करते हुये वे लिखते हैं:

'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्' ॥ ५ ॥

राधाकृष्ण की उपासना आचार्य निम्बार्क से ही प्रारम्भ हुई। रामानुज ने भक्ति को ध्यान आदि का रूप प्रदान किया था, निम्बार्क ने पुनः भक्ति को उसके स्वरूप में प्रतिष्ठित कर दिया। रामानुज ने नारायण और उनकी पत्नी लक्ष्मी, भू तथा लीला को प्रधानता दी थी। निम्बार्क ने राधा और कृष्ण को आराध्य बनाया। निम्बार्क की भक्तिभावना पाँच प्रकार की है:—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल। उज्ज्वलरस के भक्त हैं गोपी तथा राधा। आचार्य वल्लभ और चैतन्य के सम्प्रदायों में भी उज्ज्वल रस को उत्कृष्ट माना गया है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय ३३ के श्लोक २० और ३७ के अनुसार श्रीकृष्ण ने जितनी गोपियाँ थीं उतने ही अपने रूप बनाकर उनके साथ लीलामयी क्रीडा की। यह क्रीडा वैसी ही थी जैसी बालक की क्रीड़ा अपने प्रतिबिम्ब के साथ होती है। निम्बार्क ने राधा को स्वकीया और विवाहिता माना है। परन्तु यह अवतार-लीला के विषय में ही सत्य है। नित्य लीला में तो स्वकीया तथा परकीया का भेद ही नहीं रहता।

निम्बार्क के मत में भक्ति के पाँचों भाव भक्त की रुचि पर अवलम्बित हैं। माधुर्यभाव की उत्तमता का अर्थ अन्य भावों को हेय सिद्ध करना नहीं है। भक्त के हृदय का झुकाव जिस भाव की ओर हो, वही उसे लाभ देता है। भक्तिक्षेत्र में प्रपत्ति अर्थात् शरणागति परमावश्यक है।

निम्बार्क के मत से ही राधावल्लभी तथा हरिदासी मतों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें राधा को कृष्ण से भी बढ़कर माना जाता है। हरिदासजी ने वृन्दावन में सखीसम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और गोपीभाव की भक्ति का प्रचार किया। निम्बार्क तैलंग देश के कहे जाते हैं, परन्तु वहाँ इनके मत का कुछ भी प्रचार नहीं है। इनके प्रचार का मुख्य क्षेत्र वृन्दावन ही है।

विष्णुस्वामी : विष्णुस्वामी के सम्बन्ध में अभी तक किसी निश्चित व्यक्तित्व का पता नहीं चला है। इनकी एक रचना 'सर्वज्ञसूक्त' का उपयोग श्रीधरस्वामी ने अपनी भागवती टीका में किया है। भागवत के टीकाकार श्रीधर ११वीं शताब्दी के हैं। अतः विष्णुस्वामी इनसे पूर्व के होने चाहिये। आचार्य वल्लभ को विष्णुस्वामी की उच्छिन्न गद्दी का अधिकारी कहा जाता है। वल्लभ-

सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ 'सम्प्रदायप्रदीप' में विष्णुस्वामी को एक द्रविड़ देश के राजा के मंत्री का पुत्र माना गया है, जो वेदादि शास्त्रों में निष्णात तथा भक्तियोग की साधना करने वाला था। विष्णुस्वामी ने भक्तिमार्ग के प्रचार में भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्त्व दिया और भक्ति के साधनों के रूप में वर्णाश्रम धर्म की कर्तव्य-मर्यादा, अष्टांगयोग की साधना तथा वेदादि सत् शास्त्रों के स्वाध्याय को महत्ता प्रदान की। विष्णुस्वामी के पश्चात् इनके पंथ के प्रचारकों में लगभग सात सौ आचार्यों की गणना की जाती है और महाराष्ट्र का वारकरीसम्प्रदाय विष्णुस्वामी के मत का ही रूपान्तर माना जाता है। वारकरीसम्प्रदाय भागवतधर्म की ही एक शाखा है, जिसके अनुयायियों में ज्ञानदेव तथा नामदेव जैसे उच्चकोटि के भक्त हुये हैं। कुछ विद्वान् सायणाचार्य के गुरु विद्याशंकरजी का दूसरा नाम विष्णुस्वामी बताते हैं। कुछ हो, इतना तो सिद्ध है कि आचार्य वल्लभ के पूर्वज विष्णुस्वामी के शिष्यों में से थे और आचार्य वल्लभ को इन्हीं की गद्दी प्राप्त हुई थी।

विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय रौद्रसम्प्रदाय कहलाता है। रुद्र अग्नि का रूप हैं, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं। वायुपुराण, अध्याय २५, श्लोक २१ में महादेव विष्णु से कहते हैं: 'अहमग्निर्भवान् सोमो भवान् रात्रिरहं दिनम्।' अर्थात् मैं अग्नि हूँ और आप सोम हैं। यह आश्चर्य की बात है कि अग्निपुराण के भविष्योत्तरखंड में आचार्य वल्लभ को भी अग्निरूप कहा गया है।[1] इससे इतना तो संकेत मिल ही जाता है कि आचार्य वल्लभ विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित रुद्रसम्प्रदाय से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध थे और रुद्र अथवा अग्नि नाम से उन्हें प्रेम था।

आचार्य वल्लभ के मत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे अनन्त शक्तियों द्वारा अपनी आत्मा में आन्तर रमण करने से आत्माराम और बाह्य रमण की इच्छा से अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करने पर पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनकी नित्य लीला व्यापी वैकुंठ में होती रहती है, गोलोक जिसका एक अंश है और जो विष्णु के वैकुंठ से बहुत ऊपर है।

---

१. अग्निरूपो द्विजाचारी भविष्यमिह भूतले।
वल्लभो ह्यग्निरूपः स्याद्विट्ठलः पुरुषोत्तमः॥

आचार्य वल्लभ अविकृत परिणामवादी हैं। रामानुज ने जगत् के परिणमन में उपाधि लगाकर उसे विकृत कर दिया है। वे जगत् की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। परन्तु वल्लभ के मत में जगत् का ब्रह्म से केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जगत् नष्ट नहीं होता। जैसे कुंडल पिघल कर पुनः स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही जगत् तिरोहित होकर ब्रह्मरूप धारण कर लेता है। पुष्टिसम्प्रदाय में भगवान् के अनुग्रह से भक्त भगवान् के आनन्दधाम में प्रवेश करता है। पुष्टि भक्ति को उष्ण भक्ति भी कहते हैं, क्योंकि इसमें भगवान् के अधरामृत पान को उपासना का सर्वोच्च फल माना जाता है। पुष्टिमार्ग के ये सिद्धान्त विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय से ही लिये गये होंगे।

वैष्णव-भक्ति का विकास

महाभारत के नारायणी उपाख्यान का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि नारायण एक ऋषि थे और स्वायंभुव मन्वन्तर के सतयुग में उत्पन्न हुई भगवान् की चार अन्ननारमयी विभूतियों में से एक थे। तीन अन्य विभूतियाँ—नर, हरि और कृष्ण थीं। हरि और कृष्ण के सम्बन्ध में महाभारत मौन है, पर नर और नारायण के व्यक्तित्व पर उसने पर्याप्त प्रकाश डाला है। महाभारत के अनुसार नर और नारायण बदरिकाश्रम में तप करते थे। जब नारद ने उनके पास जाकर पूछा :—'समस्त संसार तो आपकी पूजा करता है, फिर ऐसा कौन-सा देव है, जिसकी आप पूजा करते हैं?' नारायण ने इसके उत्तर में नारद से कहा था :—'जो परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों का अन्तरात्मा, त्रिगुणातीत और त्रिगुणात्मिका प्रकृति का जनक है, वह सत्-असत् रूप परमात्मा हम दोनों, नर और नारायण की उत्पत्ति का कारण है। हम दोनों उसी की पूजा करते हैं।'

नारायणऋषि की पूजा का क्या प्रकार था? महाभारत ने इसी स्थल पर आगे इसे ज्ञानयोग का नाम दिया है। यह ज्ञानयोग निश्चित रूप से ध्यान, धारणा आदि से सम्बन्ध रखता है। प्रभु का सदैव स्मरण करना, सर्वात्मना उसकी शरण ग्रहण करना, निरन्तर उसी के ध्यान में लीन रहना—इस प्रकार की पूजा के प्रमुख अंग हैं। महाभारत यहाँ परमात्मा को सर्व-गुण-सम्पन्न तथा साथ ही निर्गुण भी लिखता है : नारायण ऋषि की पूजा-विधि के अन्तर्गत महाभारत ने यज्ञ का कोई उल्लेख नहीं किया है।

नारायण ऋषि के पश्चात् महाभारत चित्रशिखण्डी नाम के सात ऋषियों की तपस्या का उल्लेख करता है, जिन्होंने पांचरात्रशास्त्र का निर्माण किया था। इन ऋषियों ने एक सहस्र दिव्य वर्षों तक तप करके भगवान् नारायण की आराधना की थी। यहाँ भगवान् का भी नाम नारायण आ गया है और आराधना के अन्तर्गत यज्ञ को कोई स्थान नहीं दिया गया है। क्षीरसमुद्र के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप के निवासी भी सूर्य की ओर मुख किये, मानस-जप जपते तथा अनवरत प्रभु-ध्यान में मग्न दिखाये गये हैं। वैष्णवभक्ति

का यह प्रथम युग प्रभु के प्रति ज्ञान-ध्यान-परायणता का युग है, जिसे निवृत्ति-प्रधान युग भी कहा जा सकता है।

राजा वसु उपरिचर के साथ वैष्णवभक्ति का दूसरा युग प्रारम्भ होता है, जिसमें अहिंसक यज्ञों की प्रधानता है और आरण्यक-विधि से देवों को भाग अर्पित किये जाने का वर्णन है। यह युग प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों को अपनाये हुये है। बृहस्पति ने राजा उपरिचर को जो शास्त्र पढ़ाया, उसमें इन दोनों दशाओं की मान्यता थी। राजा उपरिचर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करता है, जो प्रवृत्तिमूलक है, और अपनी तपश्चर्या द्वारा भगवान् के दर्शन करता है, जो निवृत्तिमूलक है। निवृत्ति-परायणता में मानसजप के साथ इन्द्रिय-शून्यता, निराहारिता तथा अविचल एवं अनन्य भक्ति की स्थिति आती है।

वैष्णवभक्ति के ये दो युग भागवतों के दो साम्प्रदायिक भेदों—पांचरात्रों तथा वैखानसों—के लिये एक समान हैं। तीसरे युग में दोनों सम्प्रदायों का पथ पृथक्—पृथक् हो जाता है। वैखानस वैदिक-पद्धति से चिपटे रहते हैं, पर पांचरात्र उससे भिन्न पथ का अनुसरण करते हैं।

राजा उपरिचर के पश्चात्, महाभारत के साक्ष्य से ही, चित्रशिखण्डियों द्वारा प्रोक्त भक्ति-तन्त्र लुप्त हो गया। गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भी ऐसा ही लिखा है। इस लुप्त हुये भक्तियोग का द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण ने उद्धार किया। उन्हीं के साथ वैष्णवभक्ति के तीसरे युग का आरम्भ होता है।

श्रीकृष्ण ने इस युग में स्वायंभुव युग के भगवद्भक्त तपस्वी नारायण-ऋषि में उस परम ज्योतिर्मय की ज्योति का, उसकी श्री और विभूति का दर्शन किया और उन्हें परमपुरुष के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। अवतारवाद की शृंखला यहीं से प्रारम्भ हुई। श्रीकृष्ण योगी थे। योगबल से उन्होंने अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था। गीता के चतुर्थ अध्याय के पाँचवें श्लोक में उन्होंने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। श्रीकृष्ण ही स्वायंभुव युग के नारायणऋषि हैं और अर्जुन नारायण के साथी नर ऋषि हैं—इस बात का उल्लेख महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २२० के श्लोक ५ में हुआ है।

श्रीकृष्ण महात्मा थे, वेद-वेदांगवेत्ता थे और योगाचार्य थे। उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व का भीष्मपितामह जैसे अखण्ड ब्रह्मचारी तथा व्यास जैसे तपोधन महर्षि पर भी अनिवार्य प्रभाव पड़ा और वे अपने समय में ही आराध्य देव के पद पर पहुँच गये। गीता में उनके विचारों का सार दिया हुआ है। गीता ज्ञानयोग की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करती है, निष्काम कर्मयोग उसकी सर्वप्रमुख विशेषता है, पर भक्तियोग उसका प्राण है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—गीता की भक्ति-भावना का केन्द्रबिन्दु है।

वैष्णवभक्ति के तृतीय युग में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई। जिस नारायणऋषि के अवतार श्रीकृष्ण माने गये, उस नारायणऋषि को भी भगवान् का अवतार स्वीकार किया गया और इस प्रकार अवतार-शृंखला को परमेश्वर के साथ संयुक्त कर दिया गया। जिस यज्ञ की, वैष्णवभक्ति के द्वितीय युग में इतनी प्रतिष्ठा थी और जिसमें ओषधि की हवि दी जाय या छाग की, इस विषय में उपरिचर राजा के समय तक सन्देह बना रहा, उस यज्ञ का रूप ही तृतीय युग में परिवर्तित कर दिया गया। द्रव्यमय यज्ञ के स्थान पर भावमय यज्ञ की प्रतिष्ठा हुई। जनता को बहिर्मुख बनने की अपेक्षा अन्तर्मुख बनने का अवकाश मिला।

गीता में प्रतिपादित भक्ति कर्म-त्याग का नहीं, कर्म-परायणता का निर्देश करती है। उसने संन्यासमार्ग को भी निःश्रेयस्कर कहा है, पर कर्म-योग को कर्म-संन्यास से बढ़ कर माना है[1]। महाभारत के भीष्म पर्व का प्रारम्भिक भाग गीता है।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में राजा वसु उपरिचर के अश्वमेध यज्ञ का पौरोहित्य करने वाले बृहस्पति स्वर्ग-काम-परायण, पशु-बलि-समर्थक और द्रव्यमय यज्ञ के अनुमोदक ब्राह्मणधर्म के प्रतिनिधिरूप में हमारे सम्मुख आते हैं। ब्राह्मणों का यह वर्ग भागवतों के साथ बहुत दिनों तक सामञ्जस्य नहीं कर सका। ब्राह्मणों का एक दूसरा वर्ग था, जिसका प्रतिनिधित्व उपाख्यान में आये वे ऋषि करते हैं जिन्होंने वसु उपरिचर को हिंसामय

१. इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिये 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' के पृष्ठ २९-३१ द्रष्टव्य हैं।

यज्ञ का समर्थन करने पर शाप दिया था[1]। यह दल भागवतों के साथ मिल कर कार्य करने लगा।

पशु-हिंसा-पूर्ण यज्ञों के अनुष्ठान के विरोध में, भागवतों के अतिरिक्त जैन तथा बौद्धसम्प्रदाय भी प्रचार कर रहे थे। लोकायतसम्प्रदाय भी इनका साथ दे रहा था। पर भागवतों से इन सभी सम्प्रदायों में एक भिन्नता थी। ये सम्प्रदाय खुलकर वेद पर आक्रमण करते थे, परन्तु भागवतधर्म वेद, सांख्य, योग आदि सभी ब्राह्मण-पद्धतियों का अनुगामी था। वेद का खुलकर विरोध उसने कभी नहीं किया। हाँ, हिंसा-पूर्ण, सकाम यज्ञों को लेकर उसने वैदिक धर्म के साथ कभी समझौता नहीं किया और इसी प्रश्न को लेकर दबी जबान में वह कभी-कभी वेद-वादियों की निन्दा भी अवश्य करता रहा है। जब भागवतों को ब्राह्मणों में ही एक दल ऐसा मिल गया, जो सकाम यज्ञों के विषय में उनके साथ एकमत था, साथ ही वेद में जिसकी अटूट श्रद्धा थी, तो भागवत और वैदिकधर्म दोनों मिलकर एक हो गये। ब्राह्मणों ने भागवतधर्म के अभिनव प्रतिष्ठाता श्रीकृष्ण को दिव्य विभूति के रूप में ईश्वर का अवतार स्वीकार कर लिया। उनके परिवारवालों को भी उनके साथ संयुक्त करके चतुर्व्यूह के अन्दर स्थान दिया। भागवतों की मान्यताओं के अनुकूल अनेक महापुरुषों को उन्होंने अवतार का पद प्रदान किया और जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, मत्स्य, कूर्म आदि में भी अवतार की भावना करके जनता के मनोरंजन तथा उपदेश के लिये उन्होंने पर्याप्त सामग्री एकत्र कर दी। बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध को भी अवतार की शृंखला में बांध कर उन्होंने अपना लिया।

गीता में चतुर्व्यूह की प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर नहीं होती, पर वह महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में विद्यमान है। गीता श्रीकृष्ण के कुछ समय पश्चात् बनी होगी, पर महाभारत का यह उपाख्यान निश्चित रूप से बहुत बाद में बना है। चतुर्व्यूह का सिद्धांत भागवतसम्प्रदाय की वैखानस शाखा को भी मान्य नहीं है। इसका प्रचार पांचरात्रसंहिताओं ने ही विशेष-रूप से किया है।

---

[1]. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७, श्लोक १५।१६, इसी श्लोक के आगे श्लोक-संख्या २४ में इन ऋषियों को ब्राह्मण कहा गया है।

चतुर्व्यूह के अन्तर्गत वासुदेव श्रीकृष्ण और संकर्षण—दो की प्रधानता है। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व, पतञ्जलि के समय में दोनों के लिये मन्दिर बनाये जाते थे, ऐसा महाभाष्य के साक्ष्य से प्रकट होता है। पाणिनि के समय में भी दोनों की आराध्यदेवता के रूप में प्रतिष्ठा थी। महाभारत में भीष्म श्रीकृष्ण की ईश्वररूप में स्तुति करते ही हैं। अतः श्रीकृष्ण की मान्यता उनके जीवनकाल में तो थी ही, उसके पश्चात् उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और ब्राह्मण-भागवत-सम्मिलन के होते ही वह अपने पूर्ण रूप में चमक उठी। इसे हम वैष्णवभक्ति का चतुर्थ युग कह सकते हैं। पाञ्चरात्रसंहितायें इसी युग की देन हैं।

भक्ति के इस युग के साथ मूर्तिपूजा का आरम्भ होता है। यज्ञों के विपुल विधि-विधानों के स्थान पर इस युग में मन्दिरों का निर्माण हुआ और विविध प्रकार की शृंगार-सज्जा से विभूषित देव-प्रतिमायें बनाई गईं। आन्तरिक ध्यान और उपासना के स्थान पर बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाली पूजा-पद्धति की प्रतिष्ठा भी इसी युग में हुई। इस पूजा-पद्धति में कतिपय द्रव्य आवश्यक समझे गये हैं। पूजाद्रव्य में कलश, शंख, घंटी और दीप तथा पूजाविधि में आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, पुष्प, धूप, ताम्बूल, आरती, परिक्रमा आदि षोडशोपचार की गणना होती है। इनमें से कुछ वस्तुएँ वायुमण्डल-शोधन के लिये प्रयुक्त होती हैं और कुछ मन को एकाग्र करने के लिये।

मूर्तिपूजा जैनधर्म में तो पहले से ही चली आती थी, इधर अनीश्वरवादी बौद्धों ने भी भागवतभक्ति से प्रभावित होकर महात्मा बुद्ध की प्रतिमायें बनाना प्रारम्भ कर दिया। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'The Discovery of India' के इण्डिया तथा ग्रीस शीर्षक अध्याय में पृष्ठ १५२ पर लिखा है कि प्रारम्भ में बुद्ध की मूर्त्ति न बनाकर बौद्धों ने यूनान के एक देवता अपोलो के ढंग की बोधिसत्वों की मूर्त्तियाँ बनाईं, पर बाद में स्वयं बुद्ध की भी मूर्त्तियाँ बनने लगीं।[1] सम्भव है ऐसा ही हो, पर हमारी समझ में

---

१. नेहरूजी ने परशियन बुत शब्द को भी इस स्थल पर बुद्ध शब्द का अपभ्रंश लिखा है। इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्तिपूजा पूर्व से पश्चिम को गई। इतिहास ईसा के पूर्व शतकों में यूनान और अरब को मूर्त्तिपूजा के केन्द्र बताता है।

यह विशेषरूप से भागवतों का ही प्रभाव था, जिसने महायान सम्प्रदाय वालों को मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, प्रज्ञापारमिता, तारा आदि की मूर्त्तियाँ स्थापित करने के लिये प्रेरित किया। मूर्त्तिपूजा के क्षेत्र में यदि बौद्ध-धर्म भागवतधर्म का ऋणी है, तो भागवतभक्ति के क्षेत्र में वर्ण-धर्म को शिथिल कर देने का श्रेय बौद्धधर्म को प्राप्त है। श्रीमद्भागवत की निवृत्ति-परायणता भी बौद्धधर्म की ही देन है।

यह तो अहिंसक ब्राह्मणवर्ग और भागवतों के सम्मिलन की बात हुई। सकाम हिंसामय यज्ञों के समर्थक ब्राह्मण-दल का भविष्य क्या हुआ? हमारी सम्मति में वह शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों में परिणत हो गया और भागवतों का सामना करने के लिये उसने अपने इष्टदेव शिव एवं शक्ति को भागवत एवं देवी विशेषणों से भी सम्बोधित किया। ईसा से कुछ पूर्व समय की त्रिशूलधारी भगवान् शिव की मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। 'यज्ञ से मूर्त्तिपूजा तक' शीर्षक प्रकरण में हम यज्ञ और शिव के सम्बन्ध में कुछ संकेत इसके पूर्व ही दे चुके हैं। शिवलिंग की पूजा हमारी सम्मति में त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा से बहुत पूर्व की है और भागवत प्रभाव से एकदम असंपृक्त है, परन्तु त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा निश्चितरूप से भागवतप्रभाव के उपरान्त बनी है।

शैवों के साथ शाक्तसम्प्रदाय वाले हिंसामय यज्ञों का समर्थन बहुत बाद तक करते रहे हैं और उनके द्वारा काली माई पर पशुबलि चढ़ाने की प्रथा का पालन आज तक होता है। शैव और शाक्त दोनों सम्प्रदाय हमारी समझ में ब्राह्मणों के उसी दल के अवशेष हैं, जो हिंसामय यज्ञों के अनुष्ठान में विश्वास करता था।

वैष्णवभक्ति के चतुर्थ युग की विशेषतायें हमें दक्षिण के आळवारों तथा कतिपय आचार्यों में परिलक्षित होती हैं, जिनके विषय में विगत प्रकरणों में लिखा जा चुका है। इन आळवारों तथा आचार्यों का युग भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल है। इसी युग में उत्तराखण्ड में भागवतधर्म को राजधर्म के रूप में स्वीकार करने वाला गुप्तसाम्राज्य स्थापित हुआ, जिसकी पताका पर विष्णु भगवान् के वाहन गरुड़ का चिह्न अंकित था। दक्षिण में वैष्णव धर्म को कुलशेखर के अतिरिक्त अन्य राजाओं का आश्रय कम प्राप्त हुआ, पर जनता के हृदय पर उसकी बड़ी गहरी छाप पड़ी। फिर भी राज्याश्रय प्राप्त

कर लेने का महत्त्व कम मूल्यवान नहीं होता। दक्षिण के वैष्णव आचार्य जो उत्तर भारत में आकर गंगा और यमुना की घाटियों को अपने प्रचार का क्षेत्र बनाते रहे, उसका एक कारण यह भी था कि दक्षिणी प्रदेशों के राजा प्रायः शैव थे और वैष्णवधर्म में उतनी रुचि नहीं रखते थे।

उत्तर के गुप्तवंशीय सम्राटों ने ब्राह्मणधर्म की छाप लगे हुये वैष्णवधर्म के प्रचार में अनुपम योग दिया। भागवतसम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाली १०८ पांचरात्र संहिताओं का निर्माण इसी युग में हुआ, जिनमें से कुछ के उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में दिये हैं। प्राचीन पुराणों के नवीन संस्करण तथा कतिपय नवीन पुराणों का निर्माण भी इसी युग की देन है।

पौराणिकों ने निर्गुण ब्रह्म को लोक-ग्राह्य बनाने के लिये उसे सगुण रूप में उपस्थित किया। अनेक मानसी भावनाओं को साकार रूप प्रदान किया गया, जिससे वे अपठित व्यक्तियों के लिये स्थूल तथा वास्तविक-सी ज्ञात हों। परात्पर सत्ता को भी उसके विविध गुणों के आधार पर नाना देवी-देवताओं के रूप में प्रकट किया गया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के तीन रूपों में प्रभु की सृजन, पालन तथा संहार की शक्तियों को मूर्त रूप प्राप्त हुआ। यही नहीं, भगवान् के नाम, रूप, लीला तथा धाम का विस्तृत एवं काल्पनिक रूप खड़ा किया गया जो साधारण जनता के हृदयाकर्षण के लिये उपयुक्त सामग्री रखता था।

वैष्णव भक्ति के चतुर्थ युग के पश्चात् जो पंचम युग आया, उसमें भगवान् की लीलाओं को विशेषरूप से स्थान मिला। श्रीकृष्ण की जिन लीलाओं का गान इस पञ्चम युग में हुआ है, उसे चतुर्थ युग वाले आचार्यों ने अपनी कृतियों में या तो स्थान ही नहीं दिया, और यदि दिया भी है, तो बहुत कम। भागवत में ये लीलायें विद्यमान हैं, परन्तु उस वृहद्, आकर्षक तथा चमत्कार युक्त रूप में नहीं, जिसे, पंचम युग के कवियों तथा आचार्यों की विशेषता कहा जा सकता है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल इसी पंचम युग के साथ प्रारम्भ होता है। अतः आगे के प्रकरणों में इसी भक्तिकाल के उद्घाटन द्वारा वैष्णवभक्ति के पंचम युग की विशेषताओं का मुख्य रूप से वर्णन किया जायगा।

—:o:—

षष्ठ अध्याय

हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल

आमुख : वैष्णवभक्ति के चतुर्थ युग में भारत स्वाधीन था। स्वाधीन वातावरण में जिस दर्शन और ललित कला की अभिव्यक्ति संभव होती है, वह इस युग में सुचारुरूप से सम्पन्न हुई। पुराणों तथा पाञ्चरात्र संहिताओं के अभिनव संस्करण एवं निर्माण का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। कविकुलगुरु कालिदास, भवभूति, बाण आदि की अमर रचनायें भी इसी युग में लिखी गईं। चित्रकला भी इस युग में अपने यौवन पर थी। भव्य भवनों, देवालयों तथा देव-विग्रहों का निर्माण स्थापत्य एवं तक्षण कलाओं के उदात्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। राजनैतिक दृष्टि से भारत ने बृहत्तर भारत का रूप इसी युग में धारण किया। चीन, ब्रह्म, स्वर्णदेश, श्याम, बाली आदि देशों के साथ पूर्व में तथा यवन, ईरान, अरब, यूनान, तुर्किस्तान आदि देशों के साथ पश्चिम में हमारा राजनैतिक, धार्मिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध था। बाहर जाकर हमने अनेक उपनिवेश बसाये। इस सांस्कृतिक प्रसार में भागवतभक्ति का प्रभाव विशेषरूप से क्रियाशील था।

वैष्णवभक्ति के पंचम युग में पाँसा पलट चुका था। देश के ऊपर अनेक बर्बर जातियों के आक्रमण हुए। जहाँ हम दिग्दिगन्त तक फैले हुए थे, वहाँ नियति के वशीभूत हो अपने तक भी सीमित न रह सके। विदेशियों ने अपने अमानुष आतंक द्वारा हमें झकझोर डाला। आपदाओं की जो क्रूर दृष्टि इस युग में हम पर पड़ी, उसे हमीं थे जो सहन कर गये, अन्यथा ऐसी विकट परिस्थितियों में अनेक ऐतिहासिक जातियाँ समूल उन्मूलित होते देखी गई हैं। वैष्णवभक्ति ने हमें सम्हाला। हम पराधीन तो हो गये, पर अपने स्वरूप-संरक्षण में पराधीन होकर भी दत्तचित्त रहे। वैष्णवभक्ति के पंचम युग का रूप इसी पराधीनता-जन्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

बाह्य परिस्थिति : भारतीय स्वाधीनता का सूर्य दिल्ली और अजमेर के चौहान-सम्राट् महाराज पृथ्वीराज की मृत्यु के साथ ही अस्ताचलगामी

हुआ। कन्नौज के अधिपति महाराज जयचंद ने जीवित गंगा-लाभ कर अपने पापों का प्रायश्चित्त किया। इन दो महाशक्तियों के उठ जाने से उत्तराखंड में यवनाक्रमण-प्रतिरोधिनी कोई प्रबल शक्ति न रह गई। मुहम्मद गोरी के उत्तराधिकारियों को एकदम निष्कंटक तो नहीं, पर बहुत कुछ विघ्न-बाधा-विहीन वातावरण प्राप्त हो गया। दिल्ली-दुर्ग पर पठानों की विजयिनी पताका फहराने लगी।

गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी—इन पाँच मुसलमान वंशों ने १२०६ से १५२६ ई० तक उत्तराखंड का शासन किया। इस शासन का वर्णन जिन ऐतिहासिकों ने किया है, उनके अनुसार यह शासन हिन्दुओं पर मुसलमानों के घोर अन्याय एवं अत्याचार का शासन था। हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाना, मुसलमान न बनने पर उन्हें जजिया कर देने के लिये बाध्य करना, किसानों से खेतों की उपज का आधे से अधिक भाग भूमि-कर के रूप में ले लेना, उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर केवल मुसलमानों को रखना, हिन्दुओं के लिये अश्वारोहण, सुन्दर-वस्त्र-धारण, ताम्बूल-भक्षण तथा अस्त्र-शस्त्रादि रखने की निषेधाज्ञा का प्रचारित करना, देवालयों के अभिनव निर्माण से उन्हें वंचित रखना, जीर्णोद्धार की आज्ञा न देना, मन्दिरों को मसजिदों में परिणत करना, मंदिरों पर खुदे हुए शिलालेखों, प्रशस्तियों तथा अन्दर रखे हुए ग्रंथों को नष्ट करना, मंदिरों के उपादान से मसजिदों का निर्माण करना, भवन-निर्माण की शिल्प-पद्धति में परिवर्त्तन करना, हिन्दुओं को सोने और चाँदी के आभूषण तो जहाँ-तहाँ, ताँबे और पीतल के बर्तन रखने से भी वंचित कर देना आदि ऐसी अनेक बातें हैं, जो हिन्दुओं को धर्मान्तरित करने, वशीभूत करने अथवा नष्ट करने तथा मुसलिम राज्य एवं धर्म को सुदृढ़ बनाने के लिये की गईं। इनमें एक संस्कृत जाति पर असंस्कृत आक्रान्ताओं के अत्याचारों की मर्मभेदी कहानी छिपी हुई है।

आर्य जाति ने अपने जीवन में पहली बार इस प्रकार की परिस्थिति का सामना किया। विदेशियों के आक्रमण इस भारत-वसुन्धरा पर इसके पूर्व भी हुये थे, पर उनका प्रभाव क्षणस्थायी था। सिकन्दर का आक्रमण कितने दिन टिक सका! उसके उत्तराधिकारी सिल्यूकस को अपनी पुत्री की भेंट सम्राट् चन्द्रगुप्त को पत्नी के रूप में देकर अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी।

दुर्दान्त शकों, कुशानों और हूणों के आक्रमणों का भी कोई स्थायी प्रभाव इस देश के निवासियों पर नहीं पड़ा। हमारी संस्कृति की उदारता तथा उदात्तता ने इन सब आक्रान्ताओं को, जो यहीं आकर बस गये, अपने अन्दर पचा लिया। पर, मुसलमानों के आक्रमण दूसरे प्रकार के थे। इनके एक हाथ में तलवार तथा दूसरे हाथ में कुरान चलती थी। या तो कुरान को मान कर, कलमे को पढ़ कर मुसलमान हो जाओ, अन्यथा तलवार का सामना करो। अनेक देश तलवार के वार के सामने झुक कर इसलाम के झंडे के नीचे आ गये, पर भारत ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसने मुसलमानों की तलवार का जवाब तलवार से दिया, उनके शासन के प्रतिष्ठित हो जाने पर उन्हें म्लेच्छ कह कर अपमानित किया तथा उनके साथ सभी प्रकार का सामाजिक संबंध-विच्छेद रखा और पूर्णतया असहयोग किया। हिन्दुओं के जिन व्यक्तियों, वंशों तथा जातियों ने मुसलमानों और उनके शासकों के साथ सहयोग किया, उन्हें निन्दित समझा गया तथा सामाजिक आचार-व्यवहार की दृष्टि से हीन कोटि में फेंक दिया गया। हिन्दू जाति ने इस विकट परिस्थिति का सामना प्राणपण से किया और कुछ वर्गों में अपने को विभाजित करके इन वर्गों को सुदृढ़ दुर्ग बना दिया। इन दुर्गों ने उसकी सामाजिक रक्षा की। राजनैतिक दृष्टि से उसका क्षत्रियवर्ग अनवरतरूप से मुसलिम सेना के साथ लोहा लेता रहा। पठानों का तीन सौ वर्षों का राज्य उनके लिये सुखोपभोग का समय नहीं था। उन्हें आये दिन राजपूत वीरों से युद्ध करना पड़ता था। इन तीन सौ वर्षों में दिल्ली का सिंहासन सतत डाँवाडोल रहा।

दैव का दुर्विपाक! पठानों के राज्य को तहस-नहस कर देने वाले बाबर ने जब उदयपुर के राणा साँगा को सीकरी के मैदान में पराजित कर दिया, तो हिन्दुओं की स्वाधीनता का सूर्य जो चमकने ही वाला था, पुनः अस्त हो गया। सूरीवंश के अल्पकालीन राज्य के उपरान्त बाबर के वंशधर मुगलों का प्रतापी साम्राज्य पुनः इस देश के ऊपर स्थापित हो गया। अकबर मुगलों का अत्यन्त दूरदर्शी सम्राट् था। उसने हिन्दू राजाओं को अपनी ओर मिलाया। पठानों की नीति के विपरीत उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण पद प्रदान किये और उनके साथ रक्त-सम्बन्ध भी स्थापित किया। गोवध-निषेध की आज्ञा द्वारा उसने हिन्दुओं के हृदयों में भी घर कर लिया। फिर भी मुगलों का राज्य १५५६ से

१७०७ तक ही अपने ओज के साथ चमक सका। इसके पूर्व से ही औरंगजेब की कट्टरता के विरोध में मुगल-विघटन-कारिणी शक्तियाँ मराठे, राजपूत और सिक्खों के रूप में क्रियाशील थीं और उनका कार्य सफलता की सीमा का स्पर्श भी करने लगा था। राजपूत राजा लगभग स्वतंत्र हो गये थे और मराठों की हिन्दू-पद-पादशाही दक्षिण से उत्तर तक अपना आतंक जमाये हुए थी। यह कार्य क्या कोरी राजनैतिक शक्ति द्वारा सम्पन्न हो सका था? नहीं, इसके मूल में प्रबल धार्मिक आन्दोलन भी कार्य कर रहे थे। आइये, थोड़ी देर के लिये इन धार्मिक आन्दोलनों की गतिविधि पर भी विचार कर लें।

धार्मिक आन्दोलन : मुसलमानों की क्रूरता से आक्रान्त, शान्ति एवं व्यवस्था के अभाव से विपन्न तथा न्याय-धर्म से वंचित धर्म-प्रवण भारत के उत्तराखंड में उन दिनों जो धार्मिक आन्दोलन चले, उनमें स्वामी रामानंद तथा आचार्य वल्लभ का विशेष हाथ था।

स्वामी रामानन्द : स्वामी रामानन्द आचार्य रामानुज की शिष्य-परम्परा में उत्पन्न महात्मा राघवाचार्य के शिष्य थे। राघवाचार्य ने दक्षिण से उत्तर में आकर काशी में स्थायीरूप से निवास किया। इन्हें राममंत्र का प्रचारक कहा जाता है। इनकी साधना में योग और भक्ति दोनों का समन्वय था। पं० बलदेवजी उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'भागवतसम्प्रदाय' के पृष्ठ १२५ पर इनके एक हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ 'सिद्धान्तरत्नमात्रा' की चर्चा की है, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित संग्रह में सुरक्षित है। इस लघुकाय पुस्तिका का मूल पाठ डा० बड़थ्वाल के 'योगप्रवाह' में पृष्ठ १८ से २२ तक प्रकाशित हो चुका है। इसमें हठयोग, सगुरा, निगुरा, द्वादशाक्षर वैष्णवमंत्र, तिलक, तुलसीमाला आदि का उल्लेख पाया जाता है।

स्वामी रामानन्द ने अपने ग्रंथ 'रामार्चनपद्धति' में जो गुरु-परम्परा दी है, उसके अनुसार राघवाचार्यजी आचार्य रामानुज से १३ वीं पीढ़ी में पड़ते हैं। स्वामी रामानंद महात्मा कबीर के गुरुरूप में पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त में विद्यमान थे। यह समय इन पीढ़ियों की वर्ष-गणना के हिसाब से भी सही सिद्ध होता है।

स्वामी-रामानन्द सिद्धान्ततः आचार्य रामानुज के मत के ही अनुयायी हैं और उनके ग्रन्थ 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के सिद्धान्त

ही स्वीकृत हुये हैं, फिर भी द्वादशाक्षर मंत्र के स्थान पर षडक्षर मंत्र के प्रचार द्वारा इन्होंने एक नवीन सम्प्रदाय की नींव डाली, जिसे वैरागी अथवा रामानन्दी सम्प्रदाय कहा जाता है। भक्ति के क्षेत्र में इस संप्रदाय ने सब वर्णों को एक धरातल पर खड़ा कर दिया। 'जाति पाँति पूछै नहीं कोई। हरि कौं भजै सो हरि कौ होई'। यह अर्द्धाली इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। स्वामी रामानन्द के शिष्यों में भी कबीर जुलाहा, सेना नाई तथा रैदास चमार एक ओर, धन्ना जाट तथा राजपूताना के एक महाराज पीपाजी दूसरी ओर, तो सुरसुरानन्द, सुखानंद, भावानंद आदि तीसरी ओर दिखाई देते हैं। नाभादास ने भक्तमाल में स्वामी रामानंद के बारह शिष्यों का वर्णन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—अनन्तानंद, सुखानंद, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानंद, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी। श्री रूपकलाजी ने 'भक्तिसुधाबिन्दुस्वाद' में रहस्यत्रयी के टीकाकार के मतानुसार स्वामी रामानंद के १३ शिष्यों के नाम लिखे हैं, जिनमें सुरसुरी का नाम नहीं है, रैदास को रमादास लिखा गया है तथा योगानंद और गालवानंद के दो नाम अधिक हैं। काशी-वासी मौलाना रशीदुद्दीन ने जो स्वामी रामानंद के समकालीन एवं एक उच्च कोटि के फकीर थे, अपने ग्रन्थ 'तजकीर तुल फुकरा' में स्वामी रामानंद के शिष्यों की संख्या ५०० से भी अधिक लिखी है, पर उनमें से द्वादश शिष्यों को गुरु का विशेष कृपा-पात्र माना है, जिनमें कबीर, पीपा और रैदास की भी गणना है। इन शिष्यों में से कबीर ने स्वतंत्र कबीरपंथ की स्थापना की। रैदास का रैदासी संप्रदाय भी अभी तक चला जाता है और रैदास को रमादास से रविदास बना कर उनकी जयन्ती भी मनाई जाने लगी है।

वैरागी सन्तों के मुख से स्वामी रामानन्द के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियाँ सुनने को मिलती हैं। एक सन्त का कथन है कि जब सिकन्दर लोदी[1] के अत्याचारों से हिन्दू जनता क्लेश पाने लगी, तो सब मिल कर

[1]. यह बादशाह सिकन्दर लोदी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका राज्यकाल स्वामी रामानंद के निधन संवत् १४६७ वि० के बाद पड़ता है। इस समय महमूद तुगलक राज्य करता था। इसी के राज्यकाल में सन् १३९८ (१४५५ वि०) में तैमूर लङ्ग ने दिल्ली पर अक्रमण किया था, जिसमें अनेक हिन्दू बेमौत मर गये थे। तैमूर कट्टर मुसलमान था।

स्वामी रामानन्द के पास पहुँचे। स्वामी जी उनके ऊपर होने वाले अमानवी अत्याचारों की कहानी सुनकर भीतर ही भीतर अत्यन्त दुखी हुए और उन सब से भगवान् की आराधना करने के लिये कहा। दूसरे दिन शुक्रवार पड़ता था। प्रातः बेला में जैसे ही अजान देने वाला मसजिद में अजान देने के लिये गया, उसका कण्ठ अकस्मात् अवरुद्ध हो गया और वह अजान न दे सका। अन्य मुल्ला और मौलवियों के कण्ठ भी बन्द हो गये। इस विचित्र घटना से मुसलमानों के अन्दर तहलका मच गया। वे सब सिकन्दर लोदी के पास गये और घटना को ज्यों का त्यों कहकर सुना दिया। सुलतान ने शेख तकी को बुलाया। शेख तकी ने कहा: 'यह सब स्वामी रामानंद की करामात प्रतीत होती है।' सुलतान ने विविध प्रकार के उपहारों के साथ वजीर और उलमाओं को स्वामी रामानन्द के पास भेजा। स्वामी जी ने उपहार की सामग्री सन्तों और फकीरों में बँटवा दी और कहा—'जाओ, सुलतान से निवेदन करो कि उसे हिन्दू और मुसलमान का भेद करके प्रजा का शासन नहीं करना चाहिये। बादशाह के लिये उसकी सारी प्रजा एक समान है। हिन्दुओं पर जजिया कर लगाना अवैध है। मन्दिरों का विध्वंस, मसजिद के सामने हिन्दू वर को पालकी से उतरवाना, गोवध, शंख बजाने तथा पर्व मनाने का निषेध आदि बातें अन्याय हैं। इस अन्याय को हटाओ।' सिकन्दर लोदी को यह सब सुनाया गया और उसने इन सब अन्यायपरक बातों को हटाने तथा न्यायपूर्वक शासन करने का आश्वासन दिया। तब कहीं मुल्लाओं के कण्ठ खुले और वे नमाज पढ़ सके।[1]

इस किंवदन्ती में कितना सत्य है, कहा नहीं जा सकता। पर इससे स्वामी रामानंद के योगी होने की बात अवश्य सिद्ध होती है। यह भी ज्ञात होता है कि मुसलमान शासक हिन्दू प्रजा पर उन दिनों अनेक प्रकार के अत्याचार करते रहते थे। ऐसा कहा जाता है कि स्वामी रामानन्द ने गिरिनार पर्वत पर बारह वर्ष तक योगसाधना की थी।

स्वामी रामानन्द के मतानुसार राम ईश्वर हैं, लक्ष्मण जीव हैं और सीता

---

१. पं० बलदेव जी उपाध्याय ने 'भागवत सम्प्रदाय' के पृ० ३०२ और ३०३ पर इसी प्रकार की एक कहानी प्रसंगपारिजात से उद्धृत की है जिसमें तैमूर-हत्याकाण्ड का भी उल्लेख है।

प्रकृति है। इसी तत्त्वत्रय की तीन मूर्त्तियाँ रामानन्दी मन्दिरों में स्थापित होती रही हैं। बाद में राधाकृष्ण की 'जुगल जोड़ी' के अनुकरण पर सीता और राम की मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा मंदिरों में होने लगी।

वैष्णवमताब्जभास्कर में राम-भक्ति-विषयक नीचे लिखा श्लोक मिलता है :

सा तैलधारासमनित्यसंस्मृतिः सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्ट सुबोधकाङ्गा॥ ६५॥

अर्थात् तेल की अविच्छिन्न धारा के समान राम का नित्य अनुराग-सहित स्मरण ही भक्ति है। इस भक्ति के सात उपाय हैं :

विवेक : दूषित एवं वर्जित आहार से सात्त्विक आहार का विश्लेषण करना।
विमोक : कामना से उपरति, विषय-विकारों से चित्त को पृथक् रखना।
आभास : जगत् के उत्पादक राम का अनवरत ध्यान।
क्रिया : पंचमहायज्ञों का सतत अनुष्ठान।
कल्याण : सत्य, सरलता, दया, दान, आदि का सम्पादन।
अनवसाद : विषाद या दुःख का बिना अनुभव किये, प्रसन्नतापूर्वक भगवत्भक्ति के पथ पर प्रयाण करना।
अनुद्धर्ष : हर्षोत्पादक पार्थिव पदार्थों तथा पारिवारिक सम्बन्धों से छूट जाना।

यम-नियमादि योग के अष्टांगों के सेवन द्वारा अपने अन्दर भगवद्-भक्ति को दृढ़ करते रहना चाहिये। स्वामी रामानन्द ने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' के श्लोकसंख्या १७९ और १८० में राम को परमेश्वर माना है और उनके गुणों का वर्णन उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म के गुणों के आधार पर किया है। उन्होंने गुरु की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है, क्योंकि गुरु ही शिष्य के संशयों का उच्छेद कर सकता है। अयोध्यापुरी उनके मत में वैकुण्ठ-रूपा है, जिसमें वही साधक प्रवेश कर सकता है, जो प्रकृति-मण्डल की सीमारूप विरजा नाम की नदी में स्नान करके उसे उत्तीर्ण कर चुका है। भगवान् की अहैतुकी दया जिस पर हो जाय, वही उनके दर्शन कर सकता है। आचार्य रामानुज के श्री वैष्णवसम्प्रदाय के अनुयायी लक्ष्मी-नारायण को अपना आराध्य-देव मानते हैं, परन्तु स्वामी रामानन्द के वैरागी सम्प्रदाय के अनुयायी सीता-राम को अपना आराध्यदेव स्वीकार करते हैं। अध्यात्मरामायण का विशेष

प्रचार रामानन्दी सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत है। उसका निम्नाङ्कित श्लोक जानकीश राम की वन्दना में लिखा गया है :

> यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः संप्रार्थितः चिन्मयः
> संजातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः।
> निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
> कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे॥

इस श्लोक में राम को चिन्मय, अव्यय ब्रह्म का अवतार माना गया है, जो राक्षसों का विनाश तथा संसार में अपनी कीर्ति का विस्तार करने के उपरान्त अपने आद्य ब्रह्मरूप को पुनः प्राप्त हो गया।

श्री वैष्णवसम्प्रदाय वाले विधि-विधानों के बाहुल्य, वर्णाश्रम-मर्यादा के पालन तथा संस्कृत के प्रयोग पर अधिक बल देते थे। स्वामी रामानन्द ने समय की आवश्यकता के अनुकूल इन विधानों में परिवर्तन कर दिया। उन्होंने पूजा-सम्बन्धी विविध अनुष्ठानों के स्थान पर इष्टदेव के भजन का प्रचार किया, संस्कृत के स्थान पर हिन्दी आदि लोकभाषाओं की प्रतिष्ठा की और भक्ति-क्षेत्र में वर्णाश्रम-मर्यादा को हटाकर प्रभु-प्राप्ति का क्षेत्र सब के लिये उन्मुक्त कर दिया। स्वामी रामानन्द ने इस सम्बन्ध में ब्राह्मण और शूद्र के ही भेद को नहीं, हिन्दू और मुसलमान के भेद को भी मिटा दिया। जिस व्यक्ति ने सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली और रामभक्ति को स्वीकार कर लिया, वह सम्प्रदाय के सभी प्रकार के व्यक्तियों के साथ बैठकर खा सकता था। राधा और कृष्ण के स्थान पर सीता और राम की भक्ति के प्रचार ने समाज को पवित्र मर्यादा-मार्ग, कर्तव्य-पालन तथा सदाचार का पुनीत संदेश भी दिया। सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं की ऊँच-नीच भावना से प्रताड़ित निम्नवर्गीय शूद्रादि, जब मुसलमानों में सामाजिक व्यवहार की समता देखते थे, तो स्वभावतः वे अपनी हीनता मिटाने के लिये इसलाम धर्म की ओर आकर्षित हो जाते थे। मुसलमान भी हिन्दुओं की इस परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्हें अपनाने और अपनी संख्या-वृद्धि करने में प्रयत्नशील थे। स्वामी रामानन्द ने हिन्दुओं के समस्त वर्णों तथा अन्य विजातीयों को भी भक्ति के क्षेत्र में एक साथ बिठाकर इस ऊँच-नीच की भावना पर प्रबल आघात किया। शूद्र ही नहीं, मुसलमानों

को भी इससे बड़ा उत्साह मिला। हिन्दुत्व की रक्षा के लिये तो यह अमोघ वरदान सिद्ध हुआ।

स्वामी रामानन्द द्वारा प्रवर्तित रामभक्ति की धारा द्विमुखी होकर प्रवाहित हुई। एक ओर उसने महात्मा कबीर की निर्गुण भक्ति का रूप धारण किया, तो दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रचारित सगुण राम भक्ति का। रामभक्ति के इन दोनों रूपों का उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

आचार्य वल्लभ : स्वामी रामानन्द के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य वल्लभ हुये, जिन्होंने उस युग के धार्मिक आन्दोलन पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। पीछे आचार्य विष्णुस्वामी के प्रसङ्ग में हम इनका थोड़ा-सा उल्लेख कर चुके हैं।

आचार्य वल्लभ दाक्षिणात्य तैलङ्ग ब्राह्मण श्री लक्ष्मणभट्ट के द्वितीय पुत्र और श्री नारायणभट्ट के शिष्य थे। लक्ष्मण भट्ट काशी में रहते थे। एक बार जब मुसलमानों ने काशी पर आक्रमण किया, तो यह परिवारसहित काशी से दक्षिण की ओर चल दिये। मार्ग में इनकी पत्नी एल्लमागारू प्रसव-पीड़ा से पीड़ित होने लगीं और परिणामतः मध्यदेश के रायपुर जिलान्तर्गत चम्पारन के समीप एक वन में उनकी कोख से संवत् १५३५ की वैशाख कृष्णा एकादशी को आचार्य वल्लभ का जन्म हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में ही हुई। वयस्क होने पर ये तीर्थयात्रा को निकल पड़े और दक्षिण में विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय की सभा में इन्होंने शैवों तथा मायावादियों को पराजित करके शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की। राजा ने इनकी विद्वत्ता एवं वाग्मिता से प्रभावित होकर 'कनकाभिषेक' द्वारा इनका सम्मान किया। दक्षिण से चलकर ये वृन्दावन आये और वहाँ बालकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। काशी छोड़ कर प्रयाग के समीप अडैल में इन्होंने अपना निवासस्थान बनाया।

आचार्य वल्लभ का सिद्धान्तपक्ष शुद्धाद्वैत और आचारपक्ष पुष्टिमार्ग के नाम से प्रख्यात है। यह पुष्टिमार्ग सेवामार्ग कहलाता है। सेवा मार्ग के दो भाग हैं : (१) नामसेवा, (२) रूप सेवा। रूपसेवा के तीन प्रकार हैं : तनूजा, वित्तजा और मानसी। मानसी सेवा सर्वश्रेष्ठ सेवा है। यदि भक्त का मन भगवान् में नहीं लगा है, तो वह अपने शरीर और धन को भी प्रभु के लिये समर्पित नहीं कर सकता।

मानसी सेवा के भी दो प्रकार हैं : मर्यादामार्ग तथा पुष्टिमार्ग। मर्यादा-मार्ग में शास्त्रों के विधि-विधान आ जाते हैं, जिनके अनुकूल आचरण करने से आत्मशुद्धि होती है और आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

पुष्टिमार्ग में समस्त विषयों से पृथक् रहकर समस्त वासनाओं का परित्याग करना पड़ता है और अपने सर्वस्व को ईश्वरार्पण करते हुये सदैव प्रभु और प्रभु के भक्तों की सेवा में संलग्न होना पड़ता है। यही हरिलीला में भाग लेना भी है। लीला में ब्रह्म, जीव और जगत्—इन तीनों का सम्बन्ध रहता है। जीव प्रवाही, मर्यादामार्गी और पुष्टिमार्गी तीन प्रकार के होते हैं। जीव की कुछ कोटियाँ इनके पहले की भी हैं, परन्तु वे तामस और मूढ़ कोटियाँ हैं। अतएव साधनपक्ष से वे वंचित रहती हैं। प्रवाही जीव संसार के प्रवाह में बहते हुये प्रभु की ओर ध्यान लगाये रहते हैं। मर्यादामार्गी शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुकूल प्रभु की पूजा और अर्चना किया करते हैं। पुष्टिमार्गी प्रपन्न और शरणागत होकर ईश्वर के साथ रहते हैं। साधनापक्ष में स्नेह, आसक्ति और व्यसन क्रमशः जीव के विकास के द्योतक माने जाते हैं। सर्व-प्रथम भक्त प्रभु से प्रेम करने लगता है। धीरे-धीरे प्रभु में उसकी आसक्ति होती जाती है और अन्त में प्रभु-सेवा में लगे रहना उसके लिये व्यसन-सा बन जाता है। पुष्टिमार्ग की उन्नति एवं विकसित अवस्था इसी व्यसन में दिखलाई देती है। शुद्ध पुष्टिमार्गी जीव वे हैं, जो संसार के बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर चुके हैं और भगवान् की नित्य लीला में भाग लेने वाले हैं।

हरिलीला गोलोक में सदैव होती रहती है। यह गोलोक श्रीकृष्ण भगवान् के बाल-काल की लीलाओं से विशेषतः सम्बद्ध है। यहाँ भगवान् का राजारूप नहीं, लीलारूप कार्य करता है। रासलीला में परमपुरुष अपनी शक्तियों के साथ क्रीडा करते हैं। वृन्दावन इसके लिये उपयुक्त स्थान है। माधुर्य रस का जो प्रवाह यहाँ बहता है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं। इसी वातावरण में भक्त भगवान् का कृपापात्र बनता है, उसके अनुग्रह को अनुभव करता है और रासलीला में प्रवेश करके परमानन्द को प्राप्त होता है।

सिद्धान्तपक्ष में शुद्धाद्वैत अविकृत परिणामवाद कहा जाता है। विश्व दो प्रकार का है : एक पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि का बना हुआ जड़ जगत, जिसमें चेतन जीव निवास करते हैं; दूसरा जीवों के ममाव से उत्पन्न हुआ

विविध क्रिया-कलापों का संसार। आचार्य वल्लभ जगत् और जीव दोनों को ही प्रभु का अंश कहते हैं और तात्विक दृष्टि से उनमें कोई अंतर नहीं मानते। प्राकृतिक जड़ जगत् को वे नित्य प्रभु के साथ मिला हुआ अनुभव करते हैं। जीव ममत्व के वशीभूत होकर प्रभु से अपने शाश्वत सम्बन्ध-सूत्र को विच्छिन्न कर लेता है, परन्तु जड़ जगत् प्रभु से परिच्छिन्न होने की शक्ति ही नहीं रखता। यही कारण है कि साधना-सम्पन्न बड़े से बड़े भक्त भी लताओं के पत्ते बनने में अपना अहोभाग्य समझते हैं। उन्हें क्षुद्र स्वार्थ, राग और द्वेष जितना संतप्त करते हैं, उतना इनसे विहीन होकर, चेतना खोकर जड़वत् बन जाना नहीं।

आचार्य वल्लभ के मत में श्रीकृष्ण ही एकमात्र शरणस्थल हैं। भक्त को उन्हीं का सदैव और सर्वत्र ध्यान रखना चाहिये। गोकुलाधीश बालकृष्ण यदि हृदय में बने रहे, तो जीवन की लौकिक तथा वैदिक सभी क्रियायें सार्थक हो गईं। भक्त जब सर्वात्मना अपने आप को प्रभु के समर्पण कर देता है, तो वह एक प्रकार से अपने योग-क्षेम की ओर से निश्चिन्त हो जाता है। अतः अपने लिये नहीं, भक्त का जीवन प्रभु के लिये व्यतीत होता है और जब तक चलता है, तब तक अनन्य भाव से प्रभु के स्मरण और भजन में ही संलग्न रहता है।

पुष्टिमार्ग विचार द्वारा प्रभु के साथ एकता का अनुभव कराता हुआ आचरण द्वारा भी उनके साथ एक हो जाने की शिक्षा देता है। भक्ति की दृष्टि से वह शुद्ध पुष्ट जीवों को भी भगवान् से भिन्न ही रखता है। अन्यथा वे हरिलीला में भाग नहीं ले सकते। पुष्टिमार्ग के अनुसार भक्त को सदैव श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणत होकर उनका स्मरण और भजन करना चाहिये।

भगवान् के इस भजन में तन, मन तथा धन तीनों का उपयोग होना चाहिये। भक्त का परमपुनीत कर्त्तव्य प्रभु-सेवा में अपने शरीर, वैभव, विचार आदि सबका समर्पण कर देना है। भक्तों की सेवा भी प्रभु-सेवा का ही एक रूप है। सिद्धांतमुक्तावली में आचार्यजी ने मानसी सेवा को तन और धन की सेवा से बढ़ कर माना है।

भगवद्भजन की ओर प्रेरणा देने वाला गुरु होता है। अतः आचार्य वल्लभ के मत में गुरु की आज्ञा का पालन प्रभु-भक्ति का ही एक अंग है।

आचार्य वल्लभ ने गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ मंदिर की स्थापना १५०० ई० के लगभग की थी। यह मंदिर अम्बाला के सेठ पूरनमल खत्री की सहायता से सन् १५२० ई० के लगभग बन कर पूर्ण हुआ। इस मंदिर में हरि-स्वरूप-सेवा का प्रबन्ध नित्य तथा नैमित्तिक आचारों द्वारा किया गया। नित्याचार में आठों प्रहर की सेवा प्रमुख थी, जो ऋतुक्रम तथा उत्सव-क्रम के अनुसार किञ्चित् परिवर्तित हो जाती थी। इसके आठ भाग थे : मंगला-शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या, आरती और शयन। इसमें प्रातः से लेकर सायं तक कृष्ण की स्वरूप-पूजा में मन लगा रहता था। नैमित्तिक आचारों में षड्-ऋतुओं के उत्सव, रक्षाबन्धनादि पर्व, अवतारों की जयन्तियाँ, हिंडोला, फाग, वसन्त आदि मनाने का आयोजन मंदिर में होता था। आचार्यजी के पुत्र और शिष्य गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने पिता का अनुसरण करते हुए श्रीनाथजी के स्वरूप-पूजन को और भी अधिक आगे बढ़ाया तथा आठ प्रहर की भावना, शृङ्गार-सजावट एवं कीर्तन आदि के मंडान को अत्यन्त वैभवशाली रूप दे दिया।

पीछे हमने वैष्णवभक्ति के पंचम युग को हरिलीला-प्रधान युग कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध राधा, गोप-गोपियों तथा गोपालकृष्ण की जो लीलायें आचार्य रामानुज और मध्व तक की कृतियों में स्थान नहीं पातीं, जो असीम प्रेम तथा माधुर्य-भाव से ओत-प्रोत हैं, वे लीलायें इसी पंचम युग की विशिष्ट सम्पत्ति हैं। आचार्य वल्लभ का पुष्टिमार्ग तो इन्हीं लीलाओं से विशेष-रूप से पुष्ट हुआ है। हरिलीला में भाग लेना ही पुष्टिमार्गीय भक्त के जीवन का चरम आदर्श था। यही वह सेवा-कार्य था, जिससे भगवत्कृपा प्राप्त होती थी और जो अन्त में साधन और साध्य को अन्योन्याश्रित कर देती थी। मुक्ति भी इसके आगे तुच्छ मानी जाती थी।[1]

इस लीला में पुष्टिमार्गीय भक्त अपना आचरण कृष्ण की नित्य एवं नैमित्तिक जीवनचर्या के साथ मानसरूप में मिला देते थे। प्रातःकाल उत्थान से लेकर रात्रि में शयन पर्यन्त इनका कार्य श्रीकृष्ण की लीला में ही भाग लेना

---

१. ब्रह्मसूत्र ३-४-४७ के अणुभाष्य में आचार्य वल्लभ लिखते हैं।—

'केवल भक्ताः स्वगृहेषु एव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तः तयैव निर्वृत्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते।'

था। जब तक मन्दिर खुला है, तब तक वे श्रीकृष्ण के विग्रह की सेवा में लगे हैं। यह सेवा दैनिक क्रिया-कलाप से सम्बद्ध थी। जैसे कोई माता अपने बच्चे को जगाती है, उठाती है, नित्य-कृत्य से निवृत्त करा के मुख धुलाती है, स्नान कराती है, कलेऊ देती है, शृंगार-सज्जा से विभूषित करती है, उसी प्रकार ये भक्त श्रीकृष्ण के विग्रह की बालरूप में परिचर्या करते थे। सायंकाल को पुनः इसी प्रकार की परिचर्या चलती थी। दिन के मध्य का काल यमुना-तट पर क्रीडा करने का था। आचार्य वल्लभ ने भगवान् के बाल रूप की पूजा का ऐसा ही विधान बनाया था। उनके भगवान् उनके लाल हैं। अपने लाल के पीछे-पीछे सोते-जागते, सभी अवस्थाओं में जैसे माँ की आँखें और मन की वृत्तियाँ लगी रहती हैं, उसी प्रकार कृष्णभक्तों को अपनी समस्त मनोवृत्तियाँ कृष्ण के साथ एक कर देनी पड़ती थीं। मनोविज्ञान के अनुसार हम जैसे विचार रखते हैं अथवा हमारी जैसी भावनायें बनती हैं, हमारा बाह्य शरीर भी वैसा ही बन जाता है। हमारे भीतर के मनोभाव ही हमारी बाह्य चेष्टाओं में अभिव्यक्त होते हैं। आचार्य वल्लभ ने एक स्थान पर लिखा है : 'भावनायें कायाकल्प कर देती हैं'। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर पुष्टिमार्गीय भक्त अपना जीवन व्यतीत किया करते थे।

भक्ति का जो रूप आचार्य रामानुज ने स्थापित किया था, जिसमें परमेश्वर का सतत ध्यान आवश्यक था और जो उपासना के भीतर आता था, वह निम्बार्कसंप्रदाय से तो हटा ही था, आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग से तो एकदम तिरोहित हो गया। स्वामी रामानन्द के सम्प्रदाय में उपासना का स्थान इष्टदेव के भजन, स्मरण और कीर्त्तन ने ले लिया था। आचार्य वल्लभ के सम्प्रदाय में हरिलीला सर्वप्रमुख बन गई। आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का इतना सुन्दर सामञ्जस्य आज तक किसी भी उपासना-मार्ग में नहीं देखा गया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने आर्य जाति की पराधीनता-जन्य विकट परिस्थिति को अनुभव किया। कृष्णाश्रय स्तोत्र में वे लिखते हैं :

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थवेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

देश के समस्त भाग म्लेच्छों से आक्रान्त हो रहे हैं तथा पाप के निकेतन बन गये हैं। सत्पुरुष पीड़ित हैं। गंगा आदि तीर्थों को दुष्टों ने घेर रखा है। अधिदेव तिरोहित हो गये हैं। अज्ञान के कारण वेद, मंत्र, व्रत, योग आदि सभी नष्ट हो रहे हैं। नाना प्रकार के वादों ने केवल पाषण्ड चारों ओर फैला दिया है। ऐसी परिस्थिति में यज्ञानुष्ठान, वेद-पाठ, उपासना आदि कर्मकाण्ड का निर्वाह कैसे हो सकता है? ऐसे समय में तो कृष्ण ही हमारी एकमात्र गति हैं।

आचार्य वल्लभ ने इस दुखद दशा के अनुशीलन से प्रेरित होकर हरि-लीला-गायन-विशिष्ट पुष्टिमार्ग की स्थापना की और पुष्टिभक्ति के पोषण द्वारा आर्य जाति को जीवित रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया। संभव है, इस पुष्टि-मार्गीय हरि-लीला-प्रधान आमोदमयी चहल-पहल में, श्रीकृष्ण-क्रीड़ाओं में मुगलों के वैभव का भी कुछ प्रभाव हो, पर, इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की भक्ति-पद्धति ने हिन्दुत्व को स्थिर रखने में अनुपम कार्य किया। इस आत्म-पोषक, लोक-विधायक लीला-वैभव के समक्ष हमने यवन-वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी। पुष्टिमार्गीय भक्ति इसी हेतु प्रवृत्तिमूलक है। उसमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, प्रत्युत जीवन से ज्वलन्त राग है। वह आशा का स्रोत है। इस भक्ति में भक्तों ने अपना सुख-दुख भगवान् के साथ एक कर दिया था। भक्ति भी एकान्त की उपासना नहीं, जनता का खुला हुआ आन्दोलन था। निवृत्तिपरायणता में भगवान् भक्तों से दूर, अनन्त, असीम और निर्गुण थे, पर इस भक्ति में वे सान्त, ससीम और सगुण बन कर घर-घर में, आंगन-आंगन में रमते हुए क्रीड़ा करने लगे।

यवन-शासन की दुर्दान्त पीड़ाओं से मर्माहत आर्य जाति को पंचम युग की इस भक्ति ने भगवल्लीलाओं का मञ्जुल लेप लगा कर अपूर्व आश्वासन

दिया। यह युग आर्य जाति की कर्तृत्व शक्ति के लिये भी स्मरणीय रहेगा। इसी युग मे राम-श्याम-भक्ति के मेघों ने बरस कर रसवती साहित्य-सरस्वती को अपार रस-धाराओं से आप्लावित कर दिया। काव्य, चित्र, संगीत आदि नाना ललितकलायें भक्ति से उत्साह एवं स्फूर्ति पाकर अपने ओज के साथ चमक उठीं। आर्य जाति का हृदय पराधीनता-जन्य विषाद को भूलकर आनन्दमग्न हो गया।

सूफीसम्प्रदाय

आमुख : हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य पर सूफीसम्प्रदाय का भी प्रभाव पड़ा है। तत्कालीन बाह्य परिस्थिति का चित्रण करते हुए मुसलमान शासकों के नृशंस व्यवहार का उल्लेख किया जा चुका है। इस व्यवहार से बचने के लिये कुछ कापुरुषों ने इस्लाम को अवश्य स्वीकार किया होगा, परन्तु अधिकांश हिन्दू सूफी संतों के प्रभाव में आकर मुसलमान बने। शासकों के अत्याचार के अतिरिक्त आर्थिक प्रलोभन, स्वधर्म-अज्ञान तथा हमारे ऊँच-नीच की भावना से भरे हुए संकीर्ण जाति-भेद भी हमारे अंगों को हमारे शरीर से काट कर इस्लाम का अंग बनाने में प्रेरक का कार्य कर रहे थे, परन्तु यह सूफियों की प्रेम-पद्धति तथा उनके सहृदयता से भरे चमत्कारों का ही प्रभाव था, जिसने इस्लाम के पैर दृढता के साथ इस भारत-भूमि पर जमा दिये।

सूफी कौन हैं ? : सूफी शब्द की व्युत्पत्ति पर विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कहते हैं, अरब में 'सूफा' नाम की एक जाति थी, जो मुहम्मद से पूर्व अज्ञानी अरबों से पृथक् रह कर, मक्का के मन्दिर में पूजा-उपासना किया करती थी। सूफीसम्प्रदाय इसी सूफा जाति से सम्बन्ध रखता है। दूसरे मत के अनुसार सूफी शब्द 'सफ' से बना है। सफ का अर्थ है पंक्ति। अपने पवित्र एवं त्याग-तपस्या से भरे जीवन के कारण सूफी कयामत के दिन सर्व-प्रथम पंक्ति में खड़े होंगे। इस भावना के आधार पर सूफी शब्द की व्युत्पत्ति 'सफ' शब्द से मानी जाती है। कुछ विद्वान् 'सुफा' शब्द से इसकी सिद्धि करते हैं। सुफा का अर्थ है मन्दिर के प्रांगण का चबूतरा जिस पर बैठ कर सूफी ध्यानमग्न हुआ करते थे। सूफ ऊन को भी कहते हैं। जो संत ऊन

के सादे कपड़े पहिनते थे, निस्पृह, सरल, एवं स्वेच्छया दरिद्र रहते हुए ईश्वर के स्मरण में अपना जीवन व्यतीत किया करते थे, वे सूफी नाम से प्रसिद्ध हुए। कुछ लोग सूफी शब्द को यूनानी सोफिया शब्द से भी संयुक्त करते हैं, जिसका अर्थ विद्या है। एक मत ऐसा भी है कि सूफी शब्द सफा शब्द से बना है। सफा का अर्थ है पवित्र, निर्मल। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि सूफी शुद्ध हृदय और पवित्र आचरण वाले थे। परमेश्वर की प्राप्ति ही इनका उद्देश्य था। धन, गृह आदि के आसंग से अलग रह कर, संन्यस्त मनोवृत्ति रखते हुए, निर्धन एवं निष्काम जीवन व्यतीत करना इनकी प्रमुख विशेषता थी।

सूफीसम्प्रदाय का उद्भव तथा उसके मान्य सिद्धान्तों का विकास कैसे हुआ, इस विषय में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। ब्राउन तथा निकलसन न्योप्लेटौनिक[1] मत से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं और कुछ विद्वान् इसे भारतीय दर्शन से प्रभावित मानते हैं। न्योप्लेटौनिकमत स्वयं भारतीय दर्शन से प्रभावित है, ऐसा भी कुछ विद्वानों का विचार[2] है। मध्य एशिया तथा तुर्किस्तान में प्राप्त बौद्धमूर्तियाँ, ईसा पूर्व की कार्ला आदि गुफाओं में अङ्कित यवन व्यापारियों के बौद्ध मठों को दिये गये दान, ईसापूर्व प्रथम शताब्दि में बौद्ध भिक्षु धर्मरक्षित का सिकन्दरिया से सीलोन में आगमन, अरब के उत्तरी भाग में हिन्दुओं के समान सिर पर लम्बी चोटी रखने वाले एक जन-वर्ग का ईसा पूर्व से लेकर अभी तक पाया जाना, यूनानी इतिहासकार यरथीदल के मतानुसार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्द में भारत के जहाजों का यमन और वहाँ से मिश्र तक पहुँचना, अरबी इतिहास में भारतीय बन्दरगाहों तथा वस्तुओं के नामों का मिलना, फुजायल और इब्राहीम की जन्मभूमि मर्व

१. न्योप्लेटौनिक मत का प्रतिपादन प्लेटीनस ने २०५ ई० में किया था। छठी शताब्दी के पश्चात् इसने ईसाई तथा मुसलिम रहस्यवाद का रूप धारण किया।

2. The History of pure Greek Philosophy ended with the School of Aristotle, but reappeared blanded with oriental thought under the name of Neoplatonism in which several aspects peculear to the east had mingled, such as the theory of emanation, ascetic, life, contemplation, extacy, devotion and vanity of all earthly pleasures.

Out lines of Islamic Culture V. 2. p. 382.

(by A. M. A. Shushtery. Banglore Press. 1938.)

तथा बलख में बौद्धधर्म का प्रभाव,[१] स्वयं इब्राहीम ('अब्राहम) का कुछ विद्वानों द्वारा भारतीय चेरा जाति के नेतारूप में स्वीकरण, भारतीय स्रोत से उद्भूत सुमेरु तथा मीडियन सभ्यताओं का मैसोपोटामियां और उसके पश्चिम में प्रचार आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो इस विचार की पुष्टि करते हैं। फिर भी जिसे हम सूफीसम्प्रदाय कहते हैं, वह अपने प्रचलित रूप में इस्लाम मजहब से विशेषतः सम्बद्ध है तथा हजरत मुहम्मद एवं उनके अनुयायी खलीफाओं के जीवन से प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त करता रहा है।

हजरत मुहम्मद के अनुयायियों ने जब धर्म-प्रचार के स्थान पर धर्म-प्रचार के साधक राज्य-विस्तार को श्रेयस्कर समझ कर आस-पास के देशों को जीतना प्रारम्भ किया, तो कुरान में प्रतिपादित नियमों का पालन करना उनके लिये असम्भव हो गया। राजनैतिक उथल-पुथल सांस्कृतिक विकास को अवरुद्ध कर ही देती है। इस्लाम के अनुगन्ता भी इसमें उलझ गये। हजरत मुहम्मद के कुछ सच्चे भक्त कुरान से अवश्य चिपटे रहे, पर संगठन के अभाव में वे भी कोई स्थिर कार्य न कर सके। इस्लाम राजनैतिक दृष्टि से फैलता हुआ ईरान तक पहुँच गया, पर ईरान की आर्य संस्कृति ने उसे प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसे ही समय में ईश्वरचिन्तन, तप, एवं निवृत्ति-परायणता को प्रधानता देने वाले कुछ सूफी संतों का उदय हुआ।

इस्लामी नहीं, ईश्वरविश्वासी, प्रेमी और ध्यानी : सूफी कुरान में अन्धविश्वास नहीं करते थे। वे कुरान में ईश्वर-प्रेम-परक वाक्यों की खोज किया करते थे। आरम्भिक सूफियों में प्रभु के स्मरण, इन्द्रिय-दमन, त्याग आदि की भावना अत्यन्त तीव्र थी। वे ईश्वर के विचार, ईश्वर में निवास तथा ईश्वर के कार्यों में ही अपने को तल्लीन रखते थे और मिताहार द्वारा एकान्तवास, आत्मशिक्षण तथा स्वार्थ-त्याग द्वारा सत्य-प्राप्ति को अपना ध्येय समझते थे। शासकों तथा मुल्लाओं से उनका कोई विरोध नहीं था। उनकी इस प्रारम्भिक, एकान्तप्रिय वैराग्य-वृत्ति में रबिया ने प्रेम का संचार किया। प्रेम-भावना ने लोकलज्जा की दीवारों का उल्लंघन करके सूफियों का प्रेम-सम्बन्ध

१. Balkh had a large monastery (Vihara) whose superintendant was known as the Baramak. (Influence of Islam on Indian Culture, by Dr. Tara Chand. p. 66).

उस परम सत्ता की महत्ता से स्थापित कर दिया। रबिया बसरा में ७१७ ई० के लगभग उत्पन्न हुई थी। इसके द्वारा सूफियों के संयत, शान्त एवं दान्त जीवन में भावमयता का प्रवेश हुआ। सूफियों का रहस्यवाद इसी प्रेम-भाव पर अवलम्बित है। विरागी से प्रेमी बन कर सूफियों ने बाह्य-विधान-परायणता तथा धर्मान्धता का भी परित्याग कर दिया।

सूफी ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखते थे और धर्म को राजनीति से पृथक् समझते थे। इनकी धारणा थी कि धार्मिक व्यक्ति दुनियावी धन्धों से दूर रह कर ही ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य को सुचारुरूप से निभा सकता है। ईश्वर में अटल विश्वास रखने के कारण यह किसी भी पाखण्डी मुल्ला या सुल्तान से भयभीत नहीं होते थे। अपनी इसी स्वतन्त्र मनोवृत्ति के कारण ये बाद में दोनों के कोप-भाजन भी बने और शूली तक पर चढ़ाये गये।

सूफियों के यतीजीवन में रबिया ने प्रेम का संचार किया था। जब ये ईरान पहुँचे, तो ईरान के बुद्धि-वैभव ने भी उनकी साधना पर प्रभाव डाला। वे प्रेम तथा विश्वास के साथ चिन्तन को भी आवश्यक समझने लगे। यदि कोई तर्क उनके बुद्धि-विश्वास को तृप्ति देने वाला मिल जाता, तो वे उसे सादर ग्रहण कर लेते थे। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में ही सूर्य को देखा जा सकता है, उसी प्रकार ईश्वर का दर्शन भी ईश्वर के कृपा-भाजन हृदय में ही सम्भव है, ऐसा जुलनून का विचार था। जुलनून ने सूफीमत को विचारपूर्ण तर्कशैली से परिपुष्ट किया। मुल्लाओं के मतानुसार कुरान में अकल को दखल देने का अधिकार ही नहीं था। जुलनून ने स्वतन्त्र चिन्तन-पद्धति को बढ़ावा दिया। परिणामतः उसे इस्लाम का विरोधी और काफिर समझा गया तथा कारावास में डाला गया। जुलनून ने गुरुआज्ञापालन को भी महत्त्व दिया है और गुरुहीन साधक को शैतान का उपासक तक कह दिया है।

जुनैद ने ९६६ ई० में जुलनून मिश्री की शिक्षाओं का संग्रह किया। सूफी जिस गुह्य विद्या को, प्रेम के रहस्य को अपना सर्वस्व समझते थे, उसे जुनैद ने गोपनीय रखना ही उचित समझा। वह बाहर से कट्टर मुसलिम, पर अन्दर से सूफी था। अतः मुल्ला और फकीर दोनों उसका समान सत्कार करते थे। गजाली ने उसी का अनुकरण किया। गजाली के शिष्य हल्लाज या मंसूर थे, जो ६७८ ई० के लगभग सुल्तान और सूफियों के संघर्ष में,

शासक और साधक की मान्यता-वह्नि में आत्माहुत हो गये। मंसूर ने भारत की भी यात्रा की थी। वे प्रेम को परमेश्वर का सार समझते थे।

इस्लामसंघ के साथ सहयोग : व्यवहार-बुद्धि ने सूफियों को प्रेरित किया कि मुल्लाओं और शासकों का विरोध करके शूली पर चढ़ना अनावश्यक है। वे इस्लाम के एक अंग हैं। भारत तक आते-आते उनका सुलतानों तथा मुल्लाओं से विरोध समाप्त हो गया था। यहाँ आकर वे इस्लाम के प्रचारक बन गये। उन्होंने अपना सम्पर्क शासक-वर्ग, इस्लाम-संघ तथा जनता तीनों के साथ जोड़ा। इस्लाम की कट्टरता को उन्होंने अपने प्रेम की भावना से मृदुल बनाया। हिन्दुओं के साथ हेल-मेल बढ़ा कर उन्होंने यहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं, ऐतिहासिक वृत्तों, घरेलू कहानियों, रीति-रिवाजों तथा आन्तरिक निर्बलताओं-सबलताओं से परिचय प्राप्त किया। वे यहाँ के वातावरण में यद्यपि घुल-मिल से गये, पर अपने स्वतंत्र इस्लामी अस्तित्व को भी उन्होंने सुरक्षित रखा। हिन्दी का प्रेमाख्यानक काव्य-साहित्य इन्हीं सूफी संतों की देन है, जिसमें एक ओर हिन्दुओं के घरों में प्रचलित कहानियाँ काव्य-बद्ध की गई हैं, तो दूसरी ओर तत्कालीन मुसलमानी बादशाहों की प्रशंसा और प्रच्छन्न तथा उन्मुक्त दोनों ही रूपों में इस्लाम मजहब के सिद्धान्तों के प्रचार का प्रयत्न भी अन्तर्हित है। सूफी अपने ग्रन्थों में मुसलिम शासकों की अन्यायपूर्ण क्रूरताओं एवं नृशंस अत्याचारों का वर्णन करने में भी चुप रहे हैं। विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी प्रभृति प्रायः सभी कवियों ने अपने समय की दीन एवं दलित दशा का कुछ न कुछ उल्लेख किया है, पर सूफी कवियों को तो इस्लाम-धर्म-शासन का अनुमोदन करना था, अतः अपने समय की जन-पीड़ा का प्रदर्शन करने में मौनावलम्बन लेना ही उन्होंने हितकर समझा।

अन्योन्य प्रभाव : सूफियों की ख्याति उनके प्रेमाख्यानक काव्यों पर अवलम्बित है। शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा ईरान देश में पहले से ही चली आती थी। उसी के प्रभाव तथा फारसी साहित्य के माध्यम द्वारा यह भारतीय सूफी साहित्य में आई। मसनवी शैली भी, जिसमें ये सूफी प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये हैं, फारसी साहित्य की ही एक विशिष्ट शैली है। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

की सम्मति में सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में भारतीय तथा पारसीक दोनों प्रेम पद्धतियों का सम्मिश्रण किया है। यहाँ रहकर सांस्कृतिक आदान-प्रदान द्वारा ऐसा हो जाना स्वाभाविक भी था।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान के और भी कई उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। सूफियों ने इस देश की भाषा को तो अपना ही लिया था और इसमें महत्त्वपूर्ण काव्य-साहित्य का निर्माण भी उन्होंने किया था, साथ ही अधिकांश मुसलमान बादशाहों ने हिन्दू कवियों को अपने दरबार में रख कर विशुद्ध हिन्दू-भावनाओं को पल्लवित होने का भी अवसर दिया। महापात्र नरहरि, गंग, हरिनाथ आदि का अकबर और जहाँगीर के दरबार में रहना, महाकवि भूषण का सर्वप्रथम औरंगजेब के दरबार में आश्रय पाना, महाकवि देव का आजमशाह के आश्रित रहना, बिहारीसतसई पर आजमशाह की टीका आदि अनेक उदाहरण इस तथ्य के समर्थन में दिये जा सकते हैं।

अनेक मुसलमानों को हिन्दूधर्म ने भी प्रभावित किया। सोलहवीं सदी के शाह करीम सिंधी अहमदाबाद के एक वैष्णव साधक से प्रभावित थे। स्खलन की दशा में ओ३म् अक्षर ही इनका मार्ग-प्रदर्शक बनता था। गुजरात में इमामशाह द्वारा स्थापित पीरन पंथ के अनुयायी मृतकसंस्कार के अतिरिक्त अन्य अपने समस्त संस्कार हिन्दुओं की भाँति करते हैं और अपने विश्वास के आधार पर विष्णु के दशम अवतार निष्कलंक की उपासना करते हैं। मुहम्मद शाहदल्ला द्वारा १७वीं सदी में स्थापित पीरजादा संप्रदाय भी इसी प्रकार का है। ताज, रसखान, गुजरात के खोजा आदि पर वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ा था। अकबर ने जिस 'कविराज' उपाधि का देना प्रारम्भ किया था, वह औरंगजेब के दरबार तक चलती रही। बाद के मुसलमान बादशाह भी हिन्दू कवियों का आदर करते रहे।

मान्यतायें : भारतीय सूफी सम्प्रदायों में चिश्तिया, नक्शबन्दिया, कादिरिया तथा सुहरावर्दिया संप्रदाय प्रमुख हैं। हिन्दी के अधिकांश सूफी कवि चिश्तिया-सम्प्रदाय के थे।

सूफी कवियों का एक दल एक ही तत्त्व को सृष्टिरूप में फैला हुआ मानता है। इसके मतानुसार जगत् उस तत्त्व का प्रतिबिम्ब या आभास मात्र नहीं है। इसमें उसके गुणों का समावेश है। फिर भी यह जगत्

विशुद्धरूप से वही तत्त्व है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पार्थिव रूप उस अपार्थिव की अभिव्यक्तिमात्र है, स्वयं वही नहीं। सूफियों का दूसरा दल सृष्टि को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है। ईश्वर और सृष्टि के विविध रूपों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का सम्बन्ध है।

सूफी ईश्वर की सत्ता और महत्ता का बार-बार उल्लेख करते हैं। इन्होंने ईश्वर में चार प्रकार के गुण माने हैं: (१) जात = ईश्वर के स्वाभाविक, स्वरूपसम्बन्धी गुण; (२) जमाल = ईश्वर के सौन्दर्यबोधक गुण; (३) जलाल = ईश्वर की शक्ति से सम्बन्धित गुण और (४) कमाल = ईश्वर की अद्भुत शक्ति के व्यंजक गुण।

मानव अपनी जीवनयात्रा में अभावात्मक और भावात्मक दो पड़ावों का अनुभव करता है। अभावात्मक पड़ाव वैराग्य या निवृत्ति का है और भावात्मक पड़ाव स्वरूप-उपलब्धि का। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में इन्हीं को असम्भूति (विनाश) और सम्भूति कहा गया है। एक मृत्यु से पार करता है तो दूसरा आत्मा को परमात्मा में अवस्थित करता है। सूफियों ने एक को फना[1] और दूसरे को बका कहा है।

इस्लाम के विधि-विधानों में सलात (प्रार्थना), जकात (दान), सौम (उपवास), हज (तीर्थयात्रा), तिलवत (कुरानपाठ), अवराद

१. कुछ विद्वान् फना की तुलना बौद्धों के निर्वाण से करते हैं। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्पेन के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि मुहीउद्दीन इब्नुलअरबी ने फना के विकास की सात स्थितियाँ स्वीकार की थीं: पाप से मुक्ति, कर्म से मुक्ति, गुणों से मुक्ति, व्यक्तित्व से मुक्ति, भौतिक जगत् से मुक्ति, ईश्वरेतर सत्ता से मुक्ति और ईश्वरीय गुणों एवं उनके सम्बन्धों से मुक्ति। (सूफीमत और हिन्दीसाहित्य, पृष्ठ ३९) इन स्थितियों में अन्तिम स्थिति बहुत कुछ बौद्धों के निर्वाण के ही समान है और अन्य स्थितियाँ भी भारतीय चिन्तन-पद्धति से मेल खाती हैं। गुण विशेषतः अन्तःकरण के साथ आविर्भूत होते हैं और व्यक्तित्व अहंकार के साथ। अहंकार विकास-क्रम में महत्तत्त्व के उपरान्त आता है। गुणों से मिलकर यही व्यक्तित्व का निर्माण करता है। अहंकार का लय धी या महत्तत्त्व में होता है। इसीको व्यष्टि का समष्टि में लय कहते हैं। धी का विलय अव्यक्त में होता है। इसी के साथ भौतिक जगत् से मुक्ति मिल जाती है। पर ईश्वरीय गुणों एवं सम्बन्धों से मुक्ति मानना तो कोरा बुद्धिविलास ही प्रतीत होता है। इस मान्यता पर निश्चितरूप से बौद्धों के शून्यवाद का प्रभाव पड़ा है, जिसका रूपान्तर अद्वैतवाद है।

[illegible]) ज़िक्र (स्मरण), फ़िक्र (ईश्वर-चिन्तन) और समा [illegible] अनुष्ठान माने गये हैं। सूफ़ी यद्यपि इन सब में विश्वास करते हैं, किन्तु उनकी मान्यतायें इस्लामी मान्यताओं के रूप से कुछ भिन्न हैं। उदाहरणतः मक्का शरीफ की यात्रा हज कहलाती है, पर सूफ़ियों ने हज को आत्मयात्रा का रूप भी दिया है। प्रार्थना श्रेष्ठ तत्त्व है, इसे स्वीकार करके भी सूफ़ियों ने ध्यान को श्रेयस्कर माना है। वे पीर, फ़कीर और गुरु की वाणी में कुरान के समान ही विश्वास करते हैं। सूफ़ियों का कथन है कि जब ईश्वर प्रेम-स्वरूप है और हम उससे प्रेम करते हैं, तो पञ्च नमाज ही क्यों, प्रतिक्षण उसकी ओर हमारा प्रेम-भाव रहना चाहिये। इसी प्रकार जब ईश्वर सर्वत्र हाजिर-नाजिर है और हम सबके अन्दर व्याप्त है, तो काबा ही क्यों, किसी भी ओर मुख करके उससे प्रेम किया जा सकता है और सब से बढ़कर तो उसका दर्शन-स्थान हमारा हृदय ही है। सूफ़ी जितनी प्रतिष्ठा काबा या मुहम्मद साहब की कब्र की करते हैं, उससे कम प्रतिष्ठा मजार, रोजा और दरगाह की नहीं करते। वे अपने पीर की समाधि पर दीप जलाते, धूप देते, फूल चढ़ाते और वन्दना भी करते हैं। वे सांसारिक पदार्थों से मन को हटाकर ईश्वर के सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं और उसी से प्रेम करते हैं। हजरत मुहम्मद को इसके लिये वे मध्यस्थ नहीं मानते। सूफ़ी संगीत को भी साधना में सहायक स्वीकार करते हैं। सूफ़ियों की इन मान्यताओं पर भारतीय दर्शन तथा पूजा-पद्धति का असंदिग्ध प्रभाव पड़ा है।

सूफ़ी अपने मुरीद (साधक) के सामने चार मार्ग रखते हैं : शरीयत, तरीकत, मारिफ़त और हकीकत। शरीयत शरअ का ज्ञान प्राप्त करना है। शरीयत के पश्चात् तरीकत में पदार्पण करना पड़ता है। नफ़्स या अहंभाव के साथ युद्ध करते हुए, इन्द्रियों द्वारा प्रभु-प्राप्ति तक पहुँचने का मार्ग तरीकत है, जिसे कर्मकाण्ड कहा जा सकता है। तरीकत में तप (द्वन्द्व-सहन), एकान्तसेवन, मौन आदि की गणना है। मारिफ़त उपासना है, जिससे नफ़्स (अहम्भावना) दूर होती है, हृदय में परमज्ञान का उदय होता है और साधक आरिफ़ (प्रज्ञा-सम्पन्न) कहलाने की योग्यता प्राप्त करता है। मुरीद या साधक को म्वारिफ़ प्राप्त होने से पहले तोबा (प्रायश्चित्त), जहद (स्वेच्छादारिद्रय), सब्र (सन्तोष), शुक्र (कृतज्ञता), रियाज़ (दमन), तवक्कुल (ईश्वरकृपा पर पूर्ण विश्वास) और रज़ा (तटस्थता) में

से निकलना पड़ता है, जो उसके अन्दर ईश्वर के प्रति अटल अनुराग (मुहब्बत या इश्क) को जाग्रत कर देते हैं और साधक पवित्र बन जाता है। उसकी आत्मशुद्धि हो जाती है। तोबा भय से नहीं, प्रेम से प्रेरित होना चाहिये। ईश्वर-अनुराग को भी सूफी साधन ही मानते हैं। मारिफत की अवस्था बुद्धि-जन्य नहीं, अनुभूतिजन्य होती है। जैसे स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्ब पूर्ण और शुद्ध पड़ता है, वैसे ही पवित्र हृदय में प्रभु का प्रत्यक्ष और यथार्थ दर्शन होता है। ईश्वर-अनुराग या इश्क मारिफत के भावावेगमय रूप का ही नाम है। अनुराग की तीव्रता से स्वभावतः वज्द (समाधि) की अवस्था प्राप्त होती है। विरही साधक वज्द के सर्वोच्च सोपान पर चढ़कर ही वस्ल अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर को उपलब्ध करता है। इसीको साक्षात्कार या हकीकत कहते हैं, जिसके एक ओर फना है और दूसरी ओर बका।

हकीकत साधन नहीं, साधक की परम, सर्वश्रेष्ठ अनुभूति है, जिसकी प्राप्ति शरीयत एवं तरीकत के सम्यक् पालन के पश्चात् मारिफत द्वारा होती है। कुछ ऐसे भी संस्कार-सम्पन्न सन्त एवं सूफी हुए हैं, जिन्हें कर्मकाण्ड की कठोरता में से नहीं गुजरना पड़ा। प्रभुकृपा ने उन्हें सब कुछ प्राप्त करा दिया। इस्लाम के कट्टर अन्ध भक्तों ने शरीयत की उपेक्षा करने के कारण इन्हें बेशरा या जिन्दीक कहा है।

सूफियों ने चार लोकों की कल्पना की है: नासूत (नरलोक), मलकूत (देवलोक), जबरूत (ऐश्वर्यलोक) और लाहूत (माधुर्यलोक)। शरीयत द्वारा मोमिन नासूत में, तरीकत द्वारा मुरीद मलकूत में, सालिक इन दोनों के द्वारा मारिफत में मग्न होकर जबरूत में और आरिफ हकीकत द्वारा लाहूत में लीन होता है। कुछ सूफियों ने लाहूत के आगे हाहूत अर्थात् सत्यलोक की भी कल्पना की है।

साधक इन लोकों को अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है, पर हाल की उपलब्धि ईश्वर की कृपा से ही संभव होती है। हाल के दो पक्ष हैं—एक में फना (व्यष्टि-नाश), फक़्द (अहं-समाप्ति) और सुक्र (प्रेममद) आते हैं; दूसरे में बका (आत्म-अवस्थिति), वज्द (प्रभु-प्राप्ति) और शह्व (पूर्ण शान्ति) आते हैं।

कुछ सूफियों ने सोपानों का क्रम इस प्रकार माना है: अबूदिया (एकनिष्ठा), इश्क (प्रेम), जहद (स्वेच्छात्याग), म्वारिफ (चार साधनों से सम्पन्न होना), वज्द (आत्मविस्मृति), हकीकत (परमेश्वर-साक्षात्कार) और वस्ल (ईश्वर-प्राप्ति)। सूफियों ने इन सोपानों या साधनों में वज्रयानियों या गोरखपंथियों के हठयोग और भागवतों के प्रेमतत्त्व का भी सम्मिश्रण किया है।

सूफीदर्शन में तर्क का महत्त्व ईरान की देन है, पर उसकी साधना में प्रधानता तर्क की नहीं, परमेश्वर के अनुग्रह, प्रेम और समर्पण की रही है। इस सम्बन्ध में जो संकेत सूफियों को कुरान में मिले, उनके आधार पर उन्होंने नवीन उद्भावनायें कीं और कुरान के जो वाक्य कुछ प्रतिकूल से जान पड़े, उनकी नवीनरूप से व्याख्या की। भारत में आकर तो उन्होंने कुरान का किञ्चित् भी विरोध नहीं किया। सूफीसम्प्रदाय, यहाँ आकर, इस्लाम की गोद में ही फला-फूला।

रामानंद से दीक्षा लेकर कबीर ने जिस संत-मत का प्रवर्तन किया था, उसने सूफीसम्प्रदाय के फकीरों के साथ मिल कर हिन्दू और मुसलमान दोनों की कट्टरता और धर्मान्धता को दूर करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। सांस्कृतिक समन्वय में भी दोनों ने अपूर्व योग दिया। यदि एक ओर निम्नस्तर के हिन्दू सूफियों के उदार व्यवहार के कारण मुसलमान बने, तो दूसरी ओर मुसलमान भी वैष्णव धर्म की अमिट छाप पड़ने से न बच सके।

हिन्दी काव्य पर सूफी प्रभाव की मीमांसा :

सूफी ईश्वर को प्रेमस्वरूप मानते आये हैं। प्रेम बहुत कुछ सौन्दर्य पर अवलम्बित है। अतः उन्होंने ईश्वर में अनन्त सौन्दर्य के वर्णन भी किये हैं। कुरान में ईश्वर के इन दोनों रूपों का वर्णन है। उसके सूरा ३, आयत ४८ तथा सूरा ६२, आयत ४ में ईश्वर को अनन्तसौन्दर्यशाली लिखा है। कुरान में यह भावना बाइबिल से आई। जोन के प्रथम पत्र ४-८ में लिखा है कि ईश्वर प्रेम है। पं० चंद्रबली पाण्डेय ने 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' में बाइबिल से भी पहले यहूदियों की मान्यताओं में प्रेमभाव की विद्यमानता दिखाई है।

चित्त की एकवासनात्मक वृत्ति रति है, जो प्रेम का रूप धारण करती है। प्रेम प्रथम लौकिक वस्तुओं और व्यक्तियों से ही होता है, परन्तु धीरे-धीरे सूक्ष्म भावनाओं से होता हुआ अन्त में सूक्ष्मतम परमात्मा के साथ भी संयुक्त हो जाता है। सूफियों के अनुसार विश्व-प्रेम भी परमात्म-प्रेम का ही रूप है, क्योंकि उस अनन्त सौन्दर्यशाली और प्रेमस्वरूप प्रभु का सौन्दर्य और प्रेम उसकी रचना में भी भरा पड़ा है। जब सर्वत्र उसके सौन्दर्य की छटा बिखरी पड़ी है, उसके प्रेम का ही समुद्र लहरें मार रहा है, तो क्यों न उसमें डूब कर आनन्द की उपलब्धि की जाय? पर जीव के लौकिक सम्बन्ध इस उपलब्धि में अनेक अन्तराय उपस्थित करते रहते हैं और परिणामतः आत्मा इस आनन्द-प्राप्ति से वंचित हो जाता है। साधक इस अवस्था को अनुभव करके, अन्तरायों की उपस्थिति में, प्रभु के विरह से व्याकुल हो उठता है। सूफी साहित्य में इस विरह का अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है।

कतिपय आलोचकों की सम्मति में प्रभु के विरह से उत्पन्न सूफियों की इस प्रेम-पीर ने हिन्दी काव्य को विशेषरूप से प्रभावित किया है। कम से कम निर्गुणिये सन्तों की रचनाओं में माधुर्यभाव के जिस विरह-पक्ष का उद्घाटन हुआ है, वह इन आलोचकों के अनुसार, सूफीसंप्रदाय की ही देन है। सूफीमत का प्रारम्भिक युग वैराग्य-प्रधान एकान्तचिन्तन का युग है। आठवीं शताब्दी में बसरा में उत्पन्न रबिया ने सूफियों की इस वैराग्य-वृत्ति में प्रेम-भाव का संचार किया, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं। निर्गुणिये सन्तों में कबीर का स्थान प्रमुख है। कबीर स्वामी रामानंद के शिष्य हैं। रामानंदजी वैष्णवों की वैरागी शाखा के प्रवर्तक हैं। अतः कबीर पर जो मौलिक प्रभाव पड़े हैं, उनका बीज वैष्णव धर्म के अन्तर्गत है। भागवत भक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करते हुये हमने नारद-भक्ति-सूत्रों का उल्लेख किया है। इन सूत्रों में संख्या ८२ के अन्तर्गत जिस कान्तासक्ति और परमविरहासक्ति का वर्णन है, वे माधुर्यभाव के ही अंग हैं। नारदभक्तिसूत्रों का निर्माण आठवीं शताब्दी से पूर्व ही हो चुका था, ऐसा प्रायः सभी विद्वानों का मत है। फिर कबीर के माधुर्यभाव तथा प्रणयासक्ति को सूफीसम्प्रदाय का प्रभाव क्यों माना जाय, जब वे सीधे वैष्णवों की प्रेमासक्ति से सम्बद्ध दिखाई देते हैं? प्रेमभाव

की ये आसक्तियाँ श्रीमद्भागवत के गोपी-कृष्ण-प्रेम में भी परिलक्षित होती है, जो ईसा की तीसरी शताब्दी तक निश्चितरूप से बन चुकी थीं। यही क्यों, इन आसक्तियों का मूल हमें वैदिक ऋचाओं में भी उपलब्ध होता है, जिनके उदाहरण हम 'वैदिक भक्ति' के विश्लेषण में दे चुके हैं। रही निर्गुण सम्प्रदाय वालों की निराकार प्रभु के साथ प्रेम की बात, वह गोपी-कृष्ण-प्रेम पर भले ही घटित न हो सके, वैदिक भक्ति पर तो सोलहों आने घटित होती है। अतः इस सम्बन्ध में निराकार और साकार का प्रश्न उठाना भी निरर्थक हो जाता है। वैसे भी प्रणय-भावना निराकार अथवा साकार किसी भी व्यक्तित्व के प्रति जा सकती है। प्रेम साकार से ही हो, यह आवश्यक नहीं है। भागवत की प्रणय-भावना में मांसलता आ अवश्य गई है, पर भागवत के कृष्ण परब्रह्म हैं और गोपिकायें उच्चकोटि के साधक जीवों की प्रतीक-- इस विषय में किसी को भी संदेह करने का अवकाश नहीं है। सूर आदि हिन्दी के कवियों ने इस तथ्य का अत्यन्त आग्रह के साथ उल्लेख किया है।

इस स्थल पर यह भी विचारणीय है कि निर्गुणोपासक सन्तों की प्रेम-भावना मानवहृदय के साथ, वास्तव में, सृष्टि के प्रारम्भ से ही संबद्ध है। दिन और रात्रि के समान इसका आरोह और अवरोह अवश्य होता रहा है। कभी इसका अतिरेक हुआ है, तो कभी इसे संयत एवं मर्यादित रखने की चेष्टा की गई है। वैदिक युग में इसका संयत रूप था, जिसकी एक झलक हमें वाल्मीकीय रामायण में भी मिलती है। बौद्ध आश्रमों के भिक्षु-भिक्षुणियों के भ्रष्ट प्रेम के प्रभाव से इसका नग्नरूप सिद्धों के साहित्य में परिलक्षित हुआ ही था कि नाथपंथ ने उदय होकर इसे पुनः कठोर संयम की ओर मोड़ दिया। कबीर का प्रेम, परिस्थितियों के वशीभूत हो, स्वतः आध्यात्मिक बन गया। अष्टछापी, हरिदासी तथा राधा-वल्लभी संप्रदायों के राधा-कृष्ण-भक्त कवियों में प्रेम का उद्दाम वेग प्रकट हुआ, तो गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में उसे मर्यादित प्रशान्त रूप धारण करना पड़ा। प्रेम के उतार और चढ़ाव की यह कहानी अत्यन्त अभिराम है। सूफियों ने स्वयं सामी मतों के लौकिक मादन भाव को आध्यात्मिक रूप दिया था। अतएव कबीर की प्रेमा भक्ति सूफियों की नहीं, इसी देश की परम्परा से संयुक्त वैष्णव भक्ति की देन है।

इसी सम्बन्ध में कैशोर प्रेम की भी चर्चा की जाती है। कैशोर प्रेम निस्संदेह सामी संप्रदायों की देन है। सूफियों ने भी किसी रमणी या किशोर को प्रणय-प्रतीक बनाया है। कहते हैं, प्रेम युवा है। यह जिस पर छाता है, उसे भी युवा बना देता है। भारत में देवों को सतत युवा बने रहने का वरदान प्राप्त है। सतत तरुण देवताओं और सतत तरुणी अप्सराओं की प्रेम-कहानियाँ पुराणों में प्रसिद्ध हैं। कैशोर अवस्था युवावस्था के प्रारम्भ की अवस्था है। शारीरिक सौन्दर्य इस अवस्था में अभिनव उन्मेष पाता है। अंगों की गठन, रक्त की उमड़ कर बाहर फूटती हुई लालिमा, ओज और वीर्य से उत्पन्न प्रदीप्त कान्ति सब कुछ दूसरों की आँखों के लिये आकर्षक इन्द्रजाल का रूप धारण कर लेती है। सौन्दर्य-प्रेमी सूफियों ने इसी हेतु अपने अनन्त सौन्दर्यशाली ईश्वर को कैशोर रूप प्रदान किया है। इस रूप का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ने ही वाला था कि आचार्य वल्लभ जैसे जागरूक सिद्ध महापुरुष ने उसे भारतीयता के ढाँचे में ढाल कर ऐसा मनोरम आध्यात्मिक रूप प्रदान किया, जिसमें ईरानी अश्लीलता आते-आते बाल-बाल बच गई। ईरानी सूफी जिस कैशोर-प्रेम में मग्न हुए, उसने ईरान में अप्राकृतिक प्रेम का रूप धारण कर लिया था, परन्तु भारत में अष्टछापी कवियों ने अपने इष्टदेव के बाल एवं कैशोर रूप का जो वर्णन किया, वह विशुद्ध रूप से भक्ति के क्षेत्र तक ही सीमित रहा। किशोर कृष्ण के साथ गोपिकायें प्रेम करती हैं और अपना सर्वस्व उन पर निछावर कर देने के लिये तत्पर हैं। गोप भी उनसे प्रेम करते हैं। इन दशाओं में वात्सल्य, माधुर्य तथा सख्य तीनों प्रकार की भक्ति के रूप खड़े कर दिये गये हैं, जिनमें अश्लीलता का लवलेश भी नहीं आ पाया।

सूफियों ने ईश्वर को जो रमणी-रूप प्रदान किया है, वह भी इस देश की परम्परा के अनुकूल नहीं था। हिन्दी कवियों ने प्रभु को पत्नीरूप में नहीं, मातृरूप में गृहीत किया है। भारतीय परम्परा में प्रभु का यह मातृरूप वेदकाल से चला आता था। शाक्तमत के अनुयायी ईश्वर की उपासना शक्ति, दुर्गा, उमा, चंडी, काली आदि विभिन्न नामों से प्रभु की मातृशक्ति के रूप में ही करते रहे हैं। राधावल्लभियों ने भी राधा को इसी रूप में स्वीकार किया है और यदि कहीं पर राधा पत्नी के रूप में आई भी है, तो वहाँ

पर वह परब्रह्म कृष्ण की परम एवं अभिन्न शक्ति के रूप में ही आई है। अतः हिन्दी कवियों ने सूफियों की इस रमणीरूप में आराधना की पद्धति को भी ग्रहण नहीं किया। जो विद्वान् हिन्दी के कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में सूफियों के रहस्यात्मक प्रेम की छाप अनुभव करते हैं, उन्हें इस देश में प्रचलित प्रेम-परम्परा की खोज करनी चाहिये, जिसमें देश और काल की विभिन्नता के अनुसार विश्व की नाना वाणियों में ईश्वर के नाना नाम गृहीत हुए हैं और इन नामों द्वारा प्रभु की प्रेमाभक्ति का रूप प्रकट किया गया है। वह भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों शैलियों में है। प्रभु के अवतारों में नाम, रूप, लीला और धाम का वर्णन जहाँ व्यञ्जनापरक शैली में आया है, वहाँ साधारण व्यक्तियों के लिये कथा की मनोरंजकता और साधकों के लिये व्यञ्जना द्वारा तथ्य की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से है। इसे हम सूफी प्रभाव नहीं कह सकते।

सूरदास जब लिखते हैं: 'सोलह सहस पीर तन एकै' अथवा 'एक प्राण द्वै देह री' अथवा 'गोपी, ग्वाल, कान्ह दुइ नाहीं, ये कहुँ नेकु न न्यारे', तब क्या वे ऐसा सूफी प्रभाव की लपेट में कहते हैं? जो खोजी सूफी कवि जिली (१४१० ई०) की अंग्रेजी में अनुवादित इस पंक्ति को पढ़ते हैं: 'We are the spirit of one, though we dwell by turns in two bodies.'[1] अथवा रूमी (१३ वीं शताब्दी) के शब्दों में: 'Happy the moment when we are seated in the palace, thou and I with two forms & with two figures, but with one soul thou & I.'[2] जब वे जीव और ईश्वर की एकता के प्रतिपादक भावों पर ध्यान देते हैं, तो झट उन्हें सूर के वाक्यों में सूफी कवियों की छाया

१. R. A. Nicholson:
Studies in Islamic mysticism तृतीय टिप्पणी, पृष्ठ ८० (University Press. Cambridge, 1921)

२. Sir Thomas Arnold and Alfred Gilomy:
The legacy of Islam. page 219 (Clarendon Press, Oxford, 1931)
निकल्सन ने भी इस उद्धरण को अपने उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ८० की तृतीय टिप्पणी में समाविष्ट किया है।

दिखाई देने लगती है। ये विद्वान् भूल जाते हैं कि सूफी कवियों के इन वाक्यों पर भारतीय अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इस्लाम का एकेश्वरवाद और भारतीय अद्वैतवाद एक ही नहीं हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद के आधार पर सूफी कवियों द्वारा प्रतिपादित जीवेश्वर-एकता की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसे तो भारतीय अद्वैतवाद के आधार पर ही समझाया जा सकता है। सूफियों पर पड़े हुए इस भारतीय प्रभाव को अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है।

सूफियों की प्रेम-भावना ने अद्वैत से मिल कर आत्मा और परमात्मा के मिलन की जो मधुर, मादक लहर प्रवाहित की, उससे सूफी साधना में माधुर्यभाव का संचार हुआ। यह माधुर्यभाव सूफियों को स्वार्थ की तंद्रा से निकाल कर आध्यात्मिक चेतना के जागरण में ले गया, जिससे वे अपने प्रभु को सधस्थ = आमने सामने होकर देखने लगे।

हम यह नहीं कहते कि जब दो जातियों का संपर्क होता है, तो उनमें परस्पर आदान-प्रदान नहीं होता। ऐसा होना अवश्यंभावी है और 'अन्योन्य प्रभाव' के अन्तर्गत हम उसका इसी प्रकरण में थोड़ा-सा उल्लेख भी कर चुके हैं। पर अपनी परम्परा को बिना जाने हुये जो विजातीय प्रभावों का उल्लेख किया जाता है, वह भ्रमात्मक ही नहीं, कभी-कभी हानिकारक भी सिद्ध होता है। उससे मन में हीन भावना का उदय होता है, जो जातीय पुरुषार्थ पर पानी फेर देती है। स्वाधीन एवं स्वाभिमानी जातियाँ दूसरों के सम्पर्क में आकर भी कभी अन्धानुकरण नहीं करतीं। यदि वे कुछ लेती भी हैं, तो उसे अपने ढाँचे में ढाल लेती हैं। कभी-कभी उसका प्रतिक्रियात्मक रूप भी दिखाई देता है। इस्लाम की भ्रातृभावना को आप स्वामी रामानन्द की, भक्ति के क्षेत्र में, वर्ण-विषमता-विघटनकारी नीति के रूप में देख सकते हैं, पर वह सम्पूर्ण रूप से हिन्दू-कलेवर धारण किये हुए है। गुरु की मान्यता हमारे यहाँ बहुत पहले से चली आती है। सूफियों की पीरपूजा ने, सम्भव है, उसे कुछ अधिक बढ़ावा दे दिया हो, पर उसका रूप कभी इस्लामी नहीं बना। इसके विपरीत सूफियों की पीर-पूजा का बाह्याडम्बर वाला रूप हिन्दुओं की पूजा-पद्धति से अवश्य प्रभावित हुआ है। हिन्दी काव्य में विरहवर्णन के अन्तर्गत जो रक्त-मांसादि के उल्लेख की बीभत्स प्रणाली कहीं-कहीं दिखाई देती है, वह अवश्य, सूफी

सम्प्रदाय के कवियों से आई है। प्रिया के लिये कैशोरप्रेमवाची जो पुल्लिंग संबोधनों का प्रयोग है, वह भी सूफी सम्प्रदाय की ही देन है।

अन्त में प्रतिक्रियात्मक प्रभाव की चर्चा करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। हिन्दुओं पर मुसलमानों ने अपनी धर्मान्धता के कारण जो अत्याचार किए, उनका उल्लेख हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। मुसलमानों के सामने हिन्दू दीन बने रहें, इसके लिए मुसलमान बादशाहों ने उनकी अर्जन तथा उत्पादक शक्तियों को ही कुचल डालने का उपक्रम किया था। वे बहुमूल्य आभरण नहीं रख सकते थे, सोने-चांदी के पात्र रखने से वंचित कर दिये गये थे, विलास के समस्त उपकरण हिन्दुओं के लिए नहीं, मुसलमानों के लिये सुरक्षित थे। हिन्दुओं में इसकी प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। आचार्य वल्लभ ने हिन्दुओं की इस मूक प्रतिक्रिया को वाणी दी, जिसके अनुसार हिन्दू अपने लिए नहीं, तो अपने इष्टदेव के लिए तो अर्जन कर ही सकते थे। अपनी अर्जित सम्पत्ति को अपने गृहों में वे भले ही न रख सकें, पर वे उसे अपने इष्टदेव के मन्दिर में समर्पित कर सकने के अधिकारी तो थे ही। आचार्य वल्लभ ने वित्तजा, तनूजा तथा मानसी सेवा के रूप में जो बालकृष्ण की पूजा का विपुल आडम्बरों से युक्त विधि-विधान तैयार किया, उसमें इसी प्रतिक्रिया की ध्वनि गूंज रही थी। छप्पन प्रकार के व्यंजन बना कर इष्टदेव को भोग लगाया जाता था। मंगला, आरती, शैया आदि नित्य सेवा के अवसरों पर प्रचुर धन-धान्य का व्यय किया जाता था। 'केसर की चक्कियाँ चलती थीं' यह कथन चाहे अपने वाच्यार्थ में सम्पूर्ण रूप से सत्य न हो, पर लक्ष्यार्थ में अधिकांशरूप से सत्य के निकट अवश्य था। मुसलमानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया की यह भावना अन्य क्षेत्रों में भी सक्रिय बनी रही। भागवत भक्ति की कृष्णशाखा ने इसे पूजा-पक्ष तक ही सीमित रखा, पर राम शाखा ने इसे राजनैतिक क्षेत्र तक फैलाया।

'कहा कहौं छवि आज की, भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लेउ हाथ।'

तुलसी के इस दोहे में प्रतिक्रिया के ये दोनों रूप सुरक्षित हैं। इस प्रतिक्रिया ने हिन्दुत्व को सुरक्षित रखने में अनुपम कार्य किया है।

हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य की विशेषतायें

हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य का उदय जिन परिस्थितियों में हुआ, उनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार विजित एवं पददलित हिन्दू जाति किस मुख से वीरता के तराने गाती? वह निःसम्बल हो उस सर्वशक्तिमान् की चरण-शरण में पहुँची जो निराश्रितों का आश्रय, निर्बलों का बल और अशरण की शरण है। भगवत्कृपा से उसे आचार्य भी इस युग में ऐसे प्राप्त हुए, जिन्हें भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि और रक्षक कहा जा सकता है, जो स्वयं उस रसरूप प्रभु के उपासक थे और जिनकी वाणी भक्ति रस की अमन्द रस-वर्षा करती थी।

इन आचार्यों में लोक-संग्रह की अपूर्व शक्ति थी। इन्होंने अनेक भक्तों, साधकों और कवियों को अपने साथ लिया। इन के पूर्व जो आचार्य हुये थे, वे संस्कृत के प्रेमी थे, पर इन आचार्यों ने संस्कृत भाषा के दुरूह दुर्ग से निकल कर जनता की वाणी को अपनाया, जो सरल एवं सर्व-ग्राह्य थी। हिन्दी का भक्ति-कालीन साहित्य विशेषरूप से ब्रजभाषा में लिखा गया है, परन्तु प्रेमाख्यानक काव्यों और तुलसी के कतिपय ग्रन्थों की भाषा अवधी है। अवधी को तो नहीं, पर ब्रजभाषा को इस युग के भक्तिकाव्य ने भारतव्यापी रूप प्रदान कर दिया। यह पंजाब, राजस्थान, बुन्देलखण्ड, महाकौशल, महाराष्ट्र, गुजरात और बिहार एवं बंगाल तक समझी जाती थी। इन प्रदेशों के इस युग के काव्यों पर भी इस भाषा का अनिवार्य प्रभाव पड़ा है। यह युग ब्रजभाषा की साहित्यिक समृद्धि के साथ उसकी व्यापकता का भी युग था।

इस युग में भक्तिकाण्ड दो शाखाओं में प्रस्फुटित हुआ। एक शाखा निर्गुण और दूसरी शाखा सगुण कहलाती है। निर्गुण शाखा पुनः दो भागों में विभक्त हो गई। एक भाग ज्ञानाश्रयी कवियों का है, दूसरा प्रेमाश्रयी कवियों का। सगुण शाखा ने भी कृष्णभक्ति तथा रामभक्ति दो रूप धारण किये। ऐसी मान्यता कई विद्वानों की है।

निर्गुण तथा सगुण शाखाओं में भक्तिकाव्य का विभाजन हमें सार्थक प्रतीत नहीं होता। दार्शनिक दृष्टि से उसमें यथार्थता नहीं है। प्रभु वस्तुतः निर्गुण और सगुण दोनों ही हैं। प्राकृत गुणों से विहीन होने के कारण वह निर्गुण और स्वीय गुणों से युक्त होने के कारण सगुण है। ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करते हुए हम इस तथ्य की ओर स्पष्ट निर्देश कर चुके हैं।

कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों को निर्गुण का उपासक कहा जाता है, परन्तु उन्होंने प्रभु के गुणों का कीर्तन जी भर कर किया है। हाँ, वे प्रभु को साकार नहीं, निराकार अवश्य मानते हैं। निराकार का अर्थ निर्गुण कभी नहीं होता। अनेक भाववाचक संज्ञायें निराकार हैं, पर वे सगुण भी हैं। प्रबल पिपासा, भीषण बुभुक्षा, विषम विकृतियाँ, दीर्घ निदाघ आदि का प्रयोग और अनुभव साहित्य तथा मानव-मन किया ही करता है। निर्गुण निराकार तक भी मानव का प्रातिभ ज्ञान पहुँचा है, पर वह वर्णन का विषय नहीं बन सका। वाणी उसके सम्बन्ध में मूक है। वह परा अवस्था है, जो साधारणतः पकड़ में नहीं आती। महत्तत्त्व के उदय में अव्यक्त और निराकार जब सगुण रूप में प्रतिभासित होने लगते हैं, तभी वे अभिव्यक्ति के विषय बनते हैं और मनोभूमि तक आते-आते वे मानवग्राह्य हो जाते हैं।

कबीर आदि संतों ने इस निर्गुण निराकार अवस्था की ओर संकेत अवश्य किया है, पर सामान्यतः वे सगुण निराकार का ही वर्णन करते रहे हैं। प्रभु के साकार रूप का उन्होंने सर्वत्र प्रत्याख्यान किया है। हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य की आधारशिला इन्हीं सन्तों की भाव-भरित रचनाओं के धरातल पर स्थापित हुई है। उसके भव्य भवन का विशाल एवं आकर्षक रूप ईश्वर के अवतारों के उपासक सूर और तुलसी ने प्रस्तुत किया, जिसमें एक ओर कृष्ण-काव्य की कमनीय कान्ति और दूसरी ओर रामकाव्य की अमृत-स्यंदिनी, संजीवन-प्रदायिनी मनोरम सुषमा विद्यमान है। इस युग का भक्तिकाव्य एक ऐसा मञ्जुल उद्यान है, जिसके एक पार्श्व को श्याम-रंग-मग्ना कलिन्दजा सिंचित कर रही है और दूसरे पार्श्व को मर्यादामार्ग की श्वेतिमा से मंडित राम-गंगा। निराकारोपासक कबीर के 'सबद' और 'साखियाँ' तथा जायसी आदि सूफीकवियों के प्रेमाख्यानक काव्यों की भी छटा अतीव हृदयहारिणी है।

इस युग का हिन्दी-भक्ति-काव्य कतिपय सम्प्रदायों से भी सम्बन्ध रखता

है। कबीरपंथ, नानकपंथ, हरिदासी, हरिवंशी, पुष्टिमार्ग, गौडीयसम्प्रदाय, रामानन्दी आदि कई सम्प्रदायों ने हमारे इस साहित्य को गौरव-गरिमा से मण्डित किया है। व्रजभाषा प्रायः इन सभी सम्प्रदायों के कवियों की भाव-वाहिका थी। वामाचार की निन्दा तथा सदाचार की प्रतिष्ठा इन सभी सम्प्रदायों के साहित्य की विशेषता रही है। सत्संग के महत्त्व को सभी ने स्वीकार किया है।

इन सम्प्रदायों के लगभग सभी प्रतिष्ठाता उच्च कोटि के साधक थे। इनके काव्यों में शृङ्गारिक वर्णनों को पढ़ कर जो आलोचक इन पर कामोत्तेजना का आरोप लगाते हैं, वे अन्याय करते हैं। जो कबीर 'और गुनह हरि बकससी, कामी डार न मूल' कह कर कामुकता की निन्दा करता है, वह जब शृङ्गार-पद्धति पर अपनी भक्ति-भावना को इन शब्दों में प्रकट करता है : 'घूंघट कौ पट खोलि री, तोहि पीउ मिलैंगे' अथवा 'का जानौ वा पीव सौं कैसे रहसी रंग', तो वह शृङ्गारिकता की आड़ में कामवासना को उत्तेजित नहीं करता, आध्यात्मिक भाव-धारा को प्रकट करता है। इन पंक्तियों को पढ़ कर हम उसे कामी नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ विषयवासना की गन्ध भी नहीं है। इसी प्रकार जो भक्त सांसारिक भोगों का परित्याग करके विरक्त भाव से जीवन व्यतीत करता हो, उसका राधा-कृष्ण-केलि-क्रीड़ा से पूर्ण रासलीला का वर्णन प्रतीकात्मक ही कहा जायगा, विषय-वासना-सम्बन्धित नहीं। जहाँ काम, काञ्चन और कामिनी का निवास हो, वहाँ भगवान् कैसे रह सकते हैं ?

इस युग की कृतियों में काव्य के साधन और साध्य, शृङ्गार तथा शक्ति, भोग तथा पुरुषार्थ दोनों पक्षों का उद्‌घाटन हुआ है। काव्य की विभिन्न शैलियों में भी इस युग में रचनायें हुईं। कबीर ने दोहे तथा पदों की शैली को अपनाया। जायसी ने फारसी की मसनवी शैली को दोहे-चौपाइयों की पद्धति में ढाला। कबीर की रमैनी भी इस पद्धति को अपनाती है, पर वह कबीर की ही रचना है, ऐसा निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः उनके किसी शिष्य ने इसे लिखकर उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। सूर का काव्य प्रमुख रूप से पदशैली में लिखा गया है, यद्यपि उसके बीच-बीच में दोहे, चौपाई, सोरठा, गीतिका आदि कई अन्य छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। तुलसी की काव्यशैली विविधरूपा है। उनका रामचरितमानस दोहे-

चौपाई की पद्धति पर, कृष्णगीतावली, गीतावली तथा विनयपत्रिका पद-शैली में, कवितावली कवित्त-सवैयों में, दोहावली दोहों में, जानकीमङ्गल तथा पार्वतीमङ्गल अरुण अर्थात् मङ्गल और हरिगीतिका छन्दों में, रामलालानहछू सोहर छन्द में तथा बरवै रामायण बरवै छन्द में लिखे गये हैं। इस युग में गीति, प्रबन्ध, मुक्तक आदि कई काव्य-विधाओं की रचनायें हुईं।

विषयों की दृष्टि से यद्यपि भक्तिकाण्ड ही इस युग की कृतियों का प्रधान विषय है, फिर भी इसे लक्ष्य करके कृष्णचरित, रामचरित तथा इनसे सम्बद्ध अनेक पौराणिक आख्यान काव्यबद्ध किये गये। सूफियों ने लोक-प्रचलित घरेलू कहानियों में कल्पना का मिश्रण करके मधुरिमा-मंडित अनेक प्रेमकाव्यों की रचना की। इन प्रेमकाव्यों के बीच-बीच में अनेक भारतीय, पारसीक तथा अरब की पौराणिक एवं ऐतिहासिक गाथायें भी आ गई हैं। कबीर अपनी कृतियों में कुरीतियों के निवारण, बाह्याडम्बर-पूर्ण कर्मकाण्ड एवं पूजाविधानों के खण्डन, अन्धविश्वासों के निराकरण तथा विसंवादिनी प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान द्वारा भारत की क्षीण-प्राय समन्वय-वादिनी प्रवृत्ति के स्थापन और विभिन्न विचार-प्रणालियों में सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न करते रहे। तुलसी ने प्राचीन शास्त्रीय मर्यादा का अवलम्बन लेकर समन्वयवाद की प्रतिष्ठा की।

इस युग की भक्ति-सम्बन्धी जो विशिष्ट बात हमारे सामने आती है, वह है भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम का चित्रण। सूर और तुलसी जैसे ईश्वर के अवतारों के उपासक कवियों की रचनाओं में तो यह चित्रण मिलता ही है, कबीर और जायसी जैसे निराकारोपासकों तक की कृतियों में यह प्रवेश पा गया है। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, अवतारवाद की भावना ने वैष्णवधर्म के अभिनव उत्थान के साथ इस देश में अपनी गहरी जड़ें जमा ली थीं। उसके पश्चात् जो सम्प्रदाय यहाँ प्रवर्तित हुए, उनमें से अनेकों ने अवतारवाद का खण्डन भी किया, पर बाद में इसकी उद्दाम लहरों में स्वयं डूबने उतराने लगे। कबीरपन्थियों में कबीर, सिक्खसम्प्रदाय में नानक, इसी प्रकार अपने-अपने सम्प्रदायों में दादू, रैदास, शिवनारायण आदि ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। भक्ति-सम्बन्धी इस विशेषता का वर्णन कवियों के भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तविवरण के अन्तर्गत किया जायगा।

हिन्दी का यह भक्तिकाल उसका स्वर्णयुग, सच्चे अर्थों में, कहा जाता

है। इस युग में धर्म, दर्शन, ललितकला, लोकजीवन आदि सभी परिपुष्ट हुये। हरिभक्ति का क्षेत्र सबके लिये उन्मुक्त कर दिया गया। इस मान्यता ने उच्च-नीच के वैषम्यभाव को मिटा कर समानता की स्थापना की, जिससे हीन ग्रन्थियाँ दूर हुईं और मानवता का विकास हुआ। भाव और कला दोनों पक्षों में इस युग के कवियों ने जिस काव्यश्री का विस्तार किया, उसकी तुलना अन्य किसी भी काल के काव्य से नहीं की जा सकती। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की कोटि के कवि इस देश में फिर उत्पन्न नहीं हुए। विश्वकवियों में भी इनका स्थान निस्सन्देह बहुत ऊँचा है, ऐसा इस देश के ही नहीं, पाश्चात्य आलोचकों का भी मत है।

मुसलमानों में दीन और दुनियाँ की बादशाहत खलीफाओं में केन्द्रित रही है। ईरान और भारत में आकर यह उलैमाओं और सुलतानों में विभक्त अवश्य हो गई, फिर भी सुलतानों का ही प्रभुत्व विशेषरूप से बना रहा। भारत ने प्रारम्भ से ही राजनीति और धर्म को पृथक्-पृथक् रखा था। क्षत्रिय राज्य करता था, तो ब्राह्मण धर्म और दर्शन का प्रवक्ता था। भारत में धर्म और दर्शन राजनीति से पृथक् रहकर सुरक्षित रहे। हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य के प्रतिष्ठाता कुछ ऐसे आचार्य थे, जिन्होंने अपनी संस्कृत वाणी में तो इनकी अभिनव व्याख्या की ही थी, लोकवाणी द्वारा भी उन्होंने इन दोनों को जनता तक पहुँचाया। इसमें आचार्य तथा उनके शिष्य दोनों ने भाग लिया। भक्ति का आन्दोलन जो जनता का आन्दोलन बन गया, उसका एक कारण यह भी था। लोकजीवन को इस भक्ति ने पोषण दिया। ललितकलाओं में काव्य के साथ संगीत, स्थापत्य तथा चित्रकलायें भी समृद्ध बनीं। स्वामी हरिदास, रामदास, तानसेन आदि संगीतज्ञ इसी युग की विभूतियाँ हैं। स्थापत्यकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ताजमहल है। चित्रकला ने भी राधाकृष्ण-भक्ति का आश्रय पाकर उन्नति की। हिन्दू ही नहीं मुसलमान बादशाहों से भी इसे प्रोत्साहन मिला। श्री नन्दलाल चमनलाल मेहता ने अपने ग्रन्थ 'Studies in Indian painting' में प्रकृति, रासलीला, मण्डल, देव, नृत्य, वाद्य प्रभृति के चित्रों का मनोज्ञ विवरण प्रस्तुत किया है। इन चित्रों में अनित्य नित्य के साथ, सान्त अनन्त के साथ, प्रकृति पुरुष अथवा माया ब्रह्म के साथ जैसे एक हो जाने की चेष्टा में लीन है।

—:o:—

प्रतिनिधि कवि

स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध बारह शिष्यों में कबीर और रैदास के नाम पृथक् पंथप्रतिष्ठाता के रूप में लिये जाते हैं। अन्य शिष्यों में श्री अनन्तानन्द जी के शिष्य कृष्णदास पयहारी अधिक प्रख्यात हुए, जिन्होंने जयपुर राज्य के अन्तर्गत 'गलता' में रामानन्दी वैष्णवों की एक गद्दी स्थापित की, जो आज तक चली आती है। कृष्णदास पयहारीजी के भी कई शिष्य हुए, जिनमें अग्रदास और कील्हदास प्रमुख हैं। अग्रदास के शिष्य नाभादास थे, जिन्होंने 'भक्तमाल' की रचना की। इन सभी सन्तों ने उन दिनों की लोक-वाणी हिन्दी में अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनमें भक्ति-भावना तथा योगपरक क्रियाओं का उल्लेख है। स्वयं रामानन्दजी के नाम से लिखे हुए कुछ ग्रन्थ मिले हैं, जैसे ज्ञानलीला, ज्ञानतिलक, रामरक्षा आदि। इनमें भी हठयोग की कतिपय क्रियायें तथा खेचरी मुद्रा के रूप में अमी रस का पान, नाड़ीचक्र आदि वर्णित हुये हैं। योग मार्ग गुरु गोरखनाथ से पुष्टि पाकर उन दिनों समग्र देश में सम्मानित था। सूफीकवि भी इससे प्रभावित हुए थे। वैष्णव सम्प्रदाय स्वयं योग और सांख्य के सम्मिलन से बना है। अतः अपनी प्राचीन प्रवृत्ति को बहुत दिनों तक अपने साथ रखता रहा। स्वामी रामानन्द से दीक्षा लेकर कबीर ने भी प्रारम्भ में योग-साधना की थी। परन्तु बाद में उन्होंने इसे छोड़ दिया और सहज मार्ग के प्रशंसक बन गये। सूर और तुलसी ने भी योग-मार्ग का अतीव तीक्ष्ण शब्दों में प्रत्याख्यान किया है। इसका कारण एक तो भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा करना था, पर एक अन्य प्रमुख कारण योगियों का चमत्कारक सिद्धियों में पड़ जाना और अण्ट-सण्ट क्रियाओं द्वारा लोक को भयभीत करके धोखा देना भी था। यह भी कहा जाता है कि रामानन्दी सम्प्रदाय में योगमार्ग को लेकर एक 'तपसी' नाम की पृथक् शाखा स्थापित हो गई, जिसके अनुयायियों ने योगपरक ग्रन्थ लिख कर स्वामी रामानन्द के नाम से प्रख्यात कर दिये।

इसमें संदेह नहीं कि स्वामी रामानन्द का व्यक्तित्व एक ओर निराकार राम के उपासक कबीरपंथ का विस्तार करता है तो दूसरी ओर वह अवतारी

दाशरथि राम के पावन चरित्र की आराधना के मूल में भी विद्यमान है। एक ओर उनके शिष्यों में नापित, चर्मकार, मुसलमान, जुलाहे आदि आते हैं, तो दूसरी ओर अग्रजन्मा ब्राह्मण तथा शक्ति के धनी क्षत्रिय आदि भी। इस व्यापक प्रभाव के कारण स्वामी रामानन्द उस युग की चिन्तनधारा के मूल प्रेरक समझे जाते हैं। निराकारोपासना के प्रतिनिधि कवि कबीर हैं। गोस्वामी तुलसीदास साकार अवतारी राम के आराधक कवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी की समता करने वाला इस युग में अन्य कोई भी सूफी कवि नहीं हुआ। जायसी ने इस देश की प्रायः सभी बहुमूल्य गरिमाओं को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। क्षत्रियों की आन, योगियों की प्रतिष्ठा, सन्तों का सम्मान, सती का गौरव आदि समस्त उदात्त मान्यतायें उनके काव्य में जगमगा रही हैं। योग की क्रियायें तथा सिद्धियाँ, रसायनी गुटका, योगियों का परिधान, प्रेमयोग, व्रत एवं तप का प्रभाव और अस्ति-अस्ति जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग जायसी के पद्मावत काव्य में रिक्थ के समान सुरक्षित हैं। जायसी कवि हैं, योगी हैं और भक्त हैं। अपने काव्यग्रन्थ पद्मावत में उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने प्रियतम प्रभु के प्रति प्रेमपूर्ण भक्ति के उद्गार प्रकट किये हैं। अतः जायसी को हम निर्विवाद रूप से प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं।

कृष्णकाव्य के प्रतिनिधि कविकुलतिलक महात्मा सूरदास हैं। अष्टछाप के अन्य कवि भी अपनी प्राञ्जल वाणी में हरिलीला का गायन करते हैं, पर जिस प्रभविष्णु शैली में सूर ने उस परम को अवम बना कर उपस्थित किया है, जिन व्यञ्जनाओं का आश्रय लेकर उसने इस लोक को उस लोक से मिलाया है, और वात्सल्य तथा शृंगार के उभय पक्षों का अपनी बाहर से बन्द पर अन्दर से खुली हुई आँखों द्वारा जैसा लोकविमोहक उद्घाटन किया है, उन सब का वैसा गुरु-गंभीर रूप अन्य कवियों की रचनाओं में देखने को नहीं मिलता।

कृष्णकाव्य के गायक पुष्टिमार्ग में तो हुये ही, हरिदासी तथा हरिवंशी संप्रदायों में भी हुये हैं। रस की जो वर्षा, मधुरिमा की जो रिमझिम इन श्यामानुरागरक्त भक्त-हृदयों की उपत्यकाओं में हुई और वहाँ से जन-मन की भूमि तक पहुँची, उससे यह समग्र भारत-वसुन्धरा रस-सिक्त हो गई।

हरिदासीसम्प्रदाय निम्बार्कमत का अनुयायी है और हरिवंशीसंप्रदाय पर महाप्रभु चैतन्य का प्रभाव पड़ा है। आचार्य निम्बार्क ने ही सर्वप्रथम राधाकृष्ण की भावमयी भक्ति का प्रचार किया था। महाप्रभु चैतन्य तथा उनके अनुयायियों ने भी वृन्दावन के प्राचीन स्थानों की खोज करके, जो कृष्णचरित्र से सम्बन्धित थे, हरिभक्ति के साथ राधाभक्ति को प्रोत्साहित किया। सूर में हमें भक्ति के ये दोनों प्रकार मिल जाते हैं। उन्होंने अपने एक पद में हरिदासी तथा हरिवंशी भक्तों के साथ एक हो जाने की कामना भी प्रकट की है।

अतः हम आगामी अध्यायों में इन्हीं चार कवियों को इस युग के प्रतिनिधि कवि मान कर वैष्णवभक्ति के पंचम उत्थान की हरिलीला-गर्भित भक्तिभावना का अध्ययन करेंगे।

सप्तम अध्याय

कबीर और भगवद्भक्ति

जीवनवृत्त— संत कबीर के जीवनवृत्त से सम्बन्धित निम्नांकित पंक्तियाँ कबीरग्रन्थावली में मिलती हैं :

तू बांह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियानां।
तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे राम धियानां॥
पूरब जनम हम बांह्मन होते, वोछै करम तपहीनां।
राम देव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीनां॥ पद २५०

आस पास घन तुरसी का बिरवा, मांझ बनारस गांऊ रे॥ पद १८ पृ० २६९
जाति जुलाहा मति कौ धीर, हरषि हरषि गुण रमैं कबीर॥ पद १२४
जाति जुलाहा नांम कबीरा, अजहूँ पतीजौ नाहीं।

× × ×

कबीर जुलाहा भया पारषू, अनभै उतर्‍या पार॥ पृ० १६ दो० ४७

× × ×

आइ हमारे कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां॥

× × ×

जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी। पद २७०
कहत कबीर मोंहि भगति उमाहा, कृत करणी जाति भया जुलाहा॥ पद २७१
तिनकूं मुकति का संसा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा॥ पद ३१७
हरि कौ नाम अभैपद दाता, कहै कबीरा कोरी॥ पद ३४६

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में कबीर अपने को काशी का निवासी और कोरी या जुलाहा जाति का कहते हैं। वस्त्र-वयन का कार्य करने वाले हिन्दुओं में कोरी और मुसलमानों में जुलाहा कहलाते हैं। कबीर मुसलमान घर में पालित-पोषित हुए थे। अतः वे परम्परागत पितृ-व्यवसाय के आधार पर अपने को जुलाहा कहते हैं, परन्तु उनके अन्तस्तल के किसी कोने में हिन्दुत्व भी छिपा

पड़ा है, अतः व्यवसाय के आधार पर ही वे अपने को कोरी भी कह देते हैं। यह हिन्दुत्व उनके अन्दर कुछ ऐसा घर किये हुये है कि वे इस जन्म में नहीं तो विगत जन्म में अपने को अवश्य ब्राह्मण वर्ण का अनुभव करते हैं। ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न होकर भी वे विगत जन्म में निन्द्य कर्म करते रहे, तप से विहीन रहे और भगवद्भक्ति भी नहीं कर सके। इसी हेतु भगवान् ने उन्हें पकड़ कर इस जन्म में जुलाहा बना दिया। ऐसा वे सम्भवतः कर्मफल का महत्त्व प्रकट करने के लिये कह रहे हैं और यदि योगाभ्यास के बल से उन्हें दर्शन-सिद्धि प्राप्त हो गई हो और वे अपने विगत जन्म को देख सके हों, तो यह कथन यथार्थवाद का रूप भी धारण कर सकता है। कबीर भक्त थे। जहाँ अन्य व्यक्ति राजाओं की स्तुति करते हैं और उनसे याचना करते हैं, वहाँ कबीर राम के ध्यान में मग्न रहते थे। वे भगवान् के नाम-स्मरण को मुक्ति एवं अभयपद का प्रदाता भी समझते थे।

कबीर के पारिवारिक वृत्त पर निम्नांकित पङ्क्तियाँ प्रकाश डालती हैं :

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ऐ बारिक कैसे जीवहिं रघुराई ॥
तनन बुनना सब तज्यौ है कबीर। हरि का नाम लिखि लियौ सरीर ॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई ॥
(पद १६६, पृष्ठ २१७)

यह पद कबीरग्रन्थावली के पृष्ठ ९५ पर इस प्रकार मिलता है :

तननां बुननां तज्या कबीर, रांम नांम लिखि लिया सरीर ॥
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह ॥
ठाढी रोवै कबीर की माई, ऐ लरिका क्यूँ जीवैं खुदाई ॥
कहै कबीर सुनहु री माई। पूरणहारा त्रिभुवन राई ॥ (पद २१)
मेरी बहुरिया को धनियां नांउ। ले राख्यौ रामजनियां नांउ ॥
इन मुंडियन मेरा घर धुधरावा। बिटवहि राम रमौआ लावा ॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडियन मेरी जाति गंवाई ॥
(पद १६७, पृष्ठ २१७ परिशिष्ट)

बूडा वंश कबीर का उपज्यौ पूत कमाल।
हरि का सिमरन छांडि कै, घर लै आया माल ॥
(दोहा १८५, पृष्ठ २६१)

आप रांम सुनि बीनती मोरी। तुम्ह सूं प्रगट लोगन सूं चोरी॥
पहले कांम मुगध मति कीया। ता भै कंपै मेरा जीया॥
(पद ३५७, पृष्ठ २०७)

कबीर मुंडियों (रामानंदी साधुओं) के सत्संग से प्रभावित हो अपने पैतृक व्यवसाय वस्त्र-वयन में मन नहीं लगाते थे। उन्हें हरिनाम के जाप में सुख मिलता था। कबीर की माँ इसे अनुभव करके चुपचाप रोया करती थी। जब व्यवसाय ही नहीं चलेगा, तो बालकों का पेट-पालन कैसे होगा? यही उसके रुदन का कारण था। कबीर अपनी माँ को यह कह कर समझाया करते थे कि हम सबका भरण-पोषण भगवान् द्वारा होता है। जब वह कुशल-क्षेम का वहन करने वाला विद्यमान है, तो चिन्ता किस बात की? कबीर का विवाह हुआ था। उनकी स्त्री का नाम धनियाँ था, पर कबीर साधुओं के संसर्ग से रामरमौआ अर्थात् राम में रमण करने वाले भक्त बन गये थे, अतः उनकी पत्नी को भी लोग रामजनी अर्थात् भगवान् की भगतिन कहा करते थे। रामानन्दी साधुओं के साथ रह कर कबीर अपनी जुलाहा जाति या मुसलमानीपन से भी मुक्त हो चुके थे। स्वामी रामानन्द के संप्रदाय में जाति-पाँति का भेद नष्ट कर दिया गया था। सभी भगवद्भक्ति की दीक्षा लेकर एक स्तर पर आ गये थे। कबीर अपनी प्रारंभिक वैवाहिक अवस्था में काम-मुग्ध थे। वे इस वासनाजन्य संस्कार को लोगों से छिपाये रहते थे, पर भगवान् से तो कोई बात छिपी नहीं रहती। इसी हेतु वे काँपते हुए हृदय से भगवान् के चरणों में आत्मनिवेदन द्वारा अपने दोषों के प्रक्षालन की याचना करते हैं।

जनश्रुति के अनुसार कबीर की पत्नी का नाम लोई था। सम्भव है उसी का नाम धनियाँ भी रहा हो। कबीरग्रन्थावली के पृष्ठ ४८ पर तीसरे दोहे (२६ संगति को अङ्ग) के अन्तर्गत लोई नाम आया है। कबीर ने इस दोहे में लोई की प्रशंसा की है। वह जल में बहती हुई आई थी, फिर भी उसका रंग ज्यों का त्यों बना हुआ था[1]। आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ यह होगा कि कोई व्यक्ति चाहे जहाँ घूम आवे, पर अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का परित्याग नहीं करता। पर कबीरग्रन्थावली, परिशिष्ट, पृष्ठ २९६, में लोई का जो कथन

१. करिये तौ करि जाणिये, सारीषा सूं संग। लीर लीर लोई थई, तऊन छाडै रङ्ग॥

है, इससे प्रकट होता है कि लोई को कबीर का राम-नाम-जाप अच्छा नहीं लगता था, यथा :

'तुरी नारि की छोडी बाता। राम नाम वाका मन राता॥
लरकी लरिकन खैबो नाहिं। मुंडिया अनुदिन धाये जाहिं॥ (पद १०९)

कबीर अपने व्यवसाय को छोड़ कर रामनाम में मन लगाते हैं। सन्तान के भोजन का प्रबन्ध नहीं, पर साधुओं की सेवा दौड़-धौड़कर की जाती है। लोई के रुष्ट होने का यही कारण था। कबीर ने समझा, लोई अन्धी है। इसे भक्ति का उज्ज्वल भविष्यरूपी फल दिखाई नहीं देता। यह बेपीर है, निर्मम है, तभी तो सन्तों को खिलाने में आना-कानी करती है। अतः कहने लगे :

सुन अन्धली लोई बेपीर। इन्हिं मुण्डियन भजि सरन कबीर॥

गृहस्थ का कार्य धन के अभाव में नहीं चल पाता। कबीर वैरागी थे। वे धन की ओर से उदासीन ही नहीं रहते थे, उसे काम के समान भक्तिमार्ग में बाधक भी समझते थे। गृहस्थ की इसी समस्या के कारण पति-पत्नी दोनों में अनबन रहा करती थी। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर कबीर नीचे लिखे पद में लोई को समझा रहे हैं :

लङ्का सा कोट, समुंद सी खाई।
तिहि रावन घर खबरि न पाई॥
क्या मांगौं किछु थिर न रहाई।
देखत नयन चल्यौ जग जाई॥
इक लख पूत सवा लख नाती।
तिह रावन घर दिया न बाती॥
चंद सूरज जाके तपत रसोई।
वैसंतर जाके कपरे धोई॥
गुरु मति रामैं नाम बसाई।
अस्थिर रहै न कबहूं जाई॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई।
राम नाम बिन मुकति न होई॥

(पद १८५, पृष्ठ ३२२, कबीरग्रन्थावली, परिशिष्ट)

पृष्ठ १६५, पदसंख्या २२९ में कबीर ने दो स्त्रियों का वर्णन करते हुए लिखा है :

'पहली कौ घाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूँ नहीं पायौ।
अब की धरनि धरी जा दिन थैं, सगलौ भरम गमायौ ॥'

तो क्या कबीर के दो विवाह हुए थे ? दो स्त्रियों के नाम हम अभी लिख चुके हैं : धनियां और लोई। इनमें कौन-सी स्त्री प्रथम विवाहिता थी, कहा नहीं जा सकता। पृष्ठ, ३०५ पदसंख्या १२६ में भी कबीर ने अपने दो विवाहों की ओर संकेत किया है :

पहिली कुरूप कुजाति कुलक्खनी साहुरै पेइयै बुरी।
अबकी सरूप सुजाति सुलक्खनी सहजे उदर धरी ॥
भली सरी मुई मेरी पहिली बरी।
जुग जुग जीवौ मेरी अबकी धरी ॥

यहाँ कबीर पहली स्त्री को विवाहिता या परिणीता और दूसरी को धरी हुई (बिना विवाह-संस्कार के ही जिसे घर में स्त्री की तरह रख लेते हैं) कहते हैं। पृष्ठ २७५ पर पदसंख्या ३८ में कबीर लोई को सम्बोधित करके कहते हैं :

'कहत कबीर सुनहु रे लोई। अब तुमरी परतीति न होई ॥'

जिस लोई का विश्वास न करने के लिये कबीर यह कथन कर रहे हैं, वह लोई इसी पद की निम्नाङ्कित पंक्तियों में कबीर पर कितना विश्वास प्रकट कर रही है :

'करवतु भला, न करवट तोरी, लागु गले सुनि बिनती मोरी।

× × × ×

जौ तन चीरहि अंग न मोरौं, पिण्ड परै तो प्रीति न तोरौं ॥
हम तुम बीच भयौ नहीं कोई, तुमहिं सुकंत नारि हम सोई ॥'

हे प्रिय ! मैं तेरे करवट की अपेक्षा करवत लेना, सिर पर आरा रखकर अपने को चिरवा देना, अच्छा समझती हूँ। तू मेरी विनय सुन और मेरे गले से लग। तू मेरे शरीर को भी चीर डाले, तो भी मैं प्रेमपथ से हटने वाली, अङ्ग मोड़ने वाली नहीं हूँ। मेरे और तुम्हारे बीच में पड़ने वाला कोई भी नहीं है। तुम्हीं मेरे प्रिय पति हो और मैं तुम्हारी वही (प्रथम जन्म की) पत्नी हूँ। इस कथन से ऐसा भी संकेत निकल सकता है कि धनियाँ कबीर

की प्रथम विवाहिता पत्नी थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् कबीर ने लोई को अपनी पत्नी बना लिया था।

कबीर के एक पुत्र था, जिसका नाम कमाल था। भगवद्भक्ति में तो नहीं, पर उसका मन धनोपार्जन में खूब लगता था। उद्धृत दोहा ऐसा ही संकेत देता है, परन्तु पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' के पृष्ठ २४६ से २५१ तक कबीर के पुत्र कमाल के जीवनवृत्त पर जो विचार किया है, उससे धनोपार्जन वाली घटना पर नवीन प्रकाश पड़ता है और सन्त कमाल अत्यन्त विनयी, निरभिमानी तथा उच्चकोटि के भक्त सिद्ध होते हैं। चतुर्वेदीजी ने दुखहरनकृत 'भगतमाल' की हस्तलिखित प्रति का प्रमाण देते हुए लिखा है कि एक बार कोई राजा कबीर साहब का शिष्य बनने के लिये बहुत-सा धन लेकर काशी आया, कबीर को धन लेना अनुचित प्रतीत हुआ, अतः वे वहाँ से चले गये। राजा ने कबीर की अनुपस्थिति में उनके पुत्र कमाल को अपना गुरु बना लिया और उन्हें सारा धन दे दिया। जब कबीर को इस घटना का पता चला, तो वे कमाल पर क्रोधित हुए। ऊपर उद्धृत दोहा सम्भवतः इसी घटना से सम्बन्ध रखता है। कमाल ने कबीर के क्रोध को शान्त करते हुये कहा कि राजा के धन ने उनकी रामभक्ति को मोल नहीं ले लिया। भला उस अमूल्य' राम का मोल कोई धन द्वारा कैसे दे सकता है? एक घटना ग्वालियर के किसी महाजन द्वारा कमाल की पगड़ी में हीरे के एक खण्ड के रख देने की भी कही जाती है। कमाल आजीवन ब्रह्मचारी रहे। इससे भी कबीर के वंश के डूबने की किंवदन्ती सिद्ध होती है।

कबीरग्रन्थावली के निम्नांकित पद कबीर की सिद्धावस्था तथा तत्कालीन सुलतान द्वारा उन पर किये गये अत्याचारों का वर्णन करते हैं:

मन न डिगै, ताथैं तन न डराई। केवल रांम रहे ल्यौ लाई॥
अति अथाह जल गहर गंभीर। बांधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर॥
जल की तरंग उठि कटिहैं जंजीर। हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥
कहैं कबीर मेरे संग न साथ। जल थल में राखै जगनाथ॥

(पद ३२१, पृष्ठ २०३, कबीरग्रन्थावली)

अहो मेरे गोब्यंद तुम्हारा जोर। काजी बकिवा हस्ती तोर॥
बांधि भुजा भलैं करि डार्‌यौ। हस्ती कोपि मूंड में मार्‌यौ॥
भाग्यो हस्ती चीसां मारी। वा मूरति की मैं बलिहारी॥
महावत तोकूं मारौं साटी। इसहि मराऊँ घालौं काटी॥
हस्ती न तोरै धरै धियांन। वाकै रिदै बसै भगवान॥
कहा अपराध सन्त हौ कीन्हां। बांधि पोट कूंजर कूं दीन्हां॥
कुंजर पोट बहु बंदन करै। अजहूं न सूझै काजी अंधरै॥
तीन बेर पतियारा लीन्हां। मन कठोर अजहूँ न पतीनां॥
कहै कबीर हमारै गोब्यंद। चौथे पद मैं जन का ज्यंद॥
(पद ३६५, पृष्ठ २१०)

ऐसा कहा जाता है कि सुलतान सिकन्दर लोदी के सामने मुल्लाओं ने कबीर के रोजा, नमाज, कलमा आदि इसलामी सिद्धान्तों के खण्डन करने की शिकायत की, तो सुलतान ने उन्हें जंजीरों में बाँध कर अथाह जल में डुबो देने की आज्ञा दी। ऐसा ही किया गया, पर कबीर का मन इससे तनिक भी विचलित न हुआ और कबीर हरि का स्मरण करते हुए लहरों के साथ जल के तट पर आ बैठे। इसी प्रकार किसी समय उनके ऊपर तीन बार हाथी दौड़ाया गया, पर हाथी उन्हें कुचलने के स्थान पर उनकी बन्दना करने में लीन हो गया। पृष्ठ १७७, पद संख्या २६१ में भी हाथी वाली घटना की ओर संकेत है।

कबीरग्रंथावली, परिशिष्ट, पृष्ठ ३३०, पद २१५ में कबीर ने गोमतीतट पर रहने वाले पीताम्बर पीर का नाम लिया है और वहीं अपना हज करने का स्थान माना[1] है। हमारी समझ में यहां पीताम्बर पीर से तात्पर्य भगवान् राम से है। पद की आगे की पंक्ति के अनुसार कमला (लक्ष्मी) इन्हीं की दासी है तथा नारद और शारदा इन्हीं की सेवा करने वाले हैं। अतः इस पंक्ति से गोमतीतटवासी किसी पीताम्बर पीर का अर्थ कबीर के लौकिक गुरु पर घटाना अनावश्यक है।

---

१. हज हमारी गोमती तीर। जहां बसहिं पीताम्बर पीर।
नारद सारद करहिं खवासी। पास बैठी बिधी कमला दासी॥

कबीरग्रन्थावली में अनेक स्थानों पर कबीर ने अपने सद्गुरु का वर्णन किया है जो उन्हें प्रभुकृपा से प्राप्त हुआ था और जिसकी कृपा से उन्हें ब्रह्म-दर्शन हुआ तथा जिसके सहारे वे भवसागर से पार[1] हुये। जिस गुरु ने ज्ञान का प्रकाश देकर इनके समस्त संशयों को छिन्न-भिन्न कर दिया और हृदय-कमल में विराजमान प्रभु से परिचय करा दिया, वह गुरु कौन थे, इस बात का स्पष्ट उल्लेख कबीरग्रन्थावली में कहीं पर भी नहीं है। उसके पृष्ठ ६८ पर नीचे लिखा दोहा उनके गुरु की ओर संकेतमात्र कर रहा है :

> कबीर गुरु बसै बनारसी, सिष समंदां तीर।
> बिसर्‌या नाहीं बीसरे, जे गुंण होइ सरीर ॥ २ ॥

कबीर के गुरु बनारस के निवासी थे। जब कबीर ने जगन्नाथपुरी की यात्रा की तब समुद्रतट पर बैठ कर उन्होंने यह दोहा लिखा था। बनारस के निवासी यह प्रसिद्ध गुरु स्वामी रामानन्द ही हो सकते हैं। परम्परा तथा बाह्य साक्ष्य स्वामी रामानन्द को ही कबीर का गुरु स्वीकार करते हैं।[2]

कबीर का जन्म काशी में हुआ था, परन्तु उनकी मृत्यु मगहर में हुई। इस तथ्य पर निम्नांकित पद किञ्चित् प्रकाश डालते हैं :

> लोका मति के भोरा रे।
> जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहिं कहा निहोरा रे ॥
> तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
> ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा ॥
> × × ×
> कहै कबीर सुनहुं रे संतौ, भ्रंमि परै जिनि कोई।
> जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांमसति होई ॥
> ॥ पद ४०२, पृष्ठ २२२ ॥

---

१. जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आइ ॥ पृष्ठ २, दोहा १३
कहत कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया। मरता जरता नजरि न आया ॥ पृ० १०२, पद ४२
सतगुरु मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट मांहि ॥ पृ० ८१, दोहा ७
गुरु कृपाल जब कृपा कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझा, परम ज्योति प्रकासा ॥ पद ६, पृष्ठ ८९

२. कबीर इति विख्यातः स पुत्रो मधुराननः, (३९)
स सप्ताब्दवपुर्भूत्वा गोदुग्धपानतत्परः। रामानन्दं गुरुं मत्वा रामध्यानपरोऽभवत् ॥४०॥
भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व पृष्ठ ३५५ के बाद चतुर्थखण्ड, अध्याय १७

परम तत्व आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा ॥ पद १९६, पृष्ठ १५४ ॥
हिरदै कठोर मरै बानारसि, नरक न बंच्या जाई ।
हरि को दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई ॥
पृष्ठ २०४, पद ३४५ ॥

ज्यों जल छोड़ि बाहर भयौ मीनां । पूरब जनम हौं तप का हीना ॥
अब कहु राम कवन गति मोरी । तजीले बनारस मति भई थोरी ॥
सकल जनम सिवपुरी गंवाया । मरती बार मगहर उठि आया ॥
बहुत वर्ष तप कीया कासी । मरन भया मगहर की वासी ॥
कासी मगहर सम बीचारी । ओछी भगति कैसे उतरसि पारी ॥
कहु गुरु गजि सिव सब को जानै । मुआ कबीर रमत श्री रामै ॥
१०३, पृष्ठ २९५

तो भरोसे मगहर बसियो, मेरे मन की तपनि बुझाई ।
पहिले दरसन मगहर पायौ, पुनि कासी बसे आई ॥
जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानी ।
हम निर्धन ज्यो इह धन पाया, मरते फूटि गुमानी ॥ ११० पृष्ठ २९६

कबीर ने अपना समस्त जीवन काशी में तप करते हुए व्यतीत किया। एक पंक्ति से ऐसी भी ध्वनि निकलती है कि साधना की अवस्था में उन्हें सर्व-प्रथम प्रभु के दर्शन मगहर में हुए। इसके पश्चात् वे काशी में स्थायी वास करने लगे। मृत्यु के समय वे निश्चित रूप से भगवान् का आश्रय लेकर मगहर चले गये थे और वहीं पर उन्होंने श्रीराम में रमण करते हुए अपनी ऐहिक लीला संवरण की। उनका विश्वास था कि जो राम का भक्त है, उसके लिये शिव की काशी और मगहर जैसे ऊसर स्थानों में कोई अन्तर नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि काशी में मरण सब व्यक्तियों को भवसागर से पार ही कर देता हो और मगहर में मरने से सब को गधे की ही योनि प्राप्त होती हो। बन्धन और मोक्ष तो मन की अवस्था पर निर्भर हैं। यदि मन भगवान् में अनुरक्त है, तो जहाँ कहीं भी शरीर छूटेगा, जीव को वहीं से सद्गति मिल जायगी। महत्त्व स्थान का नहीं, भगवान् पर अविचल विश्वास रखने का है।

मानसिक निर्माण : कबीर के मानसिक विकास पर अपने समय के वैष्णव तथा सूफी दोनों सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। नाथपंथ के हठयोग

का वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। अतः इस पंथ की साधना-पद्धति से भी वे प्रभावित हुए थे, पर अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वे इनमें से किसी का भी साथ न दे सके। अपनी प्रतिभा से उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक जिन निश्चित मन्तव्यों की घोषणा की है, उनमें भगवद्भक्ति, आडम्बर-विहीन-सदाचारपूर्ण जीवन, तथा कथनी और करनी की एकता प्रमुख हैं।

कबीरग्रन्थावली में अष्टपदी रमैणी के अन्तर्गत पृष्ठ २३९ पर उन्होंने इसलाम के अनुयायियों के सम्बन्ध में निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं :

> तुरकी धरम बहुत हम खोजा। बहु बजगार करैं ऐ बोधा॥
> गाफिल गरब करैं अधिकाई। स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥
> जाको दूध धाइ करि पीजै। ता माता को बध क्यूं कीजै॥
> लहुरैं थकैं दुहि पीया खीरो। ताका अहमक भखै सरीरो॥
> बेअकली अकलि न जानहीं भूले फिरैं ऐ लोइ।
> दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहां थैं होइ॥

इन पंक्तियों के अनुसार उन्हें मुसलमानों में धर्मान्धता, गर्व, स्वार्थपरायणता, मूर्खता और क्रूरता अधिक दिखाई दी। हिन्दुओं में भी उन्होंने मिथ्या अभिमान, आश्रमसंस्था के संध्या-तर्पणादि षट्कर्मों का जगड्वाल तथा कथनी, करनी के अपार वैषम्य को अनुभव किया। कबीरग्रन्थावली पृष्ठ २०७, पदसंख्या ३५५ में 'क्या सींगी मुद्रा चमकायें। क्या बिभूति सब अंगि लगायें' लिख कर उन्होंने हठयोगियों के बाह्याडम्बर की निन्दा की है। इसी के आगे पदसंख्या ३५६ में उन्होंने 'जीवत पित्रहि मारहि डंगा। मूंवां पित्र लै घालैं गंगा'। तथा 'जीवत पित्र कूँ अन्न न ख्वावैं। मूंवा पाछैं प्यंड भरावैं॥ आदि लिख कर हिन्दुओं की श्राद्धप्रथा को तिरस्कार की दृष्टि से देखा है। जिन वैष्णवों की प्रशंसा से कबीरग्रन्थावली भरी पड़ी है, उन वैष्णवों के दुराचार को भी कबीर सहन नहीं कर सकते थे। पृष्ठ ६६ के दूसरे दोहे में वे लिखते हैं : 'संसारी साषत भला कुंवारी के भाइ। दुराचारी बैस्नौं बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ'॥ ब्रह्मकुल में भी उत्पन्न शाक्तों को कबीर एक आँख नहीं देख सकते। उनकी दृष्टि में चाण्डालयोनि में उत्पन्न हुआ वैष्णव शाक्तों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। शाक्त तो कुत्ते के समान[१] है। पर जहाँ सदाचार का प्रश्न

१. साषित सुनहां दोऊ भाई, वो नींदै, वो भूकत जाई॥ (पृष्ठ १६३, पद २२१)

उपस्थित होगा, वे दुराचारी व्यक्ति को वैष्णव समझ कर भी सम्मान नहीं देंगे। सदाचारी, ब्रह्मचारी, शाक्त उनकी दृष्टि में दुराचारी वैष्णव से अच्छा है। उनके ऐसे निर्णय सिद्धावस्था के समय के हैं। साधकदशा में जो प्रभाव उनके ऊपर पड़े थे, उन्हीं की चर्चा करना यहाँ अभिप्रेत है।

सूफीप्रभाव : कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ २४० पर पाँचवीं रमैणी में कबीर ने सूफीसिद्धान्तों का इस प्रकार उल्लेख किया है :

आपन करता भये कुलाला। बहु विधि सिष्टि रची दर हाला ॥
बिधिनां, कुम्भ कीये द्वै थांनां। प्रतिबिम्ब ता माहिं समानां ॥
ज्यूं बिबहिं प्रतिबिम्ब समानां, उदिक कुंभ बिगरानां ॥
(पद १७९ पृष्ठ १४८)

बहुत जतन करि बांनक बानां। सौंज मिलाय जीव तहां ठानां ॥
जठर अगनि दी की परजाली। तामैं आप करै प्रतिपाली ॥
भीतर थैं जब बाहरि आवा। सिव सकती द्वै नांव धरावा ॥
जिन यहु चित्र बनाइया, सो सांचा सुतधार।
कहैं कबीर ते जन भले, जे चितवत लेंहि विचार ॥ ५ ॥

पीछे हमने सूफी मान्यताओं के अन्तर्गत प्रतिबिम्बवाद का उल्लेख किया है। सूफियों का एक दल इस विश्व में परमात्मा की पड़ती हुई परछाईं का समर्थन करता हुआ मानता है कि यह विश्व यथार्थ में परमात्मा नहीं, उसका प्रतिबिम्बमात्र है। प्रभु ने सृष्टि की रचना तो की है, पर वह इसके चर-अचर रूपी दो घड़ों में स्वयं प्रतिबिम्बित होकर समाया हुआ है।

गर्भ की जठराग्नि से बच्चा जब बाहर आता है, तब वही शिव और शक्ति, पुरुष और स्त्री दो नाम धारण करता है। यह रचना चित्रकार द्वारा बनाये हुए चित्र या सूत्रधार द्वारा बनाई हुई कठपुतली के समान है। जैसे चित्र में चित्रकार स्वयं तो नहीं, पर उसका मानसिक प्रतिबिम्ब प्रतिलक्षित होता है, उसी प्रकार सृष्टि में प्रभु स्वयं व्याप्त नहीं, प्रत्युत प्रतिबिम्बित हो रहा है। कठपुतली से सूत्रधार पृथक् है, पर उसे वही नचाया करता है, इसी प्रकार प्रभु इस समग्र प्रपंच के नियन्ता के रूप में इसके पीछे छिपा हुआ है।

सूफियों का दूसरा दल प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार नहीं करता। वह सृष्टि को ईश्वर में से निकली हुई मानता है, जो अन्त में पुनः ईश्वरमय हो जाती है।

इसे हम भारतीय अद्वैतवाद का प्रभाव भी मान सकते हैं। इस मान्यता के उदाहरण कबीरग्रन्थावली में अनेक स्थलों पर हैं। 'परचा कौ अंग' के अन्तर्गत पृष्ठ १३ पर निम्नांकित दोहा इसकी पुष्टि में उपस्थित किया जा सकता है :

पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ॥ १७॥

जैसे जल से हिम बनती है, पर वह पिघल कर पुनः जल का रूप धारण कर लेती है, वैसे ही जीव एवं जगत् ब्रह्म से निकल कर पुनः ब्रह्म हो जाते हैं।

सूफी मानते हैं कि अल्लाह (ईश्वर) सर्वप्रथम एक ज्योति को उत्पन्न करता है। इसी ज्योति से समग्र विश्व का निर्माण होता है। पृष्ठ १०४ पर पद-संख्या ५१ में कबीर ने भी इस मत का उल्लेख किया है।

प्रेमप्रवाह को सूफियों की देन कहिये या वैष्णव प्रेमाभक्ति की, कबीर की रचनाओं में वह अत्यन्त गंभीर रूप लिये हुए है। कबीर के ही शब्दों में 'प्रेम की कथा अकथनीय है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका रस गूँगे की खाई हुई शक्कर के स्वाद के समान है, जिसे गूँगा अनुभव तो करता है, पर बता नहीं सकता।'[1]

नाथपन्थ का प्रभाव : कबीर ने नाथपन्थ के प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ का नाम बड़े आदर के साथ लिया है और उन्हें ब्रह्मज्ञानियों, तत्त्ववेत्ताओं के अन्तर्गत स्थान दिया है। पृष्ठ १४२, पदसंख्या १६३ में उन्होंने गोरखनाथ जी को 'राम गुन बेलड़ी' अर्थात् माया का ज्ञान लेने वाला लिखा है। पृष्ठ १८९, पदसंख्या २९९ में भर्तृहरि भूप जैसे सर्वस्वत्यागी एवं विरक्त संन्यासी को गुरु गोरखनाथ के समान भगवद्भक्ति का धनी माना है। पृष्ठ ५१, दोहा-संख्या १२ में गुरु गोरखनाथ कलियुग के अमर व्यक्ति और प्रभु का साक्षात् करने वाले कहे[2] गये हैं। पृष्ठ ९९, पदसंख्या ३३ में मन के खोजियों का वर्णन करते हुए कबीर लिखते हैं कि सनक, सनन्दन, जयदेव तथा नामदेव भक्त भी यह न जान सके कि शरीर के छूटने पर मन किसमें लीन होता है। शिव, ब्रह्मा और नारद के समान ज्ञानी मुनीश्वर भी मन की गति को समझने

---

१. अकथ कहाणीं प्रेम की, कछू कही न जाइ। गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई॥
पृष्ठ १३९, पद १५६

२. साखी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि माहिं।

में असमर्थ रहे। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और शेषनाग तक शरीर के अन्दर निहित मन का सम्यक् दर्शन न कर सके। शुकदेव इस मन में कुछ लीन हो सके थे, परन्तु गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीचन्द उस मन से मिलकर आनन्द-मग्न हो गये थे। कबीर अपने को भी उस मन से मिला हुआ[1] कहते हैं। कबीर के इस कथन की हमें आलोचना नहीं करनी है। इसे उद्धृत करके हम केवल यही समझ लेना चाहते हैं कि गुरु गोरखनाथ और उनके अनुयायियों के सम्बन्ध में कबीर की भावना उच्चकोटि की श्रद्धा से संवलित थी। कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ १९८, पदसंख्या ३२५ और पृष्ठ २१३, पदसंख्या ३७७ में उन्होंने हठयोग की क्रियाओं का वर्णन किया है। इन पदों से यह भी प्रकट होता है कि कबीर ने इन क्रियाओं का स्वयं अभ्यास किया था और सिद्धिस्वरूप ज्योति के भी दर्शन किये थे।

वैष्णवप्रभाव : कबीर के जीवन पर वैष्णवप्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। उनकी रचनाओं का अधिकांश भाग वैष्णव भक्ति से ही सम्बन्ध रखता है। कबीरग्रंथावली, पृष्ठ ४९, 'साध को अङ्ग' के चतुर्थ दोहे में वे लिखते हैं : 'मेरे साथी दोइ जणां, एक वैष्णों एक राम। वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम।' वस्तुतः कबीर के जीवन में वैष्णवसम्प्रदाय की सदाचार-संवलित प्रेमा भक्ति और भगवान् राम दोनों का ही प्राधान्य अन्तिम समय तक बना रहा। राम नाम का अमृत पीकर वे मर कर भी अमर हो गये।

भागवतभक्ति के प्रतिष्ठाता व्यास, शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, हनुमान्, शंकर, प्रह्लाद, ध्रुव, विदुर तथा नारद का नाम उन्होंने अनेक बार[2] लिया है। पृष्ठ ३२७, परिशिष्ट पदसंख्या १९४ में वे लिखते हैं :—'भगति नारदी रिदै न आई, काछि कूछि तन दीना। राग रागनी डिंग होइ बैठा, उन हरि पहि क्या लीना।' नारदी भक्ति[3] वैष्णवभक्ति का ही अपर नाम है। जिसके हृदय में यह भक्ति स्थिर न हो सकी, वह प्रभु से क्या प्राप्त कर सकता है? पद की

१. यह पद कुछ रूपान्तर के साथ पृष्ठ ३२८ के २०८ वें पद से समता रखता है।

२. कबीरग्रन्थावली, पदावली, पदसंख्या १२९, ३०२, ३१९, ३२०, ३३५, ३४०, ३७५, ३८४, ३८५, ३८७, ३९२ आदि इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं।

३. पृष्ठ १८३, पदसंख्या २७८ में भी नारदी भक्ति का वर्णन है :—भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तरि कहै कबीरा।

अन्तिम पंक्ति के शब्द : 'कहु कबीर जन भये खलासे, प्रेम भगति जिह जानी' सिद्ध करते हैं कि कबीर की प्रेमाभक्ति यही वैष्णवभक्ति है। भागवतों के हरि और राम दो नाम भी कबीर को अत्यन्त प्रिय हैं, जिन्हें वे अपनी साखियों, पदों और रमैणियों में बार-बार लेते हैं। पृष्ठ ३३१ की निम्नांकित पंक्तियाँ हरिभक्ति के उज्ज्वल रूप की अभिव्यंजिका हैं :

'हरि बिन कौन सहाई मन का। कहैं कबीर सुनहु रे संतहु इहु मन उड़न पखेरू बन का।' पद २१८

'हरि जस सुनहिं न हरि गुन गावहिं। बातन ही असमान गिरावहिं॥
ऐसे लोगन सों क्या कहिये। जो प्रभु की ये भगति ते बाहर तिनते सदा डराने रहिये॥' पद २१९

हरिभक्ति का संदेश वे हिन्दू और मुसलमान दोनों को देते थे, यथा : 'कंठे माला जिहवा राम। सहस नाम लै-लै करो सलाम॥ कहत कबीर राम गुन गावौ। हिन्दू तुरक दोऊ समुझावौ॥' पद २१५, पृष्ठ ३३०

कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द ने भक्ति का यही उदार रूप अपने शिष्यों तथा समग्र जनता के समक्ष रखा था। कबीर ने योग्य शिष्य की भाँति उसका प्रभूत प्रचार किया।

वैष्णवभक्ति से प्रभावित होकर कबीर ने आरती भी लिखी है। एक आरती पृष्ठ ३२२ पर, पदसंख्या २०३ में है और दूसरी आरती पृष्ठ ३२८, पर पदसंख्या २१० में है। दोनों आरतियों में वह सामग्री विद्यमान है, जिसे वैष्णव भक्त आरती के समय रखते हैं, जैसे पत्र, पुष्प, दीप, धूप, घंटा आदि। कबीर ने केवल उसके स्थूल रूप को सूक्ष्म मानसिक रूप प्रदान कर दिया है।

कर्म-विपाक का जो रूप वैष्णवों को मान्य है, वही कबीर को भी। वे इस विषय में सूफियों के इसलामी सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२ पर आठवें दोहे में वे लिखते हैं :

'साईं मेरा बांणियां, सहजि करै व्यौपार।
बिन डांडी बिन पालड़ैं, तौलै सब संसार॥'

कर्मों का फल देने में न्याय की यह तुला इसलाम मजहब में नहीं चलती। वहाँ तो कयामत का दिन आवेगा, तब कहीं खुदा का दरबार लगेगा।

हजरत मुहम्मद खुदा के सामने होंगे और जिस-जिस ने कलमा पढ़ा है, उसे बिहिश्त में भिजवाते जायेंगे। शेष व्यक्ति तो बेचारे दोजख की अग्नि में जलने के लिये खड़े ही हैं। कैसा निराधार, तर्कशून्य एवं अन्यायपूर्ण यह इसलाम का कर्मफल का सिद्धान्त है ! कबीर की धर्मप्रवण आत्मा ऐसे सिद्धान्तों में भला क्या निष्ठा रखती ? आर्य जाति का कर्म-विपाक का सिद्धान्त न्याय पर आधारित है। कबीर को वही मान्य था और वही सब को मान्य हो भी सकता है। तभी तो कबीर पृष्ठ १५६, पदसंख्या २०० में लिखते हैं :

'जो जस करिहै सो तस पइहै, राजाराम नियाई।'

वे कोरे कथन और श्रवण को भी उतना महत्त्व नहीं देते, जितना कर्म को देते हैं। इसी के आगे २०१ पद में वे लिखते हैं :

'कथै, बदै, सुणैं सब कोई। कथैं न होई, कीयैं होई॥'

पौराणिकता :

वैष्णव भक्ति को जिस पौराणिकता ने उपासना और ध्यान के क्षेत्र से निकाल कर पूजा और अर्चा का रूप प्रदान किया था, जिसमें ईश्वर के अवतार, उनके नाम, रूप, गुण, लीला और धाम के चित्रण की प्रधानता थी, जो समय की आवश्यकता के अनुकूल सूक्ष्म को स्थूल द्वारा, निराकार को साकार द्वारा तथा अमूर्त को मूर्त द्वारा प्रकट करने में संलग्न थी, वह पौराणिकता भी कबीर की पदावली में खुल कर खेल रही है। वैष्णवभक्ति के पंचम युग की यही विशेषता है।

कबीर ईश्वर के अवतारों में विश्वास नहीं रखते। वे निर्गुण राम के भजन, स्मरण और जाप की बात करते हैं। मूर्तिपूजा में उनकी आस्था नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी स्थिर धारणा है कि उसने दशरथ के घर में जन्म नहीं लिया, न लंकाधिपति रावण को सताया, न उसने देवकी की कोख से अवतार लिया, न उसे यशोदा ने गोद में लेकर खिलाया,[1] न उसने गोवर्धन उठाकर हाथ पर रखा, न वह ग्वालाओं के साथ इधर-उधर घूमता फिरा, न उसने वामन बन कर बलि के साथ छल किया, न वह मत्स्य और कच्छप

१. पृष्ठ ३२२, पदसंख्या १८६ भी दर्शनीय है।

बना, न गंडक, शालग्राम और वाराह। क्षत्रियसंहर्ता परशुराम तथा अन्य कहे जाने वाले अवतार उसके अवतार[1] नहीं हैं। कबीर के इस विश्वास के होते हुए भी उन पर पौराणिकता का सामान्य नहीं, असाधारण प्रभाव है। इसका एक कारण तो उनका स्वामी रामानन्द का शिष्य होना है। दूसरा कारण है भगवद्भक्ति के प्रचार के लिये पौराणिक शैली का प्रभविष्णु रूप। कथाओं तथा वार्ताओं द्वारा जो बात लोक-मानस पर सुगमता से बैठ जाती है, वह दर्शन की गूढ़-गुत्थियों द्वारा सम्भव नहीं हो पाती। कबीर ने इसी हेतु पौराणिकों द्वारा प्रस्तुत की हुई हरिनामावलि, भक्त-कथाएँ तथा अवतार-लीलाएँ ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली हैं और उनका उद्देश्य ऐसा करने में जनता को भगवान् की ओर उन्मुख करना ही जान पड़ता है।

कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ २१७, पदसंख्या ३७९ में उन्होंने प्रह्लाद तथा नरसिंह अवतार की सम्पूर्ण कथा इस प्रकार दी है।

नहीं छांडौ बाबा रांम नांम, मोंहि और पढ़न सूं कौन काम।
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल।
मोहिं कहा पढावै आलजाल, मेरी पाटी मैं लिखि दे श्रीगोपाल।
तब संनां[2] कहौ जाइ, प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ।
तू रांम कहन की छांडि बांनि, बेगि छुडाऊं मेरौ कह्यौ मानि।
मोहिं कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिरि कौ कियौ प्रहार।
बांधि मारि भावै देह जारि, जेहू राम छांडौ तौ मेरे गुसांई गारि॥
तब काढि खडग कोप्यौ रिसाइ, तोहि राखन हारौ मोहि बताइ।
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकुस मार्‌यौ नख बिदारि॥
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट कियौ भगति भेव॥
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रह्लाद उबार्‌यौ अनेक बार॥

पृष्ठ ३०२ पर पदसंख्या १२९ में भी इस कथा की ओर इन शब्दों में निर्देश किया गया है : 'सन्त प्रह्लाद की पैज जिस राखी, हरिनाखसु नख बिदर्‌यो'। पुराणों में जो प्रह्लाद की कथा वर्णित है, वही इस पद में पद्यबद्ध कर दी गई है। इस कथा से सभी परिचित हैं, अतः इस पद का अर्थ लिखने की

१. कबीरग्रन्थावली बारहपदी रमैणी, पृष्ठ २४२।
२. संनां = सैंनां—पहरेदार।

आवश्यकता नहीं है। कुछ विद्वान् ऐसे पदों को प्रक्षिप्त भी कह सकते हैं, पर अन्य स्थानों पर जो ध्रुव और प्रह्लाद की कथायें आती हैं, उनके सम्बन्ध में वे क्या कहेंगे? केवल क्षेपक मान लेने से तो काम नहीं चल सकता, क्योंकि वहाँ ये कथायें आती हैं और कबीर के सिद्धान्तों से मेल भी खाती हैं। पृष्ठ १२० पर पदसंख्या १७९ में कबीर लिखते हैं: 'राम जपौ जिय ऐसे ऐसे। ध्रुव प्रह्लाद जप्यौ हरि जैसे'॥ ध्रुव और प्रह्लाद ही नहीं, वे इसी पद के आगे पदसंख्या १८० में वैष्णवों की भाँति अजामिल, गज तथा गणिका जैसे पतित कर्म करने वालों को भी रामनाम लेकर भवसागर से पार हो जाने वाला लिखते हैं। यह पद परिशिष्ट के इस स्थल पर ही नहीं, पदावली के पद संख्या ३२० में भी है। पौराणिक प्रभाव के लिये कबीरग्रंथावली की निम्नाङ्कित पंक्तियाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं:

ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज॥ पृष्ठ ६, दोहा १५
कैसो कहि-कहि कूकिये, ना सोइये असरार॥ " " १६
काम मिलावै रामकूं, जे कोई जाँणै राखि।
कबीर विचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलैं साखि॥ पृष्ठ, ५१ दो० ११
नारद कहै व्यास यौं भाषै, सुखदेव पूछौ जाई॥ पृष्ठ १०१, पद ३९
इन्द्रलोक अचिरज भया, ब्रह्मा पड्या विचार।
कबीर चाल्या राम पै, कौतिगहार अपार॥ पृष्ठ ७९, दोहा ३
सुर तेंतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी॥ पृष्ठ ८७, पद १
ब्रह्मा इक जिनि सिष्टि उपाई, नांव कुलाल धराया॥ पृ० १७९, पद २१८
कह कबीर भजु सारिंगपानी, रामे उदकमेरी तिषा बुझानी॥ पृष्ठ २०७, पद ७
बृन्दावन मनहरन मनोहर कृष्ण चरावत गाऊ रे। पृष्ठ २००, पद १८
इन्द्रलोक सिव लोक जैबो, ओछे तप कर बाहुर ऐबो॥ पृष्ठ २००, पद १९
जाके नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति बांछूं, जगत गुरु गोब्यंद रे॥ पृष्ठ ११८, पद ३९०
भजि नारदादि सुकादि वंदित चरन पंकज भांमिनी।
भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर, देव देव सिरोमंनी॥ पृष्ठ ११८, पद ३९२
जागे सुक, ऊधव, अक्रूर, हणवंत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नांमां जैदेव॥ पृष्ठ २११, पद ३८७

सनक, सनंदन, सिव, सुकादि, आपण कंवलापति भये ब्रह्मादि । पृ. २१७, प. ३८४
मन में मैला, तीरथ न्हावै, तिनि बैकुण्ठ न जाना ॥ पृष्ठ २०४, पद ३४५
कितेक सिव संकर गये ऊठि, राम समाधि अजहूँ नहीं छूटि ।
प्रलैकाल कहूँ कितैक भाष, गये इन्द्र से अगणित लाष ॥
ब्रह्मा खोजि पर्यो गहि नाल, कहै कबीर वै राम निराल ॥ पृ. ९९, पद ३५
"राजा अंबरीष कै कारणि, चक्र सुदर्शन जारै ।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो, भगत की सरन उबारै ॥ पृ० १२७, पद १२२
भजन को प्रताप ऐसो तिरे जल पाखान ।
अधम भील अजाति गनिका चढ़े जात बिमान ॥ पृ० १९०, पद ३०१

कभी-कभी कबीर वेद-कतेब की बात करने लगते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे वेद की निन्दा कर रहे हैं । कहीं-कहीं तो उन्होंने स्पष्टरूप से वेद और पुराण को विष के समान लिख दिया[1] है । उनका ऐसा भी मत ज्ञात होता है कि जहाँ निराकार भगवान् निवास करते हैं, वहाँ वेद, पुराण और स्मृति का पाठ नहीं पहुँचता[2] । पर कभी-कभी वे वेद और पुराण की साखी भी देने लगते[3] हैं, जिससे सिद्ध होता है कि उनका उद्देश्य वेद और पुराणों की निन्दा करना नहीं है । वे वेद के पाठमात्र को नहीं, उसमें निहित भाव को ग्रहण कराने के अभिलाषी हैं । इस विषय पर उनकी नीचे उद्धृत पंक्तियाँ स्पष्ट प्रकाश डालती हैं :

वेद कतेब कहब मत झूठे, झूठा जो न विचारै ॥ पृ० ३२३, पद १९२
वेद पुरान सुसृत गुन पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुनि मरम न पावा ॥
पृ० १७८, पद २६४

वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चन्दन जैसे भारा ।
× × ×
वेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखें रांमां ॥ पृ० १०१, पद ३९
पढ़ि पढ़ि पंडित वेद बषाणैं, भीतरि हूती बसत न जाणैं ॥
पृ० १०२, पद ४२

१. जन जागे का ऐसहि नांग । विष से लागे वेद पुराण ॥ पृ० २०६, पद ३५२
२. पाठ पुरांन वेद्र नहीं सुमृत तहां बसै निरकारा ॥ पृ० २०४, पद ३४५
३. वेद्र पुरांन कहत जाकी साखी ॥ पृ० १८४, पद २८३
निगम जाकी साखि बोलैं, कहैं सन्त सुजान ॥ १९०, पद ३०१

चारिउं बेद पढ़ाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढ़ैं खेत ॥ पृ० ३६, दोहा ९

जो व्यक्ति वेद तो पढ़ता है, परन्तु उस पर विचार नहीं करता, उसे शब्दबोध तो है, परन्तु उन शब्दों में निहित रहस्य का ज्ञान नहीं है, उसका वेद पढ़ना गधे के ऊपर रखे चंदन के बोझ के समान है। वेद-पाठ का फल तो उसमें अंकित भावनाओं को हृदयंगम करने में है। समस्त ज्ञान अन्त में उस ज्ञान के स्रोत को समझने के लिये है, पर जो उसे छोड़ कर केवल शब्दों और छंदों से प्रेम करता है, उसका वेद-पाठ व्यर्थ है। ऐसे पाठ की सराहना कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं कर सकता। स्वयं वेद ने ऐसे पाठ को निरर्थक माना[1] है।

लीला :

पौराणिकता का सब से बड़ा प्रभाव हरिलीला में निहित है। यह लीला सृष्टि के सृजन, पालन और संहार तीनों कार्यों में प्रकट होती है। भगवान् की यह लीला अपार है। दुर्बल मानव इसके समझने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है। वेद और शास्त्रों में इसका वर्णन किया गया है, पर उस अविगत की गति को अवगत कर लेना सहज कार्य नहीं है। पृष्ठ १०४, पद ४९ में कबीर लिखते हैं :

निरगुंण राम निरगुंण राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखी न जाई॥
चारि वेद जाके सुमृत पुरांनां, नौ व्याकरनां मरम न जांनां॥
सेस नाग जाके गरड समाना, चरन कंमल कंवला नहिं जांनां॥

कबीर का राम निर्गुण होते हुए भी सगुण है। उसके पास पौराणिक पद्धति के अनुकूल शेषनाग है, गरुड़ है और लक्ष्मी (कमला) भी है। ये सब उसके समीप रहते हैं। कमला तो सदैव उसके चरण-कमलों की सेवा करती रहती है, परन्तु भगवान् की गति को वह भी नहीं जान पाती। नीचे लिखे पद में प्रभु की महनीय महत्ता अभिव्यंजित हुई है:

लोग कहैं गोवरधनधारी, ताको मोंहिं अचम्भौ भारी।
अष्टकुली परबत जाके पग की रैनां, सातौं सायर अञ्जन नैंना॥
ऐ उपमां हरि किती एक ओपै, अनेक मेर नख ऊपरि रोपै।

---

1. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। (ऋ० १-१६४-३९)

धरणि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी ॥
सिव बिरंचि नारद जस गावैं, कह कबीर वाको पार न पावै ।
(पृष्ठ २०१, पद २२२)

अष्टकुल के पर्वत जिसके पैरों की धूलि हैं, सातों समुद्र नेत्रांजन के तुल्य हैं, जो अपने नख के ऊपर सुमेरु जैसे अनेक पर्वतों को धारण किये हुए है, जिसने पृथ्वी और आकाश को निराधार खड़ा कर रखा है, उसको गोवर्धनधारी जैसी छोटी उपमा क्या शोभा देगी ? शिव, ब्रह्मा और नारद जिसका यशोगान निरन्तर किया करते हैं, फिर भी उसका पार नहीं पाते, उसकी महती लीला को मानव क्या समझेगा ! तुलसी के : 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' शब्दों जैसी ही यह उक्ति है ।

पीछे हमने पौराणिक प्रभाव को प्रकट करने वाली जो कई पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, उनमें पृष्ठ ९९ के पद संख्या ३५ की पंक्तियाँ भी प्रभु की इस महत्ता को प्रकाशित करती हैं । पद के अनुसार न जाने कितने प्रलयकाल निकल गये, कई लाख इन्द्र स्वर्ग के अधिपति बन चुके, विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से जिस ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, वह ब्रह्मा कमल की नाल को पकड़ कर उसके मूल तक पहुँचने का प्रयत्न ही करता रहा, पर न पहुँच सका । राम की निराली लीला क्या कभी किसी की समझ में आ सकी है ?

प्रभु की लीला का प्रसार तीनों लोकों में है । जीवों के विविध योनियों में आवागमन करने का चक्र भी उसी की लीला का एक[1] भाग है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नाम के पाँच तत्वों से बना हुआ यह पिण्ड और ब्रह्माण्ड, फिर चौरासी लाख योनियों में विचित्र आकार धारण करने वाले तथा पृथक् पृथक् भावनाओं में भ्रम एक समान जीवात्मा[2] ईश्वर की विचित्र लीला के विचित्र दिग्दर्शक हैं ।

पौराणिक देवत्रयी में ब्रह्मा रजोगुणी, शंकर तमोगुणी और विष्णु सतोगुणी समझे जाते हैं । सृष्टि की रचना—प्रक्रिया में रजोगुण की आवश्यकता पड़ती है, पालन में सतोगुण की और संहार का कार्य तमोगुण-प्रधान है ही । ये तीनों क्रियायें भगवान की लीला का भाग हैं ।

१. तीन लोक में हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा । पृ० २००, पद ११२
२. पंच तत्त लै कीन्ह बधान, चौरासी लख जीव समान । बेगर बेगर राखि लै भाव ।
पृ० १४१, पद १६७

कबीर कहते हैं :

रजगुन ब्रह्मा, तमगुन संकर, सतगुन हरि है सोई ।

कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई ॥ पृ० १०६, पद ५७

कबीर यह भी स्वीकार करते हैं कि ये तीनों देव एक ही देवाधिदेव राम के तीन रूप हैं, तीन मूर्तियाँ हैं :

पाती ब्रह्मा पुहुपे विष्णु फूलफल महादेव ।

तीनि देवौं एक मूरति, करै किसकी सेव ॥ पृ० १५५, पद १९८

विष्णु का पौराणिक रूप कितने निरावरण शब्दों में नीचे लिखी पंक्तियों में प्रकट हुआ है :

जाके नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गङ्ग तरङ्ग रे । पद ३९०, पृ० २१८

विष्णु की नाभि से पद्म उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा का उद्भव हुआ। गंगा की तरङ्ग विष्णु के चरणों से निस्सृत हुई। पुराणों के अनुसार यह सब हरि लीला का ही प्रसार है। राधा-कृष्ण की लीला से सम्बद्ध नीचे लिखा पद भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है :

इहि बनि बाजै मदन भेरि रे, उहि बनि बाजै तूरा रे ।
इहि बनि खेलै राही रुकमनि, उहि बनि कान्ह अहीरा रे ॥
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, माँहि द्वारिका गाऊं रे ।
तहां मेरो ठाकुर राम राइ है, भगत कबीरा नांऊं रे ॥

(पद ७६ पृष्ठ ११२)

इस पद में बाजे भी बज रहे हैं, कृष्ण के प्यारे वन हैं, तुलसी का वृक्ष है, द्वारिकाधाम है और आभीर कृष्ण के साथ राही (राधा) तथा रुक्मिणी भी हैं। भक्त कबीर का राम इन सब में रमण कर रहा है। गुणवान और पण्डित सब मिलकर इस राम के लीला-यश का गायन[1] करते हैं।

कबीर का राम सबके ऊपर है। विश्व में बलवान् से बलवान्, अतुल शक्ति का धनी एवं अभिमानी व्यक्ति भी अपने बल पर सदैव गर्व नहीं कर सकता। उसके गर्व को खर्व करने वाला, अच्युतों को च्युत करने की शक्ति रखने वाला, सत्यकेतु प्रभु अपनी लीला द्वारा इस विषमी-दृश्यमान जगत् में अद्भुत सामञ्जस्य की सृष्टि करता रहता है। सहस्रबाहु के समान शक्तिशाली तथा

---

१. कहैं कबीर गुणीं अरु पण्डित मिलि लीला जस गावै ॥ (पृ० १५१, पद १८६)

दुर्योधन के समान योधा विश्व में कम ही उत्पन्न हुए हैं, पर ये भी उस महाबाहु की चपेट में पड़ने से नहीं बच[1] सके। दूसरी ओर अधम कुल में उत्पन्न होकर भी जो प्राणी प्रणत होकर भगवान् के भजन में लीन हो गये, वे विमान पर चढ़ कर स्वर्ग-प्राप्ति के अधिकारी[2] भी बने।

प्रभु की लीला वास्तव में विचित्र है। उन्हें दुर्योधन के दूध में विष, परन्तु विदुर के पानी में अमृत जान पड़ा। विदुर के घर का साग उन्होंने ऐसे मन से खाया, जैसे खीर खा रहे हों और ऐसा स्वादिष्ट जान पड़ा कि रात्रि पर्यन्त उसी का गुणगान करते[3] रहे।

अवतारी लीलाओं के अतिरिक्त कबीर ने निर्गुण, निराकार प्रभु की सूक्ष्म लीलाओं पर भी प्रकाश डाला है। जैसे नर्तक नृत्यशाला को सजाता है और उसमें जो खेल होता है, उस खेल तथा नृत्यशाला को तो सब देखते हैं, पर पीछे नेपथ्य में बैठे हुए नट को कोई नहीं देख पाता, उसी प्रकार प्रभु के द्वारा सजाये हुये इस दृश्यमान संसार को तो सब देख रहे हैं, पर वह नियामक प्रभु सबकी दृष्टि से ओझल[4] है।

'लीला करि करि भेप फिरावा, ओट बहुत कछु कहत न आवा।'
औ खेलै सब ही घट माँहीं, दूसरके लेखै कछु नाहीं॥ (पृष्ठ २२९)
फिरत फिरत सब चरन तुरानैं, हरि चरित अगम कथै को जानैं।
गण गन्ध्रप मुनि अन्त न पावा, रह्यौ अलप जग धंधै लावा॥
लीला अगम कथै को पारा, बसहु समीप कि रहौ निनारा॥

× × ×

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ॥ (पृष्ठ २३०)
नियर थैं दूरि दूरि थैं नियरा, राम चरित न जानियै जियरा।
सीत थैं अगनि परजरई, थल थैं निधि निधि थैं थल करई॥

---

१. सहस्रबाहु के हरे पराण। जरजोधन घाल्यौ खै मान॥ (पद ३४० पृष्ठ २०३)
२. अधम भील अजाति गनिका चढ़े जात बिमान॥ (पद ३०१ पृष्ठ १९०)
३. पृष्ठ ११९, पद १७६।
४. जिनि नटवै नटसारी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी॥ (पृष्ठ २२७)
बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहू न पेखा॥ (पृष्ठ २३१)

वज्र थैं तिण खिण भीतरि होई, तिण थैं कुलिस करै फुनि सोई।
गिरवर छार छार गिरि होई, अविगत गति जानैं नहीं कोई॥
(पृष्ठ २३५)

सबकी ओट में रहता हुआ भी वह नट-नागर वेष परिवर्तित करके विविध प्रकार की लीलायें दिखा रहा है। वह अन्तर्यामी रूप से सबके अन्तस्तल में विद्यमान है, यद्यपि अनेक नास्तिकों की दृष्टि में वह कुछ भी नहीं है। उसके चरित अगम्य हैं। घूम-घाम कर कोई चाहे जितना परिश्रान्त हो ले, पर वह अलख दिखाई नहीं पड़ता। उसने सबको धन्धे में लगा रखा है। वह समीप है या दूर, कौन जानता है? मुनि तथा गन्धर्वों के गण भी उसकी महिमा का अन्त नहीं पा सकते।

उसके संबन्ध में जो कुछ कहा जाता है, वह वस्तुतः वैसा नहीं है। फिर भी उसका वर्णन करने और सुनने में आनन्द उत्पन्न होता है और परमार्थ की सिद्धि होती है। राम का चरित्र निकट से दूर और दूर से भी निकट है। वही शीतलता में अग्नि का प्रज्वालक है। वही स्थल में समुद्र और समुद्र से स्थल बनाने वाला है। वही वज्र को तिनके में तथा तिनके को वज्र में परिणत करता है और पर्वत को राख तथा राख को पर्वत बना देता है। उसकी लीला अनिर्वचनीय है।

धाम :

जब हम भगवान् के धाम का नाम लेते हैं, तब धाम से हमारा तात्पर्य किसी स्थान, भुवन या लोक विशेष से नहीं होता। प्रभु वस्तुतः किसी स्थान की सीमा में आबद्ध नहीं हैं। वे सर्वव्यापक हैं। जिन सम्प्रदायों में प्रभु के धाम का वर्णन लोक विशेष के रूप में किया गया है, उसे औपचारिक रूप में ही ग्रहण करना चाहिये; अन्यथा उसके द्वारा वर्णित प्रभु का सर्वव्यास रूप एक खेल ही समझा जायगा। भुवन या लोक पार्थिव हैं, परन्तु धाम अप्राकृत, दिव्य तथा चेतना की विकसित अवस्था का नाम है। यजुर्वेद ३२-१० में धाम और भुवनों का पृथक् पृथक् निर्देश मिलता है। भुवन, लोक तथा योनियां अनेक हैं, पर धाम सात हैं। मानव की सीमित शक्ति तृतीय धाम का तो अनुभव कर सकती है, पर उसके ऊपर के धामों का अनुभव दिव्य तेज से सम्पन्न कुछ विशिष्ट आत्मायें

ही कर पाती हैं। चतुर्थ धाम का वर्णन उपनिषदों के कतिपय ऋषियों ने किया है। क़ुरान तथा बाइबिल में भी उपचार से उसका उल्लेख हुआ है और कबीर ने भी उसका नाम लिया है। वेद तृतीय धाम को स्वः, चतुर्थ को महः तथा उसके ऊपर के धामों को क्रमशः जनः, तपः तथा सत्यम् नाम देता है। चेतना की ऊर्ध्व अवस्थाओं को वह नाक, स्वः, द्यौ, उत्तम ज्योति, परम व्योम, परम धाम, उत्तर धाम, आनन्त्य, गुहा, अभय, स्वस्ति, आदि कई नामों से पुकारता है। वैष्णवों ने इसे वैकुण्ठ, वृन्दावन, गोलोक, साकेत आदि नाम दिये हैं। नाथपन्थी और शैव इसे कैलास तथा मानस सरोवर कहते हैं। बौद्धों के यहाँ यह शून्य तथा निर्वाण की अवस्था है। कबीर पर इन सब का प्रभाव है। वे विभिन्न सम्प्रदायों के सम्पर्क में आये थे और इन नामों से परिचित थे। उनकी अपनी साधना भी उच्च कोटि की थी। अपनी अनुभूति को उन्होंने इन्हीं परिचित नामों द्वारा अभिव्यक्त किया है। वैदिक परम व्योम को वे गगन भी कहते हैं और आनन्त्य को असीम या बेहद। बौद्धों का निर्वाण या शून्यवाद उन्हें सिद्धों तथा नाथों से मिला। बिहिश्त जिसका वे कभी-कभी प्रयोग करते हैं, इसलाम की देन है। महल शब्द सूफियों से आकर सन्तों में प्रचलित हुआ होगा। वैसे यह चतुर्थधाम महः से भी बन सकता है। महः—महर = महल।

कबीर ग्रन्थावली के आधार पर इन धामों का वर्णन नीचे दिया जाता है—

बेहद, शून्य तथा महल :

हद छाड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम॥ पृ० १३ दोहा ११
हदे छाड़ि, बेहदि गया, हुवा निरन्तर वास। पृ० १२ दोहा ५

गगन :

मन लागा उनमन्न सूं, गगन पहूँता जाइ।
देखा चन्द बिहूँणा चाँदिणा, तहाँ अलख निरंजन राइ॥ पृ० १२ दोहा १५
अवधू गगन मण्डल घर कीजै। पृ० ११०
अमृत झरै सदासुख उपजै, बंक नालि रस पीवै॥ पद ७०

निर्वाण :

कहैं कबीर विचारि करि, यो है पद निरबांन॥ पृ० २२६ पंक्ति ९

शून्य :

सुनि मण्डल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ ॥ पृ० ६७ दोहा ७

उलटत पवन चक्रषट भेदे, सुरति सुन्न अनुरागी ।

सुन्नहि सुन्न मिल्या समदरसी पवन रूप होइ जावहिंगे ॥

पृ० २७१ रमैणी २४, २६

उनमनं मनुआं सुन्नि समाना दुविधा दुर्मति भागी ॥ पृ० २९१ पद ९१

टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुन्नि मैं रह्यौ समाइ ॥ पृ० १९९ पद ३२८

देहुरा तथा देवल :

नींव बिहूँणां देहुरा, देह बिहूँणां देव ।

कबीर तहां बिलंबिया, करै अलष की सेव ॥ ४१

देवल माँहैं देहुरी, तिल जेहै बिसतार ।

माँहैं पाती मांहि जल, माँहैं पूजणहार ॥ ४२ पृष्ठ १५

घट :

कहै कबीर अब सोवौं नाहिं, राम रतन पाया घट मांहिं ॥

पद ३५२ पृष्ठ २०६

ज्यूं नैनूं मैं पूतली, त्यूं खालिक घट मांहिं ॥ ८२–९

अन्तर :

अंतरि कंवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहां होइ । पृष्ठ १२ दोहा ७

अनहद बाजै, नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान ।

अविगत अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥ पृ० १६ दोहा ४४

द्वादस दल अभि अन्तरि म्यंत, तहां प्रभु पाइसि करि लै च्यंत ॥

पद ३२८

हृदयकमल :

अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभु बैठे समरथ सार ।

कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पङ्कज मैं लिया निवास ॥

रिदा = हृदय ।

हृदयसरोवर :

रे मन बैठि कितै जिनि जासी । हिरदै सरोवर है अबिनासी ॥

काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी ॥

काया मधे कंवलापति, काया मधे बैकुण्ठ बासी ॥

उलटि पवन षट चक्र निवासी, तीरथराज गङ्ग तट बासी ॥१७१पृ.१४५

जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। फिर बाहर तीर्थ आदि में भटकने और अपने प्रभु को वहाँ ढूंढ़ने की क्या आवश्यकता है? काशी, वैकुण्ठ, प्रयाग, गङ्गा, मानसरोवर सब इसी शरीर के अन्दर विद्यमान हैं। प्रभु का स्थान भी अपने ही हृदयरूपी मानसरोवर में है। यहीं अनहद नाद का अनुपम संगीत है और पूजा की सामग्री के लिये पुष्प, दीप आदि सब कुछ रखा हुआ है।

शून्य शिखर गढ़ :

कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ मांहिं॥ दोहा ८ पृष्ठ १३

गढ़ तथा ज्योतिर्मय धाम :

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।

जहाँ कबीरा बंदिगी, तहाँ पाप पुन्य नहीं छोति॥ पृष्ठ १२ दोहा ४

अगम निगम गढ़ रचि लै अवास, तहुंवा जोति करै परकास।

चमकै बिज्जुरी तार अनन्त, तहाँ प्रभु बैठे कंवलाकंत॥ पद ३२८

मानसरोवर :

अछंदे सो प्यंडे जांनि, मानसरोवर करि असनांन॥

सोहं हंसा ताको जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप॥ पद ३२८

× × × ×

मानसरोवर सुभरजल, हंसा केलि कराहिं।

मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जांहिं॥ पृ० १५ दो० २९

चतुर्थ धाम :

कहै कबीर हमारे गोव्यंद, चौथे पद मैं जन का ज्यंद। पद३६५पृ०२१०

× × × ×

रजगुण, तमगुण, सतगुण कहियै, यह तेरी सब माया॥

× × × ×

चौथे पद को जो नर चीन्हैं, तिनहिं परमपद पाया॥ पद २८ पृ० २०१

परम पद :

साई माइ सास पुनि साई, साईं याकी नारी।

कहै कबीर परम पद पाया, संतौ लेहु बिचारी॥ पद १५२ पृ० १२७

जयौं न आप हतौं नहीं गूगल, पुस्तक ले न पढाऊं।

कहै कबीर परम पद पाया, नहीं आऊं नही जाऊं॥ पद १९६ पृ० १५४

× × × ×

रांम के नांम परंम पद पाया, छूटे बिघन बिकारा॥ पद २६७ पृ० १७९

अभय पद :

छांड़ि कपूर गांठि विष बांध्यौ, मूल हुआ न लाहा ।
मेरे रांम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा ॥
पद १३४ पृ० १२१

× × × ×

कहै कबीर निह्चल भया, निरभै पद पाया ।
संसा ता दिन का गया, सतगुर समझाया ॥ पद १८८ पृ० १५१

× × × ×

जहं अनभै तहं मैं नहीं, जहं मैं तहं हरि नाहिं ॥दो० १८१ पृ० २६२

वैकुण्ठ :

चलन चलन सब कोई कहत है, नां जांनौं वैकुंठ कहां है ॥
जोजन एक प्रमिति नहीं जांनैं, बातनि ही वैकुंठ बषानैं ॥

× × × ×

जब लग है वैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥
कहैं सुनैं कैसे पतिअइये, जब लग तहां आप नहीं जइये ॥
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति वैकुंठहिं आहि ॥
पद २४ पृ० ९६

× × × ×

मन में मैला तीरथ न्हावै, तिनि वैकुंठ न जानां ॥
पद ३४५ पृ० २०४

× × × ×

सो वैकुंठ कहौ धूं कैसा, करि पसाव मोहि देहो ॥ 		५२ पृष्ठ १०५

× × × ×

भरी छाबड़ी मन वैकुंठा, साइं सूर हिया रंगा ॥
पृ० १६१ पद २१४

बिहिश्त :

जन कबीर तेरी पनह समाना, भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ॥
पद ३३९ पृष्ठ २०२

दोजख तौ हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ ॥ दो० ७ पृ० १९

ऊपर वैकुण्ठ और बिहिश्त के सम्बन्ध में कबीर की जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, उनमें वैष्णव भक्ति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। मानव जब तक वैकुण्ठ की आशा में लगा है, तब तक भगवद्‌भक्ति, हरिचरणों में सतत निवास की अवस्था उससे कोसों दूर है। भक्त का आदर्श, वैष्णव भक्ति के अनुसार 'वैकुण्ठ' नहीं, भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहना है। यदि वैकुण्ठ में पहुंच कर भक्त हरि-सेवा से, भगवान् के भजन से वंचित हो गया, तो ऐसे वैकुण्ठ में जाने से क्या लाभ? सूरदास ने इसीलिये लिखा था—

'वंशीबट, वृन्दावन, यमुना तजि वैकुण्ठ को जावे।' सूरसागर २-२ बिहिश्त के सम्बन्ध में भी कबीर ने यही कहा है कि यदि बिहिश्त मुझे अपने प्रिय इष्टदेव की सेवा से वंचित करती है, जहां मेरा प्यारा ही नहीं है, तो ऐसी बिहिश्त मुझे नहीं चाहिये। इसकी अपेक्षा मैं प्रभु के साथ रहता हुआ दोजख को स्वीकार कर लूंगा। उससे मुझे कुछ भी भय नहीं होगा।

इससे यह भाव भी अभिव्यक्षित होता है कि वैकुण्ठ आदि कोई स्थान-विशेष नहीं हैं। जब प्रभु सर्वत्र रम रहे हैं तो सर्वत्र ही वैकुण्ठ है। आवश्यकता है उन्हें पहिचानने और उनमें अपने व्यक्तित्व का परित्याग करके तल्लीन हो जाने की।

जहां निराकार भगवान् रहते हैं, वहां कुछ है भी या नहीं, वहां की कैसी परिस्थिति है, इस प्रश्न को कबीर ने निम्नांकित पद में उठाया है :

रांम राइ अविगत बिगति न जानं, कहि किम तो हि रूप बषानं ॥
प्रथमें गगन कि पुहुमि प्रथमें प्रभू, प्रथमें पवन कि पांणीं।
प्रथमें चन्द कि सूर प्रथमें प्रभू, प्रथमें कौन बिनांणीं ॥
प्रथमें प्राण कि प्यंड प्रथमें प्रभू, प्रथमें रक्त कि रेतं।
प्रथमें पुरिष कि नारि प्रथमें प्रभू, प्रथमें बीज कि खेतं ॥
प्रथमें दिवस कि रैंणि प्रथमें प्रभू, प्रथमें पाप कि पुन्यं।
कहै कबीर जहां बसहु निरंजन, तहां कछु आहि कि सुन्यं ॥
पद १६४ पृष्ठ १४३

इस प्रपञ्च में जो कारण और कार्य का सम्बन्ध दृष्टिगोचर हो रहा है वह इस प्रपञ्च से पूर्व किस रूप का था? और वह था भी या नहीं, यही समस्या कबीर के सम्मुख है। सृष्टिरचना के क्रम में पृथ्वी से पहले आकाश है, पानी से पहले पवन है, चन्द्र से प्रथम सूर्य है, पिण्ड से प्रथम प्राण है, रेत (वीर्य) से पूर्व रक्त है; पर पुरुष और स्त्री, बीज और खेत, दिन और रात्रि, पाप और पुण्य का युग्म है। जब इनमें से कुछ भी नहीं था और जब इनके बाद कुछ भी नहीं रहेगा, तब कहते हैं, एक निरञ्जन, निराकार परम तत्त्व रह जायगा। परन्तु जहाँ एक निराकार तत्त्व होगा, वहाँ की अवस्था कैसी होगी? विधिपरक होगी या निषेधात्मक? वहाँ कुछ होगा भी या नहीं? स्वयं निराकार तत्त्व शून्य जैसी निषेधात्मक सत्ता है या वह कुछ है भी? बौद्धों के शून्यवाद ने भी कुछ ऐसे ही प्रश्न खड़े किये हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी ऐसे ही प्रश्न हैं। प्रारंभिक दशा में असत् था या सत्? रज था या व्योम? यदि कुछ था, तो किसकी शरण में या किस के आश्रय से था? क्या उस समय यह गंभीर जल था? अन्त में उत्तर भी दिया गया है। उस परम व्योम का, परम शून्य का, जो अध्यक्ष है, वही इसे जानता है। प्यारे प्रश्नकर्ता जीव! और मैं कैसे कहूं कि वह भी जानता ही है।

वास्तव में जीव की स्वल्प बुद्धि शंकायें तो खड़ी कर सकती है, पर पूर्ण उत्तर देना उसकी शक्ति के बाहर है। अतः वह परम व्योम, परम शून्यावस्था, परम धाम, निरञ्जन-निवास क्या है, कैसा है, इसे समझ लेना संसारी जीव के वश की बात नहीं है। साधना के उपरान्त जो साधक जितना देख आया है, उसका उतना भी वर्णन वह नहीं कर सका। यह वैखरी वाणी उस परावाणी की बात संतोषपूर्वक कह भी कैसे सकती है?

रूप :

श्रुति भगवती कहती है : 'प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव'—[1]'उत्पन्न हुई सत्ताओं की रक्षा करने वाले, परम प्रभु! ये समग्र उत्पन्न पदार्थ और जो इनके चारों ओर विद्यमान कोष रूप सामग्री है, वह तुमसे व्यतिरिक्त नहीं, अन्य नहीं है। यही नहीं, तुम इस सब को अतिक्रान्त

---

१. ऋ० १०-१२१-१०

कारके भी विद्यमान हो। यह लोक और कोष तुमसे परिपूर्ण हो रहे हैं, तुम इन सब में व्याप्त हो। व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध द्वारा मानों तुम यहां के प्रत्येक पदार्थ में तद्रूप हो रहे हो। एक अन्य मंत्र में कहा है। 'आत्मा जगतः तस्थुषश्च'—[1] प्रभु जगत् और तस्थुष दोनों का आत्मा है। स्थावर और जंगम, चर और अचर सबका आत्मा ईश्वर है। इस रूप में यह द्विविध जगत् मानों ईश्वर का शरीर है। इसी हेतु ईश्वर को विश्ववपु भी कहा जाता है। इस प्रकार विश्व का एक-एक रूप मानों ईश्वर का एक-एक अंग है। 'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' टेक वाले मन्त्रों में पृथ्वी को ईश्वर का पैर, अन्तरिक्ष को उदर, द्यौ को शिर, सूर्य और चन्द्र को नेत्र, अग्नि को मुख, वायु को प्राणापान, विद्युतरूप शक्ति को अंग-रस और दिशाओं को उसका श्रोत्र कहा गया है। पुरुषसूक्त में भी इसी प्रकार की कल्पना पाई जाती है। उपनिषदों में भी प्रभु को 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' कहा गया है[2]। अतः इस निखिल सृष्टि को उसी प्रभु का रूप कहा जा सकता है। कबीर ने नीचे लिखे पद में इसी भाव को अभिव्यक्त किया है :

'हंम तो एक-एक करि जांनां।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजख, जिन नाहिंन पहिचांनां॥
एकै पवन, एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांड़े, एक ही सिरजन हारा॥
जैसे बाढ़ी काष्ठ ही काटै, अगिनि न काटै कोई।
सब घटि अन्तरि तूं हीं व्यापक, धरै सरूपैं सोई॥

५५ पृष्ठ १०५

वेद ने कहा था, प्रभु से अन्य कुछ नहीं है। कबीर कहते हैं, यहां दो हैं ही नहीं, एक ही है। वह एक ही सर्व-व्याप्त है। व्याप्य वस्तु रूप-परिवर्तन करती है, काटी जाती है, उसके अवयव परमाणुओं में विभक्त होकर नवीन संगठन को जन्म देते हैं, पर व्यापक वस्तु काटी नहीं जा सकती, क्योंकि वह परमाणुरूपा नहीं है। बढ़ई काठ को काट सकता है, परन्तु, उसमें व्याप्त अग्नि को नहीं। और अग्नि जैसे ऊपले में व्याप्त होकर ऊपले का, काष्ठ में व्याप्त होकर काष्ठ का अथवा लोहे में व्याप्त होकर लोहे का सा रूप धारण

१. यजु० ११-४६ २. कठ २-५-९

कर लेती है, अपने व्याप्य के आकार की बन जाती है, उसी प्रकार यह परम तत्व घट-घट में व्यापक होकर मानों अनेक स्वरूप धारण कर रहा है। यहां जितने दृश्य हैं, उतने ही मानों प्रभु के शरीर हैं। वेद ने विभिन्न शरीर न कह कर मानव शरीर के रूपक द्वारा उन्हें विभिन्न अंगों और इन्द्रियों का रूप दे दिया है।

यह तो रूपक की बात हुई, जिसमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध निहित है। इस सम्बन्ध से पृथक् प्रभु का रूप क्या है? कबीर कहते हैं, व्याप्य वस्तु अंजन है। आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त रचना का विस्तार, उसके गुण और प्राणियों के बुद्धि से लेकर स्थूल शरीर तक समस्त अवयव अंजन के ही नाना रूप हैं। प्रभु इन सबसे पृथक् है, निरञ्जन है।

'राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
अंजन उतपति वो ऊंकार, अंजन मांड्या सब विस्तार'
अंजन ब्रह्मा संकर इंद, अंजन गोपी संगि गोब्यंद।
अंजन बांणी अंजन बेद, अंजन कीया नांनां भेद।
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव ॥ ३३६ ॥
अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटिरह्यौ समाइ ॥ ३३७ ॥

पृष्ठ २०१, २०२

अंजन या आंजना किसी वस्तु को चमकाने का साधन है। प्रभु साधन नहीं, साध्य है। यह समग्र विश्व, पार्थिवता से लेकर दिव्य सत्ताओं तक, वाणी से लेकर वेद तक, उसी साध्य रूप प्रभु की प्राप्ति के लिये साधन का काम देता है। इसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। परन्तु प्रभु एक-रस है। हम जिन देवताओं और अवतारी महापुरुषों की पूजा करते हैं, वह मानों अंजन की अंजन द्वारा पूजा है, साधन की ही साधन द्वारा सेवा है। प्रभु सेव्यों का भी सेव्य है। वहाँ अंजन की गति नहीं है। वह सूक्ष्म-स्थूल सभी रूपों से पृथक् अरूप है, निरंजन है। निम्नांकित पंक्तियों में भी इसी तथ्य को प्रकट किया गया है:

राम के नांइ नीसांन बागा, ताका मरम न जानै कोई।
भूप त्रिषा गुण वाकै नांहीं, घट घट अंतरि सोई ॥
वेद विबर्जित, भेद विवर्जित, विबर्जित पाप रु पुन्यं।
ग्यांन विबर्जित ध्यान विवर्जित, विबर्जित अस्थूल सुंन्यं ॥

भेष विवर्जित, भीख विवर्जित, विवर्जित ड्यंभक रूपं।
कहै कबीर तिहुं लोक विवर्जित, ऐसा तत अनूपं ॥ २२० ॥

पृष्ठ १६३

× × ×

सो कछु बिचारहु पंडित लोई, जाकै रूप न रेख बरण नहीं कोई।

१७ पृष्ठ १००

× × ×

अबरन एक अकल अविनासी घटि घटि आप रहै॥
तोल न मोल माप कछु नांहीं, गिणती ग्यांन न होई।
नां सो भारी नां सो हलवा, ताकी पारिष लखै न कोई॥

१६९ पृष्ठ १४४

जाकै मुह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप॥ दोहा ४ पृ० ६०

× × ×

रूप सरूप न आवै बोला। हरू गरू कछू जाइ न तोला॥

बारहपदी रमैंणीं। पृष्ठ २४०

वेद ने ईश्वर के वर्णन में अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपाप-विद्धम् आदि कहकर जिस नेति नेति प्रणाली का अवलम्बन लिया था, कबीर भी उसी पद्धति पर प्रभु के रूप का निरूपण कर रहे हैं। भूख, प्यास, वेदना, विभेद, पाप, पुण्य, ज्ञान, ध्यान, स्थूलता, शून्यता, वेष, भिक्षा, शैशव, बुढ़ापा आदि सब कुछ त्रिलोकी से सम्बद्ध हैं। प्रभु इन सब से भिन्न अनुपम तत्त्व है, वह रूप, रेखा, रंग आदि सब से पृथक् है। उसकी तोल, मोल, माप,गिनती आदि कुछ भी नहीं हो सकती। न उसे भारी कहा जा सकता है, न हलका। उसके मुख, माथा आदि कुछ भी नहीं हैं। वह पुष्प के सौरभ से भी पतला है। जब सौरभ की सूक्ष्मता ही ग्राह्य नहीं हो सकती, तो उस अनुपम तत्त्व की सूक्ष्मता का तो कहना ही क्या है? इस सम्बन्ध में कबीर के शब्दों में ही यह कहना अधिक उपयुक्त होगा :

'भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहौं त झूठ।
मैं का जांणौं राम कूं, नैनूं कबहूं न दीठ॥ १ ॥ पृष्ठ १७

ईश्वर भारी है या हलका, इस बात को जानने का सामर्थ्य यहां किसी में भी नहीं है। उसे हलका कहना तो सरासर मिथ्या भाषण करना है। यदि उसे भारी कहा जाय, तो भय का विषय है। जिसके गर्भ में भारी से भारी पदार्थ निहित हैं, वह कितना भारी है, इसका अनुमान लगाना भी भयावह है। जिसे नेत्रों से देखा नहीं जा सकता, उसके सम्बन्ध में इदमित्थं कथन ही असम्बद्ध है, असम्भव है। वह अनन्त कौन है? जब यही प्रश्न समाधान के लिये छटपटा रहा है, तो वह क्या है और कैसा है? इन प्रश्नों के तो बोझ को भी विचार बेचारा वहन नहीं कर सकेगा।

तो क्या वह समझ में नहीं आ सकता? नहीं, ऐसी बात नहीं है। साधकों ने अपनी साधना द्वारा, घोर तप के उपरान्त ऋत की प्रथमजा के सहारे उसकी कुछ झलक तो देखी ही है। इस झलक में ही उसकी बांकी झांकी पाकर वे कृतकृत्य हो गये हैं। कबीर ने इस झलक का अपने शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है :

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ
तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रहा समाइ ॥ ३८ ॥ पृष्ठ १५

कबीर कहते हैं, मैंने प्रभु का सम्पूर्ण रूप तो नहीं देखा, पर उसके एक अङ्ग और उसकी भी केवल एक झलक के दर्शन किये हैं। उसकी झलक का जो रूप मानस चक्षुओं के सम्मुख आया है, वह अपने में अनन्त महिमामय है, अजस्र तेज का पुञ्ज है। जैसे पारस के स्पर्श से सब कुछ दमदमाता हुआ स्वर्ण ही स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार उसके दर्शनमात्र से मेरे नेत्रों के आगे प्रकाश ही प्रकाश जाज्वल्यमान हो उठा। मेरे नेत्रों में वही तो समाया हुआ है। प्रभु के इस ज्योतिर्मय रूप का वर्णन कबीर ने कई स्थानों पर किया है। नीचे इस विषय पर प्रकाश डालने वाली कुछ पंक्तियां कबीरग्रन्थावली से उद्धृत की जाती हैं :

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरजसेणि।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥ १ ॥ पृष्ठ १२
कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास ॥ २ ॥
पार ब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवांन ॥ ३ ॥

जब यह ज्योति सामने आती है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक सूर्य नहीं अनेक सूर्यों की सेना ही सेना दिखाई दे रही है। यह ज्योति अद्भुत कौतुकमयी है। इसके सामने सूर्य और चन्द्र का प्रकाश फीका पड़ जाता है। परब्रह्म के तेज का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वह कथन का नहीं, दर्शन या साक्षात्कार का विषय है। जिस साधक ने अपने मन को इस तेज में, प्रभु के इस ज्योतिर्मय रूप में, स्थिर कर दिया, वह संसारसागर से पार हो गया[1]।

जिन भक्तों, साधकों, मुनियों और ऋषियों ने इस ज्योति के दर्शन किये हैं, उन सब ने प्रायः इसी प्रकार का कथन किया है। मुंडक उपनिषद् का ऋषि कहता है :

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १०॥
- (द्वितीय मुंडक, द्वितीय खंड)

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में यही कहते हैं :

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥ ११-१२॥

इस निष्कल, अविभक्त, विरजा, शुभ्र ज्योति के दर्शन आत्मज्ञानी ही कर पाते हैं। जिसे आत्मज्ञान नहीं, जिसने अपने स्वरूप को नहीं समझा, वह इस परा ज्योति के दर्शन कैसे कर सकता है?

नाम :

श्रुति भगवती वाणी को नित्य और विरूपा अर्थात् विविधरूपा कहती है। वैखरी वाणी की यह विविधता अनेक नामों का सृजन करती है। जब विश्व ही विविध दृश्यात्मक है, तो इन अनेक दृश्यों के अनेक नाम होने ही चाहिये। प्राणी भी नाना योनियों में विकास के विभिन्न स्तरों पर अपने मनोनुकूल कार्यों में संलग्न हैं। जो जिस स्तर पर है, वह उसी के आधार पर अपने प्रभु को किसी नामविशेष से पुकारता है। यह पुकार शाश्वत है। इससे आत्मा को बड़ा बल मिलता है।

वेद कहता है : 'अभिमाति को दबाने के लिये उस शतक्रतु, अनन्त-पराक्रम,

---

१ जोति माहिं जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्राणी तिरै॥ ३२८ पृष्ठ १९९

यज्ञ-स्वरूप, परम पावन प्रभु के नामों का जाप करना चाहिये[1]। प्रभु के नाम एक नहीं, अनेक हैं। किसी भी नाम से उसे भजो, यह भजन ही आत्मा को पापपाशों से पृथक् करके उसे पवित्रता की ओर ले जायगा।

वैदिक ऋषियों ने स्वयं प्रभु को अनेक नाम दिये हैं। इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, यम आदि विभिन्न नामों द्वारा उसी एक प्रभु का बोध होता है। इन सब नामों में ओ३म् की प्रधानता है। ओ३म् समस्त शब्द-राशि का मूलस्रोत है, निखिल वाङ्मय का आधार है, समग्र वाणी-विलास की आदि लीला-भूमि है। आचार्यों के शब्दों में यह परम प्रभु का प्रथम धाम, प्रथम नाम, प्रथम प्रकाश है। ऋषियों ने इसे प्रणव कहा है। वे इसी प्रणव, सतत अभिनव, सदैव सद्यः नाम का जाप करके क्षीण-दोष एवं विगत-कल्मष बने थे।

ऋषियों ने अनुभव किया, जहां विभूति है, श्री है, ऊर्जित अवस्था है, वहां मानों प्रभु की ही ज्योति जगमगा रही है। प्रभु के ये ज्योतिर्मय रूप सामान्य जन के निकट भी हैं। प्रभु के प्रथम धाम तक सब प्राणियों की पहुंच नहीं हो पाती। अतः उन्होंने इस अनुभूति के आधार पर परिस्थिति और पात्रविशेष की दशा को देखते हुए प्रभु के अनेक नामों की कल्पना की। जिसे ऋषि ओ३म् नाम से स्मरण करते थे, उसे ही विविध देशों और विविध कालों में विविध प्राणियों के द्वारा जिन, अर्हत, तथागत, शंकर, राम, कृष्ण, गोविन्द, खुदा, अल्ला, गौड, लौर्ड आदि अनेक नामों द्वारा स्मरण किया गया।

प्रभु के सब नाम पुल्लिंग ही हों, ऐसी बात नहीं है। ओ३म् में उमा छिपी पड़ी है। शक्तिमान् के साथ उसकी शक्ति सदैव संयुक्त रहती है। उमा से संयुक्त ओ३म् ही तो सोम है, जिसकी पवित्र धारायें पवित्र अन्तःकरणों में सदैव बरसती रहती हैं। अतः साधक कभी प्रभु का नाम स्मरण करते हैं और कभी उसकी शक्ति के स्तवन में मग्न हो जाते हैं। जो शक्ति और शक्तिमान् है, वही प्रकृति और पुरुष है, उमा और शिव है, माया और ब्रह्म है, श्री और विष्णु है, लक्ष्मी और नारायण है, सीता और राम है, राधा और कृष्ण है। सन्तों, भक्तों, कवियों तथा आचार्यों ने इस तथ्य को समझने और समझाने में कहीं भी सन्देह के लिये अवसर नहीं रहने दिया है। साहित्य में इसी हेतु कहीं दुर्गा की वन्दना है, सरस्वती की उपासना है, राधा की आराधना है,

---

१. ऋ० ३-३७-३

सीता की स्तुति है और साथ ही राम-नाम का जाप है, कृष्ण का कीर्तन है, शिव की अर्चना है।

हिन्दी के भक्तिकाल के आते-आते प्रभु के इन विविध नामों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सारग्राही, तत्त्वदर्शी, सन्त कबीर ने इन नामों को अपना लिया। वे अपने प्रभु को अपनी 'वाणी' में इन्हीं विभिन्न नामों से पुकारते हैं। वे उसे माँ भी कहते हैं, बाप भी कहते हैं और कभी कभी दोस्त भी कह देते हैं। राम उनका सब से अधिक प्यारा नाम है। उन्हें अपने गुरु से इसी नाम की दीक्षा मिली थी। अल्लाह का नाम लेंगे, तो उसके साथ भी वे राम का नाम जोड़ देंगे। राम का नाम उन्होंने बार बार लिया है। अन्य नाम भी उनकी वाणी में निःसंकोच भाव से प्रयुक्त हुये हैं, जैसे केशव, कृष्ण, विष्णु इत्यादि, पर जितना अधिक राम नाम का प्रयोग है, उतना अन्य किसी भी नाम का नहीं। एक हरि नाम अवश्य ऐसा है, जिसका राम नाम के समान ही बाहुल्य से प्रयोग हुआ है और जो उन पर पड़े हुए वैष्णव भक्ति के प्रभाव की सूचना देता है।

नाम की महत्ता यही है कि वह साधक को विशिष्ट-भावापन्न बनाता हुआ उसे नामी की ओर ले चले। अतः नामविशेष का महत्त्व भी साधना में स्वीकृत हुआ है। फिर भी नाम केवल नाम है और भाव की अपेक्षा गौण है। कबीर ने राम नाम को महत्त्व अवश्य दिया है, पर अन्य अनेक नामों द्वारा भी उन्होंने अपने प्रभु को स्मरण किया है। ऐसा करने में उनका ध्यान भाव पर रहा है, नामी पर केन्द्रित हुआ है, नाम पर नहीं। नीचे हम उन नामों का उल्लेख करेंगे, जो कबीरग्रन्थावली के विविध स्थलों पर पाये जाते हैं :

ओ३म् :

ओ ओंकार आदि में जाना। लिखि और मेटै ताहि न माना।
ओ ओंकार लखै जो कोई। सोई लखि मेटणा न होई॥

पृ० ३१० पद १५१

ओंकार आदि है मूला। राजा परजा एकहि सूला॥ पृ. २१३ चौपदी रमैणी
ओंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाइ॥ पृ० १२६, पद १२१

राम :

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ॥ पृ० ८, दोहा ६

पपीहा ज्यूं पिव-पिव करूं, कब रे मिलहुगे राम ॥ पृ० ९, दोहा २४

या जोगिया की जुगति जु बूझै, रांम रमैं ताकौं त्रिभुवन सूझै ॥

पृ० १५८, पद २०५

रांम नांम रंग लागौं, कुरंग न होई । हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥

पृ० १६१, पद २१५

है कोई रांम नांम बतावै । वस्त अगोचर मोहि लखावै ॥ पृ.१६२ पद २१८

विशेष रूप से द्रष्टव्य पृष्ठ ८ दोहा ७,८,११,१२ । पृ० ७ दोहा ३ (विरह कौ अंग), पृ० ७ दोहा २५, २६, २८, ३०, ३१ । पृ० ९ दोहा २२ । पद १, ३, ११५ से १३२ तक, ३९९ आदि २

कृष्ण :

कृसन कृपाल कबीर कहि हम प्रतिपालन क्यों करै ॥ पृ० ५७ छंद १

विष्णु सोई जाकौ बिस्तार । सोई कृस्न जिनि कीयौ संसार ॥

पृ० १९९ पद ३२७

विष्णु :

विष्णु ध्यान सनान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे ॥ पृ० २१८ पद ३९१

परब्रह्म :

पार ब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ॥ पृ० १२, दोहा ३

पार ब्रह्म देख्या हो तत बाड़ी फूली । पृ० १६० पद २१४

उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं सो सतगुरु हमारा । पृ० १४५ पद १७०

घटि वधि कहीं न देखिये, ब्रह्म रहा भरपूरि । पृ० ८१—५ दोहा (५३)

तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीस । पृ० ८१—४ दोहा (५२)

साईं :

और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ॥ पृ० ९ दोहा २०

साईं अपणैं कारणैं, रोइ-रोइ रतड़ियां ॥ पृ० ९ दोहा २५

भगवान् :

काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान् ॥ पृ० १० दोहा ३०

मन मसीति मैं किनहूं न जानां, पंच पीर मालिम भगवानां ॥

पृ० १७५ पद २५६

हरि :

कहौ संतौ क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार । पृ० ७ दोहा २७

अहनिसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुर्लभ जोग ॥ पृ० ७ दोहा १८

द्रष्टव्यः पृ० ७ दोहा २९, ३०, ३२, पृ० ८ दोहा ९ । पृ० ९ दोहा २९ ।
पृ० १० दोहा ३०, ३३ । पृ० ११ दोहा ४१

पदावली पद सं० १४७, १४८, १४९, १५८, ३८०, ३८१, ३९७ आदि ।

गोविन्द :

गोब्यंद के गुण बहुत हैं, लिखै जु हिरदै मांहि ॥ पृ० ७९ दोहा ७

जिनि पै गोविन्द बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥ पृ० ७ दोहा २

गोपाल :

प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे । पृ० २१७ पद ३९०

आई तलब गोपाल राइ की मैंडी मंदिर छांडि चल्यो ॥

पृ० १७० पद २४३

केशव :

कलंक उतारौ केसवा भांनौ भरम अँदेस ॥ पृ० ८५ दोहा ४

कैसौ कहि-कहि कूकिये, ना सोइयै असरार ॥ पृ० ६ दोहा १६

कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल बियापी ।

तुम समान दाता नहीं, हम से नहीं पापी ॥ पृ० १४८ पद १७८

कमलाकन्त :

चमकै बिजुरी तार अनंत । तहां प्रभु बैठे कंवलाकंत ॥

पृष्ठ १९९ पद ३२८

दान एक मांगौं कंवलाकंत । कबीर के दुख हरन अनंत ॥

पृष्ठ १२३ पद ११०

कृष्ण, मदनमनोहर, हरि :

त्रिकुटी भई कान्ह कै कारणि, भ्रंमि भ्रंमि तीरथ कीन्हां हो ।

सो पद देहु मोहि मदन मनोहर, जिहि पदि हरि मैं चीन्हां हो ॥

पृष्ठ ११२ पद ७७

बीठुला, श्रीरंग, बनवारी :

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे ॥

× × ×

अष्ट कंवल दल भीतरा, तहा श्रीरंग केलि कराइ रे ॥

× × ×

षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री बनवारि रे ॥ पृष्ठ ८८ पद ४

दामोदर :

तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ हारी । पृ० ५३, पद १९१

गोकुलनायक, बीठुला, नरहरि, शार्ङ्गधर, श्रीरंग : =

गोकुल नाइक बीठुला, मेरो मन लागौ तोहि रे ।

× × ×

इहिं पद नरहरि भेंटिये, छाडि कपट अभिमान रे ।

× × ×

रसनां रसहि बिचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे । पृ० ८८, ८९, पद ५

शालिग्राम :

सेवैं सालिगराम कूं, मन की भ्रांति न जाइ । पृ० ४४, दो० ६

गोपीनाथ :

एक निसप्रेमी निरधार का, गाहक गोपीनाथ । पृ० ४७, दो० २२

चतुर्भुज :

रे जन मन माधव स्यौं लाइये, चतुराई न चतुर्भुज पाइये ।

पृ० २८०, पद ५२

मुकुन्द, नारायण :

मन मुकुन्द जिह्वा नारायन परे न जम की फांसीं । पृ० २६४, पद ३

माधव :

माधौ कब करिहौ दाया । पृ० १९२, पद ३०८

माधौ दारन दुख सह्यौ न जाई । पृ० २१४, पद ३८४

नारायण :

तायें सेविये नाराइणां, प्रभू मेरौ दीनदयाल दया करणां ।

पृष्ठ १७१, पद २४८

जगन्नाथ :

कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल में राखै जगनाथ।

पृ० २०३, पद ३४१

कहै कबीर जगनाथ भजहु रे, जन्म अकारथ जाइ। पृ० १९५, पद ३१५

विष्णु, नारायण, गोविन्द, मुकुन्द :

मेरी जिभ्या बिस्न, नैन नारांइन, हिरदै जपौं गोबिन्दा

जम दुवार जब लेखा मांग्या, तब का किहिस मुकुन्दा।

पृ० १७३, पद २५०

जब यम-द्वार पर लेखा मांगा जायगा, तब मुकुन्द कहकर क्या कर लोगे ? मेरी जिह्वा पर तो अभी से विष्णु, नेत्रों में नारायण और हृदय में गोविन्द वास करते हैं।

मुरारी :

कहत कबीर हमको दुख भारी, बिन दरसन क्यों जीवहि मुरारी।

पृ० १८५, पद २८७

कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी। पृ० १७९, पद २६६

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि। पृ० ५, पद ११

कहै कबीर भजि चरन मुरारी। पृ० १२७, पद १२२

बनवारी, राम, नरहरि, माधव, मधुसूदन :

राम ऐसी हौं जानि जपौ नरहरी, माधव मधुसूदन बनवारी।

पृ० २१२, पद ३७४

पंचानन, श्रीमुरारि :

तू करी डर क्यूं न गुहारि। तू बिन पंचानंनि श्रीमुरारि॥ पृ० १५, ३८५

शार्ङ्गपाणि :

जब लग दीन पढ़े नहिं बाणीं। तब लग भज मन सारङ्गपाणीं॥

पृ० ३०५, पद ३४८

कहै कबीर संसा गया, मिले सारंगपानि। पृ० १३८, पद १५४

कहै कबीर भज सारंगपानी, नहिं तर ह्वैहै खैंचातानी।

पृ० ११७, पद ९१

पुरुष :

कहै कबीर हमें व्याहि चले है पुरिष एक अविनासी। पद १, पृ० ८७

पुरुषोत्तम :

आनंदमूल सदा परसोतम, घट बिनसे गगन न जाई लै ।

पृ० १८७, पद २१२

बिल रे जानि परणउं परसोतम, कहि कबीर रंगि राता ।

पृ० १३८, पद १५२

अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी । पृ० १४२, पद १६५

निरंजन :

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दहूँ नहिं नेरा ।

× × ×

कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूं मन लागा ।

पृ० २०२, पद ३३८

जामैं मरै न संकुटि आवै, नांव निरंजन जाकौ रे । पृ० १०२, पद४८

अल्ला :

अल्ला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा । पृ० १०४, पद ५१

कबीर पंगुडा अलह राम का, हरिगुर पीर हमारा । पृ० १७६, पद २५९

अलह ल्यौं लायें काहे न रहिये, अहनिसि केवल रांम नांम कहिये ।

पृ० १७५, पद २५६

रहीम :

दिल ही खोजि दिले दिल भींतरि, इहां रांम रहिमानां ।

पृ० १७६, पद २५९

थाहत थाह न पावई, तूँ पूरा रहिमांन । पृ० १७, दो० २

काबा फिरि कासी भया, राम भया रहीम ।

पृ० ५४, पद १०। लांबि कौ अंग ।

खुदा :

जोरी कीयां जुलम है, मागै न्याव खुदाइ । पृ० ४३, दो० ९

जिनकी दिल स्यावति नहीं, तिनकहँ कहा खुदाइ । पृ० ४३,दो० ११

मुसलमान कहै एकै खुदाइ । कबीरा कौ स्वामीं घटि घटि रह्यो समाइ ॥

पृ० २००, पद ३३०

साहिब :

संपटि मांहि समाइया, सो साहिब नहिं होइ।
सकल मांड में रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ॥ पृ० ६०, दो० १
सिर साहिब कौं सौंपना, सोच न कीजै सूरि। पृ० ६९, दो० ११
साहिब सूं परचा नहीं, ऐ जांहिगे किस ठौर। पृ० ६१, दो० ४

दयाल :

दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौडि। पृ० १६, दो० ४८

कर्तार :

जम राणौ गढ भेलिसी, सुमिरि लै करतार। पृ० २१, दो० ७

करीम :

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ। पृ० ५८, दो० ७

कबीरग्रन्थावली से ईश्वर के जो नाम ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनमें से अधिकांश नाम वही हैं, जो भागवत भक्ति वालों को भी मान्य हैं। वैष्णव धर्म ने भारत भूमि में अपने लिये जो मान्य स्थान बना लिया था, उसी का यह प्रभाव है। मुसलमानों के केवल कुछ ही नाम, और वे भी कुछ थोड़े से स्थानों पर ही आए हैं। जो विद्वान् कबीर को किसी मुसलमान शेख या पीर का शिष्य मानते हैं, उन्हें इन नामों को देख कर अपना मत-परिवर्तन करना पड़ेगा। कबीर की रचनाओं में हिन्दुत्व भरा पड़ा है। इससे केवल एक ही निष्कर्ष निकल सकता है कि कबीर भले ही मुसलिम-दम्पति,. नीमा और नीरू, के पोषित पुत्र हों, वे औरस पुत्र किसी उच्च कोटि के संस्कार-सम्पन्न हिन्दू-दम्पति के ही थे और जो किंवदन्ती उन्हें स्वामी रामानन्द के द्वारा आशीर्वाद तथा वरदानप्राप्त विधवा ब्राह्मणी की सन्तान कहती है, वह बहुत कुछ तथ्य के निकट है।

गुण :

सगुण तथा निर्गुण सत्ताओं की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। हमारी सम्मति में प्रत्येक सत्ता सगुण तथा निर्गुण हो सकती है। वह स्वीय गुणों के कारण सगुण तथा परकीय गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण कहलाती है। कबीर ने इसीलिए लिखा है : 'गुंण में निरगुंण निरगुंण में गुंण है, बाट छांडी क्यूं बहियें, (पृष्ठ १४९ पद १८०)। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि

एक ही सत्ता के कुछ गुण अपने होते हैं और कुछ गुण दूसरी सत्ताओं के सम्बन्ध से उस पर आरोपित किये जाते हैं। अपने गुणों को निरपेक्ष और दूसरों से सम्बन्धित गुणों को सापेक्ष कहा जा सकता है। इन गुणों के सम्बन्ध में कबीरग्रन्थावली के निम्नाङ्कित उद्धरण पर्याप्त होंगे :

निरपेक्ष गुण :

'यो है तैसा वोही जानैं, ओही आहि आहि नहीं आनैं। २४१। १४
अविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम। पृ० २४१, पंक्ति १
आनन्द मूल सदा परसोतम। पृ० १८७, पद २९२
सुखसागर गुन रवैं कबीर। पृ० २७१, पद २२
ते तौ आहि अनंद सरूपा। पृ० २२५, पंक्ति ३
कब मरिहूं कब देखिहूं पूरन परमानंद। पृ० ६९, दोहा १२

इन पंक्तियों से सिद्ध होता है कि प्रभु है, वह ज्ञानरूप है और वह आनन्दस्वरूप है। वैदिक भक्ति पर प्रकाश डालते हुए हमने इन्हीं गुणों को प्रभु के निरपेक्ष गुण कहा है। जब हम ईश्वर के गुणों की बात करते हैं, तब हमारी यह भी निश्चित धारणा रहती है कि प्रभु में अवगुण एक भी नहीं है। कबीर के शब्दों में 'करता केरे बहुत गुण औगुंण कोई नाहिं'। पृ० ८५ का प्रथम दोहा नं० ३

सापेक्ष गुण—जगत् की दृष्टि से :

सृष्टि का रचयिता, पालयिता और संहर्ता—

भांनण घड़ण संवारण संम्रथ, ज्यूं राखै त्यूं रहिये ॥ पृ० ९९, पद ३४
कहै कबीर सुनहु रे कोई, भांनण घड़ण, संवारण सोई ॥ पद २७३, पृ० १८१

जगत् की दृष्टि से ईश्वर सृष्टि का रचयिता, पालक और संहारक है। इन तीन गुणों के आधार पर 'रजगुन ब्रह्मा, तमगुन संकर, सतगुन हरि है सोई' (पद ५७) वह ब्रह्मा, विष्णु (हरि) और शंकर कहलाता है।

हिन्दु तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ॥ पद ५८
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा ॥ पद ५५
माटी एक सकल संसारा, बहु विधि भांडे घड़ै कुंभारा ॥ पद ५३

ईश्वर सृष्टिरूपी चित्र का चित्रकार और इस महल का बनाने वाला चिजारा, राज या कारीगर है :

अंबरि दीसै केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरन हारा ॥

पद १४१, पृष्ठ १३३

कबीर मंदिर ढहि पड़्या, सैंट भई सैवार।

कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार ॥ पृ० २२, दो० १७

यही प्रभु समस्त लोकों, योनियों और मानव शरीरों का निर्माता है।

जीव की दृष्टि से :

कर्म-फल-प्रदाता

जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा रांम नियाई ॥

× × ×

जैसी कहै करै जो तैसी, तौ तिरत न लागै बारा।

कहता कहि गया सुनता सुंणि गया, करणीं कठिन अपारा ॥ पद २००

× × ×

कूड़ी करणी रांम न पावै, सांच टिकै निज रूप दिखावै ॥ पद २०१

निसि अंधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद।

अति आतुर उदै किया, तऊ दिष्टि नहीं मंद ॥ पृ० २, दो० १८

नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि।

जल ही मांहैं जलि मुई, पूरब जनम लिखेणि ॥ पृ० ३४, दोहा २२

पृष्ठ ४१ पर दोहा २१ और २२ में 'को आगिला अभाग' तथा 'को पूरिबला पाप' में भी पूर्वजन्म का वर्णन है। इनके अतिरिक्त पृष्ठ ३३ दोहा १० और १२ में 'कछू पूरबला लेख' और 'कछु पूरब जनम का लेख' में भी पूर्व जन्म का वर्णन है।

सांई मेरा बाणियां, सहजि करै व्यौपार।

बिन डांडी बिन पालड़ै, तौले सब संसार ॥ पृ० ६२ दो० ८

कहै कबीर सुनहु रे संतों, करि ल्यौ जे कछु करणां।

लख चौरासी जोनि फिरौगे, बिनां रांम की सरनां ॥

पद २४४, पृ० १७१

जीव को कर्म करने का तो अधिकार है, पर कर्म-फल-प्राप्ति में वह ईश्वर के अधीन है। वह जो कुछ करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता

है। इस फल को भोगने के लिये ईश्वर ने विविध लोक और विविध योनियों की रचना की है। भारतीय परम्परा ८४ लाख योनियों की कल्पना करती है, जिनका नाम कबीर ने ऊपर उद्धृत पंक्तियों में लिया है। कबीर इन्हें भांडे (भाण्ड = पात्र = बर्तन या शरीर) भी कहते हैं। ये शरीर जीव के कर्मों के फल हैं, जो उन्हें ईश्वर के न्याय-विधान के अनुसार प्राप्त होते हैं। ईश्वर कर्मफल देने के सम्बन्ध में ऐसा समर्थ है कि वह सबका साक्षी बना हुआ, सब के कर्मों को तौल कर फल देता है, जिसमें 'मासा घटै न रत्ती बढ़ै' वाली कहावत ज्यों की त्यों चरितार्थ होती[1] है। इस कार्य में उसका न्याय और दया दोनों सम्मिलित रहते हैं। जीव कर्मफल के भोग से बच नहीं सकता। प्राक्तन कर्मों का विपाक उसके साथ वहाँ भी लगा रहता है, जहाँ वह अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। अन्य दार्शनिकों और कवियों की भाँति कबीर का भी मत है कि यदि मनुष्य कथनी और करनी को एक कर ले, तो कर्म-जाल से मुक्त हो सकता है। वचन और कर्म भी सत् होने चाहिये, असत् नहीं। 'कूड़ी करणी' अर्थात् कुत्सित कर्म जीव को राम से पृथक् करने वाले हैं। वैदिक ऋषि के शब्दों में असत् से सत् और तम से ज्योति की ओर प्रयाण ही जीव को मृत्यु अर्थात् आवागमन के चक्र से निकाल कर अमृत अवस्था की ओर ले जाता है।

सर्वशक्तिमान् :

साईं सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नांहिं।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहिं॥ पृ० ६२ दोहा १२

जिसहि न कोई तिसहि तूं, जिस तूं तिस सब कोइ।
दरिगह तेरी साइयां, नांम हरू मन होइ॥ पृ० ६१, दोहा ३

च्यंता न करि, अच्यंत रह, साईं है संम्रथ।
पसु पंपेरू जीव जंत, तिनकी किसा गरंथ॥ पृ० ५८ दोहा ९

सर्वव्यापक :

सो मन सो तन सो विषै, सो त्रिभवन पति कहूँ कस।
कहै कबीर व्यंदहु नरा, ज्यूं जल पूर्‌या सकल रस॥ पृ० ५६ दोहा ९

× × ×

नाति सरूप बरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई॥ पद १८०

× × ×

१. मासा घटै न तिल बढ़ै, जौ कोटिक करै उपाइ॥ पृ० ५८ दोहा ७

तुरक मसीति देहुरै हिन्दू दुहुँठां राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाहीं तहां काकी ठकुराई॥
अरध उरध दसहूँ दिसि जित तित पूरि रह्या राम राई॥

पृ० १०१, पद ५८

त्रिभुवननाथ :

मिलियैं त्रिभवननाथ सूं, निरभै होइ रहीये॥ पृ० २१२, पद ३७३

× × ×

कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रह्या भर पूरि॥

पृ० १०५, पद ५३

जगदीश :

जोति बिना जगदीश की, जगत उलंघ्या जाइ। पृ० ७७ दोहा ४

दयालु :

मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाइ।

पृ० १९० पद ३१८

भक्तवत्सल-दयालु :

तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर भगतवछल भौ-हारी॥ पृ० १५३ पद १९१

अनादि अनन्त :

सेइ मन समझि समर्थ सरणांगता, जाकी आदि अंति मधि कोई न पावै॥

पृ० १५५ पद १९९

× × ×

ताके आदि अरु अन्त न होई॥ पृ० १४९ पद १८०

अजर-अमर, अलख :

अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई॥ पृ० १४९ पद १८०

पिंड और ब्रह्माण्ड से भी परे :

प्यंड ब्रह्मांड छाँड़ि जे कथिये,
कहै कबीर हरि सोई॥ पृ० १४९ पद १८०

अगोचर :

नैनां बैन अगोचरी श्रवनां करनीं सार। पृ० २३१

× × ×

है कोई राम नाम बतावै, वस्त अगोचर मोहि लखावै ॥
पृ० १६२ पद २१८

अभय :

संतो से अनभै पद गहिये।
कला अतीत आदि निधि निरमल, ताकूं सदा विचारत रहिये ॥
पृ० १३९ पद १५७

× × ×

चीन्हत चीत निरंजन लाया, कहु कबीर तौ अनभै पाया ॥
पृ० २८१ पद ५८

राजा :

कोऊ हरि समान नहिं राजा।
ऐ भूपति सब दिवस चारि के झूठे करत दिवाजा ॥ पृ० २७८ पद ४७
काहे न मिलौ राजा राम गुसाई। पृ० १२५ पद ११७

ठाकुर :

दास कबीर को ठाकुर ऐसो, भगत की सरन उबारै ॥ पृ० ११७ पद १२२

भूख-प्यासरहित :

भूख त्रिषा गुंण वाकै नाहीं,
घट घट अंतरि सोई ॥ पृ० १६२ पद २२० ॥
भूख न त्रिषा, धूप नहीं छाहीं ॥
सुख-दुख रहित, रहै सब मांहीं ॥ पृ० २४० (बारहपदी रमैंणीं)

सुख-दुखरहित :

कबीर सायी सो किया,
जाकै सुख दुख नहीं कोई।
हिलि मिलि ह्वै करि खेलि स्यूं,
कदे बिछोह न होई ॥ ८६-१ (अबिहड़ कौ अङ्ग)

अभङ्ग, अखंड, एक रस :

आदि मधि अरु अंत लौं अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग ॥
८६-३ (अबिहड़ कौ अंग)

अविनाशी :

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह विनसि, रहैगा सोई ॥ १०३ ॥

कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहै राम अविनासी रे ॥ ३६६ ॥

ऊपर प्रभु के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, वे हम जीवों की अपेक्षा से हैं। प्रभु राजा है, ठाकुर है, तो हम सब उसकी प्रजा हैं, सेवक हैं। हम जन्ममरण के आविर्भाव-तिरोभाव के चक्र में पड़ते हैं, वह जन्म और मृत्यु दोनों से विहीन है। हमें भय लगता है, वह निर्भय है। हम भक्त हैं, वह भक्त-वत्सल है। हम शरीर धारण करते हैं, वह अशरीरी है। हमें भूख-प्यास लगती है, वह इनसे रहित है। हम व्याप्य हैं, वह व्यापक है। हम अल्प शक्ति वाले हैं, वह सर्वशक्तिमान् है। जहां तक पिंड और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध है, वह इन सब में ओतप्रोत है, पर वह इतना ही नहीं है। ये विशाल हैं, पर इयत्ता वाले हैं। वह इयत्ता या सीमा के बंधनों से परे है। अतः पिंड और ब्रह्माण्ड भी जहां नहीं हैं, वह वहाँ पर भी है। वह देश और काल दोनों को अतिक्रान्त करके विद्यमान है। यहां की अवस्था सुख-दुखमिश्रित है। वह सुख और दुख दोनों से रहित है। हमें माता-पिता उत्पन्न करते हैं और हमारे भी सन्तान होती है। ईश्वर की न कोई माँ है, न कोई सन्तति और न कोई पिता। न उसे किसी ने उत्पन्न किया है और न वह किसी को उत्पन्न करता है।[1] इस प्रकार के सभी सम्बन्धों से वह शून्य है। नेत्र, वाणी, श्रवण आदि सभी इन्द्रियों के विषयों से वह पृथक् है। जब उसका कोई ग्राम, खेड़ा या स्थान ही नहीं, रूप, रेखा, या वर्ण ही नहीं, तो उसके गुणों का वर्णन हो ही कैसे सकता है? वह हमारी भाँति बालक, युवा या वृद्ध भी नहीं[2] बनता। यों वह सतत बालक है, सतत तरुण है, सतत वृद्ध है। उसके समान कोई निष्पाप नहीं, कोई शक्तिशाली नहीं और कोई प्राचीन भी नहीं है।

अद्वैत :

प्रभु है, वह ज्ञानी है और आनन्दी है। प्रभु के ये तीन अपने स्वाभाविक

१. माय न बाप आव नहीं जावा। ना बहु जण्यां न को वहि जावा ॥
पृ० २४१ पंक्ति १२

२. जाकर गांउ न ठांव न खेरा, कैसैं गुन बरनूं मैं तेरा ॥
नहीं तहाँ रूप रेख गुंन बांनां,......नहीं सो ब्वांन, न बिरध न बारा ॥
पृष्ठ २४२ पंक्ति ५-६-७

गुण हैं। त्रैतवादी इनमें भी व्यतिरेक करते हैं। उनके मतानुसार है अर्थात् सत्ता या अस्तित्व का गुण ईश्वर के साथ जीव और प्रकृति का भी है। इसी प्रकार ज्ञानी गुण जीव और ईश्वर दोनों में पाया जाता है। केवल आनन्दी गुण ऐसा है, जिसे हम ईश्वर का मौलिक गुण कह सकते हैं और जो जीव या प्रकृति किसी में भी नहीं पाया जाता। अद्वैतवादी ऐसी धारणा नहीं रखते। उनका मत है कि ये तीनों ही गुण ईश्वर के अपने और मौलिक हैं। उस परम तत्त्व को वे ईश्वर भी नहीं, ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त, उनके मत में, जीव या प्रकृति किसी का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कबीर भी स्थान-स्थान पर इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जैसे पानी हिम का सघन रूप धारण करता है और हिम पिघल कर पुनः पानी बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् और जीव रूप में भासित होता है, प्रलयावस्था में जगत् और जीव पुनः ब्रह्ममय हो जाते हैं। जैसे जल से तरङ्ग और तरङ्ग से जल पृथक् नहीं है, अग्नि से चिनगारी और चिनगारी से अग्नि कोई अपर वस्तु नहीं है, कनक और कुण्डल दोनों एक ही तत्त्व के दो अलग-अलग नाम मात्र हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है। व्यवहार में ये दो भिन्न-भिन्न सत्ताओं के नाम जान पड़ते हैं, वस्तुतः तत्त्व एक ही है। भक्तिपक्ष में कबीर ने अद्वैत भावना के साधन और सिद्धि दो रूप स्वीकार किये हैं। इनका विवेचन आगे किया जायगा। ईश्वर अद्वैत है, इसके प्रतिपादन में कबीर ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव, जल-तरङ्ग-न्याय, कनक-कुण्डल-न्याय आदि का सहारा लिया है। उनका मत है कि जगत् और जीव के रूप में मानों ब्रह्म ही क्रीड़ा कर रहा है, खेल खेल रहा[1] है। न कोई यहाँ मरता है, न पैदा होता है, न स्वर्ग है, न नरक। यह सब उस प्रभु का खेल है। जैसे घड़े के अन्दर और बाहर जल है, घड़े के फूटते ही जल जल में समा जाता है, वैसे ही क्रीडारूप कर्मजाल के समाप्त होते ही एक तत्त्व अवशिष्ट रह[2] जाता है। यह परम तत्त्व न कहीं आता है, न कहीं जाता है। वह तो सर्वत्र रमा हुआ है। वही तो मैं हूँ, फिर कैसा आवागमन और जनन-मरण? कैसा इस्लाम और हिन्दूपन? कहाँ का बैकुण्ठ और बिहिश्त? कैसा पुरुषत्व और नारीत्व? कैसा गुरुत्व और कैसा शिष्यत्व?

१. इनमें आप आप सबहिन मैं आप आप सूं खेलै॥ पृ० १५१, पद १८६॥
२. मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं, आपै अकल सकल घट माहीं॥ पृ० १५७, पद २०३॥

कैसा मन्त्र और मन्त्रदाता? कैसा पूज्य और पुजारी? कैसा वादक और गायक? कैसी जात और पूजा की सामग्री? ये सब भेद तभी तक भासित होते हैं, जब तक अद्वैत स्थिति तक पहुँच नहीं होती।[1]

भक्ति : कबीर प्रमुख रूप से भक्त हैं। भक्ति-भक्त-भगवन्त और इन तीनों की ओर ले जाने वाले गुरु का उन्होंने मुक्त-कण्ठ से यशोगान किया है। कबीरग्रन्थावली के पृ० १,२ और ३ पर गुरु के महत्व का, दैन्यगलित किन्तु अतीव ओजस्विनी वाणी में, प्रतिपादन किया गया है। कबीर को सद्गुरु से बढ़ कर अपना कोई सगा सम्बन्धी दिखाई नहीं देता। सद्गुरु अपने शिष्य को मनुष्य से देवता बना देता है। वह हृदय की आँख खोल कर शिष्य को उस अनन्त जग-कन्त के दर्शन कराता है, जिससे बढ़ कर इस संसार में अन्य कुछ भी दर्शनीय नहीं है। गुरु के इस अनन्त उपकार का बदला शिष्य भला क्या चुका सकेगा? इसी हेतु कबीर को गोविन्द और गोविन्द को बता देने वाले गुरु में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। सद्गुरु की प्राप्ति को वे भगवत्कृपा का ही प्रसाद समझते हैं।

अन्धकार में भटकते हुए शिष्य के हाथ में गुरु ज्ञान और भक्ति का दीपक देकर मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। कबीर ज्ञान के महत्व को भी स्वीकार करते हैं, पर भक्ति जैसे उनके जीवन का प्राण है। मन, वचन और कर्म से भगवान् के सतत स्मरण और भजन में ही उन्हें सुख मिलता है। अन्य समस्त कार्य उन्हें जंजाल तथा दुखरूप प्रतीत होते हैं।[2] भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त होती है। अतः समस्त संशयों का परित्याग करके मानव को भगवान् के राम नाम का गुण-गान

---

१ नाद बिंद रंक इक खेला, आपैं गुरु, आप ही चेला॥
आपै मंत्र आप मत्रेता, आपैं पूजै आप पुजेता॥
आपैं गावै आप बजावै, अपना कीया आप ही पावै॥
आपैं धूप दीप आरती, अपनी आप लगावैं जाती॥ पृ० २४२ बारहपदी रमैणी का अन्त।

आऊँगा न जाऊँगा, मरूगा, न जाऊंगा। गुरु के सबद मैं रमि रमि रहूगा॥
आप कटोरा आपैं थारी। आपैं पुरिखा आपै नारी॥
आप सदाफल आपै नींबू, आपै मुसलमान आपै हिन्दू॥ पृ० २००, पद ३३१

२. भगति भजन हरिनांम है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमना कबीर सुमिरण सार॥ पृ० ५, दो० ४

करते हुये उनके चरण-कमलों में अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित कर देना[1] चाहिये।

भक्तिपथ में भी कबीर को अनेक पाखंडी दिखाई दिये। नाना प्रकार से नाना भावों का प्रदर्शन करने[2] वाले, स्वल्प भक्ति पर पूर्ण भक्त होने का दंभ रखने वाले[3] और ऊँचा मुख करके कीर्तन करने का ढोंग [4]भरने वाले व्यक्ति कबीर की दृष्टि में कभी ऊँचे नहीं उठे। उन्होंने सदैव ऐसे व्यक्तियों का तिरस्कार किया। जिसका हृदय भगवद्भक्ति में नहीं लगा, वह क्या वाह्या-डम्बरों का प्रदर्शन करके भक्त बन सकता है? भक्तिपथ पर चलते हुए साधक यदि किसी प्रकार की कामना अपने अन्दर रखता है, तो उसकी भक्ति कबीर की दृष्टि में निष्फल है। निष्काम परम देव सकाम भक्ति से कभी प्राप्त नहीं हो सकते। कामना[5] एक प्रकार का मद है। ऐसे मद से मत्त मनरूपी मातंग भक्ति के उस द्वार में कैसे प्रवेश कर सकता है, जो राई के दशम भाग से भी अधिक सँकरा है।[6] भक्तिपथ पर चलना कायर का नहीं, वीर का काम है, जो शिर को हथेली पर रखकर हरि-नाम में अनुरक्त होता है। भक्ति अग्नि की ज्वाला के समान दुखद है। जो इस ज्वाला में कूद पड़ते हैं, वे बच जाते हैं, पर बाहर खड़े तमाशा देखने वाले जल जाते हैं।[7] इस विश्व में यदि कोई सार-भूत तत्त्व है, तो वह ईश्वर ही है। अतः समस्त कर्मों में यदि कोई श्रेष्ठ कर्म है, तो वह ईश्वर का भजन ही है। ईश्वरभजन में कबीर के सामने ध्रुव और प्रह्लाद

---

१. चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुण गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे॥ पृ० ८९, पद ५

२. बहुत भगति भौसागरा, नांना विधि नांना भाव।
जिहि हिरदै श्री हरि भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठांव॥ पृ० ९७, पद २८

३. थोरी भगति बहुत अहंकारा। ऐसा भगता मिलै अपारा॥ पृ० २०४, पद ३४३

४. करता दीखै कीरतन, ऊंचा करि करि तूंड। जाणै बूझै कुछ नहीं, यौं ही आंधा रूँड॥ पृ० ३८, दो० ५

५. जब लग भगति सकामता, तब लगि निरफल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकामी निजदेव॥ पृ० १९, दो० १०

६. भगति दुवारा संकड़ा राई दसवें भाइ।
मन तौ मैंगल होय रह्यो, क्यूं करि सकै समाइ॥ पृ ३०, दो० २६

७ पृ० ७० दो० २४, २६।

का आदर्श रहता है।[1] भगवद्भक्तिरूपी रामरस के आगे उन्हें अन्य समस्त रस नीरस प्रतीत[2] होते हैं। भक्ति है, तो जीवन सार्थक है, अन्यथा ऐसे जीवन से तो मरण ही अधिक श्रेयस्कर है। एक सच्चे वैष्णव भक्त के समान कबीर नारदी भक्ति में विश्वास[3] रखते हैं। अपने भक्तिसूत्रों में नारद तीर्थ, व्रत, तप, योग आदि सब से भक्ति को ऊर्ध्व स्थान देते हैं। कबीर की निम्नांकित पंक्तियाँ भी उन्हीं का अनुसरण कर रही हैं :

जप, तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैंवल सेविया, यौं जग चल्या निरास॥ पृ० ४४, दोहा ८
तीरथ करि-करि जग मुवा, डूंघै पांणी न्हाइ।
रांमहि रांम जपंतड़ां, काल घसीट्यां जाइ॥ पृ० ३७ दोहा १८
राम बिना संसार धंध कुहेरा। सिरि प्रगट्या जंम का पेरा॥
देव पूजि-पूजि हिंदू मूये, तुरक मुये हज जाई।
जटा बांधि-बांधि योगी मूये, इनमें किनहूं न पाई॥
कवि कवीनैं कविता मूये, कापड़ी केदारौं जाई।
केस लुंचि-लुंचि मुए बरतिया, इनमें किनहूं न पाई॥ पृ० १९५ पद ३१७
च्यंतामणि प्रभु निकटि छांड़ि करि, भ्रंमि भ्रमि मति बुधि खोई॥
तीरथ बरत जपैं तप करि-करि बहुत भांति हरि सोधैं।
सकति सुहाग कहौ क्यूं पावै, अछता कंत बिरोधै॥ पृ० १९५, पद ३१६

कबीर को जप-तप थोथे लगते हैं। वे तीर्थ-यात्रा और व्रत में विश्वास रखना वैसा ही निरर्थक समझते हैं, जैसे तोते द्वारा शाल्मली के फल की सेवा व्यर्थ होती है। तीर्थों के गंदे जल में स्नान करना, और ऊपर से राम-राम जपते जाना, देव-प्रतिमाओं की पूजा करना, हज के लिये काबा जाना, जटा बांधना, कविता करना, केदारनाथ की यात्रा करना, जैनी साधुओं की भांति केशों को नोंच-नोंच कर मुण्डित बनना और व्रती कहलाना आदि सब निस्सार हैं, यदि हृदय में प्रभु के लिये सच्चा अनुराग नहीं है। जब प्रभु निकट से निकट, हमारे अन्दर ही विद्यमान हैं, तो बाहर यात्रा करके उन्हें ढूंढने से

---

१. पृष्ठ ३२०, पद १७९।

२. रामरस पीया (पाईया) रे जिह रस (ताथैं) बिसरि गये रस और। पृ० १३१ पद १८३ तथा पृष्ठ १११ पद ७५

३. पृष्ठ ३२४ पद १९४ तथा पृष्ठ १८१ पद २७८

क्या लाभ? पास रखी हुई चिन्तामणि को छोड़ कर बाहर उसकी प्राप्ति के लिये भटकना अपनी बुद्धि को ही नष्ट करना है।

कबीर अपने पक्ष की स्थापना में सब से बड़ी युक्ति यह देते हैं कि घर छोड़ कर यदि कोई व्यक्ति वनवास करता है, अथवा शरीर में भस्म का लेप लगा कर और जटायें बढ़ा कर किसी गुफा का आश्रय लेता है, पर मन पर विजय प्राप्त नहीं करता, तो क्या भस्म का मलना, जटायें बढ़ा लेना या वनवास करना उसके आध्यात्मिक विकास का साधक[1] होगा? विकास तो मन को निर्मल बनाने में है। जब मन ही विकारों में ग्रसित है, तो विकास कैसा? उत्थान कैसा?

कबीर ने कहीं-कहीं, इसी आधार को लेकर, ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड की बाह्योन्मुखता की भी निन्दा की है। उनकी दृष्टि में वेद, पुराण और स्मृतियों का ज्ञान प्राप्त करके भी यदि उनमें अन्तर्हित रहस्य से ज्ञानी अनभिज्ञ रहा; संध्या, गायत्री तथा षट्कर्म का नियमित अभ्यास करके भी यदि कोई कर्म-काण्डी भगवद्भक्त न बन सका, तो ऐसा ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड व्यर्थ है। वह कोरा दिखावा मात्र है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी और ध्यानी यमराज के दरबार में अपने कपट-पूर्ण व्यवहार के कारण ठोकरें खाने के ही पात्र बन[2] सकेंगे।

जिन तीर्थों की यात्रा करने के लिये साधक बाहर की दौड़ लगाता है और जिस अविनाशी तत्त्व की प्राप्ति के लिये उसे इतने कृच्छ्र जप-तप-याग रूपी बाह्य विधान सम्पादित करने पड़ते हैं, वे तीर्थ और वह अविनश्वर सत्ता यदि शरीर के अन्दर ही उसे उपलब्ध हो जाते हैं, तो मन को बाहर भटकाने की क्या आवश्यकता[3] है? अतः कबीर की सम्मति में भक्तिभावना आन्तरिक वस्तु है। वह बाह्य विधि-विधान के पालन में नहीं है। कबीर का निश्चित मत है :

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।
दसवां द्वारां देहुरा, तामैं जोति पिछांणि॥ पृ० ४४, दोहा १०

---

१. पृष्ठ १९०, पद ३००
२. पृष्ठ १७८, पद २६४
३ पृष्ठ १४५, पद १७१

कबीर ने ज्ञान को साधन के रूप में महत्त्व तो दिया है, पर उसे भक्ति से निम्न स्तर पर रखा है। वे भगवत्कृपा को सर्वोपरि स्थान देते हैं। जिस पर प्रभु की कृपा नहीं हुई, वह चाहे जैसा जपी, तपी, संयमी, ध्यानी और ज्ञानी हो, भवसागर से पार नहीं हो सकेगा। उनकी सम्मति में ब्रह्मा, विष्णु और सुरमयंक इन्द्र तक भगवत्कृपा से वंचित हो कलंकित हुए तथा बन्धन में पड़े।[1] इसी अनुभूति को हृदय में धारण करके कबीर कहते हैं कि एक निरंजन में मन को लगाकर मैंने समस्त संदेहों को समाप्त कर दिया है। मैं न व्रत रखता हूँ, न मुहर्रम को जानता हूँ, न पूजा करता हूँ, न नमाज पढ़ता हूँ, न हज करने जाता हूँ और न तीर्थयात्रा ही करता हूँ। ये सब केवल मध्य में दिखाई देते हैं। वे न अपने जन्म से पूर्व थे, न उसके पश्चात् रहेंगे। जो इन सबके पूर्व भी था और पश्चात् भी रहेगा, मैं तो उसी का स्मरण करता हूँ। जब उसको पहिचान लिया, तो किसी दूसरे से क्या मतलब ?[2]

भक्ति के दो मार्ग : कबीर की आत्मा प्रभुदर्शन के लिये कितनी व्याकुल रही है, इसका किंचित् अनुमान नीचे लिखे पद से लग सकेगा :

अजहूँ बीच, कैसे दरसन तोरा ? बिन दरसन मन मानै क्यूं मोरा ?
हमहिं कुसेवग क्या तुमहिं अजानां ? दुहु मैं दोस कहौ किं रामां।
तुम कहियत त्रिभवनपति राजा, मन वांछित सब पुरवन काजा॥
कहै कबीर हरि दरस दिखावौ, हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ॥
पृष्ठ २०७, पद ३५८

यह पद कबीर की सिद्धावस्था का नहीं है। यह पद उनकी उस प्रारंभिक साधक अवस्था का है, जब वे अपने और प्रभु के बीच में अन्तर का अनुभव करते थे। पर उनकी आत्मा हरि-दर्शन की प्यासी थी। भगवान् का साक्षात् किये बिना उन्हें चैन कहाँ ? अतः कभी तो उनकी दृष्टि अपनी कुसेवा रूप न्यूनता पर जाती है और कभी कभी उन्हें ऐसा भी भासित होने लगता है जैसे भगवान् ही जान बूझ कर अजान बने हों। दोनों दशाओं में कहीं पर

---

१. ब्रह्मा विष्णु अरु सुरमयक, किहि किहि नहीं लावा कलंक।
जप तप संजम सुचि ध्यान, बंदि परे सब सहित ग्यान॥
कहि कबीर उबरे द्वै तीनि, जा परि गोबिंद कृपा कीनि॥ पृष्ठ २१६ पद १८५

२. पृष्ठ २०२, पद ३३८

तो दोष स्थिर करना ही होगा। फिर वे अनुभव करने लगते हैं कि भगवान् तो तीनों भुवनों के स्वामी हैं, वे भक्त की मनोवांछा को पूर्ण करने वाले हैं, अतः दोष मेरा ही है। अपनी निर्बलता की अनुभूति उन्हें पुनः हरिचरणों में डाल देती है और वे प्रभु से दर्शन देने की याचना करने लगते हैं। पर ये दर्शन तो दो ही प्रकार से हो सकते हैं, या तो भक्त प्रभु के पास पहुँचे या प्रभु चलकर भक्त के समीप आवें।[1] भक्त निर्बल है, सदोष है, निस्संबल है। उसमें इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह अपने बलबूते पर प्रभु के समीप पहुँच सके? उसके पास इतनी पुण्य-राशि कहाँ कि वह प्रभु को अपने पास बुला सके? अतः वह फिर प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभु! तुम्हीं मुझे अपने पास बुला लो। तुम्हारे अनुग्रह से ही मेरे अन्दर उस बल का संचार हो सकेगा, जो मुझे तुम तक पहुँचा सके या तुम्हे बुलाने योग्य वाणी दे सके। तुम मेरे पास आ जाओगे, यह तो तुम्हारी महती कृपा है ही। गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'के तोहि लागहिं राम प्रिय, के तू रामप्रिय होइ' कहकर भक्ति के इसी द्विविध मार्ग की ओर संकेत किया है।

कबीर को यह भगवत्कृपा ऐसे ही प्राप्त नहीं हो गई थी। न जाने, कितने दिनों तक वे 'वन वन ढूंढ़ौं नैन भरि जोऊं' पद ३७१, 'बनि बनि फिरौं उदासी' पद ३७० और 'कबीर वन बन में फिरा कारण अपणैं राम' पृष्ठ ४९, साधकौ अंग, दोहा ५ इन साक्ष्यों के अनुसार स्थान-स्थान पर भटकते फिरे? पर, 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' भटकते-भटकते उन्हें गोविन्द के समान गुरु प्राप्त हो ही गये। यह महत्कृपा भगवत्कृपा का ही एक अंग थी। इस कृपा ने उन्हें सफल मनोरथ बना दिया, वे पूर्णकाम हो गये। अपनी इस अनुभूति को उन्होंने नीचे लिखे दोहे में अभिव्यक्त किया है :

> कबीर केसौ की दया, संसा घाल्या खोइ।
> जे दिन गये भगति बिनु, ते दिन सालैं मोइ॥ पृष्ठ ७९, दोहा ११

---

१. यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ ऋ. ८, ४४, २३
अँदेसड़ा न भाजिसी, सदेसो कहियां। कै हरि आया भाजिसी कै हरि ही पास गया॥
पृष्ठ ८ दोहा ९
आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ। जियरा यों ही लेहुगे बिरहं तपाइ तपाइ॥
पृष्ठ ८ दोहा १०

भाव-भक्ति : स्वामी रामानन्द ने समय की आवश्यकता को अनुभव करके पूजा के विपुल विधि-विधानों के बखेड़े को हटा दिया था। भक्त एकत्र होकर या एकाकी अवस्था में भी भाव-भक्तिपूर्वक भगवान् के नाम का जाप करते या भक्ति-भाव-गर्भित भजनों के गाने में लीन रहते थे। भाव-भक्ति हृदय-प्रसूत होती है। पूजा के आडम्बर में मन का लगना आवश्यक नहीं है। विधि-विधान एक नियमित अभ्यास चाहते हैं। हृदय की भाव-भूमि से उनका स्पर्श हो भी सकता है और नहीं भी। अधिकतर यही देखा गया है कि नियम सर्वप्रथम बुद्धि से आविर्भूत होता है, तदुपरान्त वह बुद्धि से भी असंपृक्त हो जाता है और गतानुगतिकता का रूप धारण कर लेता है। ये नियम और विधान कालान्तर में उपचार अथवा पद्धति के पालनमात्र रह जाते हैं। भाव का संस्पर्श उनसे हट जाता है। पूजन और अर्चन की विधियों का भी यही हाल है। स्वामी रामानन्द ने यही समझकर भाव-भक्ति पर बल दिया और कबीर ने उनके सच्चे शिष्य के रूप में भक्ति के इस रूप को और भी आगे बढ़ाया। उनकी निम्नांकित पंक्तियां भाव-भक्ति के निरूपण में उदाहरण-स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं :

रे जन मन माधव स्यों लाइये। चतुराई न चतुर्भुज पाइये॥
कहै कबीर भगति करि पाया। भोले भाइ मिलें रघुराया॥ पृ० २८० पद ५२

काम और क्रोध तो विवेकशून्य होते हैं, पर लोभ तथा लोकाचार में चतुरता का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। यह चतुरता लोभग्रसित स्वार्थी व्यक्ति को परमार्थ से तो वंचित करती ही है, इस लोक में भी उसे अपलोक का पात्र बनाती है। कबीर इसी हेतु कहते हैं कि भगवान् इस लोक-चातुरी से नहीं मिलते। उन्हें तो निष्कपट मन से, सरल हृदय से, भोले भाव से प्राप्त किया जाता है।

कथणीं बदणीं सब जंजाल, भाव भगति और रांम निराल॥ पृ० १५६, पद २०१
क्या जप क्या तप संजम। क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जो पै जुगति न जानिये, भाव भगति भगवान्॥ पद १२१ पृ० १२६
जद्यपि रह्या सकल घट पूरी, भाव बिनां अभि अंतरि दूरी॥ पृ० २२६ पंक्ति १
भाव भगति सूं हरि न अधारा, जनम मरन की मिटी न साधा॥२४४ पंक्ति ५
सांच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै॥ पृ० २४४ पंक्ति

भाव भगति की सेवा मानैं, सतगुर प्रकट कहै नहीं छानै ॥
जब लगि भाव भगति नही करिहौ, तब लग भवसागर क्यूं तिरिहौ ॥
भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसे सूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल ॥ पृ० २४५

आज के सभी मनोवैज्ञानिक एकस्वर से स्वीकार करते हैं कि भाव कर्म का सद्यःपूर्ववर्ती है। वचन भी कर्म का ही एक अंग है। जब भाव उद्दीप्त होता है, तो उसकी लपेट में वचन और कर्म अपने आप प्रकट होने लगते हैं। अतएव हरिभक्ति जब भावपूर्वक की जायगी, तो वाणी और क्रिया स्वयमेव उसका साथ देंगी। इस प्रकार मन, वचन और कर्म की एकता सम्पादित होगी और उसके द्वारा चरित्र का उत्थान तथा मानवता का विकास होगा। भाव-भक्ति को कबीर इसीलिये संसारसंशयोच्छेदी तथा मुक्ति का मूल कारण मानते हैं।

नवधा भक्ति : श्रीमद्भागवत ७, ५, २३ के अनुसार भक्ति नौ प्रकार की है : प्रभु के गुणों का श्रवण, उनका कीर्तन, चरणसेवा, अर्चन, वन्दन, प्रणति, दास्य, सखाभाव और आत्मनिवेदन। इनमें दशवीं प्रेमलक्षणा और ग्यारहवीं परा भक्ति जोड़ देने से भक्ति ग्यारह प्रकार की हो जाती है।

भक्ति भगवद्विषयक प्रेम या रति का नाम है। यह भक्ति आरम्भ से ही प्रभु को सगुण मानकर चली। कबीर का निर्गुण राम भी सगुण है। कबीर की रचनाओं से उदाहरण देकर प्रभु के गुणों का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ कबीर द्वारा स्वीकृत नवधा भक्ति के भेदों का निरूपण किया जाता है।

गुणश्रवण : 'गोब्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि।
डरता पाणीं ना पिऊं मति वै धोये जाहिं। पृष्ठ ७९ दोहा ७

भगवान् के जिन गुणों का मैंने श्रवण किया है, उन गुणों को मैंने हृदय में अङ्कित कर लिया है। अब मैं पानी पीने से भी इसलिये भयभीत होता हूँ कि कहीं यह पानी हृदय में जाकर इन्हें धोकर बहा न दे। लक्षणा से पानी पीने का अर्थ होगा शरीरतृप्ति के साधनों की ओर झुकना।

कहै कबीर कठोर के सबद न लागे सार।
सुध बुध कै हिरदै भिदै उपजि विवेक बिचार ॥ पृ० ८४, दो० ७

भगवान् के गुणों का श्रवण तो बहुतेरे करते हैं, परन्तु यह श्रवण कठोर हृदयों

में विद्ध नहीं हो पाता। सरल ज्ञानवान् व्यक्ति के हृदय में ही यह भिद् पाता है, जिससे उसके अन्दर सत् और असत् का विवेक तथा विचार जाग्रत होता है।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तन आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥ पृ० १४, दो० २९

सतगुरु के मुख से प्रभु के गुणों की अनन्य कथा सुनकर जब भक्त उसके अनुसार शरीर द्वारा आचरण करता है, तभी उसका मन स्थिर हो पाता है और हृदय में तीन भुवनों के राजा परम प्रभु प्रकट हो जाते हैं।

नाम तथा गुणकीर्तन :

कबीर सूता क्या करे, गुण गोविंद के गाइ।
कबीर आपण राम कहि औरां राम कहाइ॥ पृ० ६, दो० १४
जिहि मुख राम न उचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ॥ पृ० ६, दो० २१
हरि जैसा है, तैसा रहा, तूं हरषि हरषि गुण गाइ॥ पृ० १७, दो० २
केसौ कहि कहि कूकिये, ना सोइये असरार।
राति दिवस के कूकणे, मति कबहूँ लगै पुकार॥ पृ० ६, दो० १६
करता दीसै कीरतन, ऊंचा करि करि तूंड।
जाणै बूझै कुछ नहीं, यौं ही आंधा रूंड॥ २८, ५
गाया तिणि पाया नहीं, अण गाया थैं दूरि।
जिनि गाया बिसवास सूं, तिन राम रह्या भरपूरि॥ ५९, २१

साधक को प्रमाद से पृथक् रह कर भगवान् के गुणों का गान करना चाहिए। उसे स्वयं तो भगवान् के नाम का उच्चारण करना ही चाहिए, अपने साथ अन्यों को भी बिठाकर रामनाम का कीर्तन करना उसका कर्त्तव्य है। भगवान् के सम्बन्ध में कोई कुछ कहे, उसे तो हर्षमग्न होकर उसके गुण गाने ही चाहिये। कबीर की सम्मति में कीर्तन दिन-रात चलना चाहिए। यह इतत पुकार कभी न कभी तो भगवान् के कानों में पड़ेगी ही। पर कबीर रूढ़ि तथा अन्धविश्वास के पक्षपाती नहीं हैं। जो व्यक्ति केवल दिखाने के लिये मुख ऊंचा करके कीर्तन करते हैं और कीर्तन करते हुए भी ईश्वर-विश्वासी नहीं हैं, ऐसे ढोंगी, पाखंडी और रूढ़िग्रस्त व्यक्तियों को ईश्वर नहीं प्राप्त होते। हाँ, जो विश्वासपूर्वक भगवान् का नाम-कीर्तन करते तथा उसके गुण गाते हैं, वे भगवान् को सर्वत्र देखने के योग्य बन जाते हैं। 'हरिजस सुनहिं न हरिगुन गावहि।

बातन ही असमान गिरावहिं ॥ पृष्ठ ३२१ पद २१९। कबीर को वे व्यक्ति अच्छे नहीं लगते, जो न तो हरियश का श्रवण करते हैं और न हरिगुण गान ही करते हैं।

स्मरण :

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल ॥ ५, ५
कबीर चित्त चमंकिया, चहु दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥ ७, ३२
कबीर कठिनाई खरी, सुमरितां हरि नाम।
सूली ऊपर नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम। ७, ८९
कबीर राम ध्याइ ले, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरे छीलर देखि अनन्त ॥ ७, ३०

कबीर की दृष्टि में भगवान् का स्मरण करना ही इस संसार में सार है। अन्य सब कुछ निस्सार और बखेड़ा मात्र है। अपने चारों ओर राग तथा द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो रही है, जो चित्त में पीड़ा पैदा करती है। हरिस्मरण रूपी जल से भरे घड़े हाथ में लेकर इस अग्नि को शीघ्र शांत करने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवान् का नाम-स्मरण सरल नहीं, अत्यन्त कठिन कार्य है। यह सूली के ऊपर चढ़कर नट के नर्तन-खेल के तुल्य है, जहाँ से गिरकर फिर बचना नहीं होता। भक्त को चाहिए कि वह क्षुद्ररूप संसार के पदार्थों में अपने आपको न फँसने दे। सदैव हरि का स्मरण करता रहे। क्या अनेक झीलों और पोखरों को देखकर कोई समुद्र को विस्मृत कर देता है?

पादसेवन : रूपहीन निराकार प्रभु के चरणों की सेवा औपचारिक रूप में ही कबीर ने लिखी है। वे हरिचरणों के ध्यान से अमर हो जाने का विश्वास भी प्रकट करते हैं :

चरननि लागि करौं बरियाई। प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥ पृ० ८७, पद ३
चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुन गाइ ॥ पृष्ठ ८९, पद ५
हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ ॥ पृष्ठ ४३ दोहा ९
कबीर हरि चरणौ चल्या, माया मोह थैं टूटि।
गगन मंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि ॥ पृष्ठ ७६ दोहा ३

भगवान् के चरणों में चलना उनकी शरण में पहुँचना है, जहाँ जाते ही

माया और मोह के बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और काल स्वयं अपना सिर कूट के बैठ जाता है।

अर्चन : भागवतों की अर्चन-विधि प्रतिमा-पूजन से सम्बन्ध रखती है। कबीर प्रतिमा-पूजन का खण्डन करते हैं। उनकी सम्मति में प्रभु का दर्शन बाहर नहीं, अपने ही हृदय-कमल के अन्दर होता है। बाहर घूम-घूम कर प्रभु की खोज करना तो हाथ पर रखे हुए ग्रास को छोड़कर हथेली को चाटने के समान है। प्रतिमा-पूजन का औचित्य प्रतीक-पूजन में है, पर जब प्रतीक ही परमात्मा बन बैठे, तो पूजा का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इसी आधार पर कबीर ने लिखा है : 'पांहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार' पृष्ठ ४३ दोहा १ तथा 'पांहन कूं का पूजिये, जे जनम न देई जाबा' पृष्ठ ४४ दोहा ३; जो पत्थर अपनी आयुपर्यन्त न कुछ सुन सकता है और न जिसमें उत्तर देने की ही शक्ति है, उसकी चेतन परमतत्त्व के रूप में कैसे पूजा की जा सकती है? कबीर तो उस देवालय में पूजन के लिये जाना चाहते है, जिसकी कोई पार्थिव नींव या आधार नहीं है और उस देव की पूजा करना चाहते हैं, जो शरीर-रहित, अलख और निराकार है :

नींव बिहूंणा देहुरा, देह बिहूंणा देव।
कबीर तहां बिलंबिया, करै अलख की सेव॥ पृष्ठ १५, दोहा ४१

उनकी पूजा की सामग्री और पुजारी दोनों ही अन्दर हैं :

देवल मांहैं देहरी, तिल जैहैं बिस्तार।
मांहैं पाती मांहिं जल, मांहैं पूजणहार॥ पृष्ठ १५, दोहा ४२

इस पूजन के अतिरिक्त पूजन के अन्य प्रकार भेड़ की पूंछ पकड़ने के समान हैं, जो स्वयं डूबेगी और पकड़ने वाले को भी डुबायेगी।

वन्दन : कबीर मन तीषा किया, बिरह लाइ षरसांण।
चित चणूं मैं चुभि रह्या, तहां नहीं काल का पांण। पृ० ७६ दोहा ५

मन को भगवान के चरणों में झुका देना वन्दन है। स्तुति की क्रिया भी वन्दन कहलाती है, यथा :

का सूं कहिये सुनि रांमा, तेरा मरम न जानैं कोइ।
दास बबेकी सब भले, परि भेद न छानां होइ॥ पृ० ९७ पद ३०

विनय भी वन्दना का एक अङ्ग है, यथा :

बीनती एक राम सुनि थोरी।

अबकी बचाइ राखि पति मोरी ॥ पद ७८ पृ० ११३
कहै कबीर चरन तोहि बन्दा । घर में घर दे परमानन्दा ॥ पद ७९

दास्य : प्रभु स्वामी हैं और मैं उनका दास हूं, सेवक हूँ, इस भाव से भगवान के सामने जाना, प्रभु के ऐश्वर्य और सामर्थ्य के सम्मुख नतमस्तक होना दास्य भक्ति कहलाती है। कबीर ने प्रभु के सामर्थ्य का वर्णन इस प्रकार किया है :

साईं सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नांहिं ।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहिं ॥ ५२, १२

वे प्रभु के ऐश्वर्य का पौराणिक शैली में इस प्रकार वर्णन करते हैं : 'मैं केवल भगवान राम से याचना करता हूँ। अन्य देवों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। राम के यहां करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव और कैलास पर्वत हैं। करोड़ों ब्रह्मा वेद-पाठ करते हैं, करोड़ों दुर्गा पैर दबाती हैं, करोड़ों चन्द्रमा दीपक का कार्य करते हैं। तैंतीस करोड़ देवता जिसके यहाँ भोजन करते हैं, करोड़ों नवग्रह जिसके दरबार में खड़े हैं, धर्मराज जिसकी ड्यौढ़ी पर प्रतिहार बने हुए हैं, करोड़ों कुबेर जिसके कोष के भंडारी हैं, करोड़ों लक्ष्मी जिसका शृंगार करती हैं, करोड़ों इन्द्र जिसकी सेवा करते हैं, करोड़ों गंधर्व जिसका जय-जयकार कर रहे हैं, करोड़ों विद्यायें जिसके गुणों का वर्णन करती हैं, फिर भी उस परब्रह्म के गुणों का पार नहीं पातीं, करोड़ों वासुकि जिसकी शैया तैयार करते हैं, करोड़ों पवन जिसकी परिक्रमा करते हैं, करोड़ों समुद्र जिसका पानी भरते हैं, ५२ करोड़ कोतवाल जिसके नगर-नगर के क्षेत्रपाल बने हुए हैं, जिसकी लटें छूटी हुई हैं, उस नटवर गोपाल की कलायें अनन्त हैं।' पृ० २०२, २०३ पद ३४०।

भक्त ईश्वर के इस अनन्त ऐश्वर्य की चकाचौंध से चकित हो जाता है और उसके महामहिम सामर्थ्य का अनुभव करके उसे आश्वासन प्राप्त होता है। मैं ऐसे सर्व शक्तिमान् का सेवक हूँ, यह अनुभूति उसके अन्दर बल का संचार करती है और परिणामतः वह अपने भगवान् को छोड़कर अन्य किसी की भी सेवा करना नहीं चाहता। भगवान् ही उसके लिये गुरु, पीर, स्वामी, सब कुछ बन जाते हैं। नीचे लिखी पंक्तियाँ दास्य भाव को प्रकट करती हैं :

बंदे तोहि बन्दगी सौं काम। हरि बिन जांनि और हराम।
दूरि चलणां कूंच वेगा, इहां नहीं मुकांम॥ पद २३७ पृ० १६८
अलह राम जीऊँ तेरे नाईं, बन्दे ऊपरि मिहर करौ मेरे साईं॥
जेती औरत मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा॥
कबीर पंगुडा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा॥ पद २५९ पृ० १७१

भक्त राम के नाम पर जीता है, सब में उसी के रूप को अनुभव करता है। उसका एकमात्र कार्य है भगवद्भक्ति। अन्य कार्य उसके लिये हराम है। उसे यह भी विश्वास रहता है कि सेवक से कुछ बिगड़ भी गया, तो स्वामी उसे सम्हाल लेंगे :

कबीर भूलि बिगाड़िया, तूं नां करि मैला चित्त।
साहिब गरबा लोड़िये, नफर बिगाड़ै नित्त॥ पृ० ८४ पद २

सख्य : कबीर का प्रभु स्वामी के स्थान पर उसका सखा या मित्र बन गया, यह भाव कबीर की उच्चकोटि की भक्ति का परिचायक है। ज्ञान और चिन्तन द्वारा मुनि भी जिसके धाम को प्राप्त नहीं कर सके, उस अवर्णनीय अदृश्य प्रभु को कबीर ने अपना दोस्त बना लिया :

जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख॥ पृ० १३, दोहा १२
एक ज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कबाय।
सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाय॥ २९, ११
पाणीं ही तैं पातला, धूंवां ही तैं झींण।
पवनां वेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह॥ २९, १२॥

आत्मनिवेदन : भक्त अपनी दुख गाथा किसे सुनावे? पहले तो यहाँ कोई सुननेवाला ही नहीं है, फिर जो सुनेगा भी, वह या तो हँसेगा या सुनकर थोड़ी सी सहानुभूति दिखा देगा। कष्टों को दूर करने की शक्ति प्रभु के अतिरिक्त यहाँ किसी में भी नहीं है। कबीर कहते हैं :

तुम्ह बिन राम कवन सौं कहिये। लागी चोट बहुत दुख सहिये॥
बेध्यो जीव बिरह के भालै। राति दिवस मेरे उर सालै॥
को जानैं मेरे तन की पीरा। सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा॥
तुमसे बैद न हमसे रोगी। उपजी बिथा कैसे जीवैं बियोगी॥
निस बासुरि मोहि चितवत जाई। अजहूँ न आइ मिले राम राई॥

कहत कबीर हमकौं दुख भारी। बिन दरसन क्यूं जीवहिं मुरारी॥

पद २८७

कबीर करत है बीनती, भौसागर के ताईं।
बन्दे ऊपर जोर होत है, जंम कूं बरजि गुसाईं॥ ८५, ५
सेजैं रहूँ नैंन नहीं देखौं, यहु दुख कासौं कहूँ हो दयाल॥ पद २२०
बाप राम सुनि बीनती मोरी। तुम्ह सूं प्रगट लोगन सूं चोरी॥
पहले काम मुगध मति कीया। ता भै कंपै मेरा जीया।
राम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा कीजै॥
कहै कबीर बाप राम राया, अबहूं सरनि तुम्हारी आया॥

पद ३५७ पृष्ठ २०७

प्रेमलक्षणा भक्ति : दास्य भक्ति में सेवक स्वामी से भय खाता है और सदैव इस चिन्ता में रहता है कि उससे कोई कार्य स्वामी की इच्छा के विपरीत न बन पड़े। जब स्वामी के साथ वह हिलमिल जाता है, तो उसकी झिझक भी छूट जाती है और वह भयभीत होने के स्थान पर उसका आदर करने लगता है। इस आदर में ममत्व की भावना भी सम्मिलित रहती है। यही ममत्व आगे चलकर प्रेम में परिणत हो जाता है।

ममत्व की अभिव्यक्ति कई रूपों में होती है। इन रूपों में दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा दाम्पत्य चार सम्बन्धों की प्रमुखता है। सर्वप्रथम भक्त के अन्दर यही भावना उठती है कि वह जैसा भी है, प्रभु का है, सांसारिक संबन्धों की क्षणिकता उसे प्रभु की ओर उन्मुख करती है और वह उसके साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को अनुभव करने लगता है। कबीर के शब्दों में 'है हरिजन थैं चूक परी। जो कछु आहि तुम्हारी हरी।' तथा 'कहै कबीर मैं दास तुम्हारा' पद १४६ मैं राम का हूँ और राम मेरे हैं, यह भाव ही प्रेमलक्षणा भक्ति का जनक है। इस सम्बन्ध का प्रारम्भ दास्य भक्ति से होता है और अवसान सख्य भक्ति में। आचार्य वल्लभ का मत ऐसा ही है, यद्यपि अन्य आचार्य इस सम्बन्ध की परिणति माधुर्य अथवा उज्ज्वल रस में मानते हैं। दास्य तथा सख्य भक्ति के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। नीचे हम अन्य सम्बन्धों के उदाहरण कबीर-ग्रन्थावली से देते हैं :

माता : हरि जननी मैं वालिक तेरा, काहे न औगुंण बकसहु मेरा ॥
सुत अपराध करै दिन केते । जननी के चित रहैं न ते ते ॥
कर गहि केस करै जो घाता । तऊ न हेत उतारे माता ॥
कहै कबीर एक बुधि विचारी । बालक दुखी दुखी महतारी ॥ पद १११

पिता : पूत पियारौ पिता कौ, गोहंनि लागा धाइ ।
लोभ मिठाई हाथि दै, आपण गया भुलाइ ॥ २१
डारी खांड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ॥ २२ पृ० १०

पति : हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव ।
हरि विन रहि न सकै मेरा जीव ॥ पद ११७
मैं बौरी मेरे रांम भरतार । ता कारनि रचि करौं स्यंगार ॥ पद २४२
बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये । भाग बडे घरि बैठें आये ॥ पद २

पदसंख्या १ तथा २०७ इस संबन्ध पर अच्छा प्रकाश डालते हैं । कबीर ने प्रभु का अतिथि रूप में भी वर्णन किया है :

घरि परमेसर पांहुणां, सुणौं सनेही दास ।

षटरस भोजन भगति करि, ज्यूं कदे न छांडै पास ॥ पृ० २० दोहा १८

वेद ने भी प्रभु को अतिथि कहा है : 'विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्' ऋ० ४, १, २ वेद कहता है : 'भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्' ऋ०८, ११, २ प्रभु वैद्य के रूप में रोगाक्रान्त व्याकुल विश्व को भेषज देने वाला है । कबीर ने भी लिखा है :

जहाँ जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ ।
चलि कबीर तिहि देसडै, जहाँ बैद बिधाता होइ ॥ पृष्ठ ७६ दो० १

अतिथि और वैद्य जैसे सम्बन्ध-रूप ममत्व की कोटि तक नहीं पहुँच पाते । अतः वे प्रेमलक्षणा भक्ति के क्षेत्र से बाहर हैं ।

परा भक्ति : यह भक्ति की अनन्या सिद्धावस्था है । इसमें भगवान्, भक्त और भक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता । इसे मन देकर भक्ति का लेना भी कहा जाता है । यथा :

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं । प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ।
जरै सरीर अङ्ग नहीं मोरौं । प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ॥

च्यंतामनि क्यूं पाइये ठोली। मन दै राम लियो निरमोली ॥ पद ३३४

जे सुंदरि साईं भजै, तजै आन की आस।

ताहि न कबहूँ परिहरे, पलक न छांड़े पास ॥ २॥ पृष्ठ ८०, सुंदरि कौ अङ्ग

प्रेम का महत्त्व :

कबीर ने प्रेमा भक्ति को बहुत महत्त्व दिया है। जो निराकार, अनिर्देश्य, अलक्ष्य तत्त्व जिज्ञासा का विषय है, उसे कबीर ने प्रेम का विषय बना दिया है। उन्हें ऐसे व्यक्तियों का संसार में उत्पन्न होना व्यर्थ जान पड़ता है, जिनके हृदय में प्रेम और रसना पर राम नाम नहीं है।[1] यही उनकी प्रेमाभक्ति का लक्षण भी है।

विश्व में आकर जिसने प्रेम का आस्वाद नहीं लिया, वह सूने घर में आये हुए अतिथि के समान है, जो आकर ज्यों का त्यों लौट जाता है।[2] प्रेम के लिये प्रिय और प्रेमी दो व्यक्ति चाहिए। विश्व में आकर जीव यदि प्रेमी है, तो उसका प्रेमपात्र अथवा प्रिय कौन है? यहाँ आकर वह प्रेम किससे करे? कौन है वह वरणीय, चुनने के योग्य, सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रेष्ठ जिसे जीव अपना प्रिय कह सके? कबीर के शब्दों में, वह प्रेमपात्र राम है। राम जैसे प्रिय का परित्याग करके जो व्यक्ति किसी अन्य से प्रेम करता है, वह वेश्या-पुत्र के समान है, जिसके पिता का कोई पता ही नहीं है।[3] संसारी व्यक्ति का मन जैसे माया में रमण करता है, उसी प्रकार भक्त का मन राम में रममाण होना चाहिए। तभी वह इस तारामंडल को छोड़कर अपने स्रोत से जाकर मिल सकेगा।[4]

प्रेम के सघन मेघ जिनके ऊपर बरस जाते हैं, उनकी अन्तरात्मा आर्द्र हो जाती है, इन्द्रिय-जगत् का कायाकल्प हो जाता है, सम्पूर्ण अवयव हरे-भरे हो उठते हैं, अन्तःकरण में पवित्रता तथा आनन्द की धारायें प्रवाहित होने लगती हैं और उस परिपूर्ण, आप्तकाम प्रभु से परिचय ही नहीं, सघस्थ सम्मिलन प्राप्त हो जाता है।[5]

---

१. जिहि घट प्रेम न प्रीति रस, पुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि भये बेकाम ॥ पृष्ठ ६ दोहा १७।

२. पृष्ठ ६ दोहा १८। ३. पृष्ठ ६ दोहा २२। ४. पृष्ठ ६ दोहा २४।

५. पृष्ठ ४ दोहा २४, २५।

कबीर दिखावे को किसी भी क्षेत्र में पसन्द नहीं करते। वे ऊपरी भाव से प्रेम करने या राम नाम लेने का फल यमपुर में जाना बतलाते हैं। जैसे खाँड का नाम लेने से मुख मीठा नहीं हो जाता, अग्नि कहने से ठंढक, भोजन कहने से भूख और जल कहने से प्यास दूर नहीं हो जाती, उसी प्रकार राम नाम कहने से सुगति प्राप्त नहीं हो सकती। बाहर से शब्दों का उच्चारण जब तक हृदय के साथ मेल नहीं खाता, तब तक वह वाग्जाल मात्र है। ऐसा उच्चारण वक्ता के अन्तस्तल पर कोई मर्मस्पर्शी प्रभाव नहीं डाल सकता। अतएव कबीर के मतानुसार रसना के साथ हृदय, जाप के साथ प्रेम का भी योग होना चाहिए।[1]

प्रेम की कथा वास्तव में अकथनीय है। गूंगे के शर्करा खाने के समान उसका स्वाद वर्णन का विषय नहीं बन सकता। वह अनुभवनीय है और शब्दों तक उतरते उतरते तो अपने समस्त प्राणरूप प्रभाव को खो बैठती है। प्रेम के उपासक इसी हेतु आन्तरिक प्रवृत्ति के धनी होते हैं।[2] कबीर के शब्दों में प्रेम का घर कोई मौसी का घर नहीं है। प्रेम के घर तक पहुँचने का मार्ग अगम्य, कंटकाकीर्ण और अगाध है। इस घर में वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता है, जो शिर को उतार कर अपने हाथ में रख ले।[3] प्रेम लेना है, तो उसके बदले में प्राण देने होंगे। प्रेम की तौल प्राण के बराबर है, पर इस तौल से

---

१. पण्डित वाद वदते झूठा।
राम कह्यां दुनियां गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा॥
पावक कह्यां पांव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई॥
नर के साथ सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानैं।
जो कबहू उडि जाय जङ्गल में, बहुरि न सुरतैं आनैं॥
सांची प्रीति विषै माया सू, हरि भगतनि सूं हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यौ जमपुरि जासी॥ पृ० २०१ पद ४

२. अकथ कहाणीं प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई॥ पृ० १३९ पद १५६

३. कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसै घर मांहि॥ पृष्ठ ६९ दोहा १९
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि करै, तब निकटि प्रेम का स्वाद॥ पृ० ६९ दोहा २०

पहले सिर को काटकर पासंग में रख देना होता है, अहन्ता से हाथ धोना पड़ता है।[1]

कबीर ही नहीं, प्रेम के महत्त्व को सभी कवियों ने स्वीकार किया है। आचार्य शंकर प्रेम द्वारा प्रभु में आसक्त मन का निर्मल होना लिखते हैं :

'त्वयि प्रेम्णासक्तं कथमिव न जायेत विमलम् ।'

अनन्यता :

प्रेम अनन्यता चाहता है। प्रेमी जिसे प्रेम करता है, उसके अतिरिक्त वह और किसी से प्रेम नहीं करेगा। वह यह भी चाहेगा कि उसका प्रिय भी उसके अतिरिक्त अन्य किसी से प्रेम न करे। प्रेमलक्षणा भक्ति की सीमाओं के अन्तर्गत यह भाव आ जाता है। कबीर लिखते हैं :

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यौं हौं नैन झपेउं ।
नां हौं देखौं और कौं, ना तुझ देखन देउं ॥ पृ० १९ दोहा २

पर दोनों पक्षों की अनन्यता प्रेमी के वश के बाहर है। वह स्वयं तो साधना द्वारा अनन्य प्रेमी बन सकता है, पर उसका प्रिय भी ऐसे ही अनन्य भाव वाला हो, इसकी आकांक्षा रखते हुए भी वह उसे इसके लिए विवश नहीं कर सकता। प्रेमलक्षणा भक्ति में प्रेम के इसी प्रथम प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा:—

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत ।
जो हंसि बोलौं और सौं, तौ नील रंगाऊं दंत ॥१॥

निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग ।

कबीर रेखा स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ ॥ ४ ॥
मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे ।
चरन कंवल मन मानियां, और न भावे मोहि रे ॥ ४ ॥
बेद न जानूं भेद न जानूं, जानूं एकहि रामां ॥ १२२ ॥
कहै कबीर सरनाई आयौ, आन देव नहिं मानौं ॥ ११२ ॥
अब मैं राम सकल सिधि पाई, आन कहूँ तो राम दुहाई ।

---

१. सीस काटि पासग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावै सो आई ल्यौ, प्रेम हाट हम कीन्ह ॥ पृ० ७० दोहा २१

इहिं चित चापि सबै रस दीठा, रांम नांम सा और न मीठा ॥ १४८ ॥
जौ जांचौं तौ केवल राम, आंन देव सूं नाहीं काम ॥ ३४० ॥

प्रेम-पथ की अन्य दशाएँ :

अभिलाषा :

प्रियतम की राह में विरहिणी की प्रतीक्षा और उत्सुकता :

विरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥ पृ० ८, दोहा ५
नैनां अंतरि आचरूं, निसि दिन निरखौं तोहिं ।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि ॥ पृ० १०, दोहा ३३

प्रिय-मिलन का स्वप्न आँखों में झूल रहा है। वह दिन कब आवेगा, जब भक्त अपने नेत्रों के अन्दर प्रभु को विराजमान पाकर उन्हें दिन-रात देखा करेगा।

अबकै जे साईं मिलैं, तौ सब दुख आषौं रोइ ।
चरनूं ऊपरि सीस धरि, कहूं ज कहणां होइ ॥ पृ० ८३ दोहा ९

उन्माद :

विरह-शोक के कारण चित्त-भ्रान्ति और बावलापन ही उन्माद है :

विरह भुवंगम तन बसै, मन्त्र न लागै कोइ ।
रांम वियोगी ना जिवै, जिवैं त बौरा होइ ॥ पृष्ठ ९, दोहा १८

व्याधि :

वियोग के कारण शरीर को शिथिल बना देने वाला मन का संताप व्याधि है :

आंषड़ियां झांईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियां छाल्या पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥ पृ० ९, दोहा २२

जड़ता :

विरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव ।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥ पृ० ९, दो० १९

श्री वियोगीहरिजी उपर्युक्त साखी को लक्ष्य कर लिखते हैं : 'कुछ ठिकाना, कितना साहसी और शूर होता है विरही।' विरह की अग्नि से तन

और मन सब जल गये। जिस प्रकार मृतक को पीड़ा का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार भक्त को भी नहीं होता। अब तो केवल अग्नि का ही परिचय है। निम्नाङ्कित साखी में जड़ता और मरण नाम की मनोवृत्तियों का संयोग है :

कबीर तन मन यौं जल्या, बिरह अगिन सूं लागि।
मृतक पीड़ा न जाणई, जाँणैगी यहु आगि ॥ पृ० १०, दोहा ३८

मरण :

जब चित्त में मृत्यु के समान अनुभूति हो या मृत्यु का कष्ट नगण्य जान पड़े, तब मरण की मनोदशा होती है। विरह की निराशा में एक दिन मरण भी आवे तो क्या ? यह मृत्यु असाधारण मृत्यु होगी :

कै बिरहणि कूं मींच दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सह्या न जाइ ॥ पृ० १० दोहा ३५

प्रभु ! या तो दर्शन दो या मृत्यु। यदि दर्शन नहीं देते तो अच्छा है, यह प्राण शरीर का त्याग कर दें। पल-पल में तिल-तिल कर जलना तो अत्यन्त कष्टप्रद है।

कबीर सुन्दरि यौं कहै, सुणि हो कंत सुजांण।
बेगि मिलौ तुम आय करि, नहिं तर तजौं परांण ॥
सुन्दरि कौ अङ्ग, दोहा १, पृष्ठ ८०

इस साखी में भी यही भाव अङ्कित है।

कबीर ने प्रेम-भाव का अनेक बार वर्णन किया है। यह प्रेमभाव आत्मा के प्रति है। इस वर्णन से कबीर का उद्देश्य शृङ्गार रस की निष्पत्ति करना नहीं है। कबीर में प्रेम काव्य का नहीं, आत्मा का गुण है। कबीर का लक्ष्य प्रियतम राम के प्रति मधुर भावों की अभिव्यक्ति मात्र है। फिर भी रसों के आधार भाव ही हैं : स्थायी और सञ्चारी। स्थायी भाव रस के मूल आधार प्रस्तुत करते हैं। जो स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं, वे सञ्चारी भाव हैं। कबीर में किसी काव्य-रीति की खोज व्यर्थ है, परन्तु रीतिशास्त्र जिन भावनाओं पर टिका है, उनके सहज संस्कार प्रेमी कबीर के हृदय में अवश्य हैं। कबीर की साखियों में प्रेमभाव के अन्तर्गत विभिन्न सञ्चारीभाव रमणीय दृश्यखण्ड प्रस्तुत करते हैं। निम्नलिखित साखियाँ विभिन्न सञ्चारीभावों के उदाहरण के रूप में रखी जा सकती हैं :

अतृप्ति :

चिरकाल के वियोग के पश्चात् आत्मा परमात्मा के मिलन के समय :

अंक भरे भर भेटिया, मन में नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलैं, जब लगि दोइ सरीर ॥ पृ० १४, दो० २५

लालसा :

फाडि पुटोला धज करौं, कामलडी पहिराउं।
जिहि जिहि भेषा हरि मिलैं, सोइ सोइ भेष कराउं ॥पृ०११,दो०३१

व्याकुलता :

बासुरि सुख नां रैण सुख, ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छांहिं ॥ पृ० ८, दो० ४

पश्चात्ताप :

बिरहणि थी तो क्यूं रही, जलीं न पिव के नालि।
रहु रहु मुगुध गहेलणी, प्रेम न लाजूं मारि ॥ पृ०१०,दो०३६

विवशता :

आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥ पृ० ८, दो० १०

शंका :

अन्देसडा न भाजिसी, संदेसौ कहियां।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां ॥ पृ० ८, दो० ९

विस्मृति :

हरि रस पीया जाणिये, जे कबहुं न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार ॥ पृ०१६, दो०४

हर्ष :

दीठा है तो कस कहूं, कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा हैं तैसा रहौ, तूं हरिष हरिष गुण गाइ॥ पृ० १७, दो० १

ये सञ्चारी भाव कबीर के प्रेम और विरह के सुन्दर उदाहरण हैं। यह प्रेमलीला घट-घटवासी भगवान् के प्रति है। कबीरग्रन्थावली की अनेक साखियों और पदावलियों में कबीर की विरहिणी आत्मा तड़प रही है और प्रभु-मिलन की आकांक्षा हृदय में लिये हुये उनके चरणों में प्रणत होकर कहती है :

'या कांमना करौ परपूरन समरथ हौ रांम राइ ॥' पद ३०६
कबीर का यह विरह संयोग में भी परिणत हुआ, जिसका प्रतिपादन निम्नाङ्कित पद में है :

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये। भाग बड़े घरि बैठे आये ॥
कहैं कबीर मैं कछू न कीना। सखी सुहाग राम मोहि दीना॥

पद २ पृष्ठ ८७

भक्त की विशेषताएँ :

सामवेद १-१-१-३ की ऋचा कहती है : 'सदा व इन्द्रश्चर्कृषद् आ उपो नु स सपर्यन्।' प्रभु सबको अपनी ओर आकर्षित कर रहा है और सब की सेवा करता हुआ निकट ही बैठा है। कबीर कहते हैं :

कबीर हरि सबकूं भजै, हरि कूं भजै न कोइ। पृ० ७१, दो० ४०

मलिक मुहम्मद जायसी ने भी लिखा है :

मैं संसार को सिरिजा पूता। मोर नांव कोऊ नहिं लेता ॥ २२ आ० कलाम

भगवान् सबकी सेवा कर रहे हैं, पर भगवान् की सेवा में संलग्न कोई भी नहीं दिखाई देता। कोई अपने शरीर की सेवा कर रहा है, कोई प्राण की और कुछ ऐसे भी हैं, जो मन की सेवा में लगे हैं। जब तक इन बाह्य पदार्थों तक दौड़ लग रही है, कामनाओं को पूर्णतया तृप्त करने की अतृप्त आशा मन को खींच रही है, तब तक भगवद्भजन कहाँ, हरि की सेवा कहाँ! भक्त बनना है, भगवान् की सेवा करनी है, तो इस आशा को मारना होगा, इन कामनाओं को अकाम करना पड़ेगा।

कबीरग्रन्थावली की निम्नांकित पंक्तियाँ भक्त की विशेषताओं पर प्रकाश डालने वाली हैं :

रामचरन जाके रिदै बसत है, ता जन कौ मन क्यूं डोलै।
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ सचु पावै, माया ताहि न झोलै ॥ पद ३७२
रांम भजै सो जानियै, जाकै आतुर नाहीं।
सत संतोष लीयें रहै, धीरज मन मांही ॥
जन कौं काम क्रोध ब्यापै नहीं, त्रिष्णां न जरावै।
प्रफुलित आनंद मैं रहै, गोब्यंद गुण गावै ॥

जन कौं पर निन्द्या भावै नहीं, अरु असति न भावै ।
काल कलपना मेंटि करि, चरनूं चित राखै ॥
जन सम द्रिष्टी सीतल सदा, दुबिधा नहिं आनैं ।
कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन मानैं ॥ पद ३६३
ज्यूं सुख त्यूं दुख द्रिढ मन राखै, एकादसी इकतार करै ।
मै तैं तजे तजे अपमारग, चारि बरन उपरांति चढै ॥ पद १८३
तेरा जन एक आध है कोई ।
काम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित, हरिपद चीन्हैं सोई ॥
राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया ।
चौथे पद कूं जे जन चीन्हैं, तिनहिं परम पद पाया ॥
असतुति निंद्या आसा छाँडै, तजै मांन अभिमांनां ।
लोहा कंचन सम करि देखै, ते मूरति भगवांनां ॥
च्यंतै तो माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमैं उदासा ।
त्रिस्नां अरु अभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा ॥ पद १८४
निरवैरी निहकांमता, सांई सेती नेह ।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥ १ ॥
संत न छांडै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत ।
चंदन भुवंगा बैठिया, तऊ सीतलता न तजंत ॥ २ ॥
कबीर हरि का भावंता, दूरैं थैं दीसन्त ।
तन षीणां मन उनमना, जग रूठड़ा फिरंत ॥ ३ ॥
कबीर हरि का भावंता, झीणां पंजरतास ।
रैणि न आवै नींदणी, अंगि न चढई मांस ॥ ४ ॥
अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ ।
ज्यूं जल टूटै मंछली, यूं बेलंत बिहाइ ॥ ५ ॥

पृ० ५०–५१। साध साषीभूत कौ अंग ।

जो भगवान् का भक्त है, उसका मन विचलित नहीं होता। मन के स्थिर रहने से वह जहाँ भी जाता है, शान्ति प्राप्त करता है। माया-मोह उसे झकझोर नहीं सकते। भक्त कभी घबड़ाता नहीं, सत्य, संतोष और धैर्य सदैव उसके मन में बने रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, परनिन्दा, असत्य,

दुविधा, मेरा-तेरापन, अहन्ता आदि से वह कोसों दूर रहता है। सुख और दुख, लोहा और कंचन, स्तुति और निन्दा सब में उसकी दृष्टि समान रहती है। अपमार्ग पर वह कभी पदार्पण नहीं करता। माया के सत, रज, तम तीनों गुणों से पृथक् वह चतुर्थ धाम को पहचान कर परम पद प्राप्त करता है। उसके चिन्तन का विषय सदैव भगवान् ही होते हैं। संसार से उदासीन होकर वह उन्हीं के चरणों में रमण करता है और भगवान् के गुण गाता हुआ सदैव आनन्द से प्रफुल्लित रहता है। निर्वैर, निष्काम, विषयों से पृथक्, चार वर्ण ही नहीं समस्त जातिगत भेदों से दूर, असन्तों की कलहज्वाला में भी शीतल, शरीर से क्षीण, जग से रूठा हुआ, प्रभु के वियोग से जल से पृथक् मछली की भाँति व्याकुल, मन से उन्मन, पर प्रभु से प्रेम रखने वाला, भगवान् का प्यारा भक्त दूर से ही दिखाई दे जाता है। अग्नि उसे सींचती है और विष में उसे अमृत का स्वाद आता है। उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न भक्त से भेंट हो जाना सौभाग्यवटिका का उदय होना है।

प्रपत्तिमार्ग :

वैष्णव आचार्यों ने प्रपत्ति अथवा शरणागति को सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है। प्रपत्ति के छः प्रकार हैं। नीचे कबीरग्रन्थावली से उनके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं:

अनुकूल का संकल्प :

नहीं छांडौ बाबा राम नाम, मोहिं और पढ़न सूँ कौन कांम।
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, सङ्ग सखा लिये बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल, मेरी पाटी में लिखि दे श्रीगोपाल॥ ३७९.
राम नाम बिज अमृत सार, सुमिरि सुमिरि जन उतरे पार।
कहै कबीर दासनि को दास, अब नहीं छांडौं हरि के चरन निवास॥ ३९३.

प्रतिकूल का त्याग :

विष तजि राम न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे॥ ३७५.
काहे कूं भीति बनाऊँ टाटी, का जानूँ कहाँ परिहै माटी।
काहे कूं मन्दिर महल चिणाऊँ, मूवां पीछैं घड़ी एक रहन न पाऊँ॥
काहे कूं छाऊँ ऊँच उँचेरा, साढ़े तीनि हाथ घर मेरा॥ ३६१

गोमूत्त्ववरण :

परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बन्धू मेरी।
हरि कौ नाम अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी॥ ३४१
एक निरञ्जन अकह मेरा, हिन्दू तुरक दहूँ नहिं नेरा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरञ्जन सूं मन लागा॥ ३३८
अहो मेरे गोब्यन्द तुम्हारा जोर, काजी बकिवा हस्ती तोर॥

× × ×

कहैं कबीर हमारे गोब्यन्द, चौथे पद मैं जनका ज्यन्द॥ ३६५

रक्षा का विश्वास :

मेरे राम की अभै पद नगरी, कहैं कबीर जुलाहा॥ १३४
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हरि बिन राखन हार न कोई॥ ९५
उस समरथ का दास हूँ, कदे न होइ अकाज॥ पृ० १० दोहा १७
कहै कबीर मेरे सङ्गम साथ, जल थल में राखै जगनाथ॥ २४१
काहे बीहौ मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा।
चौरासी लख जाके मुख मैं, सो च्यंत करैगा मेरा॥ २११

आत्मनिक्षेप :

को काहू का मरम न जानैं, मैं सरनागति तेरी।
कहै कबीर बाप रांम राया, दुरमति राखहु मेरी॥ २६१
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
इत भैभीत डरौं जमदूतनि, आयौ सरनि तुम्हारी॥ २६१
कहै कबीर बाप रांम राया, अब हूँ सरनि तुम्हारी आया॥ १५७
है हरिजन थैं चूक परी, जे कछु आहि तुम्हारौ हरी॥ १४६
निगम जाकी साखी बोलै, कहैं सन्त सुजान।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेउ भगवान्॥ पद २०१

कार्पण्य :

कहा करौं कैसै तिरौं, भौजल अति भारी।
तुम्ह सरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी॥

× × ×

कहै कबीर सुनि केसवा, तू सकल बियापी।

तुम्ह समान दाता नहीं, हंमसे नहीं पापी ॥ पद १७८

माधौ कब करि हौ दाया।

काम क्रोध अहंकार व्यापै, ना छूटै माया ॥

× × ×

कहै कबीर, यहु कासूं कहियै, यहु दुख कोइ न जानैं।

देहु दीदार बिकार दूरि करि, तब मेरा मन मानैं ॥ पद १०८

आत्मनिवेदन या विनय भक्ति की भूमिका :

इसके सात भाग हैं, जो क्रमशः नीचे दिये जाते हैं :

दीनता :

सुनहु हमारी दादि गुसाईं, अब जिन करहु अधीर।

तुम धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भांडै नीर ॥

बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।

देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ॥ पद २०५

× × × ×

तुम गारडू मैं विष का माता, काहे न जिवावो, मेरे अमृतदाता ॥ पद ८३

मानमर्षण :

कहै कबीर जिनि गया अभिमानां, सो भगता भगवंत समांना ॥ पद १३७

भलै नींदौ भलै नींदौ भलै नींदौ लोग, तनमन राम पियारे जोग ॥

जैसै धुबिया रजमल धोवै, हर-जप-रत सब निन्दक खोवै।

न्यंदक मेरे माई बाप, जनम-जनम के काटे पाप ॥ पद ३२२

भयदर्शन :

हुशटा डरपत रहु मेरे भाई, तोई डराई देत बिलाई।

तीन बार रूंधै इक दिन मैं, कबहूँक खता खवाई ॥ पद १७

माटी केरा पूतला, काहे गरब कराये।

दिवस चारि कौ पेखनौ, फिरि माटी मिल जाये रे ॥

लोह नाव पाहन भरो, बूड़त मांहीं बारो रे ॥ पद ३९८

भर्त्सना :

नर पछिताहुगे अंधा।

चेति देखि नर जमपुरि जै है, क्यूं बिसरौ गोब्यन्दा ॥

गरभ कुण्डिनल जब तूं बसता, उरध ध्यान ल्यौ लाया।

उरध ध्यान मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया॥ पद ४०१

मनोराज्य :

राम चरन जाकै रिदै बसत है, ता जन कौ मन क्यूँ डोलै।

मानौ अठ सिध्य नव निधि ताकै, हरषि हरषि जस बोलै॥

× × ×

कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहै राम कै बोलै॥ पद ३७२

आश्वासन :

प्रभु के सामर्थ्य का स्मरण दिलाकर दुख-दग्ध आत्मा को आश्वस्त करना :

भजि नारदादि सुकादि वंदित, चरन पंकज भामिनी।

भजि भजिसि भूषन पिय मनोहर देव देव सिरोमनी॥

बहु पाप परबत छेदनां, भौताप दुरिति निवारणां।

कहै कबीर गोब्यंदं भजि, परमानंद वंदित कारणां॥ पद ३९२

है हरि भजन कौ प्रवांन।

नीच पांवै ऊँच पदवी, बाजतै नीसान॥ पद ३०१

विचारणा :

बेचै रांम तौ राखै कौन, राखै रांम तौ बेचै कौन॥ पद ११३

मांगैं फिरैं जोग जे होई, बन का मृग मुकति गया कोई।

मूंड मुण्डायै जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुंती कोई॥ पद ११२

लोका मति के भोरा रे।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहोरा रे॥ पद ४०२

पश्चात्ताप :

आस नहीं पूरियारे, रांम बिन को कर्म काटणहार॥

जद सूर जल परिपूरता, चात्रिग चितह उदास।

मेरी विषम कर्म गति है परी, तार्थे पियास पियास॥ पद ११९

मेरी मेरी करता जनम गयौ, जनम गयौ परिहरि न कह्यौ॥

बारह बरस बालापन खोयौ, बीस बरस कछू तप न कीयौ॥

तीस बरस कै राम न सुमिर्‌यौ, फिरि पछितानै बिरध भयौ॥ पद २४३

भक्ति के अङ्ग :

भागवत भक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए हमने भक्ति के अङ्गों में योग, ज्ञान, स्वाध्याय, वैराग्य, विश्वास, सत्संग आदि का उल्लेख किया है। कबीर भी इन सभी अंगों में आस्था रखते हैं। इस सम्बन्ध में नीचे लिखा पद ध्यान देने योग्य है :

नर देही बहुरि न पाइये, ताथैं हरषि हरषि गुंण गाइये ॥
जे मन नहीं तजै विकारा, तौ क्यूं तिरिये भौ पारा ॥
जब मन छांड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलैं राम राई ॥
ज्यूं जांमण त्यूं मरणां, पछितावा कछु न करणां ॥
जांणि मरै जे कोई, तौ बहुरि न मरणां होई ॥
गुर बचना मंझि समावै, तब रांम नांम ल्यौ लावै ॥
जब राम नाम ल्यौ लागा, तब भ्रंम गया भौ भागा ॥
जब ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा ॥
जब अनहद बाजा बाजै, तब साईं संगि बिराजै ॥
होइ संत जनन के संगी, मन राचि रह्यौ हरि रंगी ॥
धरौ चरन कंवल बिसवासा, ज्यूं होइ निरभै पद वासा ॥
यह काचा खेल न होई, जन षरतर खेलै कोई ॥
जब षरतर खेल मचावा, तब गगन मंडल मठ छावा ॥
चित चंचल निहचल कीजै, तब राम रसांइन पीजै ॥
जब राम रसांइन पीया, तब काल मिट्या जन जीया ॥
यूं दास कबीरा गावै, ताथैं मन कौं मन समझावै ॥
जब मन ही मन समझाया, तब सतगुर मिलि सचु पाया ॥

पृ० १४६, पद १०३

मानव योनि में ही भक्ति सम्भव है। अन्य योनियाँ तो बन्धन और मोक्ष का अर्थ समझने में ही अशक्त हैं। न उनका अन्तस्तल ही मानव के समान विकसित है और न उसे अभिव्यक्ति देने वाली वाणी ही उन्हें प्राप्त है। कबीर ने इसी हेतु, सर्वप्रथम मानव शरीर की महत्ता प्रकट की है। इसी शरीर द्वारा आह्लाद में मग्न होकर, हृदय की तन्मयता के साथ भगवान् के गुणों का गान किया जा सकता है। हरिगुणगान भी तभी सार्थक होगा, जब अन्दर

मन अपनी कुटिलता को, अपने विकारों को छोड़ देगा। मन में यदि भांग भरी है, और जिह्वा से गुणगान चल रहा है, तो 'मन में राम, बगल में ईंट' वाली कहावत चरितार्थ होगी। सब यही कहेंगे कि यह तो छल है, धोखा देना है। बगल में रखी ईंट के साथ मन किसी के ऊपर वार करने की बात में लगा है। वह राम में अनुरक्त नहीं है। अतः हरिगुणगान के समय मन का निर्विकार, निश्छल और कुटिलता-रहित अर्थात् सरल होना परमावश्यक है। दूसरी बात जन्म और मृत्यु को एक समान समझना है। जन्म के समय हर्ष मनाने और मृत्यु के समय पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। एक दार्शनिक की ऐसी ही तटस्थ और वैराग्य वृत्ति होती है। इस वृत्ति को अपनाकर मानव अनुभव करने लगता है कि जन्म और मरण जीवन-सरिता के दो तट हैं। जहाँ एक होगा, वहाँ दूसरा भी उसके साथ रहेगा। जन्म के साथ मरण अवश्यंभावी है। जब मरण का वरण करना ही है, तो उसे जीवन में ही वरण क्यों न कर लिया जाय? कबीर के शब्दों में यह जीवन्मृत की अवस्था अमरत्वप्रदायिनी है। इस अवस्था को समझाने के लिये गुरु की आवश्यकता है। संशय, भ्रम आदि की ग्रन्थियों को काटने वाला गुरु होता है। सद्गुरु के वचनों में जो सत्य शिक्षा भरी होती है, उसी का अनुसरण करके साधक भगवान् की ओर उन्मुख और उनके ध्यान में लवलीन होता है। यही ध्यान और अनुराग उसे भवसागर से पार करते हैं। गुरु की कृपा से ही शिष्य योगाभ्यास द्वारा चन्द्र-सूर्य नाम की नाड़ियों को सुषुम्ना नाड़ी में मिलाकर अनाहत नाद का श्रवण करने में समर्थ होता है। यह अनाहत नाद उसे प्रभु के समीप बिठा देता है। योगाभ्यास के साथ सन्तजनों के संसर्ग में रहना अर्थात् सत्संग करना भी भगवद्भक्ति के रंग में मन को रँगने, उसे प्रभुचरणों में अनुरक्त रखने के लिये परम आवश्यक है। भगवान् के चरण कमलों में अविचल विश्वास की भावना सत्संग से ही दृढ़ होती है और साधक समस्त आसंगों से रहित होकर अभय पद में निवास करने योग्य बनता है। भक्ति का खेल कच्चा खाँड़ का खिलौना नहीं है। यह खड्ग की धार जैसा खरतर है :

> भक्ति दुहेली राम की जैसी खांडे की धार।
> जे डोलैं तौ कटि पड़ै, नहीं तौ उतरै पार॥ पृ० ७, दो० १५

इसी प्रकार भक्ति-धार पर खेलकर साधक शून्यमण्डल में अपना मठ बनाता है। अतः कथा नहीं, भगवान् में सच्चा अनुराग और विश्वास होना चाहिये। चित्त का चाञ्चल्य इसमें बहुत बड़ा बाधक है। अतः चित्त की वृत्तियों का निरोध करके उसे निश्चल और स्थिर कर देना चाहिये। रामरसायन, भगवद्भक्ति, इन सभी अङ्गों के पालन द्वारा स्थिर भूमिका वाली बनती है। जब मन को इस प्रकार अन्दर ही अन्दर समझा लिया जाता है, तभी उस गुरुओं के गुरु परमदेव से मिलकर आनन्द प्राप्त किया जाता है।

इस पद में मानव-देह, मन की निर्विकारता, जन्म-मरण में समत्व की भावना, संसार से विरक्ति, गुरु के वचनों में विश्वास, सत्संग, योगाभ्यास, अनुराग की दृढ़ता, चित्त की स्थिरता तथा आभ्यन्तर वृत्ति द्वारा मन को मन में ही समझाना (मनन और निदिध्यासन) भक्ति के अंग रूप में वर्णित हुये हैं।

साधन :

मानव-शरीर बार-बार नहीं मिलता। अतः साधना के उपयुक्त इस क्षेत्र में मानव को अपने विकास के साधन जुटाना ही चाहिये। ऊपर भक्ति के जिन अंगों का वर्णन हुआ है, वे भी साधन ही हैं। भक्ति स्वयं एक साधन है, पर वह जिन साधनों से सिद्ध होती है, वे भक्ति के अंग कहलाते हैं। भक्ति की भूमिका को दृढ़ करने के लिये इन अंगों से सहायता लेनी पड़ती है। नीचे हम सामान्य रूप से उन सभी साधनों का उल्लेख करेंगे, जो कबीर की सम्मति में प्रभु-प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं। जहाँ तक संसार का सम्बन्ध है, वह तम है। जहाँ भा अर्थात् प्रकाश नहीं, वहाँ तम है। इस आधार पर समस्त सांसारिक प्रवृत्तियों को तम की संज्ञा प्राप्त है। कबीर कहते हैं :

रांम बिनां संसार अंधकुहेरा। सिरि प्रगट्या जंम का पेरा॥ पद ३१७

सब आसण आसा तणां, निवर्तिकै को नांहि।
निवरति कै निबहै नहीं, परवर्ति परपंच मांहि॥ पृष्ठ ३५ दोहा २७

सारा संसार आशाओं-आकांक्षाओं को छत्र बना कर उनकी छाया में बैठा है। इन्हीं को वह अपना रक्षक समझता है। इन्हें छोड़ कर निवृत्ति-पथ पर चलने वाला कोई भी दिखाई नहीं देता। यदि कोई निवृत्ति-पथ का

पथिक बनता भी है, तो दूर तक उसका निर्वाह नहीं कर पाता, क्योंकि प्रपंच में लगी हुई उसकी पूर्व प्रवृत्ति इतनी बलवती है कि वह पथिक को निवृत्ति से खींच कर पुनः अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। अन्धकार से निकलने के लिये मानव हाथ पैर फटफटाता है, पर उसका राग उसे पुनः अन्धकार में फँसा देता है। प्रवृत्ति पर प्रवृत्ति के परत चढ़ते जाते हैं और जीव उनके सघन अन्धे कुहरे में फँसकर न जाने कितनी बार यमराज का आखेट बनता है।

मानव समझता है कि मेरे पास जितना अधिक वैभव होगा, उतना ही अधिक मै सुख का अनुभव करूँगा, पर अनुभव बताता है कि विश्व के विपुल वैभव, अपार ऐश्वर्य को साथ लिये हुये यहाँ के बड़े से बड़े चक्रवर्ती सम्राट् भी नाना चिन्ताओं के अड्डे बन कर स्वयं दुखी हुये और अपने साथ न जाने कितनों को दुखी कर गये। अतः कबीर के शब्दों में 'जिहि घरि जिता बंधावणां, तिहि घरि तिता अंदोह' (पृष्ठ ३५, दोहा २८), जिस घर में जितना ही अधिक सामान है, उस घर में उतना ही अधिक अंधकार है। अंधकार तो यहाँ सर्वत्र है, अन्तर केवल कम या अधिक मात्रा का है। इस अंधकार में यदि कोई जगती हुई ज्योति है, तो वह जगदीश्वर है। बिना इस ज्योति का आश्रय लिये कोई भी मानव प्रपंच से पार नहीं हो सकता[1]।

निःसंग :

कबीर लिखते हैं :

चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि ॥ १४-१९

चिन्तामणि रूपी आत्मा चतुर्मुख हाट में खड़ी बिक रही है। माया ने उस पर अपना हाथ सफा कर ही तो दिया, पर जब माया के साथ रह कर आत्मा व्याकुल हुई, तो प्रभु को पुकार कर कहने लगी 'मेरे मीर, दया करो। अब मैं किसी के भी साथ नहीं मिलूँगी'। सब का साथ छोड़ देना निःसंग होना है, जिससे उस एक का हाथ पकड़ा जा सके।

निःसंग होना जीवित अवस्था में ही संसार की ओर से मर जाना है। 'जीवन मृतक कौ अंग' में कबीर ने लिखा है :

---

१. जोति बिनां जगदीश की, जगत उलंध्या जाइ ॥ पृ० ७७ दोहा ४

जीवन थैं मरिबो भलौ, जौ मरि जानैं कोइ।
मरनैं पहली जे मरैं, तौ कलि अजरावर होइ ॥ ८ ॥
खरी कसौटी रांम की, खोटा टिकै न कोइ।
रांम कसौटी सो टिकै, जौ जीवत मृतक होइ ॥ ९ ॥

जीते हुए ही मरने का एक अर्थ है संसार के सब काम करते हुये भी उनसे असंपृक्त रहना। कमल के पत्ते रहते जल में हैं, पर उसकी एक भी बूँद अपने ऊपर नहीं ठहरने देते। इसी प्रकार हम रहें संसार में ही, पर उसका कोई भी प्रभाव अपने ऊपर न पड़ने दें। 'जीवित मृतक' का दूसरा अर्थ है विरागी बनकर सांसारिक सम्पर्कों से दूर किसी पार्वत्य गुहा का एकान्त आश्रय लेना। साधुओं में दोनों ही पथों का प्रचलन है। कबीर ने प्रथम पथ को श्रेय दिया है। संसार में रहते हुये ही संसार से जूझो, युद्ध करो। कर्म का यही मार्ग है।

सत्पथ :

कर्ममार्ग मानव को कुत्सित कर्मों से हटाकर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है। कुत्सित कर्म मानव को कर्मयोनि से हटाकर भोगयोनि में पटक देंगे, जहाँ उसे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विकास के लिये सत्कर्म करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। अपने पैर ठोस यथार्थ की भूमि पर जमा कर शिर को सीधा किये हुये, बुद्धि से कार्य लेते हुये, मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो शुभ, सत् अथवा भद्र की बात सोच सकता है और सत्पथ पर चल सकता है। पर जो व्यक्ति इस योनि में भी सत् के केन्द्र भगवान् को भूलकर असत् पथ पर चलता है, वह कबीर के शब्दों में आगामी जन्म में चमगादड़ बनता है, जो शाखाओं पर नीचा मुख किये हुये लटकता रहता[1] है। जिसका शिर झुका हुआ है, या नीचे की ओर है, उसकी बुद्धि मानों अधःपतित हो गई। भ्रष्ट बुद्धि वाले के सामने विनाश ही विनाश है। पक्षियों और पशुओं का शिर सीधा खड़ा नहीं हो सकता, वृक्षों का शिर एकदम नीचे की ओर है। यह है बुद्धि के दुरुपयोग का क्रमशः परिणाम। जो कुत्सित-पथ पर चलेगा, बबूल के

---

१. जिन हरि की चोरी करी, गये रांम गुंण भूलि।
ते बिधिना बागुल रचे, रहे अरधमुखि झूलि ॥ पृ० ३३ दोहा २८।
बागुल = बादुर, गादर, चमगादड़।

पेड़ बोवेगा, वह आम के मधुर, रसीले फल कैसे खा सकता[1] है ? अतः जन्म-मरण का विचार करते हुये मानव को कुत्सित कर्मों से निवृत्त हो जाना चाहिये[2]। सत्पथ पर चलते हुये, सत्कर्म करते हुये अपने को पवित्र बनाना ही उसके लिये कल्याणकारक है।

कबीर गृहस्थ में रहते हुये वैराग्यवृत्ति को अपनाने तथा सत्कर्म करने की सम्मति देते हैं। कर्म करने से ही मानव का हृदय धुलेगा, निर्मल बनेगा, ऐसी उनकी धारणा है। पर कर्म करते हुये हमारा ध्यान सदैव उस निर्मलता के निकेतन पर केन्द्रित[3] रहे। उस पवित्र प्रभु को यदि हमने विस्मृत कर दिया, आदर्श को ही आँख से ओझल कर दिया, जहाँ पहुँचना है, वही ध्यान में न रहा, तब तो मूल ही विनष्ट हो जायगा और 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' मूल के विनष्ट होने पर शाखा-पत्र-रूप पुण्य-कर्मों का सम्पादन किसके आधार पर खड़ा रह सकेगा ?

पूर्वजन्म के सत्कर्म इस जीवन में प्रतिफलित हो रहे हैं और इस जन्म के सत्कर्म आगामी जीवन को शुभ की ओर ले चलेंगे। यदि 'पूरब जनम करम भूमि बीजु नाहीं बोया' (पृष्ठ ३१३, पद१५३) तो इस जन्म में उस सत्कर्म के बीज को क्षेत्र में डाल देना चाहिये। यह बीज-वपन जन्म-जन्मान्तर में अङ्कुरित और पल्लवित होता हुआ कभी न कभी तो पुण्यवृक्ष बनकर प्रभु-प्राप्ति रूप सुफल देगा ही। कबीर लिखते हैं : 'सूर समांणां चंद मैं, दहूं किया घर एक। मन का च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख'। १३–१० 'पूरबला लेख' पूर्व जन्मों की सञ्चित सत्कर्म-सम्पत्ति होती है, जो आत्मा को परमात्मा की ओर ले जाती है।

वैराग्य :

संसार से राग करना द्वेषभाव का भी जनक है। राग और द्वेष का द्वन्द्व सुख-दुःख के द्वन्द्व को उत्पन्न करता है। इस क्लेश-बहुल परिस्थिति में मानव मिथ्या सुख को भी सुख समझ लेता है। इसी परिस्थिति का बोध कराने के

---

१. बोवै पेड़ बबूल का, अम्ब कहाँ ते खाइ ॥ पृ० ३० दोहा २७

२. जामण मरण विचारि करि, कूड़े कांम निवारि ॥ पृ० २१ दोहा १४

३. कबीर जे धन्धै तौ धूलि, बिन धन्धै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिन धन्धै में ध्याया नहीं ॥ पृ० २१ दोहा २१

लिये कबीर ने वैराग्य-परक साखियाँ लिखी हैं। 'काल कौ अङ्ग' में वे लिखते हैं : 'झूठे सुख को सुख समझकर मनुष्य मन में प्रसन्न होता है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि यह समस्त संसार काल के मुख का चबैना है, जिसमें से कुछ उसने मुख में डाल लिया है और कुछ अभी उसकी गोद में रखा[1] है।' काल वह बाज पक्षी है, जो मानवरूप चिड़ियों को न जाने कब झपट्टा मार कर अपना मुख-ग्रास बना लेगा[2]। मिथ्या सुख चार दिनों की चाँदनी है। इसके झूठे रंग में भूलकर अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिये। यह शरीर भी, जिससे सुख-भोग भोगे जा रहे हैं, कच्चे कुम्भ के समान है, जो न जाने कब धक्का लगते ही फूट जायगा और यह वैभव भी न साथ आया था, न साथ जायगा। बड़े बड़े 'लखपति' और 'करोड़पति' कहलाने वाले धनी भी यहाँ से नग्नहाथ होकर ही गए। इस लक्ष्मी को कोई भी अपने साथ नहीं ले जा सका[3]।

मानव को संसार में रहते हुये यहाँ का समस्त व्यवहार करना ही पड़ता है और इसके लिये गृह, धन, वस्त्र आदि की आवश्यकता पड़ती ही है। कबीर गृहस्थ में रहते हुये वैराग्य-साधना की आज्ञा देते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि वन में या गिरि-गुहाओं में संसार से अलग रह कर भी मानव इन संसारी वस्तुओं की चिन्ता से एकान्त मुक्त नहीं हो सकता। पर नितान्त आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि एक बात है और इनका अनावश्यक जमाव जोड़ना बिलकुल दूसरी बात। इसी मन्तव्य को सामने रख कर कबीर कहते हैं :

काहे कूं भीति बनाऊं टाटी। का जानूं कहां परिहै माटी॥
काहे कूं मंदिर महल चिणाऊं। मूंवां पीछे घड़ी एक रहण न पाऊं॥
काहे कूं छाऊं ऊंच उंचेरा। साढ़े तीनि हाथ घर मेरा॥
कहै कबीर नर गरब न कीजै। जेता तन तेती भुंइ लीजै॥ पद ६६१

मनुष्य को नितान्त आवश्यक सामग्री ही अपने पास रखनी चाहिये। फालतू वस्तुयें न उसके काम आती हैं और न उनके रखने की आवश्यकता है। सन्त इसी हेतु पेट भर भोजन तो माँग लेता है, पर सामान की गठरी बाँधकर नहीं चलता। वह सदैव प्रभु के सम्मुख रहता है। उसे विश्वास है कि उसे जिस वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी, प्रभु उसकी पूर्ति कर देंगे।

१ पृ० ७१ दोहा १ २. पृ० ७२ दोहा २
३. पृ० २४ दोहा ३७, ३८

नियतिवाद :

नियतिवाद का अर्थ यह नहीं है कि कर्म के क्षेत्र में भी मानव को स्वतन्त्रता नहीं है और उसका भला-बुरा कर्म पहले से ही निश्चित है। नियतिवाद का अर्थ है प्राक्तन जन्मों के कर्मों का फलभोग। जिसने जैसा कर्म किया है, उसको वैसा ही फल मिलेगा, यह निश्चित है। 'जाकौं जेता निरमया, ताकौं तेता होइ। रत्ती घटै न तिल बढै, जो सिर कूटै कोइ'।[१] कर्म के इस विपाक को न कोई बढ़ा सकता है और न कोई घटा सकता है। सिर कूट कर मर जाओ, पुरुषार्थ करते हुये मर-खप जाओ, पर इस कर्म-विपाक से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसे तो भोगना ही पड़ेगा। सुख और दुख, सम्पत्ति और विपत्ति कर्म के ही फल हैं। इस फल को प्रभु पर छोड़ कर हमें अपने पुरुषार्थ से विकास-पथ पर आगे बढ़ना चाहिये। कबीर कहते हैं :

सम्पति देखि न हरषिये, विपति देखि न रोइ।
ज्यूँ सम्पति त्यूँ विपति है, करता करै सो होइ॥ पद १२१ पृ० १२६
भूलै भरमि परै जिनि कोई। राजा रांम करै सो होई॥ पद २१३ पृ० १७८

ज्ञान :

ज्ञान का मुख्य आधार स्वाध्याय है। साक्षात्-कृत-धर्मा ऋषियों के ग्रन्थों को पढ़ने से हृदय की आँख खुलती है, संशय दूर होते हैं और मानव को सत्पथ का ज्ञान होता है। इन ग्रन्थों को समझने के लिये गुरु की भी आवश्यकता पड़ती है। पर सन्तों ने इन लिखी हुई तथाकथित ऋषि-प्रोक्त बातों पर विश्वास नहीं किया। यही नहीं, उन्होंने किताबी ज्ञान की निन्दा भी की। वे लिखी नहीं, आँखों देखी बातों का विश्वास करते थे और जिसने इन्हें देखा है, उसी को गुरु की संज्ञा प्रदान करते थे। कबीर ने स्वयं लिखा है :

बेद न जानूं, भेद न जानूं, जानूं एकहि रांमा॥ पद १२२

का पढियें का गुनिये, का बेद पुरांनां सुनिये।
पढें गुनें मति होई, मैं सहजैं पाया सोई॥ पद २६२

कागद लिखि लिखि जगत भुलाना, मन ही मन न समांना॥ पद ३४

परन्तु जब कबीर वेद अथवा पुराणों के स्वाध्याय की निन्दा करते हैं, तब उनका मुख्य लक्ष्य पाठमात्र की निन्दा करना है। वेद का स्वाध्याय

२. पृ० ५८ दोहा ८।

यदि वेद-वर्णित परमेश्वर का ज्ञान नहीं कराता[1], अथवा पढ़ने और समझने पर भी यदि मानव अहङ्कारी बनता है,[2] और ज्ञानी-ध्यानी बनकर भी भगवान् की ओर उन्मुख नहीं होता,[3] तो उसका ज्ञान, ध्यान, पुस्तक-पाठ अर्थात् श्रवण और मनन भी निरर्थक है। ऐसा व्यक्ति उस तैराक के समान है, जो नदी की मध्यधारा तक पहुँच कर ही डूब जाता है। जो ब्राह्मण अथवा ज्ञानी गुरु बनकर केवल वेदों में ही उलझा पड़ा है, जो जीवन की अन्तिम-समस्या को सुलझा नहीं पाया, उसके गुरु बन जाने से भी क्या लाभ हुआ? परमार्थ पथ के पथिक सन्त को वह क्या प्रकाश दे सकेगा? अतः वह लौकिक गुरु भले ही कहला ले, आध्यात्मिक गुरु नहीं बन सकता।[4]

कबीर ने आध्यात्मिक पक्ष को प्रधानता देकर उसी ज्ञान की निन्दा की है, जो भक्ति-निरपेक्ष है। जो ज्ञान मानव को भगवद्भक्ति में अनुरक्त करने वाला है, उसकी वे निन्दा नहीं, प्रशंसा करते हैं[5]। सच्चा ज्ञान-विज्ञान उनकी दृष्टि में प्रभु-विरह-जन्य उत्ताप को उत्पन्न करता है, जिसमें एक ओर साधक प्रभु से मिलने के लिये छटपटाता है और दूसरी ओर मार्ग में बाधा डालने वाली निम्नगा मानसिक प्रवृत्तियों के साथ उसका खड्ग-विहीन संग्राम चलता है[6]। अविवेक की तमिस्रा जब जीव को प्रभु से वियुक्त कर देती है, तब यह वियोगी जीव, दुःख के मरुस्थल (निर्जल, सूखे स्थान) में पड़ा हुआ, वातावरण के अनुकूल, जैसे-तैसे अपना कष्टमय जीवन व्यतीत करता है। जब यह रात्रि समाप्त होती है और अविवेक के स्थान पर ज्ञान का सूर्य उदय होता है, तब उस ज्ञान के प्रकाश में इसे प्रभु का स्मरण आता है और वियोग को समाप्त करने तथा प्रभु से मिलने के लिये यह आतुर हो उठता है।

---

१. पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बखाणैं, भीतर हूती बसत न जाणैं ॥ पद ४२
२. पढ़ै गुनैं उपजै अहङ्कारा, अधधर डूबे वार न पारा ॥ पद १३२
३. झूठा जप तप झूठा ग्यान, रांम नाम बिन झूठा ध्यान ॥ पद २५२
४. ब्राह्मण गुरु जगत का साधू का गुर नाहिं।
   उरझि पुरझि करि मर रह्या चारिउ बेदां मांहि ॥ ३६, १०
५. जो जन जांनि जपैं जग जीवन, तिनका ग्यांन न नासा ॥ पद २३५ पृष्ठ १६८
६. जिहि घटि जांण बिनांण है, तिहि घटि आवटणां घणां।
   बिन षंडै संग्राम है, नित उठि मन सौं झूझणा ॥ पृष्ठ ५१ दोहा ८

कबीर ने यहाँ जीव की शंख से उपमा दी है। शंख समुद्र से वियुक्त होकर मानों क्षुद्र या सूखे, रेतीले मैदान में पड़ा है। मनुष्य उसे वहाँ से उठा लाता है और प्रातःकाल मन्दिरों में देवार्चन के समय उसे बजाता है। शंख से जो स्वर निकलता है, वह मानों शंख रूप जीव का अपने स्रोत से वियोग-जन्य ज्ञान के कारण धाड़ मारकर रोना है।[1]

अतः कबीर की दृष्टि में वही ज्ञान ज्ञान है, जो उस एक प्रभु का ज्ञान कराता है। जो ज्ञान उस एक ईश्वर का परिचय नहीं कराता, वह अज्ञान ही है। उस एक का ज्ञान होने से अन्य सब कुछ जान लिया जाता है, पर उस एक का ही ज्ञान नहीं हुआ, तो अन्यों का बहुत ज्ञान प्राप्त करना किस काम का ?[2]

किसी वस्तु का ज्ञान ही मानव को उसकी प्राप्ति के लिये सचेष्ट करता है। परिचय के बिना वस्तु का मर्म, रहस्य अनवगत ही रहता है।[3] अतः कबीर की सम्मति में ज्ञानकाण्ड प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में साधक सिद्ध होता है।

गुरु :

कबीर ने ऐसे ज्ञान के लिये गुरु की आवश्यकता स्वीकार की है। गुरु सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ प्रयोगात्मक ज्ञान का भी धनी होता है। वह श्रवण और मनन के साथ दर्शन भी करता है। वास्तव में ऐसा ही गुरु गुरु बनने के योग्य है। उसी के वचन विद्ध होकर हृदय की ग्रन्थि को खोल देते हैं। जो स्वयं संशयों से ऊपर न हुआ, वह शिष्य के संशयों का उच्छेद कैसे कर सकेगा ? और जब तक संशय हृदय को आक्रान्त किये हुए हैं, तब तक दर्शन कैसा ? जो स्वयं भगवान् के प्रेम में मग्न नहीं हुआ, वह शिष्य को प्रेमपथ का उपदेश कैसे दे सकता है ? और जब तक प्रभु-प्रेम प्रदीप्त न हुआ, तब तक प्रकृति के पाश कैसे कट सकेंगे ? जब तक प्रकृति के पाश जकड़े हैं, तब तक जीव बेगाना है, अपरिचित प्रदेश में है, अपने घर से दूर है। वह ज्ञान

---

१. रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी उगै सूरि॥ पृष्ठ ११ दोहा ४४

२. जे वो एकै जांणियां, तौ जांण्यां सब जांण।
जे ओ एक न जांणियां, तौ सब ही जाण अजांण॥ १९, ८

३. कहै कबीर कछु कहत न आवै। परचै बिना मरम को पावै॥ पद २१८

भी उसे गुरु के प्रसाद से ही प्राप्त होता है। गुरु शिष्य के हृदय में जिस ज्ञान और प्रेम की अग्नि को प्रज्वलित करता है, उसकी लैलायमान शिखाओं को विरले, सौभाग्य-सम्पन्न व्यक्ति ही देख सकते हैं।[1] ज्ञान की यह लहर जब अन्तस्तल में लहराती है तब उसकी ध्वनि में अतीत की समस्त ध्वनियाँ, आकाश में व्याप्त निखिल स्वर-संसृति ध्वनित होने लगती है। गुरु के प्रसाद से उस समय ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है, जिसे सुई के छेद से हाथी के निकल जाने की अवस्था कह सकते हैं।[2] कबीर को ऐसे ही सद्गुरु मिल गये थे, जिन्होंने धैर्य बंधाकर कबीर को स्थित-प्रज्ञ बना दिया। भगवद्भक्तों में उनकी स्थापना हुई और वे मानसरोवर के तट पर बैठकर हीरे का वाणिज्य करने लगे, सात्त्विक, निर्मल, प्रशान्त प्रकाश की अवस्था में पहुँचकर दूसरों को ज्ञानालोक से आलोकित करने लगे।[3]

ज्ञान की आंधी और प्रेम की वर्षा :

कबीर ने आंधी के बाद आने वाली वर्षा का रूपक बांधकर नीचे लिखे पद में ज्ञान के पश्चात् प्रेम का उदय दिखाया है।

संतौ आई ग्यांन की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बांधी रे।
हिति चत की द्वै थूंनीं गिरानी, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा॥
जोग जुगति करि संतौं बांधी, निरचूं चुवै न पांणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरी की गति जब जांणी॥
आंधी पीछें जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटै, उदित भया तम षीनां॥

पद १६ पृष्ठ ९३

ज्ञान की आंधी जब आती है, तब भ्रम की टट्टी उड़ जाती है, माया के बंधन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, स्वार्थ और वासना (हिति और चत[4]), की

---

१. पद ८। २. पद १०। ३. पृष्ठ ४ दोहा २९

४. चत = चित्त = वासना; यथा—

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः॥ योगवाशिष्ठ ६-९४

दोनों थुनकियां गिर पड़ती हैं, मोह का वलींदा (भीम, छप्पर को साधने की सबसे बड़ी बल्ली या बड़ेरा) टूट जाता है, तृष्णा रूपी छप्पर पृथ्वी के ऊपर गिर पड़ता है और कुबुद्धि के बर्तन फूट जाते हैं। इस टट्टी को खूब सोच समझकर युक्तिपूर्वक बांधा गया था। यह बिना चूने वाली (असवन्ती) थी, इसमें से पानी की बूँद तक नहीं टपकती थी। प्रभु की गति जब समझ में आई, तो काया का कूट कपट एकदम निकल गया और इस आंधी के बाद जब प्रेमजल की वर्षा हुई, तो समस्त भगवद्भक्त उसमें भीग गये। कबीर कहते हैं कि प्रेम की वर्षा के उपरान्त ही उस भगवान् रूपी भानु के दर्शन होते हैं, जिसके प्रकाश में अन्धकार क्षीण हो जाता है तथा जीव प्रकृति से हटकर प्रभु को प्राप्त करता है।

> पिंजर प्रेम प्रकासिया, जागा जोग अनन्त।
> संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत॥ पृष्ठ १३ दोहा १२

प्रेम के उदय होने पर अनन्त योग की भावना भी जाग्रत हो जाती है, संशय नष्ट हो जाता है, सुख का आगमन और प्रिय स्वामी से मिलन होता है। इस अवस्था में साधक का काया-कल्प भी हो जाता है। उसके मुख से कस्तूरी की सी महक तथा सुवासित मीठी वाणी प्रकट होने लगती है।

पृष्ठ १३ दोहा १४

चेतन आत्मा जब प्रेम रूपी अश्व पर सवार हो जाता है, तो हाथ में ज्ञान रूपी खड्ग लेकर वह मृत्यु को भी मार डालता है। इस अनुभूति का वर्णन कबीर ने नीचे लिखे दोहे में किया है:

> कबीर' घोडा प्रेम का चेतन चढ़ि असवार।
> ग्यान खड्ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार॥ पृ० ७०, दो० २७

जागरण और विश्वास:

गुरु ज्ञान और प्रेम की ओर भक्त को लगा देगा, पर यदि भक्त में प्रमाद और अविश्वास है तो वह सीखकर भी कुछ भी न सीख सकेगा। गुरु मार्ग का प्रदर्शन ही तो कर सकता है। उस मार्ग पर चलने के लिये वह शिष्य को अपने पैर नहीं दे सकता। चलना तो शिष्य को अपने पैरों ही पड़ेगा। उसे सावधान रहकर गुरु-वचनों पर विश्वास करते हुए स्वयं विचारना होगा।

गुरु कहकर समझा देगा, पर उसकी साधना तो स्वयं करनी होगी। इसी को आत्मसाधना कहते हैं[1]। कबीर लिखते हैं :

आप ही आप विचारिये, तब केता होइ अनंद रे ॥

× × × ×

केवल कहि समझाइया, आतमसाधन सार रे ॥ पद ५ पृष्ठ ८९

आपे मैं तब आपा निरष्या, अपन पै आपा सूझ्या ॥

× × × ×

अपनैं परचै लागी तारी। अपन पै आप समांनां ॥

कहै कबीर जे आप विचारै, मिटि गया आवन जांनां ॥ पद ६

'बिना अपने मरे स्वर्ग दिखाई नहीं देता', इस लोकोक्ति में इसी आत्म-साधना की अभिव्यञ्जना है। आत्मसाधना में विश्वासपूर्वक सदैव जागृत रहने की आवश्यकता है। एक विश्वास के अभाव में सभी साधन, सभी उपाय, थोथे और निकम्मे हो जाते हैं[2]। प्रमाद तथा असावधानी तो किसी भी दशा में हितकर नहीं है। न जाने कब और किधर से काम-क्रोधादि चोर प्रवेश करके साधक की सारी कमाई को लूट लें। अतः सदैव जागृत रहना चाहिये।[3] यदि साधक सावधान न रहा, तो कबीर कहते है, प्रकृति उसे सावधान करेगी। यम का डण्डा शिर पर पड़ते ही उसे छठी तक की याद आ जायगी।[4] वेद भी कहता है, विनाश और मृत्यु की घड़ियाँ मानव

---

१. स्वय वाजिंस्तन्वम् कल्पयस्व स्वय यजस्व स्वय जुषस्व।
महिमा ते अन्येन न सन्नशे ॥ यजु० २३, १५

२. सबै पिछोड़े थोथरे, एक बिना बेसास ॥ पृष्ठ ५९, दोहा १९

३. जागि रे जीव जागि रे।
चोरन को डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे ॥
ररा करि टोप ममां करि बखतर, ग्यान रतन करि पाग रे।
ऐसैं जो अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे ॥
ऐसी जागणीं जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे।
कहै कबीर जाग्या ही चहिये, क्या गृह क्या बैराग रे ॥ पद ३५०

४. जागहु रे नर सोवहु कहा। जम बटपारैं रूंधैं पहा ॥
जागि चेति कछू करौ उपाइ, मोटा बैरी है जंमराइ ॥

की चेतना को सजग कर देती हैं और वह प्रभु को स्मरण करने लगता है।[1]

योग :

कबीर ने नीचे लिखे पद में हठयोग की क्रियाओं का उल्लेख किया है, जो त्रिभुवनधनी निरंजन का दर्शन करा देती है :

> ऐसा ध्यांन धरौ नरहरी, सबद अनाहद ध्यंत न करी ॥
> पहली खोजौं पंचे बाइ, बाइ ब्यंद लै गगन समाइ ॥
> गगन जोति तहां त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनां मेलौ बंधि ॥
> मन थिर, होइत कंवल प्रकासै, कंवला मांहिं निरंजन वासै ॥
> सतगुर संपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तौ कहां बतावै ॥
> सहज लछिन ले तजौ उपाधि, आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि ॥
> पुहुप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभवन धणीं ॥ पद ३२५

हठयोगी शरीर और प्राणों की शुद्धि के लिए प्राणायाम द्वारा प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान नाम की पंच वायुओं की खोज करता है और उनकी निम्नगा धारा को ऊर्ध्वगति देकर आज्ञाचक्र की ओर ले जाता है। यहीं से गगन-ज्योति के दर्शन होते हैं। यहीं त्रिकुटी रूपी त्रिवेणी का संगम है, जहां रवि और शशि, गंगा और जमुना, इडा और पिंगला नाम की नाड़ियां मिल कर एक हो जाती हैं और सरस्वती अथवा सुषुम्ना नाड़ी में मग्न होकर सहस्रार चक्र की ओर प्रधावित होती हैं। इस अवस्था में मन स्थिर हो जाता है, हृदय-कमल खिल उठता है। इसी हृदय-कमल में निरंजन का निवास है। सद्गुरु की सहायता से हृदय-कमल का सम्पुट खुलता है। जिन्हें सद्गुरु प्राप्त नहीं हुए, वे इस अवस्था को क्या समझ सकते हैं? जब साधक सद्गुरु की कृपा से उपाधियों को छोड़ कर, आसन को स्थिर करके, निद्रा को वश में कर लेता है, तब उसे ये पुष्प-पत्र, हीरामणियां, प्रकाश आदि अपने अन्दर ही दिखाई देते हैं। यहीं पर तीनों भुवनों का स्वामी विराजमान है।

अनेक पदों में कबीर ने बाह्य दिखावे के स्थान पर आन्तरिक योग का

> सेत काग आये बन मांहिं, अजहू रे नर चेते नांहि ॥
> कहै कबीर तबै नर जागैं, जंम का डंड मूड मैं लागै ॥ पद ३५१

1. सोऽयं पुष्टीविंजइन आभिमाति ॥ ऋ० २, १२, ५

वर्णन किया है और उसी को वे सत्य भी मानते हैं। इस सम्बन्ध में पद संख्या २०६ देखने योग्य है।

इन्द्रियनिग्रह :

कोइ एक देखै संत जन, जाकैं पांचू हाथि।
जाकैं पांचू बस नहीं, ता हरि संग न साथि॥ पृष्ठ ८१ दोहा २
यूँणैं पखथा न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैदान में, करि इंद्रियां सूं झूझ॥ पृ० ६८
सूरा तन कौ अंग दोहा २

जिसके वश में पांच ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं, वह पांच कर्मेन्द्रियों को भी अपने वश में नहीं कर सकता। जिसने इन्द्रियों को वश में नहीं किया, उसके साथ भगवान् भी नहीं रह सकते।

कांम मिलावै रांम कूं, जे कोई जांणै राखि।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलैं साखि॥ पृ० ५१ दो० ११

कबीर इस दोहे में एक दूसरी दिशा का संकेत कर रहे हैं, जिसकी ओर आचार्य वल्लभ की भी दृष्टि गई है। यह दिशा है इन्द्रियों को सांसारिकता से आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देना। इन्द्रियों का बाह्य प्रसार काम का ही तो प्रसार है। इन्द्रियों के विषय काम-भोग के ही विषय हैं। यदि हम काम को भोग-वासना के कर्दम से निकाल कर ईश्वर में लगा दें, जितनी उद्दाम काम-वासना कामिनी और कंचन की ओर जाती है, उतनी ही वहां से हट कर ईश्वर की ओर हो सके, तो कल्याण की प्राप्ति में देर नहीं होगी।

मन का संयम :

मैंमंता मन मारि रे, नांन्हां करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीसि॥ पृ० २९ दोहा १०

पृष्ठ ८१ पर दोहा संख्या ४ भी यही है, केवल प्रथम चरण में भिन्नता है, जो इस प्रकार है: 'इस मन कौं मैदा करौं।' शेष तीनों चरण इसी के अनुसार हैं।

मन का मारना मन के विकारों को दूर करना है। मन के विकार राग और द्वेष में दिखाई देते हैं, जिनका परिणाम सुख और दुख है। राग के

रूप काम, मोह और लोभ है, क्रोध द्वेष का रूप है। इन विकारों पर विजय प्राप्त करना ही मन का संयम है। कबीर की दृष्टि में सच्चा शूरवीर वही है, जो मन के इन विकारों से युद्ध करता[1] है। इस शूरवीर का रणक्षेत्र यह उन्मुक्त मन का आकाश है। यहीं पर ज्ञानरूपी हाथी पर चढ़ कर काम-क्रोधरूपी शत्रुओं से इसे युद्ध करना[2] पड़ता है।

मन के इन विकारों को नष्ट कर देने पर इन्द्रियाँ स्वयं वशीभूत हो जाती हैं। विकारों के मरने पर शील, सत्य और श्रद्धा जैसी दैवी सम्पत्ति मन को प्राप्त होती है और इन्द्रियों का भी उद्धार हो जाता है। उनकी वृत्ति नीचे से हटकर उत् = ऊपर की ओर धारित, स्थिर होने लगती है[3]।

मन का संयम अध्यात्म क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व रखता है। यह अध्यात्म और लौकिकता का मध्यवर्ती है। यहीं से उद्वेगों की धारा आरम्भ होकर प्राण तथा नाड़ी संस्थान में से निकलती हुई शरीर को प्रभावित करती है और यहीं से धारा उलट कर ऊर्ध्व गमन द्वारा बुद्धि तथा अहङ्कार के क्षेत्रों को सींचती हुई अपने मूल तक पहुँच जाती है। अतः मन को मार लेने का कार्य साधक तब तक सार्थक न समझे, जब तक विकारों का बीज तक जल-भुन न जाय। कबीर के ही शब्दों में :

मृतक कूं धीजौ नहीं, मेरा मन बीहै।
बाजै बाव विकार की, भी मूवा जीवै ॥ ३०-२३

सींध भई तब का भया, चहुं दिसि फूटी बास।
अजहूं बीज अंकूर है, भी ऊगण की आस ॥ पृष्ठ ८९ दोहा ६

कबीर मन पंक्षी भया, बहुतक चढ्या अकास।
उहां ही तैं गिरि पड्या, मन माया के पास ॥
मन कौ अंग, दोहा १५

तुम कहते हो मन मर गया, पर मेरा मन तो डर रहा है, इस बात पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि इसके अन्दर विकारों की वायु (सांस) अभी चल रही है। पता नहीं, यह कब मर कर भी पुनः जीवित हो उठे।

---

१. कबीर सोई सूरिवां, मन सूं मांडै झूझ ॥ पृ० ६८ दो० ३ (सूरा तन कौ अङ्ग)

२. कांम क्रोध सूं झूझणा, चौड़े माड्या खेत ॥ ६८-७

३. मन न मार्‍या मन करि, सके न पंच प्रहारि।
सील सांच सरधा नहीं, इंद्री अजहूं उघारि ॥ २९-१५

क्या मन का संयम सिद्धि द्वारा, चारों ओर फैली हुई कीर्ति की सुगंध द्वारा सिद्ध हो गया? अरे नहीं, अभी इसके अन्दर अंकुरित होने वाले विकार के बीज विद्यमान हैं, जो अनुकूल अवसर पाते ही विकसित हो उठेंगे। मन पक्षी बन कर उड़ता हुआ आकाश में बहुत दूर तक चढ़ जाता है, पर उसकी निम्नगा प्रवृत्ति उसे पुनः माया के पास खींच लाती है। मन के मरने की पहचान क्या है? कबीर ने इस पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं:

मन का भ्रंम मन हीं थैं भागा। सहज रूप हरि खेलण लागा॥
मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं, आपै अकल सकल घट मांहीं॥ पद २०३ पृ० १५७

जब लग मनहिं विकारा, तब लग नहीं छूटै संसारा।
जब मन निरमल करि जांनां, तब निरमल मांहि समाना॥
ब्रह्म अगनि ब्रह्मा सोई, अब हरि बिन और न कोई॥
जब पाप पुंनि भ्रंम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी॥ पद २६२

शीतलता तब जांणिये, समिता रहै समाइ।
पष छाँडै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ॥ ६३-३

जब तक मन में विकार भरे पड़े हैं, तब तक मानव संसार में आसक्त रहेगा, पर जब मन विकार-शून्य होकर निर्मल बनेगा, तब वह निर्मल निरंजन में अनुरक्त होगा। इस दशा में मन का भ्रम मन से ही दूर होगा। भ्रम न रहने पर संसार नहीं रहेगा और मन स्वाभाविक रूप से हरि में विचरण करने लगेगा। मन को कहीं न कहीं आश्रय चाहिये। विकारों के समय इसके सामने विविध रूप वाला संसार ही संसार था। विकार-शून्य होने पर हरि ही हरि रह जाते हैं। हरि के अतिरिक्त इस ओर कुछ भी दिखाई नहीं देता। इसी अवस्था में यह पक्ष-विपक्ष, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, मैं-तू आदि समस्त द्वन्द्वों से रहित हो जाता है। यही शीतलता और समता की अवस्था है, जहाँ शब्द पहुँच कर दूषित नहीं कर पाते और एक आत्मतत्त्व अखण्डरूप से घट-घट में रमता हुआ दृष्टिगोचर होने लगता है। कबीर ने इसी को उन्मनी तथा अद्वैत की अवस्था भी कहा है।[1] उन्मनी अवस्था में पानी में नमक के

---

1. मन लागा उन्मन सौं, गगन पहुंचा जाइ।
देख्या चंद बिहूणां चांदिणां, तहां अलष निरंजन राइ॥ १५
मन लागा उन्मन सौं, उन्मन मनहिं बिलग।
लूण बिलगा पाणिया, पाणी लूंण बिलग॥ १६ पृष्ठ १३

समान मन लीन हो जाता है। फिर उसके सामने न रूप रहता है, न रेखा, न वर्ण। तन और मन सब मिल कर एक हो जाते हैं तथा मोह-शोक-रहित, निर्भय, अद्वैत अवस्था सामने आ जाती है। ऐन्द्रिय गोचरों की अनेकता जहाँ मन में जाकर एकात्म (अद्वैत) बनती है, वहाँ मन की नाना संकल्प-विकल्पात्मक विविधरूपता उन्मनी अवस्था में जाकर अद्वैत को प्राप्त होती है।

अहङ्कार का त्याग :

ऐसी बांणी बोलिये, मनका आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥ पृ० ५७ दो० १
अब तौ झूझ्यां ही बणै, मुडि चाल्यां घर दूरि।
सिर साहिब कौं सौंपता, सोच न कीजै सूर ॥ पृ०६९दो०११
दूरि भया तौ का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपै नहीं, कारिज सिधि न होइ ॥ पृ०६९दो०१८
गुरु गोविंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवति मरै, तौ पावै करतार ॥ पृ० ३ दो० २१

मन के संयम के ऊपर अहङ्कार का त्याग आता है। त्याग का तात्पर्य यहाँ समर्पण है। अहंता का समर्पण किसके आगे करना चाहिये? उसी साहिब के आगे, जिसने इसे जीव को दिया। अहंता समाप्त नहीं हो सकती। अतः प्रभु के आगे उसका समर्पण कर देना चाहिये। जो वस्तु जिसकी है, उसे उसी को प्रदान कर देने में शोभा[1] है। जब शिर को समर्पित कर दिया, अहङ्कार अपने पास अपनी सम्पत्ति के रूप में नहीं, प्रभु की धरोहर के रूप में अनुभव होने लगा, तो उस अव्यक्त भूमिका से निकल कर आती हुई वाणी में नम्रता होगी, शीतलता होगी। वह वक्ता और बोद्धव्य दोनों को ही सुख देगी। प्रभु परम हैं, पर शिर-समर्पण-अहङ्कार-त्याग की इस क्रिया द्वारा वे भी अवम बन जाते हैं, निकट आ जाते हैं।

जब थैं इन मन उनमन जांनां। तब रूप न रेष तहा लै बांनां ॥
तन मन, मन तन एक समानां इन अनभै मांहैं मन मांनां ॥
आतमलीन अषंडित रांमां। कहै कबीर हरि मांहि समानां ॥
पद २०३ पृष्ठ १५८

१. मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै मेरा ॥ पृष्ठ १९ दो० ३

प्रभु का आश्रय :

ऊपर जिन साधनों का वर्णन किया गया है, वे बिना प्रभु का आश्रय लिये सफल नहीं होते। ज्ञान, कर्म, जप, तप, योग, याग आदि सभी का अनुष्ठान प्रभु-आश्रय पर अवलम्बित है। जो प्रभु की शरण में पहुँच गया, वह साधन-सम्बल-विहीन होने पर भी समर्थ है, तिनके के समान अकिञ्चन होने पर भी धनी है। ज्ञानी गुरु और साधक चेला दोनों ही प्रभु-आश्रय से वञ्चित हो विरह की अग्नि में जलते हैं, पर परिपूर्ण प्रभु के गले से लगा हुआ दीन-हीन तृण (प्रणतभक्त) जलने से बच जाता है[१]।

शरणागत भक्त प्रभु के सामर्थ्य और अपने दैन्य को पग-पग पर अनुभव करता है। वह समझता है, मेरी अल्प शक्ति है, न मैंने कुछ किया है और न कुछ करने के योग्य मेरे पास साधन ही हैं। मैंने जो कुछ किया है, वह भगवान् के सहारे से किया[२] है। अतः सब उन्हीं का किया हुआ है।

मैं तो सर्वात्मना उन्हीं के चरणों की शरण ग्रहण करके पड़ा रहता हूँ। मैं प्रभु का कुत्ता हूँ। प्रभु तो-तो करके बुलाते हैं, तो उनके पास पहुँच जाता हूँ और दुर-दुर कर देते हैं, तो हट जाता हूँ। प्रभु जैसे रखते हैं, वैसे ही रहता हूँ और जो कुछ दे देते हैं, उसी को खा लेता[३] हूँ।

प्रभु ही मेरे सब कुछ हैं। उन्हीं के नाम पर मैं जीवन धारण कर रहा हूँ[४]। वे चिन्तामणि हैं और मेरे चित्त में ही बसे हुये हैं। मुझे तो अपने लिये चिन्ता भी नहीं करनी पड़ती। प्रभु ही मेरी चिन्ता करते हैं। उनका ऐसा ही स्वभाव है। यदि मैं चिन्ता करूँ भी, तो क्या वह प्रभु की इच्छा के बिना पूरी हो जायगी। अतः मैंने अपनी समस्त चिन्ताओं का भार उन्हीं पर छोड़ दिया[५] है। जो पशु-पक्षी आदि अनन्त जीव-जन्तुओं का पालन कर रहा है, वही मेरा भी रक्षक है।

---

१. पृष्ठ १२ दोहा ७ २. पृष्ठ ६१ दोहा १ ३. पृष्ठ २० दोहा १५

४. पद २५९

५. त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय ऋ० ८।४३।२

दिल च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभू की वांणि ॥ पृष्ठ ५८ दोहा उत्तरार्द्ध ५

× × ×

कबीर का तू चितवै, का तेरा च्यंता होइ।

अण-च्यंत्या हरिजी करै, जो तोहि च्यंत न होइ ॥ ६ ॥ पृष्ठ ५८

प्रभु का आश्रय समर्पण की भावना के साथ सम्बद्ध है। अतएव उसी के साथ भक्त को प्राप्त हो जाता है।

नाम-स्मरण का महत्त्व :

प्रभु के आश्रय में नाम-स्मरण विशेष महत्त्व रखता है। किसी अज्ञात व्यक्ति के भी नाम के सहारे हम पूछते-पूछते उसके घर तक पहुँच जाते हैं। प्रभु का निवास तो हम सबके अन्दर है। उससे अधिक निकट और कोई वस्तु है ही नहीं, पर उसकी निकटता सामान्यतया अनुभूति-ग्राह्य नहीं हो पाती। नाम ही उसे ग्राह्य बनाने में सफल होता है। अतः उसका नाम जपते हुये हम उसकी निकटतम उपस्थिति का पल-पल में अनुभव करते रहें, यही नाम-स्मरण का महत्त्व है।

प्रभु के अनेक नाम हैं, पर सब नामों का मूलाधार ओ३म् है। वैखरी वाणी में लिये जाने वाले सभी नामों का मूलस्रोत यही है। पुरा काल के ऋषि-मुनि इसी नाम से प्रभु का स्मरण करते थे। वैदिक भक्ति के निरूपण में हम इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके हैं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के साथ ओ३म् के अतिरिक्त और भी कई नाम साधकों के सम्मुख आये। इन नामों में जितना अधिक प्रचार राम नाम का हुआ, उतना अन्य किसी भी नाम का नहीं। कबीर ने भी इसी नाम को महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं :

> कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
> राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस ॥ २ ॥
> तत तिलक तिहूं लोक मैं, राम नांव निज सार।
> जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥ ३ ॥
> भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार।
> मनसा वाचा क्रमनां, कबीर सुमिरन सार ॥ ४ ॥

कबीर कहते हैं, मैं ही नहीं, ब्रह्मा और महादेव भी यही कह गये हैं कि इस विश्व में सारभूत यदि कोई तत्त्व है, तो वह राम का नाम है। समस्त तत्त्वों का यह तिलक है, शिरोमणि है। भक्तिपूर्वक भजन करने में भी इसी नाम का जाप अधिक प्रभाव करता है। अन्य सब विधियाँ क्लेशकारिणी हैं। अतः मन, वचन, कर्म से इसी नाम का स्मरण करना चाहिये। भक्त को इसी

नाम की चिन्ता करनी चाहिये। अन्य बातों की चिन्ता करना तथा उनकी ओर दृष्टि ले जाना निरर्थक ही नहीं, काल के पाशों में पड़ना है।

कबीर राम नाम के जाप में घोर से घोर तपश्चर्या करने को प्रस्तुत हैं। उन्हें यदि शरीर को जलाकर स्याही बनानी पड़े और अपने कंकाल से लेखनी का काम लेना पड़े, तब भी उसके द्वारा वे राम का नाम लिख-लिखकर प्रभु के पास भेजेंगे।[1]

रामनाम क्या है? कबीर की दृष्टि में यह भवसागर से पार होने के लिये अजवन्ती नौका है। इस नौका का सृजन भी दयालु भगवान् ने ही किया है। इस रामनामरूपी जलयान पर चढ़ने से भक्त के क्लेश दूर हो जाते हैं, उसे महान् सुख मिलता है और विश्रामदायिनी मुक्ति भी हस्तगत होती है। जिन्होंने इस जलयान को पहचान लिया, वे पवित्र बन गये।[2]

कबीर के लिये भगवान् का नाम ही वह धन था, जिसे गाँठ में बाँधकर उन्होंने कभी गुप्त नहीं रखा, सबके सामने उन्मुक्त करके भी उसके द्वारा अन्य धन एकत्र नहीं किया, नाम को बेचकर नहीं खाया, नाम ही उनकी खेती-बारी, सेवा-पूजा, बन्धु-बान्धव आदि सब कुछ था। जैसे निर्धन व्यक्ति निधि के अकस्मात् मिल जाने से प्रसन्न होता है, वैसे ही कबीर को भगवान् के अमूल्य नाम की प्राप्ति हुई। ऐहिक लीला संवरण करने के समय इसी नाम ने उन्हें सहायता दी।[3]

नाम-स्मरण के सम्बन्ध में कबीर लिखते हैं कि यह स्मरण एकतार, सतत, शृंखलाबद्ध रूप में चलना चाहिये। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि लौ में लौ बराबर लगी रहे, तार टूटने न पावे। तभी मुख से मोती झड़ेंगे और हीरों का तो वार-पार दिखाई न देगा।[4]

---

१. यहु तनु जालौं मसि करौं लिखौं राम का नांउ।
लेखणि करौं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउं॥ ८, १२

२. सिरजनहार! नांउ धूं तेरा। भौसागर तिरिवे कूं बेरा।
दुख खंडण मही मंडणां, भगति मुकति विश्राम।
विधि करि बेरा साजिया, धर्‌या राम का नाम॥
जिन चीन्हां ते निरमल अंगा॥ पृष्ठ २४१

३. पद ३३१। ४. पृष्ठ ५७, दोहा ८।

राम का स्मरण मन को राम में ऐसा लीन कर देता है कि मन राममय ही बन जाता है। ऐसी दशा में कौन किसको शिर झुकावे[1] ?

वियोग की भावना : वेद के अनुसार जीव और ईश्वर दोनों सयुजा हैं, सखा हैं, फिर भी दोनों वियुक्त हो जाते हैं। जिस वृक्ष पर दोनों बैठे हैं, उसके फलों को एक (ईश्वर) देखता तो रहता है, परन्तु खाता नहीं। दूसरा (जीव) इसके फलों को स्वाद ले-लेकर खाता है। यह स्वाद ले-लेकर चखना ही वियोग का कारण है। जो स्वाद में पड़ गया, जिसने विलास को अपना साथी बना लिया, वह अपने मूल साथी से अलग हो ही जायगा। पर विलास का आस्वादन प्रारम्भ में ही सुखदायक जान पड़ता है, उसका अन्त तो घोर दुःखाक्रान्त है। इस दुख की विषम अनुभूति से जीव को अपने घर की, अपने शाश्वत आनन्दस्वरूप साथी की याद आती है और उसके वियोग में वह तड़प-तड़प कर रोता है। है कोई ऐसा व्यक्ति, है कोई ऐसा स्थान, है कोई ऐसा साधन, जो, उसे उसके साथी से मिला दे ? कबीर इस वियोग का अनुभव करके वन, पर्वत, तीर्थस्थान आदि न जाने कहाँ-कहाँ साधनों की खोज में भटकते फिरे। अन्त में उन्हें सद्गुरु भी मिले, साधन भी मिले और वह स्थान भी मिला, जहाँ उनका प्रियतम रहता है। पर जब तक वह नहीं मिला था, तब तक जिस वियोग की परिस्थिति से कबीर निकले और उनके समानधर्मा निकले या निकला करते हैं, उसका अत्यन्त हृदय-द्रावक वर्णन कबीर ने किया है। लौकिक साहित्य में पति-पत्नी के विरह की कथा प्रायः मिलती है। अन्य सम्बन्धों में भी विरह की संभावना रहती है और उनका वर्णन भी कवियों ने किया है। पीछे प्रेमलक्षणा भक्ति के अन्तर्गत हमने कबीर द्वारा वर्णित इन सम्बन्धों का उल्लेख किया है, जिनमें मातृ-पितृ-पुत्र-वियोग-वर्णन के उदाहरण आ गये हैं, फिर भी लौकिक पति-पत्नी-वियोग के समान ही कबीर ने जीव और ईश्वर के आध्यात्मिक विरह का वर्णन अधिकांश रूप में किया है।

ईश्वर से वियोग की अनुभूति जीव के लिये ईश्वर से मिलने का अनुपम साधन है। अन्य साधन चलते भी रहें, पर यह अनुभूति जागृत न हो, तो जीवेश्वर-मिलन दुस्साध्य है। कबीर ने इसीलिए लिखा है :

---

१. पृष्ठ ५ दोहा ८।

हंसि हंसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हांसे ही हरि मिलैं, तौ नहीं दुहागिनि कोइ॥ ९, २९

वियोग के समय अपनी साधन-विहीनता तथा निर्बलता और भी अधिक खटकती है और आत्मा इसकी अनुभूति में तड़पती हुई प्रभु को पुकार उठती है:

आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥ ८, १०

प्रिय के दर्शन की आकांक्षा में पर्वतों में घूमना, वन-वन की खाक छानना, और रो-रोकर अपनी नेत्र-दृष्टि खो देना प्रेमी के लिए महान तपश्चरण है। पर उसे यह सब सहना पड़ता है। उसका एक मात्र उद्देश्य प्रभु की प्राप्ति है। इसके लिए वह सब कुछ कर सकता है। अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़कर उनकी धज-धज, चीर-चीर की जा सकती है। कम्बल ओढ़कर साधु का वेष बनाया जा सकता है। जिस वेष द्वारा भी प्रिय मिल सके, प्रेमी उसी वेष को धारण करने के लिये उद्यत है।[१] उसे केवल वह बूटी मिल जानी चाहिये, जो उसे जीवन दे सके, जो उसे हरि से मिला सके।

प्रेमी के प्रेमरूपी जल में जब विरह की अग्नि प्रदीप्त होती है, तो विषय-वासनाओं का समस्त कर्दम जल-भुनकर समाप्त हो जाता है।[२]

कबीर ने इसीलिये विरह को साधनों का सुलतान कहा है। जिस हृदय ने विरह के विहार को अनुभव नहीं किया, वह उनकी दृष्टि में श्मशान के समान है।[३]

चातक के समान 'पिउ पिउ' रटते हुए प्रेमी के नेत्रों से रहँटघरी के समान अश्रुओं का निर्झर दिन-रात झर रहा है, फिर भी वह अपने शरीर को दीपक, प्राणों को बत्ती तथा लहू को तेल बनाकर ऐसा दीप-प्रकाश प्रदीप्त करना चाहता है, जिसमें वह अपने प्रियतम को प्रत्यक्ष रूप में देख सके।[४]

कभी-कभी उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यदि हँसने से राम-मिलन कोसों दूर है, तो रोने से भी मिलन की आकांक्षा कुछ निर्बल ही पड़ जाती है। उसकी जो तीव्रता मन के ही अन्दर बिसूरने, कलपने, तड़पने में है, वह रोने में कहाँ? रुदन तो मानों वेदना के अवरुद्ध पूर को प्रवाहित होने के लिये

---

१. विरह कौ अंग, दोहा ४०, ४१ २. पृष्ठ ११ दोहा ५
३. पृष्ठ ९ दोहा २२ ४. पृष्ठ ९ दोहा २३, २४

मार्ग दे देता है, जिससे वेदना तीव्र होने के स्थान पर शान्त होने लगती है। अतः अच्छा यही है कि जैसे घुन अन्दर ही अन्दर काठ को खाया करता है, उसी प्रकार मन ही मन में कल्पना इस शरीर को खा डाले।[1]

अपनी वेदना को रोकर दूसरों को सुनाने से क्या लाभ? जो सुनेगा, वह भी रो उठेगा, इस विरहताप से उत्तप्त हो जायगा।[2] अतः इसका अन्दर रहना ही अच्छा है। इसका एक परिणाम तो यह होगा कि विरह की प्रखर सान पर चढ़कर मन की तीक्ष्णता बढ़ेगी और दूसरा परिणाम यह होगा कि यह तीक्ष्ण मन जब प्रभु के चरणों में रमेगा, तो वहाँ खुभकर रह जायगा, फिर वहाँ से निकल नहीं सकेगा। जब यह अमरता के अन्दर विद्ध हो जायगा, तो कालचक्र के जन्म-मरणरूपी हाथ इसे नहीं पकड़ सकेंगे।[3]

जल से वियुक्त मछली के समान तड़पती हुई, चातक के समान हरि-दर्शनरूपी जल की प्यासी, विरहाग्नि से संतप्त, कबीर की आत्मा कब तक प्रतीक्षा-पथ में मंगल-मिलन की अभिलाषा किये बैठी रही, उसका एक-एक क्षण विनिद्र अवस्था में कैसे कटा होगा, विलम्ब पर विलम्ब का अनुभव उसके सामने निराशा के नभ में कैसे-कैसे विषाद के बादल और अधीरता की अँधियारी लाता रहा होगा, विरह के भाले से छिद्-छिद् कर उसका हृदय कैसा चलनी के समान हो गया होगा, इसे अपने साथी से बिछुड़ा हुआ कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। राम के विरह-बाणों से विद्ध कबीर की आत्मा अपनी व्यथा का वर्णन क्या करे? रोगी के रोग को या तो रोगी का चित्त समझता है या वैद्य। वन्ध्या पुत्र-प्रसव के कष्ट को क्या समझ सकती है? कबीर जैसे रोगी, दुखी, संतप्त भक्त की व्यथा को या तो वे या उनके समानधर्मा सन्त समझ सकते हैं, या वह वैद्य, भगवान। वही तो था जिसकी कृपा से यह विरह उद्दीप्त हुआ और वही था, जिसने इसे सहन करने की शक्ति दी और वही है, जो भक्तों के दुख दूर करता हुआ उन्हें दर्शन देता है।

प्रभु की कृपा और आत्मज्ञान :

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि॥ पृष्ठ ८, दोहा ११

---

१. पृष्ठ ९ दोहा २८   २. पृष्ठ १० दोहा ११

३. पृष्ठ ७६ दोहा ५ संजीवनी कौ अङ्ग

कबीर ने ऊपर वर्णित साधनों की भट्ठी में डालकर अपने शरीर को जला डाला था। उस ज्वाला से जो धूम्र उठकर ऊपर स्वर्ग में पहुँचा, उसने राम की आँखों में जाकर अपने कुछ कण डाल दिये। कबीर के इस साधन, तप ने राम के आसन को विचलित कर दिया। वे रो उठे। उनके रुदन से जो दया की वर्षा हुई, उसने कबीर के हृदय की समस्त विरह-जन्य व्यथारूपी अग्नि को बुझा दिया, शान्त कर दिया।

> कबीर मरि मड़हट रह्या, तब कोई न बूझै सार।
> हरि आदर आगैं लिया, ज्यूँ गऊ बच्छ की लार॥ पृष्ठ ६४, दोहा ३

कबीर जब साधनों का पालन करता हुआ संसार की ओर से मर गया और मरघटे में पहुँच गया, तो उसकी सार-संभार, पूछताछ करनेवाला कोई भी नहीं था। परन्तु जैसे गाय अपने बछड़े के प्रेम में रम्भाती हुई उसके पास आकर दूध पिलाने लगती है, उसी प्रकार भगवान ने आगे आकर कबीर को उठा लिया। अपना व्यक्ति ही तो अपना आदर करता है। भगवान से बढ़कर जीव का अपना सगा-सम्बन्धी अन्य कोई भी नहीं है। वही उसे प्यार से पुचकारनेवाला और आदर देने वाला है।

ऊपर जिन साधनों का वर्णन किया गया है, उनसे सर्वप्रथम शरीर की पवित्रता सम्पादित होती है। जैसे अग्नि में पड़कर सोना कुन्दन बन जाता है, उसी प्रकार तपस्या की अग्नि शरीर को शुद्ध करके कुन्दन के समान बना देती है[1]। शरीर-शुद्धि के साथ प्राणशक्ति का भी संशोधन होना चाहिये। इन दोनों के उपरान्त मन की शुद्धि आती है। इन्द्रिय-निग्रह इसी के साथ संलग्न है। इसके उपरान्त निर्मल बुद्धि का सम्पादन साधक को तथ्य का ज्ञान करा देता है। निर्मल ज्ञान ही आत्मज्ञान का कारण है। समस्त साधनों का पर्यवसान इसी आत्मज्ञान में होता है।

वेद के शब्दों में 'आत्मना आत्मानमभिसंविवेश' आत्मज्ञान के उपरान्त ही परमात्म-ज्ञान होता है। साधना-क्रम में आत्मज्ञान के पूर्व सत की, अव्यक्त ज्योति की, उपलब्धि होती है। अतः असत् से सत् (अव्यक्त ज्योति) की ओर, अव्यक्त ज्योति से आत्मप्रकाश की ओर और आत्मप्रकाश से अमृत-

---

१. सोधि सरीर कनक की नाई।
कनक कसौटी जैसे कसि लेइ सुनारा, सोधि सरीर भयो तन सारा॥ पद २७

स्वरूप परमात्मा की ओर साधक गमन करता है। जो साधक साधना-पथ में सत् या अव्यक्त ज्योति पर पहुँचकर ही ठहर जाते हैं, वे प्रभु की जाज्वल्यमान ज्योति की झलक मात्र का अनुभव कर पाते हैं। इसके पश्चात् आत्मज्ञान होता है, जो परमात्म-प्राप्ति के लिये अन्तिम सोपान है। कबीर इस अनुभूति तक पहुँच गये थे। उन्होंने इसीलिये लिखा भी है :

ते हरि के आवहिं किहि कामा।
जे नहिं चीन्हें आतम रामा॥ पद १३७

आत्मज्ञान की स्थिति अत्यन्त विरल साधकों को ही जन्म-जन्मान्तरों की साधना के उपरान्त प्राप्त होती है। जब साधक तम और रज के पाशों से मुक्ति पाकर अपनी अभिमाति, अहन्ता अथवा अन्तिम सत्वगुण के संसर्ग को प्रभु के आगे समर्पित कर देता है, तब कहीं इस स्थिति का उदय हो पाता है।

साधन-पथ के विघ्न : साधना में वक्रता नहीं, ऋजुता होती है। वक्रता से बचने और सरल बनने के लिये ही तो मानव को साधना करनी पड़ती है। वेद के शब्दों में 'ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः।'[1] यदि हम वेद या देव, ज्ञान या ज्योति की ओर चलना चाहते हैं, तो हमें ऋजु नीति का अवलम्बन लेना पड़ेगा। वक्रता में अविद्या और आडम्बर, पाप और पाखण्ड, दम्भ और दर्प, मृषा और तृषा है। सरलता में सत् है, ज्योति है, अमृत है। एक साधना में विघ्नस्वरूप हैं, दूसरा उसका सहायक। कबीर ने जहाँ-जहाँ साधन-पथ में आने वाले विघ्नों का वर्णन किया है, वहाँ उनकी दृष्टि इसी केन्द्रबिन्दु की ओर रही है।

बड़प्पन : बड़प्पन या अभिमान साधक के मार्ग का सबसे बड़ा शत्रु है। अनुभवी ऋषि-मुनि एक स्वर से कहते रहे हैं कि विप्रवित्, ज्ञानी और देवयानी सम्मान का विषवत् तथा अपमान को अमृत तुल्य समझे, अन्यथा वह चिति के जगत् में प्रवेश नहीं कर सकेगा। कबीर कहते हैं, बड़प्पन उस लम्बे बाँस के समान है, जिसकी आपस की रगड़ ज्वाला उत्पन्न करती है और बाँस के समस्त वंश को जलाकर खाक कर देती है, परन्तु चन्दन के समान सीधा एवं नम्र वृक्ष स्वयं तो सुगन्धित होता ही है, अपने निकट उगने वाले निम्ब जैसे कडुये वृक्ष को भी सुगन्धित कर देता है।[2]

---

१. ऋ० १,९०,१७ २. पृष्ठ ४२ दोहा ११

कबीर ने इसके ऊपर दोहा संख्या १० में खजूर का उदाहरण दिया है, जो हमारी सम्मति में उपयुक्त नहीं है। खजूर लम्बी अवश्य होती है, पर वह सीधी आकाश में खड़ी होती है। उसकी छाया कुछ नहीं होती और फल भी बहुत दूर पर लगते हैं। ठीक इसी भाँति साधना का पथ भी लम्बा है और उसका सुफल भी निकट नहीं, बहुत दूर रहता है। साधकों के पास आश्रय देने के लिये राम नाम के अतिरिक्त और क्या है? मनुष्यों की जो भीड़ आडम्बरपूर्ण, मिथ्या आश्वासन देने वाले, ढोंगियों के पास जमा होती, वह सच्चे साधकों के पास नहीं। कबीर ने खजूर के बड़प्पन को देखकर ही उसकी निन्दा लिख दी है। सम्भव है, ऐसा लिखते हुए उनके मन में खजूर से सम्बद्ध मुसलमानों के क्रूर कृत्यों के विचार भी आये हों।

अभिमान सबको खा जाता है। बड़े से बड़े मुनीश्वर भी इसकी आखेट बनने से नहीं बच सके हैं।[1]

असन्तोष : शेख हज करने तो जा रहे हैं, पर अन्दर असन्तोष भरा पड़ा है। दिल में सब्र नहीं, सन्तोष नहीं, फिर ऐसे व्यक्तियों को खुदा कैसे मिलेगा?[2]

आडम्बर : ऊपर से हरिदास बनते हैं, पर अन्दर ही अन्दर शाक्त हैं। शक्ति की उपासना करते हैं, पर उसी की सन्तति को मारकर खा जाते हैं। भगवान के भक्तों का बाना धारण करने वाले ऐसे सभी पाखण्डी नरक में गिरेंगे।[3]

हाथ में माला लिये हुये राम नाम का जप कर रहे हैं, पर हृदय में विषय-वासनाओं की आँधी चल रही है। ऊपर से गेरुये रङ्ग के कपड़े पहिन लिये हैं, पर भीतर दुराचार की कालिमा छिपी पड़ी है। छापा-तिलक लगाकर वैष्णव तो बन गये तथा दूसरों को भी दाग-दाग कर दग्ध करते रहे, पर विवेक पास तक नहीं फटका। ऊपर से वेष तो सन्तों का बना लिया, पर उस अलख को पहचाना तक नहीं, विस्मृत भी कर दिया। ऐसे सभी पाखण्डी साधु कालीधार में डूबेंगे।[4]

भ्रम : कबीर ने मूर्तिपूजा की भी निन्दा की है। उनकी समझ में पत्थर

१. माया कौ अङ्ग। दोहा १७
२. पृष्ठ ४१, दोहा ११
३. पृष्ठ ४१ दोहा १४
४. भेष कौ अङ्ग दो० १,७,१६,२१

को पत्थर न कहकर विश्व का सृजनकर्ता समझना भ्रम है। शिव, ब्रह्मा और विष्णु भी जब तक आकार की ओट लिये हुये हैं, साकारता से चिपटे हैं, तब तक अपना उद्धार नहीं कर सकेंगे। जिसका जो इष्ट है, वह उसी इष्ट के गुणों को धारण करेगा। प्राकृत गुणों की आराधना भक्त को इन्हीं गुणों में लीन करेगी, वह ईश्वरीय गुणों से वञ्चित ही रहेगा। एक क्या, यहाँ प्रायः सभी प्रकृति की उपासना कर रहे हैं और ईश्वर की सेवा छोड़कर भ्रम में पड़े हैं।[1]

हिंसा: पाँच बार निमाज़ पढ़कर खुदा की वन्दना करके भी क़ाज़ी जब पशु-हत्या करता है, तो अपनी सारी परिश्रिता को धूल में मिला देता है, झूठी सिद्ध कर देता है। मारने के लिये छुरी हाथ में लेते ही मानों वह दीन को दिल से दूर कर देता है। ऐसा ज़ोर, ज़ुल्म और जिबह करने वाले ख़ूनी क़ाज़ियों को ख़ालिक़ खुदा कभी क्षमा नहीं करेगा। इनके मुख पर खूब मार पड़ेगी।[2]

इसी प्रकार कबीर ने शाक्तों की भी निन्दा की है, क्योंकि वे भी शक्ति के पूजक बनकर पशुओं को काटते और खाते थे।

विषय-वासना: ज्ञानवान होकर भी जो मानव अद्वैतवाद के चक्र में पड़कर अपने को ब्रह्म समझने लगता है और 'इन्द्रियाँ इन्द्रियों में विचरण करती हैं, आत्मतत्त्व उनसे निर्लिप्त रहता है', ऐसा मानकर निर्भयतापूर्वक विषय-भोग में लिप्त रहता है, वह कबीर की दृष्टि में ज्ञानवान ही नहीं है। उसने विषयों को अपना ध्येय बना लिया है और अपने वास्तविक ध्येय अथवा मूल को विस्मृत[3] कर दिया है। ऐसे विषय-भोगी साधना-पथ पर क्या चल सकेंगे? इस यात्रा के लिये वे विघ्न-रूप ही हैं।

कबीर न तो लम्बे केश रखने के पक्ष में हैं, और न मुण्डित मस्तक बनकर शिर को घुटाना ही उनको अच्छा लगता है। बाहर आप चाहे जैसे रहिये, पर आपका अन्तर स्वच्छ होना चाहिये। यदि आप भगवान के सामने सच्चे हैं और दूसरों के साथ सद्भावपूर्वक सरल व्यवहार करते हैं, तो आपके बाह्य वेश पर कबीर को कोई आपत्ति नहीं होगी।[4] कबीर तभी बिगड़ते हैं, जब आपका अन्तः बाह्य एक नहीं, अथवा जब आप उन्हें बाहर से साधु और अन्दर से कसाई दिखाई पड़ते हैं।

---

१. पद १९९ पृष्ठ १५५, १५६
२. साँच कौ अंग, दोहा ५,८,९।
३. पृष्ठ ४१ दोहा २६,२७
४. पृष्ठ ४६ दोहा ११

ऊपर जिन विघ्नों का वर्णन किया गया है, वे सब माया के ही विविध रूप हैं। पिशाचिनी माया ही जीव और ईश्वर के बीच में अन्तर या आवरण डालने वाली है और साधना-पथ में बाधा डालकर जीव को ईश्वर से नहीं मिलने देती। माया ऐसी सरिता है, जिसके एक तट पर जीव खड़ा है और दूसरे तट पर प्रियतम परमेश्वर का हिंडोला है। नदी पार करके जो अपने पति के साथ झूला झूल सके, वही तो सुलक्षणा नारी कहलाने के योग्य है।[1]

सिद्धि: कबीरग्रन्थावली में सिद्धिसम्बन्धी जो पंक्तियाँ मिलती हैं, उनसे इतना तो स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाता है कि कबीर ने मन पर आधिपत्य कर लिया था और वे उन्मनी अवस्था तक पहुँच गये थे। भक्ति की सिद्धि इसी अवस्था में होती है, जो ज्ञान और कर्म से ऊपर श्रद्धा की आधारभूमि है। मन का आधिपत्य प्राण और शरीर को स्वतः वश में कर लेता है। उन्मनी अवस्था में प्रपञ्च का नाश, मन की स्थिरता और व्यष्टि का समष्टि में लय हो जाता है। इसको अद्वैत अवस्था भी कह सकते हैं। ऋषियों ने इसे विज्ञानमय कोष का उद्घाटन कहा है। कबीर ने इसी अवस्था में सुरति का निरति में, जाप का अजपा में, लेख का अलेख में और आपका आप में (अहङ्कार का अव्यक्त में) विलय होना स्वीकार किया है। यह अवस्था सत् और उसके ऊर्ध्व भाग अव्यक्त से आकर मिल जाती है, जहाँ चाँदनी जैसी ज्योति के दर्शन होते हैं। कबीर ने इसी को गगन, शून्य, बेहद नाम दिये हैं। यहीं गर्जन (अनाहत नाद), अमृतस्राव, कदली और कमल का प्रकाश होता है। यहीं पर मानसरोवर है, जिसमें हंस क्रीड़ा करते और मुक्तिरूपी मुक्ताफल चुगते हैं। यहाँ से उड़कर भला कोई अन्यत्र क्यों जाना चाहेगा? अन्दर की इस दीपकज्योति के प्रकट होने पर समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है, मैं (अहन्ता) नहीं रहती, केवल हरि (सबका हरण करने वाले भगवान्) रह जाते हैं। शम्भु (कल्याण) का द्वार खुल जाता है। वहाँ बैठकर कबीर जैसे भगवान् के विशिष्ट सेवक ही प्रभु की वन्दना करते हैं। कबीर ने अन्दर आत्मदर्शन की बात भी लिखी है, जिसके उपरान्त मोह-ताप का शमन, शीतलता की प्राप्ति, हरि की संगति और दिन-रात सुख-निधि का लाभ होता है। इन सिद्धियों से सम्बन्ध रखने वाले उद्धरण कबीरग्रन्थावली से नीचे दिये जाते हैं।

---

१. माया को अङ्ग, दोहा ५

भक्ति की सिद्धि :

अब हरि हूं अपनौं करि लीनौं, प्रेम भगति मेरो मन भीनौं ॥
जरै सरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ॥
च्यंतामणि क्यूं पाइये ठोली, मन दे राम लियौ निरमोली ॥
ब्रह्मा खोजत जनम गंवायौ, सोई राम घटि भीतरि आयौ ॥
कहै कबीर छूटि सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ बिसवासा ॥ ३१४
करत विचार मन ही मन उपजी, नां कहीं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा, रांम रतन धन पाया ॥ पद २३
मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहे, जीवन मुकति अतीति ॥ १७, ६

भक्ति की सिद्धि जीवन्मुक्त अवस्था है, जिसमें भक्त दिन-रात प्रभु के नशे में मस्त रहता है।

मन की पहचान :

ता मन कौ खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहां समाई ॥
सनकसनंदन जैदेव नामां, भगति करी मन उनहुं न जांना ॥
शिव विरंचि नारद मुनि ग्यानी, मन की गति उनहुं नहीं जानी ॥
ध्रुव प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहूं न देषा ॥
ता मन का कोइ जानै भेव, रंचक- लीन भया सुषदेव ॥
गोरख भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा ॥
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ॥ पद ३२

विश्वबन्धुत्व :

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर।
सोई फिरि आपणि भया, जासूं कहता और ॥ १५, ३७

उन्मनी अवस्था

१—प्रपञ्च का नाश :

जे को मरै मरन है मीठा, गुर प्रसाद जिनहीं मरि दीठा ॥
मूंवा करता, मुंई जु करनी, मुई नारि सुरति बहु धरनी ॥
मूंवा आपा, मूंवा मांन, परपंच लेइ मूंवा अभिमांन ॥
रांम रमै रमि जे मन मूंवा, कहै कबीर अविनासी हुवा ॥ पद ४६

कर्त्ता होने का अभिमान, क्रिया, सुरतिरूपी अनेक वस्तुओं को धारण करने वाली नारी (प्रकृति), मान, मन, अहङ्कार सब प्रपञ्च के अङ्ग हैं और प्रपञ्च के मरने के साथ ही मर जाते हैं।

तन भीतरि मन मांनियां, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ॥ १५, ३१

जब मन बाहर नहीं, भीतर रमण करने लगता है, अर्थात् बाहर से मर जाता है, तब प्रपञ्च की जलती हुई ज्वाला शान्त हो जाती है और मन में शीतलता का सञ्चार होता है।

२–मन की स्थिरता :

थिति पाई, मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तन आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ॥ १४, २९
उपजत उपजत बहुत उपाई। मन थिर भयौ तबै थिति पाई॥ पद १७

३–अद्वैत अवस्था :

जब थैं आतम तत विचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थैं, कांम क्रोध गहि डारा॥
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
राणां राव कवण सूं कहिये, कवन वैद को रोगी॥
इनमें आप आप सबहिन मैं, आप आप सूं खेलै।
नाना भांति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै॥ पद १८६

आत्मतत्त्व का विचार मानव को निर्वैर बना देता है। वह ब्रह्म को सबमें व्याप्त तथा नाना रूपों में उसी को विभिन्न रूप धारण किये हुये अनुभव करने लगता है, मानो इन रूपों द्वारा ब्रह्म स्वयं अपने से क्रीडा कर रहा है[1]।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहिं।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहिं॥ १५, ३५

अद्वैत अवस्था में अहं का विलय, अन्धकार का नाश और ब्रह्मज्ञानरूपी दीपकका प्रकाश होने लगता है।

---

१. यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ यजु० ४०, ७

४-सत् की स्थिति :

जहां न चींटी चढ़ि सकै, राई नां ठहराइ।
मन पवन का गमि नहिं, तहां पहुंचे जाइ॥ २१, ८
सुर नर थाके मुनि जनां, जहां न कोई जाइ।
मोटे भाग कबीर के, तहां रहे घर छाइ॥ २१, १०

अब हम ऐसे सूक्ष्म स्थान पर आ गये हैं, जहाँ चींटी भी नहीं चढ़ सकती, राई ठहर नहीं सकती और इन स्थूल भौतिक वस्तुओं से भी सूक्ष्म प्राण तथा उससे भी सूक्ष्म मन की जहाँ गति नहीं हो सकती। सुर, नर, मुनि सब प्रयत्न करके थक गये, पर वहाँ न पहुँच पाये। कबीर के बहुत बड़े भाग्य थे, जो वहाँ घर बनाकर निवास कर रहे हैं।

५-निर्मल ज्ञान और ऐश्वर्य : सत् की स्थिति में ही निर्मल ज्ञान और ऐश्वर्य का उदय होता है :

कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल संम्रथ्थ।
सायर मांहिं ढंढोलता, हीरै पड़ि गया हथ्थ॥ १५, २४
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि॥ १५, २३

संसार में सुख की खोज करना व्यर्थ था। अब हीरा जैसा ज्ञान और समर्थ ईश्वर का रत्न जैसा ऐश्वर्य सामने है। दिल में सन्तोष है, पूर्णता है।

६-अव्यक्त अवस्था :

सुरति समांणीं निरति मैं, अजपा माहैं जाप।
लेख समांणां अलेख मैं, यूं आपा माहैं आप॥ १४, २३

जब प्रवृत्ति और निवृत्ति, साकार और सगुण मिलकर एक हो जाते हैं, तथा अहङ्कार अपने मूल रूप में लीन हो जाता है, तब अव्यक्त अवस्था रह जाती है।

तत पाया, तन बीसर्‌या, जब मनि धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुंनि किया असनान॥ १५, ३२

अव्यक्त शून्यावस्था का नाम है। यहीं तन के समस्त कोष विस्मृत होते हैं, तत्त्व की प्राप्ति होती है और शून्य में स्नान कर लेने से ताप के स्थान पर शीतलता का सञ्चार होता है। वेद ने उन्मनी अवस्था या विज्ञानमय कोष

को देवकोष और इस अव्यक्त या शून्यावस्था को ब्रह्मपुर तथा व्योम नाम दिया है। हिरण्यकोष भी यही है[1]।

७–कल्याण का द्वार :

सुरति समांणीं निरति मैं, निरति रही निरधार ॥
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार ॥ १४, २२

सुरति-निरति के सम्मिलन या परिचय में ही शंभु का द्वार खुलता है। आज्ञाचक्र, त्रिकुटी या त्राटक के समय, जिसे महादेव के तीसरे नेत्र का उन्मीलन कहते हैं, जिस जाज्वल्यमान ज्योति के आगे काम भस्म हो जाता है, वह यही शंभु या कल्याण का द्वार है।

८–ज्योतिदर्शन :

कबीर देख्या एक अङ्ग, महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रह्या समाइ ॥ १५, ३८
अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगै जोति।
जहां कबीरा बन्दिगी, तहां पाप पुन्य नहीं छोति ॥ १२, ४
मन लागा उनमन्न सूं, गगन पहुंचा जाइ।
देख्या चन्द विहूंणां चांदणां, वहां अलख निरंजन राइ ॥ १३, १५

सत् प्रकाशमय है। यहाँ से उस तेज-पुंज परम देव की एकांगी झलक दिखाई देने लगती है। पाप और पुण्य पीछे छूट जाते हैं और चन्द्र के बिना ही चाँदनी छिटकती हुई दिखाई पड़ती है। मन उन्मनी अवस्था को पार करके जब शून्य (गगन) का स्पर्श करने लगता है, तब यह स्थिति आती है।

९–मानसरोवर, हंस और अमृत :

मान सरोवर सुभर जल, हंसा केलि करांहिं।
मुकताहल मुक्ता चुगैं, अब उडि अनत न जांहि ॥ १५, ३९
गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कवल प्रकास।
तहां कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥ १५, ४०

सत् की निर्मलता मानों मानसरोवर का निर्मल जल है। श्वेत सतोगुण से मण्डित हंसरूपी मुक्तात्मा यहीं बैठकर मुक्तिरूपी मोती चुगते हैं। शून्य से गर्जन रूप मनोहर महानाद के स्वर आने लगते हैं। शुद्ध व्योम में यही

१. अथर्व० १०।२।२७, २८, ३१, ३२ ऋग्वेद १, १६४, २९ मुण्डक २, ७

तो भरे पड़े हैं, उसका यही गुण भी है। सृष्टि के आविर्भाव के समय भी यही स्वर उस शुद्ध व्योम में गूँजते हैं, जिन्हें ऋषि सुनते नहीं, देखते हैं। अमृतस्राव तथा श्रीरूपी कदली के साथ विष्णु (सर्वव्यापक तत्त्व) की नाभि (केन्द्र) से निकलते हुए ब्रह्मा (अविचल ज्ञान) के जनक कमल का प्रकाश यहीं पर होता है। सृष्टि की सुन्दर प्रारम्भिक अवस्था यही सत् की अवस्था है। आत्मा अपने विकास-क्रम में अन्य कोषों को पार करने के उपरान्त अन्तिम आनन्दमय कोष में इस अवस्था के दर्शन करती है।[1]

आत्मदर्शन :

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप॥ १५, ३७

अन्दर जब आत्मतत्त्व प्रकट होता है, आत्मदर्शन होता है, तो प्रकृति के साथ जो आत्मा का मोह था, उससे उत्पन्न हुआ संताप नष्ट हो जाता है। उस सुख-निधि, आनन्द के भण्डार हरि की संगति में सदैव रहने से आत्मा शीतल, सुखी और आनन्दी बन जाती है।

परमात्म-दर्शन :

सचु पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब साईं मिल्या हजूरि[2] ॥ पृ० १४ दो० २६

जब स्वामी सामने दिखाई दे गया, तो समस्त पाप, स्वभावतः दूर हो गये। सुख और शान्ति का उदय हो गया। हृदय भगवान् के प्रेम-समुद्र से भर गया।

ममता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौरि॥ १६, ४८

---

१. कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिटि गई, बाजे अनहद नूर॥ १६, ४३
अनहद बाजै, नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
अवगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान॥ १६, ४४
अनहद नाद, निर्झर के रूप में अमृतस्राव और ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने के बाद ही अविगत, उसका ध्यान और प्रेम अन्दर प्रकट होता है।

२. तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। मुंडक ३।२।९

अब ममता मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। भगवत्प्रेम का द्वार खुला हुआ है। दयालु देव के दर्शन हो रहे हैं। शूल सुखदायिनी सौरि (सफेद चादर) बन गई है।

पार ब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवांन॥ १२, ६
कबीर तेज अनन्त का, मानों ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥ १२, १

अब आत्मा निश्चिन्त है। वह जग रही है। प्रकृति के पाशों में जकड़ी रहने पर तो सोई पड़ी थी। अपने पति के साथ जागृत आत्मा (पति तो सदैव जागृत रहता है) पति के तेज को देखकर कौतुक सा अनुभव कर रही है। अनन्त का यह तेज कैसा अनन्त है, जैसे सूर्यों की सेना उदय हो रही हो। कबीर कहते हैं, इसका वर्णन नहीं हो सकता। यह तो देखते ही बनता है।[1]

कबीर हरिरस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि॥ १६,१

भगवान् के इस प्रेमानन्द को पाकर आत्मा की साधना-यात्रा की सारी थकावट दूर हो गई। कुम्भकार का कलश अब पक गया है। आत्मा प्रकृति के पाशों से मुक्त हो चुकी है। भगवान् को प्राप्त करके अब वह आवागमन के चक्र में नहीं पड़ेगी।[2] अब बूँद समुद्र में समा गई है और समुद्र बूँद में समा गया है। काल भले ही खोजता फिरे, पर उसे पकड़ नहीं सकेगा।[3]

---

१. तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः तद्यदात्मविदो विदुः। मुण्डक २,२,९
२. अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योति रविदाम देवान्।
कि नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिः अमृतमर्त्यस्य॥ ऋग्वेद ८,४८,३
३. पृष्ठ १७, दोहा ३,४।

अष्टम अध्याय

जायसी का प्रेमपथ

व्यक्तित्व : प्रेम-गाथा-काल के कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। ये बड़े ही पहुँचे हुए सिद्ध योगी थे। कभी-कभी जङ्गल में रहते हुये व्याघ्र आदि का रूप भी धारण कर लेते थे। कहते हैं, एक बार इसी रूप में किसी शिकारी की गोली खाकर मर गये। इनके लिखे हुए तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। श्री माताप्रसाद गुप्त ने स्वसम्पादित 'जायसीग्रन्थावली' में जायसी के एक चौथे ग्रन्थ को प्रकाशित किया है, जिस पर ग्रन्थ का कोई नाम अङ्कित नहीं था। उन्होंने अपनी ओर से इसे 'महरी बाईसी' नाम दे दिया है। यह ग्रन्थ उसी छन्द में लिखा गया है, जिसमें गोस्वामी तुलसीदास की विनयपत्रिका में आया हुआ खटोला वाला पद[1]।

आखिरी कलाम के चतुर्थ दोहे की प्रथम दो अर्धालियों में जायसी लिखते हैं :

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिष ऊपर कवि बदी।
आवत उधतचार बड़ ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना॥

इन पंक्तियों से सिद्ध होता है कि जायसी का जन्म संवत् ९०० हिजरी में हुआ और वे तीस वर्ष की आयु में काव्य-रचना करने लगे। स्वर्गीय आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित पद्मावत के स्तुतिखंड के २४ वें दोहे की प्रथम अर्धाली में जायसी लिखते हैं :

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरम्भ बैन कवि कहा।

इससे प्रकट होता है कि उन्होंने ९२७ हिजरी में पद्मावत का लिखना प्रारंभ कर दिया था। परन्तु किसी किसी प्रति में ९२७ के स्थान पर ९४७ सन् लिखा हुआ है। पद्मावत के स्तुति खंड में कवि ने शेरशाह की प्रशंसा की है, जिसका शासनकाल ९४७ हिजरी से प्रारम्भ होता है। 'आखिरी कलाम', जो

---

१. राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।

जायसी का प्रारंभिक ग्रंथ है, बाबर के समय में सन् ९३६ हिजरी[1] में लिखा गया था। अतः पद्मावत की रचना ९४७ हिजरी में प्रारम्भ हुई, यही अधिक संगत प्रतीत होता है। पद्मावत की प्रौढ़ रचना भी इसी ओर संकेत करती है। स्वर्गीय आचार्य शुक्लजी ने पद्मावत के एक बंगला अनुवाद के प्रमाण से सन् ९२७ हिजरी को शुद्ध माना है। यह अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के लगभग 'आलो उजालो' नाम के कवि से कराया था। परन्तु इस अनुवाद का आधार पद्मावत की ऐसी प्रति हो सकती है, जिसके ९४७ को ९२७ पढ़ लिया गया हो। पद्मावत की प्रतियाँ अधिकतर उर्दू लिपि में ही लिखी हुई मिली हैं और उर्दू लिपि की भ्रष्टता संसारप्रसिद्ध है। उसमें लिखे हुए खुदा को जुदा और ४७ को २७ आसानी से पढ़ा जा सकता है। श्री माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसीग्रन्थावली' में इस स्थल पर संवत् ९४७ ही छपा है। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने अपनी याददाश्त में मलिक मुहम्मद जायसी का मृत्युकाल ९४९ हिजरी लिखा है, जो स्वर्गीय शुक्लजी की सम्मति में सन्देहास्पद है। पद्मावत में वृद्धावस्था का स्वतः अनुभूत सा वर्णन जायसी की वृद्ध आयु का सूचक है।

आखिरी कलाम के आठवें दोहे की प्रथम अर्धाली में कवि ने बाबर बादशाह की प्रशंसा की है। आखिरी कलाम से यह भी सिद्ध होता है कि इनके जन्म के समय बड़ा भारी भूचाल आया था। इसी ग्रन्थ में अपने स्थान का उल्लेख करते हुये जायसी लिखते हैं :

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर के नाँव आदि उदयानू॥
तहाँ दिवस दस पहुँने आएऊँ। भा बैराग बहुत सुख पाएऊँ॥

दोहा १० की प्रथम दो अर्धालियाँ

पद्मावत के स्तुतिखण्ड में भी लिखा है :

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ[2] कवि कीन्ह बखानू॥

दोहा २३ की प्रथम अर्धाली

जायस का पूर्व नाम उदयानू था। पर जायस नगर कवि की जन्मभूमि

१. भौ ते बरस छतीस ओ भये। तब एहि कविता आखर कहे॥दो० १३ आखिरी कलाम
२. तहवाँ यह (मा० प्र० गुप्त जा० ग्रं०)

थी, ऐसा परिणाम उपर्युक्त पंक्तियों से नहीं निकलता। वहाँ वे थोड़े दिनों के लिये अतिथि रूप में आये और सैयद अशरफ पीर को गुरु बनाकर वैरागी हो गये। अतः जायस उनका धर्म-स्थान, गुरु-स्थान सिद्ध होता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनके काव्यग्रन्थों का निर्माण इसी स्थान पर हुआ।

जायसी ने सर्वप्रथम सैयद अशरफ से ही दीक्षा ली, परन्तु बाद में मुहीउद्दीन की सेवा करके उनसे भी बहुत कुछ ज्ञानलाभ किया। आखिरी कलाम, अखरावट और पद्मावत तीनों ग्रन्थों में कवि ने अपने दोनों गुरुओं का आदरपूर्वक उल्लेख किया है[1]।

जायसी एक आँख से अन्धे और एक कान से बहरे थे, जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है :

एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी॥ दोहा खण्ड २१

तथा

मुहमद बाईं दिसि तजा, एक सरवन एक आँखि। दोहा ३६७

कहते हैं, बाल्यावस्था में चेचक निकलने के कारण उनकी ऐसी दशा हो गई थी। चेहरा कुछ कुरूप था, जब शेरशाह इन्हें देखकर हँसने लगा तो जायसी ने कहा : 'मोहि कां हंसेसि कि कोहरहि' अर्थात् मुझ पर हँसते हो या उस बनाने वाले कुम्हार पर। पद्मावत के स्तुतिखण्ड में अपने एक नेत्र से विहीन होने वाले कलंक का समर्थन करते हुए जायसी लिखते हैं :

चांद जैस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकै नयनांहां। उआ सूक अस नखतन मांहां॥
कीन्ह समुद्र पानि जो खारा। तौ अति भयउ असूझ अपारा॥
जौ सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचन गिरि लाग अकासा॥
एक नयन जस दरपन, औ निरमल तेहि भाउ।
सब रूपवंतहि पाउं गहि, मुख जोहहिं कै चाउ॥ दोहा २१

जायसी सिद्ध फकीर थे। हिन्दू सन्तों से भी इन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया। अद्वैतवाद की झलक तो इनके प्रत्येक ग्रन्थ से प्रकट हो रही है। जैसे :

सबै जगत दरपन कर लेखा। आपन दरसन आपहि देखा। दो० ख० १०
आखिरी कलाम।

---

१. आखिरी कलाम–दो० ९, अखरावट–दो० २६, २७ पद्मावत–दो०१८, २०

आपुहि कागद आपु मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी आखर, आपुहि पंडित अपार॥ दोहा १८
अखरावट।

बुंदहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हिरान, मुहमद आपुहि आपु महं॥ सोरठा ७
अखरावट।

हौं हौं कहत सबै मति खोई। जौ तू नाहिं आहि सब कोई।
आपुहि गुरू सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला।
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई।

आपुहि मीचु जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ॥ दो० सं० २१६

जायसी, श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार, निष्काम कर्म के पूरे समर्थक थे। गृहस्थ में रहते हुये ही वे संन्यास की साधना में विश्वास रखते थे:

जोगि उदासी दास, तिन्हहि न दुःख औ सुख हिया।
घर ही मांह उदास, मुहमद सोइ सराहिये॥ सो० ४८ । अखरावट।

अद्वैतवाद की सिद्धि के लिये प्रतिबिम्बवाद, कनक-कुण्डल-न्याय, अग्नि-चिनगारी या बूँद में समुद्र आदि जितने भी वाद प्रचलित हुये, उन सबका समावेश हम जायसी के ग्रन्थों में पाते हैं।

जायसी का उदार एवं विनीत हृदय ईश्वर तक पहुँचाने वाले अनेक मार्गों को तत्वतः स्वीकार करता था। पर जन्म से मुसलमान होने के कारण इन्होंने इस्लाम धर्म पर अपनी अधिक आस्था प्रकट की है। अखरावट के २५ वें दोहे की निम्नलिखित चौपाइयाँ देखिये:

बिधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते॥
जेइ हेरा तेइ तहँवां पावा। भा संतोष समुझि मन गावा॥
तेहि महँ पन्थ कहौं भल गाई। जेहि दूनौं जग छाज बड़ाई॥
सो बड़ पन्थ मुहम्मद केरा। है निरमल कबिलास बसेरा॥
लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा। भा परवाँन दुवौ जग बाँचा॥
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटै पाप, पुन्नि सुनि लागै॥

नारद को इन्होंने शैतान के स्थान पर रखा है, जो विरोधी रूप में भगवान् का भक्त है। कुछ भक्त प्रभु से प्रेम करके मुक्त होते हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं जो प्रभु का, प्रभु के प्रेमियों का विरोध करके भी मुक्त हो जाते हैं। रामायण के शबरी और रावण दोनों ही अन्त में मुक्ति के अधिकारी बने।

पद्मावत : जायसी की लिखी हुई पद्मावत हिन्दीसाहित्य का एक अनमोल रत्न है। इसमें अपने से पूर्व लिखी गई कई प्रेमगाथाओं का जायसी ने उल्लेख किया है, यथा: स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती।[1] इनमें से मृगावती और मधुमालती का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। पद्मावत में चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहल की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। कथानक में ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों अंगों का सुन्दर सम्मिश्रण है। हीरामन सूए से पद्मावती का नखशिखवर्णन सुनकर राजा रत्नसेन का उसकी प्राप्ति के लिये सिंहल की ओर प्रस्थान करना, मार्ग में समुद्र की भीषणता तथा अन्य विघ्न-बाधाओं को उत्तीर्ण करना, सिंहलगढ़ में पद्मावती के साथ विवाह, पश्चात् लौटकर चितौड़ पहुँचना आदि सभी प्रसंग कवि-कल्पना-प्रसूत हैं। पद्मावती की प्रशंसा सुनकर अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर चढ़ाई करने का वर्णन इतिहास-सम्मत है। बीच-बीच में कुछ ऐसे प्रसंगों की उद्भावना भी कवि ने की है जिनसे काव्य के नायक रत्नसेन का सम्मान एवं उत्कर्ष बढ़ता है।

पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी है और कथा-निर्वाह श्रृंखलाबद्ध है। अलंकारों का प्रयोग भी प्रसंगानुकूल है, पर कहीं-कहीं अलंकारशास्त्र की अनभिज्ञता के कारण एक अलंकार दूसरे अलंकार पर इस प्रकार चढ़ा दिया गया है कि दोनों में से, उस स्थल पर, कोई भी अलंकार पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो सका है। पद्मावत के अन्तर्गत हेतूत्प्रेक्षा अलंकार के अनेक सुन्दर

---

१. बिक्रम धँसा प्रेम के बारौं। सपनावति कहँ गयउ पतारौं।
सुदैबच्छ मुगधावति लागी। ककनपूरि होइ गा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ।
राधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू।
पेमावति कहँ सरसुर साधा। उखा लागि अनिरुध बर बाँधा॥ दो. ख. २२३
ये कहानियाँ लिखित नहीं, मौखिक रूप में प्रचलित रही होंगी।

उदाहरण बिखरे पड़े हैं। पद्मावत के अन्त में[1] कवि ने अपने समस्त ग्रन्थ को अन्योक्ति कह दिया है, जिसके अनुसार यह शरीर ही चित्तौड़गढ़ है, मन राजा रतनसेन है, हृदय सिंहलद्वीप है, बुद्धि पद्मावती है, दुनिया के धंधे नागमती, माया अलाउद्दीन, शैतान राघवचेतन और गुरु सुआ है[2]। काव्य के अन्तर्गत बहती हुई अन्योक्ति तथा समासोक्ति की यह धारा कहीं कहीं तो मन को इतना रमा लेती है कि मन उसी में अवगाहन करने लगता है। विपिन का वर्णन करते हुये जायसी लिखते हैं : 'जेइ पाई वह छाँह अनूपा। सो नहिं आइ सहै यह धूपा।' २७, जिसे वह अनुपम छाया, प्रभु की शरण, प्राप्त हो गई, वह फिर इस धूप को, आवागमन के कष्ट को, सहन करने के लिये जगत् में नहीं आता। नीचे लिखी पंक्तियाँ जीव-ईश्वर-सम्बन्ध पर कितना मार्मिक प्रकाश डाल रही हैं :

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कइ दीन्ह बिछोऊ। दो. सं. २१२
पिउ हिरदय महं भेट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई। दो. सं. ४०१

हुता जो एकहि संग, हौ तुम्ह काहे बीछुरा।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु॥ अखरावट दो० ३

इसी प्रकार शृंगार-वर्णन में जहाँ कहीं अश्लीलता का भान होने लगता है, वहीं जायसी उस प्रसंग को अध्यात्मवाद की ओर मोड़ देते हैं, जिससे पाठक का ध्यान सांसारिकता से हटकर पारलौकिकता की ओर लग जाता है और अश्लील भावना निवृत्त हो जाती है। लोक-भावना से परमार्थ की भावना करना प्रायः सभी सन्त कवियों की विशेषता रही है। अध्यात्मरामायण में राम की जीवनलीला इसी शरीर में होती दिखाई गई है और 'यत्पिंडे तद् ब्रह्मांडे' की उक्ति के अनुसार वही इस निखिल ब्रह्मांड में हो रही है। सूर ने रासलीला के अन्तर्गत 'मानों माई घन घन अन्तरदामिनि' का रूपक बाँधकर इसी दिशा की ओर संकेत किया है। जायसी की सूक्ष्म दृष्टि ने भी इस व्यापकता का अनुभव किया है। नखशिख वर्णन में नेत्र और बिरुनियों पर कल्पना करते हुये जायसी लिखते हैं :

---

१. डा० वा० श० अग्रवाल द्वारा अनुवादित 'पद्मावत' तथा श्री मा० प्र० गुप्त द्वारा सम्पादित जायसीग्रन्थावली की मूल पद्मावत में ये पंक्तियाँ नहीं हैं।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—जायसीग्रन्थावली, पद्मावत, उपसंहार, प्रथम दोहा।

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी।
रोवं रोवं मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े।
बरुनि बान अस ओपहिं, बेधे रन बन ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥ दोहा १०४

ऐसी विराट कल्पनायें जायसी की पद्मावत में अनेक स्थानों पर हैं। पर अन्योक्ति की इस धुन के कारण, अव्यक्त के प्रति बार बार लक्ष्य करने से, कथा-प्रसंग को अध्यात्मवाद की ओर खींच ले जाने से जायसी कथानक के उठान में कहीं-कहीं बुरी तरह असफल हुए हैं। ऐसे स्थलों पर न तो कथा-प्रसंग की समीचीनता ही प्रकट हुई है, न संदर्भ स्पष्ट हुआ है और न अध्यात्मवाद की ओर उनकी अन्योक्ति ही सुचारु रूप से अभिव्यक्त हो सकी है। इसका मुख्य कारण है आवश्यक तथा अनावश्यक रूप से परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करना और दिखलाना कि वह सत्ता प्राकृतिक और चेतन जगत् के साधारण व्यापारों में भी विद्यमान है। तुलसी ने भी रामचरितमानस में इसी पद्धति का अवलंबन किया है। स्थल-स्थल पर, अनावश्यक रूप से भी राम को ईश्वर सिद्ध करना उनकी इसी प्रकार की मनोवृत्ति का परिचायक है। तुलसी ने भाषा, छन्द आदि में भी जायसी का अनुकरण किया है। कहीं-कहीं दोनों की भाव-समता भी देखने योग्य है। यह सब होते हुये भी अनेक अवसरों पर, परोक्ष सत्ता के प्रति किये गये जायसी के संकेत बड़े ही मधुर हुये हैं, और वे समासोक्ति एवं हेतूत्प्रेक्षा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

जायसी सूफीमत के मानने वाले थे। वे संसार के कण-कण में अपने प्रेम-मय प्रभु की सत्ता का अनुभव करते थे। पक्षियों के कूजन में, झरनों की झर-झर में और सरिताओं की कलकल ध्वनि में उन्हें प्रभु की मोहक मूर्ति का ही गुणगान सुनाई पड़ता था। सघन वनों में, नंगे खड़े हुये वृहदाकार वृक्षों में और सीप तथा कौड़ी में उन्हें प्रभु के वियोग से उत्पन्न तीव्र व्यथा का ही प्रभाव परिलक्षित होता था। विप्रलम्भ शृंगार पर की हुई उनकी अनूठी उद्भावनायें तो अनुभव करते ही बनती हैं। अपने पति राजा रत्नसेन के वियोग में नागमती विलाप कर रही है। आँसुओं से समस्त सृष्टि भीगी हुई जान पड़ती है। जायसी लिखते हैं:

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुंघची बन बोई।
जहं जहं ठाढ़ होइ बनवासी। तहं तहं होइ घुंघुचि कै रासी॥
बूंद बूंद महं जानहु जीऊ। गूंजा गूंजि करै पिउ पीऊ।
तेहि दुख भये परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते।
राते बिम्ब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ। दो० खं० ३५९

इसी वियोग के अन्तर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है, जो अपनी अद्भुत वर्णनशैली, निष्कपट विरहनिवेदन तथा हिन्दू दाम्पत्यजीवन के करुण एवं मार्मिक चित्रण के लिये हिन्दी साहित्य में अनुपमेय है। उसका शुद्ध आनन्द तो पढ़ने से ही उठाया जा सकता है। नमूने के लिये हम कुछ उदाहरण नीचे देते हैं। सुखदायक वस्तुयें वियोग में दुख को और भी अधिक बढ़ा देती हैं, निम्नांकित पंक्तियों में इसी तथ्य का अभिव्यंजन है :

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी॥
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा॥
तन मन सेज करै अगिदाहू। सब कहँ चन्द भयेउ मोहि राहू॥

दो० खंड ३४८

प्राकृतिक दृश्यों के साथ विरह-व्यथित हृदय के साम्य का अनुभव नीचे की पंक्तियों में कितना तीव्र है—

सरवर हिया घटत नित जाई। टूंक टूंक होइ कै बिहराई॥
बिहरत हिया करहु पिउ टेका। दीठि देवंगरा मेरवहु एका। दो० खंड ३५४
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोरे दुइ नैन चुएं जस ओरी॥ दो० खंड ३४६
वैषम्य का अनुभव तो अतीव मार्मिक और पीड़ा उत्पन्न करने वाला है :
धनि सूखै भरे भादों मांहा। अबहुं न आएन्हि सींचेन्हि नांहा॥ ३४४
अद्रा लागि-लागि भुइं लेई। मोहि बिनु पिउ को आदर देई॥ ३४४
सरवर संवरि हंसि चलि आये। सारस कुरलहिं खंजन दिखाये॥
भा परगास, कांस बन फूले। कन्त न फिरे बिदेसहि भूले॥ दो० खण्ड३४७
सखि झूमक गावैं अंग मोरी। हौं झुरांव, बिछुरी मोरी जोरी॥ ३४८

जायसी ने प्राकृतिक दृश्यों के साथ अपने हृदय का जैसा सामंजस्य प्रकट किया है, वैसा सूर, सेनापति आदि कुछ कवियों को छोड़कर अन्यत्र दिखलाई

नहीं देता। पद्मावत में प्रकृतिजन्य रहस्यवाद की अमिट छाप लगी हुई है। योग की बातों का भी उसमें कई बार उल्लेख हुआ है। मानव-जाति के अन्तस्तल में सामान्य रूप से विहार करने वाले भावों का तो इसमें भंडार भरा पड़ा है।

जायसी प्रेमी थे, भावुक थे, बहुश्रुत थे और साथ ही एक सिद्ध योगी थे। हिन्दुओं के घराने में प्रचलित कथाओं को लेकर उन्होंने प्रेमगाथाकाव्य के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ पद्मावत का निर्माण किया, जो उनकी कीर्ति को 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ' स्थिर रखेगा।

अखरावट : जायसी ने इस ग्रन्थ में हिन्दी वर्णमाला के क्रम से प्रत्येक दोहा खण्ड को प्रारम्भ किया है। ये दोहा खंड संख्या में ५३ हैं। सर्वप्रथम ईश्वर की वन्दना है, इसके पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति का संक्षिप्त वर्णन है। कुरान के आधार पर जायसी ने सर्वप्रथम खुदा से नूर की उत्पत्ति लिखी है। इसी नूर से समग्र विश्व उत्पन्न हुआ है। जैसे बीज अंकुरित होकर द्विदल का रूप धारण करता है, उसी प्रकार प्रेमरूपी बीज से स्वर्गरूपी पिता और पृथ्वी रूपी माता अंकुरित होते हैं। यह द्वन्द्व इन्हीं दो की संतति बनकर विश्व भर में फैल जाता है। श्वेत और श्याम, सूर्य और चन्द्र, पुण्य और पाप, दुःख और सुख, बन्ध और मोक्ष, सत्य और मिथ्या इसी द्वन्द्व के विभिन्न रूप हैं। जायसी की सम्मति में जीव और ईश्वर दोनों एक साथ थे, परन्तु द्वन्द्वात्मक प्रपंच ने जीव को परमात्मा से पृथक् कर दिया और वियुक्त होकर मृत्यु की चपेट में आया हुआ जीव सन्तापों की आखेट बना।[1]

संसार की रचना एक लीला है, जिसमें कुम्हार के एक ही चक्र पर चढ़े हुये पिंड नाना प्रकार की योनियों तथा शरीरों का रूप धारण करके बाहर आते हैं। इबलीस का जन्म सबको भयभीत करने वाला है। वैष्णव भक्ति के प्रभाव से जायसी ने नारद को प्रथम तो परमात्मा का अनन्य भक्त और दशम द्वार का रक्षक लिखा है, परन्तु बाद में उसे धर्मात्माओं को पाप-पथ पर ले जाने वाला भी बना दिया है। कुरान में यह काम शैतान का है।

१. रहेउ न दुइ महँ बीजु बालक जैसे गरभ महँ।
जग लेइ आइ बीजु मुहम्मद रोयउ बिछुरि कै॥ सोरठा ५

जायसी ने पांच तत्वों में से आकाश को छोड़कर शेष चार की सत्ता स्वीकार की है[1], जो शरीर का निर्माण करने वाले हैं। उन्होंने समग्र संसार की अन्धकूप से उपमा दी है, जिसमें सावधान रहकर निरन्तर जागरण करते हुए ही मानव सुरक्षित रह सकता है।[2] इन्द्रियों के गोचर उस चारे के समान हैं, जो जीव को बन्धन में डालने वाले हैं। पिंड और ब्रह्मांड दोनों की रचना एक जैसी है। पिंड का कंकाल धरित्री है, तो उसका मन आकाश के समान है। इस पिंड के अन्दर परमहंस अर्थात् आत्मा वैसे ही निवास करता है, जैसे फूल में सुगन्ध। जैसे दूध में घी ओतप्रोत है और रत्नाकर में रत्न भरे पड़े हैं, उसी प्रकार यदि बाहर की आँखों को बन्द करके अन्दर की आँखों से देखें, तो वह ज्योतिर्मय प्रभु अत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त दिखाई देगा।

जायसी ने इस ग्रन्थ में अपने साधना-पथ का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने के योग्य विविध मार्गों की स्वीकृति है, जो जायसी के उदार हृदय की अभिव्यंजिका है।

ग्रन्थ के अन्त में शिष्य गुरु से कुछ प्रश्न करता है, जो विश्व की विविध दृश्यावलि और उसके कारणों से सम्बन्ध रखते हैं। प्रश्न अच्छे हैं, परन्तु उनका उत्तर शान्ति एवं समाधान प्रदान नहीं करता।

आखिरी कलाम: इस ग्रन्थ की रचना बाबर के समय में ९३६ हिजरी में हुई थी। इस्लाम मज़हब जिस सामी जाति में प्रचलित हुआ, उसमें प्राचीन परम्परा के आधार पर एक विश्वास चिरकाल से चला आ रहा था, जिसके अनुसार एक विशेष युग में यह पृथ्वी जल से आप्लावित हो गई थी। जिस ओघ का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में है, वह सामी जाति की पौराणिकता में भी विद्यमान है। जैसे शतपथ के मनु नाव पर चढ़कर इस ओघ से त्राण पाते हैं, उसी प्रकार सामी जाति के नूह भी।[3] अरब प्रदेश में यह मान्यता भी चली आती थी कि रूहों को कर्म-फल देने के लिये कयामत का दिन निश्चित है।

---

१. आगि बाउ जल धूरि, चारि मैरइ भाडा गढा। ८

२. अन्धकूप सगरउ संसारू। ७।
सो घर केहि मिस बांच, मुहम्मद जौ निसि जागिये। ९ अखरावट

३. नूह कहिन जब परलौ आवा। सब जग बूड, रहेउ चढ़ि नावा। ३६ आ०कलाम

इसी दिन कुछ रूहें सदैव के लिये दोज़ख़ की आग में डाल दी जायंगी और कुछ बिहिश्त में अप्सराओं के साथ सुखोपभोग करेंगी। जायसी ने बिहिश्त के सुख का सविस्तार वर्णन किया है।

इस ग्रन्थ का कथानक विशुद्ध रूप से सामी पौराणिकता पर आधारित है, जिसका एक भी पात्र भारतीय प्रतीत नहीं होता। मैकाइल, जिबराईल, ईसराफील, अजराइल, रसूल, फातिमा आदि सभी नाम अभारतीय हैं। जब रसूल को बिहिश्त में जाने की आज्ञा मिलती है, तो वे वहाँ जाना तब तक स्वीकार नहीं करते, जब तक उन्हें खुदा का दर्शन नहीं होता। जायसी ने इस स्थल पर हज़रत मुहम्मद को खुदा के अनन्य भक्त के रूप में प्रदर्शित किया है।[1] उनके ऐसा कहने पर खुदा उनको ही दर्शन नहीं देते, उनकी उमत अर्थात् उनके अनुयायियों को भी दर्शन देते हैं।[2] प्रभु-दर्शन से हज़रत मुहम्मद के सब दुख-दारिद्र्य दूर हो गये और वे आनन्द का अनुभव करने लगे।

जायसी ने क़ुरान के आधार पर सात स्वर्गों का वर्णन किया है।[3] उन्होंने फरिश्तों और जिन्नों को भी मानव के समान ही कार्य करते हुए मरणधर्मा स्वीकार किया है। फरिश्तों का काम ईश्वरविश्वासियों की सहायता करना है। हज़रत मुहम्मद जब-जब कठिनाई में पड़े, तब-तब जिब्राइल दैवी सन्देश लेकर उनकी सहायता करने के लिए आ पहुँचा, जिससे उनको बड़ी शक्ति मिली। क़ुरान की आयतों के अनेक भाग जिब्राइल के द्वारा ही हज़रत मुहम्मद पर प्रकट हुए। कुछ फरिश्ते खुदा के सिंहासन को संभाले हुए हैं और उनकी स्तुति में लीन रहते हैं। जिन्नों को इबलिस या शैतान की संतान कहा जाता है। मानव यदि मिट्टी का बना है, तो जिन्न विशुद्ध अग्नि-प्रसूत हैं। इबलिस ने अग्निप्रसूत होने के कारण मिट्टी से उत्पन्न आदम के सामने झुकना स्वीकार नहीं किया; इसी से वही नहीं, मानव भी अन्त में अभिशप्त हुआ।

आख़िरी कलाम में जायसी ने स्वर्ग का वर्णन किया है, जहां ज्योति चमक रही है। सम्पूर्ण बिहिश्त इस ज्योति से जगमगा रही है। बारहों आदित्यों की सम्मिलित ज्योति की अपेक्षा भी यह ज्योति अधिक प्रकाशमान

---

१. होइ दयाल कर दिष्टि फिरावा। तोहि छाडि मोहि और न भावा॥ ४९॥

२. देखउ दरस मुहम्मद, आपनि उमत समेत॥ ५०॥

३. सात बिहिस्त बिधिनै औतारा। औ आठयं सदाद संवारा॥ ५१॥

है। स्वर्गस्थ आत्माओं के शरीर मोती के समान देदीप्यमान हैं और नीरोग तथा अमर हैं।[1]

महरी बाईसी : २२ पदों की यह छोटी-सी पुस्तिका है। इसका वास्तविक नाम क्या था, इसका अभी तक पता नहीं चल सका। इसमें जिस विषय का वर्णन है, उससे इस नामकरण की सार्थकता संदेहास्पद है। 'ज्ञान चौंतीसा' जैसी पुस्तकों के समान यदि इसका नाम 'ज्ञान बाईसी' रहता, तो अधिक उपयुक्त था।[2] इसके प्रथम पद में जायसी ने संसार को समुद्र से उपमित किया है, जिसमें धर्म की नौका पड़ी हुई है और खेने वाला एक ही केवट है, जिसे परमात्मा कहा जाता है। सूफी सम्प्रदाय के मान्य सिद्धान्तों में साधना-पथ पर अग्रसर करने वाला सर्वप्रथम गुरु होता है। गुरु की आज्ञा का पालन साधक के लिये परम आवश्यक माना गया है। गुरु के पश्चात् रसूल का स्थान है। रसूल ही साधक को पार लगानेवाला है। परन्तु सब से अन्त में तो एक ही आश्रय रह जाता है। यह अन्तिम आश्रय ईश्वर है। जायसी ने अनेक बार अपनी रचनाओं में इस अन्तिम अवलम्बन की ओर संकेत किया है।

केवट के बिना संसार-सिन्धु में पड़ी हुई नौका कैसे पार लगेगी? यहां कुछ तो तटवर्ती उथले जल में खड़े हैं, कुछ गहरे प्रवाह में पड़े हैं, कोई जल की थाह लेकर किनारे-किनारे बह रहे हैं और कोई तृष्णाओं के भँवर-जाल में उलझे हैं। जायसी कहते हैं कि साधक को इस जल में पैर संभाल कर रखना चाहिये और आगे की तल-भूमि को टोहते हुये पैर आगे बढ़ाने चाहिये, अन्यथा पदभ्रंश होने का भय है।

संकट पड़ने पर केवट को पुकारने वाले तो अनेक हैं, परन्तु वह सबको प्राप्त नहीं होता। वर्षा ऋतु में फैले हुये नदी के पाट को देखकर मन आतंकित होता है, पवन द्वारा उद्वेलित लहरें हृदय को कम्पित कर देती हैं, प्रवाह में बहते हुये सूस और मगर भयभीत प्रतीत होते हैं। ऐसे प्रवाह में केवट के बिना

१. बारह बानी सरि हो सुबरना। तेहि का चाहि रूप अति कोना॥
निरमल बदन चंदन कै जोती। सबकै सरीर दिपै जस मोती॥ ५९॥

२. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'पदमावत-संजीवनी व्याख्या' के प्राक्कथन, पृष्ठ १० पर मनेर शरीफ के खानका पुस्तकालय की फारसी लिपि में लिखित एक प्रति का उल्लेख किया है, जिसमें जायसी के इस ग्रन्थ का नाम 'कहारा नामा' दिया है।

नाव का पार लगना दुष्कर ही है। जायसी ने इस स्थल पर योग-युक्तिपूर्वक मन को मारने, भोगों से विरत होने तथा कतिपय अन्य साधनों का उल्लेख किया है। अन्त में आत्मा और परमात्मा के विवाह का वर्णन किया है। बारहवें पद में आत्मा का श्रृङ्गारवर्णन वैसा ही है, जैसा सूरसागर में राधा का श्रृंगार है। वही आभूषण हैं और वैसी ही उपमायें हैं। आत्मा रूपी प्रिया अपने प्रिय परमात्मा को गंभीर गुणों से संयुक्त और महनीय रूप में अनुभव करती है। यह प्रिय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं में विद्यमान है। इसकी प्राप्ति तभी होती है, जब अपने आपको समाप्त कर दिया जाता है।

जायसी पर पड़े हुये प्रभाव

१. सूफी सम्प्रदाय : जायसी निष्ठा-सम्पन्न मुसलमान थे और सूफी सम्प्रदाय से संबंध रखते थे। उनके गुरु अशरफ और मुहीउद्दीन दोनों ही सूफी थे। अपने दोनों गुरुओं की वन्दना उन्होंने स्वप्रणीत काव्यग्रन्थों में की है। क़ुरान के आधार पर खुदा की स्तुति में जो कुछ लिखा गया है, वह उन्हें ईश्वर-भक्त सिद्ध करता है। हज़रत मुहम्मद की प्रशंसा, खलीफाओं की महत्ता, जिबराइल आदि का वर्णन, बिहिश्त और दोज़ख़ के विवरण, सब क़ुरान के अनुसार हैं। इसलाम एक अल्लाह के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता स्वीकार नहीं करता। मूर्तिपूजा की व्यर्थता इसी से सिद्ध हो जाती है। जायसी लिखते हैं :

पाहन सेवा काह पसीजा। बाउर सोइ जो पाहन पूजा।
सकति को भार केइ सिर दूजा।
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा। सो ऐसैं बूड़ै मंझधारा॥ २०२

तैराक सिंह को पकड़कर सरिता की धारा को पार किया जा सकता है, परन्तु भेंड़ की पूँछ को पकड़कर केवल जल में डूबना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जो प्रस्तरों की पूजा करते हैं, वे इस भवसागर को पार नहीं कर सकते। सूफियों ने परमात्मा को पत्नी का रूप प्रदान किया है, परन्तु जैसा लिखा जा चुका है, जायसी ने उसे पत्नी और प्रियतम दोनों रूपों में अनुभव किया है। प्रेमपरक आख्यानों में जिस कहानी का वर्णन किया जाता है उसमें पाठकों के लिये जहाँ विनोदात्मक आकर्षण की सामग्री रहती है, वहाँ उन्हें ज्ञान और

ध्यान की ओर प्रेरित करने के लिए भी उपयुक्त तत्त्वों का नियोजन किया जाता है। जायसी ने रतनसेन और पद्मावती दोनों को एक दूसरे के प्रति अनुरक्त दिखाया है। यदि एक ओर रतनसेन यह कहता है—'आइ जो प्रीतम फिरि गएउ मिला न आइ बसंत' (२०४) तो दूसरी ओर पद्मावती कहती है: 'तुम्ह कहँ पाट हिएँ महँ साजा। अब तुम्ह मोर दुहूँ जग राजा।' (२५६) यदि पद्मावती रूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिये रतनसेन महादेव के मंडप में मूर्ति के आगे प्रणत होता है (१६५) तो पद्मावती भी उसी मंडप में देवता के पैरों में पड़ती हुई रतनसेनरूपी प्रिय की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करती है (१९१)।

मुसलमान प्रेमगाथाकारों का प्रमुख उद्देश्य इस्लाम का प्रचार करना था। जायसी ने लिखा है:

सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा।
लिखि पुरान विधि पठवा साँचा। भा परवान दुवौ जग बाँचा॥
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटैं पाप पुन्नि सुनि लागै। दो० सं० २५

पद्मावत दोहा सं० ११ और आखिरी कलाम दो० सं० ७ में जायसी ने हजरत मुहम्मद का नाम न लेने वाले व्यक्ति को नरक में निवास पाने वाला लिखा है।[1]

इस्लाम के पवित्र तीर्थस्थान मक्का को जायसी ने ऊँचे मस्तक और मदीना को हृदय के समान लिखा है। (अखरावट १०) हज़रत उमरअली, हमजा आदि का नाम भी उन्होंने आदरपूर्वक लिया है। आख़िरी कलाम, दोहा संख्या ९ में गुरु की निरन्तर ४० दिन सेवा और उनके द्वार का बुहारना, पापों का प्रक्षालक और हजरत मुहम्मद का दर्शनप्रदाता है, ऐसा वर्णन मिलता है। सूफी सम्प्रदाय के प्रतिबिंबवाद सिद्धान्त का उल्लेख जायसी ने कई बार किया है। यथा:

जानु आहि दरपन मोर हिया। तेहि महँ दरस देखावै पिया। पद्मा० ४०१
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा। अखरावट १८,
आखिरी कलाम ११
गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सूरुज दिपै अकास, मुहमद सब महँ देखिए॥ अखरावट, सोरठा ४२

---

१. जेइ नहिं लीन्ह जनम मां नाऊँ। तेहि कहँ कीन्ह नरक_मां ठाऊँ॥

दरपन बालक हाथ, मुख देखे दूसर गए।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए॥ अखरावट, सोरठा २४

प्रतिबिंबवाद के सम्बन्ध में सूफियों के दो दल हैं। एक दल छाया को वास्तविक सत्ता से पृथक् नहीं मानता, परन्तु दूसरा दल छाया को वास्तविक सत्ता के पद पर प्रतिष्ठित करने से हिचकिचाता है। जायसी की ऊपर उद्धृत पंक्तियों में सूर्य और अनेक घड़ों में पड़ते हुये उसके प्रतिबिंब अथवा बालक का अपने प्रतिबिंब को दर्पण में देखना दोनों उदाहरण वास्तविक सत्ता को छाया से पृथक् करने वाले हैं। अन्य दो उद्धरणों के अनुसार छाया और सत्ता में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। संभवतः जायसी के उदार हृदय ने इस सम्बन्ध में दोनों दलों की बात स्वीकार कर ली है।

प्रतिबिंबवाद अद्वैतवाद का प्रतिरूप है। जायसी ने निरावरण शब्दों में अद्वैतवाद का समर्थन किया है। अखरावट, दोहा संख्या १८ में जायसी लिखते हैं: 'परमात्मा ने संसार की रचना अपने ही अनुरूप की है। वह अपनी प्रभुता अपने आप से ही कह रहा है, स्वयं अपने आपको देख रहा है। वही स्वयं वन और पक्षी, आखेट्य पशु और आखेटक, पुष्प और भ्रमर, फल और रक्षक, रस और आस्वादक, प्रतिबिंब और प्रतिबिंबक, दृश्य और द्रष्टा, लेखनी और लेखक, तथा पाठ्य और पाठक है। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद में जीव और जगत् की उत्पत्ति के लिये माया का सहारा लिया गया है। जायसी ने इसे जुक्ति, ग्रहण अथवा चारा कहा है। यथा:

जिव का परै ग्यांन सब छूटै। तब भा मोख गहन जो छूटै।आ० कलाम ५
चारा मेलि फाँद जग माया। अखरावट ११
मै बिआधि तिसा संग खाधू। सूझै जुगुति न सूझ बिआधू॥
पद्मावत ७२ दोहा

जायसी इसे माया का भी नाम देते हैं और माया को मिथ्या कहते हैं। मन इसी माया की भ्रान्ति में पड़कर भुक्ति को तो देखता है, पर मुक्ति की ओर दृष्टि नहीं ले जाता। पद्मावत दोहा संख्या ७०।

जायसी ने सूर्यग्रहण के अवसर पर सूर्य का बन्धन और चांडाल के हाथ में उसका समर्पण लिखा है (आखिरी कलाम ५) और इबलीस या शैतान

को खुदा का नाम पढ़कर धुँआँ दिखा देने से भाग जाने वाला कहा है। इस प्रकार के अंधविश्वास संभवतः सामीपरम्परा की ही देन हैं।

नाथ सम्प्रदाय : नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ हैं। ये पहले बौद्ध थे। इनके पूर्ववर्ती सरह, करप्पा आदि जितने सिद्ध हैं, वे भी बौद्ध थे। महात्मा बुद्धने विश्व को दुखमूलक समझकर मानव के लिये जिस अष्टांगमार्ग का प्रतिपादन किया था, वह अष्टांग योग के यम-नियमों के अन्तर्गत आ जाता है। अतः बुद्ध के उपदेश प्राचीन आर्यमर्यादाओं के ही अन्तर्गत थे। आचार से उनका विशिष्ट सम्बन्ध था। आचार की इस मर्यादा का पालन गुरु गोरखनाथ ने नाथसम्प्रदाय के अनुयायियों के लिये अनिवार्य बना दिया था। सिद्धों के सहज मार्ग से जो आचार-भ्रष्टता कतिपय साधकों के अन्दर प्रचलित हो गई थी, उसका निराकरण गुरु गोरखनाथ के नाथसम्प्रदाय ने कठोरता के साथ किया। मलिक मुहम्मद जायसी ने साधनपथ की इस आचार-मर्यादा का उल्लेख अपने ग्रन्थों में अनेक बार किया है। हमारी सम्मति में जायसी की साधना पर नाथसम्प्रदाय का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। उन्होंने नाथ सम्प्रदाय के हठयोग की क्रियाओं का अनुभूत जैसा वर्णन किया है। घर-बार छोड़कर योगी बन जाने वाले गोपीचंद और भर्तृहरि का नाम भी उन्होंने श्रद्धापूर्वक लिया है। यथा :

जो भल होत राज औ भोगू। गोपिचंद कस साधत जोगू। दो० सं० १३०
जानहु आहि गोपिचंद जोगी। कै सो भरथरि आहि बियोगी।
वे पिंगला गये कजरी आरन। यह सिंघल दहुं सो केहि कारन। दो० १९३

दोहा संख्या २६४ में जायसी ने ९ नाथों और ८४ सिद्धों का उल्लेख किया है। गुरु गोरखनाथ का भी नाम इनकी कृतियों में कई बार आया है। यथा :

कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होई कहँ गोरख कहा। दो० संख्या १२
आइ पेमरस कहा संदेसू। गोरख मिला मिला उपदेसू। दो० सं० १८२

गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का स्मरण जायसी इस प्रकार करते हैं :

गोरख सिद्धि दीन्हि तोहि हाथू। तारे गुरू मछिंदर नाथू। १६० पद्मावत
लीन्हेसि धंसि स्वासा मन मारे। गुरू मछंदरनाथ संभारे। दो० सं० २३८

हठयोगियों के वेश का वर्णन जायसी ने निम्नांकित पंक्तियों में किया है :

मेखल सिंगी चक्र धंधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी।
मुद्रा स्रवन कंठ जप माला। कर उदपान कांध बघछाला।
पाँवरि पाँउ लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता॥

दो० सं० १२६

योगी शरीर पर भस्म मलते थे और कंथा पहनते थे, इस बात का भी उल्लेख जायसी ने किया है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के साथ चक्रों तथा त्राटक आदि क्रियाओं का भी उल्लेख जायसी करते हैं। अखरावट दोहा खंड १७ में उन्होंने शरीर के सात खंडों का सम्बन्ध ब्रह्मांड के सात देवताओं के साथ स्थापित किया है। उनके अनुसार प्रथम खंड में शनैश्चर, द्वितीय खंड में बृहस्पति, जहाँ काम का द्वार और भोग का घर है, तृतीय खंड में मंगल, जिसका स्थान नाभिकमल के अन्तर्गत है, चतुर्थ खंड में आदित्य, जो वक्षःस्थल के वाम भाग में रहता है, पाँचवें खंड में शुक्र, जो कंठ में जिह्वा के नीचे निवास करता है, छठे खंड में बुध, जो दोनों भौंहों के बीच में है और सातवें खंड में कपाल के अन्दर सोम का निवास है। इसी को दशम द्वार कहते हैं। जो इस द्वार का उद्घाटन कर सकता है, वही महान् सिद्ध है। हठयोग का अनुयायी गुरु के बिना साधना-पथ पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता, इसका उल्लेख नीचे लिखे दोहे में है :

बिनु गुरु पंथ न पाइय, भूलै सोइ जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सौं भेंट॥ २१२॥

नाथपंथ में आदि नाथ शिवजी माने गये हैं। पद्मावत में शिवपूजा की महत्ता अनेक स्थानों पर है। जायसी के शब्दों में महादेव अर्थात् शिवजी देवताओं के पिता हैं। राम ने भी उन्हीं की शरण में जाकर विजय प्राप्त की थी।[1] जायसी ने शैवों के हठयोग और ज्ञान को अपनाकर उनमें भगवत्प्रेम और भक्ति का समावेश किया।[2] उनकी रचनाओं में

१. महादेव देवन के पिता। तुम्हारी सरन राम रन जिता। दो० खंड २११
२. बैठ सिंघछाला होइ तपा। पदुमावति पदुमावति जपा। दो० खं० १६७
दोहा खंड संख्या १४१, १६२, १६४, १८५, १९१ आदि में वर्णित शिव की महत्ता भी ध्यान देने योग्य है।

जायसी ने शिवपूजा और शैवसाधना-पथ की तपश्चर्या के महत्त्व का प्रतिपादन

भक्ति[1] शब्द बहुत कम आया है, परन्तु प्रेम-पथ की परिपूर्ण चर्चा है। जायसी ने नाथपंथियों के योग मार्ग को प्रेम से भावित करके उनके ज्ञानकांड को

किया है। दोहा खण्ड १६४ में महादेव जी का मन्दिर चतुर्मुख द्वारों वाला है। प्रत्येक द्वार पर देवता बैठे हुये हैं। मन्दिर के अन्दर चार स्तम्भ हैं, जहाँ शंख और घण्टा बज रहे हैं तथा विविध प्रकार के जाप और यज्ञ चल रहे हैं। दोहा खण्ड २०७ में महादेव के अशिव वेष का वर्णन है। वे कोढी के रूप में बैल पर बैठे हुये हैं—शरीर पर कथरी और हाड़ों की माला है, गले में रुण्ड-माल और कन्धे पर हत्या बंधी है, जो उनके संहारक रूप को प्रकट करती है। शेषनाग माला के रूप में उनके कण्ठ में पड़ा है, शरीर पर भभूत रमी हुई है, अस्थि चर्म का परिधान है, हाथ में रुद्र-कमल के गट्टाओं की पहुँची पहने हैं, माथे पर चन्द्रमा, जटाओं में गङ्गा और हाथों में चँवर, घण्टा और डमरू है। साथ में पार्वती हैं और वीर हनुमान् भी पीछे चल रहे हैं। दोहा खण्ड २१७ में वे वरदान के रूप में राजा रतनसेन को सिद्ध गुटिका देते हैं, जिससे रतनसेन को पद्मावतीरूपी सिद्धि प्राप्त होती है। दोहा खण्ड १९१ में पद्मावती भी इन्हीं महादेव से पति-सिद्धि का वरदान माँगती है। महादेव की इतनी महिमा होते हुए भी वे जायसी की दृष्टि में देव-कोटि से ऊपर नहीं उठ पाते। दोहा खंड २०३ में महादेव राजा रतनसेन के समक्ष अपनी मानव सदृश असमर्थता प्रकट करते हैं। देव-सुलभ दुर्बलतायें भी उनके अन्दर विद्यमान हैं। पद्मावती के जिस अप्रतिम रूप से मानव विचलित होते हैं, उससे महादेव भी नही बच पाते :

हौं तेहि दीप पतंग होइ परा।
जिव जम गहा सरग लै धरा॥ २०३॥

दोहा खंड १६१ में भी सुआ राजा से कहता है :

सो गढ देखु गगन ते ऊचा।
नैन देख कर नाहिं पहूचा॥
रावन चहा सौंह होइ हेरा, उतरि गये दस माथ।
संकर धरा ललाट भुइं, और को जोगी नाथ॥

जब महादेव ही स्वर्ग के सम्मुख सिर झुकाते हैं, तो अन्य योगीन्द्र किस गणना में हैं? भागवत धर्म के प्रभाव ने भी महादेव को देवकोटि से ऊपर नहीं उठने दिया। जायसी ने दोहा खंड २६३ और २६७ में भट्ट को महादेव की मूर्ति बताया है :

'हौं महेस मूरति सुनु कहा' तथा 'भाट आदि ईसुर कै कला।'

यह कथन तुलसी के उस कथन से मेल खाता है जिसमें उन्होंने महादेव को ब्रह्म-कुलोद्भव तथा निखिल वाङ्मय के सूत्रधार के रूप में उपस्थित किया है।

१. जो नर सकति भगति भा चेला। होइ खेलार खेल बहुखेला॥ २४॥ अखरावट

भगवद्भक्ति की भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इस योग एवं प्रेम, ज्ञान एवं भक्ति के सम्मिलन से हठयोग तथा ज्ञान-विज्ञान की शुष्कता एवं नीरसता दूर हुई। प्रभु-प्रेम की संजीवनी ने प्रेम के लौकिक पक्ष को भी नवीन जीवन-दान दिया और जनता को सदाचार-पथ पर चलने के लिये प्रेरित किया। जायसी की यह देन हम सब के लिये अमूल्य है।

३. बौद्ध सम्प्रदाय : पीछे हम इस्लाम पर पड़े हुये बौद्ध प्रभाव की चर्चा कर चुके हैं। बौद्धों के निर्वाण का प्रभाव जायसी पर भी पर्याप्त मात्रा में है। बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी पंचस्कंधों के अतिरिक्त आत्मा जैसी किसी विशिष्ट सत्ता को स्वीकार नहीं करते। शरीर, संवेद, क्रिया, ज्ञान और चेतना-प्रवाह ऐसे प्रज्वलित दीपक के समान हैं, जिसके तेल और बत्ती के समाप्त होते ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसी को निर्वाण कहते हैं। दीपक बुझ गया तो सब कुछ ध्वस्त हो गया। अवशेष रूप में कोई भी अस्तित्व दृग्गोचर नहीं रहता। इसे शून्यवाद भी कहा जाता है। अखरावट दोहा संख्या १३ की निम्नांकित पंक्तियाँ इस विषय को स्पष्ट कर रही हैं :

तन सराय मन जानहु दीया। आसु तेल दम बाती किया।
दीपक महँ बिधि जोति समानी। आपुहि बरै बाति निरबानी।
निघटे तेल झूरि भइ बाती। गा दीपक बुझि अँधियरि राती॥ अखरावट

शून्यवाद के लिये नीचे लिखी पंक्तियाँ विचारणीय हैं :

निरमल जोति बरनि नहिं जाई। निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई।
इहै जगत कै सुन्न, यह जप तप सत साधना।
जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोई सिद्ध भा॥ अखरावट दोहा २९॥

भा भल सोइ जो सुन्नहि जानै। सुन्नहि तें सब जग पहिचानै।
सुन्नहि तें है सुन्न उपाती। सुन्नहि तें उपजैं बहु भाँती।
सुन्नहिं माँझ इन्द्र ब्रह्मंडा। सुन्नहि ते टीके नवखंडा।
सुन्नहिं ते उपजे सब कोई। पुनि बिलाइ सब सुन्नहिं होई।
सुन्नहिं सात सरग उपराहीं। सुन्नहिं सातौ धरति तराहीं।
सुन्नहिं ठाट लाग सब एका। जीवहिं लाग पिंड सगरे का।
सुन्नम सुन्नम सब उतिराई। सुन्नहिं महँ सब रहै समाई।

दोहा ३० अखरावट

बौद्धों की साधना-पद्धति तो सूफी सम्प्रदाय में ज्यों कीं त्यों स्वीकृत है। इसका निरूपण आगे किया जायगा। जायसी ने कबीर का भी नाम आदरपूर्वक लिया है। उनकी रचनाओं में नारद शैतान के रूप में है, जो सभी रूहों को गुमराह किया करता है। इस शैतान का वश कबीर पर नहीं चला। अखरावट दोहा संख्या ४३ में जायसी लिखते हैं :

ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सौं मैं हारा।
प्रेम तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई।
दरब गरब सब देइ बिथारी। गनि साथी सब लेइ संभारी।
पाँच भूत माँडी गनि मलई। ओहि सौं मोर न एकौ चलई।

४. पौराणिकता : मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी साधना-सम्पत्ति से जिस युग को अलंकृत किया, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के नाम से प्रख्यात है। इस युग में भक्ति के श्यामल मेघ भारतीय कवियों के हृदयाकाश में उमड़कर समग्र देश में आनन्द की वर्षा कर रहे थे। इस वर्षा से एक ओर जीवन की खिन्नता दूर हुई और दूसरी ओर जीवन के प्रति आशा और अनुराग भी वर्द्धमान हुए। भक्तिकांड पुराणों का आश्रय पाकर कई शताब्दियों से फूलता-फलता चला आ रहा था। पुराणों की शैली गाथात्मक थी। गाथाओं के आश्रय से भक्ति के सिद्धान्तों को जन-मन तक पहुँचाना पौराणिकों का एक प्रमुख उद्देश्य था। गाथायें कल्पित और ऐतिहासिक दोनों प्रकार की होती थीं। प्रेमाख्यानक काव्य भी इसी प्रकार की गाथाओं पर आश्रित हैं। सूफी कवियों ने इस देश की गाथाओं में सामी परम्परा की गाथाओं को भी सम्मिलित किया है। जायसी ने अपनी पद्मावत में ऐतिहासिक तथा कल्पित गाथाओं के समन्वय द्वारा जिस आध्यात्मिक एवं लौकिक प्रेम का उद्घाटन किया है, वह हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।

गाथायें हिन्दू जीवन के विविध पार्श्वों के सन्निवेश द्वारा हिन्दू संस्कृति के रूप को प्रत्यक्ष करती थीं। जायसी इनसे पर्याप्त परिचित प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में हिन्दू जीवन के विविध रूपों पर सहृदयता से विचार किया है। नीचे उद्धृत पंक्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करने वाली हैं :

साहित्यक परिचय : वेद, पुराण आदि :

चतुर वेद मति सब ओहि पाहाँ। ऋग् जजु सामु अथरवन माहाँ।

एक एक बोल अरथ चौगुना। इन्द्र मोह बरम्हा सिर धुना।
अमर भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता।
भावसती व्याकरन सरसुती, पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सैं बात कह, तस जनु लागहिं बान।
दोहा संख्या १०८ पद्मा०

काढि पुरान जनम अरथाये। दोहा सं० ५२।
दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी। दो० सं० ५३ पद्मा०

इन पंक्तियों में वेद, गीता, पुराण, महाभारत, पिंगलशास्त्र, व्याकरण और कोष के नाम आ गये हैं।

रामायण :
है राजहिं सब लच्छन कै करा। सकति बान मोहा है परा।
नहिं सो राम हनिवंत बड़ि दूरी। को लै आव सजीवनि मूरी। १२० पद्मा०
रामा आइ अजोध्यां उपने लखन बतीसों संग।
रावन राइ रूप सब भूले दीपक जैस पतंग॥ दो० ५२ पद्मावत

ज्योतिष :
पोथा काढि गवन दिन देखहु कवन दिवस दहुं चाल।
दिसासूर औ चक्र जोगिनी सौंह न चलिऐ काल॥ दोहा ३८१ पद्मावत
इस सम्बन्ध में दोहा संख्या ३८२ और ३८३ भी देखने योग्य हैं। दोहा संख्या १३५ में भारतीय पद्धति पर शकुनों का वर्णन है।

हिन्दूसंस्कृति : पुनर्जन्म :
यह पंडित खंडित बैरागू। दोहा संख्या ८६ पद्मावत
यह पंक्ति सिद्ध करती है कि हीरामन सुआ पूर्वजन्म में ब्राह्मण था। वैराग्य के खंडित हो जाने से उसे पक्षी-योनि में आना पड़ा।

प्रथायें : जन्मपत्र :
भई जनम पत्री सो लिखी। दै असीस बहुरे जोतिसी। दो० ५३ पद्मा०

विद्यारम्भसंस्कार :
पाँच बरिस महँ भई सो बारी।
दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी॥ दोहा संख्या ५३ पद्मा०

वसन्तोत्सव[1] :

फरि फूलन सब डारि उनाई। झुण्ड बाँधि कै पंचमि गाई।
संख सींग, डफ संगम बाजे। बंसकार महुअर सुर साजे।
रयन चढ़ीं सब रूप सुहाई। कै बसन्त मढ मंडप सिधाई।
नवल वसन्त नवल वै बारी। सेंदुर बुक्का होइ धमारी।
खिनहिं चलहिं खिन चांचरि होई। नाच कूद भूला सब कोई।

दो० १८९ पद्मा०

मूर्तिपूजा और वरयाचना : देवताओं में महादेव का ही वर्णन पद्मावत में विशेष रूप से हुआ है :

ततखन पहुंचा आइ महेसू। बाहन बैल कुस्टि कर भेसू।
कांथरि कथा हड़ावरि बाँधे। रुंडमाल औ हत्या कांधे।
सेसनाग औ कंठे माला। तन विभूति हस्ती कर छाला।
पहुंची रुद्र कंवल कै गटा। ससि माथे औ सुरसरि जटा।
चंवर घंट औ डंवरू हाथा। गौरा पारवती धनि साथा। दोहा सं० २०७
फर फूलन्ह सब मंडप भरावा। चंदन अगर देव नहवावा।
भरि सेंदुर आगे होइ खरी। परसि देव औ पाउन्ह परि।
और सहेली सबै बियाहीं। मो कहं देव कतहुं बर नाहीं।
हौं निरगुनि जेइं कीन्ह न सेवा। गुनि निरगुनि दाता तुम्ह देवा।

दोहा संख्या १६१ पद्मा०

विवाह के आचार : दोहा संख्या २८५ तथा २८६ में ज्यौनार, मंडप, वंदनवार, चौक पूरना, जल से भरे हुए स्वर्ण कलश की स्थापना, वेदमंत्रों का उच्चारण, गोत्र का उच्चारण, जयमाल, ग्रन्थिबंधन, पाणिग्रहण, सात भाँवरें, तथा दहेज का यथास्थान वर्णन है।

स्त्रियों के भेद तथा शृंगारप्रसाधन : दोहा संख्या ४६३, ४६४, ४६५ और ४६६ में हस्तिनी, सिंहिनी, चित्रिणी और पद्मिनी, चार प्रकार की स्त्रियों का वर्णन है। दोहा संख्या ४६७ में षोडश शृंगार वर्णित हैं। दोहा संख्या ४७२ में हिन्दू स्त्रियों के आभूषणों का उल्लेख है।

---

१. होली और दीपावली के वर्णन दोहा संख्या ३४८ और ३५२ में हैं।

पौराणिकता के स्पष्ट निदर्शन के लिये जायसी की निम्नांकित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं:

उहै धनुक किरसुन पै अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा।
उहै धनुक रावन संघारा। उहै धनुक कंसासुर मारा।
उहै धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहीं सहस्सर बाहू।

दोहा १०२ पद्मावत

कान्ह चले तजि सब गयेउ भाजी को बजावि करै बासा रे।
गोकुल छांड़ा छाए मधुवन किए कुब्जा घर बासा रे॥ महरी बाईसी २१
को यह समुंद मथै बर बाढ़ा। को मथि रतन पदारथ काढ़ा।
कहाँ सो ब्रह्मा बिस्नु महेसू। कहाँ सो मेरु कहाँ सो सेसू।
को अस साज मेरावे धानी। बासुकि बंध सुमेरु मथानी।
को दधि मथे समुंद जस मथा। करनी सार न कथनी कथा।

दोहा सं० ४०६ प०

राहु बेधि होइ अरजुन जीति द्रोपदी ब्याहु। दोहा २३४ पद्मावत
का बसाइ जौ गुरु अस बूझा। चकाबूह अभिमनु जो जूझा।

२९४ पद्मावत

दस असुमेध जागि जेइं कीन्हा। दान पुन्नि सरि सेउ न दीन्हा।

१७ पद्मावत

सत पतार खोजि जस काढे बेद गरन्थ। दोहा १४९ पद्मावत
तूं राजा जस बिक्रम आदी। तूं हरिचंद बैन सतवादी। १६० पद्मावत

पद्मावत के दोहा संख्या ४४६ में वररुचि को वेद-ज्ञाता और राजा भोज को चतुर्दश विद्याओं का पंडित लिखा है। दोहा संख्या ३४० में लक्ष्मी की चंचलता और दोहा संख्या ३४१ मे राजा बलि एवं नारायण का वामनावतार तथा अक्रूर द्वारा कृष्ण को मथुरा ले जाने का वर्णन है। दोहा संख्या २२४ में पाताल के अधिपति शेषनाग, नागों के आठ वंश, तेतीस कोटि देवता, ५६ प्रकार के मेघ आदि का उल्लेख है। दोहा संख्या २६६ में दस सिर और बीस भुजाओं वाले बलवान् रावण का वर्णन है, जिसके यहाँ सूर्य रसोई बनाता था, वैश्वानर धोवी धोता था, शुक्र प्रतीहार, चन्द्रमा मशालची, पवन झाड़ू लगाने वाला और मृत्यु जिसकी चारपाई की पाटी से बन्धी रहती थी। रावण के दस करोड़ पुत्र और नाती थे, परन्तु गर्व के कारण रावण

का नाम लेने के लिये एक भी जीवित नहीं बचा। दोहा संख्या २०० में दुष्यन्त और शकुन्तला तथा नल और दमयन्ती का वर्णन है। संस्कृत भाषा को भी जायसी आदर की दृष्टि से देखते हैं। सिंहल के निवासियों को उन्होंने पण्डित, ज्ञानी तथा संस्कृत-भाषा-भाषी लिखा है। (पद्मा० दोहा २६)

जायसी ने हिन्दू पौराणिक गाथाओं के साथ इस्लामी गाथाओं का भी संमिश्रण किया है। नारद को इन्होंने दशम द्वार पर शैतान की समग्र फौज के साथ बिठा दिया है, अखरावट ३३। इसी ग्रन्थ के दोहा संख्या १० में फिरिश्तों, मुर्शिदों और इमामों का वर्णन है। आखिरी कलाम तो पूर्ण रूप से सामी परम्परा की गाथाओं से ओत-प्रोत है।

लीला : क़ुरान एकेश्वरवाद का तो वर्णन करती है, परन्तु उसमें जगत् की रचना को लीला या खेल के रूप में कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है। सूफी सम्प्रदाय का वास्तविक उद्भव ईरान में हुआ, जो आर्य संस्कृति का प्रदेश था। यहीं पर भारतीय अद्वैतवाद ने सूफ़ी सम्प्रदाय को प्रभावित किया। इससे भी पूर्व भारत का शैव सम्प्रदाय अरब और उसके निकटवर्ती भूमि-भागों तक फैल चुका था। शैवों का आनन्दवाद विश्व को महाचिति का लीला-निकेतन मानकर चला था। यह भावना वैष्णव सम्प्रदायों में भी स्वीकृत थी। हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में हरिलीला की चर्चा समग्र देश में व्याप्त हो रही थी। जायसी ने उसके प्रभविष्णु रूप को अनुभव किया और अपनी रचनाओं में उसे स्थान दिया। जायसी की निम्नांकित पंक्तियाँ जायसी पर पड़े हुए हरिलीला के प्रभाव को सुचारु रूप से अभिव्यक्त कर रही हैं :

आदिहि तें जो आदि गोसाईं। जेइ सब खेल रचा दुनियाईं॥
जस खेलेसि तस जाइ न कहा। चौदह भुवन पूरि सब रहा॥ १॥
जौ उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपसों कहा॥
रहा जो एकजल गुपुत समुन्दा। बरसा सहस अठारह बुन्दा॥
सोई अंस घट-घट महं मेला। औ सोइ बरन-बरन होइ खेला॥

भरा भंडार गुपुत तहं जहाँ छांह नहिं धूप।
पुनि अनवन परकार सों खेला परगट रूप॥ २॥ अखरावट

ईश्वर अकेला है, फिर भी यह सृष्टि उससे अभिन्न होकर भी भिन्न प्रतीत होती है। द्वैत का यह अन्तरपट उसीका उत्पन्न किया हुआ है। उसीने अपने कौतुक के लिए यह समग्र साज फैला रखा है और इस रूप में वह अपने साथ ही क्रीड़ा कर रहा है। द्वैतभावना में वह संसार से और संसार उससे भूला हुआ लीला में निरत है। ईश्वर ने सर्वत्र व्याप्त होकर मानों अपने को सबमें प्रविष्ट कर रखा है। प्रकृति की विविध घटनाओं में और मानव के नाना प्रकार के क्रिया-कलापों में उसी एक की अनेकरूप लीला दृष्टिगोचर हो रही है। प्रेम की इस क्रीड़ा में सच्चा खिलाड़ी कौन है? कौन ऐसा सिद्ध पुरुष है जो इस लीला में प्रेमपूर्वक सज्ञानता के साथ भाग लेने का अधिकारी है? जायसी कहते हैं:

जो सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम रस ॥ ४ ॥ अखरावट

जो प्रभु को अपना शिर सौंप दे, अहन्ता का समर्पण कर दे, वही भगवान् की इस प्रेम-लीला में भाग ले सकता है। उसीका मुख परमप्रिय प्रभु के सामने हँसते-खेलते रूप में जा सकता है। यह लीला बालक का अपनी परछाहीं के साथ खेलना मात्र है।

'भारतीय साधना और सूरसाहित्य' में हमने हरिलीला के सृजन एवं ध्वंस दो रूपों का उल्लेख किया है। प्रतिपालन इन दोनों के बीच की स्थिति है। वैष्णव धर्म के प्रायः सभी आचार्य इस सम्बन्ध में एकमत हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इस तथ्य को निम्नलिखित पंक्ति में स्वीकार किया है:

भंजन गढ़न संवारन जिन खेला सब खेल। २१। आख़िरी कलाम

जायसी पर नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। इसके प्रमाण उनकी रचनाओं से हम पीछे दे चुके हैं। उन्होंने स्वर्ग के अर्थ में इसी हेतु 'कैलास' शब्द का प्रयोग किया है। वैष्णव सम्प्रदाय में स्वर्ग के लिए बैकुंठ शब्द का प्रचलन है। जायसी की रचनाओं में यह शब्द भी कई बार इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा:

तौ लै केउ बैकुंठ न जाई। जौ लै तुम्हरा दरस न पाई ॥ ४९ ॥

चार फिरिस्ते बड़े औतारेउं। सात खंड बैकुंठ संवारेउ ॥ ५० ॥

आखिरीकलाम

वैष्णव भक्ति में प्रभु-दर्शन के आगे वैकुण्ठ का भी कोई महत्व नहीं है। यही भाव जायसी की ऊपर उद्धृत अर्द्धाली से भी प्रकट हो रहा है। पद्मपुराण में वैकुण्ठ के भी कई भाग वर्णित हुए हैं। जायसी ने कुरान के आधार पर उसके सात खण्डों का वर्णन किया है।

धाम : धामों का जैसा वर्णन कबीर की रचनाओं में आया है, और उससे वैष्णव भक्ति का जैसा प्रभाव अभिव्यक्त होता है, वैसा जायसी में नहीं मिलता। जायसी धाम के वर्णन में 'कैलास', 'शिवलोक', 'वैकुण्ठ', 'बिहिश्त', 'घट', 'हृदयकमल' आदि का उल्लेख करते हैं। उन्होंने सात बिहिश्तों के ऊपर आठवें 'सदाद' का भी नाम लिया है। कभी-कभी वे उसे लाक्षणिक रूप में वन, गढ़ आदि का भी नाम दे देते हैं। नीचे उद्धृत पंक्तियाँ इस कथन के समर्थन में उपस्थित की जा सकती हैं :

कैलास :

बनि बनि बैठीं अछरीं, बैठि जोहैं कैलास ॥ ५५ ॥ आखिरी कलाम
भा निरमल कैलास बसेरा ॥ ३५ ॥ अखरावट

शिवलोक :

औ बिधि रूप दीन्ह है तोकां। उठा सो सबद जाइ सिवलोकां ॥२०९॥
दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोकां ॥ २१४ ॥ पद्मावत

सिंहल :

का राजा हौं बरनौं तासू। सिंहलदीप आहि कबिलासू ॥९५॥ पद्मावत
नवौ खंड नव पंवरी, औ तहं बज्र किवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार ॥ ४१ ॥ पद्मावत

वन :

जहां न राति न दिवस है, जहां न पौन न पानि।
तेहि बन सुअटा चलि बसा, को रे मिलावै आनि ॥ ६८ ॥ पद्मावत

ब्रह्माण्ड : नीचे लिखी अर्द्धाली में ब्रह्माण्ड शब्द का प्रयोग स्वर्ग के अर्थ में हुआ है :

नव पंवरी बांकी नव खंडा। नवहुं जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा ॥४०॥ पद्मावत

स्वर्ग :

आपु मरे बिन सरग न छुआ। आंधर कहहिं चांद कहं ठवा ॥१५॥ अख०

दूढि लेहि ओहि सरग दुवारी औ चढु सिंहलद्वीप ॥ २१५ ॥ पद्मावत
उलटा पंथ पेम के बारा। चढै सरग औ परै पतारा ॥ २२९ ॥ पद्मावत

हृदय :

देखहु मन हिरदय बसि रहा ॥ ११ ॥ अखरावट

हृदयकमल :

जाजानहु जिउ बसै सो तहंवां। रहै कवंल हिय सम्पुट जहंवां ॥१२॥ अख०

वैकुण्ठ :

पुनि देखै वैकुंठ पठाएउ। एकौ दिसि कर पंथ न पाएउ ॥३५॥ आ० क०

बिहिश्त :

बाजन बाजै बिहिस्त दुवारा। भीतर गीत उठै झनकारा ॥५५॥ आ० क०

सद्दाद :

सात बिहिस्त बिधिनै औतारा। औ आठयें सद्दाद संवारा ॥५३॥ आ० क०

गगन :

गगन सरोवर ससि कमल कुमुद तराईं पास।
तूं रवि ऊआ जो भंवर होई पवन मिला लै बास ॥ १६० ॥ पद्मावत

नाम : वैष्णव भक्ति में प्रभु के जो नाम स्वीकृत हो चुके थे, उनका प्रयोग जायसी ने स्वच्छन्दतापूर्वक किया है। विधि, हरि, स्वामी, ठाकुर, गुसाईं, दैव, कन्त आदि ऐसे ही नाम हैं। शैव सम्प्रदाय से प्रभावित होकर जायसी ने परमात्मा को रुद्र, शंकर, महादेव, विश्वनाथ, शिव, महेश आदि नामों से भी अभिहित किया है। गिरिजापति, पार्वतीपति और देव-पिता नाम भी इसी प्रभाव को सूचित करते हैं। गोस्वामी, विधि और दैव शब्दों का प्रयोग बाहुल्य से हुआ है। यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि अरबी भाषा का अल्लाह और फ़ारसी भाषा का ख़ुदा, दोनों ही शब्द जायसी की किसी भी रचना में ईश्वर के लिये प्रयुक्त नहीं हुए हैं[1]। सम्भवतः जायसी ने जान-बूझ कर इन शब्दों का, बहिष्कार किया है। वे हिन्दुओं की बोली में हिन्दुओं की कहानी को काव्यबद्ध करके इस्लामी सिद्धान्तों के साथ सूफी सम्प्रदाय की

---

१. अखरावट, दोहा सख्या ४० में 'आदम' शब्द के तीन अक्षरों की व्याख्या में अलिफ को अल्ला, दाल को दीन तथा दुनियाँ और मीम को मुहम्मद माना गया है। जायसी ने ईश्वर के नामों में अन्यत्र कहीं भी अल्ला का नाम नहीं लिखा।

साधनापद्धति को जन-मन तक पहुँचाना चाहते थे। इस कार्य के लिये उन्होंने समग्र वातावरण को भारतीय रूप में रखना ही उचित समझा। आखिरी कलाम विशुद्ध रूप से इस्लाम मज़हब के आधार पर क्यामत का वर्णन करता है, परन्तु वहाँ भी वैकुण्ठ, कैलास तथा अप्सरायें विद्यमान हैं।

नीचे जायसी की रचनाओं से प्रभु के विविध नामों की सूचक पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

हरि, विधि, सांई :

निति जो आयसु होइ, साईं जो अग्यां करै।
पवन परेवा सोइ, मुहमद विधि राखै हरी ॥ ५१ ॥ अखरावट

विधि :

प्रथम जोति विधि तेहिकै साजी। औ तेहि प्रीति सिस्टि उपराजी ॥११॥ पद्०
जौ मोहि चहौ निवारहु कोहू। तब विधि करै उमत पर छोहू ॥४१॥ आ० क०

विधिना :

तुमका विधिनै आयसु दीन्हा। तुम नेरै होइ बातैं कीन्हा ॥ ३४ ॥ आ० क०

विधाता :

अति सुख दीन्ह विधातै औ सब सेवक ताहि ॥ ३ ॥ आखिरी कलाम

कर्त्ता :

पुनि भया करता के भई। भा भिनुसार रैनि हटि गई ॥ ७ ॥ अखरावट
अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पारइ बरना ॥१०॥ पद्मावत

दैव :

जाइ दैउ से करहु बिनाती ॥ १७ ॥ आखिरी कमाम
दोसरइं ठांव दई ओइ लिखे। भए धरमी जो पाढित सिखे ॥११॥ पद्मावत

ईश :

मर भा ईस और को देवा ॥ १९२॥ पद्मावत

देव :

गुनि निरगुनि दाता तुम्ह देवा ॥ १९१ ॥ पद्मावत

गोस्वामी :

दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं ॥ १९ ॥ पद्मावत

साईं :

साईं के भंडार बहु मानिक मुकता भरे ॥ २१ ॥ अखरावट

कंत :

कंत पियारे भेंट, देखै तूलमतूल होइ ॥ ३३ ॥ अखरावट

ओंकार :

जहां उठै धुनि आउंकारा । अनहद सबद होइ झनकारा ॥३२॥ अखरावट

रुद्र, ब्रह्म, हरि :

रुद्र ब्रह्म हरि बाचा तोही ॥ ३६६ ॥ पद्मावत

जायसी ने अखरावट दोहा संख्या २ में भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश का नाम लिया है, परन्तु इन्हें वे देवताओं की कोटि में रखते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में भी इनका यही स्थान है।

शंकर :

जो जम आनि जिउ लेत हैं, संकर तिन्हहू कर जिव लेव ॥२०॥ आ० क०

शिव :

टीका दीन्ह पुत्र कहं आपु लीन्ह सिव साज ॥ १७६ ॥ पद्मावत

उठा सो सबद जाइ सिवलोका ॥ २०९ ॥ पद्मावत

महादेव :

उपरिहि महादेव कर बारू ॥ १६२ ॥ पद्मावत

महेश :

जौ महेस नहिं आइ बुझावत सकल जगत डुति लागि ॥२०८॥ पद्मावत

विश्वनाथ :

बिस्वनाथ की पूजा पदुमावति के साथ ॥ १८५ ॥ पद्मावत

ठाकुर :

ठा ठाकुर बड़ आप गुसाईं । जेइ सिरजा जग अपनेहि नाईं ॥१८॥ अख०

देवपिता महादेव :

महादेव देवन के पिता । तुम्हरी सरन राम रन जिता ॥ २११ ॥ पद्मावत

गिरिजापति :

गिरजापति सत आहि महेसू ॥ २१२ ॥ पद्मावत

ईश्वर :

अब ईसर भा दारिद खोवा ॥ २१४ ॥ पद्मावत

रूप और गुण

मलिक मुहम्मद जायसी ने स्वरचित पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम के प्रारम्भिक दोहा खंडों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है। यह वर्णन कुरान के आधार पर है। इस्लाम ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता स्वीकार नहीं करता। जो सत्ताएँ यहाँ दिखाई दे रही हैं, वे सब ईश्वर की उत्पन्न की हुई हैं। ये रचना से पूर्व नहीं थीं और प्रलय के उपरान्त भी नहीं रहेंगी। जायसी के शब्दों में अकेला ईश्वर ही था, है, और रहेगा :

हुत पहिलेइं औ अब है सोई। पुनि सो रहहि रहहि नहिं कोई॥ ७ पद्मावत

यह ईश्वर रूप और वर्ण से रहित है। इसका न कोई जनक है और न कोई जनित। यह परिवार से विहीन है। प्रभु सृष्टि भर का कर्त्ता है, परन्तु उसका कर्त्ता कोई भी नहीं है।

ईश्वर में विरोधी धर्मों का भी आश्रय है। जीव अथवा प्राण के न रहने पर भी वह जीवित रहता है। हाथ न होने पर भी वह सब कुछ करता है। जिह्वा के न होने पर भी वह सब कुछ बोलता है। स्वयं अविचल होने पर भी सबको विचलित करता है। श्रवण न होने पर भी सुनता, हृदय न होने पर भी सब कुछ समझता और नेत्र न रहने पर भी सब कुछ देखता है। रूप-रहित होने पर भी वह अनुपम रूप-सम्पन्न है, जिसके रूप की समता इस विश्व में किसी से भी नहीं की जा सकती। उसका कोई स्थान नहीं है, फिर भी विश्व का कोई ऐसा स्थान नहीं, जो उससे शून्य हो। रूप और रेखाओं से विहीन होने पर भी वह निर्मल नाम वाला है। ७, ८ पद्मावत

ईश्वर के सम्बन्ध में इसी प्रकार का वर्णन यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के मन्त्र १, ४, ५, ६, ७, ८, तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (३–१९ तथा ६–८, ९) में आता है। वेद प्रभु को अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, अपापविद्धम् कह कर उसे शुक्र अर्थात् शुद्ध एवं निर्मल तथा सर्वव्यापक कहता है। उपनिषद् के शब्दों में वह अपाणिपाद होकर भी ग्रहीता तथा जवन अर्थात् गतिशील, अचक्षु होने पर भी द्रष्टा, अकर्ण होने पर भी श्रोता तथा अवेद्य होने पर भी सबका वेत्ता है। वह सबका अग्रय अर्थात् सबसे पूर्व विद्यमान और महान् पुरुष है। न उसका कोई कार्य है और न कोई कारण, न उसके

कोई समान है और न कोई उससे अधिक है। उसकी शक्ति अनेक प्रकार की है। वेद ने भी ईश्वर में विरुद्धधर्माश्रयत्व का वर्णन किया है, जैसे वह एक और अनेजत, गतिरहित, होते हुए भी मन से भी अधिक वेगवान् है। वह ऐसे स्थान पर भी पहुँचा हुआ है, जहाँ इन्द्रियों की अथवा देवों की पहुँच नहीं हो सकती। वह दूर से दूर और समीप से समीप है। वह सबके अन्दर और सबके बाहर है।

जैसे पुष्प में सौरभ उसके एक एक अवयव तक व्याप्त रहता है, ऐसे ही प्रभु हम सब के अन्दर ओत-प्रोत है। उससे अधिक निकट और उससे अधिक दूर भी कोई अन्य सत्ता नहीं है।[1] जायसी के अनुसार उसकी व्याप्ति की निकटता और दूरी हम जीवों की अपेक्षा से है। हमारे अन्दर जो आध्यात्मिक ज्योति रूपी दृष्टी रखते हैं, उनके लिए प्रभु निकटतम है, परन्तु जो इस ज्योति से विहीन हैं, अन्धे और मूर्ख हैं, उनके लिए प्रभु बहुत दूर है।[2] जायसी ने उसी एक प्रभु को स्थिर और असत्य तथा उसके अतिरिक्त अन्य सबको मर्त्य, नास्ति और अस्थिर कहा है।

जायसी ने अनेक बार ईश्वर को इस सृष्टि का रचयिता, पालयिता और संहर्ता कहा है। उन्हीं के शब्दों में 'तुम्ह करता बड़ सिरजनहारा। हरता धरता सब संसारा' ॥४॥ तथा 'एक चाक सब पिंडा चढ़ें। भाँति भाँति के भाँडा गढ़ें' ॥५॥ अखरावट। ये दोनों कथन दो प्रकार की सृष्टि का वर्णन करते हैं। एक में सप्त द्वीपों वाले ब्रह्मांड अथवा चतुर्दश भुवनों की गणना है, जिसमें पृथ्वी से लेकर स्वर्ग पर्यन्त नाना ग्रह, पिंड अथवा लोक फैले हुए हैं। दूसरे में नाना प्रकार की योनियाँ हैं, जिन्हें जीवों के शरीर कह सकते हैं। ईश्वर ने इन सबको किस उपादान से निर्मित किया? जायसी ने इसके उत्तर में चार उपादानों का भिन्न-भिन्न स्थानों पर उल्लेख किया है :

१. छारहुते सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार ॥३॥ पदमावत
   मांटी कर तन भांडा, मांटी महं नवखंड ॥५३॥ अखरावट
२. आगि बाउ जल धूरि, चारि मेरइ भांडा गढ़ा ॥८॥ अखरावट
३. सुन्नहिं ते उपजे सब कोई। पुनि विलाय सब सुन्नहि होई ॥१०॥ अखरावट

---

१. दोहा खंड ४१, अखरावट। २. दोहा खंड ८, पदमावत

सरग न धरति न खंभमय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बीरौ अस, ओहि न रंग न भेस॥
तब भा पुनि अंकूर, सिरजा दीपक निरमला।
रचा मुहम्मद नूर, जगत रहा उजियार होइ॥२॥ अखरावट
ऐस जो ठाकुर किय एक दाऊं। पहिले रचा मुहम्मद नाऊं॥
तेहिकै प्रीति बीज अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा॥
होतै बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरतीमाता॥३॥ अखरावट

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में सृष्टि के जिन चार उपादानों का वर्णन हुआ है, वे क्रमशः मिट्टी, जल, अग्नि, वायु नाम के चार तत्त्व, छार, शून्य और ज्योति हैं। क्या इन चार उपादानों में कोई संगति है? इनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में क्या कहा जा सकता है? यदि शून्य से सब कुछ बना है, तो मिट्टी से बनने का क्या अर्थ होगा? जब कुछ भी नहीं है, तो मिट्टी कहाँ से आ गई? फिर विश्व में मिट्टी ही सब कुछ नहीं है। इस युग का वैज्ञानिक मिट्टी के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों को भी उपादान के रूप में अनुभव करता है। जायसी भी मिट्टी के अतिरिक्त जल, अग्नि और वायु को स्वीकार करते हैं। अखरावट, दोहा संख्या २९ में उन्होंने मिट्टी से जल को और जल से वायु को अधिक निर्मल कहा है। वायु से भी अधिक निर्मल वे शून्य को कहते हैं।[1] यदि जायसी के द्वारा वर्णित निर्मलता के इस क्रम पर विचार करें और उसमें पूर्वापर कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित करें, तो शून्य ही अन्त में उपादान के रूप में रह जाता है। हमारी सम्मति में जायसी मिट्टी शब्द का प्रयोग उपलक्षण के रूप में करते हैं। उन्हें उसके साथ अन्य तीन तत्त्व भी स्वीकार हैं। अन्त में वे इन सबका विलय शून्य में कर देते हैं। शून्य का ज्योति के साथ क्या सम्बन्ध है? अखरावट, दोहा खंड २९ में जायसी ने इन दोनों की संगति भी बिठा दी है :

जहंवां किछु नहिं है सतकरा। जहां छूंछ तहं वह रस भरा॥
निरमल जोति बरनि नहिं जाई। निरखि सुन्न महं सुन्न समाई॥

जहाँ कुछ नहीं है, अर्थात् शून्य है, वहाँ भी वह सत् स्वरूप परमात्मा विद्यमान है। शून्य में वही रस रूप होकर व्याप्त है। वही निर्मल ज्योति है

१. माटी ते जल निरमल, जल ते निरमल बाउ।
बाउहि तें सुठि निरमल, सुन यह जाकर भाउ॥

तथा अवर्णनीय है। सूफी इस स्थिति को 'लाइलाह इल्लिल्लाह' कहते हैं: अर्थात् कुछ नहीं है, सब फना है, शून्य है। केवल एक अल्लाह है। चारों उपादानों की इस संगति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जायसी भावात्मक रूप में निर्मल ज्योति के उपादान को ही स्वीकार करते हैं। इसी ज्योति से शून्य अर्थात् 'न कुछ' में 'कुछ' का भान होने लगता है। जायसी पंचम तत्त्व आकाश को भी नहीं मानते। संभवतः आकाश का अर्थ उनकी दृष्टि में शून्य ही है।

ज्योति जिसे जायसी ने नूर भी कहा है, किस प्रकार इस विश्व की रचना में समर्थ होती है, इसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन उन्होंने अखरावट, दोहा खंड ३ में कराया है। उनके अनुसार मुहम्मद रूपी नूर के प्रेम से एक बीज जमा, जिससे श्वेत और श्याम दो वृक्ष उत्पन्न हुए। बीज से बिरवा के रूप में अंकुरित होते ही दो पत्ते उत्पन्न हुए, जिनमें एक पिता है और दूसरा माता है। पिता स्वर्ग है और माता धरित्री है। यह युग्म संसार भर में फैला हुआ है। सूर्य और चन्द्र, पुण्य और पाप, नरक और वैकुंठ, भला और बुरा, सत्य और मिथ्या, रक्त और बिन्दु आदि इसी युग्म के अनेक रूप हैं। यह युग्म अपना मूल उसी एक शून्य में रखता है, जो स्वयं ज्योति के आश्रित है। भारतीय दर्शन में रचना का सर्वप्रथम रूप द्यौ है और वह ज्योतिर्मय है। जायसी ने इस द्यौ के अथवा ज्योति के प्रेम को अखरावट, दोहा खंड १२ में शून्य रूपी समुद्र कहा है। ऋग्वेद के अघमर्षण सूत्र में अव्यक्त रात्रि के पश्चात् ध्वनि की लहरों से भरे हुए एक समुद्र की उत्पत्ति का वर्णन आता है। जायसी ने प्रेम-समुद्र को शून्य-समुद्र भी कहा है, जिसमें जल की सी लहरें उठती हैं और उठ उठ कर मिट जाती हैं।[1]

परमात्मा में सत् और असत् दोनों का मूल है, ऐसा विश्वास पारसी धर्म के प्रतिष्ठाता महात्मा ज़रथुश्त्र का भी था। वे अहमान और अहुर्मज़्द को एक ही ईश्वर के दो रूप मानते थे। भलाई और बुराई दोनों का स्रोत एक ही है, यह मत आगे चलकर उनके अनुयायियों को स्वीकार्य न हो सका। उन्होंने अहमान और अहुर्मज़्द में भेद किया और परमात्मा को निर्मलता, पवित्रता एवं

१. पेम समुद सो अति अवगाहा। बूडे जगत न पावै थाहा॥
सुन्न समुद चख माँहि, जल जैसी लहरें उठहिं।
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं मुहम्मद खोज न पाइए॥ १२, अखरावट

शुभ का केन्द्र माना। जायसी ने भी उसे निष्कलंक और निर्मल माना है।[1]

यदि परमात्मा निर्मल है, तो मल का स्रोत क्या है ? जायसी जिस पिता को स्वर्ग कहते हैं, वह तो निर्मल है, परन्तु यह निर्मलता द्यौ अथवा स्वर्ग से नीचे आते-आते क्रमशः कम होती जाती है और अन्त में धरित्री रूपी माता मल का केन्द्र बन जाती है। अखरावट दोहा खंड १४ में माता और पिता के इसी भेद के आधार पर उन्होंने दो मार्गों की कल्पना की है। एक स्वर्ग का मार्ग है और दूसरा धरित्री का मार्ग है। उपनिषद् के शब्दों में इन्हें श्रेय और प्रेय मार्ग कह सकते हैं। मानव मन में यही सत् एवं असत्, दैवी एवं आसुरी दो प्रवृत्तियाँ हैं। जायसी लिखते हैं :

बिरिछ एक लागीं दुइ डारा। एकहिं ते नाना परकारा ॥
मातु के रक्त पिता के बिन्दू। उपने दुवौ तुरुक औ हिंदू ॥
रकत दुतें तन भये चौरंगा। बिंदु दुतें जिउ पांचौ संगा ॥
जस ये चारिउ धरति बिलाहीं। तस वे पांचौ सरगहि जाहीं ॥
फूलै पवन पानि सब गरई। अगिनि जारि तन माटी करई ॥
जस वै सरग के मारग माहां। तस ये धरति देखि चित चाहां ॥१४ अख०

रक्त यदि धारित्री है, तो बिन्दु स्वर्ग है। रक्त के साथ हाड़ और मांस मिट्टी की भाँति स्थूल हैं, परन्तु बिन्दु अर्थात् वीर्य इन स्थूल पदार्थों का छना हुआ रसरूप सार है। इसीलिए उसे शुक्र अर्थात् शुद्ध, श्वेत और निर्मल भी कहते हैं। रक्त स्थूल शरीर का पोषण करता है और कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाता है, तो शुक्र ज्ञानेन्द्रियों को ज्योति प्रदान करता है। देवकोष इसी के आधार पर विकसित होता है। वसु, रुद्र तथा आदित्यसंज्ञक ब्रह्मचारी उत्तरोत्तर देवकोष के रक्षक माने गए हैं, उसका यही कारण है। कर्मेन्द्रियों की भोगभूमि धरित्री है, तो ज्ञानेन्द्रियों का विचरणकोष द्यौ अथवा स्वर्ग है। शुक्र पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन को दैवी बनाता है, उन्हें पवित्रता की ओर ले जाता है, तो रक्त का सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों के साथ है जो अस्थि-चर्म के शरीर के साथ अग्नि में जलकर मिट्टी बन जाती हैं। वेद के शब्दों में हम मरुतों के लिये एक पृश्नि है, जो सुदुघा और सुदिना बनकर हमें भोगों का सुख प्रदान करती है, तो

---

१. निष्कलंक निरमल सब अंगा। ४२, अखरावट
७१, ७२ म० लि०

दूसरा स्वप्न, है जो ज्ञान और भक्ति के मार्ग से ले जाकर हमें आनन्द-धाम का निवासी बना देता है।[1]

जायसी ने जिन दो वृक्षों को श्वेत और श्याम कहा है, उनमें एक जड़ है और दूसरा चेतन। चेतन जीव को भी जायसी परमात्मा के साथ एक कर देते हैं। जीव और परमात्मा दोनों में कोई अन्तर नहीं था, परन्तु मृत्यु ने इन दोनों में भेद डालकर जीव को परमात्मा से पृथक् कर दिया। विनश्वरता जीव के साथ तभी से लगी है। पद्मावत के प्रारम्भ में जायसी ने विभिन्न प्रकार के जीवों का वर्णन किया है। इनमें कोई राजा है तो कोई रंक, कोई स्वामी है तो कोई सेवक। कुछ द्रव्य के कारण अभिमानी बने हुए हैं तो कुछ निर्धन होने के कारण लोभी, अतृप्त और दीन हैं। कोई याचक है तो कोई दाता है, कोई आश्रित है तो कोई बलवान् है। जीवों के इन भेदों का आधार क्या है? जायसी ने इसका कोई समुचित समाधान अपनी रचनाओं में प्रस्तुत नहीं किया है। जैसे कोई निरंकुश शासक अपने राज्य में मनमाने ढङ्ग से कार्य करता है, प्रजा को न उसके नियमों का पता है और न उसके मन की आकांक्षा का ही ज्ञान है, वैसे ही जायसी का ईश्वर अपने मन का राजा है। किसी को वह भोग और भुक्ति के साधनों से भरपूर कर रहा है, तो किसी को भिक्षुक बनाकर दुःख से दग्ध भी कर रहा है। जीवों के सुख-दुख उनके कर्मों के फल हैं, इसका उल्लेख जायसी की रचनाओं में आर्य संस्कृति के प्रभाव के कारण मरु में ओसिस की भाँति कहीं-कहीं आ गया है, अन्यथा वे सर्वत्र इस विषय में इस्लाम के सिद्धान्तों से ही प्रभावित हैं और जीवों की विविध योनियों को तथा उनके भोगरूप फलों को वे ईश्वर की इच्छा पर ही छोड़ देते हैं।

ऊपर ईश्वर के रूप और गुणों के विषय में जायसी की रचनाओं के आधार पर जो सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है, उसमें प्रसङ्गवश जीव और प्रकृति के स्वरूप की भी चर्चा आ गई है। दार्शनिक क्षेत्र में विचारणीय समस्याएँ सभी देशों और कालों में इन्हीं तीन तत्त्वों के चतुर्दिक मँडराती रही हैं। कभी एक, कभी दो और कभी तीनों तत्त्व दार्शनिकों के चिन्तन-विषय बने हैं। इसका परिणाम दर्शन के अनेक वाद हैं। जायसी एकेश्वरवादी हैं, परन्तु जैसा हम पूर्व संकेत कर चुके हैं, उनपर भारतीय अद्वैतवाद का भी प्रभाव पड़ा है। उनके मता-

1. अ० ५६०-५।

नुसार ईश्वर रूप और रङ्ग से रहित है। वह अरूप और अवर्ण है। इसी के साथ वह अलख, निराकार, निष्कलंक और निर्गुण है। अतः न उसके रूप की कोई कल्पना की जा सकती है और न रङ्ग एवं गुण की। फिर भी साधकों ने अपनी साधनायात्रा में साक्षात्कार द्वारा उसके रूप का जो आभास प्राप्त किया है, उससे प्रभु ज्योतिर्मय तथा अनन्त प्रकाशसम्पन्न प्रतीत होता है। विश्व-साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद प्रभु को आदित्य वर्ण वाला तथा उत्तम ज्योति से परिपूर्ण कहता है। उपनिषदें उसे शुभ्र तथा ज्योतियों की ज्योति कहती हैं। गीता में ईश्वर को सहस्रों सूर्यों की युगपत् उदित आभा से उपमित किया गया है। कबीर ईश्वर के प्रकाश को अनेक सूर्यों की सेना के समान कहते हैं। जायसी भी उसे अनुपम ज्योति तथा द्वादशादित्यों के वर्ण वाला बताते हैं। निम्नांकित पंक्तियाँ इस तथ्य के समर्थन में उपस्थित की जा सकती है :

जस सूरुज उअ देख अकासू। सब जग पुन्नि उहै परगासू ॥
ओहि जोति परछाहीं, नवौ खंड उजियार।
सुरुज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार ॥
जेहिकै जोति सरूप, चाँद सुरुज तारा भए।
तेहि कर रूप अनूप, मुहमद बरनि न जाइ किछु ॥ ४१, अखरावट
निहकलंक बस आप गुसाईं, बारह बानी पूरा रे। २२, महरी बाईसी
दूध मांझ जस घीउ है, समुद मांह जस मोति।
नैन मींजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति ॥ १५, अखरावट

प्रभु के गुणों का वर्णन करने वाले उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :

अलख :

आप अलख पहिले हुत जहां। नांव न ठांव न मूरति तहां ॥

एक :

अलख अकेल सबद नहिं भाँती। × × ×
हुता आपु महं आपु समाना ॥ २, अखरावट
आदि अन्त जो एक, मुहमद कहु दूसर कहां ॥ ४५, अखरावट

अद्वैत :

एक से दूसर नाहिं, बाहिर भीतर बूझिलै ॥ ४७, अखरावट
आपुहि गुरू आपु भा चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला ॥४७, अखरावट

गुप्त एवं पवित्र :

पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू। गुपुत ते गुपुत सुन्न ते सुन्नू॥ २, अखरावट

भरा भंडार गुपुत तहं, जहां छांह नहिं धूप। ४, अखरावट

आपु लिपट निरमल होइ रहा। एकहु बार जाइ नहिं गहा॥ ११, अखरावट

प्रेम का समुद्र :

पेम समुद सो अति अवगाहा। बूड़ै जगत न पावै थाहा॥ १२, अखरावट

दयालु :

पुन मया करता के भई। भा भिनुसार रैनि हटि गई॥ ७, अखरावट

अवर्णनीय :

वा वह रूप न जाइ बखानी। अगम अगोचर अकथ कहानी॥१५, अखरावट

सर्वव्यापक :

परगट गुपुत सो सरब-बिआपी। धरमी चीन्ह, चीन्ह नहिं पापी॥ ७, पद्मावत

सर्वसमर्थ :

जो ओइ चहा सो कीन्हेसि, करइ जो चाहइ कीन्ह।

बरजनहार न कोई, सबइ चहइ जिय दीन्ह॥ ७, पद्मावत

बज्रहि तिनकै मारि उड़ाई। तिनहि बज्र की देइ बड़ाई॥ ६, पद्मावत

सर्वद्रष्टा :

ताकरि दिस्टि सबहिं उपराहीं। मित्र सत्रु कोइ बिसरइ नाहीं॥ ५, पद्मावत

दाता :

भोग भुगुति बहु भांति उपाई। सबहि खियावहि आपु न खाई॥

ताकर इहइ सो खाना पीना। सब कहं देइ भुगति औ जिअना॥ ५, पद्मावत

जुग जुग देत घटा नहिं, उभै हाथ तस कीन्ह।

और जो देहि जगत महं, सो सब ताकर दीन्ह॥

स्वाधीन :

सबहिं आस ताकरि हरि स्वांसा। ओह न काहु कइ आस निरासा॥ ५, पद्मा०

निरंकुश शासक :

आदि सोई बरनौं बड़ राजा। आदिहु अन्त राज जेहि छाजा॥

सदा सर्वदा राज करेई। औ जेहि चहइ राज तेहि देई॥

छत्रहि अछत निछत्रहि छावा। दोसर नाहिं जो सरवरि पावा॥ ६, पद्मा०

संचालक :

उहै चलावै चहुँ दिसि सोई। जस जस पाँव धरै जो कोई॥
जहाँ चलावै तहंवाँ चलई। जस जस नावै तस तस नवई॥ ५२, अख०

अन्तर्यामी और सर्वज्ञ :

सब कर मरम गुसाईं जानइ, जो घट घट महं निंत। ९ पदमावत

जगत्-रचना की दृष्टि से ईश्वर के स्रष्टा, पालक एवं संहारक रूपों का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। प्रभु के गुण, कर्म अथवा लीलायें अनन्त हैं। कबीर की भाँति जायसी ने भी ईश्वर के गुणों का वर्णन करते हुये उनकी अनन्तता का उल्लेख किया है। पदमावत के दशम दोहा खंड में वे लिखते हैं : यदि सातों स्वर्गों को कागज बनाकर धरित्री के सातों समुद्रों के जल की स्याही बना ली जाय और विश्व भर में वन्य पलाशों की जितनी शाखायें हैं, जितने पक्षियों के पंख हैं और जितने केश हैं, उन सबकी लेखनी बनाकर विश्व का कण-कण यदि प्रभु के गुणों को लिखने लगे, तो भी प्रभु के गुणों का लेखा-जोखा नहीं लग सकता। प्रभु के गुणों का ऐसा वर्णन उसके गुणरूपी समुद्र की एक बूँद का भी वर्णन नहीं कहा जा सकता।

प्रभु के गुणों का वास्तविक मूल्यांकन हम अल्प शक्ति वाले जीवों के लिये अशक्य है। प्रभु तो अत्यन्त सूक्ष्म, अनन्त और महान् हैं। हम तो यहाँ विश्व के किसी भी पदार्थ की वास्तविक सत्ता का परिचय नहीं प्राप्त कर पाते। एक तो हम सबके मानसिक स्तर एक समान नहीं हैं, दूसरे हम सब की स्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष मानसिक दृष्टिकोण तथा धरातल से ही किसी वस्तु को देखने का प्रयत्न करता है। वह जिस दिशा से देखता है, उसके उसी ओर के पक्ष को देख पाता है। ऊपर बैठा हुआ व्यक्ति वस्तु के ऊपरी भाग को और नीचे बैठा हुआ व्यक्ति उसके निचले भाग को ही देख सकता है। साधनापथ में भी समस्त साधक एक स्तर के नहीं होते। अतएव वे भी अपनी साधना के अनुकूल प्रभु की जैसी झलक देख पाते हैं, उसका वैसा ही वर्णन कर सकते हैं। जायसी ने इस तथ्य को अवगत किया था। तभी तो वे लिखते हैं :

सुनि हस्ती कर नावं, अंधरन्ह टोवा धाइ कै।
जेइ टोवा जेहि ठावं, मुहमद सो तैसै कहा॥ २४, अखरावट

वास्तव में सभी व्यक्ति अपनी भावना के अनुकूल ही दूसरों पर दृष्टिपात करते हैं। तुलसी के शब्दों में : 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' और जायसी के शब्दों में 'बरनक दरपन भाँति बिसेखा। जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा।' २५ पदमावत। प्रभु के रूप और गुणों की यह अनन्तता जीवात्मा के गर्व को खर्व करने वाली है। जायसी लिखते हैं : 'अइस जानि मन गरब न होई। गरब करइ मन बाउर सोई।' १० पदमावत।

जायसी का साधना पथ

साधक : जायसी आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को बूँद और समुद्र के सम्बन्ध के समान मानते हैं। जीव परमात्मा के साथ एक था, परन्तु अहन्ता के पाश में पड़ते ही उससे पृथक् हो गया। जैसे नदी में स्नान करने वाला व्यक्ति एक पैर के फिसलते ही सन्तुलन खो बैठता है और फिसलते फिसलते अन्त में भँवरजाल में पड़कर डूब जाता है, उसी प्रकार 'मैं' कहते ही जीव प्रभु से ऐसा दूर होता है कि फिर ओट पर ओट, आवरण पर आवरण और फाटक पर फाटक चढ़ते चले जाते हैं और जीव तथा प्रभु का अन्तर भावपरक होता हुआ भी देश और काल जैसा अन्तर बन जाता है। दार्शनिक क्षेत्र में प्रकृति के सत्त्वगुण से महत्तत्व, रजोगुण से अहंकार और तमोगुण से पंच-तन्मात्राओं की सृष्टि मानी गई है। रजोगुण प्रधान होने पर भी अहंकार के साथ सत्वगुण लगा रहता है। प्राकृतिक गुणों के ये तीन परदे ऐसे फाटक हैं, जिनको खोले या तोड़े बिना जीवात्मा अपने प्रिय परमात्मा से मिल नहीं पाता और जब तक उससे वियुक्त रहता है तब तक जन्म और मृत्यु के थपेड़े इसे बार बार सहने पड़ते हैं।[1] यह जीव अणु रूप से शरीर के अन्दर हृदय में निवास करता है और जैसे दीपक आरे में रहता हुआ समस्त घर में उजाला फैलाता है, उसी प्रकार जीव समस्त शरीर को अपनी शक्ति से ओत-प्रोत करके उसे गतिशील बनाये रखता है।[2] इस्लाम मजहब में जीव को स्वर्ग से अलग

१ हौं कहते भये ओट, पियै खंड मो सों किपउ।
भये बहु फाटक कोट, मुहमद अब कैसे मिलहिं। १६ अखरावट

२ सुनहु बचन यह मोर, दीपक जस आरे बरै।
सब घर होइ अंजोर, मुहमद तस जिउ हीय महँ। ३२ अखरावट

करने वाला इबलिस या शैतान है। जायसी ने इसे नारद का भी नाम दिया है।[1]

जीव को संसार में आसक्त करने वाला इन्द्रियों का पाश है। यह भुक्ति अथवा खाद्य के साथ लगी हुई तृष्णा ही उसे यहां ऐसा रमा लेती है, इन्द्रियाँ अपने विषयों में फँसकर उनमे ऐसी रममाण हो जाती हैं कि यहाँ से निकलने के लिये तब तक नाम नहीं लेतीं, जब तक कष्टों का पहाड़ इनके ऊपर आ नहीं टूटता अथवा जब तक विषयों के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं हो जाता। प्रभु के नाम का स्मरण अथवा उसकी ओर वृत्तियों को ले जाना संसारासक्ति की अवस्था में अत्यन्त कठिन है। ईश्वर ने भोग-भुक्तियाँ यहाँ इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न कर दी हैं कि वे अपने मोहक रूप से जीव को सदैव आकर्षित किये रहती हैं। जीव को अपनी लम्बी यात्रा में भोग ही भोग सूझ पड़ते हैं। साधना-पथ में निरत बड़े से बड़े तपस्वी और संन्यासी भी इन भोगों की चपेट में आने से नहीं बच पाते। साधारण मोहमुग्ध जीवों की तो बात ही क्या है? कामनाओं का अंजन सब को कालिमामय, कुरूप और कायर बना देता है। ऐसे व्यक्ति विरल हैं जो शूरवीर बनकर कामनाओं से मुक्ति पाने के लिये ईश्वर की ओर उन्मुख होते हैं और मायाजाल को लात मारकर छोड़ देते हैं। जायसी ने शरीर को रामपुरी[2] लिखा है। अथर्ववेद ने इसे अयोध्या कहा है। राम की इस नगरी में देवता निवास करते हैं, परन्तु असुरों से पादाक्रान्त होकर बेचारे देवता भी अपना स्वत्व खो बैठते हैं और पराधीनताजन्य परिस्थिति में अपने उद्धार के लिये कुछ कर नहीं पाते। देवताओं का मार्ग सुई के नाके की भाँति है। उत्थान के लिये उन्हें घोर परिश्रम करना पड़ता है। इसी शरीर में सुमेरु पर्वत के ऊपर अमृतजड़ी है। इस पर्वत पर चढ़ना और अमृतजड़ी का प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। जायसी की साधना में साधक के लिये पर्वत के के ऊपर स्थित इस जड़ी को पहचान लेना अत्यंत आवश्यक है। राम की यह नगरी ही इसके लिये साधन-क्षेत्र प्रस्तुत करती है। जिसने इस नगरी को कुकर्मों से कुत्सित कर लिया, वह जायसी के शब्दों में धुंध में पड़कर अपनी नेत्र-ज्योति खो बैठा। जो ज्योति बुद्धि के रूप में परमात्मा ने इसे प्रदान की

१. आपहु हू इबलीस जो टारे। नारद होइ नरक महँ पारे। ६ आखिरी कलाम
२. दोहा संख्या २६, अखरावट।

है, उसके विनाश से यह आपदाओं का आखेट बनता है। दूसरी ओर जो साधक इस ज्योति के प्रकाश में अपने को पहचान कर उस प्रभु से सम्बन्ध जोड़ लेता है, वह भवसागर से पार हो जाता है। जायसी लिखते हैं :

जेइ न चिन्हारी कीन्ह, यह जिउ औ कहि पिंड महं।
पुनि किछु परै न चीन्ह, मुहमद यह जग धुंध होइ॥ १९ अखरावट

केनोपनिषद् भी शरीर के साधन-महत्त्व को स्वीकार करती हुई कहती है : 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' २—५

संसार दुख और सुख दोनों के युग्म से बना है। यहाँ सुख भी है और दुख भी। जिसे हम सुख कहते हैं, साधक उसे सुख नहीं समझता। उसकी दृष्टि में दुख का कुछ क्षणों के लिये अभाव हो जाना ही सुख है। यह आभास-मात्र है। वस्तुतः विश्व दुःखाक्रान्त है। आनन्द संसार का नहीं, इससे भिन्न किसी दूसरी सत्ता का गुण है। यह सत्ता समस्त साधकों का गंतव्य स्थल रही है।

साधक कामनाओं की जलती और जलानेवाली अग्नि को जब पहिचान जाता है और उस अमृतमयी छाया में विश्राम पाने के लिये तड़प उठता है, तभी साधना-यात्रा का प्रारम्भ समझना चाहिये। जीवन के जिस बिन्दु पर भुक्ति से मुक्ति की ओर मोड़ आता है, वही बिन्दु साधन-पथ का प्रारम्भिक बिन्दु है। वेद प्रभु की छाया को, उसकी शरण को अमृतमयी कहता है।[1] भुक्ति रूपी कामनाओं का जाल तो धूप है। जायसी ने भी लिखा है :

पथिक जो पहुँचै सहिकै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू। २७, पद्मा०

विश्व का दुख-दग्ध प्राणी अनेक यातनाओं को सहन करने के उपरान्त जब प्रभु की शरणरूपी सघन-विशाल छाया में पहुँच जाता है, तभी उसे वास्तविक सुख और विश्राम प्राप्त होता है। ऐसे साधकों की संख्या विश्व में अधिक नहीं हो सकती। विरल हैं वे व्यक्ति, जो इस कल्याण-पथ पर प्रयाण करते हैं।

साधन : जायसी ने इस विश्व को एक हाट का रूप देकर लिखा है कि इसमें विक्रेय वस्तुयें चारों ओर सजी-सजाई दूकानों पर रखी हैं। वहाँ बेचने वाले भी हैं और खरीदने वाले भी, परन्तु सबकी दशा एक समान नहीं है।

१ यस्यच्छायाऽमृतम्। यजु० २५—१३

किसी को यहाँ लाभ हो रहा है, किसी का लाभ और हानि बराबर है और किसी की केवल हानि ही हो रही है। हानि होते होते एक दिन ऐसा भी आता है, जब व्यापारी व्यक्ति अपने मूलधन से भी हाथ धो बैठता है।[1] इतना होते हुये भी जीवन-पथ के पथिक को इसी संसार के बीच से चलना पड़ता है। यदि चलेगा नहीं तो इस संसार से निकल कैसे सकेगा? न चलकर तो वह यहीं डूबा हुआ पड़ा रहेगा। यह चलना साधना-पथ में कर्मकांड के नाम से विख्यात है। संसार की हाट में आकर हम सभी पथिकों को ऐसी वस्तुयें मोल लेनी चाहिये, ऐसी कमाई करनी चाहिये, जो हमारी जीवन-यात्रा में सम्बल का कार्य करें।

व्यक्ति जब किसी वस्तु का क्रय करता है, तो उसे उसके बदले में कुछ देना भी पड़ता है। क्रय करने में यदि हमने वस्तु की वास्तविकता और अनिवार्यता पर ध्यान रखा, तो अपने बहुमूल्य परन्तु अप्रयोज्य पदार्थों का दान भी हमें नहीं अखरेगा। अर्थशास्त्र के अनुसार वैभव चार प्रकार का है: आत्मगत, व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राष्ट्रिय। शरीर से लेकर बुद्धि तक जितना वैभव मेरे पास है, वह मेरी आत्मगत सम्पत्ति है, गृह और उसका सामान, वस्त्र, बर्तन तथा धन आदि व्यक्तिगत सम्पत्ति है तथा इन्हीं दोनों सम्पत्तियों का बृहित और समवेत रूप सामाजिक और राष्ट्रिय सम्पत्ति कहलाता है। अपने ज्ञान, कर्म और भाग्य के आधार पर मैंने जिस आत्मगत सम्पत्ति का अर्जन किया है, वही मेरा मूलधन है। इस मूलधन के साथ जो कुछ मुझे क्रय करना है, उसमें मेरा दृष्टिकोण मूलधनको सुरक्षित रखते हुये उसकी वृद्धि की ओर लगा रहना चाहिये। मुझे जागरूक और सचेष्ट रहकर अर्जित मूलधन में से तिल भर का भी अपव्यय नहीं करना है। जायसी के शब्दों में:

अस मन आनि बैसाही सोई। मूर न घटै लाभ जेहि होई। १३, आ० कलाम

आत्मगत सम्पत्ति की रक्षा के सामने व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है।

मुसलमान एक ही जीवन में आस्था रखते हैं। मानवयोनि उनकी क्या सभी की दृष्टि में सर्वोत्तम योनि है। जायसी पर आर्य संस्कृति का भी प्रभाव

१. कोई करै बेसाहनी, काहू केर बिकाइ।
कोई चलै लाभ सन, कोई मूर गंवाइ॥ ३७, पदमावत

पड़ा है, जिसके आधार पर वे आक्रन जन्मों में भी विश्वास रखते हैं। इसकी ओर हम जायसी पर पड़े हुए प्रभावों मे संकेत कर चुके हैं। जायसी के विचार में मानव योनि एक अद्भुत कर्मस्थली है। इसी योनि में कर्म-सम्पत्ति के बल पर इस संसार रूपी हाट में से हम अपनी अभीप्सित सामग्री मोल ले सकते हैं। जिसने यहाँ कुछ क्रय-विक्रय नहीं किया, वह अन्य योनियों में कुछ भी नहीं कर सकेगा।[1] अन्य योनियाँ तो भोगयोनियाँ हैं, वे स्वाधीन कर्म की क्रीड़ास्थली नहीं हैं। पर, जैसा पीछे लिखा जा चुका है, इस मानव योनि में आकर भी विरले व्यक्ति ही अमूल्य तत्त्व को मोल ले पाते हैं। हममें से अनेक व्यक्ति तो ऐसे हैं, जो उस अमूल्य तत्त्व को, जो सूक्ष्म रूप में सर्वदा हमारे साथ रहता है, केवल बेचा करते हैं और परिणामस्वरूप दुःख, क्लेश, आपदा आदि मोल लिया करते हैं।

अखरावट दोहा खण्ड १९ में जायसी लिखते हैं। 'मानव! परमात्मा ने नेत्र, श्रवण, रसना, हाथ तथा पैर सेवक के रूप में तुझे दिये हैं। इन्हीं के बल पर तू सुखों का उपभोग करता है। यदि इन अंगरूप सेवकों के द्वारा तूने गुणों के स्थान पर अवगुणों का उपादान किया, तो मृत्यु के पश्चात् तू प्रभु को क्या उत्तर देगा? बबूल के वृक्ष बोकर उनसे धान पाने की आशा करना जैसे निरर्थक है, उसी प्रकार अवगुणों के उपादान से सुख की आशा करना भी दुराशामात्र है।' मृत्यु के समय शव को श्मशान भूमि तक पहुँचा कर परिवार तथा समाज के सभी व्यक्ति लौट आते हैं। उस समय केवल अपने गुण और अवगुण ही संगी-साथी का काम करते हैं।[2] अन्तिम यात्रा में धर्मात्मा पुरुषों के ऊपर भगवान् की कृपा रूपी छाया होती है। उन्हें प्यास लगने पर पानी पीने को मिलता है, परन्तु पापात्माओं को न छाया प्राप्त होती है और न पानी। मानव यहाँ जो कुछ करता है, उसी को वहाँ पर प्राप्त करता है। यहाँ का लक्षाधीश अधर्म करने के कारण वहाँ आधी कौड़ी का भी पात्र नहीं रहता। यमराज के बन्धनों में पड़कर धूप में खड़ा होता और सन्ताप का

१. जिन यहि हाट न लीन बेसाहा। ताकहँ आन हाट कित लाहा। ३७, पद्मावत
२. जौ पहुंचाइ फिरा सब कोऊ। चले साथ गुन औगुन दोऊ। ३८५, पद्मावत

भाजन बनता है।[1] पापकर्म छिपाने से नहीं छिप सकता। हमारे अङ्ग ही साक्षी बनकर उसे प्रकट कर देते हैं।[2] मानव का कर्तव्य यहाँ आकर निर्मल बनना है और पुण्य के सम्पादन द्वारा पापों का विध्वंस करना है।[3]

चतुष्पथ : सूफी सम्प्रदाय के अनुसार साधक की यात्रा में चार बसेरे, पड़ाव या मञ्जिलें पड़ती हैं। जो साधक इन चार मञ्जिलों को पार कर जाता है, वही सत्य के बल पर पार उतर पाता है। प्रथम पड़ाव का नाम शरीयत है। शरअ को समझना, नियमों का ज्ञान प्राप्त करना साधक के लिये पहली आवश्यकता है। इसे ज्ञान काण्ड कहा जा सकता है। दूसरा पड़ाव तरीकत है, जिसमें तरीके के अनुसार कर्म करना, आचार-निष्ठा या कर्तव्य-पालन आता है। यह कर्मकाण्ड है। तीसरा पड़ाव मारफत है, जिसमें साधक ईश्वर के प्रेम में डूब जाता है। इसे भक्ति या उपासना काण्ड कह सकते हैं। चौथा पड़ाव हकीकत कहलाता है। यह वास्तविकता, तथ्य अथवा अन्तिम तत्त्व की प्राप्ति है। सूफी सम्प्रदाय के ये चार साधन भारतीय साधना-पद्धति से मिलते जुलते हैं। हमारे चार वेद क्रमशः इन्हीं चार काण्डों से सम्बन्ध रखते हैं। जायसी ने कर्मकाण्ड के साथ ज्ञान के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। वे लिखते हैं :

अंध न रहहु होहु डिठियारा। चीन्हि लेहु जो तोहि संवारा ॥२६॥ अख०

जायसी प्रभु की पहिचान को वास्तविक ज्ञान मानते हैं। जिस ईश्वर ने हमारा निर्माण किया है, उसकी ओर से आँखें मूंद लेना भयङ्कर पाप करना है। जब तक सांस चलती है, प्राणशक्ति कार्य कर रही है, तब तक ईश्वर को पहचान लेना चाहिये। जो मानव अज्ञान के अन्धकार में रहते हैं, उनपर प्रभु कृपा नहीं करते। सतत जागरूक, चेतन तथा सज्ञान मानव ही प्रभु के कृपा-भाजन

१. जेइ किछु धरम कीन्ह जग माहा। तेहि सिर पर किछु आवे छाहा।
धरमिहि आनि पियाउब पानी। पापी बपुरहि छांह न पानी।
चोरा छिपा सो काम न आवै। इहां का दीन्ह उहां सो पावै।
जो लखपती कहावै, लहै न कौडी आधि।
चौदह भजा मुहम्मद ठाढ करहि सब बांधि ॥ ३०, आखिरी कलाम

२. हाथ पांव मुख काया, स्रवन सीस औ आखि।
पाप न छपै मुहम्मद, अंत भरै सब सांखि ॥ ४३, आखिरी कलाम

३. पाप पुन्नि निरमल कै धोउब। राउब पुन्नि पाप सब खोउब ॥ ४४ आखिरी कलाम

बनते हैं। निद्रालु व्यक्ति भ्रम में पड़े हुये न अपना ही कुछ भला कर पाते हैं, न दूसरों का। अज्ञान की रात्रि में उनका जीवन व्यर्थ नष्ट होता है, पर जब ज्ञान रूपी प्रातः काल का उदय होता है, तब ऐसे व्यक्ति हाथ मलकर रोते और व्यर्थ कालातिपात पर पश्चात्ताप करते हैं।[1] जायसी की सम्मति में साधक को सर्वप्रथम परम प्रिय प्रभु के मर्म अर्थात् उसके रहस्य से अवगत हो जाना चाहिये। जिस व्यक्ति में जिज्ञासा की भावना नहीं है, जो जानने की इच्छा ही नहीं करता, वह साधन-पथ पर चलने के योग्य नहीं है। ज्ञान का महत्व जायसी ने निम्नांकित दोहे में भी स्पष्ट किया है :

जिन घर खेह उड़ाने, ढूंढ़त फिरत सो खेह।
अब तौ दिस्टि तब आवै, अंजन नैन उरेह ॥ ५१०, पद्मावत।

जिनके घर धूल में उड़ गये, जिन्हें माया ने, पार्थिवता ने अभिभूत कर लिया, वे माया में ही लिप्त रहते हैं, धूलि-धूसरित ही बने रहते हैं। वे मिट्टी हैं, राख हैं। उनमें चेतनता के, सज्ञानता के स्फुलिंग प्रज्वलित नहीं हैं। यदि वे पुनः अपना घर देखना चाहते हैं, आत्मस्वरूप का साक्षात करना चाहते हैं, तो उन्हें अपनी आँखों में ज्ञानांजन लगाना चाहिये।

जायसी ने प्रमाद की कई स्थानों पर निन्दा की है। प्रमाद ऐसा शत्रु है, जो जीव को जड़त्व के साथ एक कर देता है। ज्ञान और विवेक ही उसे जड़त्व से दूर करके आत्मा की चेतन स्थिति तक ले जाते हैं। शृंगारिक पद्धति में कहना चाहें तो ज्ञान का जागरण ही पत्नी को पति से मिलाने वाला है। निद्रा या स्वप्न तो उसे पति से मिलाने में बाधक ही सिद्ध होंगे[2]। जायसी ने इस जागरण को प्रिय सम्मिलन के पश्चात् भी स्थिर रखना आवश्यक माना है। वियोग के कष्टों को सहन करने के उपरान्त यदि प्रियतम से भेंट हो भी गयी, तो उस क्षणिक भेंट का महत्व चिरकाल-व्यापी तो नहीं हो सकता। संभव है, यह भेंट साधक को भुला दे, उसे

---

१. तेहि पर भएउ बिहान जब, रोइ रोइ मीजै हाथ। २० अखरावट
जो सेवक सोवै चित देई। तेहि ठाकुर नाहिं मया करेई। २०, अखरावट
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। ऋ०, ८-२-१८

२. तबहुं न जागा गा तैं सोई। जागे भैंट न सोयें होई। २१२, पद्मावत

प्रभु से पुनः वियुक्त कर दे। अतः सदैव अप्रमाद, सावधानता तथा चेतनता साधक के साथ बनी रहे, इसी में कल्याण है[1]।

शरीअत अथवा ज्ञानकांड में सत्संग, सत्य की जिज्ञासा, गुरु-सेवा, रसूल की सेवा और नमाज़ अथवा क़ुरान का अध्ययन भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पद्मावत दोहा खंड १६३ में जायसी ने सत्संग को उच्च पुरुषों के पास बैठना कहा है। वे लिखते हैं :

सदा ऊँच सेइअ पै बारू। ऊंचे सों कीजै बेवहारू।
ऊंचे चढै ऊंच खंड सूझा। ऊंचे पास ऊंच बुधि बूझा।
ऊंचे संग संग निति कीजै। ऊंचे काज जीव बलि दीजै।

उच्च अर्थात् सत्पुरुषों का साथ करने से मानव दुष्प्रवृत्तियों में पड़ने से बच जाता है, दूषित विचार दूर रहते हैं और बुद्धि निर्मल होकर सत्यज्ञान का प्रकाश करने लगती है। सत्संग मानव को प्रतिदिन विकास की ओर अग्रसर करता है। सत्संगी ऊँचा उठता जाता है। अतः यदि कुछ कष्टों का भी सामना करना पड़े, तो भी उच्च पुरुषों के संसर्ग का परित्याग नहीं करना चाहिये। सत्संग का सबसे बड़ा लाभ ज्ञान की प्राप्ति है।

सत्संग साधक के अन्दर सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है। हृदय यदि सत्य की ओर उन्मुख हो गया, तो नेत्रों के आगे प्रकाश हो जाता है और मानव वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को देखने लगता है[2]। सत्य पर उसकी इतनी दृढ आस्था जम जाती है कि वह प्राण-परित्याग की आशंका में भी असत्य का उच्चारण नहीं करता। सत्य रूपी नाव पर बैठकर वह अनन्त आपत्तियों के समुद्र को भी पार कर जाता है। कायर से कायर व्यक्ति भी सत्य के संबल द्वारा शूरवीर बन जाता है[3]।

सत्संग का ही परिमार्जित रूप गुरु-सेवा है। गुरु का महत्व सूफ़ी सम्प्रदाय में विशेष रूप से मान्य है। गुरु वही है जिसने स्वयं साधना करके अध्यात्म पथ का दर्शन किया है। जिसे स्वयं मार्ग का ज्ञान नहीं है,

---

१. दुख सों प्रीतम भेंटकै सुख सों सोव न कोय।
इहै ठांव मन डरपै, मिलि न बिछोवा होय। ४०८, पद्मावत

२. जौं सत हियें तौ नैनन्ह दिया। समुद न डरै पैठि मरजिया। १४९, पद्मावत

३. सच कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौं काऊ। ९३, पद्मावत
सायर तिरै हिएं सत पूरा। जौ जियँ सत कायर पुनि सूरा। १५०, पद्मावत

वह दूसरे का मार्ग-प्रदर्शन कैसे कर सकता है ? साधक को, जिसे मार्ग का कुछ भी अनुभव नहीं है, इसी हेतु एक अनुभवी गुरु के चरणों में बैठकर मार्ग का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। साधन-पथ पर चलते हुये उसे अनेक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों से अनुभवी गुरु ही उसे मुक्त कर सकता है।[1]

साधक को गुरु में पूर्ण विश्वास रखना चाहिये और उसे सर्वात्मना गुरु की सेवा में दत्तचित्त रहना चाहिये। जायसी के शब्दों में 'जहाँ पाउं गुरु राखै, चेला राखै माथ।' १२७, पद्मावत। पैर रखने का तात्पर्य गुरु की ज्ञानगति से है और माथा रखने का तात्पर्य गुरु-सेवा-परायण बनकर शिष्य का गुरु-वचनों को बिना ननु-नच किये स्वीकार कर लेना है। गुरु ज्ञान देकर प्रभु-विरह की चिनगारी साधक के हृदय में डाल देता है। साधक का कार्य इस चिनगारी को प्रज्वलित अग्नि में परिणत कर लेना है।[2] गुरु चरणों की सेवा साधक को देव-दर्शन करा देती है। देवों का सामीप्य प्राप्त करके साधक भगवद्भक्तों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाता है। देव-दर्शन से उसके हृदय पर पड़ी हुई पाप-कालिमा हट जाती है और वह पवित्र बन जाता है।[3]

अध्यात्म-पथ का दर्शन मात्र करा देना गुरु का काम है और उस पर अग्रसर होना साधक का कार्य है। स्खलन की अवस्थाओं में गुरु साधक की सहायता भी करता है। फिर भी इस पथ पर साधक को अपने पैरों से ही चलना पड़ता है। जायसी लिखते हैं: 'आपु मरे बिनु सरग न छुआ।' ३७, अखरावट। बिना अपने मरे स्वर्ग दिखाई नहीं देता। यजुर्वेद में लिखा है कि जीव को महत्त्व की प्राप्ति किसी अन्य के द्वारा नहीं होती। इसे वह स्वयं प्राप्त करता है। ज्ञान-प्रदान में गुरु का महत्व असंदिग्ध है। जायसी गुरु में प्रभु की ही छाया का अनुभव करते हैं।[4]

---

१. यहि ठांउं कहं गुरु सग कीजै। गुरु संग होइ पार तौ लीजै। १५६, पदमावत

२. गुरू बिरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला। १२५, पदमावत

३. जो चालिस दिन सेवै, बार बुहारै कोइ।
दरसन होइ मुहम्मद, पाप जाइ सब धोइ॥ ९, आखिरी कलाम

४. तुम्ह हुत देखेउं प्रीतम छाया। २५५, पदमावत

गुरु-सेवा के साथ जायसी ने हज़रत मुहम्मद की सेवा में रहना भी साधक के लिये आवश्यक समझा है। पद्मावत दोहाखंड ११ में उन्होंने रसूल को परमात्मा का प्रथम प्रकाश कहा है। हज़रत मुहम्मद ने दीपक के रूप में प्रकट होकर संसार को निर्मल कर दिया, जिससे अध्यात्म पथ के पथिकों को मार्ग दिखाई देने लगा। यदि रसूल न आते तो मानव अंधकार में ही भटकते रहते। हज़रत मुहम्मद परमात्मा के संदेशवाहक हैं। जो व्यक्ति उनका नाम लेता है, वह इहलोक तथा परलोक दोनों से पार हो जाता है। कयामत के दिन जब रूहों के कर्मों का, गुणों और अवगुणों का लेखा-जोखा होगा, उस समय जिसने रसूल की सेवा में जीवन् व्यतीत किया होगा, हज़रत मुहम्मद आगे बढ़कर उसके मोक्ष के लिये खुदा से विनय करेंगे। आखिरी कलाम दोहा खण्ड २७ में जायसी ने हज़रत मुहम्मद को अपने अनुयायियों के समस्त दुखों को अपने ऊपर लेकर सहन करने वाला भी लिखा है। इसी ग्रन्थ के दोहा खंड ४१ के अनुसार वे स्वयं छाया में बैठना तबतक पसंद नहीं करते, जबतक उनके अनुयायी (उमत) धूप में बन्धन-ग्रसित पड़े हैं।

नमाज में कुरान की आयतों को पढ़ते हुये साधक भगवान् की स्तुति और प्रार्थना में निरत होता है। आयतों का पाठ उसे ज्ञान भी देता है। अनेक सूफी साधक कुरान के पारायण को भी साधना के लिये महत्वपूर्ण मानते हैं। कुरान का कंठाग्र करना प्रत्येक मुसलमान के लिये आवश्यक नियम है। जायसी ने नमाज को इस्लाम धर्म का स्तम्भ लिखा है। उनकी दृष्टि में जो नमाज पढ़ता है, वही गुणवान् है। कुरान में जो कुछ लिखा है, उसी पर विश्वास करना चाहिये। शरीअत अर्थात् शरअ का मार्ग ही सच्चा मार्ग है। उसी का आश्रय ग्रहण करके साधक भ्रम-रहित होकर अपने गन्तव्य को प्राप्त करता है।[1]

शरीअत के पश्चात् तरीक़त का मार्ग है। इस मार्ग द्वारा अहंभाव के साथ युद्ध करते हुये तथा इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुये साधक प्रभु

---

१. ना नमाज है दीनक थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़गूनी।
सांची राह शरीअत, जेहि विसवास न होइ।
पांव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुंचे सोइ॥ २६, अखरावट

तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। तरीकत में तप, अर्थात् द्वंद्व-सहन, व्रत, एकान्त सेवन, मौन और जप-समा आदि का अभ्यास आता है। जायसी की रचनाओं में तप का महत्व अनेक स्थानों पर प्रतिपादित हुआ है। नीचे इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

ता तप साधहु इक पथ लागे। करहु सेव दिन रात सभागे।
ओहि मन लावहु, रहै न ऊठा। छोरहु झगरा यह जग झूठा।

२२, अखरावट

छांड़हु घिउ औ मछरी माँसू। सूखे भोजन करहु गरासू।
दूध मांस घिउ करु न अहारू। रोटी सानि करहु फरहारू।
एहि विधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिस्ना मद माया।
तब बैठहु बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगला नारी। ३६, अखरावट
साधन्ह सिद्धि न पाइअ, जो लहि सधै न तप्प। १२३, पदमावत

जैसे भट्टी दिन-रात अग्नि से तपती रहती है, उसी प्रकार साधक को अनवरत रूप से तपस्या में संलग्न रहना चाहिये। तप की इसी ज्वाला में प्रपञ्च अर्थात् राग तथा द्वेष के धन्धे दग्ध होते हैं। तपश्चर्या के उपरान्त मानव सुख की छाया के दर्शन करता है और एक दिन उसके जीवन में ऐसा भी आता है, जब उसकी आशायें परिपूर्ण होती हैं और वह ब्रह्मानन्द के रसास्वाद से तृप्ति लाभ करता है।[1] अभिलाषा के साथ यदि तपश्चर्या नहीं की गई, तो फल की प्राप्ति असम्भव है। अतः साधक को तप में प्रवृत्त होना ही चाहिये।

तप शब्द व्यापक अर्थ रखता है। श्रीमद्भगवद्गीता में उसके कायिक वाचिक, मानसिक, सात्विक, राजस तथा तामस भेद किये गये हैं। गुरु, विप्र, देव आदि की पूजा, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य एवं प्रियवाक्य, हितकारी भाषण, शास्त्रों का अध्ययन, मौन, विषयों से विरक्ति, भावों की शुद्धि, शरीर की कृशता, व्रत आदि सभी की गणना तप के अन्तर्गत है। ऊपर जायसी की जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, उनमें भी सेवा-भावना, मन को विषयों से विरक्त करना, विलासपूर्ण एवं उत्तेजक आहार का परित्याग, रूखे-सूखे भोजन का ग्रहण, व्रत अथवा फलाहार, कामनाओं का परित्याग आदि तप के कई रूप आ गये हैं। जायसी ने शरीर की कृशता का उल्लेख

१. जौ अस साधि आव तप जोगू। पूजै आस मान रस भोगू। १५८, पदमावत

कई बार किया है, जो तप का ही परिणाम है। पद्मावत दोहाखण्ड ९० में उन्होंने लिखा है :

रहै जो पिय के आयसु औ बरतै होइ खीन।
सोई चाँद अस निरमरि जनम न होइ मलीन॥

प्रभु के आज्ञापालन में जिसने शरीर को कृश कर डाला, वह चन्द्रमा के समान निर्मल बन गया। तप पवित्रता का सम्पादक है, ऐसा सभी साधकों ने अनुभव किया है। तप के अन्य रूपों में मौन, अक्रोध, निर्लोभ, दान, जप, तथा स्मरण प्रमुख हैं। तरीकत में इन सबका समावेश होता है। नीचे क्रमशः इनके उदाहरण दिये जाते हैं :

मौन :
वह सब किछु कैसे कै कहई। आपु बिचारि बूझि चुप रहई॥४८॥ अख०
मौन गहै तस गयेउ विमोही। भा निरजिउ जिउ दीन्हेसि ओही॥२३५॥पद्०

अक्रोध :
विरस विरोध रिसिहि पै होई। रिसि मारै तेहि मार न कोई।
जेहि की रिसि मरियै रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुं न कीजै॥

९०, पद्मावत

निर्लोभ :
मनुआँ चहै दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू॥
जोगी मनहिं ओहि रिसि मारहिं। दरब हाथ कै समुद पंवारहिं॥
दरब लेइ सो अस्थिर राजा। जो जोगी तेहि के केहि काजा॥१५१॥ पद्०

दान :
दिया सो काज दुहूं जग आवा। इहां जो दिया उहां सो पावा॥
दिया करै आगें उजियारा। जहां न दिया तहां अँधियारा॥१४५॥ पद्०

उपर्युक्त पंक्ति में 'दिया' शब्द में श्लेष है और उसके दीपक तथा दान दोनों अर्थों में संगति है। दोनों का कार्य जीवन मार्ग को प्रकाशित करना है। दान और सत्य अर्थात् धर्म दोनों सहोदर हैं। जो दानी नहीं, वह धर्मात्मा भी नहीं हो सकता। लोभ का साथी पाप है। ३८६, पद्मावत

जप :
बैठि सिंघछाला होइ तपा। पदुमावति पदुमावति जपा॥१६७॥ पद्मावत
७३, ७४ भ० वि०

साठि बरिस जो लपई झपई। छन एक गुपुत जाप जो जपई ॥३८॥ अख०

स्मरण :

करनी करै जो पूजै आसा। संवरै नावं जो लेइ लेइ सांसा ॥३८॥ अख०

जेकर पास अनफांस कहुं हिय फिकिर संभारि कै।

कहत रहै हर सांस मुहमद निरमल होइ तब ॥ ३९ ॥ अखरावट

शरीयत अथवा ज्ञानकाण्ड भी तप की अपेक्षा रखता है। ज्ञानार्जन में घोर तपश्चर्या करनी पड़ती है, परन्तु ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त तप छूट जाता हो, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान के पश्चात् वासनाओं के दमन के लिये पुनः तप में निरत होना पड़ता है। ज्ञानी अपने ज्ञान के गर्व में जब प्रभु को विस्मृत कर देता है, तथा ज्ञान का व्यापार करता हुआ संसार के फन्दे में पड़ जाता है, वैश्यवृत्ति[1] धारण कर लेता है, तो उसका सारा ज्ञान ताक में रखा रहता है और वह एक प्रकार से विलास के हाथ बिक जाता है। महान से महान ज्ञानी, यति और संन्यासी वणिकवृत्ति के चक्र में पड़कर धन के आगे अपना सिर झुका देते हैं। इस प्रपञ्च से उनका उद्धार करने वाल तप ही है। यह मानव को बुद्धिभ्रंश से बचाता है। जायसी इसी हेतु लिखते हैं : 'जोगी जती संन्यासी तप साधहिं तेहि आस' ॥५५॥ पद्मावत

प्रपञ्च मानव को विश्व के कोलाहल में मग्न करने वाला है। यह कोलाहल अशान्ति से ओतप्रोत है। शान्ति का अभिलाषी साधक, इसी हेतु इस कोलाहल से दूर एकान्त, शान्त, निर्जन वनों, गुहाओं, कन्दराओं, अथवा सरिता के निर्मल सैकत-पुलिनों की शरण ग्रहण करता है। यह एकान्त सेवन उसे आत्मनिरीक्षण का अवसर प्रदान करता है और साधक बाह्योन्मुखता से हटकर अन्तर्मुख बनता है। आत्मज्ञान के लिये एकान्त सेवन अमूल्य साधना हैं।[2] पद्मावत में रतनसेन का निम्नाङ्कित कथन इस विषय में कितना सार्थक है:

हौं रे पंखेरू पंखी, जेहि बन मोर निबाहु।

खेलि चला तेहि बन कहं, तुम्ह आपन घर जाहु ॥ १२७, पद्मावत

---

१. पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा।

पढ़ि गुनि देखा बहुत मैं है आगें डर सोइ।

धंध जगत सब जानिकै भूलि रहा बुधि खोइ ॥ ७७, पद्मावत

२. सो परगट महं आइ भुलावै। गुपुत में आपन दरस दिखावै ॥ ३५, अखरावट

तरीकत में साधक को अहं भावना से संघर्ष करना पड़ता है। 'हौं, हौं' में पड़ा हुआ व्यक्ति स्वार्थी है और भगवान् का शत्रु है।[1] साधक भगवान् का मित्र बनना चाहता है, अतः वह अहङ्कार के दमन में प्रवृत्त होता है। अहं भाव के नाश से ही साधक आवागमन के जाल में पड़ने से बच पाता है। रतनसेन गजपति से कहता है :

'जो पहिले सिर दै पगु धरई। मुए केर मीचुहि का करई ॥ १४२, पद्मावत ॥

तरीकत इस प्रकार फ़ना की स्थिति के लिये आधारभूमि का कार्य करती है। मारफत में जाकर अहं भावना का सम्पूर्णतया दमन हो जाता है और साधक को सुदृढ़ भूमि प्राप्त हो जाती है।

मारफत को हम अपने यहाँ का उपासना काण्ड कह सकते हैं। इससे अहंभावना दूर होती है, हृदय में आत्मज्योति का उदय होता है और साधक आरिफ कहलाने की योग्यता प्राप्त करता है। मारफत के मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये साधक को सूफी साधना के सप्त सोपानों को पार करना पड़ता है। ये सात सोपान आत्म-अवस्थिति के लिये अनिवार्य माने गये हैं। इनके नाम साधकों ने इस प्रकार दिये हैं—तोबा, जहद, सब्र, शुक्र, रिजाअ, तव्वकुल और रज़ा। इन्हें हम क्रमशः पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त, स्वेच्छा-दारिद्रय, सन्तोष, धैर्य एवं कृतज्ञता, दमन अथवा आत्म-संयम, ईश्वर कृपा पर पूर्ण विश्वास और तटस्थता अथवा वैराग्य कह सकते हैं।

तोबा (पश्चात्ताप) : पश्चात्ताप अपने विगत दुष्कर्मों पर होता है। प्रभु ने जो सम्पत्ति हमें प्रदान की है, उसका जब हम सदुपयोग नहीं करते, आत्महित के अतिरिक्त आत्मघातक कार्यों में उसका व्यय करने लगते हैं, तो प्रभु हमें इस सम्पत्ति से वंचित कर देता है। इस सम्पत्ति में सर्वश्रेष्ठ स्थान बुद्धि का है। नेत्र, श्रवण, वाणी और मुख जैसे चार रत्न भी प्रभु ने हमें प्रदान किये हैं। जायसी की सम्मति में जब हम उनका दुरुपयोग करते हैं, तो प्रभु हमें दैवी कोप से भस्म कर देता है। जायसी लिखते हैं :

> दीन्ह रतन बिधि चारि, नैन बैन सरवन मुख।
> पुनि जब मेटहि मारि, मुहमद तब पछिताब मैं ॥ ३५, अखरावट।

---

१. गरब करै जो हौं हौं करई। बैरी सोइ गोसाईं क अहई ॥ १९, अखरावट

सिद्ध पदारथ तीनि, बुद्धि पांव औ सिर कया।

पुनि लेइहि सब छीनि, मुहमद तब पछिताव मैं ॥ ३७, अखरावट।

पश्चात्ताप में विचारणा का भी जागरण होता है। महादेव के मण्डप में जब रत्नसेन पद्मावती को देखते ही मूर्छित हो गया और पद्मावती उसके वक्षःस्थल पर चन्दन से कुछ अक्षर लिखकर विदा हो गई, तो रत्नसेन चेतना में आकर अपनी परिस्थिति पर पश्चात्ताप के साथ विचार करने लगा। वह कहता है :

अब हौं दोस देउँ का काहू। संगी कया मया नहिं ताहू।

हतेउ पियारा मीत बिछोई। साथ न लागि आपु गै सोई।

का मैं कीन्ह जो काया पोखी। दूखन मोहि आपु निरदोखी। २०४, पद्०

इसी प्रकार सिंहल से लौटते हुये अपने द्रव्य पर, जब रत्नसेन को गर्व का अनुभव हुआ और परिणामस्वरूप समुद्र में समस्त सामग्री के विलय के साथ पद्मावती और वह स्वयं पृथक्-पृथक् दिशाओं में वियुक्त होकर बह गये, तो रत्नसेन पश्चात्ताप करता हुआ रो-रोकर कहने लगा :

कासु पुकारौं का पहं जाऊं। गाढ़ैं मीत होइ एहि ठाऊं। ४०६, पद्मावत।

समुद्र ब्राह्मण के वेश में आकर कहता है :

हाथ मरोरि धुनैं सिर माखी। पै तोहि हियैं न उबरी आंखी।

बहुतन ऐस रोइ सिर मारा। हाथ न रहा झूठ संसारा। ४११, पद्मावत

रत्नसेन! इस रोने, सिर धुनने और हाथ मल-मलकर पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं है। जिस ईश्वर ने प्राण और शरीर प्रदान किये हैं, वह जब चाहे इन्हें ले सकता है। यदि वह सम्पत्ति देकर छीन लेता है, तो इसमें हमारे पश्चात्ताप करने का कोई कारण नहीं है।

तव्वकुल (ईश्वरकृपा पर विश्वास) : पश्चात्ताप अन्तर्मुखी वृत्ति उत्पन्न करके साधक को उसके मूल ईश्वर तक ले जाता है। वैभव की अवस्था में ईश्वर के प्रति जो विश्वास विचलित सा रहता है, वह अनुताप की भट्ठी में जलकर स्थिर और स्वर्ण के कुन्दन में परिणत होने के समान दीप्तिमान बन जाता है। रत्नसेन की भी यही अवस्था हुई। सब कुछ खो देने के उपरान्त उसने ईश्वर का स्मरण किया। ईश्वर-विश्वास की दृढ़ निष्ठा उसके कहे हुये निम्नांकित वचनों से सिद्ध होती है :

ऐ गोसाईं तू सिरजनहारू। तू सिरिजा यह समुद अपारू।

सोइ मूरुख बाउर औ अंधा। सोइ छांड़ि औरहि चित बंधा॥ ४०७, प०

तू जिउ तन मेरवसि दै आऊ। तुही बिछोवसि करसि मेराऊ।

सब कर मरम भेद तोहि पाहां। रोम जमावसि टूटै ताहां। ४०८, पद०

इसी प्रकार जब सिंघलगढ़ के राजा ने रत्नसेन और उनके साथियों को घेर लिया, उस समय भी रत्नसेन अपने हृदय में निहित अविचल ईश्वर-विश्वास को प्रकट करता हुआ कहता है :

परगट गुपुत सकल महि मंडल, पूरि रहा सब ठाउं।

जहं देखौं ओहि देखौं, दोसर नहि कहं जाउं॥ २४४, पद०

आखिरी कलाम दोहा खण्ड ४१ में जायसी ईश्वर-कृपा पर अपनी अडिग आस्था प्रकट करते हुये लिखते हैं :

कहब रसूल छांह का पैठौं। उमत लागि धूपहु नहिं बैठौं।

जो मोहि चहौ निवारहु कोहू। तब विधि करै उमत पर छोहू॥

रसूल अपनी उमत के लिये छाया में प्रवेश करना तो दूर, धूप में भी बैठना नहीं, खड़े ही रहना चाहते हैं। उन्हें विश्वास है कि भगवान् उनके तथा उनके अनुयायियों के ऊपर अवश्य-कृपा करेंगे। महरी बाईसी, पदखंड १६ में भी जायसी ने ईश्वर को कर्णधार अर्थात् अपनी कृपा से जीव को भवसागर से पार लगाने वाला लिखा है।

रज़ा (तटस्थता या वैराग्य) : ईश्वर-विश्वास का संबल लेकर साधक सुख, दुख, हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि सबसे तटस्थ हो जाता है। विश्व की ओर से विरागी बनकर वह ईश्वर की इच्छा में ही अपनी इच्छा की सार्थकता समझने लगता है। सिंघलगढ़ में नाग-पाश से आबद्ध होकर रत्नसेन कहता है :

भले आनि गिउ मेली फांसी। हियें न सोच रोस रिसि नासी।

नाग फांस उन मेली गीवा। हरख न बिसमौ एकौ जीवा॥२४४॥ पद्मावत

रत्नसेन को न फाँसी लगने का भय है, न उसके कारण कोई चिन्ता तथा शत्रु के प्रति किसी प्रकार की रोष-भावना है। हर्ष और विस्मय से, जीवन और मरण से वह एकदम तटस्थ वृत्ति धारण किये हुये है। योगी बनकर चित्तौड़ छोड़ने पर भी रत्नसेन अपनी माँ के आगे वैराग्य वृत्ति का परिचय देता हुआ कहता है :

मोहि यह लोभ सुनाउ न माया। का कर सुख का कर यह काया।
जौ निआन तन होइहि छारा। माटी पोखि मरै को भारा ॥१२०॥ पद्मावत

दोहा खण्ड १२२ में भी रत्नसेन ने अपनी पत्नी के समक्ष इसी प्रकार की वैराग्य भावना प्रकट की है।

जहद (स्वेच्छादारिद्र्य): जिन साधकों के अन्दर वैराग्यवृत्ति घर कर लेती है, वे स्वेच्छापूर्वक दीन एवं दरिद्र रहना स्वीकार कर लेते हैं। जायसी ने पद्मावत दोहाखण्ड १२० में गोपीचंद को और १२२ में भर्तृहरि को राज्य त्याग कर योगी हो जाने वाला लिखा है। योगी भोग-विलास से विरत एवं तपश्चर्या के धनी होते हैं। उन्हें स्त्री, राज्य, वैभव, उष्ण भोजन आदि किसी की इच्छा नहीं होती। रूखे सूखे अन्न को खाना, वन में रहना, रंक जैसा गैरिक वेश धारण करना उनके स्वभाव में सम्मिलित हो जाता है।[1] राजा रत्नसेन स्वयं अपने समस्त वैभव पर लात मारकर भिखारी बन गया था। स्वेच्छा-दारिद्र्य का ग्रहण विशेष उद्देश्यपूर्वक किया जाता है। रत्नसेन के सामने यह उद्देश्य पद्मावती को प्राप्त करना था। पद्मावती अध्यात्मपक्ष में प्रियतम परमात्मा का ही रूप है। रत्नसेन कहता है:

हौं पद्मावति कर भिखमंगा। दिस्टि न आव समुंद औ गंगा।
जेहि कारन गिउ कांथरि कंथा। जहां सो मिलै जाउं तेइ पंथा ॥१४३॥ पद्मा०

संसार के साधारण भोग पल-पल में विनश्वरता का परिचय देते हैं। योगी क्षणिकता से नहीं, अमरता से प्रेम करता है और इसी अमृत के उपभोग के लिये वह भिक्षुक बनता है।[2] जहद एक प्रकार से विलासी जीवन के साथ साधक का संघर्ष है, जिसमें वह स्वेच्छा-दारिद्र्य, लोकनिन्दा, घृणा, अपमान आदि के सहन द्वारा विजय प्राप्त करता है।

रिजाअ (आत्मसंयम): स्वेच्छा-दारिद्र्य, वैराग्य-वृत्ति आदि साधन साधक को आत्मसंयम में प्रवृत्त कराने वाले हैं। आत्मसंयम में इन्द्रियनिग्रह और मन का दमन, दोनों की गणना है। इन्द्रियनिग्रह तरीकत में पूर्ण हो जाता है। अतः मारफत के लिये साधक मन के दमन पर अपनी चित्तवृत्तियों

---

१. जोगिन्ह काह भोग सौं काजू। चहै न महरी चहै न राजू।
जूड़ कुरकुटा पै भखु चाहा। जोगिहिं तात भात दहुं काहा ॥ १२२ ॥ पद्मावत

२. राजा भये भिखारी सुनि वह अमृत भोग ॥४३॥ पद्मावत

को केन्द्रित करता है। मन कोमल तथा कठोर, दोनों प्रकार का है। इसकी कठोरता और कोमलता पुनः प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो पक्ष धारण करती है। कोमल होने के कारण यह एक ओर वासनाओं की ओर द्रवित होता है, तो दूसरी ओर ब्रह्मानन्द के रसास्वादन से भी जा चिपटता है। कठोरता यदि इसे सांसारिक पथ का परित्याग नहीं करने देती, तो दूसरी ओर निवृत्तिपथगामी बनकर यह वासनाओं पर निर्मम आघात भी करने से नहीं चूकता। यह अमर मन ज्ञानरूपी शिला पर घिसते-घिसते ही घिस पाता है।[1] जायसी ने मन के संयम के लिये उस पनिहारिन का उदाहरण दिया है, जो अपनी सखियों से वार्तालाप भी करती जाती है, पर अपनी आन्तरिक वृत्ति को शिर पर रखे हुये जल से भरे घड़े में लगाये रहती है।[2] साधक इसी प्रकार संसार के समस्त व्यवहार करता है, परन्तु गुप्त रूप से अपना मन ईश्वर में संलग्न रखता है[3]। चञ्चल मन को यदि पुचकार कर किसी ओर लगा दें, तो यह वहाँ लग जाता है। मन की यही विशेषता साँप के समान उसके विषाक्त होने पर भी उसे अमृत बना देती है। जैसे सँपेरा साँप को अपनी पिटारी में रखता है और बाहर निकालने पर अपनी महुअर की मीठी रागिनी से मुग्ध करके उसे अपने वश में रखता है, उसी प्रकार साधक मन को इन्द्रिय-विषयों से असम्बद्ध करके आन्तरिक विचार में मग्न रखता है और यदि बाहर निकालता भी है, तो उसे प्रभु के गुप्त किन्तु उन्मुक्त सौंदर्य से मुग्ध करके आत्मतत्त्व की अधीनता में रखता है।[4] मन के संकल्प-विकल्प साधक को संशय की ग्रन्थियों में डाल देते हैं। इन ग्रन्थियों से उसकी मुक्ति तभी हो सकती है, जब वह आत्मविश्वासी बनकर अपने समस्त मनोरथों को प्रभु के ऊपर आश्रित कर दे। जायसी, इस प्रकार, मन की चंचलता को दूर करने के लिये ज्ञान, सौन्दर्य तथा प्रभु का अवलम्बन ग्रहण करना आवश्यक समझते हैं।

---

१. मुहमद यह मन अमर है, कहु किमि मारा जाइ।
ग्यान सिला सौं जौ घँसै, घँसतहि घँसत बिलाइ ॥४२२॥ पद्मावत

२. बात सखी सौं मन गागरि सौं तेहि विधि चित्त न डोले रे। १०, महरी बा०

३. तू मन नाथु मारि कै साँसा। जो पै मरहि अबहिं करु नासा।
परगट लोक चार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता ॥ २१६, पद्मावत

४. मनुआँ चंचल साँप, बरजै अहथिर ना रहै।
पाल पिटारे साँप, मुहमद तेहि बिधि राखिये ॥ ३८, अखरावट

रिजाअ योगदर्शन के प्रत्याहार और धारणा का सम्मिलित रूप है। इसमें साधक चित्तवृत्तियों के बहिर्मुख बहते हुये प्रवाह को अन्तर्मुख करके मन को अन्तःप्रदेशविशेष में बांध देता है। रिजाअ, मन का दमन अथवा आत्मसंयम इधर से उधर को रुजू अर्थात् प्रवृत्त होने का नाम है। जायसी लिखते है :

प्रेम तन्तु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बाँधि।
पारधि जैसे अहेर कहं, लाग रहे सर साधि ॥ ३६ अखरावट

जैसे आखेटकर्ता आखेट्य पशु की ओर अपना लक्ष्यवेध करता है, उसी प्रकार साधक को अपना चित्त प्रभु की ओर ले जाना चाहिये।

शुक्र (धैर्य एवं कृतज्ञता) : सभी पथ कण्टकाकीर्ण हैं। कोई भी मार्ग विघ्न-बाधाओं से शून्य नहीं है। आत्मसंयम की साधना में भी अनेक अन्तराय उपस्थित होते हैं। जब आपद्रूपिणी सुरसा सामने मुँह बाकर खड़ी हो जाती है, तो बड़े से बड़े संयमी और मन के मालिक भी विचलित हो जाते हैं। ऐसे ही अवसरों पर साधकों के धैर्य एवं साहस की परीक्षा होती है। कष्टों के पहाड़ टूटने पर भी जो साधक अधीर न हो, अपने साहस से काम ले, वही मन-दमन की यात्रा पूरी कर सकता है। जायसी की सम्मति में जहाँ साहस है, वहीं पर सिद्धि है[1]। जब रत्नसेन किलकिला समुद्र की तरङ्गों में प्रविष्ट हुआ, तो पर्वत के समान समुद्र की उठती हुई लहरों को देखकर उसके सभी साथियों का धैर्य जाता रहा, परन्तु रत्नसेन ने धैर्य को अपने हाथ से न जाने दिया। मार्ग-प्रदर्शक सुआ भी गुरु के रूप में साथ ही था। धैर्य एवं साहस द्वारा ही रत्नसेन उस प्रलयंकर समुद्र को पार कर प्रशान्त मानसर सागर में पहुँच सके।[2] रत्नसेन की यह समुद्रयात्रा अध्यात्म पक्ष में साधक के साधनापथ की ही प्रतीक है।

कष्टकर अन्तरायों के अतिरिक्त साधक के सामने कुछ लुभावने, मोहक एवं सरस विघ्न भी सिद्धियों के रूप में आते हैं। यदि साधक इन सिद्धियों के झमेले में पड़ कर अपने लक्ष्य से च्युत हो गया, तो उसके समक्ष पुनः वही प्रपञ्च का गह्वर गर्त उपस्थित है। ऐसे अवसरों पर सिद्धियों को प्रभु का प्रसाद समझ कर साधक को उनमें रमण तथा विश्राम नहीं करना चाहिये। प्रभु के सामने

---

१. साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई। १४६ पद्मावत

२. सतएँ समुंद मानसर आये। मन जो कीन्ह साहस सिधि पाये ॥ १५८ पद्मावत

उसकी दी हुई देन के लिये कृतज्ञता प्रकट करते हुये साधक को तीव्र वेग से इन सिद्धियों का अतिक्रमण कर जाना चाहिये। तभी वह अपनी यात्रा के गन्तव्य की ओर बढ़ सकेगा। रत्नसेन ने स्वयं राजा गंधर्वसेन के सामने पद्मावतीरूपी सिद्धि की प्राप्ति के लिये अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी। आखिरी कलाम के प्रथम दोहाखंड में जायसी भी प्रभु-प्रदत्त अपनी शारीरिक सम्पत्ति तथा सौभाग्य के लिये दयालु प्रभु के चरणों में अपना सिर झुकाते हैं।[1]

सब्र (सन्तोष)—जो साधक स्वेच्छा-दारिद्रय को अपना चुका है, वह कभी तृप्त न होने वाली तृष्णाओं के भँवरजाल में क्यों पड़ेगा? प्रभु जो कुछ देता जाय, उसी में उसे सन्तुष्ट रहना है। प्रभु की दी हुई वस्तु को छीन कर यदि कोई अन्य व्यक्ति उसके सामने विलास के विपुल उपकरण उपस्थित करना चाहे, तो भी वह उन सबकी ओर से उदासीन ही रहेगा। उसकी आकांक्षा प्रभु और उसकी दी हुई सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी लुभाने वाली वस्तु की ओर नहीं जा सकती। जब पार्वती ने रत्नसेन के पद्मावती-प्रेम के परीक्षार्थ सुरूपा अप्सरा का रूप धारण किया और उसे पद्मावती की ओर से विरत करना चाहा, तो रत्नसेन अपनी संतोषवृत्ति तथा एकनिष्ठा का परिचय देता हुआ कहने लगा:

'भलेहि रंग तोहि आछरि राता। मोहि दोसरे सौं भाव न बाता।'

२१०, पद्मावत

संतोष ही साधक का वास्तविक धन है। बाह्य गृह, सम्पत्ति आदि को वह प्रभु की ओर से दी गई उपयोगी सामग्री मात्र समझता है। उससे मोह नहीं करता। उसका विश्वास है कि आवश्यक पदार्थों को प्रभु स्वयं दे देंगे। और फिर व्यक्ति की इच्छा ही तो सब कुछ नहीं है। उसकी पूर्ति अथवा अपूर्ति प्रभु के ही हाथों में है[2]। अतः वह जो कुछ दे दे, उसी में साधक को संतोष है।[3]

---

१. दीन्हेसि बदन सुरूप रंग, दीन्हेसि माथे भाग।
देखि दयाल मुहम्मद, सीस नाइ पग लाग॥ १ आखिरी कलाम

२. मानुस साज लाख मन साजा। साजा विधि सोई पै बाजा॥ २७४ पद्मावत

३. डा० ताराचंद ने निकल्सन के आधार पर अपने ग्रन्थ Influence of Islam on Indian Culture के पृष्ठ ८० पर इन सप्त सोपानों में से शुक्र को फ़ुक्र और रिजाअ को Wara नाम दिया है।

ऊपर जिन सप्त सोपानों की व्याख्या की गई है, वे साधक को मारफत की उच्च भूमिका में पहुँचाने वाले हैं। हकीकत की राह में मारफत अवस्था की प्राप्ति अनिवार्य समझी जाती है। जायसी के मतानुसार मारफत बाह्य-गोचरों से असंपृक्त, अपने मन के ही अन्दर डूब जाने की दशा है। जब मन प्रभु का चिन्तन करता हुआ, इस चिन्तन में ही अपने को डुबो दे और स्थिरतापूर्वक दीर्घकाल तक इसमें डूबा रहे, तब मारफत अवस्था की सिद्धि समझनी चाहिये[1]। मारफत योग-दर्शन के ध्यान के समान है। सन्तों ने इसी को उन्मनी अवस्था कहा है, जिसमें माया से रूठ कर दृष्टि ऐसी उलटी हो जाती है कि वह माया को मिथ्या जान कर पुनः उसके पास लौट कर नहीं आती[2]। साधना-क्षेत्र में इसका उच्च एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। जायसी लिखते हैं :

> साईं के भंडारु, बहुमानिक मुकता भरे।
> मन चोरहिं पैसारु, मुहमद तौ किछु पाइये ॥ २१
> देखि समुद महं सीप, बिनु बूड़े पावै नहीं।
> होइ पतंग जल दीप, मुहमद तेहि धंसि लीजिये ॥ २७ अखरावट

अन्दर प्रभु का भाण्डार अमूल्य मणि-मुक्ताओं से भरा पड़ा है। यदि मन रूपी चोर अन्दर घुस कर वहाँ प्रवेश कर सके, तो उसे कुछ न कुछ तो प्राप्त हो ही सकता है। समुद्र में मोतियों को उत्पन्न करने वाली अनेक सीपें पड़ी हैं। जैसे पतंगा दीपक के ऊपर अपने को न्यौछावर कर देता है, वैसे ही यदि कोई व्यक्ति मरजीवा, गोताखोर बन कर समुद्र के अन्दर डुबकी लगा सके, तो मुक्तिरूपी मुक्ताओं की जननी इस सीप जैसी मारफत या उन्मनी अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इसके लिये मनरूपी मानसरोवर का मन्थन करना पड़ता है[3]। सतत अभ्यास के द्वारा ही मन प्रभु के ध्यान में डूबने की क्षमता प्राप्त करता है। जैसे दही के ऊपर की साढ़ी मथानी की चोट खा-खाकर फूटती है और लगातार बिलोने की क्रिया द्वारा निर्मल, स्निग्ध मक्खन मट्ठे के ऊपर तैरने लगता है, उसी प्रकार शरीर की सुध-बुध भुलाकर, पञ्चभूतों

---

१. राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुडुकी ॥ २१ अखरावट
२. उलटि दिस्टि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी ॥ १२५ पदमावत
३. मुहमद मोति समुन्द, काढहु मथन अरम्भ कै ॥ ३० अखरावट

को मारकर, निरन्तर निदिध्यासन में मन को डुबोया जा सके, तो नवनीत जैसे निर्मल, ज्योतिर्मय आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि हो सकती है[1]।

मारफत अहंभावना का विनाश कर देती है। जीवन्मृत व्यक्ति अहं को, आपे को खोकर प्रिय को प्राप्त करता है। जिसने अपनी आँखों से अपने मरण का यह खेल देख लिया, वह बार-बार के मरण से पार हो गया, युग युग के लिये सिद्ध हो गया[2]। वेद के शब्दों में 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' अपने विनाश से ही मृत्यु को मारा जा सकता है। जायसी भी लिखते हैं :

कठु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया ॥ २३, अखरावट

× × ×

भुवसि न जौलहि, जिवसि न तौलहि, जो मरि जियै सो नाचै रे ॥१७म०बाईसी

× × ×

बिनु जिउ दिये न पावै कोई। जो मरजिया अमर भा सोई ॥ ३७ अखरावट

प्रिय की खोज सरल नहीं, अत्यन्त दुर्धर्ष है। इस खोज में अपने को मिटा देना पड़ता है। जिसमें अपने को मिटा देने की शक्ति नहीं, उसके लिये प्रिय की खोज अरण्य-रोदन है, आकाश का पुष्प है।[3] पर इस मिटने के पश्चात् जिस जीवन का उदय होता है, वह सहस्रवार वरणीय है, मुद और प्रमुद की सीमा है, आनन्द का धाम है। बिना अपनी बलि चढ़ाये यह प्राप्त नहीं होता। मरजीवा बनकर ही मानव अमर होने का अधिकारी बनता है।

मारफत की अवस्था, जैसा पीछे लिख चुके हैं, बुद्धिजन्य नहीं, अनुभूति-जन्य होती है। इससे साधक पवित्र बन जाता है और जैसे निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब पूर्ण और शुद्ध पड़ता है, वैसे ही साधक के पवित्र हृदय में प्रभु की ज्योति का प्रत्यक्ष और यथार्थ दर्शन होता है।[4]

हठयोग : मारफत की सिद्धि के लिये जायसी ने नाथपन्थियों के हठयोग का भी सहारा लिया है। हठयोग में यम, नियम, आसन आदि के द्वारा शरीर

---

१. तन तजि मन महु भूल, मुहमद तब पहचानिये ॥ ११ अखरावट

२. सिद्ध होइ सो जुग जुग ताईं। ३७ अखरावट

३. जौ लहि आपु हिराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई ॥ १२४ पद्मावत
हाथ चढ़ौ सो तेहि कै, प्रथम जो आपुहिं नाश ॥ २२३ पद्मावत

४. अस निरमल जस दरपन आगे। निसिदिन तोरि दिस्टि मोहिं लागे ॥४१ अख०

की शुद्धि, प्राणायाम के द्वारा नस-नाड़ियों का परिमार्जन, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय-निग्रह और धारणा तथा ध्यान द्वारा मन का संयम किया जाता है। प्राण तथा अपान क्रिया में जो सोहं की ध्वनि होती है, वही अनाहत नाद के श्रवण के समय ओऽम् में परिणत हो जाती है। इससे साधक को अनुपम धैर्य प्राप्त होता है।[1] दोनों आँखों की दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित कर फिर सीधे उसी के साथ संसरणपथ या राजपथ पर चलते हुए दोनों भौहों के बीच में उसे जमा देना त्राटक की साधना कहलाता है। यह सब केवल इसलिये करना पड़ता है, जिसमें साधक उस अमूल्य अन्तर्हित तत्त्व को अपने ही अन्तर्गत देख सके। जायसी कहते हैं :

गढ़ तस बांक जैसी तोरी काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझिआरा। औ तहं फिरहिं पांच कोटवारा॥
दसवं दुआर गुपुत एक नांकी। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांकी॥
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चांटी॥
गढ़तर कुंड सुरंग तेहि माहां। तेहि महं पंथ कहौं तोहि पाहां॥
जस मरजिया समुद्र धंसि, हाथ आव तब सीप।
ढूंढ़ि लेइ जो सरग दुआरी, चढ़ै सो सिंहल दीप॥ २१५ पद्मावत
दसवं दुआर ताड़ कै लेखा। उलट दिस्टि जो लाव सो देखा॥
जाइ सो तहां सांस मन बंधी। जस धंसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी॥
तू मन नाथु मारि कै सांसा। जो पै मरहि अबहिं करु नासा॥
२१६, पद्मावत

सन्तों ने कहा है : 'जो इस पिण्ड में है, वही इस ब्रह्माण्ड में है।' विराट् का सूक्ष्म रूप या उसकी छाया यह शरीर है, मानव का पार्थिव व्यक्तित्व है। इस पार्थिव पिण्ड, शरीर, के ऊर्ध्व स्थान में देवकोष अर्थात् स्वर्ग है, वैसे ही जैसे पृथ्वी और अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक। पिण्ड के नव द्वारों या ड्योढ़ियों से निकल कर साधक जब दसवें द्वार पर पहुँचता है, तो वह स्वर्ग दिखाई देने लगता है। यह दशम द्वार ताड़ वृक्ष के समान ऊँचा है। इसे देखने के लिये दृष्टि उलटी करनी पड़ती है, त्राटक की साधना करनी पड़ती है। साँस मार कर, प्राणायाम करके मन को नाथना पड़ता है। मन को नाथने के

---

१. मोह सोह बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई॥ ५३ अखरावट

उपरान्त इस हौं हौं, मैं मैं अर्थात् अहङ्कार के भाव को नष्ट कर देना पड़ता है। अहङ्कार नष्ट हुआ, तो सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जायसी ने हठयोग की क्रियाओं की उपयोगिता प्रकट की है और कई स्थानों पर इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों का वर्णन करते हुये साक्षात्कृत ज्योति का उल्लेख किया है।

जायसी ने इस स्वर्ग तक पहुँचने को दुर्लभ एवं कृच्छ्रसाध्य माना है। है तो यह हमारे अत्यन्त निकट, पर निकट होते हुए भी बहुत दूर अर्थात् दुष्प्राप्य रहता है। उपनिषद् के ऋषि तो अत्यन्त स्पष्ट वाणी में 'तद्दूरे तद्वन्तिके' तथा 'क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया' कहते हैं। जायसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में मनन करने योग्य हैं :

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अंतरपट पै नहिं अहा॥
सरवर देख एक मैं सोई। रहा पानि पै पानि न होई॥
सरग आइ धरती महं छावा। रहा धरति पै धरत न आवा॥
तेहि महं है पुनि मंडप ऊंचा। करन्ह अहा पै कर न पहूंचा॥

५७१, पद्मावत

यह कौतुक कितना विचित्र है। इसके और साधक के बीच में आवरण है भी और नहीं भी। यह उस सरोवर के समान है, जिसमें जल दिखाई दे रहा है, पर जो पीने में नहीं आता। इस कौतुक में स्वर्ग पृथ्वी पर छाया हुआ प्रतीत होता है, पर वह हाथों की पकड़ से परे है। यह अद्भुत दृश्य करतलगत होता भी प्राप्ति से बहुत दूर है। वहाँ तक पहुँचने की कठिनाइयों का वर्णन करते हुये जायसी लिखते हैं :

सो गढ देख गगन तें ऊंचा। नैनन्हं देखा कर न पहूंचा॥
चांद सुरुज और नखत तराई। तेहि डर अन्तरिख फिरहि सवाई॥
पौन जाइ तहं पहुंचै चहा। मारा तैस लोटि भुइं रहा॥
अगिनि उठी जरि बुझी नियाना। धुंआं उठा उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छुआ। बहुरा रोइ आइ भुंइ चुआ॥१९१॥ प०

स्वर्गरूपी गढ़ आकाश से भी ऊँचा है, ऊपर है। नेत्रों से यह दिखाई दे जाता है, पर हाथ वहाँ तक नहीं पहुँच पाते। इसके भय से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारकावलि सब के सब अन्तरिक्ष में घूम रहे हैं। पवन वहाँ तक पहुँचने की

अभिलाषा करता हुआ आगे बढ़ता है, पर बेचारे पर ऐसी मार पड़ती है कि लौट कर पृथ्वी पर लोटने लगता है। अग्नि भी जोर मार कर उठती है, पर अन्त में जल कर बुझ जाती है। धुआं उठता है और उठ कर बीच में ही विलीन हो जाता है। पानी उसे छूने के लिये चलता है, पर छू नहीं पाता और लौट कर रोता हुआ आँसुओं के रूप में पृथ्वी पर टपकने लगता है।

केनोपनिषद् में इसी प्रकार आत्मतत्त्व तक पहुँचने में अग्नि, वायु, जल आदि की असमर्थता का वर्णन उपलब्ध होता है। फिर भी जो साधक साधना करता हुआ निरन्तर इस पथ पर चलता रहता है, वह उसे प्राप्त कर ही लेता है। सिंहलगढ़ के वर्णन में जायसी लिखते हैं :

नवौ खंड नव पौरी, औ तहं वज्र किवार।
चारि बसेरे सों चढ़ै, सत सों उतरै पार ॥ ४१ पद्मावत

शरीररूपी गढ़ के नीचे कुण्ड है, जिसके अन्दर से एक सुरंग जाती है। इस कुण्ड में ही कुण्डलिनी शक्ति है, जो इस सुरंग के मार्ग से ऊपर चढ़ती है। यह सुरंग सुषुम्ना नाम की नाड़ी है। हठयोगियों ने मेरुदण्ड के सामने स्थित सुषुम्ना नाड़ी में मूलाधार से लेकर सहस्रार तक दस चक्रों का नाम लिया है। जायसी ने दशम चक्र या द्वार को नव खण्डों की नव पौरियों (ड्योढ़ियों) के ऊपर माना है। दशम द्वार को उपनिषद् के ऋषि ब्रह्मरन्ध्र या विदृति द्वार कहते हैं। यहीं सहस्रार चक्र है। कबीर ने इसे गगन, स्वर्ग, शून्य और बेहद नाम दिया है। आज्ञाचक्र तक इस लोक की हद या सीमा मानी जाती है। इसके आगे की अवस्था बेहद है, असीम है। इस दशम द्वार को खोलना, 'सरगदुआरी' में लगे हुये वज्र किवाड़ों को तोड़ देना सरल कार्य नहीं है। इस घाटी में एक पैर से चलना पड़ता है। जायसी ने इसे चींटी की चाल कहा है। जो साधक स्वर्ग के इस द्वार को ढूंढ लेता है, वही स्वर्गरूपी गढ़ में प्रवेश करने का अधिकारी बनता है।

प्रेमपथ : मारफत की अवस्था अहंकार के विनाश के पश्चात् साधक को ईश्वर के अनुराग में तन्मय करने वाली है। संसार की ओर से जब मन मर गया, तो वह प्रभु-प्रेम में ही आसक्त होगा। यहाँ का लगाव छूटने पर वहाँ के लिये प्रेमोदय होना स्वाभाविक है। फना के पश्चात् बका आनी ही चाहिये। ईश्वर अनुराग या इश्क मारफत के भावावेगमय रूप का ही नाम है।

'पद्मावत' में जब सुआ रत्नसेन का संदेश लेकर पद्मावती के पास पहुँचा, तो पद्मावती ने उसके सम्मुख प्रेमी की विशेषताओं का वर्णन करके रत्नसेन को अयोग्य सिद्ध करना चाहा। इस वर्णन में प्रेम-पथ की रूप-रेखा बहुत कुछ स्पष्ट हो गई है। अतः उसे हम ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत करते हैं :

कहेसि सुआ मोसौं सुनु बाता। चहौं तौ आज मिलौं जस राता॥
पै सो मरम न जाना भोरा। जानी प्रीति जो मरि कै जोरा॥
हौं जानति हौं अब हूं कांचा। ना जेइ प्रीति रंग थिर रांचा॥
ना जेइ भएउं मलयगिरि बासा। ना जेइ रवि होइ चढ़ा अकासा॥
ना जेइ भएउ भौंर कर रंगू। ना जेइ दीपक भएउ पतंगू॥
ना जेइ करा भृंग कै होई। ना जेइ आपु मरै जिउ खोई॥
ना जेइ प्रेम औटि एक भएऊ। ना जेहि हिये मांझ डर गएऊ॥

२३१ पद०

जायसी के सामने प्रेम-पथ की साधना का आदर्श यही है। पद्मावती के शब्दों में प्रेमी को सर्वप्रथम प्रियतम के मर्म, उसके रहस्य से अवगत हो जाना चाहिये। ज्ञान के उपरान्त प्रेम आता है। जिसे हम जानते ही नहीं, उससे प्रेम कैसा? प्रेम विशिष्टता-संवलित होता है। यह विशिष्टता ज्ञान द्वारा ही उपलब्ध होती है। अतः ज्ञान को हम प्रेम-साधना का प्रथम सोपान कहेंगे।

वियोगभावना :

ज्ञान ही संसार में भूले हुये साधक को प्रभु का स्मरण कराता है। उसे याद आती है कि इस दुःखपूर्ण अवस्था से पूर्व वह अपने प्रभु के साथ एक था। जहाँ धरित्री और स्वर्ग मिले हुये थे, जीव और ईश्वर संयुक्त थे, वहाँ से इन्हें किसने वियुक्त कर दिया?[1] ज्ञान की यह चिनगारी साधक को वियोगभावना से अभिभूत कर देती है। वह अधीर और व्याकुल हो उठता है। जब अज्ञान था, प्रिय के साथ एक होने का भान ही नहीं था, तब तक जैसे दिन व्यतीत हुये, हो गये। पर अब ज्ञान होने पर प्रिय के नामका ध्यान आने पर धैर्य कहाँ? वियोग की अनुभूति जीव को सब कुछ छोड़ कर प्रिय प्रभु से मिलने के लिये

१. धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन्ह बिछोऊ। २१३ पद०

अधीर कर देती है।[1] प्रभु का विरह साधक को काल से भी अधिक कठोर जान पड़ता है। विरह में तिल-तिल कर जलने की अपेक्षा वह मृत्यु के आलिंगन को श्रेयस्कर समझने लगता है। मृत्यु तो एक बार में ही प्राण लेकर चल देती है, परन्तु विरह में अनेक बार प्राणान्त पर प्राणान्त का सामना करना पड़ता है।[2] विरही अपने को सम्हाल नहीं पाता। न उसे शरीर की सुध-बुध रहती है न परिधान की। प्रिय की रट लगाते-लगाते उसका सारा मुख सूख जाता है[3]।

विरह वज्राग्नि से भी अधिक भयंकर है। अग्नि तो जल पड़ने पर शान्त हो जाती है, पर विरह सान्त्वना के जलसीकर पाकर और भी अधिक उत्तप्त होता है। जायसी के शब्दों में सूर्य इसी विरहाग्नि में जलता हुआ दिन-रात भ्रान्त रहता है। क्षण भर में वह सूर्य स्वर्ग, तो क्षण भर में ही पाताल जा पहुँचता है। धन्य है विरही जो वियोगताप को सहन करता हुआ अन्दर ही अन्दर सुलग-सुलग कर कोला होता रहता है, परन्तु अपने दुःख को बाहर प्रकट नहीं करता। उसकी वियोगाग्नि प्रिय के प्राप्त होने पर ही शान्त होती है।[4]

जायसी ने प्रभु-विरह के अनुभव करने वाले साधक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वियोग की जिस चिनगारी का नाम सुनते ही पृथ्वी और आकाश विचलित हो उठते हैं, धन्य है विरही और धन्य है उसका हृदय, जहाँ विरह की वह चिनगारी ही नहीं, उसकी समस्त ज्वाला समा जाती है।[5]

---

१. तौ कमि धीर झुना नहिं पीक। झुना त धरी रहे नहिं जीक॥ २२९ पदमा०
जिहि घटि जांण बिनांण है, तिहिं घटि आवटणां घणां॥ कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ ५१ दोहा ८

२. बिरहा कठिन काल कै कला। बिरह न सहिअ काल बरु भला॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा। बिरह काल मारे पर मारा॥ २४९ पदमा०

३. बिरह न आपु संभारै, मैल चीर सिर रूख।
पिउ पिउ करत रात दिन, पपिहा भइ मुख सूख॥ २२६ पदमावत

४. बिरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छुवै जाइ जरि सोई।
आगि बुझाइ होइ जल काढ़े। यह न बुझाइ आगि असि बाढ़े॥
बिरहकि आगि सूर नहिं टिका। रातिहुं दिवस जरा औ भिका॥
खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा। थिर न रहै तेहि आगि अपारा॥
सुलुगि सुलुगि भीतर होइ स्यामा। परगट होइ न कहा दुख नामा॥ १८० पद०

५. मोहमद चिनगी अनंग की, सुनि महि गगन डराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जेहिं सब आगि समाइ॥ २०५ पद्मावत

जैसे प्रत्येक स्थान पर ज्योतिर्मय नग उपलब्ध नहीं होते, प्रत्येक प्रकार के जल में मोती-गर्भित सीप नहीं मिलती, प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष नहीं होते, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के हृदय में प्रभु की विरह-भावना भी उत्पन्न नहीं होती[1]। विरले अध्यात्म पथ के पथिक ही इस विरह-भाव का अनुभव कर पाते हैं।

जब प्रियं निकटतम होते हुये भी दूर से दूर रहे, तब प्रेमी के विरह-संताप का पारा सहनशक्ति के चरम बिन्दु का स्पर्श करने लगता है। पुष्प में सौरभ तथा दुग्ध में घृत की भाँति वह तत्वों का तत्त्व सब में ओत-प्रोत है। वह प्यारा प्रभु इस घट को ही अपना घर बना कर रमण कर रहा है, आत्मा के अन्दर ही परमात्मा विराजमान है, देश तथा काल की किञ्चित्मात्र भी दूरी दोनों में नहीं है, परन्तु भावना की दृष्टि से परमात्मा जीव से कितनी दूर है! साधक प्रभु का सामीप्य चाहता है, और उसे वह प्राप्त नहीं हो पाता। उससे असम्पृक्त तथा दूर रखी हुई वस्तुयें उसकी वासना-भूमि के जितनी निकट हैं, उतनी ही दूर उसे अपना प्रिय प्रभु प्रतीत होता है। यह दूरी किस दिन दूर होगी? कभी होगी भी या नहीं, यही तो साधक के संताप का विषय है। साधक की यह स्थिति अतीव क्लेशकारिणी है। इस दशा में प्रेमी साधक जैसे अग्नि के कौर खाकर जीवन धारण कर रहा हो[2]।

प्रेम का महत्त्व : प्रेम-पथ में ज्ञान के साथ श्रद्धा मिली रहती है। श्रद्धा ही अन्त में प्रेमा भक्ति में परिणत हो जाती है। जायसी का साधना-पथ प्रभु-प्रेम का पथ है। यह पथ कठिन है। जो इस पथ पर चलता है, उसे अपना शिर समर्पित कर देना पड़ता है। प्रिय के साथ यह प्रेम मर कर जोड़ा जाता है[3]। प्रेम के महत्त्व को स्वीकार करते हुये जायसी लिखते हैं :

भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइ खेला॥
दुख भीतर जो पेम मधु राखा। जग नहिं मरन सहै जो चाखा॥

---

१. थल थल नग न होइ जेहि जोती। जल जल सीप न उपनैं मोती॥
बन बन बिरिख चदन नहिं होई। तन तन बिरह न उपनै सोई॥ १११ पद०

२. फूल बास घिउ छीर जिमि, नियर मिले एक ठांइ।
तस कन्ता घट घर कै, जियकं अगिनि कहं खाइ॥ ६५४ पद्मावत

३. पेम सुनत मन भूलि न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा॥ ९७ पद्मावत
७५, ७६ भ० वि०

जो नहिं सीस पेम पंथ लावा । सो पृथिमी महं काहेक आवा ॥ ९८ पद्मा०

पृथ्वी पर जन्म लेकर जिसने प्रेम-पथ को स्वीकार नहीं किया, उसका जीवन ही व्यर्थ है । विश्व निस्संदेह दुःखाक्रान्त है, पर इस दुख में यदि कहीं सुख की छाया है, तो वह प्रेमरूपी मधु के अन्तर्गत है । जिसने इस मधु को चख लिया, वह संसार के मरण-चक्र में पड़ने से बच गया ।

जो एक बार प्रेम के रंग में रँग गया, उसे फिर न भूख लगती है, न नींद आती है । विश्राम का तो उसे पता ही नहीं :

जेहि के हिये पेम रंग जामा । का तेहि भूख, नींद, बिसरामा ॥ १३९ पद्मा०

प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों के सामने सांसारिक विघ्न-बाधायें अत्यन्त तुच्छ जान पड़ती हैं :

औ जेइ समुद पेम कर देखा । तेइ एहि समुद बूंद करि लेखा ॥ १४२ पद्मा०

प्रेम-पथ पर पथिक अपने प्राणों को हथेली पर रख कर चलता है और समझ लेता है कि फाँसी की रस्सी उसके गले में ही झूल रही है :

मैं गिउ फाँद ओहि दिन मेला। जेहि दिन पेम पंथ होइ खेला ॥ २४४ प०

जायसी ने प्रेम-मार्ग के प्रवीण पथिकों के रूप में गोपीचन्द, भर्तृहरि और गोपिकाओं का नाम अनेक बार लिया है । अर्द्धचेतन जगत् के पक्षी, मयूर, तीतर, कौड़िया, सारस, चकोर, चातक आदि के प्रेम की भी उन्होंने प्रभूत प्रशंसा की है ।

सत्य प्रेम के आगे अग्नि भी अग्नि नहीं रहती । उसकी दाहकता चन्दन की शीतलता में परिवर्तित हो जाती है[1] । प्रेम की अग्नि में जलने वाले की व्यथा व्यर्थ नहीं जाती; कभी न कभी सुफल लाती ही है[2] । प्रेम में यदि वियोग की वेदना है, तो आनन्द भी है । मधु और अमृत प्रेम के घर में ही निवास करते हैं[3] ।

प्रिय और प्रेमी दोनों के बीच यदि कोई अन्तर रहता है, तो प्रेम उस अंतर को दूर कर देता है[4] । सूर के शब्दों में 'एक प्राण द्वै देह री' दो शरीरों

---

१. सती जो जरै पेम पिय लागी । जौ सत हियें तौ सीतल आगी ॥ १७३ प०

२. जेहि जियँ पेम चन्दन तेहि आगी ॥
पेम की आगि जरै जो कोई । ताकर दुख न अबिरथा होई ॥ १५२ पद्मावत

३. पेमहिं मांह बिरह औ रसा । मैन के घर मधु अंब्रित बसा ॥ १६६ पद्मा०

४. ओहि एहि बीच कि पेमहिं पूजा । तन मन एक कि मारग दूजा । २०९ प०

के अन्दर एक ही प्राण निवास करने लगता है। यही नहीं, जायसी ने तो प्रेम के द्वारा प्रेमी के प्राण को प्रिय के शरीर में ही प्रविष्ट करा दिया है :

रूप तुम्हार जीउ कै, पिंड कमावा फेरि।
आपु हिराय रहा, तेहि काल न पावै हेरि ॥ २५६ पद्मावत

प्रेमी प्रिय के शरीर में अपने प्राणों को प्रविष्ट करके जैसे खो गया हो। और जिसने अपने आप को खो दिया, उसे मृत्यु कैसे खोज सकती है ? यह है प्रेमी का अभिनव अवतार।

सुन्दर और कुरूप की परिभाषा करते हुये जायसी प्रेम को कितना ऊँचा उठा देते हैं :

लौनि बिलौनि तहाँ को कहै। लौनी सोई कंत जेहि चहै ॥ ८४ प०

जिसको प्रियतम का प्रेम प्राप्त है, वही सुन्दर है और जिसे प्रिय प्रभु नहीं चाहते, वह कंचनकाय होते हुये भी कुरूप है। धन्य है प्रेम का मंगलमार्ग, जो कुरूप को भी सुरूप कर देता है। पर इस प्रेम में व्यभिचार, विकल्प या विचिकित्सा नहीं होनी चाहिये। यदि प्रेम में अस्थिरता है, क्षणिकता है, तो वह प्रेम साधक के किसी काम का नहीं। प्रेम का रंग स्थिर होना चाहिये[1]। स्थिरता एक निष्ठा की द्योतक है। प्रेम को इसी से अविचल तथा दृढ स्वरूप प्राप्त होता है। जो आज एक से प्रेम करता है और कल उसे छोड़ कर दूसरे से प्रेम करने लगता है, वह वार-वनिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधना तो संयम से होती है। एकनिष्ठा और दृढ़ता का होना उसके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

प्रेम के साथ साधना में एक विशेष प्रकार का सौरभ या आकर्षण आ जाता है। इस सौरभ को जायसी मलयगिरि का सौरभ कहते हैं। मलयगिरि

---

१. ना जेहि प्रीति रंग थिर रांचा ॥ २३१ पद्मावत

राम नाम रंग लागो, कुरंग न होई। हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥
और सबै रग इहि रग थैं छूटै। हरि रंग लागा कदे न खूटै ॥
कहै कबीर मेरे रंग राम राई। और पतंग रंग उडि जाई ॥
कबीर ग्रन्थावली, पद २२५ पृष्ठ १६१

स्याम रग रांची ब्रजनारी। और रंग सब दीने डारी ॥
कुसुम रंग गुरुजन पितुमाता। हरितरंग मैनी अरु भ्राता ॥
दिना चारि में सब मिटि जैहैं। स्याम रंग अजरायत रैहैं ॥ सूरसागर २५३०

पर उत्पन्न चन्दन की सुवास इतनी तीव्र और प्रभावोत्पादक होती है कि वह मलयाचल पर स्थित कंकोल, कुटज तथा कडुवे नीम तक को चंदन जैसा ही सुवासित बना देती है[1]। नीम, कंकोल आदि की कड़वाहट चन्दन पर अपना असर नहीं करती, प्रत्युत चन्दन की सुगन्ध इन्हें अपने रंग में रंग लेती है। इसी प्रकार साधक को अपने वातावरण में आने वाले सामान्य व्यक्तियों से प्रभावित नहीं होना चाहिये, वरन् अपने सदाचार के सौरभ से उन्हें सुवासित कर देना चाहिये।

इस अवस्था की प्राप्ति के लिये साधक को निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता है। उसे अपने पथ पर फूंक-फूंक कर पैर रखना चाहिये। उसे प्रकाशमान सूर्य बन कर आकाश में चढ़ना है। हठयोग की प्रक्रिया में कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर शिर या आकाश की ओर चलती है। इस उमा को पर्वत (मेरुदण्ड में स्थित सुषुम्ना नाड़ी) पर चढ़ कर महादेव की प्राप्ति के लिये तप करना ही पड़ता है। साधक को इसी प्रकार अपनी साधना सतत जागरूक रह कर करनी पड़ती है। थोड़ा सा स्खलन भी उसे गिराने के लिये पर्याप्त होता है अतः जायसी ने साधक के प्रयत्न को सूर्य का आसमान पर चढ़ना कहा है।

प्रयत्न करते हुये साधक के मार्ग में विघ्नों का आना स्वाभाविक है। इन विघ्नों, बाधाओं तथा आपत्तियों की साधक को चिन्ता न करनी चाहिये। इनका साम्मुख्य करते हुये, इन्हें कुचलते हुये, उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचना है। जैसे भौंरा गुलाब या केतकी के काँटों की परवा नहीं करता[2], वैसे ही प्रेम-पथ के पथिक को विघ्नों की ओर अपना ध्यान नहीं ले जाना है। भौंरा काला होता है और काले रंग के लिये कहा गया है कि उस पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता, इसी प्रकार साधक के ऊपर विघ्न-बाधाओं का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। उसे भौंरों की भाँति कष्ट-कंटकों से निरपेक्ष हो जाना चाहिये।

विघ्न-बाधाओं की ओर से निरपेक्ष होकर प्रेमी को अपने पथ पर अग्रगामी होना है। लक्ष्य-प्राप्ति के लिये उसे अपना सर्वस्व वैसे ही आहुत कर देना है, जैसे पतिंगा दीपक पर आहुत हो जाता है। बलिदान और त्याग की यह भावना प्रेमी साधक की सर्वोत्तम श्री है। यही उसका भूषण है। अपने उद्देश्य

१. कंकोलनिम्बकुटजाः अपि चन्दनाः स्युः। (संस्कृत की एक सूक्ति)
२. भौंर न देख केत कर काँटा॥ २३४ पद्मावत

के लिये आहुत होना, बलि चढ़ जाना, मर जाना आगामी निर्माण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अपने बलिदान द्वारा ही हम मृत्यु का भयंकर सागर पार कर सकते हैं, जिसके पश्चात् आता है अमरत्व का महा मूल्यवान् निर्माण।

बलिदान के साथ जायसी ने भृंग की कला, भृंग की भाँति भिनभिनाते हुये पतंगे को अपना जैसा बना लेने पर भी बल दिया है। गुरु के प्रसंग में उन्होंने इस कला का विशेष रूप से उल्लेख किया है। सूफी सम्प्रदाय में गुरु-भक्ति को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी समझा गया है। शिष्य में प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न कर देना गुरु का ही काम है। जायसी ने लिखा है :

आइ पेम रस कहा संदेसा। गोरख मिला मिला उपदेसा॥
सबद एक उन कहा अकेला। गुरु जस भिंग फनिग जस चेला॥
भिंगी ओहि पांख पै लेई। एकहि बार छीनि जिउ देई॥ १८२ पद्मा०

यह है भृंगी रूपी गुरु, जो पतंगे रूपी साधक के पुराने स्वरूप को ध्वस्त कर उसे नवीन रूप, अपना रूप, प्रदान कर देता है। इस प्रकार के ध्वंस या मरण की आकांक्षा कौन नहीं करेगा, जो अपने उपरान्त अमरत्व दान देकर सर्वदा के लिये साधक को जीवित कर देता है? निर्माण के लिये ध्वंस का, जीवन के लिये मृत्यु का और अमरत्व के लिये मरण का वरण करना साधारण लोक के लिये अलौकिक बात है। निन्यानवे के चक्र में ग्रसित व्यक्ति को यह उलटी बात प्रतीत होगी। जायसी भी इस पथ को संसार से विपरीत पथ कहते हैं :

उलटा पंथ पेम के बारा। चढ़ै सरग जो परै पतारा। २२९ पद्मावत

प्रेम का पथ ऐसा ही है। यह पथ संसारी पथ से एकदम भिन्न है। इसकी दिशा उस लोकपथ से उलटी है। इस पथ में स्वर्ग तक चढ़ने के लिये प्रथम पाताल में प्रवेश करना पड़ता है। स्वर्गीय दिव्यता पार्थिवता को बिना समाप्त किये प्राप्त नहीं होती। प्रेमपथ का पथिक अपने पार्थिव अंश का ध्वंस प्रसन्नता-पूर्वक करता है। जायसी लिखते हैं :

जाकर जीउ मरै पर बसा। सूरी देखि सो कस नहिं हँसा। २६१ पद्मावत

जो मरने के उपरान्त अमर होता है, वह फाँसी पर चढ़ते हुये क्यों न हँसेगा? जायसी के शब्दों में प्रेम ही मनुष्य को स्वर्ग का अमर देवता बनाने वाला है, अन्यथा मुट्ठी भर धूल के अतिरिक्त उसका अस्तित्व और है ही क्या[1]!

---

१. मानुस पेम भएउ बैकुन्ठी। नाहिं त काह छार भर मूठी॥ १६६ पद्मावत

वज्द तथा वस्ल : ईश्वरअनुराग की तीव्रता साधक को स्वभावतः वज्द, उन्माद या समाधि की अवस्था तक ले जाती है।[1] इस अवस्था में तन्मयता, अनन्यता, प्रेमी का प्रिय के प्रेम पारावार में आकंठ मग्न हो जाना, उसके ध्यान में तद्रूप हो जाना अपने आप आ जाता है। जायसी इसे प्रेम में औट कर, पग कर एक हो जाना कहते हैं। इस अवस्था में प्रेमी के सामने प्रिय के अतिरिक्त और कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता—स्वयं उसकी अपनी सत्ता भी नहीं रह जाती। इसी को वस्ल अर्थात् सत्यस्वरूप प्रभु की उपलब्धि कहते हैं।

तीन पड़ाव : साधना के पथ में साधक सर्वप्रथम अपने प्रिय का ज्ञान प्राप्त करता है। यह इस पथ का प्रथम पड़ाव है। इस अवस्था में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों पृथक्-पृथक् हैं। ज्ञेय का वैभव, उसका आकर्षण एवं महत्व ज्ञाता के सामने प्रति पल विद्यमान हैं। वह अपनी हीनता और ज्ञेय की प्रबलता बराबर अनुभव करता रहता है। धीरे-धीरे साधनापथ पर चलता हुआ साधक ज्ञेय से प्रेम करने लगता है। प्रेम की प्राथमिक अवस्था में भय सहित सेवा की भावना प्रमुख रहती है। प्रभु अपना है, ऐसा समझ कर प्रेमी गर्व नहीं करता। प्रिय के प्रेम को प्राप्त करने के लिये वह सतत संकोची तथा विनम्र बना हुआ उसकी सेवा में निरत रहता है।[2] इस प्रकार प्रेमी उपासक अपने प्रिय उपास्य की उपासना में उसके उप, समीप, आसन जमा कर, बैठ कर प्रथम पड़ाव वाली दूरी को दूर कर देना चाहता है। साधक अपने साध्य की, भक्त अपने भगवान् की सेवा में लगा हुआ उसके साथ स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र अथवा पति-पत्नी जैसे सम्बन्ध का अनुभव करने लगता है। वह श्रुति के शब्दों में 'त्वमस्माकं तव स्मसि' का रूप धारण कर लेता है। वह समझता है, भगवान् उसके हैं और वह भगवान् का है। यह साधनापथ का दूसरा पड़ाव है। इस पड़ाव में दूरी

---

१. पेम पथ दिन घड़ी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥
जेहि तन पेम कहा तेहि मांसू। कया न रक्त न नयनन्हि आंसू॥ १२७ पद्मा०

२. ऐसें गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पियारी सोई॥ ८९प०
ताकहं बिलंबु न कीजै बारी। जो पिय आयसु सोइ पियारी॥ २०१ पद्मा०
सोइ पियारी पियहि पिरीती। रहै जो सेवा आयसु जीती॥ ३८१ पद्मावत

कम हो गई, पर वह अभी अपना अस्तित्व रखती अवश्य है। साधना के अन्तिम पड़ाव में यह दूरी एकदम दूर हो जाती है। उस समय भक्त भगवान् में, साधक साध्य में तन्मय हो जाता है और अपने अस्तित्व को प्रभु के अस्तित्व में लीन कर देता है। अपनी एकान्त विस्मृति और प्रिय की सतत स्मृति उसकी संगिनी बन जाती है। दीपक की बत्ती जैसे अग्नि की लौ के साथ एक हो जाती है, उसी प्रकार साधक साधना करते हुये, इस तीसरे पड़ाव में अपने साध्य या लक्ष्य में लीन हो जाता है। द्वितीय पड़ाव वाले सम्बन्ध का अनुभव दूर होकर साधक के समक्ष केवल सम्बन्धी रह जाता है। साधक का अपना रूप साध्य का रूप बन जाता है अथवा साधक और साध्य दोनों मिल कर एक हो जाते हैं।

अब भय कहाँ, शोक कहाँ, मोह कहाँ? जायसी इस अन्तिम अवस्था का 'जेहिं हिये मांझ डर गयऊ' कह कर वर्णन करते हैं। उपनिषद् कहती है: 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' भय तो दूसरे से होता है। जब प्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई रहा ही नहीं, तो भय कैसा? यह है निर्भयता की भूमिका, अद्वैत की अवस्था, भूमा का स्वरूप जिसके लिये श्रुति कहती है:

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहःकः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ यजु० ४०।७

जायसी ने इस साधनापथ को अपनी वृहत् अन्योक्ति के कथानक मे संघटित करने का प्रयत्न किया है। पद्मावत में जिस चित्तौड़ का वर्णन है, वह यह शरीर ही है। राजा रत्नसेन मन है, सिंहलगढ़ हृदय है, पद्मावती बुद्धि है, सुआ गुरु है, नागमती संसार का प्रपञ्च है, अलाउद्दीन माया है और राघव चेतन शैतान है। पर सामान्यरूप से कथानक में राजा रत्नसेन साधक के रूप में है। गुरु रूपी सुआ से पद्मावती का वर्णन सुन कर साधक रत्नसेन उसकी छवि पर मुग्ध हो जाता है। यह गुरु द्वारा साधक को प्रदत्त प्रभु का ज्ञान है। इसी ज्ञान से वह पद्मावती की ओर आकर्षित होता है। यही वह चिनगारी है जिसे सुलगा कर रत्नसेन ने प्रज्वलित ज्योतिरूपी पद्मावती के दर्शन किये। पद्मावती की छवि की झलक पाकर ही रत्नसेन उसके प्रेम में योगी बना था। उसके प्रेम की परिपक्वता और स्थिरता पार्वती के सामने प्रकट होती है, जब वह कहता है: 'भलेहि रंग अछरी तोर

राता। मोहि दूसरे सों भाव न बाता।' २१० पद्मावती। प्रेम की इस अविचलित, अनन्य अवस्था का मूल्य कितना अधिक है, इसे रत्नसेन के शब्दों में ही सुनिये।

'भर्वाहिं साहि जीउ देइ न पावा। तोहि असि मछुरी ठाढि मनावा॥
जो जीउ देहहीं ओहि के आसा। न जनौं काह होइ कैलासा॥ २१० प०

यह है स्थिर प्रेम का महत्त्व। यह प्रेम स्वर्ग में स्थित इन्द्र के सिंहासन तक को डिगमिगा सकता है। जायसी ने कथानक की योजना 'पद्मावत' में इस प्रकार की है कि कहीं-कहीं पद्मावती भी साधक या भक्त का रूप धारण कर लेती है। रत्नसेन जब दिल्ली में बन्दी हो गये, तो पद्मावती का रुदन, वियोग-व्यथा का वर्णन, दिल्ली जाने और रत्नसेन को छुड़ाने का प्रयत्न आदि सभी बातें उसकी साधना में आने वाली कठिनाइयों को सूचित करती हैं। रत्नसेन की प्राप्ति उसकी सिद्धि की सूचक है, पर यह सब संयोजन आर्य आदर्शों के उद्घाटन-प्रयत्न में अपने आप सम्पन्न हो गया है। जायसी को इसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

साधन-पथ के विघ्न: 'पद्मावत' की वस्तु-योजना का पूर्वार्द्ध प्रायः सब का सब कल्पित है और उसमें साधन-पथ में आने वाले विघ्न तथा उनके उपरान्त आने वाली स्थितियों का एक विश्लेषण-क्रम स्पष्ट दिखाई देता है। अध्यात्म की अद्भुत झलक तो कवि बराबर देता गया है। सप्त समुद्रवर्णन में खारसमुद्र की लहरों के साथ नौकाओं का उत्थान और पतन उस सांसारिकता का द्योतक है, जिसमें पड़ा हुआ साधक कभी अपने लक्ष्य की ओर देखता है और ऊँचा उठता है, पर पुनः वासनाओं के थपेड़े खाकर नीचे गिर पड़ता है। क्षीरसमुद्र विश्व में भव्यरूप से फैली हुई लक्ष्मी की माया की ओर निर्देश करता है। साधक का मन इसे देखते ही चंचल हो उठता है। द्रव्य और भोग की लालसा उसे घेर लेती है तथा योगमार्ग से भ्रष्ट कर देती है। साधक साधना-पथ से पराङ्मुख हो इस घातक शत्रु के चंगुल में फँस जाता है और अपनी समस्त अर्जित साधन-सम्पत्ति से हाथ धो बैठता है। यदि साधक इसकी चपेट में आने से बच गया, तो आगे दधिसमुद्र की दाहक विषमता अपने समग्र मोह-दल को लेकर उसके आगे खड़ी हो जाती है। इस मोह में अपार जलन है। इसमें

मलयज शीतलता और विपाक्त दाहकता दोनों एक साथ कार्य करती हैं। दधि और उदधि समुद्रों की आग्नेय भयंकरता साधना-पथ की विरह-व्याकुलता, पश्चात्ताप आदि भावनाओं को प्रकट करती है। सुरा-समुद्र क्षणिक सिद्धियों की मादकता के साथ आत्मविस्मृति और प्रेम के नशे का द्योतक है। किलकिला समुद्र की मध्य धार में पहुँच कर 'कोई काहू न सँभारे, आपुन आपुन होइ' वाले दृश्य का उपस्थित होना साधना पथ के विघ्नों और विपत्तियों की पराकाष्ठा सूचित करता है। इसकी भयावह हिलोरें बड़े से बड़े धैर्यधारी साधकों के भी छक्के छुड़ा देती हैं। मृत्यु और जीवन, निराशा और आशा के इस प्रलयंकर मध्यबिन्दु पर झूलता हुआ प्राणी एक बार तो हताश हो ही जाता है, पर जो इसे पार कर गया, वह सबको निगल जाने वाले काल के कराल गाल में जाने से बच जाता है। साधक इन समस्त कष्टों को झेलता हुआ जो आगे बढ़ता रहता है, उसका कारण प्रिय की वह बाँकी झाँकी है, जिसकी एक क्षणिक झलक वह गुरु-कृपा से प्राप्त कर चुका है। वह झलक उसके कमलरूपी नेत्रों में भ्रमररूपी पुतली बन कर बैठ जाती है और ऐसी विद्ध हो जाती है कि फिर निकाले नहीं निकलती।[1] इसी छवि की झलक के सहारे साधक अपनी यात्रा में अग्रसर होता है और मार्गापन्न कष्टों की विभीषिकाओं से शंकित, चिन्तित एवं विचलित नहीं होता। दुख की चरम सीमा के पश्चात् वास्तविक सिद्धि के पूर्व की वह प्रशान्त अवस्था साधक के समक्ष उपस्थित होती है, जो मानसर समुद्र के वर्णन में प्रकट हुई है।[2]

जायसी ने वाम तथा दक्षिण दो मार्गों का उल्लेख किया है, जो उपनिषद्-प्रतिपादित प्रेय तथा श्रेय दो सृतियों की याद दिलाते हैं। जो योगी अंगी

---

१. कमल नयन होइ भंवर बईठा। रहा बेधि उड़ि सकेसि न लोभी। ११४ पद्मा०

२. दहिने संख न सिंगी पूरे। बाएँ पूरिं बादि दिन झूरे।

तेलि बैल जस बाएँ फिरै। परा भौर महँ सौंह न तिरै।

तुरी औ नाव दाहिन रथ हांका। बाए फिरै कोहार क चाका।

दहिनें फिरै सो अस उजियारा। जस जग चांद सुरज औ तारा।

मुहमद बाईं दिसि तजा एक सरवन एक आँखि।

जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाखि॥ ३६७ पद्मावत

तथा शंख को दाहिनी ओर से न बजा कर बायीं ओर से बजाते हैं, वे योग साधना में सफल नहीं होते। वे व्यर्थ में ही अपने जीवन के दिन पूरे कर रहे हैं। तेली का बैल वाम पार्श्व से चलता है, तो भँवर चक्र में ही पड़ा रहता है। वह सामने होकर पार नहीं जा सकता। कुम्भकार के चक्र की चाल भी वाम है। वाम पथ निकृष्ट है, तमोमय है और अकीर्तिकर है। घोड़ा, नाव और रथ दक्षिण की ओर से चलते हैं और प्रशंसापात्र बनते हैं। जो दक्षिण मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की भाँति उज्ज्वल बनते हैं। जायसी कहते हैं, जब से मैंने वाम पक्ष के श्रवण तथा नेत्र का परित्याग किया है अर्थात् बाईं ओर से न मैंने सुना है न देखा है, तब से दक्षिण मार्ग का आश्रय लेकर पपीहे की भाँति मैं अपने प्रिय के स्मरण में लगा रहता हूँ।

जो साधक वाम मार्ग को पहिचान कर उसका परित्याग कर देते हैं और दक्षिण पथ से चलते हैं, वे ही आत्मतत्त्व का साक्षात् कर सकते हैं।[1]

साधनापथ में साधक का सब से बड़ा शत्रु गर्व अथवा अहंकार है। गर्व से फूला हुआ, अहंकार से अपने को ही सब कुछ समझने वाला व्यक्ति अभागा है। वह अध्यात्म यात्रा के सर्वथा अयोग्य है। वह दिन-रात होली के समान दम्भ में दग्ध होता रहता है।[2] अहंता उसे प्रभु से विमुख कर देती है। वह ईश्वर का सखा नहीं, शत्रु बन जाता है।[3] प्रियतम की प्राप्ति का प्रमाण अहं का बलिदान है। रत्नसेन का सिंहलगढ़ पर चढ़ना, चोर की तरह पकड़ा जाना, फिर शूली पर चढ़ने का दृश्य—सभी बातें उसकी बलिदानी भावना को अभिव्यक्त करती है। सम्पूर्ण समर्पण का भाव, अहंकार का एकान्त तिरोभाव सुआ के उन शब्दों में प्रकट होता है, जो उसने रत्नसेन के सम्बन्ध में पद्मावती को सुनाये थे:

'तुम ओहिके घट वह तुम्हं माहां। काल कहां पावै वह छाहां॥

२५८ पद्मावत

जिसने अपने आपको मिटा दिया, जो परकाया में प्रवेश कर गया, जिसने अपनी सत्ता को प्रभु की सत्ता में विलीन कर दिया, उसे काल कैसे

---

१. दाहिन बाम बूझि कै होइरहु तौ आपुहि पहिचानेउ रे॥ १२ महरीबा०

२. औ जो रहे गरब कै गोरी। चढ़ै दुहाग बरै जस होरी॥ २२ अखरावट

३. गरब करै जौ हौं हौं करई। बैरी सोइ गोसाइ क अहई॥ १९ अखरावट

प्राप्त कर सकता है? वह तो अकाल, अलख, अविनश्वर बन गया। अहं के इस बलिदान के पश्चात् रत्नसेन का पद्मावती के साथ जो विवाह होता है, वह अध्यात्मपथ में जीव का ईश्वर के साथ एक हो जाना है, जिसकी सिद्धि दोनों के मध्य अन्तर डालने वाले अपने आपे को खोकर ही होती है।[?]

साधक को अपनी यात्रा में एक मार्गप्रदर्शक गुरु की आवश्यकता पड़ती है। अनेक साधक इस यात्रा में कुछ दूर चलकर, अपरिपक्व अवस्था में ही, स्वयं गुरु बनने के फेर में पड़ जाते हैं। अपनी यात्रा का विस्मरण करके जो साधक कतिपय सिद्धियों के पाश में जकड़ कर अपने को कृतार्थ समझने लगते है और गुरुडम के चक्र में पड़ कर शिष्य बनाने लगते हैं, वे अपने गन्तव्य स्थल पर कदापि नहीं पहुँच सकते। जायसी लिखते हैं :

'जब लगि गुरु हौं अहा, न चीन्हा।
कोटि अंतरपट बीचहि दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई।
तन मन जिउ जीवन सब सोई॥
हौं हौं करत धोख इतराहीं।
जब भा सिद्ध कहां परछाहीं॥' २४५ पद्मावत

गुरुडम का भाव, अपने आप को सिद्ध समझने का भ्रम, अपने अस्तित्व का बढ़ा-चढ़ा कर मूल्य आंकना अहंकार से उत्पन्न होता है। जैसा लिख चुके हैं, अहंकार साधक का प्रबल परितापी शत्रु है। जब तक यह उपस्थित है, साधक संसार में उलझा रहेगा और उसका लक्ष्य आँखों से ओझल हो जायेगा। अहंकार को शमन करना ही पड़ेगा, तभी साधक अपनी पृथक् प्रतीत होती हुई सत्ता को मार कर अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकता है।

वास्तव में आत्मा के ऊपर जितने परदे पड़े हैं, स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों के रूप में जितना भार उसके ऊपर लदा है, आलस्य, द्वेष, राग, तृष्णा, वासनापुञ्ज आदि के जिन घेरों में वह घिरा है, उन सब से उसे मुक्ति प्राप्त करनी है। साधनापथ में यही सब विघ्न बन कर खड़े हो जाते है। द्वेष उसे जलाता है, तृष्णा तथा राग उसके पैरों में बेड़ी डाल देते हैं और उसे अध्यात्मपथ पर आगे नहीं बढ़ने देते, वासनापुञ्ज पीछे की ओर

४. माँसु तें आपुहि खोइ. मुहमद एकै होइ रहु॥ १५, अखरावट

घसीटता है—बेचारा साधक इन सब के बोझ से दबा हुआ मार्ग में डिग-मिगाने लगता है। पग-पग पर उसे आपदायें खड़ी दीखती हैं। अपने बल-बूते पर यात्रा की सम्पूर्णता उसे अशक्य जान पड़ती है। वह सकरुण दृष्टि से किसी सहायक को पुकार उठता है, जिसकी कृपा और अवलम्ब उसे पार लगा सकें। जायसी ने अपनी रचनाओं में ऐसे तीन सहायकों का नाम लिया है।

तीन सहायक

(१) गुरु-कृपा : ऊपर जिन विघ्नों का वर्णन किया गया है, वे सूर्यरूपी आत्मा पर लगे हुये ग्रहण के समान हैं। इस ग्रहण से सर्वप्रथम मोक्ष दिलाने वाला गुरु है। गुरु की कृपा से साधन-सम्बल-विहीन साधारण सत्संगी जन भी उच्चकोटि के संत होते देखे गये हैं। जायसी लिखते हैं :

'दया-दाया जाकहं गुरु करई। सो सिख पंथ समुझि पग धरई ॥
सात खंड औ चारि निसेनी। अगम चढ़ाव पंथ तिरबेनी ॥
तौ वह चढ़ै जौ गुरू चढ़ावै। पांव न डगै अधिक बल पावै ॥
जो बरु सकति भगति भा चेला। होइ खेलार खेल बहु खेला ॥' २४ अख०

गुरु की दया से शिष्य मार्ग को समझ कर आगे पैर रखता है। उसे 'सतखंडा महल' पर चार सोपानों से होकर चढ़ना पड़ता है। यह चढ़ाई बड़ी कठिन है। इसके बीच में प्रवाहित त्रिवेणी की धारा तो और भी अधिक दुस्तर है। पर, यदि गुरु की कृपा साथ है, तो साधक इस दुर्धर्ष चढ़ाई पर चढ़ता चला जाता है। न उसके पैर डिगमिगाते हैं और न उसे निर्बलता का आभास होता है। जो साधक इस प्रकार गुरुकृपा की शक्ति पाकर भक्ति-भाव-पूर्वक गुरु के चरणों में अपने को समर्पित कर देता है, वही साधना-रंगभूमि का सच्चा खिलाड़ी है। जो अपने बल-बूते पर चढ़ कर, गुरु की कृपा के बिना, सात खण्डों का उल्लंघन करना चाहता है, वह अपने पैर तोड़ कर नीचे गिर पड़ता है। गुरु के बिना जब पथ ही दिखाई नहीं देता, तो वह साधक जो गुरु को मिटाता है, कितनी बड़ी भूल करता है।[1]

---

१. बिनु गुरु पंथ न पाइअ, भूलै सोइ जो मेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सौं भेंट ॥ २१२ पद्मावत

'नव रस गुरु पहं भीज, गुरु परसाद सो पिउ मिले।
जामि उठै सो बीज, मुहमद सोई सहस बुंद ॥' ४९ अखरावट

गुरु सर्वप्रथम साधक के हृदय-क्षेत्र में प्रभु-मिलन की आकांक्षा का बीज डाल देता है। यह अन्तर्निहित बीज गुरु के प्रसाद रूपी नवरसों से भींग कर जमता और अंकुरित तथा पल्लवित होता हुआ प्रिय-मिलन रूपी सुफल प्रदान करता है।

'गुरु जो पढाइउं नाव चढाइउं तीर घाट में पाइउं रे।' १९, महरीबाईसी
गुरु शिक्षा देते हैं और अपनी कृपारूपी नाव पर चढ़ा कर शिष्य को किनारे लगा देते हैं। गुरु की कृपा से शिष्य का कायाकल्प हो जाता है। इस नूतन निर्माण में वह अमरता का अनुभव करने लगता है।[1]

(२) रसूल की दया: आखिरी कलाम, दोहा खण्ड २४ में जिबराइल हजरत मुहम्मद को उठाते हैं और कहते हैं कि वे अपने अनुयायियों के साथ चलकर ईश्वर के दरबार में जुहार करें। जायसी लिखते हैं:

'एतने वचन जबहिं मुख काढे। सुनत रसूल भये उठि ठाढे ॥
जहं लगि जीउ मोख सब पाये। अपने अपने पिंजरे आये ॥'

जिबरायल के वचनों को सुनकर रसूल खड़े हो गये और उनकी कृपा से उनका नाम लेने वाले सब जीव मुक्त हो गये। इसी ग्रन्थ के दोहा खण्ड ४४ में जायसी पुनः लिखते हैं:

'झूठे सबहि आप पुनि सांचे। सबहिं नबी के पाछे बांचे ॥'

सब झूठे हैं, एक रसूल ही सच्चे हैं। इन्हीं सत्य रूप नबी अर्थात् रसूल के पीछे उनके सब झूठे अनुयायी भी त्राण पा गये और बिहिश्त के भोगों को भोगने के अधिकारी बने।[2]

'पद्मावत', दोहा खण्ड ११ में भी जायसी ने कयामत के दिन हजरत मुहम्मद की कृपा से जीवों के मुक्त होने का वर्णन किया है। हजरत मुहम्मद ईश्वर के रसूल हैं, दूत हैं। उनका नाम लेने से मनुष्य भवसागर से पार होता है, ऐसा जायसी का अभिमत है। वे यह भी लिखते हैं कि जो प्राणी जन्म-

१. अ.कई गुरू करै अति माया। नव अवतार देइ नई काया। १८२ पद्मावत
२. सदा अनंद मुहम्मद सब सुख मानै भोग ॥ ६० आखिरी कलाम

पर्यन्त हजरत मुहम्मद का नाम लेने से वञ्चित रहता है, उसे नरक में स्थान मिलता है। वैष्णव सम्प्रदाय में भी इसी प्रकार की मान्यता प्रचलित है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ९, ३०, ३२

दुराचारी व्यक्ति भी श्रीकृष्ण की सेवा में आकर साधु बन जाता है तथा पापयोनि वाले अधम व्यक्ति भी श्रीकृष्ण के आश्रय से परमगति को प्राप्त होते हैं। ऐसी उक्तियाँ, सम्भवतः, भक्तिभाव की महत्ता प्रकट करने के लिये कही जाती हैं।

(३) प्रभु की कृपा : जैसे प्रिय के रोष से चन्द्रमा के समान निर्मल पद्मी ग्रहण-ग्रसित तथा कालिमावृत हो जाती है, वैसे ही प्रभु की रोषाग्नि में दग्ध होकर प्राणी संसार के मरुस्थल में भूख-प्यास से व्याकुल होकर भटकता फिरता है। प्रभु यदि रूठ गये, तो जीव को सुख के लिये कहीं भी स्थान नहीं मिलता[1]। पर, यदि मानव प्रभु की आज्ञा में रहता है, उसके कोप से भयभीत होकर पाप-पथ पर पैर नहीं रखता, तो वह प्रभु का प्यारा बन जाता है। प्रभु एक के नहीं, सब के हैं। रानी और चेरी का उनकी दृष्टि में भेद नहीं है, परन्तु भला वही है, जिस पर उनकी कृपा होती है[2]।

प्रभु ही साधक का सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है। उसके अतिरिक्त निराश व्यक्ति के लिये आशा का सच्चा आधार और है ही कौन? चित्तौड़ का ब्राह्मण व्यापारी, सिंहल की हाट से खाली हाथ चल कर जब पश्चाताप करने लगा, तो वह अपनी क्लान्त एवं चिन्तनीय दशा में इस प्रकार प्रभु से याचना करता है :

'साथ चला, सत बिचला, भये बिच समुद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं, तूं बिधि देहि अधार'॥ ७५ पद्मावत

जब प्रार्थना सच्चे दिल से निकलती है, तो प्रभु अवश्य कृपा करते हैं। याचक ब्राह्मण पर प्रभु की कृपा हुई और उसकी प्रार्थना भी सफल हुई। 'पद्मावत'

---

१. साचा सोइ और सब झूठे। ठांव न कतहुं ओन के रूठे॥ ६, आखिरी क०
२. का रानी का चेरी कोई। जाकहं मया करइ भलि सोई॥ ९१, पद्मावत

में इसी प्रकार पद्मावती तथा रत्नसेन की, हृदय के अन्तरतम से निकली हुई प्रार्थनायें पूर्ण होती हैं। प्रभु की कृपा का वरदान दीन, दलित एवं प्रणत भक्त को सदैव प्राप्त हुआ है। अन्त में प्रभु की कृपा ही जीव को मोक्ष का अमरत्व प्रदान करने वाली सिद्ध होती है[1]। गुरु अथवा रसूल की दया भी प्रभु की कृपा के अभाव में कृतकार्य नहीं हो सकती। आखिरी कलाम की अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है[2]। गुरु और रसूल भी प्रभु की कृपा से ही शिष्य पर द्रवित होते हैं और साधनापथ पर उसकी सहायता करते हैं।

सिद्धि : साधना किसी व्यक्तिविशेष अथवा सम्प्रदायविशेष की सम्पत्ति नहीं है। साधना का पथ क्रियात्मक पराविद्या का पथ है, जिस पर विरले व्यक्ति ही चल पाते हैं। 'दस महं एक जाइ कोइ, करम धरम सत नेम'। १४८, पद्मावत। प्राक्तन जन्मों के पुण्य ही मानव को इस पथ का पथिक बनाने में समर्थ होते हैं और पथिकों में अत्यन्त विरल हैं वे व्यक्ति जो सिद्धावस्था तक पहुँच पाते हैं[3]। प्रायः सभी संत साधनापथ की इस विशेषता की ओर निर्देश करते रहे हैं। जायसी, कबीर, सूर और तुलसी इसी पथ के पथिक थे।

जायसी सिद्ध योगी थे। उन्होंने सिद्धावस्था में जिस ज्योति का साक्षात् किया, उसकी एक झलक वे अपने पाठकों को भी दे गये हैं। नीचे हम उनकी रचनाओं से कुछ ऐसे उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जो इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं।

सत की झलक : जायसी का दृढ़ विश्वास है कि मानव जिस वस्तु की अभिलाषा करता है, उसे वह अवश्य प्राप्त होती है। आवश्यकता है उस अभिलाषा के साथ अविचल निष्ठा की। जैसे भ्रमर कमल के सौरभ और रस के आस्वादन की आकांक्षा लिये बाधाओं की वह्नि में दग्ध होकर भी आगे बढ़ता जाता है और अंत में अपने अभीष्ट को

१. जो ठाकुर अस दारुन, सेवक तइं निरदोष।
माया करे मुहम्मद, तौ पै होइहि मोख॥ ६, आखिरी कलाम।
२. जो मोहि चहौं निबारहु कोहू। तब बिधि करै उमत पर छोहू॥ ४१, आ० क०
३. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ७ ३

प्राप्त करता है,[1] उसी प्रकार साधक प्रभु-प्राप्ति की अभिलाषा में उसके नाम का जाप करता हुआ सांसारिकता से उपरत किन्तु उन्मनी अवस्था की ओर निरत होता जाता है, तो एक दिन उसे उस सत् तत्त्व की झलक प्राप्त हो ही जाती है। चातक यदि प्रिय को पुकारता हुआ अपने मुख को सुखाता और जिह्वा को क्षीण करता है, तो कभी न कभी स्वाति नक्षत्र की मेघवर्षा का एक बिन्दु उसके कण्ठ में पहुँच कर उसे अनुपम सुख एवं शान्ति प्रदान करता ही है। लालसा से भरी हुई सीप जब टकटकी लगा कर ऊपर को देखती है, तो उसे भी मोती उत्पन्न करने वाला सरल जल-बिन्दु प्राप्त हो ही जाता है[2]। इसी प्रकार 'पद्मावत' का रत्नसेन सच्चे साधक की भाँति पद्मावती की प्राप्ति के लिये जब कष्टों को पैरों तले रौंदता हुआ अपने साधनापथ पर निरन्तर आगे बढ़ता रहा तो हृदयाह्लादक, प्रशान्त परिस्थिति में पहुँच कर सिंहल द्वीप का वह राजभवन उसे दृष्टिगोचर हुआ, जो पद्मावती रूपी सिद्धि का मिलन-स्थल है। रत्नसेन इस दृश्य को देखते ही आत्मविभोर हो उठा और सुआ से कहने लगा: गुरु सुआ! बताओ, आज सूर्य कहाँ उदय हुआ है? हम लोग किस स्थान पर आ पहुँचे हैं? यहाँ तो पवन शीतल सुगन्ध लेकर आ रहा है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे हमारे जलते हुये शरीर के ऊपर किसी ने चन्दन लगा दिया हो। हमारा शरीर इतना शीतल कभी नहीं हुआ था। अग्नि में जलते हुये हम लोगों के लिये यह मलयाचल के शीतल तथा सुगन्धित पवन का काम कर रहा है। सूर्यकिरणों की आभा निकलती चली आती है। अंधकार नष्ट हो रहा है, संसार निर्मल दिखाई दे रहा है। आगे बादल सा उठता हुआ चला आ रहा है और आकाश को स्पर्श करती हुई बिजली चमक रही है। उसके ऊपर एक ऐसा प्रकाश है जैसे चन्द्रमा चमक रहा हो और उसे कृत्तिकाओं ने आच्छादित कर लिया हो। चारों दिशाओं में और भी अनेक उज्ज्वल नक्षत्र स्थान-स्थान पर दीपक के समान जलते हुये दिखाई दे रहे हैं। यही नहीं, दक्षिण दिशा की ओर

१. जाकरि आस होइ असि जा कहं, तेहि पुनि ताकरि आस।
   भंवर जो डाढा कवंल कहं, कस न पाव रस बास॥ २१४ पद्मा०

२. पिउ पिउ करत जीभ धनि सूखी बोली चातिक भांति।
   परी सो बूंद सीप जनु मोती हियं परी सुख सांति॥ २१७ पद्मावत।

निकट ही स्वर्ण के समान दीप्तिमान् सुमेरु पर्वत दृष्टिगोचर हो रहा है और संसार में मुझे कुछ ऐसी सुगन्ध फैलती हुई प्रतीत होती है, जैसे वसन्त ऋतु ही आ गई हो। '१५५ पद्मावत'।

यह है उस सत की झलक जिसे आचार्य वल्लभ ने सन्धिनी शक्ति कहा है। यही वह ज्योति है, जो आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाली है।[1] आज्ञा चक्र के खुलते ही योगी को इस ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। पर यह ज्योति सर्वश्रेष्ठ ज्योति नहीं है। इससे भी उत्तर और उत्तम कोटि की ज्योतियाँ आगे आती हैं। यह ज्योति प्रभु के सामीप्य की एक झलक भर साधक को दिखा जाती है, जो साधनाक्षेत्र में पर्याप्त नहीं समझी जाती। जब तक अपना अभीष्ट प्रिय प्रभु प्राप्त न हो जाय, तब तक साधक को चैन कहाँ?

आत्मदर्शन : साधकों के अनुभव में त्राटक की साधना जिस विद्युज्ज्योति के दर्शन कराती है,वह अन्तिम, शाश्वत एवं नित्य सिद्धि नहीं है। साधक यदि इसके आगे न बढ़ा, तो नीचे गिर सकता है। यह पुराणों का स्वर्ग है, जहाँ जीव अपने सुकृत के भोगों को भोग कर पुनः मर्त्यलोक में लौट आता है। इससे ऊपर आत्मसाक्षात्कार की वह अचल अवस्थिति है, जहाँ मर्त्यलोक की निखिल शुभाशुभ आकांक्षायें टक्कर मारकर स्वयं अपना शिर फोड़ लेती हैं, पर उसका बाल तक बाँका नहीं कर पातीं। आत्मज्ञानी को लौकिकता सम्पृक्त नहीं कर पाती। वह इस स्वरूपावस्थान में पहुँच कर फिर यहाँ लौट कर नहीं आता।[2] यह वह अमृत जड़ी है, जो स्वयं तो मरण से दूर रहती ही है अपने संपर्क में आनेवाले को भी अमर बना देती है। इसे प्राप्त करने के लिए हिमालयरूपी आज्ञाचक्र को अतिक्रान्त करना पड़ता है।[3]

काष्ठ में निहित अग्नि जैसे प्रज्वलित हो उठती है, तालाब में जैसे कमल विकसित हो जाता है, उसी प्रकार साधक के हृदय के अन्दर आत्मज्योति जगमगाने लगती है। इस ज्योति के जागृत होने पर न पाप रहता है, न पुण्य,

१. 'Plotinus believed in vision not as an indispensable condition, but as a possibility for a pure soul to enjoy the sight of the supreme soul.' Shushtery . Outlines of Islamic culture—p 391

२. जो गा तहां भुलानेउ सोई। गे जुग बीत न बहुरा कोई॥ ५५, पद्मावत

३. नाघि हिवंचल जो तहं जाई। अमृत मूरि पाइ सो खाई॥ १६, अखरावट

न मर्त्यलोक रहता है, न स्वर्ग।[1] आत्मप्रकाश के आगे मोती, माणिक्य, हीरा, रत्न आदि का प्रकाश तो जहाँ-तहाँ, विद्युत, चन्द्र और सूर्य का प्रकाश भी निष्प्रभ हो जाता है। जिस मन को साधना में स्थिर किया था, वह इस प्रकाश से प्रदीप्त हो उठता है। समस्त रूपों, सौन्दर्यों का भी वही स्रोत है।[2] ब्रह्माण्ड के नव खण्ड उसी प्रकाश की परछाहीं को ग्रहण करने वाले सूर्यादि से प्रकाशित होते हैं। उसके रूप के समान यहाँ किसी का भी रूप नहीं है।[3] आत्मसाक्षात् की सिद्धि समस्त मनोकामनाओं की पूर्ति है। यही समस्त दुःखों का अन्त है। अखिल आशाओं और अभिलाषाओं की अन्तिम गति भी यहीं तक है।[4] प्रकृति के उदात्त तत्त्व, पवन, पानी, चन्द्र, सूर्य तथा उनसे उत्पन्न रात्रि एवं दिवस किसी की भी वहाँ पहुँच नहीं हो सकती।[5] आत्मसाक्षात् योग के शब्दों में द्रष्टा का अपने रूप में अवस्थान है। अपने को जानकर ही साधक परमात्मा को जान पाता है।[6] आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान में गुण का नहीं, केवल मात्रा का अन्तर है।

---

१. काठी घंसत उठै जस आगी। दरसन देखि उठै तस जागी।
जस सरवर महं पंकज देखा। हिय के आंखि दरस सब लेखा॥
जासु कथा दरपन कै देखु आप महँ आप।
आपुइ आपु जाइ मिल जहं नाहिं पुनि न पाप॥ ३८, अखरावट
देखत गा कबिलासहिं दिस्टि पाप सब भागु॥ २८८, पद्मावत
तहां न मीचु न नींदु दुख रह न देह मां रोग॥ ६०, आखिरी कलाम

२. एक चमकार होइ उजियारा। छपै बीजु तेहि के चमकारा।
चांद सुरुज छपिहैं बहु जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
सो मन दिपै जो कीन्ह थिराई। छप सो रंग गात पर आई।
ओहु रूप निरमल होइ जाई। और रूप ओहि रूप समाई॥५१, आ० क०

३. ओहि जोति परछाहीं, नवो खण्ड उजियार।
जेहि के जोति सरूप, चांद सुरुज तारा भए।
तेहि कर रूप अनूप, मुहमद बरनि न जाइ किछु॥ ४९ अखरावट।

४. अब सब गएउ जनम दुख धोई। जो चाहिय हठि पावा सोई।
मन कै जेति आस सब पूजी। रहे न कोउ औ आस गति दूजी॥ ५२, आ० क०

५. जहां न राति न दिवस है, जहां न पौन न पानि॥ ६८ पद्मावत।

६. जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥२१५, पद्मावत।

'पद्मावत' के कथानक के अन्तर्गत जायसी ने इस आत्मज्योति का वर्णन उस स्थल पर भी किया है, जहां अलाउद्दीन चित्तौड़गढ़ में पद्मावती का प्रतिबिम्ब दर्पण के अन्दर देखता है। कुछ सूफी ईश्वर और उसके प्रतिबिम्ब में अन्तर नहीं मानते। इसी आधार पर जायसी लिखते है :

'होतहि दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना'। २१९, पद्मावत.

इस लावण्यमय दर्शन ने पारस का काम किया। जैसे, लोहा पारस पत्थर को छूते ही सोना बन जाता है, उसी प्रकार इस दर्शन के स्पर्श ने सब कुछ स्वर्णज्योति में परिवर्तित कर दिया। इस अवस्था में धरित्री कैसे रह सकती थी? द्यावा से लेकर पृथ्वी पर्यन्त एक अद्भुतज्योति जाग्रत हो गई, स्वर्ण जैसी चमचमाहट दृष्टिगोचर होने लगी। वेद के तपःपूत ऋषि ने प्रार्थना की थी :—'अगन्म ज्योतिरुत्तमम्' प्रभु हमें उत्तम ज्योति प्राप्त हो। यही उत्तम ज्योति, जिसके आगे अंधकार की तो बिसात ही क्या, साधारण ज्योतियाँ भी नहीं ठहर सकतीं, साधक को प्राप्त हो गई। उसके चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश ओतप्रोत हो गया। साधक जहां से निकला था, उसी में समा गया। प्रेमी और प्रिय दोनों मिल कर एक हो गये और मुक्तिरूपी मुक्तामाणिक्य के साथ ज्योति ज्योति में लीन हो गई।[1]

स्वर्ग का वर्णन : पीछे सत की झलक में स्वर्ण के समान दीप्तिमान् जिस सुमेरु पर्वत का नाम आया है, वह प्रकृति का सर्वोत्तम अंश है, सूक्ष्मतम तत्त्व है, सब से ऊँचा कूट है। इस ज्योतिर्मय सत के कूट पर स्थित है उस कूटस्थ का आभावान् भवन, ज्योतिर्मय धाम, जिसे जायसी ने हठयोगियों की पद्धति में देवाधिदेव महादेव का मण्डप कहा है। राजा रत्नसेन सुमेरु पर्वत पर चढ़कर इस सर्वांग स्वर्ण-निर्मित ऊँचे मण्डप को देखता है। इसमें समस्त अमृत फल परिपूर्णरूप से लगे हुये हैं। संजीवनी जड़ी भी यहाँ विद्यमान है। मण्डप के चारों ओर द्वार हैं, जिनमें किवाड़ लगे हुये हैं। चारों द्वारों पर देवता बैठे हैं। मण्डप के भीतर चार खम्भे लगे हैं। इन खम्भों का जो स्पर्श कर लेता है, उसके समस्त पाप भाग जाते हैं।

---

१. ढूंढि उठै लेइ मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महं जोती ॥ २६, अख०
निरमल जोति बरनि नहिं जाई। निरखि सुन्न महं सुन्न समाई। २९ अखरावट

मण्डप में शंख और घंटे बज रहे हैं तथा अनेक प्रकार के जाप और होम चल रहे हैं। १६४, पद्मा०

स्वर्ग का यह वर्णन पूर्णरूप से पौराणिक है, जिसमें लौकिकता के अन्दर पारलौकिकता का समावेश रहता है। जायसी ने शिवालयों में यज्ञ, जप आदि का अनुष्ठान देखा होगा, शङ्ख और घण्टे आरती के समय बजते ही हैं, स्तम्भ आदि भी मन्दिर-निर्माण के लिये आवश्यक हैं, इन्हीं सब बातों को उन्होंने पौराणिक शैली में प्रस्तुत कर दिया है। अमृत फल और सञ्जीवनी जड़ी स्वर्ग में होनी ही चाहिये, जिनके उपयोग से स्वर्गस्थ प्राणी मरण का अनुभव न कर सकें। स्वर्ग वैसे भी अमरों का निवास माना गया है। प्रत्येक द्वार पर देवता द्वारपाल के रूप में बैठे हैं, जो कुरान-प्रतिपादित बिहिश्त के फरिश्तों की याद दिलाते हैं। वैष्णवों ने इसी प्रकार के भवनों का वर्णन राधा और कृष्ण के सम्बन्ध में किया है। इस विषय में पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अध्याय ७४ से ७७ और ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्ण जन्म खण्ड, अध्याय ४,५ और १२ देखने योग्य हैं।

आखिरी कलाम के अन्त में जायसी ने हजरत मुहम्मद को दुल्हा और उनकी उमत (अनुयायियों) को बरातियों का रूप देकर बिहिश्त भेजा है। कुरान की बिहिश्त हूरों तथा भोग-विलास के विपुल उपकरणों से भरी पड़ी है। इस विलास का एक चित्र आखिरी कलाम में देखने को मिलता है। हजरत मुहम्मद की बरात को आते हुये देख कर बिहिश्त के दरवाजों पर बाजे बजने लगते हैं और भीतर से गीतों की मीठी झनकार सुनाई देती है। अप्सरायें बन-ठन कर बिहिश्त के मार्ग में रसूल की प्रतीक्षा कर रही हैं। रसूल के पहुँचते ही आठों ड्योढ़ियों के द्वार खुल गये। समस्त बराती सवारों ने अन्दर प्रवेश किया। हूरों ने मिलकर रसूल के ऊपर न्योछावर की। सबके मुखों से रसीले फूल झड़ने लगे। अगर, कुमकुम, कस्तूरी, कपूर आदि से बिहिश्त का मन्दिर सुवासित हो उठा। स्थान-स्थान पर आमोद-प्रमोद और क्रीड़ा होने लगी। हजरत मुहम्मद ने सब हूरों को सुहाग प्रदान किया। सब सुख और विलास में मग्न हो गये। ५६, आखिरी कलाम।

इस बिहिश्त में हजरत मुहम्मद के अनुयायियों को एक एक मन्दिर, जिसमें सात द्वार थे, निवास करने के लिये मिला। द्वारों में अगर और चन्दन

के किवाड़ लगे हुये थे। इन मन्दिरों में हरित वर्ण के कई खण्ड थे। निर्मल कुंकुम का गिलावा लगा कर स्वर्ण और चाँदी द्वारा इन मन्दिरों का निर्माण दैव ने स्वयं अपने हाथों से किया था। इन में हीरा, रत्न आदि ज्योतिष्मान् नग जड़े हुये थे। दूध की नदियाँ बह रही थीं। मोती और माणिक्य पृथ्वी पर पड़े हुये थे। बिहिश्त में न गरमी थी, न जाड़ा था, न गुनगुन अर्थात् कम उष्णता ही थी। न वहाँ दिन था न रात्रि। नींद, भूख, दुख आदि वहाँ कुछ भी नहीं था। केवल सुख की अतिशय विलासिता में सब डूबे हुये दिखाई देते थे। ५७, आखिरी कलाम।

हजरत मुहम्मद को वर के रूप में पाकर हूरों के हृदय में आह्लाद की सीमा नहीं रही। उनके साथ 'नित पिरीति नित नव नव नेहू। नित उठि चौगुन चुरै सनेहू।' ६०, आखिरी कलाम, यह नव-नव स्नेह वैष्णवों के उज्ज्वल रस 'सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज बिहार नित नई नई'। ४९१० सूरसागर (ना० प्र० स०) का स्मरण दिला देता है। महरी बाईसी, पद्‌ खण्ड १२ में जायसी ने जिस शृङ्गारसज्जा और अङ्गों के लिये उपमानों का वर्णन किया है, वह सूरसागर में वर्णित राधा के शृङ्गार से समता रखता है।

ऊपर जिस बिहिश्त का वर्णन किया गया है, वह मृत्यु, निद्रा, दुख, रोग आदि से शून्य और आनन्द का धाम मानी गई है। स्वर्ग के इस वर्णन में लौकिक सुख की अतिरञ्जित अवस्था का चित्र मात्र है। पर सत की झलक और आत्मदर्शन के विषय में जायसी का जो अभिमत हम इसके पूर्व प्रकट कर चुके हैं, वह सिद्ध योगियों के अनुभव से मेल खाता है और उन्हें उच्च कोटि का साधक सिद्ध करता है। इस सिद्धावस्था में जायसी ने अहं की समाप्ति के साथ जीवात्मा के अस्तित्व को भी समाप्त कर दिया है[1] जो उनके अद्वैतवाद के अनुकूल ही है। कुरान भी रूहों के अनादि अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। जायसी पर इसलामी एकेश्वरवाद और भारतीय अद्वैतवाद दोनों का प्रभाव पड़ा है।

---

१. पिय कर खेल मरन धनियां कर बोलै कछु न बसाई रे। १३, महरी बा०
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की। उद्धवशतक०

सिद्ध पुरुष : जायसी ने सिद्ध पुरुषों के नाम लिये हैं और 'पद्मावत' के कथानक के अन्तर्गत उनके लक्षण भी दिये हैं। दोहा खण्ड २० में उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा में सैय्यद मुहम्मद का उल्लेख किया है और उन्हें सिद्ध पुरुषों के साथ विचरण करने वाला लिखा है। दोहा खण्ड २३० में सिद्ध पुरुषों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :

'सिद्ध निर्भय होकर रात्रि में भ्रमण करते हैं। उनकी दृष्टि जिधर उठ जाती है, उधर ही चल देते हैं। उन्हें मार्गों का कुछ भी भय नहीं रहता। खड्ग देखकर वे ग्रीवा झुका देते हैं। सिद्ध जहाँ पहुँचते हैं, वहाँ मार्गों का वध होता है। सिद्धों के अतिरिक्त अन्य ऐसा कौन है, जिसने मृत्यु के पहुँ को धारण किया हो! सिद्धों का शरीर पारे के समान अमर होता है, जिसे बल से नहीं, छल से ही मारा जा सकता है। सिद्धों की दृष्टि आकाश में ध्रुव के समान लगी रहती है।'

दोहा खण्ड २१२ में जायसी ने सिद्धों के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें लिखी हैं, जो परम्परा से लोक में प्रचलित रही हैं और काव्यग्रन्थों में भी जिन्हें स्थान मिला है। सिद्धों के शरीर पर मक्खी का न बैठना, उनकी आँखों का अनिमेष रहना अर्थात् पलक न लगना, सिद्धों के साथ छाया, धूल तथा माया-ममता का अभाव, सिद्धों का प्रकट एवं गुप्त सभी रूपों को देख लेना आदि ऐसी ही बातें हैं। इनमें से कुछ बातें तो बुद्धि-गम्य हैं, परन्तु अधिकांश कल्पना-प्रसूत जान पड़ती हैं।

नवम अध्याय

सूरदास और भगवद्भक्ति

व्यक्तित्व : हमारे साहित्य में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं, जिनके रचयिता का जीवन तो जहाँ तहाँ, नाम भी विदित नहीं हैं। कुछ आचार्यों, सन्तों और कवियों के नाम ज्ञात हैं, पर उनके परिवार का पता नहीं। वे कहाँ के निवासी थे, किन-किन के सम्पर्क में आये और किस-किस प्रदेश की उन्होंने यात्रा की— ये सभी तथ्य अधिकांशतः अन्धकार से आच्छादित हैं। महात्मा सूरदास के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। उन्होंने अपने सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह साहित्यलहरी के दो पदों तक सीमित है। अन्य विद्वानों ने उनकी जीवनी पर जो ऊहापोह किया है, वह बहुत कुछ कल्पना पर आधारित है और उसे एकान्त तथ्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

बाह्यसाक्ष्य : भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व, चतुर्थ खण्ड, अध्याय २२ में बिल्वमङ्गल, मदनमोहन और सूरदास नाम के तीन सूरदासों का उल्लेख है, जिनमें बिल्वमङ्गल दाक्षिणात्य ब्राह्मण, नायिकाभेद में निपुण, वेश्या-पारग और अकबर के सखा कहे गये हैं, मदनमोहन को पौर्वात्य ब्राह्मण, नर्तक तथा रहःक्रीड़ा-विशारद लिखा गया है और सूरदास को कृष्णलीला का गायक, हरिप्रिय, कवि तथा चन्द्रभट्ट के वंश में उत्पन्न माना गया है। भविष्यपुराण सूरदास को रामानन्दमतस्थ कहता है और आचार्य वल्लभ तथा उनके पुष्टि सम्प्रदाय का कहीं भी नाम नहीं लेता।

जिन तीन सूरदासों का भविष्यपुराण ने उल्लेख किया है, उनसे इतिहास-परम्परा परिचित है। बिल्वमङ्गल के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है है कि उन्होंने एक वेश्या के प्रेम में अपनी आँखें फोड़ ली थीं। इस प्रकार वे अपने ही हाथों सूरदास बन गये थे। मदनमोहन अन्धे नहीं थे, पर उनके नाम के साथ सूरदास शब्द लगा हुआ है। वे पौर्वात्य सूरध्वज ब्राह्मण थे। इसीलिये सम्भवतः अकबरी दरबार में वे सूर नाम से प्रख्यात हो गये। सूरध्वज से सूर और सूर से सूरदास हो जाना प्रसङ्ग-प्राप्त है, उसमें खींचातानी

करने की आवश्यकता नहीं है। तीसरे सूरदास् चन्द्रभट्ट के वंश में उत्पन्न हैं। वे कवि हैं तथा भगवान् के प्यारे भक्त हैं। उन्होंने कृष्णलीला पर कविता की है। अकबरी दरबार से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सूरसागर इन्हीं महात्मा सूरदास की रचना है।

प्रसिद्ध भक्त नाभादासजी ने अपने ग्रन्थ भक्तमाल में ऊपर वर्णित तीन सूरदासों पर तीन छप्पय लिखे हैं, जिनके अनुसार बिल्वमंगल का सम्बन्ध चिन्तामणि नाम की वेश्या से था। कृष्णकर्णामृत इन्हीं की रचना है, ऐसा भक्तमाल से प्रकट होता है। मदनमोहन सूरदास की इस ग्रन्थ में प्रभूत प्रशंसा की गई है। भक्तमाल की टीका में श्री प्रियादास ने इनका चरित्र विस्तार से लिखा है। श्री रूपकलाजी ने भक्तमाल के भक्तिसुधा-स्वाद नामक तिलक में इन्हें शूरध्वज ब्राह्मण माना है। सूरसागर के रचयिता महात्मा सूरदास पर भक्तमाल में केवल एक छप्पय लिखा गया है जिससे उनकी लौकिक जीवनगाथा पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। छप्पय के आधार पर सूरदास अंधे थे। उन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त थी। उनकी रचना में उक्तिचमत्कार, अनुप्रास, वर्णमैत्री, अर्थगाम्भीर्य तथा प्रेमाभक्ति का समावेश है। भगवान् के जन्म, कर्म, गुण और रूप से सम्बन्धित उनकी रचना को जो पढ़ता है या सुनता है, उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। सूरदास की कविता मनोमुग्धकारिणी है। तानसेन सूरदास के समकालीन हैं। उन्होंने भी सूर-काव्य की प्रभविष्णुता स्वीकार की थी। उनका निम्नांकित दोहा इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध है :

'किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने ग्रन्थ उत्तरार्द्ध भक्तमाल में सूरदास पर एक छप्पय लिखा है। भारतेन्दु स्वयं पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। अतः उन्होंने इस छप्पय में वही बातें लिखी हैं जो पुष्टिमार्गीय वार्तासाहित्य में प्रचलित थीं। सूर के वंश आदि पर इस छप्पय से कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

हरिवंशी सम्प्रदाय में दीक्षित श्री ध्रुवदासजी ने स्वरचित भक्तनामावली में जो श्री राधाकृष्णदास द्वारा सम्पादित होकर १९०१ ई० में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी, एक सूरज भक्त का वर्णन दोहा संख्या ८२ में किया है :

सेयौ नीकी भाँति सौं, श्री संकेत स्थान।
रह्यौ बड़ाई छाँड़ि कै, सूरज द्विज कल्यान॥

दोहा संख्या ९५ में सूरदास और परमानन्ददास दोनों का एक साथ उल्लेख है और दोनों को ब्रजरीति का गायक माना है जिनकी कृतियों में वर्णित गोपियों की प्रीति को सुनकर भजन की विधि भी विस्मृत हो जाती है। दोहा संख्या ६४ में मदनमोहन सूरदास और १०२ में विल्व-मंगल का वर्णन है। इन दोहों में इधर-उधर प्रचलित किंवदन्तियों का ही उल्लेख है।

पुष्टिमार्गीय वार्तासाहित्य से भी सूरदास के वंश पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। हरिरायकृत भावाख्य विभूति में सूर के पिता का नाम नहीं है। यह अवश्य लिखा है कि सूर के चार भाई थे और सूर उन सब में छोटे थे। हरिराय के अनुसार मथुरा में अकबर और सूरदासजी की भेंट हुई थी। राम-रसिकावली में महाराज रघुराजसिंह ने भेंट का स्थान दिल्ली माना है। हरिराय जी ने सूर के सूरदास, सूर, सूरजदास, सूरश्याम नामों की व्याख्या की है और सवा लाख पदों के निर्माण का समर्थन किया है।

आईने अकबरी और मुंतखिब-उल-तवारीख में सूरदास का नाम बाबा रामदास के साथ अकबर की सभा के कलावन्त गायकों में आया है।

अन्तःसाक्ष्य : साहित्यलहरी के पद संख्या ११८ में सूर ने पौराणिक शैली में अपने वंश का परिचय दिया है और अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया है। इस पद के अनुसार सूरदास का जन्म चन्द्रभट्ट के वंश में हुआ था। इनके सात भाई थे। सूरदास सब में छोटे थे। छः भाई बादशाह के साथ युद्ध करते मारे गये। सूरजदास विरक्त होकर घर से निकल पड़े और अन्धे होने के कारण एक कूप में जा गिरे। सातवें दिन स्वयं यदुपति कृष्ण ने उस कूप से इनका उद्धार किया और दिव्य दृष्टि देकर वरदान माँगने के लिये कहा। सूरदास ने भगवान् से शत्रु-विनाश तथा प्रभु-भक्ति की याचना की। भगवान् दाक्षिणात्य ब्राह्मण के द्वारा इन्हें शत्रु-विनाश का वरदान देकर तथा इनके सूरजदास, सूर और सूरश्याम नाम रख कर रात्रि के पिछले याम के समाप्त होने पर अन्तर्धान हो गये। सूर ब्रजवास करने लगे। गोस्वामी विट्ठल-नाथ ने इन्हें अष्टछाप में सम्मिलित किया।

पद में उल्लिखित इन सभी बातों का समर्थन हरिराय जी के सूरदास वार्ता प्रसङ्ग से होता है। अन्तर इतना ही है कि उन्होंने सात भ्राताओं के स्थान पर केवल चार भ्राताओं की बात लिखी है। पिता का नाम दोनों स्थानों पर नहीं है। दाक्षिणात्य ब्राह्मण जिन्होंने प्रभु-दर्शन करा के सूरदास को कृतार्थ किया, तैलङ्ग ब्राह्मण लक्ष्मण भट्ट के पुत्र यशस्वी एवं प्रतापी आचार्य वल्लभ भट्ट थे। इन्हीं के प्रसाद से सूर के काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश हुआ और अनपायिनी भगवद्भक्ति सिद्ध हुई।

विद्वानों ने इस पद की प्रामाणिकता में सन्देह किया है, पर पद की सभी बातों का समर्थन अन्य सूत्रों से हो रहा है। भविष्यपुराण चन्द्र भट्ट के वंशज होने की बात लिखता ही है। कवि मियासिंह ने भक्तविनोद में कूपपतन, भगवान् द्वारा उद्धार तथा दिव्य चक्षुप्रदान का उल्लेख किया है। सूर के पुष्टिमार्गी होने की बात प्रख्यात ही है। उनके जो नाम साहित्यलहरी के पद में आये हैं, वे ही नाम व्याख्यासहित हरिराय के सूरदास-वार्ता-प्रसङ्ग ११ में हैं। पद की प्रामाणिकता के पक्ष में अनेक सिद्ध सूत्र हैं, विपक्ष में एक भी नहीं। रहा सारस्वत और भट्ट का विरोध, वह भी निरर्थक है। भट्टों के दो भेद भारत भर में पाये जाते हैं—एक ब्राह्मण, द्वितीय सूतमागधादि। उत्तराखंड में भट्टउपाधिधारी ब्राह्मण ब्रह्मभट्ट कहलाते हैं। सूत-मागधवंशीय भट्ट इनसे पृथक् हैं। चंदवरदायी की उपाधि भट्ट है, परन्तु है वह सारस्वत ब्राह्मण। काश्मीरी भट्ट तथा कतिपय महाराष्ट्रीय भट्ट अपने को आज तक सारस्वत कहते हैं। फिर विरोध कैसा? विद्वानों ने पद में आये हुए कतिपय शब्दों के दो-दो अर्थ किये हैं, पर प्रसंग को देख कर एक ही अर्थ करना चाहिये। यों दो अर्थों वाली शैली साहित्यलहरी के दृष्टकूटों से भी सम्बन्ध रखती है। पर जैसे अन्य पदों में अभिप्रेत अर्थ एक ही है, वैसे ही इस पद में भी समझना चाहिये।

साहित्यलहरी के पद संख्या १०९ में उसके निर्माण-संवत् का उल्लेख है जो हमारी सम्मति में १६२७ होना चाहिये। सूरसारावली में हरि-दर्शन की स्वीकृति और एक लक्ष पदवन्दों में हरिलीला के गायन का उल्लेख है। इन सब बातों का विस्तृत विवेचन हमने सूरसौरभ में किया है।

लोक-विश्रुत जीवनगाथा : महात्मा सूरदास स्वभावतः निवृत्तिपथ-गामी थे। उनका जन्म जिस परिवार में हुआ, वह मूलतः शैव था। सूरदास की आत्मा प्राक्तन जन्मों से ही प्राकृत पाशों को छिन्नभिन्न करने का प्रयत्न करती आ रही थी। पर ये पाश जो सूर को आबद्ध किये हुए थे, अत्यन्त प्रबल थे। सूर की आत्मा तड़प रही थी—व्याकुल थी। सूरसागर के अनेक पदों में सूर की इस व्याकुलता का वर्णन है।

नियति ने जो पारिवारिक परिस्थितियाँ सूर के समक्ष उपस्थित कीं, वे भी सूर की निवृत्ति को पुष्ट करने वाली सिद्ध हुईं। पिछले संस्कार दृढ़ होते गये और भ्राताओं के निधन के उपरान्त वह घटिका भी आ ही गई जब सूर ने 'सब तज हरि भज' की उक्ति को अपना लिया। वे पुत्र, वित्त, यश सब का मोह छोड़ कर संन्यासी हो गये। भविष्यपुराण उन्हें रामानन्दमत में दीक्षित हुआ लिखता है। संभवतः वे किसी वैष्णव महाभाग द्वारा ही संन्यास में सर्वप्रथम दीक्षित हुए।[1] संन्यास लेकर वे आगरा और मथुरा के बीच यमुना नदी के गौघाट पर आश्रम बना कर रहने लगे। कुछ शिष्य भी उनके साथ हो गये। इन दिनों सूर सामान्य भक्तसन्तों की शैली में दास्यभक्ति से सम्बन्धित पद बना कर गाया करते थे। भागवत भक्ति की ओर उन्मुख उनका भावुक हृदय प्रभु-प्रेम से परिप्लावित सरस संगीत-लहरियों से वायुमण्डल को निनादित करने लगा। ये लहरियाँ फैलती हुई दिग्दिगन्त में व्याप्त हो उठीं। सूर की ख्याति गायक सन्त के रूप में चारों ओर फैल गई।

इसी समय महाप्रभु वल्लभाचार्य दक्षिण में दिग्विजय करके उत्तराखंड की ओर आये। अपने शुद्धाद्वैत मत का प्रचार करने के लिये उन्होंने गोवर्धन

---

१. पद संख्या १७१ में सूर अपनी इस दीक्षा का उल्लेख मनोराज्य के रूप में इस प्रकार करते हैं :

हमें नंदनंदन मोल लिये।
जम के फंद काटि मुकराये अभय अजाद किये॥
भालतिलक स्रवननि तुलसीदल मेटे अंक बिये।
मूंड्यौ मूंड़ कंठ बनमाला मुद्राचक्र दिये॥
सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हिये।
सूरदास कों और बड़ौ सुख जूठनि खाइ जिये॥

पर्वत पर एक छोटे से मंदिर में श्रीनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर दी। संवत् १५७६ में उनके अनन्य शिष्य श्री पूर्णमल खत्री ने इसी स्थान पर एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। मन्दिर में एक श्रेष्ठ कीर्तनकार की आवश्यकता थी। ऐसा अनुभव करके आचार्य वल्लभ उसकी खोज में निकले। सूरदास का स्वर अच्छा था। उनकी गायनप्रणाली प्रभावोत्पादक थी। वे इसके लिये प्रख्यात हो चुके थे। सूर की यह ख्याति ही संभवतः आचार्य वल्लभ को उनके पास खींच ले गई। पर उस लीलामय की लीला कौन समझ सका है ? वह अपनी माया को प्रेरित कर अपने उद्देश्य की अथवा जीवों के उद्धार की सिद्धि करता ही रहता है। आचार्य वल्लभ का सूरदास के पास पहुँचना ऐसा ही कुछ था।

सेवकों ने सूरदास को आचार्य वल्लभ के आगमन का संदेश सुनाया। सूरदास ने कहा कि जब आचार्य जी भोजन करके विराजमान हों, तब हम उनका दर्शन करेंगे। महाप्रभु भोजन के उपरान्त गद्दी पर बैठे। सूरदास भी चरण-सेवा में पहुँचे। आचार्य ने कहा—'कुछ भगवद्यश वर्णन करो'। सूर गाने लगे—'हौं हरि सब पतितन को नायक' तथा 'प्रभु मैं सब पतितन को टीको'। महाप्रभु पदों को सुनकर बोले—'सूर है कैं ऐसौ घिघियात काहे कों है ? कछु भगवतलीला वर्णन करि'। सूरदास ने कहा—'महाराज मैं कछु भगवतलीला समुझत नहीं हूँ'। तब आचार्य जी ने कहा—'जाओ, श्री जमुना में स्नान करि कै आओ'। सूरदास यमुना में स्नान करके आचार्यजी की सेवा में उपस्थित हुए। महाप्रभु ने उन्हें नाम सुनाया, समर्पण करवाया और दशम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनाई। पश्चात् पुरुषोत्तमसहस्रनाम भी सुनाया। इससे सूरदास के सब दोष दूर हो गये। उनके हृदय में सम्पूर्ण भागवत की लीला स्फुरित हो उठी। उन्हें हरिलीला के दर्शन हो गये। सूर ने इसके उपरान्त अपने सब शिष्यों को आचार्य जी से दीक्षा दिलवाई। तीन दिन तक रह कर आचार्य जी सूरदास को साथ लेकर ब्रज की ओर चले गये।

श्रीनाथ मंदिर में पहुँचकर आचार्य जी ने सूरदास को कीर्तन का प्रबन्धकर्ता बना दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वल्लभ से मिलने के उपरान्त सूर की सारी व्याकुलता नष्ट हो गई और उल्लास तथा कर्तृत्व की एक अद्भुत छटा उनके पदों में प्रदर्शित होने लगी। सूरदास ने महाप्रभु के आगे जब नन्द महोत्सव किया और 'ब्रज भयौ महर के पूत जब यह बात

सुनी' शीर्षक पद गाया, तो आचार्य जी प्रसन्न होकर कहने लगे—'सूरदास तो मानो निकट ही हुते'। सूर ने श्रीकृष्णलीला के सहस्रों पद बनाये।

सारावली में सूरदास ने स्वयं लिखा है: 'कर्म, योग, ज्ञान, उपासना सभी भ्रम थे। आचार्य वल्लभ ने मुझे लीला का रहस्य बता कर विभ्रान्त कर दिया। ११०२। कर्मकाण्ड मीमांसा का मार्ग है, योग शैव सम्प्रदाय से विशेषतः सम्बन्ध रखता है, ज्ञान वेदान्त तथा शांकर अद्वैत का पथ है, उपासना ध्यान के अन्दर आती है। सूरदास आचार्य वल्लभ की कृपा से इन सब के स्थान पर हरिलीला जैसे अन्तिम तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हैं। हरिलीला गायन के सूर-निर्मित पद सवालाख बताये जाते हैं, पर उपलब्ध पदों की संख्या सात हजार से ऊपर नहीं पहुँचती।

सूरदास का लगभग समस्त जीवन ब्रज में ही व्यतीत हुआ। ब्रज से उनको मोह भी था। ब्रजवासियों में उन्हें सात्त्विक ज्योति की झलक दिखाई देती थी। ब्रजधरा के धूलिकणों मे, वायुमंडल में भक्ति की पुनीत पयस्विनी कहीं अब भी प्रवाहित हो रही है। श्रीनाथ मन्दिर के ही निकट चन्द्रसरोवर के ऊपर आचार्य विट्ठलनाथ की गद्दी थी। वहीं सूर की कुटी थी। अन्तिम समय में सूर वहीं आ गये और 'भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ' तथा 'खंजन नैन रूप रस माते' पदों को गाते हुये आचार्य विट्ठलनाथ की विद्यमानता में उन्होंने ऐहिक लीला संवरण की।

सूर पर पड़े हुए प्रभाव

(१) हठयोग और शैव साधना: आचार्य वल्लभ से ब्रह्मसम्बन्ध होने के पूर्व सूरदास शैवसाधना के अनुकूल आसन, प्राणायाम आदि का अवश्य अभ्यास करते रहे होंगे। उनके कई पदों में इनकी ओर संकेत हैं। मोक्ष-प्रदायिनी वाराणसी तथा बलिदान के उल्लेख भी उनकी रचना में विद्यमान हैं। निम्नांकित पद शैवसाधना का दिग्दर्शन कराता है:

अपनी भक्ति देहु भगवान्।
कोटि लालच जौ दिखावहु, नाहिंनै रुचि आन॥
जरत ज्वाला गिरत गिरि तें, सुकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस।

कामना करि कोटि कबहूं, करत कर पसुघात ।
सिंह सावक जात गृह तजि, इन्द्र अधिक डरात ॥

—सूरसागर, ना० प्र० सभा० १०६

इस पद में पशुओं को काट कर यज्ञ में चढ़ाना, बलिदान करना, पंचाग्नि तपना, अपने हाथ से शिर काट कर महादेव के चरणों में समर्पित करना, पर्वत से गिरना, और इन कार्यों से इन्द्र को शंकित करना आदि बातें शैवसाधना और हठयोग के अनुकूल हैं। इसी प्रकार की कृच्छ्र तपस्या का उल्लेख पद संख्या ३९८० में भी है। पद संख्या ३४० में सूर ने वाराणसी को मुक्ति क्षेत्र लिखा है जहाँ शिव रामनाम की दीक्षा दिया करते हैं। इस पद से भी सूर का शैव सम्प्रदाय की ओर आकर्षण सिद्ध होता है। पद संख्या ७८८ और ७८९ में हरि-हर, श्याम और शिव दोनों का एक साथ वर्णन है।

(२) निर्गुण भक्ति : ऐसे पद जिनमें जाति-पाँति, वेद आदि की निन्दा, ज्ञान-वैराग्य की सापेक्षता, सत्यपुरुष को बाहर न देखकर अन्दर देखना, मूर्तिपूजाविरोधी सन्तों के नामों का श्रद्धापूर्वक उल्लेख आदि वर्णित है, वे निर्गुण भक्ति से प्रभावित हैं। यथा—

सत्यपुरुष घट ही में बठे अभिमानी कौं त्यागे ॥२४४॥

❀ ❀ ❀

जौ लौं सत स्वरूप नहिं सूझत ।
तौ लौं मृगमद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत ॥ ३६८ ॥

❀ ❀ ❀

अपुनपौ आपुन ही में पायौ ।
शब्दहिं शब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ ॥ ४०७ ॥

❀ ❀ ❀

अपुनपौ आपुन ही बिसरयौ ।
जैसे स्वान कांच मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूंकि मर्यौ ॥ ३६९ ॥

इन पदों में सत्य पुरुष, घट, सत स्वरूप, सद्गुरु आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो कबीर आदि निर्गुणी सन्तों को प्रिय हैं।

(३) वैष्णव भक्ति : पुष्टिमार्गीय भक्ति से व्यतिरिक्त वैष्णवभक्ति भावना को अभिव्यक्त करने वाले पदों की संख्या भी न्यून नहीं हैं। आचार्य रामानुज, मध्व, निम्बार्क और रामानन्द की वैष्णव भक्ति उन दिनों उत्तराखण्ड में व्याप्त हो रही थी। मानवों के मानस-मयूर घनश्याम की उन उमड़ती हुई, सान्द्रभावरूपिणी सघन घटाओं को देखकर मत्त हो नवल नृत्य करने लगे थे। सूर जैसे विरागी सन्त का उसकी ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक था। सूरसागर के प्रथम तथा द्वितीय स्कन्धों में जो पद राम तथा कृष्ण की भक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, वे उन्हीं दिनों लिखे गये थे। आचार्य वल्लभ से मिलने के उपरान्त तो हरिलीला का गायन प्रारम्भ हुआ। सूरसागर का प्रणयन इसी लीला-गान का परिणाम है। इसी आधार पर हमने सूर-काव्य के दो भेद किये हैं। दास्य भक्ति अथवा वैष्णव विनय के पद, जिनमें सूरदास का आर्त्त, व्याकुल हृदय प्रभुचरणों में पड़ा हुआ कातर क्रन्दन कर रहा है अथवा हठयोग और निर्गुण भक्ति से प्रभावित पद आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व लिखे गये। हरिलीला के पद इस भेंट के उपरान्त लिखे गये। सहस्रों की संख्या में बने हुये इन पदों को देखकर ही आचार्य वल्लभ सूरदास जी को सागर और गोस्वामी विट्ठलनाथ उन्हें पुष्टिमार्ग का जहाज कहने लगे थे। सूरसागर को हरिलीलागान का ही प्रधान काव्य कहना चाहिये। सूरसारावली और साहित्यलहरी भी हरिलीला से ही सम्बन्धित हैं। प्रथम होली के बृहद् गान के रूप में लिखी गई है और दूसरी अलङ्कार तथा नायिका भेद को लिये दृष्टकूट काव्य है, जिसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है।

पौराणिकता : सूक्ष्म को स्थूल, अव्याकृत एवं अनिरुक्त को व्याकृत तथा निरुक्त रूप में कहने की प्रणाली पौराणिक है। पुराण साहित्य सूक्ष्म जगत् के तत्त्वों को कथानकों के द्वारा समझाने का प्रयत्न करता है। ऊपरी आवरण को देखने से कहानी कभी-कभी असङ्गत भी प्रतीत होती है, पर रूपक या अन्योक्ति के आवरण को हटाकर देखिये, तो कहानी के गर्भ में छिपे आध्यात्मिक संकेत स्पष्ट होने लगते हैं। कतिपय कहानियाँ ज्ञान, कर्म या भक्ति की महत्ता प्रकट करने के लिये भी गढ़ी गई हैं। इस रूप में वे पुरानी होते हुए भी नवीन हैं। पुराण का अर्थ भी यही है। पुरा—प्राचीन—जिस पद्धति में नव—नया—बनता रहता है, वह पुराण है। ज्ञान के सूक्ष्म सूत्र समझ में कम आते हैं, पर पुराण

की शैली में कहे गये वही सूत्र शीघ्र हृदयंगम हो जाते हैं। प्राचीन को नवीन रूप देना, आधुनिक ढङ्ग से कहना, विगत को प्रत्यक्ष कराना, असीम को ससीम अथवा महः को अणु या पार्थिव रूप देना पुराणसाहित्य का उद्देश्य है। पुराणों में जो कहानियाँ भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा और प्रचार के लिये लिखी गई थीं, उनका प्रयोग निर्गुण भक्ति के साधकों ने भी किया था और सगुण भक्ति के प्रतिपादकों ने भी। सूर में यह पौराणिकता कबीर के ही समान है। कबीर और सूर ही क्यों, प्रायः सभी भक्त कवि इन भक्तिपरक पौराणिक कथाओं में विश्वास करते रहे हैं। अजामिल, गणिका, अम्बरीष आदि की कथायें इसी प्रकार की हैं। सूर की आरम्भिक रचनाओं में इन कथाओं का बाहुल्य है। नीचे लिखी पंक्तियाँ पौराणिकता का प्रभाव प्रदर्शित करती हैं :

जहां जहां सुमिरे हरि जिहिं विधि, तहं तैसे उठि धाये हो।
दीन बंधु हरि भक्त कृपानिधि, वेद पुराननि गाये हो ॥ ७ ॥
रसना एक अनेक स्यामगुन, कहं लगि करौं बखानौं।
सूरदास प्रभु की महिमा अति, साखी वेद-पुरानौं ॥ ११ ॥
जाति पांति कुल कानि न मानत, वेद पुराननि साखै ॥ १५ ॥
नृग, कपि, विप्र, गीध, गनिका, गज, कंस, केसि खल तारे।
अघ, बक, वृषभ, बकी, धेनुक हति भव जलनिधि तें उबारे ॥
संखचूड़, मुष्टिक, प्रलम्ब अरु तृनावर्त संहारे।
गज चानूर हते दव नास्यौ, व्याल मथ्यौ भय हारे ॥ २७ ॥
हिरनकसिपु परहार-थक्यौ, प्रह्लाद न नेकु डरै।
अजहूं लगि उत्तानपाद सुत, अविचल राज करै ॥
राखी लाज द्रुपदतनया की, कुरुपति चीर हरै।
दुरजोधन कौ मान भंग करि बसन प्रवाह भरै ॥३६॥
द्विजकुल पतित अजामिल विषयी, गनिका हाथ बिकायौ।
सुत हित नाम लियौ नारायन सो बैकुण्ठ पठायौ ॥१०४॥
जब गज चरन ग्राह गहि राख्यौ, तब ही नाथ पुकार्यौ।
तजि कें गरुड़ चले अति आतुर नक्र चक्र करि मार्यौ ॥
निसि निसि ही रिषि लिये सहस दस दुर्वासा पग धार्यौ।
ततकालहिं तब प्रगट भये हरि राजा-जीव उबार्यौ ॥१०९॥

भीर परै भीषम प्रन राख्यौ, अर्जुन कौ रथ हांकौ ॥
रथ तै उतरि चक्र कर लीन्हो, भक्त वछ्ल प्रन ताकौ ॥११३॥

व्याध अरु गीध, गनिका, अजामिल द्विज चरन गौतम तिया परसि पायौ ॥
सूर प्रभु चरन चित चेतन करत ब्रह्म सिव सेस सुक सनक ध्यायौ ॥११९॥

गनिका किये कौन व्रत संजम सुकहित नाम पढ़ावै।
दुखित जानि कै सुत कुबेर के, तिन्ह लगि आपु बंधावै ॥१२२॥

आर्त भक्त की आर्ति के शमनार्थ ऊपर उद्धृत कहानियों में कितना आश्वासन भरा पड़ा है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है। सूर अनेक बार अपने अथवा भक्तों के समक्ष भगवान् के कृपालु हृदय को उपस्थित करते हैं। जिसने गृध्र, व्याध, गणिका और अजामिल जैसे अधमों का उद्धार किया, वह क्या मेरा त्राण नहीं करेगा? मैं क्या क्लेश-कण्टकों में ही पड़ा जीवन काटूँगा? मेरा जीवन-रथ क्या सबके पीछे ही पड़ा रहेगा? क्या इसे सबके आगे होने का कभी सौभाग्य प्राप्त नहीं होगा? नहीं, करुणा-वरुणालय के रहते ऐसा कैसे हो सकता है? मैं पापी ही सही, पर आज तो उस पाप-निवारक के चरणों में पड़ा हूँ। उसकी अमोघ शक्ति के समक्ष पाप क्या, पाप का बीज तक क्षार हो सकता है। सूर इसी प्रकार की भावनाओं में निमग्न एक पर एक उदाहरण देते जाते हैं। पुराणों के ये उदाहरण पाप से पृथक् होने की उद्दाम आकांक्षा रखने वाले और सुगति-प्राप्ति के लिये लालायित प्राणियों के लिये बड़ा बल रखते हैं।

पौराणिकों ने प्रभु के नाम-रूप की जो कल्पनायें कीं, वे भी इसी ध्येय को पुष्ट करती हैं। इन नाम-रूपादि में एक विशेषता थी। कबीर जैसे निर्गुण भक्त ने भी इन्हीं नाम-रूपादि को स्वीकार किया था, पर ऐतिहासिकता को हटा कर। सगुण भक्तों ने इस ऐतिहासिकता पर भी कल्पना का पुट चढ़ा कर उसे ऐसा मनोरम रूप प्रदान किया कि वह इतिहास में, यथार्थ में आदर्श का काम करने लगी। नाम ऐतिहासिक व्यक्ति का है, पर यौगिक निर्वचन से प्रभु-परक अर्थ भी देता है। रूप पार्थिव है, पर साथ ही दिव्य भी। धाम लौकिक जैसा लग रहा है, पर है अलौकिक। लीलायें भी मानवोचित होते हुए लोकोत्तर हैं। गुण-राशि तो महान् है ही। सब मिल कर मानव के कल्याण का पथ प्रशस्त कर रहे हैं, उसे दिव्यता की ओर चलने का संकेत दे रहे हैं।

नाम :

सूरदास ने कबीर की भाँति उन दिनों प्रचलित प्रभु के सभी नामों को स्वीकार किया है। इन नामों में कुछ वैष्णव-भक्ति-भावना से सम्बन्धित हैं, कुछ स्वरूप, धाम तथा स्वभाव के आधार पर हैं और कुछ अवतारी राम और श्रीकृष्ण के पर्यायवाची हैं। यथा :

(१) वैष्णव-भक्ति-भावना से सम्बन्धित :

हरि : हरि सौ ठाकुर और न जन कौ ॥ ९ ॥

जाकौं हरि अङ्गीकार कियौ ॥३७॥

यह नाम सूर को बड़ा प्रिय है। १, ७, ८१, ८२, ८४, ८५ आदि अनेक पदों में सूर ने यह नाम लिया है।

वासुदेव : वासुदेव की बड़ी बड़ाई ॥ ३ ॥

यह नाम अपेक्षाकृत कम आया है।

प्रभु : प्रभु कौ देखौ एक सुभाउ ॥ ८ ॥

× × ×

प्रभु हौं बड़ी बेर कौ ठाढ़ो ॥ १३७ ॥

यह नाम भी पद संख्या ३, १०८, १०९, ११०, १२९, १३०, १३८ आदि में कई बार आया है।

भगवान् : अब कै राखि लेहु भगवान ॥ ९७ ॥

× × ×

सूरदास भगवन्त भजन बिनु फिरि फिरि जठर जरै ॥ ३५ ॥

ठाकुर : सूरदास कौ ठाकुर ठाढ़ौ लिये लकुटिया छोटी ॥ ७८१ ॥

नाथ : नाथ अनाथनि ही के संगी ॥ २१ ॥

× × ×

अब कै नाथ मोहिं उधारि ॥ ९९ ॥

स्वामी : सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहि तू पीठि अभागे ॥ ८ ॥

पद संख्या ६ में सुरस्वामी नाम आया है।

प्रियतम : प्रीतम जानि लेहु मन माहीं ॥ ७९ ॥

गोस्वामी : मेरौ मन मतिहीन गुसाइँ ॥१०३॥

× × ×

मो सौ पतित न और गुसाईं ॥१४७॥

पुरुषोत्तम : मेंटी पीर परम पुरुषोत्तम दुख मेट्यौ ढुंढूंधां कौ ॥११२॥

यज्ञपुरुष : यज्ञपुरुष तब दरसन दियौ ॥ ४०९ ॥

ईश्वर : सु तै बिसारयौ सहज ही हरि, ईश्वर, भगवान ॥ ३२५ ॥

जगदीश : जैमी जगदीस जिय धरी लाजै ॥ ५ ॥

मुरारी : सूरदास पर कृपा करौ अब दरसन देहु मुरारी ॥ १०९ ॥

मुकुन्द : सूरदास प्रभु सब सुखसागर दीनानाथ, मुकुन्द, मुरारी ॥ २२ ॥

श्रीपति तथा स्वामी :

परबस भयौ पसू ज्यों रजुबस, भज्यौ न श्रीपति रानौ ॥ ४७ ॥

सूरदास प्रभु अधम उधारन, सुनिये श्रीपति स्वामी ॥ १४८ ॥

श्रीनाथ : अब तौ नाथ न मेरौ कोई बिनु श्रीनाथ मुकुंद मुरारी ॥ २४८ ॥

कमलापति : ये जगदीस ईश कमलापति ॥ ६०४ ॥

रमापति : छुद्र पतित तुम तारि रमापति, अब न करौ जिय गारौ ॥१३१॥

विश्वम्भर तथा साहब :

पोषन भरन विसंभर साहब जो कलपै सो कांचौ ॥ ३२ ॥

माधव : माधौ नेकु हटकौ गाइ ॥ ५६ ॥ तथा ७, ५१, १००, १०२, ११७ आदि में भी ।

इन नामों में नाथ, स्वामी, गुसाईं, साहब आदि ऐसे नाम हैं जिन पर नाथसम्प्रदाय या निर्गुण सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है। वैष्णवों में इन नामों का प्रचार इन्हीं सम्प्रदायों की देन है।

(२) राम से सम्बन्धित :

राम : राम भक्तवत्सल निज बानौं ॥ ११ ॥

कहा कमी जाके राम धनी ॥ ३९ ॥

यह शब्द भी ५७, ५९, ७१, ९०, ९२, २९६, २९७, ३१०, ३११ आदि कई पदों में आया है। आचार्य वल्लभ से मिलने के पूर्व सूर का यह प्यारा नाम प्रतीत होता है। भविष्यपुराण जो सूर को रामानन्दमतस्थ कहता है और जिसमें राम नाम की विशेष महत्ता है, संभवतः सत्य हो। राम के साथ श्याम, गोपाल आदि नाम भी चलते थे। आचार्य वल्लभ से मिलने के पश्चात् तो सूर बालगोपाल के ही घनिष्ठ प्रेमी बने।

रघुकुल तथा राघव शब्दों का प्रयोग भी पद संख्या ११ में हुआ है। नवम स्कंध में रघुवीर (१८), रघुनाथ (२३), रघुराइ (३५), राघव (४७), रघुपति (९२), रघुनन्दन (९९), रघुवर (६७) तथा राम शब्दों का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है।

(३) कृष्ण से सम्बन्धित :

यदुनाथ : जग जानत जदुनाथ, जिते जन निजभुजस्रम-सुख पायौ ॥ १५ ॥
यदुराज : का न कियौ जनहित जदुराई ॥ ६ ॥
केशव : तुम कृपालु करुनानिधि, केशव, अधम उधारन नांउ ॥ १२८ ॥
कृष्ण : सूरदास व्रत यहै कृष्ण भजि भव जलनिधि उतरत ॥ ५५ ॥
श्याम : सूर श्याम बिनु अन्तकाल में कोउ न आवत नेरे ॥ ८५ ॥
घनश्याम : अन्त के दिन को है घनस्याम ॥ ७६ ॥
गोविन्द : गोविंद प्रीति सबनि की मानत ॥ १३ ॥ तथा पद ३१, ६३, ८० आदि में।
गोपाल : नीके गाइ गोपालहि मन रे ॥६६॥ तथा ७४, ८५,९८ आदि में।
गिरिधर : ठकुराइति गिरिधर की सांची ॥ १८ ॥ तथा १०८१ आदि में।
नंदकुमार : सब तजि भजिये नंदकुमार ॥ ६८ ॥
बनवारी : जे जन सरन भजे बनवारी ॥ २२ ॥ तथा १६० आदि।
वनमाली : वनमाली भगवान उधारौ ॥ १७२ ॥
नंददुलारे : कोमल कर गोवर्धन धारौ जब हुते नंद दुलारे ॥ २५ ॥
नंदलाल : दृढ़ विस्वास भजौ नंद लालहि ॥ ७४ ॥ १५३ आदि में भी।
यदुनंदन : तब जदुनंदन लाये ॥ २९ ॥
नंदनंदन : सूर नंद नंदन जेहि बिसर्‌यौ ॥ ७८ ॥
मोहन : मोहन के मुख ऊपर वारी ॥ ३० ॥ पद संख्या ३६, ३७ में मनमोहन शब्द का प्रयोग हुआ है।
बलवीर : हरै बलवीर बिना को पीर ॥ ३३ ॥
गोपीनाथ : गोपीनाथ सूर के प्रभु कैं बिरद न लाग्यौ टांकौ ॥ ११२ ॥ तथा ४३२ में।
दामोदर : कृपानिधान दानि दामोदर सदा संवारन काज ॥ १०९ ॥
रुक्मिणीरमण : कर जोरि सूर बिनती करै सुनहु न हो रुकुमिनिरवन ॥१८०॥

ये नाम दशम स्कंध में भी आये हैं। इनमें से श्याम तथा घनश्याम नाम राम के लिये भी आया करते हैं। सूर ने राम और कृष्ण से सम्बन्धित नामों में एकता भी स्थापित की है। पद संख्या ११ और २३३ में राघव और कृष्ण तथा राम और गोपाल नाम एक साथ आये हैं। विनयपत्रिका पद संख्या ५७ में तुलसी ने भी कृष्ण और राम का नाम एक साथ लिया है। सूर पद संख्या ३४६ में लिखते हैं कि गोविन्द या रामनाम की समता अश्वमेध यज्ञ, चान्द्रायण आदि व्रत और करोड़ों तीर्थ भी नहीं कर सकते, परन्तु पद संख्या १७१ में वे अपने को श्याम का ही गुलाम कहते हैं। पद संख्या १५९९ में 'जै गोविन्द माधव मुकुंद हरि' से प्रारम्भ करके राम तथा कृष्ण से सम्बन्धित अनेक नामों का वर्णन सूर ने किया है।

(४) स्वरूप से सम्बन्धित :

अविगत : अविगत-गति कछु कहत न आवै ॥ २ ॥

शार्ङ्गपाणि : तेली के वृष लौं नित भरमत, भजत न सारंगपानि ॥ १०२ ॥
तथा १३५-६०४ आदि।

शार्ङ्गपति : सारंगपति प्रगटे सारंग लै जानि दीन पर भीर ॥ ३३ ॥

शार्ङ्गधर : देखि रे वह सारंगधर आयौ ॥ ५६६ ॥

देवमणि : तुमही देउ बताइ देवमनि नाम लेंउ धौं ताकौ ॥ ११३ ॥

चतुर्भुज : जन्म परीच्छित कौ जब भयौ। कह्यौ चतुर्भुज कहं अब गयौ ॥२८९॥

नरकेहरी : भक्त वछल वपु धरि नर केहरि दनुज दह्यौ उर दरि सुरसाईं ॥ ६ ॥

(५) स्वभाव से सम्बन्धित :

दीनानाथ : जाकौ दीनानाथ निवाजै ॥ ३६ ॥
जापर दीनानाथ ढरै ॥ ३५ ॥

दयानिधि : दयानिधि तेरी गति लखि न परै ॥ १०४ ॥

दीनदयाल : सोइ कछु कीजै दीन दयाल ॥ १२७ ॥

(६) धाम से सम्बन्धित :

वैकुण्ठनाथ : वैकुण्ठनाथ सकल सुखदाता सूरदास सुखधाम ॥ ९२ ॥
तजि सेवा वैकुंठनाथ की नीच नरनि के संग रहै ॥ ५३ ॥

निधि : जाइ समाइ सूर वा निधि में, बहुरि जगत नहिं नाचै ॥८१॥३५४॥

वृन्दावनचन्द्र : सूरदास पर कृपा करौ प्रभु श्री वृन्दावन चन्द ॥ १६३ ॥
गोकुलपति : हित करि मिलै लेहु गोकुलपति अपने गोधन मांह ॥ ५१ ॥
व्रजराज : लीजै पार उतारि सूर कौ महाराज व्रजराज ॥ १०८ ॥
व्रजनाथ : मेरी कौन गति व्रजनाथ ॥ १२६ ॥

रूप : सूर अपने प्रभु को इन्द्रियातीत, मन और वाणी से परे, रूपरहित तथा निराकार मानते हुये भी उसे स्वरूपवान्, सुन्दर तथा साकाररूप में उपस्थित करते हैं। प्रभु के साकार रूप का वर्णन उन्होंने अनेक पदों में किया है। नख से शिखा तक हरि के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए सूर थकते नहीं। रूप के उस परमनिधि के दर्शनार्थ सूर के बन्द नेत्र गोपियों के नेत्रों के रूप में परम लालची बने हुए हैं। प्रभु के विराट् तथा ज्योतिःस्वरूप का वर्णन वेद भी करते हैं। सूर ने भी अपने प्रभु को इन रूपों में देखा है। वैष्णव-आस्था के अनुसार वे उसके चतुर्भुजस्वरूप का भी प्रतिपादन करते है। यथा :

निराकार : लोचन स्रवन न रसना नासा।
बिनु पद पानि करै परगासा ॥ ६२१ ॥

अगोचर : मनसा वाचा कर्म अगोचर सो मूरति नहिं नैन धरी ॥ ११५ ॥
मन बानी कौ अगम अगोचर सो जानें जो पावै ॥ २ ॥

निर्गुण सगुण : जाकी माया लखै न कोई। निर्गुन सगुन धरै वपु सोई ॥६२१॥
चरन कमल नित रमा पलोवै। चाहति नेकु नैन भरि जोवै ॥
अगम अगोचर लीलाधारी। सो राधा बस कुंज विहारी ॥६२१॥
गुन बिनु गुनी, सुरूप रूप बिनु, नाम बिना श्री स्याम हरी ॥ ११५ ॥

ज्योतिःस्वरूप : जा समय सिसुपाल सुजोधा अनायास लै जोति समोयौ ॥ ५४ ॥
नव मनि मुकुट प्रभा उदिता अति, चित्त चकित अनुमान न पावति।
अति प्रकाश निशि विमल, तिमिर हर कर मलि मलि मिल पतिहि जगावति ॥ ६२५ ॥
ज्योतिरूप जगन्नाथ जगतगुरु जगतपिता जगदीस ॥११०५॥
रह्यौ घट घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप ॥ २७० ॥

चतुर्भुज : बहुरौ धरै हृदय मह ध्यान। रूप चतुर्भुज स्याम सुजान ॥३९४ ॥
चतुर्भुज रूप धरि आय दरसन दियो ॥ ४३७ ॥
चारि भुज जिहिं चारि आयुध ॥ ६२३ ॥

नख-शिख साकार रूप :
कमल नैन ससि बदन मनोहर देखे हो पति अति विचित्र गति।
स्याम सुभग तन, पीत वसन द्युति सोहै बनमाला अद्भुत अति ॥६२५॥
करि मन नंदनंदन ध्यान।
सेव चरन सरोज सीतल, तजि विषय रस पान ॥
जानु जंघ त्रिभंग सुन्दर कलित कंचन दंड।
काछनी कटि पीत पट द्युति कमल केसर खंड ॥
मनौं मधुर मराल छौना, किंकनी कल राव।
नाभि हृद रोमावली अलि चले सहज सुभाव ॥
कंठ मुक्तामाल, मलयज, उर बनी बनमाल।
सुरसरी के तीर मानौं लता स्याम तमाल ॥
बाहु पानि सरोज पल्लव, धरे मृदु मुख बेनु।
अधर दसन कपोल नासा परम सुन्दर नैन ॥
कुटिल भ्रू पर तिलक रेखा सीस सिखिन सिखंड ॥ ३७० ॥

सूरसागर में नखशिखवर्णन के कई सुन्दर पद हैं। पद संख्या ६९, ७६९, ८५२, १२४३ तथा २३७३ देखने योग्य हैं।

विराट रूप :
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास।
सूर चंद नछत्र पावक, सर्व तासु प्रकास ॥ ३७०

गुण :

(१) स्वाभाविक :

अन्तर्यामी : वे रघुनाथ चतुर कहियत है, अन्तरजामी सोई ॥ ५४३
कमल नैन, करुनामय, सकल अंतरजामी ॥ १२४

अविनासी : आदि सनातन, हरि अविनासी। सदा निरन्तर घट घट वासी ।६२१

पुरातन : पुरुष पुरातन सो निर्वानी ॥ ६२१

अनादि, सानंद : तुम अनादि, अविगत, अनंतगुन-पूरन परमानन्द ॥ १६३

सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ : तुम सर्वज्ञ, सबै विधि समरथ, असरन सरन मुरारि।११।
सुखरासि : अविनासी सुखरासि ॥ १११
गंभीर, उदार : अति गंभीर उदार उदधि हरि, जान सिरोमनि राइ ॥ ८
कलानिधान, गुणसागर : कलानिधान् सकल गुनसागर ॥ ७ ॥
अजर-अमर : जरा मरन तें रहित अमाया ॥ ६२१ ॥
पूर्ण : पूरन ब्रह्म अखंडित मंडित ॥ ४४८४ ॥
अनंत : पूरन ब्रह्म पुरान बखानै। चतुरानन सिव अंत न जानै ॥ ६२१ ॥

(२) जगतसम्बन्धी :

कर्ता-भर्ता-हर्ता : कारन करनहार करतार। करता हरता आपुहिं सोइ ॥२६१
लोक रचै, राखै अरु मारै। सो ग्वालनि संग लीला धारै ॥ ६२१ ॥
कोटि ब्रह्माण्ड करत छिन भीतर, हरत बिलंब न लावै ॥ ७४४ ॥
दाता भुक्ता हरता करता, विश्वंभर जग जानि ॥ ११०५ ॥
तुम ही कर्ता तुम ही हर्ता, तुम तै और न कोइ ॥ ४९१७ ॥
त्रिभुवनपतिराइ : मेरी नौका जनि चढ़ौ त्रिभुवनपतिराई ॥ ४८६ ॥
अमर उधारन असुर सहारन अन्तरजामी त्रिभुवनराई ॥६३१
जग के माता-पिता : सांची विरुदावलि तुम जग के पितु माता ॥ १२३ ॥
जगतपिता जगदीश जगतगुरु :
जगतपिता जगदीस जगतगुरु निजभक्तनि की सहत ढिठाई ॥ ३ ॥

(३) भक्तसम्बन्धी :
अकारण हितकारी : बिनु बदलै उपकार करत है स्वारथ बिना करत मित्राई॥३
संतत भक्तमीत हितकारी स्याम बिदुर कै आये।
सूरदास करुनानिधान प्रभु जुग जुग भक्त बढ़ाए ॥ १६ ॥
दयालु : जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कौ सब कछु दरसाई ॥ १ ॥
दीनबन्धु : दीनबंधु हरि भक्त कृपानिधि वेद पुराननि गाए ॥ ७ ॥
भक्तवत्सल : सूरदास प्रभु भक्त बछल तुम पावन नाम कहाए ॥ ७ ॥
राम भक्तवत्सल निज बानौं ॥ ११ ॥
भक्त बछल प्रभु पतित उधारन रहे सकल भरि पूरि ॥ ११०५ ॥
करुनामय : भक्त बिरह कातर करुनामय डोलत पाछैं लागे ॥ ८ ॥

जब जब दीननि कठिन परी
जानत हो करुनामय जन कौं तब तब सुगम करी ॥ १६ ॥

शील की राशि : तिनका सौ अपने जन कौ गुन मानत मेरु समान ।
सकुचि गनत अपराध समुद्रहिं बूंद तुल्य भगवान् ॥ ८ ॥
सूर स्याम सर्वज्ञ कृपानिधि करुना मृदुल हियौ ॥ १२१ ॥

दाता : भूख भए भोजन जु उदर कौ, तृषा तोय, पट तन कौ ॥ ९ ॥

अभयदानदाता : दीन कौ दयालु सुन्यौ अभयदान दाता ॥ १२२ ॥

अशरण-शरण : स्याम सुंदर मदन मोहन बानि असरन सरन ॥ २०२ ॥

उदार तथा भक्तप्रेमी :
ज्यौं फिरत सुरभी ज्यौं सुत संग उचित गमन गृह बन कौ ॥ ९ ॥

आर्त-दुख-दाहक : दीनानाथ हमारे ठाकुर सांचे प्रीति निवाहक ।
सूरदास सठ तातैं हरि भजि आरत के दुखदाहक ॥१९॥

पतितपावन : सूर पतितपावन पद-अम्बुज सो क्यों परिहरि जाउं ॥१२८॥

प्रीति के वशीभूत : प्रीति के वस्य ये हैं मुरारी ॥ २६३६ ॥

प्रवीन : चित दै सुनौ स्याम प्रवीन ॥ ४७२५ ॥

सुजान : सुनहु स्याम सुजान तिय गजगामिनी की पीर ॥ ४७२७ ॥

चतुर : परम उदार चतुर चिंतामनि कोटि कुबेर निधन कौ ॥ ९ ॥

नागर : सूरदास तुम हौ अति नागर बात तिहारी जानी ॥ ८९७ ॥

(४) रूप-सम्बन्धी :

गरुड़गामी : सकल अघहरन हरि गरुड़ गामी ॥ २१४ ॥

कमलनैन ससिबदन :
कमल नैन, ससियदन मनोहर देखे हो पति अति विचित्र गति ॥ ६२५ ॥

धाम :

सूरसार में निम्नाङ्कित धामों के नाम पाये जाते हैं :

वैकुण्ठ : बकी कपट करि मारन आई सो हरि जू वैकुण्ठ पठाई ॥ ३ ॥
पद संख्या १०, ८२, १०४, ४०४, ४०५, ४२४, ४२५, ६२७ आदि में भी यह नाम आया है। पद संख्या ३९९ में वैकुण्ठ को देव-निवास भी कहा गया है। यथा :

यो कहि पुनि बैकुंठ सिधारे। विधि हरि महादेव सुर सारे ॥ ३९९ ॥
गोस्वामी तुलसीदास का मत भी यही है।

क्षीरसागर : छीर समुद्र मध्य तें यों हरि दीरघ वचन उचारा ॥ ६२२ ॥
स्वर्ग : तुम मोसे अपराधी माधव केतिक स्वर्ग पठाए ॥ ७ ॥
सुरपुर : सूर विमान चढ़े सुरपुर सौं आनन्द अभय निसान बजायौ ॥५८५॥
हरिपुर : याहि समुझि जो रहै लौ लाइ। सूर बसै सो हरिपुर जाइ ॥३९४॥
गोकुल : रघुकुल राघव, कृष्ण सदा ही गोकुल कीन्हौं थानौं ॥ ११ ॥
वृन्दावन : छांड़ौ नाहिं स्याम स्यामा की वृन्दावन रजधानि ॥ ८७ ॥
पद संख्या ७६, ९४, १९४, १११० आदि में भी वृन्दावन धाम का वर्णन है।

अभयपद : रंक सुदामा कियौ अजाची दियौ अभय पद ठांउ ॥ १६४ ॥
पद संख्या १०४, १८८, १९३ आदि में भी इसका उल्लेख है।
मुक्ति : मोको मुक्ति विचारत हौ प्रभु पचिहौ पहर घरी ॥ १३० ॥
सुखधाम : केसी कंस कुवलया मुष्टिक सब सुखधाम सिधारे ॥१५८,१७ में९ भी
सरोवर : चलि सखि तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला रवि बिना बिकसाहिं ॥ ३३८ ॥

चरणसरोवर : चकई री चलि चरन सरोवर जहां न प्रेम वियोग ॥ ३३७ ॥
श्यामकमलपद : भृंगी री भजि स्याम कमलपद जहां न निसि कौ त्रास ॥
जहं विधु भानु समान एकरस सो वारिज सुखरास ॥३३९॥

वन : सुवा चलि ता वन कौ रस पीजै ॥ ३४० ॥

पद संख्या ४१५ में—
जान अजान नाम जो लेइ। हरि वैकुंठ वास तेहि देइ ॥
भय हूं करि कोउ लेइ जो नाम। हरि जू देहिं ताहि निज धाम ॥
तद्यपि हरि तेहिं निज पद देइ।

तथा :
सूर विष्णु पद पावै सोइ।
लिख कर सूर ने वैकुंठ को निज धाम, निज पद तथा विष्णुपद भी कह दिया है। पद संख्या ४०३ में नारद ध्रुव को मथुरा में चतुर्भुज स्वरूप के ध्यान करने का आदेश देते हैं। यथा :

मथुरा जाइ जु सुमिरन करौ। हरि कौ ध्यान हृदय मे धरौ।
द्वादस अच्छर मंत्र सुनायौ। और चतुर्भुज रूप बतायौ॥
मथुरा जाइ सोइ उन कियौ। तब नारायन दरसन दियौ॥

पद संख्या ३७१५ में मथुरा की प्रशंसा है। वह चक्रसुदर्शन के ऊपर रखी है, अखिल भुवन की शोभा है, सुर, मुनि तथा तीर्थों द्वारा सेवित है, अगतियों की गति, हरिदर्शन की राजधानी तथा निमिष भर के लिये भी अपने अन्दर रहने वालों को आवागमन से मुक्ति दिलाने वाली है। पद संख्या ३५३ में 'कमललोचन' में चित्त को स्थिर कर देने का वर्णन है।

यथा :

ऐसे सूर कमल लोचन ते चित नहिं अनत डुलावै॥

पद संख्या ३५५ में लिखा है कि जो भक्त केवल भगवद् भजन में प्रतीति रखते हैं और जिनका हरिचरण-कमलों में दृढ़ अनुराग है, उन्हें नाक (स्वर्ग) का सुख और निरय (नरक) का दुःख व्याप्त नहीं होता। पद संख्या ३५६ में नाम को ही अमृत फल कह दिया है। पद संख्या ३४० में वाराणसी को मुक्ति क्षेत्र का नाम दिया है।

हरिलीला गायन में सूर ने वृन्दावन को जो महत्त्व प्रदान किया है, वह गोकुल को भी नहीं, यद्यपि पुष्टिमार्गीय भक्तों के लिये गोकुल ही सर्व-श्रेष्ठ धाम रहा है। इस सम्बन्ध में हमने 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' प्रबन्ध के पृष्ठ ४५१-४५२ पर विस्तारपूर्वक लिखा है।

धामों के वर्णन मे सूर ने वैष्णवपद्धति का ही अनुसरण किया है, पर लीला-गायक होने के कारण उसने श्रीकृष्ण के चरणों तथा नेत्रों के ध्यान को भी किसी धाम से न्यूनतर नहीं समझा है।

लीला : स्थिति और गति, अन्न और प्राण दोनों के पीछे चेतना है। चेतना के भी पीछे महाचेतना है। यहीं पर सत्ता, क्रिया तथा मन का परम विश्राम है। गति प्रगति बन कर प्रत्यागति में परिणत होती है और अपने केन्द्र में समा जाती है। क्रिया प्रक्रिया बन कर प्रतिक्रिया का रूप धारण करती है और शान्त हो जाती है। गति अपनी परम गति में, क्रिया अपनी परम क्रिया में पहुँच कर अवसान प्राप्त करती है। परमगति एक प्रकार से गति की पराकाष्ठा है जिससे गति दृष्टिगोचर नहीं होती। चेतना की लहरों

का भी यही रूप है। वैयक्तिक चेतनाओं का समुदाय महाचिति है। जहां चेतना की धारायें एकत्र हैं, एकत्व में घनीभूत हैं। यहाँ सत्ता तो है, पर नाम-रूप से विहीन होने के कारण अनिर्वचनीय है। इसी हेतु ऋषियों ने इसे सत् और असत् दोनों से ही विलक्षण कहा है। वचनीयता किसी सत्ता में तब आती है, जब वह कोश, राशि या विश्राम-स्थिति से निकल कर इकाई या व्यक्तित्व का रूप धारण करती है। परमप्रशान्त, घनीभूत, केन्द्रित अवस्था में जब काम के कारण विक्षोभ होता है, तभी इकाइयों का, व्यक्तित्वों का जन्म होता है। तभी गति के तार पर तार परिलक्षित होने लगते हैं। यह महाचिति का मानों स्वप्नावस्था से जागरण है, निमीलन का उन्मीलन है। यही प्रलय का सर्ग में परिणमन है। सर्ग-सर्जन या रचना के पश्चात् स्थिति है और स्थिति के पश्चात् पुनः प्रलय है। सूर्य की रश्मियाँ पृथ्वी पर पड़ती हैं, ठहरती हैं और फिर लौट कर सूर्य में समाविष्ट हो जाती हैं। यह सृष्टि भी उत्पन्न होती है, ठहरती है और अन्त में विलीन हो जाती है। इसकी मध्य स्थिति में जीव विविध प्रकार की क्रियायें करते हैं, ग्रह और नक्षत्र अन्तरिक्ष में एक नियत गति के साथ अपने अक्ष या अन्य के अक्ष के चतुर्दिक् परिभ्रमण करते हैं और अन्त में चुप हो जाते हैं। जंगम और तस्थुष की ये क्रियायें और गतियाँ इसी प्रकार विश्रान्त और विक्षुब्ध होती रहती है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इस सृष्टि के शाश्वत साथी हैं। महाचेतना मानों इन्हीं के रूप में अपना खेल खेल रही है; लीला कर रही है।

आचार्य वल्लभ की कृपा से सूर को इस लीला का साक्षात् दर्शन हुआ था। अशान्ति और अकुलाहट की निबिड़ निशा में सूर के समक्ष लीला का साक्षात् मानों सूर्य का प्रकाश था। इस प्रकाश से सूर का आध्यात्मिक जगत् जगमगा उठा। पार्थिव चक्षुओं के बंद होने पर भी सूर के दिव्य चक्षु खुल गये। स्वयं प्रकाश बन कर तभी से वे हरिलीला-गायन में निमग्न हो गये।

जो महाचिति है, परम गति है, केन्द्र है, वही सूर का हरि है, श्रीकृष्ण है। सब को अपनी ओर हरने वाला, आहरण करने वाला, आकर्षित करने वाला ही तो हरि है, कृष्ण है। वही सब में समाया या बसा होने से वासुदेव है। बिन्दु जैसे सभी रेखाओं में समाविष्ट है, केन्द्र जैसे परिधि तक अपना

विस्तार किये हुए है, वैसे ही हरि, श्रीकृष्ण, वासुदेव सब में ओतप्रोत हैं और वे सब में हैं, इसीलिये सब को, परिधि को, विस्तार को अपनी ओर खींच भी रहे हैं। यही खींचना और फैलाना, आकुंचन और प्रसारण, आविर्भाव और तिरोभाव, उदय और अस्त, संयोग और वियोग भगवल्लीला के उभयपक्ष हैं। यह उभयता बीज के अंकुरित होते ही, उसके फूटते हुए दो दलों, में अभिव्यक्त होने लगती है। महाचेतना का वह हिरण्यगर्भ भी, महदंड भी द्विधा होता है, ऐसा भारतीय ऋषि कहते रहे हैं।

द्विदलता के दो विशालरूप जड़ और जंगम हैं। फिर ये भी स्वयं नाना द्विदलों में विभक्त हुए हैं। श्रीकृष्ण शब्द में श्री और कृष्ण इन्हीं द्विदलों के नाम हैं। राधा और कृष्ण भी यही हैं। प्रकृति और पुरुष इन्हीं के अपर नाम हैं। कृष्ण जैसे राधा के साथ, पुरुष जैसे प्रकृति के साथ खेलता है, वैसे ही भगवान् मानों अपनी लीला के द्वारा खेल रहा है। खेल भी लीला है और खेलने का साधन भी लीला है। शतपथकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस द्विदलता के खेल को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा था[1]।

सूर का सागर प्रमुख रूप से इसी लीला का गान है। सूर का मन इसी में विशेषरूप से रमा है। सूरसागर यद्यपि बाह्य कलेवर में भागवत का अनुवाद-सा लगता है, पर अपने अन्तस्तल में वह सूर के अन्तस्तल को छिपाये है। भागवतकार व्यास को भी साक्षात् हुआ था, पर जो साक्षात् सूर को हुआ, उसे हम व्यास का साक्षात् नहीं कह सकते। दोनों ने अपने अपने साक्षात् को अपनी-अपनी भावभूमि में प्रतिष्ठित करके अपनी-अपनी कलातूलिकाओं से चित्रित किया है और चित्रों में अपने अपने रंग भरे हैं।

लीला का प्रथम रूप तो रचना ही है। भागवत रचना को परमपुरुष का आद्य अवतार कहती है। पाञ्चरात्र साहित्य के आधार पर हम अवतारों के कई रूप पीछे लिख चुके हैं। महात्मा सूरदास ने सूरसारावली में रचना से प्रारम्भ करके अनेक अवतारी लीलाओं को एक बृहत् होली के गान-रूप में लिखा है। सूरसारावली सूरसागर के लीलागान का एक नई शैली में संक्षिप्त रूप है। सूरसागर में यह लीलागान विशालरूप में है। कुछ लीलायें दो-दो तीन-तीन बार भी लिखी गई हैं।

---

१. शतपथ १० १-१-८

अवतारी लीलाओं में राम-गाथा सूरसागर के नवम स्कंध में वर्णित हुई है, पर लीला की जो गंभीर और व्यापक अवस्थिति दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्णलीला के अन्तर्गत है, वह वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। पद संख्या ३४९ में सूर लिखते हैं कि गोपाल के लीलाधाम में जो सुख है, वह करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से भी प्राप्त नहीं हो सकता। पद संख्या २४, २५, ३४, ३५, १७६ और २२४ में भी वे इसी विश्वास को प्रकट करते हैं। सूर की यह भी मान्यता है कि जहाँ हरिलीला की चर्चा होती है, वहां गंगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती और गोदावरी अविलम्ब चली आती हैं और समस्त तीर्थ वहाँ आकर निवास करने लगते हैं (२२४)। भगवान् की लीला का विस्तार वस्तुतः भक्तों का उद्धार करने के लिये है। जो भक्त नहीं है, वह मारा जाता है, जैसे रावण। जो भक्त है, वह राज्य तथा अटल पद का अधिकारी बनता है, जैसे विभीषण और ध्रुव। सुदामा जैसे भक्त का दारिद्र्य दूर होता है और दुर्योधन, दुःशासन जैसे दस्युओं के वैभव पर पानी फिर जाता है। (१७६)। बड़े से बड़ा सम्राट्, विपुल-वैभव से समृद्ध, प्रबल से प्रबल शक्तिशाली, यशस्वी मानव भी यदि अत्याचारी है, पापी है, मानवता का शत्रु है, तो लीलामय भगवान् उसे अवश्य नीचा दिखाते हैं। वह ऊर्ध्व गति का अधिकारी नहीं बन सकता। प्रभु की यह कर्म-मर्यादा है। इसका पालन होना ही चाहिये। सूर ने नृशंस रावण के सम्बन्ध में इसीलिये लिखा है :

नव ग्रह परे रहे पाटी तर कूपहिं काल उसारौ।
सो रावन रघुनाथ छिनक में कियौ गीध कौ चारौ॥ ६०३॥

नवग्रह जिसकी पाटी के नीचे पड़े रहते थे, काल का उसारा या छप्पर (निवासस्थान) जिसके कूप में था, ऐसे भौतिक समृद्धि के धनी रावण को राम ने क्षण भर में गृध्र का भोजन बना दिया। नीच की दुर्गति होनी चाहिये, उसे नरक मिलना चाहिये, तभी मानवता का शुद्ध विकास हो सकता है, तभी सद्गुणों का समादरणीय होना संभव है, मानव का हृदय इसी उपलब्धि में सुखी, संतुष्ट और तृप्त होता है। यदि रावण जैसे राक्षसों को तुलसी की भाँति सुरपुर भेजा जाय (रामचरितमानस लंकाकाण्ड १२९), उन्हें निज धाम दिया जाय, तो सद्गुणों की राशि, मानवता की निधि कहाँ त्राण पावेगी? सत् की कैसे रक्षा होगी? भगवल्लीला यदि भक्त के

उद्धार के लिये है, सत् के संत्राण का यदि कोई अर्थ है, अवतार यदि अधर्मी और दुष्कृती का विनाश तथा साधु-सज्जनों का परिपालन करता है, तो कल्याणकारी की सद्‌गति और दुराचारी की दुर्गति होनी ही चाहिये। तभी कर्ममर्यादा की रक्षा होगी, अन्यथा नहीं। सूर पद संख्या ५५९ में लिखते हैं :

छिन इक में भृगुपति प्रताप बल करषि हृदय धरि लीनों ॥
लीला करत कनक मृग मार्‌यौ, बध्यौ बालि अभिमानी।
सोइ दसरथकुल चंद अमित बल आए सारंगपानी ॥

राम यदि दशरथकुल के चंद्र हैं, प्रसिद्ध सूर्यवंश को उज्ज्वल करने वाले हैं, उनके हाथों में धनुष और अपरिमित बल है, तो उन्हें बालि जैसे अभिमानी का गर्व खर्व करना ही चाहिये, कपटी, मायावी, दूसरों को धोखा देने वाले कनकमृग जैसे रूप को धारण करने वाले, विष भरे कनकघट के समान मारीच का वध उनके हाथों होना ही चाहिए। परशुराम अत्याचारी नहीं थे, वे मदमत्त क्षत्रियों को सन्मार्ग पर लगाने वाले थे, अतः सूर ने उनके प्रताप और बल को राम के हृदय में स्थापित करा दिया है। वैसे परशुराम को भी अवतार माना जाता है, पर तुलसी ने उनकी भी छीछालेदर की है।

रावण पर यदि विद्वेष-सम्बन्धी भक्ति का आरोप किया जाता है, तो इस भक्ति का कहीं तो कोई शुभ लक्षण, पश्चात्ताप आदि के ही रूप में, दृष्टिगत होना चाहिये, जो कहीं पर भी नहीं है। जो व्यक्ति लोक-विरोधी कार्य करता है, ऋषियों की हत्या करके उनकी हड्डियों से दण्डकारण्य को पाट देता है, उसे यदि शुभगति प्राप्त होती है, तो सत्, शुभ, भद्र और कल्याण का तो दम घुटने लगेगा और साधुता सीधमान होकर करुण क्रन्दन करने लगेगी। फिर न सत्य रहेगा और न सत्य के अधिष्ठाता भगवान्। और भगवान् ही नहीं, तो भक्ति किसकी और कैसी ?

यदि यह कहा जाय कि रावण, कंस आदि भगवान् के हाथों मरे, अतः उन्हें निर्वाण पद प्राप्त होना चाहिये, तो क्या मृत्यु भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य के भी हाथों में है ? साक्षात् द्रष्टा ऋषि तो मृत्यु तथा अमृत दोनों को उसी के हाथ में रखा बताते हैं। जब सब उसी के हाथ में हैं, तो सब उसी के हाथों मरते हैं। अन्य यहाँ है ही कौन मारनेवाला ? उस एक के अतिरिक्त अन्य सब मरने के ही लिये आते हैं। आते हैं, अतः जाते भी हैं। उन्हें जाना ही

है। आकर क्या यहाँ कोई स्थिर भी रहा है? अन्तिम एकान्त सत्य तो वही एक है।

सूर ने पद संख्या २४४ में सत् पुरुष की परिभाषा करते हुए लिखा है कि उसे निरभिमान होना चाहिये, दैन्य उसके स्वभाव में गृहीत हो। जहाँ अभिमान है, वहाँ सत् नहीं, अमृत नहीं, विष रहता है। सत् पुरुषों पर, भगवद्भक्तों पर जहाँ संकट पड़ता है, वहाँ भगवान् उनकी रक्षा के लिये तुरन्त पहुँच जाते हैं। वे भक्तों के साथ लगे-लगे फिरते हैं, एक प्रकार से भक्तों के हाथ बिक जाते हैं। पद संख्या १९३ के अनुसार भगवान् भक्तों को अभय पद प्रदान करने वाले हैं। भगवान् की लीला का, उनके चरितामृत का यही पुनीत उद्देश्य है। वह लीला ही क्या जो भक्त को उत्-ऊपर की ओर, धार-धारण न कर सके, उसे महत्, अवदात, उदात्त, ऊर्ध्व गति उपलब्ध न करा सके? रावण जैसे दस्युकर्मा, पापीयसी प्रवृत्तिवालों को भक्त कहना भक्तिकाण्ड का निरादर करना है।

सूर ने रामगाथा में ही नहीं, कृष्णगाथा में भी इस लक्ष्य को आँख से ओझल नहीं होने दिया है। पद संख्या ६६८ में उन्होंने पूतना को अवश्य जननी की गति प्रदान की है और उसे निज धाम भेजा है, क्योंकि वह मातृभाव से ही बालकृष्ण के पास आई थी। पर पद संख्या ६७७ में कागासुर, ६८० में शकटासुर, ६९४ में तृणावर्त आदि असुरों का वध श्रीकृष्ण करते हैं, उन्हें परमगति नहीं देते। यही बात बकासुर, अघासुर, धेनुक, प्रलम्ब, वृषभ, केशी, व्योम आदि असुरों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कंसासुर को अन्य पदों में तो नहीं, पर पद संख्या ३६९६ में सूर ने भी सुरों की गति दी है और उसे निर्वाण-पद भेजा है। यह चिन्त्य है।

क्या निर्वाण, निजधाम या सुरपुर को अर्थवाद नहीं माना जा सकता? क्या यह आवश्यक है कि भक्तिपक्ष का उत्कर्ष दिखाने के लिये इन शब्दों का मूल अर्थ ही लगाया जाय? हमारी समझ में यदि तुलसी के रावण और सूर के कंस के सम्बन्ध में निर्वाण का अर्थ उनके पाप में प्रवृत्ति करने वाले वर्तमान शरीर से छूट जाने का और इस शरीर द्वारा पाप न करने का लगाया जाय, तो गुत्थी सुलझ सकती है। जिस शरीर से ये असुर पाप में प्रवृत्त होते थे, उससे उन्हें मुक्ति मिल गई। अब आगे जो शरीर, शुभाशुभ कर्मों के आधार

पर, उन्हें प्राप्त होगा, संभव है, उससे वे पाप-प्रवृत्ति से हट कर चलें। मृत्यु बड़ी भयावह है। यदि निधन या वध-जन्य क्लेश इन असुरों को पाप की ओर से मोड़ कर पुण्य की ओर प्रवृत्त कर सकता है, तो वह मोक्ष सुरपुर, निजधाम या निर्वाण की ओर ही ले जाने वाला है। इस अर्थ में हरिलीला की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

आचार्य वल्लभ की दृष्टि में लीला केवल लीला के लिए है। उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। संभव है, शुद्धाद्वैत दृष्टिकोण से यही सत्य हो, पर जब तक जीवों में कोटि-भेद है और उन्हें निम्नस्तरों से निकल कर प्रवाही, मर्यादा, शुद्ध पुष्टि आदि कोटियों में पहुँचना है, तब तक हरिलीला का प्रमुख उद्देश्य जीव का उद्धार या उन्नयन मानना ही पड़ेगा। भगवान् का कोई कार्य अपने लिये नहीं है। वह तो विशुद्धरूप से तपस्वरूप है। वह जो कुछ उत्पन्न करता है, जीव को भोग के लिये दे देता है। अमृत या मोक्ष का भोग भी जीव के ही लिये है। प्रभु अमृत स्वरूप हैं, जीव को इस अमृत अवस्था की प्राप्ति प्रभु की कृपा से संभव होती है। इस प्रकार से भी वे तपःरूप ही हैं। प्रभु का तपःरूप ही उनके सत्य, अविनाशी या अमृत रूप का द्योतक है।

सूर लीला को लीलाकैवल्यार्थ नहीं मानते। पद संख्या १७६ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—'सत्यभक्तहिं तारिबे को लीला विस्तारी'। प्रभु ने लीला का विस्तार वस्तुतः भक्त को भवसागर से पार लगाने के लिये किया है।

प्रभु का विरद, उनका बाना, 'पतितपावन' है। उनके अवतार का भी यही प्रयोजन है। 'पतितपावन' में 'अभिमानी का पतन' भी सम्मिलित है। सूर के अनेक पदों में लीला के इन दोनों पक्षों का वर्णन मिलता है। जगत् और जगत् के अन्दर संसार, रचना और रचना के अन्दर मेरे-तेरे-मन का भाव, सत्य और उसके ऊपर चढ़ा हुआ हिरण्य का असत् आवरण—सबका विशद आख्यान सूर-सागर के अन्दर है।

भक्ति क्या है :

भक्ति भजन है, पर किसका भजन? सुत, कलत्र, परिवार का? गृह, धन, भाण्ड का? सामाजिक प्रसिद्धि का? नहीं, ये तो सब झूठे हैं। इनके साथ सम्पर्क स्थापित करना, इनके पीछे दौड़ना, उपलब्धि के पश्चात् इनका

उपयोग करना—सब विप्रयोगान्त वाले हैं। इनमें से एक भी सतत साथ नहीं रहता। सतत साथ न भी दें, पर गाढ़े समय पर ही काम आवें ऐसा भी दिखाई नहीं देता। अभी अभी गाढ़ी कमाई से, घोर परिश्रम करके एक विचित्र चित्रमय, कञ्चनकलश-कंगूरों वाला सुन्दर भवन बनाया है, पर बनते ही मृत्यु की बेला आ गई। मैं पल पर भी इसमें न सुख से सो सका, न बैठ सका। सब लोग मिल कर मुझे घर से निकाल रहे हैं। घर मैंने बनाया, पर मैं ही इसमें न रह सका। बड़े चाव से, विविध सुखों की कल्पना करके मैंने एक रमणी के साथ विवाह किया था। रमणी ने भी मेरे साथ जल जाने, सती होने का प्रण किया था, पर मैं चल दिया और वह मुख मोड़ कर घर के बर्तन सम्हालती हुई, कुछ देर रो-धोकर अपनी दैनिक चर्या में संलग्न है। पुत्रों, स्वजनों, बांधवों, मित्रों आदि को निमंत्रण दे-देकर समाज में खूब वाहवाही लूटी, पर मृत्यु के फंदों से छुड़ाने के लिये इनमें से एक भी आगे न आया। और तो और, जिस माँ की कोख से मैंने जन्म लिया था, जिसने स्वयं गीले में, पर मुझे सूखे में सुलाकर नाना कष्ट झेलते हुए मेरा लालन-पालन किया था, वह भी मेरी अन्तिम बेला में कुछ न कर सकी। सूर पद संख्या ३७२ और ३७३ में इसी हेतु लिखते हैं कि हमें ऐसे व्यक्ति के पीछे दौड़ना चाहिये, उसका भजन करना चाहिये, उसकी सेवा में लगना चाहिए जो सदैव हमारे साथ रहता है, गाढ़े समय पर काम आता है। सब कोई छोड़ दे, धोखा दे, पर जो कभी न छोड़े, कभी विश्वासघात न करे—ऐसा व्यक्तित्व, ऐसा अस्तित्व एक ही है। इसी को हरि, भगवान्, कृष्ण, राम आदि नाम दिये जाते हैं।

मन को सब ओर से हटा कर भगवान् में लगा देना ही भक्ति है। मन यदि अपना हित पुत्र, पत्नी आदि में देखता है, अशन-वसन की चिन्ता करता है, तो वह भगवद्भक्ति के योग्य नहीं है। सूर ने पद संख्या ३११ में पशु का उदाहरण देकर लिखा है कि पशु जिसके द्वार पर बँधा है, उसे उस पशु के पोषण की चिन्ता होनी चाहिए। इसी प्रकार यदि हमने अपने मन रूपी पशु को प्रभु के द्वार पर बाँध दिया है, तो इसके हित की चिन्ता प्रभु को होगी। इस उदाहरण में शरणागति का भाव छिपा है। जिसने अपने को प्रभु के आगे समर्पित कर दिया, उसे फिर अपनी चिन्ता से क्या काम!

एक अन्य हेतु देते हुए सूर लिखते हैं कि जब जीव माता के गर्भ में होता है, तब उसका भरण-पोषण कैसे होता है? वहाँ रस का पहुँचाने वाला कौन है? कौन रुधिर को क्षीर में परिणत करता रहता है? यदि कहो, माता के उदर में यह प्राकृतिक क्रिया होती रहती है, तो प्रश्न यह है कि जब बच्चा गर्भ में है, या उसके बाहर आता है, उसी समय यह प्राकृतिक क्रिया क्यों होती है, बाद में क्यों नहीं होती? शिशु भूखा है, तो तुरन्त ही माँ के स्तन स्रवित होने लगते हैं, उसके वयस्क हो जाने पर ऐसा क्यों नहीं होता? सूर अशन-वसन की चिन्ता के सम्बन्ध में लिखते हैं कि भक्ति में निरन्तर विरत प्राणी के लिये यह चिन्ता भी अनावश्यक है। वन में फूल हैं, झरनों में जल है, हाथ पात्र का कार्य करते हैं, वल्कल वसन के लिये विद्यमान हैं, पृथ्वी की विस्तृत शैया प्रस्तुत है, गिरि-कन्दरायें बने-बनाये घर हैं, फिर चिन्ता किस बात की? यह समस्त सामग्री देकर जिसने जीव को निश्चिन्त कर दिया है, उसका स्मरण और भजन छोड़ कर जीव क्यों व्यर्थ में अन्यों के पीछे भागता है? भक्ति करनी है, भजना है, किसी के पीछे भागना है, तो इसी हरि के पीछे भागना चाहिये, इसी की भक्ति करनी चाहिये। अन्य की भक्ति करने में विनाश है, कामनाओं की अपूर्णता है, एक प्रकार की कायरता और कृतघ्नता है। प्रभु-भक्ति में अविनश्वरता है, कामनाओं की परिपूर्णता है, वीर्यवत्ता और कृतज्ञता है।

प्रभु जैसे समर्थ, सर्वस्वदाता को पाकर मानव अपना मन अन्यत्र कैसे लगा सकता है! उसके पास जो कुछ है, प्रभु का है। पद संख्या ३५२ में सूर ने पतिव्रता स्त्री का उदाहरण दिया है जो पति को ही सर्वस्व मान कर और उसे ही अपना सब कुछ देकर शोभा पाती है। यदि उसने अन्य पुरुष का नाम भी ले लिया तो उसका पतिव्रत नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार भक्ति-भावना में भक्त भगवान् को ही अपना सब कुछ समझता है और उसके दिये हुए पर अपना स्वामित्व स्थापित नहीं करता। हरि के स्थान पर यदि वह अन्य देवों की उपासना करता है, तो मानों वह अपने भक्तव्रत को लज्जित करता है। प्रभु को छोड़ कर अन्यों की उपासना करना वैसा ही है, जैसे वृक्ष के मूल को छोड़ कर शाखाओं को सींचना अथवा गंगाजल को छोड़ कर उसके तट पर पानी पीने के लिये कुँआ खोदना। यह मूढ़ता नहीं तो और क्या है?

भगवान् का अनन्य भक्त भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं चाहता। मछली को चाहे दूध में डाल दीजिये, पर उसे दूध में सुख नहीं मिलेगा। उसका सर्वस्व तो जल है। जल के बिना उसे सुख कहाँ? पद संख्या ३५३ में सूर लिखते हैं कि जैसे सरिता समुद्र में मिल कर बहना छोड़ देती है, वैसे ही भक्त भगवान् में मन लगा कर फिर अन्यत्र कहीं नहीं जाता। उसकी एकमात्र आकांक्षा यही रहती है कि वह जिस युग में जिस जन्म में जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसे भगवान् के चरणों में दृढ़ अनुराग बना रहे। उसका अंग-अंग प्रभु-मय हो। आँखें देखें तो प्रभु के रूप को, श्रवण सुनें तो भगवान् के यश को, बुद्धि में श्रद्धा हो तो हरि के लिये। दिनरात वह प्रभु का ही स्मरण करे, उन्हीं का ध्यान करे और उन्हीं का कीर्तिगान गावे।

पद संख्या २०८ में सूर ने भक्ति-विरहित कर्म, धर्म, तीर्थ आदि सबको व्यर्थ कहा है। २६२ पद के अनुसार भगवद्भजन ही कर्मजाल को काटनेवाला है। सिद्ध-साधक-मुनि भले ही अपने साधन करके, जटाजूट धारण करके, प्रयत्न करके थक जावें, पर यह पाश तब तक नहीं कटेगा, जब तक वे अपनी अहंता को प्रभु के आगे समर्पित नहीं कर देते। मानव अपने पुरुषार्थ पर व्यर्थ ही गर्व करता है। उसके मंत्र, यंत्र, उद्यम और बल में कुछ भी बल नहीं है। बल है तो भगवद्भक्ति में। समस्त बलों के बल, पराक्रम के केतु, शक्ति के स्रोत भगवान् हैं। उन्हीं की भक्ति करने से बल का संचार होता है और वही बल समस्त बारक पाशों को छिन्न-भिन्न करता है। भगवद्भक्ति का बल यदि पास नहीं है, तो यम के दूत सदैव द्वार पर खड़े दिखाई देंगे (पद ३४६)। पद संख्या ६५ तथा २९५ में सूर ने भाव-भक्ति की प्रशंसा की है।

भक्त का महत्त्व : पद संख्या २७२ में भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हम भक्तों के हैं और भक्त हमारे हैं। यह मेरा व्रत है, प्रण है, जो कभी नहीं टलता। भक्तों के कार्य सिद्ध करने के लिये मैं पैदल दौड़ के जाता हूँ। जहाँ-जहाँ उन पर संकट पड़ते हैं, वहाँ मैं उन्हें उन संकटों से मुक्त करता हूँ। जो मेरे भक्त का बैरी है, वह मेरा ही बैरी है। भक्तों की पराजय में मैं अपनी पराजय अनुभव करता हूँ और उनकी विजय में अपनी विजय मानता हूँ। ये भगवान् के वचन हैं। ऋग्वेद ८-९२-३२ में भक्त इसी स्वर में कहता है कि प्रभु!

तुम हमारे हो और हम तुम्हारे हैं। तुम्हारे संसर्ग से तुम्हारे साथ का अनुभव करके हम बड़े से बड़े प्रतिस्पर्धियों का भी साम्मुख्य कर सकते हैं, उन्हें रण में पछाड़ सकते हैं। तुम्हारा बल पाकर ही हम बलवान् बनते हैं। आचार्य शंकर की षट्पदी में इस सम्बन्ध के विपरीत कहा गया है कि तरंग तो समुद्र की है, पर समुद्र तरंग का नहीं है।

पद संख्या २६८ में सूर लिखते हैं कि भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्त के लिये सत् संकल्प और वेद की आज्ञा को भी दूर रख देते हैं। वे न विधि-निषेधमयी मर्यादा की चिन्ता करते हैं और न अपने नियम या व्यवस्था की ओर ध्यान देते हैं। भक्त उनके लिये प्रमुख है, मर्यादा-नियमादि गौण हैं।

पद संख्या ३४ के अनुसार भगवान् के भक्त सब के ऊपर अधिकार रखते हैं। वे ब्रह्मा और महादेव जैसे देवों को भी याचक समझ कर शरण लेने योग्य नहीं मानते, क्योंकि ये कुछ देंगे भी, तो उसी प्रभु से लेकर देंगे, स्वयं इनकी सेवा से कुछ भी कार्य नहीं बन सकता। पद संख्या ४० में हरि के जन की ठकुराइत का वर्णन है। उसके राज्य और शासन को देखकर बड़े-बड़े महाराज, राजर्षि और राजमुनि भी लज्जित हो जाते हैं। निर्भय शरीर ही उसका राजगढ़ है, उत्साह-मग्नता ही लोक या प्रजा है। उसके राज्य में काम-क्रोधादि जैसे चोर भी साहूकार बन गये हैं। वह दृढ़ विश्वास के सिंहासन पर राजा बना बैठा है। हरियश का विमल छत्र उसके शिर के ऊपर सुशोभित है। वह भगवत्पादारविन्द के प्रेमरस का पान करके अनुराग-मत्त बना रहता है। ज्ञान उसका मंत्री, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष द्वारपाल, बुद्धि-विवेक ड्यौढ़ीवान् और वैराग्य छड़ीदार है। आठों महासिद्धियाँ हाथ जोड़े डर के मारे उसके द्वार पर खड़ी रहती हैं।

पद संख्या ३५ से ३९ तक भगवान् के कृपापात्र भक्तों को ही कुलीन, सुन्दर और सुदर्शन माना गया है। ऐसे भक्त भवसागर में कभी नहीं डूबते। उनकी निर्भय दुन्दुभि बजती है। संसार भर भले ही वैरी हो जाय पर उनका बाल भी बाँका नहीं हो सकता, शिर से एक केश तक नहीं गिर सकता। हरि अपने भक्तों के मार्ग में आने वाले विघ्नों को विध्वस्त कर देते हैं और उन्हें अभय प्रताप देते हैं। जिस भक्त ने राम को ही अपना धन समझ लिया,

वह कामनाओं का स्वामी बन गया, उसके समस्त मनोरथ पूर्ण हो गये। वह सुख-निधान है और आनन्दघन है।

पद संख्या २३३ में सूर लिखते हैं कि जो भक्त राम को गाता है, भगवान् की आराधना करता है, वही श्रेय का धाम है। श्वपच भी हरिपदसेवा से पवित्र बन जाता है, पर ब्राह्मण यदि भक्ति से शून्य है तो भगवान् को कभी अच्छा नहीं लगता। वह भले ही वाद-विवाद में निपुण हो, यज्ञ और व्रत की साधना करता हो, पर भजन न करने से उसका जीवन श्रम मात्र है। भगवद्भजन अनायास भक्त के हाथ में चारों फल रख देता है।

पद संख्या २३५ में भगवद्भजन की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। भगवान् ने जिसे बड़ा बना दिया, उसे कौन नीचा कर सकता है? और कौन उसकी समता में खड़ा हो सकता है? भक्ति से नीच भी ऊँची पदवी प्राप्त कर लेता है और असंभव भी संभव हो जाता है।

पद संख्या २९० के अनुसार हरि और हरिभक्तों में भेद नहीं है। दोनों एक हैं। लौकिक जात-पाँत का बखेड़ा श्रीपति के दरबार में नहीं चलता। भगवद्भक्ति सभी प्राणियों को एक स्तर पर ले आती है। जब भक्त का भगवान् के साथ ऐक्य है, तो भक्तों का आपस में ऐक्य क्यों न होगा?

सूर ने जहाँ भक्तों की प्रशंसा की है, वहाँ भक्ति-शून्य, हरिविमुखों की निन्दा भी की है। ऐसे व्यक्ति भगवान् के नामरूपी अमृतफल को छोड़ कर माया के विषफलों का सेवन करते हैं। ये मूढ़ मलयगिरि चंदन की निन्दा करके शरीर में राख मलते हैं। ये हंसों के मानसरोवर को छोड़ कर काकों के तालाबों में स्नान करते हैं। इनके पैरों के नीचे ही अग्नि जल रही है, पर ये मूर्ख घर को छोड़ कर घूरा बुझाने जा रहे हैं। चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए ऐसे प्राणी नाना स्वांग भरते रहते हैं। (३५१)

भगवान् का भजन यदि नहीं किया तो समस्त जीवन कूकर और शूकर के ही तुल्य है। जैसे घर के मूषक बिल्ली का खाद्य बनते हैं, वैसे ही ये विषयों के भोज्य हैं। जो दशा बगुला और बगुली की है, गृध्र और गृध्रिणी की है, वही दशा इन भक्ति-विरहितों की है। वे जैसे गृह-सुत-दारा वाले हैं, वैसे ही ये भी। दोनों में भेद ही क्या है? ऊँट, बैल और भैंसों से भक्तिविमुख व्यक्ति किस प्रकार अच्छे कहे जा सकते हैं? (३५७)

भजन के बिना प्रेत के समान जीना है। मुख पर कटु वचन और पराई निन्दा, सत्संग से वंचित, पापप्रवृत्ति से धनार्जन, ज्ञानी-गुरुओं से दूर रहना, सबको दुख देना—यही इनके कार्यकलाप हैं। ऐसे व्यक्ति स्वयं डूबते हैं और इनके पाप की कमाई खाकर सारा परिवार भी डूबता है।

भक्त के लक्षण : भक्त सदैव हरि-रस का पिपासु होता है। सांसारिक सामग्री के चले जाने पर वह शोक नहीं करता और मिलने पर आनंद नहीं मनाता। वह कोमल वचन बोलता है, दैन्य और नम्रता उसके स्वभाव की विशेषता है, प्रभु की कृपा से वह सदैव आनन्दित रहता है और वाद-विवाद, हर्ष, आतुरता जैसे द्वन्द्वों को सहन करता है। ऐसे भक्त के पास अष्टसिद्धियाँ तथा नव-निधियाँ कामना करते ही पहुँच जाती हैं। (३११)

पद संख्या ३५१ में भी शीत-उष्ण, सुख-दुख, हानि-लाभ जैसे द्वन्द्वों को सहने वाले भक्त का वर्णन है। मणि और काँच में समत्व-बुद्धि रखने का भी उल्लेख है। ऐसा भक्त आनंदनिधि में निमग्न हो जाता है। उसे फिर लौट कर संसार में नाचना नहीं पड़ता। पद संख्या १६३ में सूर ने भक्तों में शिव, ब्रह्मा और इन्द्र को तो स्थान दिया है पर विष्णु को बचा दिया है।

भगवान् का स्वभाव : प्रभु के स्वभाव में गंभीरता है। वे उदारता के उदधि हैं और ज्ञानियों में शिरोमणि हैं। अपने भक्त के तृण समान गुण को वे सुमेरु के समान मानते हैं और शील के कारण उसके अपराधों के समुद्र को गणना बूंद के बराबर करते हैं। जब भक्त प्रभु के सम्मुख जाता है, तो उसे उनका मुखमण्डल कमल के समान प्रसन्न दिखाई देता है। भक्त यदि प्रभु से विमुख हो जाता है, तो भी उनकी कृपा पल भर के लिये भी उसके ऊपर से नहीं हटती। जैसे ही वह प्रभु की ओर उन्मुख होता है, उन्हें वैसा ही प्रसन्नवदन पाता है। प्रभु करुणामय हैं। वे भक्तविरह से कातर होकर उसके पीछे-पीछे लगे फिरते हैं। (८)

भक्त प्रभु को जहाँ-जहाँ जिस विधि से भी स्मरण करता है, वहाँ-वहाँ उसी प्रकार से, उसी रूप में, प्रभु उसके पास पहुँच जाते हैं। (७) भगवान् भक्त के लिये क्या-क्या नहीं करते ? उनके अतिरिक्त और है ही कौन जो इस प्रकार भक्त के कार्य सिद्ध करेगा ? उनकी महिमा महान् है। वे लजीले

स्वभाववश भक्त की घृष्टता को भी सहन करते हैं और बिना बदले के उपकार तथा स्वार्थरहित मित्रता करते हैं। उनकी कृपा से बधिर में श्रवणशक्ति आ जाती है, गूंगा बोलने लगता है और रंक सिर पर छत्र धारण करके चलता है। (१, ३, ६) भक्त को जिस प्रकार से भी सुख मिले, भगवान् वैसा ही करते हैं, (९) और विपत्ति पड़ने पर तो स्मरण करते ही उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं।

साधन :

नाममहिमा : सूर ने पद संख्या २३१ में भगवान् के रामनाम को 'निजसार' कहा है। २३२ में वे रामनाम को भक्त के लिये बड़ी भारी ओट, आड़ या सहारा मानते हैं। कठ उपनिषद् ने भी प्रभु के ॐ नाम को सबसे बड़ा अवलम्बन माना है। जो भक्त प्रभु के नाम की ओट में खड़ा हो गया, हरिशरण में पहुँच गया, प्रभु उसे दरबार से बाहर नहीं निकालते, उसे स्वीकार कर लेते हैं और उसकी रक्षा के लिए अपनी कृपा का किला बना देते हैं। जैसे लोहा स्पर्शमणि का स्पर्श पाते ही सोना बन जाता है, वैसे ही भक्त नाम का सहारा पाकर तर जाता है।

पद संख्या २९७ में सूर लिखते हैं कि यदि मानव रामनाम रूपी धन को धारण कर ले, तो उसके वर्तमान और भावी दोनों जीवन सुधर सकते हैं, यम का त्रास मिट जाता है, वह भक्तों की श्रेणी में पहुँच जाता है, मूलधन गाँठ से नहीं जाता और साधु की संगति जैसा नफ़ा (लाभ) हाथ लगता है। बैकुण्ठ की पैठ (बाजार) में उसका फेंटा पकड़ कर- ऋण मांगने वाला कोई भी दिखाई नहीं देता।

पद संख्या ३०६ में सूर ने नाम की समता में शतयज्ञों को भी स्थान नहीं दिया है। यज्ञ कर्मकाण्ड का अंग है। उनसे स्वर्गप्राप्ति हो सकती है, ऐश्वर्य मिल सकता है, भगवत्प्राप्ति नहीं। पद संख्या ३४८ में हरिनाम के समान अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसी मान्यता प्रकट की गई है। हरिस्मरण में राजा और रंक का अथवा शत्रु और मित्र का ध्यान नहीं रहता। हरिस्मरण के बिना मुक्ति नहीं होती। सूर सौ बातों की एक बात दिनरात हरिस्मरण करते रहने को ही मानते हैं। पद संख्या ९० में रामनाम के दोनों अक्षरों की

महिमा का वर्णन है। रा और म धर्मरूपी अंकुर के दो दल हैं, मुक्तिरूपी वधू के कानों के ताटंक हैं, मुनियों के मनरूपी हंस के दो पंख हैं। जन्म और मरण को काटने के लिये कैंची हैं, अन्धकार-अज्ञान के विनाश के लिये रवि और शशि हैं और दुख दूर कर दोनों लोकों में सुख देने वाले हैं।

भागवत-श्रवण : पद संख्या ६५, १५५ तथा २९१ में सूर ने भागवत-श्रवण को भी भक्ति का एक अनिवार्य साधन माना है और लिखा है कि संसार भले ही डूब जाय और वह डूबता ही है, पर भक्त युगयुग के लिये, तर जाता है। पद संख्या १११ में निर्मल वेद-पाठ को भी साधन के अंतर्गत रखा है। पद संख्या १५५ में हरिस्मरण, गुरुसेवा, पैरों में घुंघरू बाँधकर नाचते हुए हरिकीर्तन करना तथा भगवद्भक्तों की सेवा करना भी साधन माने गये हैं।

कामनाओं का परित्याग :

जौलौं मन कामना न छूटै।
तौ कहा जोग जज्ञ व्रत कीने बिनु कन तुपकौं कूटै॥
कहा पुरान जु पढ़े अठारह ऊर्ध्व धूम के घूटै।
जग सोभा की सकल बड़ाई इनते कछू न खूटै॥

यदि कामनायें साथ लगी हैं, तो न योग काम देगा, न यज्ञ और न व्रत। ये सब साधन कामनाओं के लगे रहने पर कण-विहीन तुष को कूटने के समान हैं। चाहे आप अठारहों पुराण पढ़ डालिये और चाहे शीर्षासन पर सिर के बल खड़े होकर यज्ञ-धूम्र के घूंट पीते रहिये, इनमें से एक भी आपकी सहायता न कर सकेगा, यदि आपने कामनाओं का परित्याग नहीं किया है।

कथनी करनी में एकता :

करनी और कहै कछु औरै, मन दसहूं दिसि टूटै॥

मन दसों दिशाओं में भाग रहा है। करनी कुछ और है तथा कथनी कुछ और है, मन, कर्म और वचन में एकता नहीं है, तो भगवद्भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

विषय-त्याग :

काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं जौ इतननि सौं छूटै।

काम-क्रोधादि में भी तीन ही शत्रु प्रमुख हैं—काम, क्रोध और लोभ। गीता ने इन्हें नरक के द्वार कहा है। ये आत्म-विनाश की सीढ़ियाँ हैं। जो इन विषयों में कामकातरता से फँस जाता है, उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। सुख और शान्ति उससे कोसों दूर भाग जाते हैं।

ज्ञान :

सूरदास तबहीं तम नासै ज्ञान अगिनि झर फूटै ॥ १६२ ॥

सूर मिटै अज्ञान मूरछा ज्ञान सुभेषज खाये ॥ ३७५ ॥

ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर ही अन्धकार दूर होता है। अन्धकार की भयावहता मानवदृष्टि को विफल कर देती है। जिसे कुछ दिखाई नहीं देगा, वह आगे पैर नहीं रख सकता। वह अपने चतुर्दिक् प्रसृत वस्तुजाल के साथ अनुकूलता या अननुकूलता सम्पादित करने में असमर्थ रहेगा। जब वातावरण से सम्बन्ध ही विच्छिन्न है, तो जीवन की सार्थकता ही असिद्ध है। इसलिये साधक ज्ञान-प्रकाश पाने के लिए छटपटाता रहता है। उसे अन्धकार में चैन नहीं मिलता। मूर्छा के रोगी की भाँति वह तमसाच्छन्न बुद्धि लिए हतचेतन है। उसे कुशल वैद्य के हाथों से रोग-शमन-कारिणी ओषधि प्राप्त करनी चाहिये। गुरु के हाथों ज्ञान की भेषज खाने पर ही अज्ञान या तम की यह मूर्छा दूर होती है।

कर्म-पवित्रता :

कपटी, कृपन, कुचील कुदरसन दिन उठि विषयवासना बानत।

कदली कंटक, साधु असाधुहिं, केहरि कै संग धेनु बंधाने।

यह विपरीत जानि तुम जन की, अन्तर दै बिच रहे लुकाने ॥२१७॥

जिस मानव की क्रिया पवित्र नहीं है, जो कुलक्षण का प्रयोग करता रहता है, कपटी है, कृपण है, कंजूसी के कारण सुपात्र को दान नहीं दे पाता, धन के रहते भी कुचील, बुरे वस्त्र धारण करता है और इस प्रकार कुरूप बनता है, कदली और कण्टक, साधु तथा असाधु और केहरी तथा धेनु को साथ-साथ बाँधता है, इस पटरी पर भी पैर रखता है तथा दूसरी पर भी, सत्पुरुषों की हाँ में हाँ मिलाता है और दुष्ट पुरुषों की भी ठकुरसुहाती करता है, ऐसे पुरुष से भगवान् भी अन्तर देकर छिपे रहते हैं। अतः कर्म की पवित्रता, भक्ति-प्राप्ति के लिये वांछनीय है।

योग-यज्ञ-जप-तप : पद संख्या १११ में योग, यज्ञ, जप, तप को भी साधनों में स्थान दिया है। पद संख्या ३६४ में भी योग का वर्णन है तथा पद संख्या १२० में, जप, तप, स्मरण और भजन का। पद संख्या १२९ में नियम, धर्म, व्रत, जप, तप, संयम तथा सत्संग का उल्लेख है। सूर की दृष्टि में ये सभी भक्ति की सिद्धि के लिये साधन हैं।

सत्संग : पद संख्या ३६० में सूर लिखते हैं कि जिस दिन कोई संत घर में अतिथि बन कर आ जाता है, उस दिन उस संत के दर्शन से करोड़ों तीर्थों में स्नान करने का फल उपलब्ध हो जाता है। संत भगवान् के चरणों में अभिनव स्नेह उत्पन्न करने वाले हैं। वे मन-वचन-कर्म से भगवान् का स्मरण करते हैं और कराते हैं, इसके अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते। वे मिथ्यावाद और उपाधियों से पृथक् रहते हैं, भगवान् के विमल यश का गान करते हैं, कर्म के कठोर बंधनों को काट डालते हैं और प्रभु का स्मरण कराते हैं। ऐसे साधु पुरुषों की संगति भव-दुख को दूर से ही नष्ट कर देती है।

हरिविमुखों का त्याग—पद संख्या ३३२ में सूर ऐसे पुरुषों के संसर्ग का परित्याग करने के लिये मन को समझाते हैं, जो भगवान् से विमुख हैं, क्योंकि ऐसे पुरुषों का साथ करने से दुर्मति उत्पन्न होगी और भगवद्भजन में भङ्ग पड़ेगा। जो संसर्ग इस प्रकार का द्विविध प्रहार करे, उसके त्याग में ही कल्याण है। भक्ति ही तो सूर के जीवन का सर्वस्व है। जिसमें अपना सर्वस्व समाप्त हो और दुर्मति उत्पन्न होकर दुरवस्था की ओर ले जाय, ऐसा कार्य क्या ग्राह्य हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि भक्त हरि-विमुखों के पास जाकर उन्हें सुधार सकेगा, तो सूर कहते हैं कि जैसे भुजंग को चाहे जितना दूध पिलाइये, पर वह विष का परित्याग नहीं कर सकता, कौए को कपूर खिलाइये, पर वह मल में चोंच डालेगा ही, कुत्ते को गंगा में नहलाइये, पर उसकी पूँछ टेढ़ी ही रहेगी, गधे पर चंदन का लेप कीजिये, बंदर को भूषण पहनाइये, पत्थर में चाहे जितने बाण मारिये, पर जैसे इनमें से एक भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता, इसी प्रकार हरि से विमुख व्यक्ति धर्म के प्रतिकूल ही आचरण करेंगे। वे काली कमरी हैं, जिस पर दूसरा रंग चढ़ ही नहीं सकता। अतः उनसे पृथक् रहना ही श्रेयस्कर है।

वैराग्य : पद संख्या ३०२ और ३१५ में सूर ने वैराग्य का वर्णन किया है। मनुष्य इस शरीर को पाकर धन-यौवन से मदमत्त बना हुआ कैसा गर्व करता है! अपने को बड़ा समझ कर किसी से सीधे बात भी नहीं करता। न ध्यान में मन लगाता है और न पूजा करता है। अपने से किसी को बड़ा मानने में अपनी हेठी समझता है। चंचला लक्ष्मी को पाकर टेढ़ा-टेढ़ा चलता है। जब वृद्धावस्था आती है, तब सब इतराना शान्त हो जाता है। मुख से लार गिर रही है। वचन स्पष्ट नहीं निकलते। कमर झुक जाने से सीधा खड़ा नहीं हुआ जाता। यह दशा यदि यौवन में ही याद आ गई होती तो कितना अच्छा था। पर खैर, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। देर-अबेर ही सही, शरीर का अभिमान गया, तो अपने से किसी को बड़ा समझने की बुद्धि तो जागृत हुई।

संसार निश्चितरूप से अस्थिर है। यहाँ जो आया है, वह जायगा। फिर अहर्निशि विषयासक्त बने रहने से क्या लाभ? एक दिन तो प्राण-पक्षी इस शरीर से उड़ ही जायगा और यह शरीर जलकर राख हो जायगा। साँच-झूठ का प्रयोग करके, रूखा-सूखा खा करके जो माया इकट्ठी की है, वह यहीं भूमि में गड़ी रह जायगी। अतः मानव को इन सब की अपेक्षा ऐसा कार्य करना चाहिये, जो मरने के बाद भी उसका साथ दे। ऐसे कार्यों में भगवद्भजन से बढ़कर अन्य कोई भी कार्य नहीं है।

आत्मज्ञान : पद संख्या ३६८ और ३६९ में आत्मज्ञान का वर्णन मिलता है। आत्मज्ञान स्वयं एक बड़ी भारी सिद्धि है। इसके बिना परमात्म-ज्ञान नहीं होता। सभी सन्तों ने इस अनुभूति का वर्णन किया है। वेद तो स्पष्ट कहता है—आत्मना आत्मानमभिसंविवेश। मानव आत्मा के द्वारा ही उस परम तत्त्व में प्रवेश करता है। सूरदास जी ने भी यही लिखा है कि जब तक सतस्वरूप नहीं सूझ पड़ता, तब तक अन्दर का आत्मज्ञान नहीं होता। हम अपने को स्वयं ही विस्मृत किये हुए हैं, नहीं तो अपने से अधिक निकट अपने पास और क्या है? शरीर, प्राण, मन और बुद्धि एक एक की अपेक्षा दूर से निकट आते जाते हैं, पर स्वयं आत्मतत्त्व के लिये तो मैं दूर की बात कह ही नहीं सकता। क्या अपने मुख का मल छाया को धोने से दूर हो सकता है! जो वस्तु अन्दर है, वह क्या बाहर ढूँढने से मिल सकती है? मानव संविनी सतशक्ति को पकड़ कर ही अपने अन्दर आत्मदर्शन कर सकेगा। और जैसे

सूर्य अपने नेत्रों के रहते ही दिखाई दे सकता है, इसी प्रकार प्रभु का प्रकाश अपने दर्शन के बाद ही दिखाई देगा।

भगवत्कृपा :

जाकी कृपा पङ्गु गिरि लंघै अंधे कौ सब कछु दरसाई ॥ १ ॥
और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तै पाये सुख जु घनेरे ॥ १७० ॥
भक्तवछल प्रभु नाम तिहारौ।
जलसंकट में राखि लियौ गज, ग्वालनि हित गोवर्धन धारौ ॥ १७२ ॥
तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी।
जिनके बस अनिमिष अनेक गन अनुचर आज्ञाकारी ॥ १३३ ॥

भगवान् की कृपा की वर्षा प्रतिपल हो रही है। उनका अमोघ दान सबको सुलभ है। पर उसे प्राप्त करने के लिये अपने अन्दर योग्यता होनी चाहिये। विद्युत् सर्वत्र व्याप्त है, पर उसे ग्रहण कर प्रकट करने के विशेष स्टेशन हैं, इसी प्रकार प्रभु के कृपा-कोप के कुछ कण पाने के लिये धर्मप्रवण भक्त-हृदय चाहिये।

गुरुकृपा :

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन। सूरसारावली १००२
गुरु की कृपा भई जब पूरन तब रसना कहि गान्यो ॥ १७९१ ॥
हरि लीनो अवतार कहत सारद नहिं पावै।
सद्गुरु कृपा प्रसाद कछुक तातें कहि आवै ॥ १११० ॥

नारद भक्तिसूत्र संख्या ३८ में जिसे महत्कृपा कहा गया है, वह महान् पुरुषों की कृपा गुरुकृपा ही है। पर यह कृपा भी भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। प्रभु की कृपादृष्टि का लवलेश भी भक्त को प्राप्त हो गया, तो गुरु-कृपा भी सहज हो जाती है और सिद्धि भी सुलभ बन जाती है।

अपने अपराधों की अनुभूति : भक्त भगवान् के सम्मुख जाने के लिये अपने को पवित्र करता है। पवित्र के पास पवित्र बन कर ही जाया जाता है। पवित्रता-सम्पादन के लिये पापों से पृथक् होना आवश्यक है। पापों से पार्थक्य भी तभी संभव है, जब भक्त को अपने पापों का ज्ञान हो। सूरसागर के कई पदों में यह पापानुभूति वर्णित हुई है। सूर लिखते हैं—'माधव! मुझसे बढ़

कर और कौन पापी होगा? मैं घातक हूँ, कुटिल, चुगलखोर, कपटी, क्रूर, दुखदायी, लंपट, धूर्त, धन का दास, विषय-वासनाओं का चिन्तन और सेवन करने वाला, भक्ष्याभक्ष्य-पेय-अपेय का बिना विचार किये उपभोग करने वाला, कामी, लोभी, कटु-भाषी, मन-वचन-कर्म से सभी के लिये कठोर, असहनीय और विकारों से भरा पड़ा हूँ ॥ १२० ॥

हरि! मैं पतितों का अधिपति हूँ। पराई निन्दा करने में मुझे सुख मिलता है। तृष्णा मेरा देश है, मनोरथ मेरा योद्धा है, इन्द्रियाँ मेरा खड्ग हैं, काम कुमंत्रणा देने वाला मन्त्री है, क्रोध प्रतीहार है। अहंकाररूपी हाथी पर चढ़ा हुआ, लोभ रूपी छत्र सिर पर धारण किये तथा असत्संगति की सेना लिये मैं दिग्विजय करता फिरता हूँ। मेरा पापरूपी गढ़ अत्यन्त सुदृढ़ है ॥ १२१ ॥

प्रभु मैं ऐसा पतित हूँ कि पाप करते-करते उनके जो संस्कार बन गये हैं, वे मुझे पाप की ओर ही प्रवृत्त करते रहते हैं। मैं अवगुणों से छूट नहीं पाता। (१२७) परमार्थ से विरत और विषयों में निरत मैं भाव-भक्ति से कोसों दूर हूँ। नाना मनोरथों के पीछे पड़ा हुआ मैं दिन-रात दुखी रहता हूँ। मृत्यु सिर पर खड़ी है, पर मैं ऐसा नीच हूँ, इतना नीचे गिर गया हूँ, कि उसकी ओर दृष्टि भी नहीं ले जा पाता। मेरा स्नेह भी ऐसे व्यक्तियों से है जो सत् से विमुख हैं ॥ १२९ ॥

इसी प्रकार के कई पदों में सूर ने अपने पापों का परदा खोल कर रख दिया है। पाप-प्रवृत्ति की यही पहचान, अपराधों की यही अनुभूति साधक को पुण्य की ओर ले जाती है। उसके दोष दूर हो जाते हैं। यह अनुभूति उसके मन में पश्चात्ताप-पावक को प्रज्वलित कर देती है, जिसमें पड़ कर परितापी पाप भस्म हो जाते हैं।

प्रपत्तिमार्ग : प्रपत्तिमार्ग शरणागति का मार्ग है। भक्त इसमें प्रभु के आगे सर्वात्मना अपने आपको समर्पित कर देता है। वह ऐसे पथ पर चलने का संकल्प करता है जो उसे प्रभु की शरण में पहुँचा सके और ऐसे पथ से विरत होता है जो शरणागति के प्रतिकूल है। मार्ग में बाधायें तो आती ही हैं। कोई भी पथ निष्कण्टक नहीं है। भक्त प्रभु को अपना गोप्ता या पालक समझ कर ही इस पथ पर चलता है। वह अपने प्रभु का इसी रूप में वरण

कर लेता है और इसी हेतु उसे रक्षा का विश्वास रहता है। सर्व-समर्थ प्रभु उसके सिर पर हैं, वह स्वयं उनके चरणों में प्रणत है। फिर अविश्वास कैसा? विघ्नों की इतनी बिसात कहाँ जो वे उस परम रक्षक के सामने टिक सकें? पथ पर प्रयाण करते हुए यदि भक्त को विघ्न-व्यूह सताने लगते हैं, तो वह अपनी दीनता प्रभु से प्रकट करने लगता है। सूर के शब्दों में :

जौ पै तुम ही बिरद बिसार्‌यौ।
तौ कहौ कहां जाउं करुनामय कृपण कर्म कौ मार्‌यौ ॥१५७॥

मेरी तौ पति गति तुम अंतहि दुख पाऊं।
हौं कहाइ तिहारौ अब कौन कौ कहाउं॥ १६६ ॥

इसी के साथ वह अन्य समस्त आसंगों, बाधाओं तथा क्लेशों का चिन्तन छोड़ कर अपने को प्रभु के चरणों में डाल देता है। इसे आचार्यों ने आत्म-निक्षेप कहा है। षड्विधा शरणागति या प्रपत्ति का मार्ग अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार है। परवर्ती काल में दीनता, मानमर्षण, भयदर्शन, भर्त्सना, मनोराज्य, आश्वासन और विचारणा नाम के सात विभागों में आत्मनिवेदन को विभाजित किया गया है। भागवत की नवधा भक्ति तथा नारदभक्तिसूत्रों की एकादश आसक्तियाँ भक्ति के ही विविध अङ्ग हैं। भक्तिकाण्ड इन्हीं अङ्गों को लेकर चलता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर ये उसके प्रमुख अङ्ग अवश्य हैं। 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' में इन अङ्गों पर विस्तार से लिखा जा चुका है।

सूर की प्रेमाभक्ति : यों तो समस्त सूरसागर प्रेम की लम्बी-चौड़ी दिनचर्या का अथाह सागर है, प्रेम के विविध रूप दास्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति उसमें जगमगा रहे हैं और कृष्ण के साक्षात् भगवान् होने के कारण अन्ततः सब भगवद्भक्ति में ही पर्यवसित हो जाते हैं, फिर भी यदि शुद्ध रूप से भक्ति-सम्बन्धी प्रेम को ही लिया जाय तो उसका भी अनन्यसाधारण रूप सूरसागर में दिखाई देता है।

भगवान् प्रेममय हैं। प्रेम के ही कारण उन्होंने अवतार लिया है, इस बात को नीचे लिखे पदों में कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है :

प्रीति के वश्य ऐहैं मुरारी।
प्रीति के वश्य नटवर भेष धारयौ, प्रीतिवश गिरिराज धारी॥
सूरसागर (ना० प्र० स० २६३६)

प्रीति वश देवकी गर्भ लीन्हों वास, प्रीति के हेतु ब्रज भेष कीन्हों।
प्रीति के हेतु कियो यशुमति पयपान, प्रीति के हेतु अवतार लीन्हों॥
सूरसागर (ना० प्र० स० २६३५)

सूर ने प्रेम की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है :

प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहिं पैये।
प्रेम बंध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये॥
एकै निश्चय प्रेम कौ जीवन मुक्ति रसाल।
सांचौ निश्चय प्रेम कौ जेहि रे मिलैं गोपाल॥ ४७१३ ॥

इन पंक्तियों में सूर ने प्रेम को प्रेम से ही उत्पन्न होने वाला कहा है। प्रेम से ही मानव भवसागर से पार हो सकता है। प्रेम से ही परमार्थ प्राप्त होता है। प्रेम के मधुर पाश में ही सारा संसार बँधा हुआ है। प्रेम का एक निश्चय ही सरस जीवन-मुक्ति है क्योंकि उसी से भगवान् प्राप्त होते हैं। भगवान् स्वयं प्रेम की डोर में बँधे हुए, भक्त के पास खिंचे चले आते हैं। नीचे लिखे पद में सूर कहते हैं कि सत्य प्रेम विरहानुभव के बिना प्रकट नहीं होता :

ऊधौ विरही प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहत न रंग कौ रंग न रसै परै॥
ज्यों धर देह बीज अंकुर गरि तौ सत फरनि फरै।
ज्यों घट अनल दहत तन अपनों पुनि पय अमी भरै॥
ज्यों रण सूर सहत शर सन्मुख तौ रवि रथहिं ररै।
सूर-गोपाल प्रेम पथ चलि करि क्यों दुख सुखन डरै॥ ४६०४

कबीर लिखते हैं :

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥२१॥ बिरह कौ अंग
कबीर हंसणा दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥२७॥ बिरह कौ अंग

जब तक वस्त्र पर पुट नहीं दिया जाता, तब तक उस पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता। जब तक बीज मिट्टी में गल नहीं जाता, तब तक न अंकुर निकलता है और न फल ही लग सकते हैं। जब तक घड़ा अग्नि में जल कर पक नहीं जाता, तब तक उसमें पानी नहीं भरा जा सकता। इसी प्रकार जब तक कोई व्यक्ति विरह-व्यथा का अनुभव नहीं कर लेता, रो नहीं लेता, तब तक उसके अन्दर सच्चा प्रेम प्रकट नहीं हो सकता। सभी सन्त भगवान् के वियोग को तीव्र रूप से अपने हृदय में अनुभव करते रहे हैं। तभी तो वे प्रभु के सच्चे प्रेमी बन सके।

परम विरह—सभी भक्त प्रभु के विरह की अनुभूति से व्याकुल रहे हैं। यही व्याकुलता उन्हें उसके पास ले गई है। सूर की वियोग-व्याकुलता, विरह-व्यथा अपार थी, अगाध थी—यह तथ्य उनके अनेक पदों में अभिव्यंजित हो रहा है। विरह में आचार्यों ने एकादश अवस्थाओं का परिगणन किया है जो लौकिक पक्ष में ही सम्भव हो सकती हैं। अध्यात्मपक्ष में स्मरण, गुणकथन, अभिलाषा, व्याकुलता जैसी कुछ थोड़ी-सी अवस्थायें ही आ सकती हैं। इनसे सम्बन्ध रखनेवाले पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

स्मरण—हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ। हरिचरनारविंद उर धरौ ॥ ३४४

रे मन सुमिरि हरि हरि हरि।
शतयज्ञ नाहीं राम सम परतीति करि करि करि ॥ ३०६

गुणकथन—तुम अनादि अविगत अनन्तगुन पूरन परमानंद।
सूरदास पर कृपा करौ प्रभु श्री वृन्दावनचंद ॥ १६३

अभिलाषा—चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहं भ्रम निसा होति नहिं कबहूँ सो सागर सुख जोग ॥ ३३७
चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना बिकसाहिं ॥ ३३८
अपनी भक्ति देहु भगवान्।
कोटि लालच जौ दिखावहु नाहिनें रुचि आन ॥ १०६

उद्वेग (व्याकुलता)—मेरी तौ गति पति तुम, अन्तहिं दुख पाऊँ।
हौं कहाइ तिहारौ, अब कौन कौ कहाऊँ ॥ १६६
अब के राखि लेहु भगवान्।

हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया, पारधि साधे बान ॥ ९७
हृदय की कबहुँ न जरनि घटी।
बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसे जाति कटी ॥
(विवंशता) अपनी रुचि जितही तित खैंचति इन्द्रिय ग्राम गटी।
हौं तित ही उठि चलत कपट लगि बाँधे नयन पटी ॥
व्याधि—दिन दिन हीन छीन भइ काया, दुख जंजाल जटी।
चिन्ता गई अरु भूख भुलानी, नींद फिरत उचटी ॥ ९८

कान्तासक्ति और वात्सल्यासक्ति के परमविरह-सम्बन्धी उदाहरण हरि-लीला वाले पदों में तो बाहुल्य से हैं, पर सूर की पूर्व रचनाओं में उपलब्ध नहीं होते। कान्तासक्ति का केवल एक उदाहरण द्वितीय स्कन्ध के पाँचवें पद में है जो इस प्रकार है:

गोविन्द सौं पति पाइ कहा मन अनत लगावै।
गोपाल भजन बिनु सुख नहीं जो चहुँ दिसि धावै ॥
पति कौ व्रत जो धरै त्रिया सो शोभा पावै।
आन पुरुष को नाम लेत तिय पतिहिं लजावै ॥ ३५२

कबीर की साखियों और पदों में कान्तासक्ति के कई उदाहरण हैं। वात्सल्यासक्ति का उदाहरण वेद ने 'वत्सं न मातरः' कह कर उपस्थित किया है। सूर ने उसके विपरीत क्रम से लिखा है: 'ज्यौं फिरत सुरभी ज्यों सुत संग उचित गमन गृह बन कौं।' वेद में मातायें अनेक भक्त हैं, प्रभु वत्स है। सूर में प्रभु गौ है, भक्त बछड़े हैं। इन उक्तियों में एक वचन और बहु-वचन के प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं।

साधनक्षेत्र में सूर का स्थान और सिद्धि:

सन्तों की वाणी उनके अन्तस्तल की प्रकाशिका होती है। 'कथनी और करनी' की एकता भी वस्तुतः अन्तस्तल से ही उद्भूत होती है। जो सन्त विकास की जिस भूमिका में पहुँचे होते हैं, उनके मुख से उसी भूमिका का उच्चारण होता है। इस कसौटी पर यदि हम सूरदास की वाणी की परीक्षा करें, तो सूर हमें साधन-सम्पत्ति के बहुत ऊँचे स्तर पर खड़े दिखाई देते हैं। यह स्तर वह अन्तिम सोपान है जो साधक को भगवद्भक्ति की प्राप्ति करा देता

है। सूरदास ने जैसा हम लिख चुके हैं, सत्संग की महिमा, कथनी और करनी की एकता, विषयों के परित्याग, नियम-धर्म-व्रत-जप-तप-संयम के पालन, ज्ञान के संपादन, सत् के प्रत्यय और भागवतादि के श्रवण तथा गुरु-प्रसाद द्वारा भक्ति-भावना को हृदय में दृढ़ करने का उल्लेख कई बार किया है[1]। भक्ति के बिना उन्हें सब साधन निरर्थक जान पड़ते हैं (२०८, २३३)। यदि भक्ति है, तो चतुर्वर्ग की प्राप्ति अनायास सुलभ है। यदि भक्ति नहीं है, तो अन्य साधन कुछ भी नहीं कर सकते। भगवान् के नाम-स्मरण को जो भक्ति-भावना का प्रमुख अंग है, वे भव-जलधि के संतरण के लिये नौका के समान मानते हैं[2]। उनके प्रारम्भिक पदों में इन समस्त साधन-परिचायक पदों की अपेक्षा ऐसे पदों की संख्या कहीं अधिक है, जो केवल भगवच्चरणों में सूर के निवास पाने की तीव्र आकांक्षा प्रकट करते हैं[3]। साधनों पर विचार करते हुये हमें उनका विकास-संबंधी यह स्तर स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है।

सूर, निस्सन्देह, इस जीवन में अपनी साधना के अन्तिम स्तर पर थे। वे प्रभु के थे, प्रभु उनके थे। अपनी लज्जा, महत्ता सब कुछ वे प्रभु के चरणों में समर्पित कर चुके थे। सब कुछ छोड़कर वे प्रभु के पद-पद्मों में प्रणत थे। (१७०) उनकी गति-पति एकमात्र करुणा-वरुणालय भगवान् थे। (१६३)। उनका मन अन्यत्र कहीं भी सुख प्राप्त नहीं करता था। जैसे जहाज का पक्षी इधर-उधर उड़ कर पुनः जहाज पर ही आकर विश्राम पाता है, उसी प्रकार सूर को समस्त साधनों से हट कर केवल भगवच्चरणों में ही विश्रान्ति मिलती थी (१६८)। भगवद्भक्ति उनका प्राण बन गई थी। जैसे जल से वियुक्त होकर मछली तड़पती है, वैसे ही सूर भक्ति से विहीन होकर क्षण भर के लिये भी सुख का अनुभव नहीं करते थे (१६९)। प्रभु जैसे चाहें, उन्हें रखें, पर अपने चरणों से पृथक् न करें (१६१), यही उनकी एकमात्र अभिलाषा थी। मन-वचन-कर्म से अगोचर मूर्ति को वे अपने नेत्रों में बन्द कर लेना चाहते थे (११५)।

हरि भक्त को अंगीकार कर लें, उसे अपना लें, अपना अंग बना लें—इससे

---

१. १५५, १२९, १२७, १२६, १२०, १११, ६५, ३६२, ३६८, ३७५.

२. १५५, ११९, २०२.

३. १०९, १०८, ९९, १००, ९४, ९८.

बढ़ कर और कौन सी सिद्धि साधक को चाहिये ? (३६, ३७, ३८)। सूर को विश्वास था कि उसके प्रभु अपने भक्त को सब कुछ प्रदान करते हैं। अपने भक्त के लिये वे वेदाज्ञा जैसे मर्यादा-नियमों को भी दूर रख देते हैं (२११)। उनका स्वभाव ही भक्त की मनोकामनाओं को पूर्ण करना है। करुणामय भगवान् भक्त के विरह से कातर होकर उसके पीछे-पीछे वैसे ही लगे फिरते हैं, जैसे माँ अपने बच्चे के पीछे लगी रहती है (८, ९)। इस भव-सिन्धु में सब डूबते हैं, पर भगवान् का भक्त सभी युगों में पार होता रहा है (१२१)। प्रभु के ऐसे स्वभाव को अनुभव करके ही सूर कह उठते हैं : 'काटौ न फंद मो अंध के अब बिलम्ब कारन कवन' ? (१८०), नाथ ! अब विलम्ब क्यों है ? मुझ अंधे के फंदों को क्यों नहीं काट देते ?

ये फंद कटने ही थे। सूर को पाश-मुक्त होना था। वे शीत-उष्ण, सुख-दुख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों में समत्व बुद्धि प्राप्त कर चुके थे (१५१) और कमल-लोचन में अपने चित्त को बिद्ध कर देने के लिये तत्पर थे (१५३)। पर जो भोग अवशेष रहता है, उसे तो भोगना ही पड़ता है। समय का इसमें अनिवार्य हाथ रहता है। जब ऊष्मा अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँच जाती है, तभी तो वर्षा होती है। भक्त की प्रभु से विरह-व्याकुलता भी जब अपनी चरम सीमा का स्पर्श करने लगती है, तभी तो वह प्रभु को द्रवित कर पाती है। इस व्याकुलता से त्राण पाने के लिये प्रभु के चरणों में घिघियाते-घिघियाते जब सूर ने उन चरणों को दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया (१७७), तो प्रभु ने सिद्ध योगी महात्मा वल्लभाचार्य को सूर का उद्धार करने के लिये भेज दिया। आचार्य रूपी स्पर्शमणि का स्पर्श होते ही सूर रूपी सार स्वर्ण में परिणत हो गया। फिर न घिघियाना रहा, न विरह-व्याकुलता। गुरुप्रसाद से हरिलीला का साक्षात् दर्शन करके सूर कृतकृत्य हो गये[1]।

पुष्टिमार्गीय भक्ति और सूरदास

आचार्य वल्लभ दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण श्री लक्ष्मण भट्ट के द्वितीय पुत्र और श्री नारायण भट्ट के शिष्य थे। विजयनगर के राजा कृष्णदेव की सभा

1. गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप करयौ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

सूरसारावली, ११०२

में शैवों को पराजित करके वे दक्षिण से वृन्दावन आये और गोवर्धन पर श्रीनाथ मन्दिर की स्थापना करके उन्होंने बालकृष्ण की भक्ति और पुष्टि-मार्ग का प्रचार किया। आचार्य विष्णुस्वामी के रौद्र सम्प्रदाय से इनका सम्बन्ध था।

आचार्य वल्लभ के मत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। वे अनंत शक्तियों द्वारा अपनी आत्मा में अन्तर रमण करने से आत्माराम और बाह्य रमण की इच्छा से अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करने पर पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उनकी नित्य लीला व्यापी वैकुण्ठ में होती रहती है। गोलोक इसका एक अंश है और जो विष्णु के वैकुण्ठ से बहुत ऊपर है।

आचार्य वल्लभ अविकृत परिणामवादी हैं। रामानुज ने जगत् के परिणमन में उपाधि लगा कर उसे विकृत कर दिया है। वे जगत् की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। परन्तु वल्लभ के मत में जगत् का ब्रह्म से केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जगत् नष्ट नहीं होता। जैसे कुण्डल पिघल कर पुनः स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही जगत् तिरोहित होकर ब्रह्मरूप धारण कर लेता है। पुष्टि सम्प्रदाय में भगवान् के अनुग्रह से भक्त भगवान् के आनन्दधाम में प्रवेश करता है।

दार्शनिक क्षेत्र में इनका मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। आचार्य वल्लभ जीव और प्रकृति दोनों को ईश्वर का ही रूप समझते हैं। संसार और जगत् में भी उन्होंने भेद किया है। मेरा-तेरापन संसार है, पर जगत् इससे भिन्न है और ब्रह्म के सदंश से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। जगत् की रचना अथवा उसका आविर्भाव प्रभु की शाश्वत लीला है। प्रभु लीला करना चाहता है, विश्व इसीलिये अस्तित्व में आता है।

पुष्टिमार्ग में भगवान् की यही लीला प्रधान है। हरिलीला के समावेश ने पुष्टिमार्ग के स्वरूप को अन्य सम्प्रदायों से एकदम पृथक् कर दिया है। इस हरि-लीला का प्रमुख अंग रासलीला है। 'रास' शब्द रस से बना है। अतः पुष्टिमार्गीय भक्ति को सरस भक्ति भी कहा जाता है। सूरदास रास का वर्णन करते हुए कहते हैं :

रास रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, इहै चित जिय भ्रम भुलावै॥

सो कहौ कौन गावै, विमल अद्भुत, हरि कृपा बिनु नाहिं या रसहिं पावै।
भाव सौं भजै, बिनु भाव मैं ए नहीं, भाव ही माँहि भगवान बसावै।
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है दरस दम्पति भजन सार गावै।
यहै माँगौ बार-बार प्रभु सूर के नयन दोउ रहैं नर देह पावै।

सूरसागर (ना० प्र० स० १६२९)

अर्थात् मुझे ऐसी बुद्धि कहाँ प्राप्त है, जो इस रास रस का, हरिलीला का वर्णन कर सके। यदि मैं यह कहूँ कि वेदों के लिए भी यह अगम्य है, तो इसे कौन मानेगा? पर मेरा तो निश्चित सिद्धान्त है कि भगवान् की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति इस रास की उपलब्धि नहीं कर सकता। रास का, हरिलीला का सार प्रेम-भाव में निवास करता है। जो प्रेम-भाव से भगवान् का भजन करता है, उसे ही वे प्राप्त होते हैं। प्रेमभाव के बिना भगवत्प्राप्ति असम्भव है। यह प्रेमभाव भी भगवान् की कृपा से ही सुलभ होता है।

जब हम हरिलीला और पुष्टि-मार्गीय भक्ति के नवीन रूप की बात करते हैं, तो हमारी निश्चित धारणा इसी तथ्य की ओर रहती है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता, सूरदास-वार्ता प्रसंग दो के अन्त में लिखा है: 'श्री आचार्यजी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप है, माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ़ स्नेह की परम काष्ठा है।' यह सुदृढ़ स्नेह की पराकाष्ठा ज्ञान, कर्म तथा योग तो क्या, वहाँ, उपासना की भी अपेक्षा नहीं रखती थी। सूरदास लिखते हैं:

कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायौ लीला भेद बतायौ।

(सूरसारावली ११०२)

इन पंक्तियों में सूर ने ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनों को भ्रमात्मक कहा है। उपासना का अर्थ भक्तिकाण्ड है। यदि यह भ्रम है, तो सत्य क्या है? सूर कहते हैं, वह सत्य, वह तत्त्व लीला के रहस्य को अवगत करना है। सूर को आचार्य वल्लभ ने हरिलीला का यही भेद बतलाया था। हरिलीला के इस तात्त्विक रहस्य को हृदयंगम कर लेने पर सूर को अन्य समस्त साधन (यहाँ तक कि उपासना भी) भ्रमात्मक प्रतीत होने लगे थे। इसी कारण सूर सब साधनों से हट कर हरि-लीला-गायन में प्रवृत्त हो गए[१]। अतः पुष्टिमार्ग,

१. ता दिन तें हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार सूर सारावलि, गावत अति आनन्द॥ (११०३ सारावली)

पुष्टिभक्ति हरिलीला केन्द्र के चारों ओर व्याप्त हैं। यही उसका नवीन रूप है।

तो क्या पुष्टिमार्ग उपासनामार्ग नहीं है? कहते हुए सङ्कोच होता है कि यह वह उपासना मार्ग नहीं है, जिसे सूर ने भ्रमस्वरूप कह दिया है। यह सेवामार्ग है।[1] उपासना का जो मार्ग पूर्व से प्रचलित चला आता था, उसका एकान्त अभिनव रूप पुष्टिमार्ग में दृष्टिगोचर हुआ। पूर्वकाल की नवधा भक्ति भी इसमें अभिनव रूप में ही समाविष्ट हुई और वह भी इस पुष्टिपथ की साधनरूप बनकर। श्रवण, कीर्तन और स्मरण हरिलीला से सम्बद्ध होकर भगवान् की नाम-लीला-परक क्रियायें बन गये। पाद-सेवन, अर्चन और वंदन हरि (श्रीकृष्ण) के रूप से सम्बद्ध हो गये।

दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन उन भावों में सम्मिलित हो गये, जिन्हें लेकर गोप-गोपिकायें प्रभु के आगे लीला-निरत होते हैं, आत्म-समर्पण करते हैं। नारद-भक्ति-सूत्र संख्या ८२ में जिन आसक्तियों का वर्णन है वे भी हरि-लीला से सम्बद्ध कर दी गईं। उदाहरण के लिये प्रथम प्रकार की सख्य भक्ति थी :

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हम ही कै तुम्ह ही माधौ अपुन भरोसे लरिहौं॥ १३४॥

पर हरि-लीला से सम्बद्ध होकर सख्य भक्ति श्रीकृष्ण और श्रीदामा के एक साथ खेलने में चरितार्थ होने लगी।

---

१. सेवामार्ग दो प्रकार का है। नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवा तीन प्रकार की है : तनुजा, वित्तजा और मानसी। मानसी दो प्रकार की है : मर्यादा-मार्गीय और पुष्टिमार्गीय। 'सेवया विना नरो न पुष्टिमार्गाधिकारी'। इस सिद्धान्तप्रवर्तन की आज्ञा, कहते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रकट होकर आचार्य वल्लभ को दी थी। पुष्टिमार्ग में उपासना और भक्ति पृथक्-पृथक् हैं तथा ज्ञान और कर्म की भाँति उपासना को भक्ति का अङ्ग माना जाता है। आचार्य शंकर, मध्व और रामानुज दोनों को एक ही समझते हैं। साधनक्रम में पुष्टिमार्गीय साधक प्रथम कर्म, फिर उपासना, उसके बाद ज्ञान और अन्त में भक्ति को रखते हैं।

मर्यादामार्गीय सेवा विधि-विधानात्मक अनुष्ठानों से सम्बन्ध रखती है। इसमें सिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् पुष्टिमार्गीय अथवा भावनात्मक मानसी सेवा का प्रारम्भ होता है। यह विशुद्ध प्रेम पर अवलम्बित है। इसी हेतु इसे प्रेमलक्षणा, परा या शुद्ध पुष्टि भक्ति भी कहा जाता है। प्रेम को अनन्यता की कोटि पर पहुँचाने के लिये विरहासक्ति आवश्यक मानी गई है। मानसी सेवा निरोधरूप होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

पहले आत्मनिवेदन में सूर गाया करते थे :

प्रभु हौं सब पतितन कौ नायक।

अथवा

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।

पर हरि लीला में आत्म-निवेदन गोपियों की इस प्रकार की प्रवृत्तियों में प्रकट होने लगा :

कहा करौं पग चलत न घर कौं।
नैन विमुख जिन देखें जात न उरझे अरुन अधर कौं॥
(सूरसागर ना० प्र० स० २६२४)

परब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व पूर्व रचनाओं में :

करुनामय तेरी गति लखि न परै।
धर्म-अधर्म, अधर्म-धर्म करि अकरन करन करै॥ १०४॥

इन शब्दों में प्रकट होता था, परन्तु हरि-लीला के अन्तर्गत वह इस प्रकार कहा जाने लगा :

देहरी लौं चलि जात, बहुरि फिरि-फिरि इतहीं को आवै।
गिरि गिरि परत बनत नहिं नांघत सुर मुनि सोच करावै॥
कोटि ब्रह्माण्ड करत छन भीतर हरत बिलम्ब न लावै।
ताको लिये नंद की रानी नाना रूप खिलावै॥

पहले पश्चात्ताप ऐसे पदों में होता था :

बादहि जन्म गयो सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यौ न जाइ॥ १५५॥
सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनों पन ऐसे ही बीते केस भये सिर सेत॥ २९६॥

परन्तु बाद में इस प्रकार उसका अभिव्यञ्जन होने लगा :

मोतें यह अपराध पर्यौ।
आये स्याम द्वार भये ठाढ़े मैं अपने जिय गर्व धर्यौ॥ २७१६॥

इस प्रकार भक्ति का प्रत्येक अङ्ग हरि-लीला पर घटा दिया गया। जो बात कुछ सूक्ष्म और सामान्य स्तर में चलती थी, वह स्थूल और विशिष्ट स्तर में कही जाने लगी। आचार्य वल्लभ जैसे सिद्ध योगी ने आर्य जाति की

तत्कालीन मानसिक परिस्थिति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करके पुष्टि भक्ति का जो उपचार-चूर्ण तैयार किया, वह जनसाधारण के अधिक निकट, सहज-अनुभूति-गम्य और रुचिकर था। भगवान् की सेवा का मार्ग इस रूप में सबके लिये सुगम हो गया।

पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा में जीवों के भेदों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य वल्लभ लिखते हैं :

> तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
> भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ १२ ॥
> तेहि द्विविधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः।
> प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ॥ १४ ॥
> पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहिणः क्रियारताः।
> मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाति दुर्लभाः ॥ १५ ॥

पुष्टि मार्ग में जीव भिन्न-भिन्न हैं। उनकी सृष्टि भगवान् की रूप-सेवा के लिये हुई है। जो जीव शुद्ध हैं, वे भगवान् की कृपा से उनके प्रेम-पात्र बन चुके हैं और अत्यन्त दुर्लभ हैं। मिश्र जीव प्रवाही-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट और पुष्टि-पुष्ट नाम से तीन प्रकार के हैं। इन सब की रचना भगवान् के कार्य की सिद्धि के लिये ही की गई है। भगवान् का कार्य है लीला, अतः ये सब उस लीला में भाग लेने वाले हैं। लीला में भाग लेकर प्रभु की सेवा करने वाले हैं। सेवा की यह क्रिया ही पुष्टिमार्गीय भक्ति है। अतः निस्साधन भक्तों के लिए यह उच्चतम और सरलतम भक्तिमार्ग है।

श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध में पुष्टि का लक्षण 'पोषणं तदनुग्रहः' शब्दों द्वारा किया गया है। अर्थात् पुष्टि पोषण है। यह पोषण भगवान् का अनुग्रह है। पुष्टि का तात्पर्य विषय-वासनाओं की तुष्टि नहीं है, क्योंकि वासनाओं का पोषण आध्यात्मिक मार्ग नहीं माना जा सकता। वासनायें आध्यात्मिक विकास का पोषण नहीं, शोषण करती हैं। पुष्टिमार्ग आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है।

श्री हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग का विश्लेषण इस प्रकार किया है :

> सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्।
> फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥ १ ॥

अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥ ९ ॥
सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्ध एव हि।
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥ १० ॥
यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे संगमादपि।
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥ १५ ॥

श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली, पुष्टिमार्गलक्षणानि।

जिस मार्ग में समस्त साधनों की शून्यता प्रभु-प्राप्ति में साधन बनती है, साधन-जन्य फल ही जहाँ साधन का कार्य करता है, जिस मार्ग में प्रभु का अनुग्रह ही लौकिक तथा वैदिक सिद्धियों का हेतु बन जाता है, जहाँ कोई यत्न नहीं करना पड़ता, जहाँ प्रभु के साथ देहादि का सम्बन्ध ही साधन और फल दोनों बन जाता है, जहाँ भगवान् की समस्त लीलाओं का अनुभव करते हुए वियोग में भी संयोग-सुख से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वह पुष्टिमार्ग है।

इन शब्दों में श्री हरिरायजी पुष्टि भक्ति का सीधा सम्बन्ध हरिलीला से स्थापित करते हैं।

आचार्य वल्लभ के कुल में श्री कल्याण राय जी के पुत्र महाप्रभु हरिरायजी संवत् १६४७, भाद्रपद, कृष्णपक्ष पञ्चमी के दिन उत्पन्न हुये थे। इन्होंने संस्कृत, गुजराती तथा व्रजभाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। शिक्षा-पत्र इन्होंने संस्कृत पद्यों में लिखा है जिसकी व्रजभाषा टीका उनके अनुज श्रीगोपेश्वरजी ने की है। इसमें एक स्थान पर लिखा है :

'जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोरा आदि बरस दिन के उच्छव, तिनकी अनेक लीला भाव करिकै पुष्टि मारग की रीति सौं मन लगाइ कै करै। तथा नित लीला, खंडिता, मंगल-भोग, आरती, सिंगार, पालनों, राजभोग, उत्थान, सैन-शयन पर्यन्त, पीछे रासलीला, मानादिक जल-थल-विहार इत्यादि की भावना करिये।' व्रजभारती, आषाढ़ १९९८, पृ० ११

इस उद्धरण में भी श्री हरिरायजी ने पुष्टिमार्ग को हरिलीला से स्पष्ट रूप में सम्बद्ध किया है। उन्होंने खंडिता, मान, विहार आदि शृङ्गारी तत्वों का भी उससे सम्बन्ध स्थापित किया है।

आचार्य वल्लभ ने हरि-स्वरूप-सेवा का प्रबन्ध श्रीनाथ मंदिर में नित्य

तथा नैमित्तिक आचारों द्वारा किया था। नित्याचार में आठों प्रहर की सेवा नीचे लिखे अनुसार थी :

सेवा	समय	भाव	कीर्तनकार
१ मंगला	प्रातः ५ से ७ बजे तक	अनुराग के पद, खंडिता भाव जगाने के पद, दधिमंथन के पद	परमानंद
२ शृङ्गार	७ से ८ तक	बाल-रूप-सौन्दर्य के पद, वेष-भूषा, बालक्रीड़ा	नंददास
३ ग्वाल	८ से १० तक	सख्यभाव के पद, कृष्ण के खेल, चौगान, चकडोरी आदि, गो-चारण, गोदोहन, माखनचोरी, पालना, धैया आरोगन,	गोविंदस्वामी
४ राजभोग	१० से १२ तक	छाक के पद	आठों भक्त विशेष रूपसे कुंभनदास
५ उत्थापन	सायं ३॥ से ४॥ तक	लीला के पद	सूरदास
६ भोग	५ बजे	कृष्णरूप, गोपीदशा, मुरली, रूपमाधुरी, गाय-गोप आदि	आठों भक्त विशेष-रूपसे चतुर्भुजदास
७ संध्या आरती	६॥ बजे	गो-ग्वालसहित वन से आगमन, गोदोहन धैया के पद, वात्सल्यभाव से यशोदा का बुलाना	छीतस्वामी
८ शयन	७ से ८ तक	अनुराग के पद, गोपी भाव से, निकुञ्ज लीला के पद, संयोग शृङ्गार	कृष्णदास

आठों प्रहर की सेवा में नित्यक्रम, ऋतु-क्रम तथा उत्सव-क्रम के अनुसार सेवा का आयोजन बदलता रहता था।

इस सेवा में श्रीकृष्ण को सुस्वादु भोग समर्पित करना, स्नेह-सौहार्द आदि द्वारा उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना और वस्त्राभूषणादि से उनका शृङ्गार करना ही प्रमुख थे।

नैमित्तिक आचारों में षड् ऋतुओं के उत्सव-पर्व, रक्षाबंधनादि, अवतारों की जयन्तियाँ, हिंडोला, फाग, वसन्त, मकरसंक्रान्ति आदि मन्दिर में मनाये

जाते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें और भी अधिक बढ़ा दिया था। महात्मा सूरदास इन नित्य तथा नैमित्तिक आचारों को विषय बना कर पद-रचना किया करते थे। इस समस्त आचारों का सम्बन्ध हरिलीला से था। सूरसागर हरिलीला के ऊपर लिखे विषयों पर बनाये गये ऐसे ही गीतों का विशाल संग्रह है।

इस प्रकार सूर ने अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण की लीलाओं का विविध रूपों में वर्णन किया है। यह समस्त लीला-वर्णन, जिसमें कहीं श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं, चरितों, चेष्टाओं आदि का उल्लेख है, कहीं पनघट, माखनचोरी, गोदोहन आदि का, कहीं रास, कहीं मिलन और कहीं विरह आदि भावों का वर्णन है, ईश्वरभाव को ही लेकर किया गया है और सब भगवान् की सेवा का ही अङ्ग है।

नवधा भक्ति का प्रयोजन था भगवान् के चरण-कमलों में प्रणत होकर शीतलता का अनुभव करना, पर इस पुष्टि-मार्गीय भक्ति का लक्ष्य था प्रेमपूर्ण प्रभु के प्रेम को प्राप्त कर मस्त रहना और श्री हरिराय जी के शब्दों में गोपियों के भाव का अनुसरण करते हुये भगवान् के अधरामृत का सेवन करना। अतः पुष्टिमार्गीय भक्ति उष्ण भक्ति भी कहलाती है।

भक्ति के जो मर्यादा और पुष्टि दो भेद किये जाते हैं, उनमें मर्यादा भक्ति भगवान् के चरणारविन्दों की भक्ति है, पुष्टि भक्ति प्रभु के मुखारविन्द की भक्ति है। मर्यादा भक्ति द्वारा नारदादि मुनियों ने श्रवण-कीर्तन द्वारा भगवान् का सुख-सम्बन्ध उपलब्ध किया। यह सुलभ है। पुष्टि भक्ति द्वारा, जो स्वयं भगवत्प्रदत्त है, गोपियों ने भगवान् के प्रेम को प्राप्त किया। यह दुर्लभ है। मर्यादा भक्ति परतंत्र है। पुष्टि भक्ति स्वतंत्र है। मर्यादा भक्ति फल की अपेक्षा रखती है। पुष्टि भक्ति में फल की अपेक्षा नहीं रहती। एक अक्षरब्रह्म में लय कराती है, तो दूसरी द्वारा पुरुषोत्तमलीला में प्रवेश होता है। भगवद्विषयक निरुपाधि स्नेह को सर्वात्मभाव कहते हैं। वही पुरुषोत्तमप्राप्ति का मुख्य कारण है। भागवत के नवम स्कंध में वर्णित अम्बरीष की भक्ति मर्यादा प्रकार की है। दशम स्कंध में निरूपित ब्रजसुन्दरी गोपिकाओं की भक्ति पुष्टि प्रकार की है।

आचार्य वल्लभ ने भक्ति को विहिता और अविहिता दो प्रकार की माना है। ब्रह्मसूत्र ३-३-२९ के अणुभाष्य में वे लिखते हैं :

'भक्तिस्तु विहिता अविहिता च द्विविधा। माहात्म्यज्ञानयुतईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपाधिस्नेहात्मिका विहिता। अन्यतो प्राप्तत्वात् कामादि-उपाधिजा सा तु अविहिता। एवं उभयविधाया अपि तस्या मुक्तिसाधकत्वम् इत्याह।' अर्थात् ईश्वर में माहात्म्यज्ञानयुत निरुपाधि स्नेह रखना विहिता भक्ति है। कामादि उपाधियों से उत्पन्न भक्ति अविहिता है। दोनों ही मुक्ति की साधिका हैं।

भक्ति-वर्धिनी में आचार्य जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्तिमार्ग की तीन स्थितियों को स्वीकार किया है: स्नेह, आसक्ति और व्यसन। भक्त पहले प्रभु से स्नेह करता है। यह स्नेह धीरे-धीरे आसक्ति में परिणत होता है और आसक्ति अन्त में व्यसन बन जाती है। व्यसन से भक्त प्रेम की पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

सिद्धान्तमुक्तावली में आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय भक्त के लिये परम आराध्यदेव श्रीकृष्ण को ही माना है। श्रीकृष्ण में अनन्यभक्तिभावना, अविचल श्रद्धा-विश्वास और पूर्ण समर्पणभाव ही भक्त का उत्थान कर सकते हैं। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में प्रवेश-संस्कार अर्थात् ब्रह्म संबंध कराने के समय गुरु शिष्य को 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र देता है। यह मंत्र भक्त को सदैव अपने ध्यान में रखना चाहिये। चतुःश्लोकी में आचार्य जी लिखते हैं:

'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः। स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन। एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति। प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्।'

अर्थात् सर्वदा समस्त भावों से व्रजाधिप श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिये। अपना यही धर्म है, अन्य कुछ नहीं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं। जो कुछ मेरे लिये कर्तव्य है, उसे वे स्वयं कर देंगे, ऐसा सोच कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। लौकिक एवं वैदिक सभी कर्मों का फल भगवान् को अपने हृदय में स्थापित कर लेना है। अतः सभी भाँति श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणत होकर उनका स्मरण, भजन और कीर्तन करना चाहिये। भगवद्भजन की ओर प्रेरणा देने वाला गुरु होता है। अतः आचार्य वल्लभ के मत में गुरु की आज्ञा का पालन प्रभुभक्ति का ही अंग समझा जाता है।

पुष्टिमार्ग में भक्ति, पूजा, कीर्तन आदि करने का अधिकार सभी वर्ण वालों को प्राप्त था। सूरदास, परमानन्ददास आदि ब्राह्मण थे, कुम्भनदास

क्षत्रिय थे, कृष्णदास कुनबी पटेल थे तथा अन्य अनेक पुष्टिमार्गीय भक्त निम्न वर्ण के थे। भक्ति मार्ग को स्वामी रामानन्द ने जैसे समस्त वर्ण वालों तथा देशी-विदेशी जनों के लिए उन्मुक्त कर दिया था, उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और उनके अनुयायियों ने भी। सूरदास के कई पदों में इस वर्ण-शैथिल्य का प्रतिपादन हुआ है।

आश्रममर्यादा भी पुष्टिमार्ग में भिन्न प्रकार की है। स्मृतियों के अनुशासन को, इस सम्बन्ध में अवहेलनीय समझा गया है। पुष्टिमार्ग प्रमुख रूप से प्रभु-सेवा को ही महत्ता देता है। वर्णाश्रममर्यादा विधि-निषेध पर आधारित है। अतः उसकी मान्यता वर्जित है। भक्त किसी भी वर्ण या जाति का हो और किसी भी अवस्था में हो, उसका परम धर्म भगवत्सेवा है, अन्य धर्म या कर्तव्य गौण हैं।

सूरसागर में इस सेवा-मूला, प्रेम-परा हरिलीला का ही वर्णन अधिक मात्रा में हुआ है। हरिलीला में भगवान् कृष्ण और उनके सखाओं तथा सखियों को विशेष महत्त्व दिया गया है। अष्टछाप के आठ कवि एक-एक सखा के प्रतिरूप हैं। गिरिराज को नित्य निकुञ्ज मान कर उसके आठ द्वारों[1] पर अष्टछाप के आठों सखाओं को अधिकारी के रूप में नियुक्त समझना चाहिये। इन्हीं स्थानों से वे भगवान् की सतत सेवा में निरत रहते हैं। गिरिराज के आठ द्वार हैं: आन्यौर, चन्द्रसरोवर, सुरभीकुण्ड, बिलछूकुण्ड, कदमखंडी, अप्सराकुण्ड, रुद्रकुण्ड और मानसी गंगा। इन पर क्रमशः कुम्भनदास (अर्जुन), सूरदास (कृष्ण), परमानन्ददास (तोक), कृष्णदास (ऋषभ), गोविन्दस्वामी (श्रीदामा), छीतस्वामी (सुबल), चतुर्भुजदास (विशाल) और नन्ददास (भोज) का अधिकार था। इनके साथ क्रमशः विशाखा, चम्पकलता, चन्द्रभागा, ललिता, भामा, पद्मा, विमला और चन्द्ररेखा सखियों के नाम आते हैं और लीलाओं में निकुञ्ज, मान, बाल, रास, आँखमिचौनी, जन्म, अन्नकूट और किशोरलीलाओं का इनसे क्रमशः सम्बन्ध है[2]।

---

१. जायसी ने आखिरी कलाम, दोहा संख्या ५६ में स्वर्ग का वर्णन करते हुये लिखा है: 'खुलिहैं आठौ पंवरि दुआरा'। दोहा संख्या ५५ में 'नन्दसरोद' भी है जो गाया जाता है। दो स्थानों का यह विचित्र साम्य किस आधार पर है?

२. अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ६९

सूर-वर्णित हरिलीला जहाँ लोकभाषा में संसार की व्यावहारिक बातों और कथाओं पर प्रकाश डालती है, वहाँ समाधिभाषा के द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण करती है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में दोनों एक दूसरे के प्रतिबिम्ब हैं। शुद्धाद्वैतवादी की दृष्टि में खंडिता नायिका का वर्णन भक्त के उस स्वरूप का उद्घाटन करता है, जिसमें वह अन्य भक्तों की सुगति प्राप्ति से होड़ कर रहा है। 'हे हरि क्यों न हमारे आये'। इस पद को हरिलीला के अन्तर्गत किसी गोपी के मुख से कहला दिया जाय, तो उसकी वेदना, टीस एवं तड़पन से ओतप्रोत इस शब्दावली में विरह-व्यथित भक्त की ही चिरंतन पुकार, उसकी क्रंदनकातरता सुनाई पड़ने लगेगी।

पुष्टिमार्ग में यह लीला ही वस्तुतः सर्वप्रधान थी। इस लीला में भाग लेना ही जीवन का चरम आदर्श था, क्योंकि यही वह सेवाकार्य था जिससे भगवत्कृपा प्राप्त होती थी और जो अन्त में साधन और साध्य को अन्योन्याश्रित कर देती थी। मुक्ति इसके आगे तुच्छ समझी जाती थी। इसी आधार पर कृष्णभक्तों का कार्य कृष्ण की नित्य एवं नैमित्तिक जीवनचर्या में भाग लेना था। प्रातःकाल उठते ही कृष्ण को जगाना, मुँह धुलाना, कलेऊ कराना, शृङ्गार कराना आदि भक्तों और उपासकों का कार्य समझा जाता था। इसके पश्चात् मन्दिर के कपाट बन्द हो जाते थे, क्योंकि यह समय कृष्ण के गोचारण का था। मन्दिर बन्द है, पर भक्त अपने कन्हैया के साथ मानसरूप से गोचारण में योग दे रहे हैं। दधि, माखन, गोदोहन के प्रसंग चलते हैं, यमुनातट पर क्रीड़ा होती है, छाक पहुँचाई जा रही है और दोपहर के समय भगवान् को भोग लगाया जा रहा है। कृष्ण-भक्त एक-एक क्रिया में अपने भगवान् के साथ तन्मय होकर लगे हुए हैं। सन्ध्या हुई, गोधूलि-बेला में कृष्ण घर लौटे। मंदिर के कपाट खुले। आरती होने लगी। कृष्ण थक गये। उनके शयन का प्रबन्ध हो रहा है। भगवान् सुला दिये गये। भक्त भी सो गये। यह थी श्रीनाथ मन्दिर की प्रतिदिन की चर्या। इस नित्यक्रिया के साथ, जैसा लिखा जा चुका है, नैमित्तिक आचार भी चलते थे। मन्दिर में वसन्तोत्सव मनाया जाता था, फाग खेला जाता था, वृन्दावन, गोकुल और मथुरा के मंदिरों की श्रावण मास में हिंडोले और झूलने की झाँकियाँ तो अतीव प्रख्यात हैं। आश्विन मास के दिनों

में रासलीला मनाई जाती थी। इस प्रकार कृष्णभक्तों का जीवन कृष्ण के साथ रंग-रहस्य और विनोद-प्रमोद में व्यतीत हो जाता था।

आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का इतना सुन्दर सामञ्जस्य आज तक किसी भी उपासनामार्ग में नहीं देखा गया। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पराधीनता-जन्य दुःखों की विकट अनुभूति से तड़पती हुई आर्य जाति को पुष्टिभक्ति के पोषण द्वारा जीवित रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया। संभव है, इस पुष्टिमार्गीय चहल-पहल में मुगलों के वैभव का भी कुछ प्रभाव हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की पूजा-पद्धति ने हिन्दुत्व को स्थिर रखने में बड़ी सहायता दी। इस आत्म-पोषक, लोक-विधायक वैभव के समक्ष हमने यवन-वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी। सूर द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना इसी हेतु प्रवृत्तिमूलक है। उसमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, प्रत्युत जीवन से ज्वलन्त राग है। वह आशा का स्रोत है। इस भक्ति में भक्तों ने अपना सुख-दुःख भगवान् के साथ एक कर दिया था। हरिलीला में भाग लेना और इस प्रकार अपने प्रभु की सेवा कर उनका प्रेम-पात्र होना—यही इस भक्ति का केन्द्र-बिन्दु था। निवृत्ति-परायणता में भगवान् भक्तों से दूर थे, अनन्त थे, असीम थे, निर्गुण थे, पर इस भक्ति ने उन्हें सान्त, ससीम और सगुण बना कर घर-घर में आँगन-आँगन में, रममाण, क्रीडमाण रूप में उपस्थित कर दिया। प्रभु के इस रूप को पाकर भक्त का हृदय आनन्दमग्न हो गया।

—:o:—

दशम अध्याय

गोस्वामी तुलसीदास और राम-भक्ति

व्यक्तित्व (बाह्य साक्ष्य) : भक्तप्रवर श्री नाभादास जी[1] ने गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व पर निम्नांकित छप्पय में अपने विचार प्रकट किये हैं :

> 'त्रेता काव्य निबन्ध करिव सतकोटि रमायन।
> इक अच्छर उद्धरै ब्रह्महत्यादि परायन॥
> अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला बिस्तारी।
> राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी॥
> संसार अपार के पार कौं, सुगम रूप नवका लयौ।
> कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयौ'॥ १२४॥

आदिकवि वाल्मीकि ने त्रेतायुग में रामायण नाम का प्रबन्धकाव्य बनाया था, जिसका एक-एक अक्षर ब्रह्महत्यादि-परायण प्राणियों तक का उद्धार करने वाला है। वही वाल्मीकि कलियुग के कुटिल जीवों का भव-सिन्धु से उद्धार करने के लिये तुलसीदास के रूप में अवतीर्ण हुये, जिनका लिखा हुआ रामचरितमानस संसार-सागर से पार कराने वाली नाव के समान है। गोस्वामी तुलसीदास भगवान् राम के चरण-कमलों के प्रेमरस से मत्त मधुप की भाँति अनन्य व्रतधारी थे और दिन-रात रामनाम का जाप किया करते थे।

इस छप्पय से गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात होता है कि वे भगवान् राम के अनन्य भक्त थे। वे कौन थे, किस माता-

---

१. श्री नाभादास जी का नाम नारायणदास था। श्री प्रियादास जी की भक्तिरस-बोधिनी टीका, निर्माण संवत् १७६९, के कवित्त संख्या १२ के अनुसार आप जन्मान्ध थे और महात्मा अग्रदास के शिष्य थे। गोस्वामी तुलसीदास और नाभादास समकालीन हैं।

पिता से किस कुल में उन्होंने जन्म ग्रहण किया था, इन बातों पर इस छप्पय से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

भविष्य पुराणकार ने तुलसी के सम्बन्ध में लिखा है :

'विख्यातस्तुलसीशर्मा पुराणनिपुणः कविः।
नारी-शिक्षां समादाय राघवानंदमागतः ॥ २८ ॥
शिष्यो भूत्वा स्थितः काश्यां रामानन्दमते स्थितः' ॥ ६९ ॥

प्रतिसर्ग पर्व ३, अध्याय २२, पृष्ठ ३६३

इस पुराण के अनुसार तुलसीदास ब्राह्मण थे, कवि थे, पुराणग्रन्थों के पारंगत विद्वान् थे, रामानन्दमतानुयायी थे, राघवानन्द के शिष्य थे और काशी में रहते थे। अपनी पत्नी से शिक्षा ग्रहण करके वे भगवद्भक्त बने।

भविष्यपुराण के ये श्लोक तुलसी के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डालते हैं, परन्तु इनमें कही हुई बातें सर्वमान्य नहीं हैं। राघवानन्द स्वयं स्वामी रामानन्द के गुरु थे। रामानन्द की शिष्यपरम्परा में किसी दूसरे राघवानन्द का अभी तक पता नहीं चला। विद्वानों के बहुमत के अनुसार तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे और उनके गुरु महात्मा नरसिंहदास या नरहरिदास थे।

प्रियादास जी ने भक्तमाल की टीका में तुलसी पर ११ कवित्त लिखे हैं, जिनका सार इस प्रकार है : तुलसीदास का अपनी पत्नी से अगाध स्नेह था। एक दिन वह इनसे बिना पूछे पिता के घर चली गई। यह भी दौड़े हुये उसके पास पहुँचे। इन्हें आया देख कर स्त्री लज्जित हो कहने लगी : 'मेरे हाड़-चाम से जितना प्रेम है, उतना यदि राम से होता, तो दोनों लोकों में सुख और सुयश प्राप्त होता'। पत्नी के शब्दों को प्रभु-प्रेरित समझ कर तुलसीदास विरागी बन कर काशी चले गये।

काशी में गोस्वामीजी नित्य गंगापार शौच करने जाते थे और शेष जल को एक वृक्ष की जड़ में डाल देते थे, जिसे पी कर एक दिन एक प्रेत ने इन्हें निकट ही रामायण सुनने के लिये नित्य आने वाले घृणितरूपधारी हनुमान् द्वारा रामदर्शन करने की विधि बता दी। तुलसी कथा में पहुँचे

और हनुमान् को पहिचान गये। हनुमान् संकेत द्वारा इन्हें चित्रकूट ले गये, जहां तुलसी को रामदर्शन हुये। काशी में एक बार गोस्वामीजी के स्थान पर चोर चोरी करने आये, पर चारों ओर धनुर्धर श्याम किशोर को पहरा देते देख कर विस्मित हो गये और अन्त में रामभक्त बन गये। एक दिन तुलसी ने एक मृत ब्राह्मण की पत्नी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया और रामभक्ति के प्रताप से उसके मृत पति को जीवित कर दिया। यह समाचार सुन कर अकबर ने इन्हें अपने पास बुलाया। तुलसीदास अकबर के समीप गये और वानर-उपद्रव के उपरान्त अकबर से ससम्मान विदा लेकर उन्होंने वृन्दावन में आकर श्री नाभादासजी का दर्शन किया। वृन्दावन में श्री मदनगोपाल के मन्दिर में श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने आपने अपने इष्टदेव राम का स्मरण किया और कहा जाता है कि श्रीकृष्ण का विग्रह धनुर्धर राम के रूप में परिणत हो गया। एक दिन एक ब्रजवासी ने कहा: 'श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। राम तो अंशावतार हैं, फिर आप उनका भजन क्यों करते हैं?' तुलसी ने उत्तर दिया: 'मैं तो अपने राम को आज तक दशरथपुत्र ही समझता था। आज आपने उन्हें ईश्वर भी कह दिया, यह मेरे लिये और भी प्रसन्नता का विषय[1] है।'

प्रियादास जी के उपर्युक्त कथन से भी तुलसी के व्यक्तित्व का विशद ज्ञान नहीं होता। उससे भक्तिमार्ग की अनुरंजनकारिणी चमत्कारवादिता ही विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। स्त्रीशिक्षा वाली उक्ति का समर्थन भविष्यपुराण के साथ किंवदन्तियाँ भी कर रही हैं। अकबर से भेंट करने की बात भी असम्भव नहीं जान पड़ती।

श्री रूपकला जी ने भक्तमाल की टीका पर लिखे हुये अपने भक्तिसुधास्वादतिलक के पृष्ठ ७६६ पर काशी आने से पूर्व तुलसी का वाराहक्षेत्र में पहुँच कर रामानन्दीय महात्मा श्री नरहरि दास से राममन्त्र की दीक्षा ग्रहण करने का वृत्तान्त लिखा है। उन्होंने पृष्ठ ७६७ पर राजापुर को तुलसीदास जी का जन्मस्थान स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में

---

१. जौ जगदीस तौ अति भलौ जौ भूपति तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भर, रामचरन अनुराग॥ ९१॥ दोहावली

वे श्री गंगावाराहक्षेत्र, सोरों के समीपवर्ती तारी ग्राम को मान्यता देते हैं। राजापुर में तुलसी ने विरक्त होने के पश्चात् निवास किया था। उनके मतानुसार तुलसी का जन्म संवत् १५८९, पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी है। कवित्तरामायण में तुलसी ने अपना नाम रामबोला लिखा है। मानसमयंक के रचयिता पं० शिवलाल पाठक के मतानुसार गोस्वामीजी संवत् १५५४ में प्रकट हुये। पाँच वर्ष की अवस्था में अपने गुरु से रामचरित श्रवण किया, चालीस वर्ष तक श्रवण और अध्ययन चलता रहा, फिर अनेक वर्षों के मनन के उपरान्त ७८ वर्ष की अवस्था में संवत् १६३१ में तुलसी ने रामचरितमानस का निर्माण किया। संवत् १६८० आपका राम-धाम-प्रवेश का समय है।[1]

हाथरसवासी तुलसीदास अपनी 'घटरामायण' में अपने को पूर्वजन्म में 'रामचरित मानस' का प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास मान कर उनका जन्मसंवत् १५८९, भाद्रपद, शुक्लपक्ष, एकादशी, मंगलवार लिखते हैं। अधिकांश विद्वान् इस तिथि को मान्यता देते हैं और गणना से भी यह तिथि शुद्ध उतरती है। डाक्टर रामदत्त भारद्वाज स्वरचित 'तुलसीदास का घरबार' ग्रन्थ में तारी को तुलसीदास का नहीं, उनकी माता हुलसी का जन्मस्थान मानते हैं। आपकी सम्मति में तुलसीदास का जन्मस्थान सोरों है। कतिपय विद्वान् राजापुर को उनके जन्मस्थान होने का महत्त्व प्रदान करते हैं, पर श्री डी० बी० हण्टर कृत 'इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया', भाग ११, द्वितीय संस्करण, सन् १८८६, पृष्ठ ३८५ और ३८६ के अनुसार राजापुर तुलसीदास जी का बसाया हुआ है। बाँदा जिले का गजेटियर भी इस बात का समर्थन करता है। इसमें तुलसीदास को सोरों का निवासी भी लिखा गया है। कुछ विद्वान् विरक्तावस्था में तुलसीदास का राजापुर में आना स्वीकार करते हैं।[2]

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी अचेत बाल्यावस्था में शूकरक्षेत्रवासी

---

१. भक्तमाल की टीका पर भक्ति-सुधा स्वाद-तिलक, तृतीय संस्करण, १९३७ ई०, पृष्ठ ७६१, न० कि० प्रे०, लखनऊ।

२. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, पृष्ठ १२८, द्वितीय संस्करण, १९४६।

अपने गुरु से रामायण की कथा सुनने का उल्लेख किया है। यह शूकरक्षेत्र सोरों के नाम से ब्रजप्रदेश में गंगातट पर स्थित है। बाबा वेणीमाधवदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सरयू-घाघरा के संगम पर जिला गोंडे में शूकरक्षेत्र की स्थिति लिखी है, पर वाराहपुराण के अनुसार शूकरक्षेत्र के निकट सरयू नहीं, भागीरथी बहती थी[1]। भागीरथी गंगा ब्रजप्रदेश में स्थित सोरों के निकट ही इस समय भी बहती है। इस आधार पर सोरों ही प्रसिद्ध शूकरक्षेत्र प्रतीत होता है। सोरों शब्द की व्युत्पत्ति शूकर ग्राम से है, यथा शूकर ग्राम=सुअर गाँठ=सुवरावं=सोरों। गोस्वामीजी का विवाह बदरी निवासी पं० दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे तारक नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था, परन्तु स्वल्पायु पाकर ही स्वर्गयाण कर गया। पुष्टिमार्गीय वार्ता-साहित्य के अनुसार अष्टछापी नन्ददास गोस्वामी तुलसीदास के चचेरे भाई थे। नन्ददास शुक्ल आस्पद के सनौढिया अर्थात् सनाढ्य ब्राह्मण थे।

गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के प्रारम्भिक श्लोकों में महादेव शंकर की गुरु रूप में वन्दना की है, परन्तु जिस गुरु के मुख से उन्होंने राम-गाथा सुनी, वह महादेव शंकर नहीं, कोई मानवदेहधारी गुरु है। प्रारम्भिक सोरठों के अन्त में उन्होंने इस गुरु के पद-पद्मों की भी वन्दना की है और उसे 'कृपासिन्धु नर रूप हरि' लिखा है। इन शब्दों से कुछ विद्वान् नरहरि को उनका गुरु मानते हैं। नरहरि कौन थे, यह भी विवाद का विषय है। कुछ विद्वान् नरहरि से नरहर्यानन्द अर्थ लेते हैं और उनका सम्बन्ध स्वामी रामानन्द की शिष्यपरंपरा से जोड़ते हैं। अन्य विद्वान् नरहरि से नृसिंह का अर्थ ग्रहण करते हैं। नृसिंह या नरसिंह सोरों में एक प्रसिद्ध महात्मा और विद्वान् हुये हैं, जिनका बनवाया हुआ मन्दिर सोरों में आज भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान है। मन्दिर के सामने गली के कोने पर एक कुआ है, जिसे नरसिंह का कुआ कहते हैं। सोरों में तुलसी का घर गलकटियों अर्थात् कसाइयों के मुहल्ले में पड़ता है। कर्ण-मूल रोग को दूर करने के लिये उस घर की मिट्टी लेने लोग अब भी आते रहते हैं।

रघुबरदासरचित तुलसीचरित के अनुसार तुलसीदास राजापुरनिवासी

---

१. वाराहपुराण, १३७-७

मुरारिमिश्र के पुत्र थे। इनका मूल नाम तुलाराम था। तुलाराम के तीन विवाह हुये थे। अन्तिम पत्नी का नाम बुद्धिमती था, जो कञ्चनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री थी। विद्वानों ने इस चरित की प्रामाणिकता में सन्देह किया है। तुलसी साहित्य की घटरामायण के अनुसार भी गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर ही थी।

वेणीमाधवदासकृत मूलगोसाईंचरित में तुलसीदास का जन्म-संवत् १५५४, श्रावण शुक्ल सप्तमी, निधन-संवत् १६८०, श्रावण कृष्णपक्ष तृतीया, शनिवार तथा स्थान कालिन्दी के निकट माना गया है। इसमें उल्लिखित मीराबाई और केशव से सम्बन्धित संवत् इतिहास से प्रमाणित नहीं होते। पं० रामनरेश जी त्रिपाठी ने अन्तरंगपरीक्षा द्वारा इसे अप्रामाणिक घोषित किया है। राजापुर को जन्मस्थान मानने के विपक्ष में आपकी यह युक्ति भी विचारणीय है कि यदि राजापुर में तुलसीदास उत्पन्न हुये, तो वे अपनी अचेत बाल्यावस्था में समीपवर्ती प्रयाग को छोड़ कर जन्मस्थान से बहुत दूर घाघरा और सरयू के संगम पर स्थित शूकर या वाराहक्षेत्र में रामकथा सुनने के लिये कैसे पहुँचे? त्रिपाठीजी इसी हेतु राजापुर को नहीं, व्रजप्रदेश में गंगातट पर स्थित शूकरक्षेत्र (सोरों) को तुलसीदास का जन्मस्थान मानने के पक्ष में हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने तुलसी की कृतियों से कुछ ऐसे शब्द उदाहरणस्वरूप उद्धृत किये हैं, जिनका प्रयोग व्रज में ही होता है, अवध या राजापुर में नहीं। दूसरी ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठेठ अवधी के शब्दों की ही ओर नहीं, सरवार प्रदेश में प्रचलित प्रथाओं की ओर भी संकेत किया है और गोस्वामी जी का सरयूपारीण ब्राह्मण होना सिद्ध किया है। त्रिपाठी जी की सम्मति में ऐसे शब्दों का प्रयोग और प्रथाओं का उल्लेख तुलसी के अवधप्रदेश में अधिक दिनों तक निवास करने तथा देश और समाज के अनुकूल प्रथाओं का वर्णन करने के कारण हो गया है। तुलसीदास ने सोरों का परित्याग युवा-अवस्था में किया। उसके पश्चात् उनका जीवन प्रायः चित्रकूट, अयोध्या और काशी में ही व्यतीत हुआ। एक बार वे नन्ददास से मिलने के लिये काशी से व्रज की ओर अवश्य गये थे। कतिपय विद्वानों की सम्मति में इसी यात्रा में उन्होंने वृन्दावन में नाभादास जी से भी भेंट की थी। काशी में श्री टोडरमल और श्री मधुसूदन सरस्वती के साथ उनकी घनिष्ठ मैत्री थी। टोडरमल के वंशज असीघाट पर अब तक रहते हैं और वे

श्रावण कृष्ण तृतीया के दिन तुलसी की निधनतिथि पर एक सीधा दिया करते हैं[1]। यह निधनतिथि सं० १६८० में शनिवार को पड़ी थी, जो गणना द्वारा भी शुद्ध सिद्ध हुई है। जन्म-तिथि अभी तक विवादास्पद है।

अन्तःसाक्ष्य :

तुलसी के ग्रन्थों से उनके चरित पर जो प्रकाश पड़ता है, उसे नीचे अंकित किया जाता है।

वंश :

भलि भारत भूमि भलो कुल जन्म समाज सरीर भलो लहिकै। कवि० ३३, उत्तर०

दियो सुकुल जन्म सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को॥

× × ×

यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली॥ विनय० १३५

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को।

कवि०, उत्तर० ७३

भरतखंड के अन्तर्गत, गंगा के किनारे, सुन्दर भिक्षुककुल में तुलसीदास का जन्म हुआ। समाज और शरीर दोनों ही इन्हें अच्छे मिले थे। इनके जन्म के समय बधावे का वादन सुन कर इनके माता-पिता को क्लेश हुआ था।

बाल्यावस्था :

मातु पिता जग जाइ तज्यो, विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई। कवि० उ० ५७

तनु तज्यौ कुटिल कीट ज्यों तजौ मात पिता हू। विनय० २७५

स्वारथ के साथिन तज्यौ तिजरा कौ सौ टोटक औचट उलटि न हेरौ। विनय० २७२

बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।

कवितावली ७३ उत्तर०

जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस खाये टूंक सब के विदित बात दुनी सौं।

कवितावली ७२, उत्तर०

जननी जनक तज्यौ जनमि करम बिनु बिधिहुं सृज्यौ अवडेरे॥ विनय० २२७

हा हा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न छार मुंह बायो।

असन बसन बिन बावरो जहं तहं उठि धायो॥ विनय० २७६

---

1. श्री श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वालकृत गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १८४, द्वितीय संस्करण, १९५२ वि०।

दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहिं ॥ विनय० २७५
मीजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बांह बोलि ॥ विनय० ७६

तुलसीदास के जन्म के उपरान्त ही माता-पिता इन्हें छोड़ कर स्वर्गवास कर गये। अन्य स्वार्थ के साथियों ने भी इन्हें तिजारी के टोटके के समान छोड़ दिया और फिर लौट कर इनकी ओर देखा तक नहीं। बाल्यावस्था से ही तुलसीदास अशन और वसन की चिन्ता में द्वार-द्वार भटकते रहे तथा जाति, सुजाति और कुजाति के टूक खाते रहे। उस समय चार चने भी मिल जाते, तो ये उन्हें चतुर्वर्गफल की प्राप्ति के समान समझते थे। इनकी दुखदायिनी दशा को देख कर संतों ने आश्वासन दिया और गुरु ने पीठ पर हाथ रख कर इन्हें अपना लिया।

नाम : राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यौ राम। विनय० ७६
रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहि को। कवित्ता० उत्तर० १००

रामनाम लेकर भिक्षा मांगने के कारण सम्भवतः बाल-काल में लोग इन्हें रामबोला कह कर सम्बोधित करते थे। कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्दसंख्या १३ में इन्होंने अपना नाम तुलसी भी लिखा है।

गुरु : वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्। श्लोक ३, बा० का० रा० मा०
बन्दौं गुरुपद कंज कृपासिन्धु नर रूप हरि। सोरठा ५, बा० का० रा० मा०
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥ ४९ बा० का० रा० मा०
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥
५१ बा० का० रा० मा०

गुरु कह्यो रामभजन नीकौ मोहिं लगत राज डगरो सो। वि० १७३

'नर रूप हरि' शब्दों से कुछ विद्वानों ने तुलसी के गुरु का नाम नृसिंह या नरसिंह और कुछ विद्वानों ने नरहरिदास या नरहर्यानन्द माना है। तुलसी ने गुरु की शंकर रूप में वन्दना की है। गुरुमुख से इन्होंने शूकरक्षेत्र में रामकथा सुनी थी। बाल्यावस्था के कारण उस समय वह उसे हृदयंगम नहीं कर सके थे। फिर भी गुरु ने इन्हें बार-बार वही कथा सुनाई जिसे तुलसी अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ-कुछ ग्रहण कर सके। गुरु ने इन्हें राम-भजन की भी दीक्षा दी। हनुमानबाहुक में गोस्वामी जी ने एक छन्द में

लिखा है : 'बालक विलोकि बलि बारे तें आपनों कीयो २१ ।' तथा 'टूंकनि को घर घर डोलत कंगाल बोलि बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है २९ ।' 'हे हनुमान ! आपने बाल्यावस्था से ही मुझे अपनाया है । मैं जब रोटी के टुकड़ों के लिये घर-घर घूम रहा था, तब आपने ही मेरा पालन-पोषण किया ।' ये शब्द सोरों के नृसिंह महाराज के हनुमान-मन्दिर की ओर भी संकेत कर सकते हैं, जहाँ तुलसीदास को आश्रय मिला और उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई ।

प्रतिष्ठा : घर घर मांगे टूंक पुनि भूपति पूजे पांय ।

> जो तुलसी तब राम बिनु सो अब राम सहाय ॥ दोहावली १०९
> राम नाम को प्रभाव पाऊं महिमा प्रताप ।
> तुलसी से जग मानियत महामुनी सो ॥ कवि० उ० ७२

घर-घर भिक्षा मांगने वाले तुलसीदास राम-नाम के प्रभाव से महिमान्वित हुये । संसार ने उन्हें महामुनि समझा और राजाओं ने उनके पैर पूजे । तुलसी के इस प्रताप के कारण उनके शत्रु भी उत्पन्न[1] हुये, जो उनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को सहन न करके उत्पात मचाने पर उतारू हो गये और जाति-गत अपमान भी करने लगे । यह सब काशी में हुआ । कवितावली, उत्तरकाण्ड के छन्द संख्या १०६, १०७ और १०८ उसी समय लिखे गये होंगे, जिनमें तुलसीदास ने शत्रुपक्ष की ओर से अपनी विरक्ति प्रकट की है । यह भी असम्भव नहीं है कि किसी शत्रु के घात से ही वे अन्तिम दिनों में पीड़ित हुये हों ।[2]

लौकिक जीवन :

> बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो, राम नाम लेत मांगि खात टूंक टॉक हौं ।
> परयौ लोक रीति में पुनीत प्रीति रामराय मोहबस बैठौ तोरि तरकि तराक हौं ।
> तुलसी गुसाईं भयौ भौंडे दिन भूलिगयौ ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ।
> बाहुक ४०

जो तुलसी बालकाल में राम नाम लेकर भिक्षावृत्ति द्वारा उदर-भरण करते थे, वे ही लोकरीति में पड़कर किसी मठ के महन्त या गोसाईं बने और राम से

---

[1] पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी, तातें बाढ़ी रारि । दोहा० ४०४

[2]. ब्याधि भूत जनित उपाधि काहू खल की । हनु० बा० ४३

नाता तोड़ बैठे। निम्नांकित दोहा उनके वैवाहिक जीवन की ओर भी इंगित कर रहा है :

खरिया खरी कपूर सम उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥ दोहावली २५५

तीर्थ-निवास : घर छोड़ कर तुलसीदास विरक्त दशा में चित्रकूट, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि स्थानों में जाते रहे। प्रयाग तो नहीं, पर अन्य तीन स्थानों में उन्होंने बहुत दिनों तक निवास किया। अयोध्या में रहकर उन्होंने रामचरितमानस का और काशी में रह कर विनयपत्रिका का निर्माण किया। अन्य ग्रन्थों का प्रणयन भी इन्हीं स्थानों में हुआ होगा। हनुमान-बाहुक तथा कवितावली के अन्तिम छन्द, जिनमें महामारी तथा बाहुपीड़ा का वर्णन है, काशी में लिखे गये। तुलसी का अन्तिम समय काशी में विकट विपत्तियों के बीच व्यतीत हुआ और वहीं असी घाट पर उनकी मृत्यु हुई। काशी में प्रह्लादघाट पर रहने वाले ज्योतिषी गंगाराम और असीघाट पर रहने वाले टोडर जमींदार उनके घनिष्ठ मित्र थे। टोडर की मृत्यु पर तुलसीदास ने उनके वंशजों में जायदाद का बँटवारा करा दिया था और जो पंचनामा लिखा गया था, वह आज तक काशिराज के संग्रह में सुरक्षित है। इस पंचनामे के ऊपर की कुछ पंक्तियाँ तुलसीदास के हाथ की लिखी गई समझी जाती हैं।

काशी में महामारी : कवितावली, उत्तरकाण्ड, छन्दसंख्या १७३ से १७६ तक तथा १८१ में कवि ने महामारी का वर्णन किया है। जैसे वर्षा ऋतु में प्रथम बाढ़ के मांजा को पीकर जलचर व्याकुल होते हैं, उसी प्रकार काशी के नर-नारी इस महामारी के कारण थल-थल सभी स्थानों पर मृत्यु का भयावह दृश्य देखकर तड़प रहे थे। उनकी आर्त पुकार को सुनने वाला कोई नहीं था। तुलसी ने इसे दैवी प्रकोप समझा[1]। महामारी-वर्णन से पूर्व छन्दसंख्या १७० में रुद्रबीसी[2] और उसके पश्चात् छन्दसंख्या १७७ में मीन के शनैश्चर का उल्लेख आया[3] है। महामारी आगरे में जहाँगीर के राज्यकाल में संवत्

१. काहू देवतन मिलि मोटी मूठ मार दी। कविता० उत्तर १८१

२. बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बड़ो बारानसी बूझिये न ऐसी गति शंकर शहर की।
वही १७०

३. एक तो कराल कलिकाल मूल मूल तामें कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
वही १७७

१६७३ में प्रकट हुई। काशी में इसका समय १६६९ से १६७१ विक्रमीय तक जान पड़ता है, जब मीन राशि पर शनैश्चर था। रुद्रबीसी का भी यही समय था, जो गणना से संवत् १६५५ से १६७५ तक रहा।

पीड़ा और मृत्यु : दोहावली के दोहा संख्या २३४ से २३६ तथा हनुमान बाहुक के छन्द संख्या ३६ से ३७ तक तुलसी की विषम बाहुपीड़ा का वर्णन उपलब्ध होता है। यह पीड़ा दक्षिण बाहु से प्रारम्भ होकर समस्त शरीर में व्याप्त[1] हो गई। इस पीड़ा ने तुलसी को विचलित कर दिया। उन्होंने औषधोपचार किया, यंत्र-मंत्र-टोटकादि भी किये, देवताओं से प्रार्थना की, पर इस गाढ़े समय में किसी ने भी आड़ न दी, कोई भी सहायक सिद्ध न हुआ। यह असहनीय पीड़ा उनके किसी पाप का परिणाम थी या त्रितापजन्य थी अथवा किसी के शाप के कारण थी, इसे तुलसी समझ न[2] सके। अंत में उन्होंने इसे अपने कर्म का ही विपाक समझा और 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' की उक्ति द्वारा 'हौं हूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिये' कहते हुए वे चुप हो गये[3]। एक छंद में उन्होंने पीड़ा का कारण अपनी प्रतिष्ठा और उससे भ्रान्त होकर मन, वचन, काया से प्रभु-भजन को विस्मृत कर देना भी माना[4] है

जीवन के अन्तिम दिनों में इस शारीरिक पीड़ा ने तुलसी पर दो बार आक्रमण किया। पहली बार तो वे प्रभु-कृपा से बच गये, परन्तु दूसरी बार यह उनके प्राण लेकर ही शान्त हुई।

कवितावली का निम्नांकित सवैया तुलसी के अन्तिम समय के कुछ पूर्व का लिखा हुआ कहा जाता है :

कुंकुम रङ्ग सुअङ्ग जितौ मुख चन्द सों चन्दन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्धि चुवै अवलोकत सोच बिषाद हरी है॥

---

१. पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर, जरजर सकल सरीर पीरमयी है।
ह० बा० ३८

२. हनुमानबाहुक ३०

३. हनुमानबाहुक ४४

४. नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइगो बिहाइ प्रभु भजन बचन मन काय को।
तातें तनु पेषियतु घोर बरतोर मिस फूटि-फूटि निकसत लोंन रामराय को।
हनुमानबाहुक ४१

गौरी की गंग बिहंगिनी वेस कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखु सपेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेमकरी है॥

कवि० उ० १८०

निम्नांकित दोहा उनकी मृत्यु के समय का है :

राम नाम जस बरनि कै भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये अब ही तुलसी सोन॥

हनुमानबाहुक कवित्त संख्या ३५ के अनुसार बाहुपीड़ा के समय दिन में घनघोर घटायें छाई रहती थीं। अतः तुलसी की मृत्यु श्रावण के मास में हुई, यह सत्य है।

रचनायें : तुलसीदास के नाम से लिये हुये ग्रन्थों की संख्या लगभग तीस है, परन्तु उनमें से निम्नांकित बारह ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने जाते हैं :

रामललानहछू, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, जानकीमंगल, रामचरितमानस, पार्वतीमंगल, गीतावली, विनयपत्रिका, कृष्णगीतावली, बरवैरामायण, दोहावली और कवितावली, जिसमें हनुमानबाहुक भी सम्मिलित है। रामललानहछू की अनेक ऐतिहासिक भूलों तथा उसके प्रबन्ध-दोषों और शृङ्गार-पूर्ण वर्णनों की ओर भी डा० माताप्रसाद गुप्त ने संकेत किया है और उसे कवि की बालकाल की चेष्टाओं का परिणाम माना[1] है। इसमें केवल २० छन्द हैं जो विवाह के अवसर पर अवध में स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। वैराग्यसंदीपनी में दोहे, चौपाइयाँ और सोरठे मिलाकर कुल ६२ छन्द हैं, जिनमें वैराग्यपरक उक्तियाँ हैं। नहछू में नारीशृंगार की ओर जितना झुकाव है, इसमें उतनी ही विरक्ति है। इसका उद्देश्य कवि के ही शब्दों में राग-द्वेष की अग्नि तथा काम-क्रोध की वासना का शमन और हृदय में शान्ति का निवास समझना चाहिये। रामाज्ञाप्रश्न सात सर्गों में विभाजित है। प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक हैं और प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं। यह ग्रन्थ उसके अन्तःसाक्ष्य के ही आधार पर संवत् १६२१ में बना था। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने प्रह्लादघाट पर रहने वाले गंगाराम ज्योतिषी के लिए इस ग्रन्थ की रचना केवल छः घण्टों में की थी। यह ग्रन्थ फलित ज्योतिष तथा शकुन

१. तुलसीदास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१८ और २१९

निकालने से सम्बन्ध रखता है। इसके प्रथम सर्ग के ४९ वें दोहे में गंगाराम का नाम आया है। जानकीमंगल राम और सीता के विवाह से सम्बन्ध रखता है। इसमें कुल २१६ छन्द हैं। कथानक में रामाज्ञाप्रश्न की भाँति परशुराम—धनुभंग के समय नहीं, बारात के लौटने पर मिलते हैं, जो वाल्मीकीय रामायण के समान है। जानकीमंगल में फुलवाड़ी का प्रसंग नहीं है। इसमें प्रयुक्त भाषा, अलंकार और भाव रामचरित-मानस से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। पार्वतीमंगल रचना उसके अन्तःसाक्ष्य के आधार पर जय नामक संवत् में हुई थी। यह संवत् १६४३ वि० में पड़ता है। उस समय फाल्गुन शुक्ल पक्ष की पंचमी, दिन बृहस्पति और नक्षत्र अश्विनी था। इसमें कुल १६४ छन्द हैं, जिनमें शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। बरवैरामायण सात काण्डों में विभक्त है। इस समय इसमें केवल ६९ बरवै छन्द हैं। अन्य ग्रन्थों की भाँति रामगाथा ही इसका विषय है। इस ग्रन्थ में तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, उन्मीलित, प्रतीप, सूक्ष्म आदि अलंकारों के सुन्दर उदाहरण पाये जाते हैं। दोहावली में इस समय ५७३ दोहे संगृहीत हैं। इसके ७५ दोहे रामचरित-मानस में, ३५ दोहे रामाज्ञाप्रश्न में और ७ दोहे वैराग्यसंदीपनी में भी पाये जाते हैं। इसके अनेक दोहे तुलसीसतसई में भी विद्यमान हैं, पर सतसई हमारी सम्मति में तुलसी का प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। परम्परा के अनुसार ६ बड़े और ६ छोटे मिलाकर कुल बारह ग्रन्थ तुलसीदास के लिखे हुए हैं। सतसई इन ग्रन्थों के अन्तर्गत नहीं आती। पण्डित सुधाकर द्विवेदी का मत भी यही था। कवितावली कवि के समय-समय पर लिखे हुए छन्दों का संग्रह है, जिसमें सवैया और घनाक्षरी छन्दों की प्रधानता है। कुछ छप्पय छन्द भी हैं। कवि की व्यक्तिगत जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले छन्द इसी ग्रन्थ में अधिकतर पाये गए हैं, जिनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। कवितावली का संग्रह सात काण्डों में विभक्त है। हनुमानबाहुक, जिसमें तुलसी की बाहुपीड़ा का वर्णन है, कवितावली का ही अन्तिम अंश है और उसी के साथ प्रकाशित भी है। हनुमानबाहुक के ४४ छन्दों के साथ कवितावली के समस्त छन्दों की संख्या ३६९ है। अरण्य और किष्किन्धा काण्डों की कथा केवल एक-एक छन्द में है और अपूर्ण है। लंकाकाण्ड में लंकादहन का वर्णन अतीव ओजस्वी, मुहावरेदार और अलंकृत शैली में किया गया है। उत्तरकाण्ड के छन्द प्रायः

विनयभक्तिपरक हैं, पर उनमें तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक दशा का भी चित्रण है। रुद्रवीसी, मीन के शनैश्चर, महामारी और तुलसी की अन्तिम शारीरिक पीड़ा का भी वर्णन इसके अन्तिम छन्दों में है। कृष्णगीतावली में केवल ६१ पद हैं, जिनमें राधा-कृष्ण तथा गोपियों की गाथा वर्णित हुई है। ब्रज की प्राकृतिक सुषमा, ब्रजभाषा के क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग, कथागत एक-रूपता एवं सस्वच्छता तथा वर्णनशैली की परिपक्वता इस ग्रन्थ की विशेषतायें हैं। यह ग्रन्थ निश्चित रूप से अष्टछापी कवियों की पदशैली के अनुकरण पर लिखा गया है। गीतावली पर भी इस पद-शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। तुलसी ने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों में रामगाथा लिखी है। गीतावली ब्रजभाषा में है, परन्तु इसमें रामगाथा के केवल मर्मस्पर्शी अंशों का ही प्राचुर्य के साथ वर्णन किया गया है। कथा की एकरूपता अनेक स्थानों पर खंडित है, अनेक प्रसंग छोड़ भी दिये गये हैं, पर मार्मिक स्थलों का विस्तार के साथ वर्णन कवि की कला को अत्यन्त निखरे हुए और परिमार्जित रूप में उपस्थित करता है। सूर के भाव-प्रधान काव्य की भाँति इसमें भी भाव को ही प्रधानता दी गई है। इतिवृत्तात्मकता के निर्वाह की ओर कवि की दृष्टि इसी हेतु नहीं गई। सूरसागर के वात्सल्य रस एवं बाल-क्रीड़ाओं के विस्तृत, भावपूर्ण वर्णन का प्रभाव भी गीतावली में दिखाई देता है। गीतावली का बालकाण्ड उसके अन्य सभी काण्डों से बड़ा है। इसमें १०८ पद हैं। समस्त काण्डों के पदों की संख्या ३२८ है। किष्किन्धाकांड में केवल दो ही पद हैं। सीता-वनवास तथा लव-कुश-उत्पत्ति की कथा उत्तरकाण्ड में आती है, जो रामचरित-मानस में नहीं है।

रामचरितमानस सात काण्डों में विभक्त रामगाथा का अनुपम काव्य ग्रन्थ है, जो प्रमुख रूप से दोहा तथा चौपाई-छन्दों में लिखा गया है। इसका निर्माण कवि के ही शब्दों में संवत् सोलह सौ इकतीस, चैत्र शुक्लपक्ष, नवमी, मंगलवार को प्रारंभ हुआ था (बालकाण्ड ५५) और उसकी समाप्ति जनश्रुति के अनुसार संवत् १६३३ में हुई। ऐसा बृहद् ग्रन्थ दो वर्षों में बन गया होगा, इसे स्वीकार करने में बुद्धि हिचकिचाती है। पर यह असंभव भी नहीं है। रामचरितमानस एक सिद्ध काव्य है। उसके पारायण से मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों के ज्ञान के साथ भगवच्चरणों में अविचल

भक्ति-निधि प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ का प्रचार यों तो भारतवर्ष भर में है, और अब इंग्लैंड तथा रूस में होता हुआ विश्वव्यापी रूप धारण कर रहा है, पर विशेष रूप से यह उत्तरप्रदेश, बिहार, पंजाब, राजस्थान तथा गुजरात के ग्राम-ग्राम एवं गृह-गृह की सम्पत्ति बना हुआ है। संस्कृत, बँगला, गुजराती, उड़िया, अंग्रेजी तथा रूसी भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। हिन्दी टीकाएँ भी अनेक हैं। रामचरितमानस की महत्ता अपने जन्मकाल से लेकर अब तक अक्षुण्ण रूप में बनी हुई है।

रामचरितमानस की भाव-सम्पत्ति आर्यजाति की सांस्कृतिक शेवधि है। तुलसी ने पुराण तथा निगमागम के जितने ग्रन्थ पढ़े थे, उन्हें ऐसा आत्मसात् किया था कि उनके समस्त सत् अंश रामचरितमानस में अवतरित होकर तुलसी के अपने बन गये हैं। इस एक ग्रन्थ को पढ़ लेने से ही हम अपनी समस्त विकसित परम्पराओं से परिचित हो जाते हैं। इसमें हमारा आचार-विचार, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक विधि-विधान, ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के दार्शनिक, आनुष्ठानिक एवं उपासनापरक सिद्धान्त तथा अब तक की हमारी संचित आर्ष, पौराणिक तथा वैदुषी साहित्यिक श्री का अपरिमित भांडार ओतप्रोत है। इसने यवन-काल में हमारी रक्षा की और भविष्य के लिये पथ-प्रदर्शन किया। हमने राम-भक्ति-विषयक सामग्री का अधिकांश इसी से ग्रहण किया है।

जैसे गीतावली का एक अंश पदावली रामायण के रूप में उपलब्ध हुआ है, उसी प्रकार विनयपत्रिका के कतिपय पदों के संग्रहरूप में रामगीतावली मिलती है। विनयपत्रिका में २७९ पद हैं। इनमें से १७१ पद रामगीतावली में हैं। विनयपत्रिका काव्यकला की दृष्टि से तुलसी का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा जा सकता है। यह विशुद्ध रूप से भक्ति-भाव-भरित ग्रन्थ है। रामचरितमानस की इतिवृत्तात्मकता का इसमें एकान्त अभाव है। इसके प्रारम्भिक ६१ पदों में संस्कृत शैली के स्तोत्र हैं, जिनमें गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती, बिन्दु-माधव, लक्ष्मण अथवा शेष और हनुमान आदि की वन्दना है, प्रयाग, काशी, गंगा, चित्रकूट आदि तीर्थों की स्तुति है और अन्त में जगदम्बा सीता के चरणों में प्रार्थना है। इन स्तोत्रों के उपरान्त आत्मनिवेदन तथा शरणागति से सम्बन्ध रखने वाले पद आते हैं, जिनमें कहीं संसार की असारता का वर्णन है,

कहीं अपने दोषों का उद्‌घाटन है, कहीं मूढ मन को सन्मार्ग पर लाने का उपदेश है, कहीं वैराग्य, कहीं ज्ञान और कहीं भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा एवं महत्ता का उल्लेख है। अन्तिम पद अतीव मार्मिक हैं, जिनमें तुलसी अपनी विनयपत्रिका भगवान राम के दरबार में भेज रहे हैं। उन्हें दरबारियों का विश्वास नहीं है। अतः राम के सामने अपने हृदय की समस्त भावना-शक्ति को उड़ेलते हुये वे निवेदन करते हैं : 'विनय पत्रिका दीन की बापु ! आपु ही बाँचौ। हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूछिये पाँचौ॥' २७७

तुलसी का कवि रूप, भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से, रामचरित-मानस के अयोध्याकाण्ड और विनयपत्रिका में ही पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है। तुलसी अपने इस रूप में लोकधर्म के प्रतिष्ठाता हैं। कतिपय विद्वान् उनके कविरूप को नहीं, भक्तरूप को अधिक श्रेय देते हैं। उनकी सम्मति में तुलसी के कवि को तुलसी के भक्त ने दबा दिया है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना' की लोकोक्ति के आधार पर इस प्रकार की विभिन्न सम्मतियाँ सदैव बनी रहेंगी, पर हमारी समझ में कवि का आत्यन्तिक रूप न भक्ति को दबाता है और न भक्ति कविता को। दोनों एक दूसरे को चैतन्य प्रदान करते हुये सहोदर बन्धु की भाँति एकत्र भी रह सकते हैं। तुलसी के ग्रन्थ पद-पद पर इस मान्य प्रस्ताव के लिये साक्ष्य उपस्थित करते हैं। यह सत्य है कि तुलसी की भक्ति–भावना ने उनके अन्य रूपों को जगमगा दिया है। यदि वे भक्त न होकर कोरे कवि होते, तो उन्हें वह गौरव कदापि प्राप्त न होता, जो आज प्राप्त है।

ऊपर तुलसी के जिन ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि तुलसी की रामभक्ति का निरूपण करने के लिये विशेप रूप से रामचरितमानस और विनयपत्रिका का ही साहाय्य लेना चाहिये। कवितावली का उत्तरकाण्ड और दोहावली के दोहे भी इस दिशा में उपयोगी हैं। कृष्णगीतावली सूर की भाँति प्रमुख रूप से हरिलीला-गान से सम्बन्ध रखती है। गोपिकाओं की भक्ति को हृदयंगम करने के लिये इस ग्रन्थ का भी महत्त्व है, परन्तु हमें तुलसी की रामभक्ति पर विशेष रूप से लिखना है। अतः आगे हम कृष्णगीतावली के अतिरिक्त अन्य उपर्युक्त चार ग्रंथों के आधार पर ही उस भक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करेंगे।

पौराणिकता : इस युग की जिस पौराणिकता-प्रधान विशिष्टता की ओर

हम पहले संकेत कर चुके हैं, वह सूर और तुलसी दोनों में प्रमुख रूप से पाई जाती है। भगवान के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम अवतारवाद से सम्बद्ध होकर विद्वान ही नहीं, सामान्य मानवों तक की भाव-भूमि में स्थान पा रहे थे। आध्यात्मिक भावों को जन-मन-ग्राहिणी, कथा-वार्ता-प्रधान पौराणिक शैली में अभिव्यक्त करने का प्रचार हो रहा था। भगवन्नाम-कीर्तन, उनकी लीलाओं का श्रवण और गान, अरूप का रूप द्वारा भावन, सर्वव्यास की किसी विग्रह द्वारा प्रतीति, सूक्ष्म को स्थूल प्रतीकों द्वारा प्रकट करने की प्रवृत्ति हृदय-ग्राह्य बन रही थी।

इस पद्धति का मूल वैष्णव सम्प्रदाय की संहिताओं में उपलब्ध होता है, जिनका उद्भव गुप्तकाल में हुआ था। ऐतिहासिक काल-क्रम का अनुसरण करें, तो यह पद्धति और भी पहले देखी जा सकती है। वैष्णव भक्ति के विकास-क्रम में इसका उल्लेख हो चुका है। शनैः शनैः यह भारत-व्यापी बन गई और हिन्दी के भक्तिकाल तक आते-आते अपने पूर्ण वैभव के साथ चतुर्दिक् प्रसृत हो गई। कबीर और जायसी जैसे निराकार परब्रह्म के उपासक तक इस पद्धति से प्रभावित हुये। डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के कथनानुसार शंकर और राम सरस्वती ने आसामी भाषा में, चण्डीदास तथा चैतन्य के भक्तों ने बँगला में, जगन्नाथदास, बलराम आदि ने उड़िया में, पोतनामात्य ने तेलगू में, कुमार व्यास और विट्ठलनाथ ने कन्नड़ में, तुकाराम ने मराठी में, भालण, भीष्म और केशव हृदयराम ने गुजराती में अपने काव्यों द्वारा इसी पद्धति का प्रचार किया। ब्रजभाषा तो इस पद्धति का उन दिनों प्रचार-केन्द्र ही बनी हुई थी। राम और कृष्ण भक्ति-रस-तंत्र के मान्य प्रतीक थे। राजस्थान की मीरा और पंजाब के गुरु नानकदेव भी भक्ति के क्षेत्र में सदैव स्मरणीय बने रहेंगे।

सूर ने अपनी प्राथमिक ब्रजभाषा-रचनाओं में कबीर की भाँति प्रभु के सभी नामों को अपनाया था, परन्तु बाद में वे कृष्ण-लीला-गायन में ही तल्लीन हो गये। भागवत के आधार पर सूरसागर के नवम स्कंध में उन्होंने रामगाथा का भी मनोरम चित्रण किया है, पर जो विशालता दशम स्कंध की कृष्णलीला में है, वह वहाँ कहाँ? धामों में भी उन्होंने वृन्दावन तथा गोकुल

का ही विशेष रूप से उल्लेख किया है और उन्हें वैकुण्ठ से ऊपर स्थान दिया है। गोस्वामी तुलसीदास एकान्त रूप से रामभक्त थे। रामगाथा को उन्होंने दोहा, चौपाई, कवित्त, पद आदि अनेक शैलियों का परिधान देकर सुशोभित किया। रामनाम के प्रचार में तुलसी के महत्त्व को सर्वोपरि स्वीकार करना पड़ेगा। कृष्णगीतावली द्वारा कृष्णलीला का गायन करके उन्होंने कृष्णभक्ति की ओर भी अपनी दृष्टि दी है, पर वह आनुषंगिक है। उनके माता, पिता, गुरु सब कुछ राम ही हैं। धामों में उन्होंने अयोध्या, साकेत, वैकुण्ठ, क्षीर-सागर आदि का नाम लिया है।

पौराणिक कथायें तुलसी की रचनाओं में भरी पड़ी हैं। ये कथायें किसी न किसी रूप में भक्ति का प्रचार करने के उद्देश्य से निर्मित हुई थीं और उसी रूप में तुलसी ने इनका प्रयोग किया है। गज, गणिका, अजामिल, ध्रुव, प्रह्लाद आदि की कथायें इसी प्रकार की हैं। काकभुशुण्डि, जटायु, गौतम-अहल्या, नारद, सती-पार्वती, वाल्मीकि, द्रौपदी, शरभंग, सुतीक्ष्ण, बालि आदि के प्रसंगों में भगवान् के गुण, लीला-माहात्म्य, शक्ति, धाम आदि की अभिव्यक्ति हुई है। तारक, जलन्धर, चण्ड, मुण्ड, महिष, शुंभ, निशुंभ आदि दैत्यों की कथाओं में आसुरी शक्ति के पराभव तथा दैवी शक्ति के उन्नयन का आदर्श निहित है। इन कथाओं द्वारा भी प्रकारान्तर से भक्ति की महत्ता पर ही प्रकाश पड़ता[1] है। पर भक्ति के साथ कहीं-कहीं ये कथायें पौराणिकों के छल-विन्यास की भी सूचना देती हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, दिक्पाल, सूर्य आदि का ब्राह्मण वेश में राम के विवाह-कौतुक को देखना, महादेव का गुप्तरूप से राम-जन्मोत्सव देखने जाना, जलंधर दैत्य की पत्नी का पातिव्रत-धर्म भंग करना, आदि कथायें अस्वाभाविक होने के साथ अनौचित्य की सीमा में भी आ जाती[2] हैं। जलन्धर तो क्या, दैत्यों का दैत्य यह विराट प्रपंच भी एक दिन भस्मीभूत होगा। फिर उसके वध के लिये एक पतिव्रता स्त्री के धर्म को नष्ट करने की क्या आवश्यकता है? और वह भी किनके द्वारा? कथा गढ़नी ही थी, तो वहां विष्णु को लाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। जलन्धर की पत्नी के चित्त को दूसरी दिशा में मोड़ देने से भी काम चल

१. विनयपत्रिका, पद १५, ५७, ९९ और २०६

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा ७०, १५० और ३२१

सकता था। रही देवों की बात, उसके लिये उन्हें मानव-वेष धारण करने के लिये क्यों बाध्य किया गया? वे तो सूक्ष्म शरीर के साथ यथाभिलषित स्थानों में संचरणशील माने जाते हैं। पर पौराणिकों को तो सब कुछ स्थूल रूप में ही अभिव्यक्त करना था और वैसा करने में औचित्य का अतिक्रमण भी हो जाय, तो उन्हें चिन्ता नहीं थी।

नाम : तुलसी ने भगवान् के नामों में राम, ब्रह्म, सच्चिदानन्द, पुरुष, परमात्मा, रघुकुलमणि, रघुवीर, रघुपति, रघुराज, कोशलपति, भगवान्, इन्दिरापति, इन्दिरारमन, रमारमन, रमेश, रमानाथ, रमानिवास, सीतावर, श्रीरमण, श्रीपति, अवधेश, सुरेश, त्रिभुवनधनी, श्रीरंग, हरि, वासुदेव, प्रभु, नाथ, ईश्वर, उरुगाय, अनन्त, विष्णु, जिष्णु, माधव, बिन्दुमाधव, केशव, नन्दकुमार, गोविन्द, जानकीनाथ, जानकी-जीवन का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया[1] है, परन्तु उन्होंने सब नामों में राम नाम को ही प्रधानता दी है। प्रभु के नाम अनेक हैं, इसे वे स्वीकार करते हैं, पर उनकी रुचि राम नाम की ओर सर्वाधिक है :

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका।
राम सकल नामन्ह तें अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥
राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल, बसहु भगत उर ब्योम॥ राम० अरण्य० ७४

पूर्णिमा की रात्रि यदि भक्ति है, तो राम का नाम चन्द्रमा है और अन्य नाम नक्षत्रों के समान हैं। इस कथन से तुलसी के मत में राम नाम ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है। चन्द्र रजनी के तम को निगल जाता है, तो भगवान् का राम नाम समस्त पापों को विध्वंस कर देता है। अन्य व्यक्ति भगवान् के किसी भी नाम का आश्रय अपनी रुचि के अनुकूल ले सकते हैं, पर तुलसी का एक मात्र आश्रय राम हैं :

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोकों तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥

---

१. ओंकार का नाम तुलसी ने मानस के उत्तरकाण्ड की शिवस्तुति (१७४) में एक बार लिया है।

करम उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भाँति खरो।
मोहिं तौ सावन के अन्धहिं ज्यों सूझत रंग हरो ॥ विनय० २२६

वैदिक मर्यादा के अनुकूल ज्ञान, कर्म, उपासना आदि सब विधान सच्चे हैं, पर तुलसी कहते हैं कि जैसे श्रावण मास में अन्धे हुये व्यक्ति को सब रंग हरे ही हरे जान पड़ते हैं, इसी प्रकार मुझे भी राम ही राम सर्वत्र, समस्त अवस्थाओं में दिखाई देता है। राम नाम ही मेरी माता है, पिता है, तथा सुजन, स्नेही, गुरु, स्वामी, सखा, सुहृद, धन आदि सब कुछ है : 'राम रावरो नाम मेरो मातु पितु है। सुजन सनेही गुरु, साहब, सखा, सुहृद राम नाम प्रेम पन अविचल वितु है ॥' विनय० २५४। 'तुलसिदास कासों कहै तुम ही सब मेरे प्रभु गुरु मातु पिते हौ।' वि० २७०। राम नाम हनुमान की भाँति तुलसी के रोम-रोम में बसा हुआ था। रामचरितमानस के अध्येताओं का दावा है कि उसकी पंक्ति-पंक्तिमें र और म दोनों अक्षरों का किसी न किसी रूप में समावेश है। राम का नाम तुलसी ने सबसे अधिक बार लिया[1] है।

रूप : तुलसी अपने राम को निर्गुण एवं सगुण, निराकार तथा साकार दोनों रूप प्रदान करते हैं। अतः उनके राम एक ओर चिदानन्द स्वरूप वाले हैं तो दूसरी ओर नरदेहधारी भी। इन दोनों से पृथक् उनका एक तीसरा रूप भी है, जिसमें यह निखिल ब्रह्माण्ड ही उनका शरीर समझा गया है। तीनों ही रूपों में वे अनन्त-सौन्दर्य-सम्पन्न हैं। निम्नांकित अर्द्धालियों में इन तीनों रूपों का उल्लेख है :

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा ॥
व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेइ धरि देह चरित कृत नाना ॥

रामचरितमानस बा० का० २३

समस्त साधनाओं में प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप ही माने गये हैं यही उनका वास्तविक रूप है, जिसे परमधाम में स्थित अरूप और अनाम भी कहा जाता

१. रामचरितमानस, बाल० ७३, ७४, ९९, १०४, १०७, १३७, १४०, १४२, १५३, १५७, १८४। किष्किन्धाकाण्ड २३, २४, २५। अरण्यकाण्ड ६, १७, ३६। लंकाकाण्ड १०७। उत्तरकाण्ड ३२, ५२, ५३, ५७, १०४, ११५, १२७, १२९। विनयपत्रिका ४७, ५३, ५४, ५५, ६२, ८५, ८७, १०४, १११, ११६, १२०, १६४, १८८, २१७, २२०, २३६।

है। इस रूप में वे वाणी, मन और बुद्धि से अतर्क्य हैं। (बा० का० १४८)। हिरण्यगर्भ अथवा ज्येष्ठ ब्रह्म बनकर वे ही विश्व या ब्रह्माण्ड का विराट् रूप धारण करते हैं। यह उनका प्रथम अवतार है। विश्वरूप के अतिरिक्त नरादि देहों में अवतरित होकर उनका तीसरा रूप प्रत्यक्ष होता है। उनका पर, अथवा वास्तविक रूप अगम्य है। विश्वरूप की लीलायें मुनियों को हृदयगम्य हो जाती हैं। नरादि रूपों की लीलायें ऊपर से तो सबको प्रत्यक्ष होती हैं, परन्तु उनके रहस्यों को अवगत करने वाले कुछ थोड़े से ही साधक होते हैं। वाल्मीकि इस तथ्य का उद्‌घाटन इस प्रकार करते हैं :

राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अलख अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।
नर तन धरेहु संत सुर काजा। करहु कहहु जस प्राकृत राजा॥

अयोध्या० १२७, १२८

चिदानन्दमय होने के कारण ही वे सहज प्रकाशस्वरूप हैं : 'सहज प्रकाश रूप भगवाना।' बाल० १४०। अथर्ववेद १०–७–३२, ३३, ३४ तथा १०–८–१ में प्रभु के विराट स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसमें पृथ्वी प्रभु का पैर है, अन्तरिक्ष उदर है, द्यौ मूर्धा है, सूर्य-चन्द्र नेत्र हैं, अग्नि मुख है, वायु प्राणापान है, दिशाये श्रोत्र हैं, भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान सब का वह अधिष्ठाता है। प्रभु के इसी विराट या ज्येष्ठ ब्रह्म के रूप का वर्णन करती हुई मन्दोदरी रामचरितमानस में रावण से कहती है :

'बिस्व रूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वास।
लोक कल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥' लंका० २०॥

पद पाताल, सीस अजधामा। अपर लोक अंग अंग बिस्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा॥
स्रवन दिसा दस, बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥
आनन अनल अंबुपति जीहा।............................
... .अस्थि सैल, सरिता नस-जाला॥

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि, चित्त महान।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान। (लंका २१)

इस वर्णन में कुछ बातें अथर्ववेद के समान ही हैं, जैसे नयन दिवाकर, श्रवण दिशा, आनन अनल, मारुत श्वास, परन्तु कुछ बातें भिन्न हैं और वर्णन में अधिक अंगों को ब्रह्माण्ड पर घटाने का प्रयत्न है। बाह्य शारीरिक अवयवों के अतिरिक्त अन्तःकरण-चतुष्टय को भी विशाल रचना में स्थान दिया गया है, जिसमें मन को चन्द्रमा कहा गया है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त ३१-१२ में भी चंद्रमा का संबंध मन से है। ऊपर शिर को अज धाम तथा अन्तःकरण-चतुष्टय की बुद्धि को अज कहा गया है। अज ब्रह्मा है और उसका धाम द्यौ है। यह भी मन्त्र १३ के शीर्ष्णोः द्यौः के अनुकूल है। अहंकार को शिव तथा चित्त को महत्तत्त्व कहने का संकेत वेद में उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः वह किसी पौराणिक परम्परा के आधार पर है। सांख्य के अनुसार प्रकृति का प्रथम विकार महान या महत्तत्त्व है, जिसे बुद्धि कहा जाता है। कठोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, तृतीय वल्ली, श्लोक ७ में महान को बुद्धि से भी पूर्व का विकार माना गया है। तुलसीदास ने महान को इसी अर्थ में चित्त से मिलाया है, क्योंकि वे बुद्धि को अज या ब्रह्मा का रूप देते हैं। संहार में अहंकार का बोध अधिक कार्य करता है। यह अहंकार रचना में महत्तत्त्व के पश्चात् आता है। शिव का स्थान भी ब्रह्मा के पश्चात् ही है। भगवान का यह विराट रूप रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, ११९-१२१ तक वर्णित हुआ है, जिसे काकभुशुण्डि राम के मुख में प्रविष्ट होकर देखते हैं।

विष्णु के अवताररूप में राम चतुर्भुजधारी हैं। तुलसी ने इसी रूप में उनका उत्पन्न होना लिखा है। कौशल्या इस रूप को देखकर विस्मित हो गई थी। उनके कहने पर ही राम ने नर-शिशु के समान लीला की थी। यह प्रसंग बालकाण्ड दोहा २२३ के पश्चात् आने वाले छन्दों में सन्निविष्ट है।

सुतीक्ष्ण को भी राम ने पहले अपने चतुर्भुज रूप के ही दर्शन दिये थे।
(अरण्य० २०)

विनयपत्रिका की निम्नांकित पंक्तियाँ राम के चतुर्भुजरूप को प्रकट करती हैं :

भुजंग भोग भुजदण्ड कंजदर चक्र गदा बनि आई। (६२)
गदा कंज दर चारु चक्रधर नाग सुण्डसम भुज चारी। (६३)

राम अथवा विष्णु के अवतारों का उल्लेख भी तुलसी ने कई बार किया है। मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम रूप में भगवान् विष्णु ही प्रकट हुये थे। (लंका० १२६)। विनयपत्रिका के पद ५२ में वृष्णिवंशी राधारमण कृष्ण, शुद्धबोध बुद्ध, विष्णुयश-पुत्र कल्कि, बलि को छलने वाले वटुरूपधारी वामन, प्रह्लाद-रक्षक नृसिंह तथा अन्य अवतारों का वर्णन है। अवतार के कई कारण हैं, यथा देव-रक्षा, भक्त-हित, भूमिभारहरण तथा वर्णाश्रममर्यादा की स्थापना। (विनय २४८ तथा मानस बाल० १४८)। तुलसी को राम का धनुर्द्धर रूप अतीव प्रिय है, यथा :

'करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥'

(बाल० १७५)

तथा

'कर कमलन धनुसायक फेरत।' (अयोध्या० २४०)

अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान कर राम।

मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥ (अरण्य० २२)

चतुर्भुज तथा नरावतारी दोनों रूपों में राम अनन्त छवि के धाम हैं। इस लोचनाभिराम छवि को देख कर मुनि जन तृप्त नहीं होते थे। विग्रह में व्यक्त उनका सौन्दर्य सबके आकर्षण का केन्द्र था। इस सौन्दर्य से सम्बन्ध रखने वाली कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं :

देखि राम छवि नयन जुड़ाने। (अरण्य० ५)

लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥

(अयोध्या० १२९)

छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी।

चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ बाल० १७६

रामरूप नख सिख सुभग, बारहिं बार निहारि।

पुलकगात लोचन सजल, उमा समेत पुरारि॥ बाल० १४८[1]

तुलसी को राम का यह सगुण, साकार, कोसलेश वाला रूप ही अधिक प्रिय था। लंकाकाण्ड के अन्त में वे इन्द्र के मुख से कहलाते हैं :

१. नरविग्रह में राम के सौन्दर्य का चित्रण तुलसी ने कई स्थानों पर किया है। इनमें बालकाण्ड दोहा १७४ से १७५ तक का सौन्दर्य-चित्र अनुपम है।

कोउ ब्रह्म निरगुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।

मोंहि भाव कोशल भूप, श्रीराम सगुन स्वरूप।' (लंका० १३९)

तुलसी इन्हीं उदार, मुनिरंजन, भवभारभंजन, राम को अपना इष्टदेव मानते थे, यथा :

मुनि रंजन भंजन महि भारहि। तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि॥ उत्तर० ५१
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥ बाल० ७४
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुवर सब उर अन्तरयामी॥ बाल० ११३

गुण : स्वरूप और गुणों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक का दूसरे पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। भगवान् में जो अनन्त सौन्दर्य है, वह उनके अनन्त गुणों के कारण है। अपने परम धाम में वे अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि, अनूप, अनीह, अनामय, अज, अलख, अविनाशी, निराकार, निर्मोह, निरंजन, नित्य तथा एकरस हैं। जीव की दृष्टि से वे न्यायी, कर्मफलदाता, नाना योनियों में घुमाने वाले, ज्ञानी तथा गुणधाम और जड़ जगत की दृष्टि से प्रकाशक, स्रष्टा, पालक, संहारक और सर्वव्यापक हैं। भक्त की दृष्टि से राम परम उदार, दानी, पतितपावन, उत्थापितों के स्थापक, अशरणशरण और करुणा के कोष हैं। उन जैसा बलवान तो यहाँ कोई भी नहीं है। शरण में आये हुये भक्त की वे सदैव रक्षा करते हैं और उनके पापों तथा विषय-विकारों का विनाश करके उन्हें सद्गति प्रदान करते हैं। तुलसी ने राम के सम्बन्ध में इन सभी गुणों का नाम लिया है। उदाहरणस्वरूप कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं :

पारमार्थिक गुण :

अगुन अखंड अनन्त अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथवादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा॥ बाल० १४२
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ अयो० ९४
व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी। चिदानन्द निरगुन गुन रासी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुं काल एकरस अहई॥ बाल० ३४१
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बल धामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ शक्ति भगवंता॥

अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥ उत्तर० १०४
राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्व रहित सब उर पुर बासी॥ बाल० १४४
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रकट परावर नाथ। बाल० १४०
सहज प्रकास रूप भगवाना। बालकांड १४०

सर्वसमर्थ :

राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेस सहस सत सकहिं न गाई॥ सुन्दर० ५९
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। लंकाकांड ५३
सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारि दस आसू॥
सक संग्राम जीति कर ताही। सेवहिं सुर नर अग जग जाही॥ लंका० ७६
जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समरथ रघुनाथहिं, भजहिं जीव ते धन्य॥ उत्तर० २०५
मरुत कोटिसत बिपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि जो सीतल, समन सकल भव त्रास॥ उत्तर० १४०
मसक बिरञ्चि, बिरञ्चि मसक सम करइ प्रभाउ तुम्हारो॥ विनय ९४
सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष कूटस्थ गूढार्चि भक्तानुकूलम्। वि० प० ५३
राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ बाल० १५६
धर्म धुरीन भानु कुल भानू। राजा राम स्ववस भगवानू॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥
बिधि हरि हरु ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुल काला॥
अहिप महिप जहं लगि प्रभुताई।.......
राम रजाइ सीस सब ही के॥ अयो० २५५

सर्वज्ञ :

सुनहु राम सर्वज्ञ सुजाना। धरम नीति गुन ग्यान निधाना॥ अयो० २५८
पुनि सरवज्ञ सर्व उर बासी। सर्व रूप सब रहित उदासी॥ सुन्दर० ५३

सत्यसंध और मंगलकारी :

सत्यसंध पालक स्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥
गुरु पितु मातु बचन अनुसारी। खल दल दलन देव हितकारी॥ अयो० २५५

पूर्णकाम :

पूरनकाम राम अनुरागी । अरण्य० ५८, उत्तर० २१६
सब प्रकार प्रभु पूरन कामा । सुन्दर० २८

न्यायी :

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईसु देइ फलु हृदय बिचारी ॥
करइ जो करम पाव फल सोई । निगम नीति अस कह सब कोई ॥ अयो० ७८
कठिन करम गति जान बिधाता । जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥ अयो० २८३
काल रूप तिन कहं मैं भ्राता । सुभ अरु असुभ करम फलदाता ॥ उ० ६४
माया ईश न आपु कहं, जान कहिय सो जीव ।
बन्ध मोच्छप्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव ॥ अरण्य० २७

जागतिक गुण :

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ज्ञान गुन धामू ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥ बाल० १४१
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥ बाल० १७२
जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाइ न दूजा ॥ बाल० २१८
कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन ॥ बाल० २४१
जाके बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दस सीसा ॥ सुन्दर० २२
उमा राम कर भृकुटि बिलासा । होइ बिस्व पुनि पावै नासा ॥ लंका० ५३
विश्वहत विश्वहित अजित गोतीत शिव विश्व पालन हरन विश्वकर्ता ॥ वि० प० ६१
हरिहि हरिता विधिहि विधिता सिवहि सिवता जो दई ॥ वि० प० १३५
विश्व पोषन भरन विश्व कारन करन सरन तुलसीदास त्रास हन्ता ॥ वि० प० ५५
सिद्धि साधक साध्य वाच्य वाचक रूप मंत्र जापक जाप्य सृष्टि स्रष्टा ॥ वि० प० ५३
सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया । पाइ जासु बल बिरचति माया ॥ सुन्दर० २२
ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ।
जीव चराचर जन्तु समाना । भीतर बसहिं न जानहि आना ॥ अरण्य० २५

भक्त की दृष्टि से :

पतित पावन प्रनत पाल असरन सरन बांकुरे विरद विरुदैत केहि केरे । वि० २१०
सोभा सील ज्ञान गुन मन्दिर सुन्दर परम उदारहि
रंजन संत अखिल अघ गंजन भंजन विषय विकारहि ॥ वि० ८५

एकै दानि सिरोमनि सांचौ।
जोइ जांच्यौ सोइ जाचकतावस फिरि बहु नाच न नाच्यौ ॥ वि० १६३ ॥
ऐसे राम दीन हितकारी।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी ॥ वि० १६६
राइ दसरथ के तू उथपन थापनौ। साहिब सरनपाल सबल न दूसरौ। वि०१८०
भक्तवछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेखी ॥ उत्तर० १२५
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की ॥ अरण्य० १९
सरनागत बच्छल भगवाना ॥ सुन्दरकांड ४५
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं। सुन्दर०४६

प्रकृति और जीव देशकाल से परिच्छिन्न तथा नाना रूप धारण करने वाले हैं, परन्तु ब्रह्म देश और काल की सीमा से परे है। उसे इनकी अपेक्षा नहीं होती। वह इनसे पृथक् और एकरस है। राम के एकरस रहने का वर्णन मानस के उत्तरकांड में काकभुशुंडि ने गरुड़ से किया है, जिसके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, विष्णु, शिव, मनु, दिक्पाल, अयोध्या, सरयू, दशरथ, कौशल्या, भरत आदि हैं, पर राम एक ही हैं। तुलसी के ही शब्दों में : भिन्न-भिन्न मैं दीख सब अति बिचित्र हरि जान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ॥ उत्तर० १२१

बालकांड, दोहा ७८ में भी पार्वती राम के अनेक विग्रहों में एकरूपता का दर्शन करती हैं।

तुलसी अधिकांशतः अद्वैतवाद के समर्थक हैं। अकल, अनीह, अनाम, अरूप, अखंड, अनुपम, अनुभवगम्य, मनगोतीत, अमल, अविनाशी, निर्विकार, निरवधि एवं सुखराशि ब्रह्म का जीव तथा जगत् के साथ सम्बन्ध वारि और बीचियों के सम्बन्ध की भाँति है, ऐसा उन्होंने मानस के उत्तरकांड, दोहा १८१ में लिखा है। द्वैत बुद्धि उनकी सम्मति में अज्ञान का परिणाम है। जब तक जीव अज्ञानग्रसित है, तब तक वह ईश्वर के साथ ऐक्य का अनुभव नहीं कर सकता।

राम के पारमार्थिक गुणों में प्रकृति-पारतत्व की ही विशिष्टता है। उनका जो रूप प्रकृति से सम्बद्ध होता है, वह कूटस्थ नहीं कहा जा सकता।

जो कूटस्थ है, वह निरुपाधि भी है। प्रकृति की दृष्टि से इसी हेतु उसका अ-अ अथवा न-इति, न-इति कहकर वर्णन किया जाता है। न वह प्रकृति के समान जड़ है और न जीव के समान शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता। वह सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है तथा अविनाशी है। जगत् की दृष्टि से वह नियामक, सर्वव्यापक, रचयिता आदि और जीवों की दृष्टि से वह न्यायी तथा कर्मफलप्रदाता है। वह सबमें व्यापक और सबसे पृथक् भी है। वह सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सत्यसंध और वैदिक मर्यादा का रक्षक है। उसकी आज्ञा को टालने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। वह स्वभाव से ही सबको वश में रखने वाला है। यहाँ तक तो ठीक है, पर जब तुलसी अद्वैतवाद को प्रातिभासिक सत्ता में भी कार्यान्वित या प्रतिफलित करने की धुन में प्रभु को व्यापक और व्याप्य, वाचक और वाच्य, ज्ञापक और ज्ञाप्य, साधक और साध्य, सृष्टि और स्रष्टा, कारण और करण कहते हैं, तब एक उलझन पैदा हो जाती है। दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दोनों दृष्टिकोणों से राम के इस द्विविध रूप की संगति नहीं बैठ पाती। व्याप्य व्यापक से पृथक् होना चाहिए, अन्यथा व्यापक शब्द की सार्थकता नष्ट हो जायगी। जो साधक है, उससे साध्य भिन्न है। इसी प्रकार रचयिता और रचना की सामग्री एक नहीं हो सकते। जो कारण है, वही करण भी है, तो कार्य-कारण का सम्बन्ध क्या रहा? एक उलझन और भी है। तुलसी एक स्थान पर तो राम को कर्त्ता, भर्त्ता आदि कहते हैं, जिनको अपने कार्यों में किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती और दूसरे स्थान पर उन्हें इन कार्यों से विरत दिखाकर उनके भृकुटिविलास मात्र से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उत्पन्न कराकर उनसे स्रष्टा, पालक और संहारक का कार्य कराते हैं। कभी वे राम को विष्णु का अवतार,[1] सीता को रमा और राम को हरि कहते हैं और कभी इसके विपरीत हरि अर्थात् विष्णु और रमा को सीता तथा राम के स्वयंवर में दर्शकरूप में भेज देते हैं[2]।

---

१. विष्णु जो सुरहित नर तनु धारी। बाल० ७४

२. हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥ बाल० २५०

यहाँ हरि अर्थात् रमापति रमा के साथ स्वयंवर में जाते हैं और राम के रूपको देखकर मुग्ध होते हैं। इसके विपरीत राम को हरि तथा रमापति और सीता को रमा तुलसी ने अनेक स्थानों पर लिखा है, यथा 'राम बाम दिसि सोभित रमा रूप गुन खानि'। उत्तर० २५, 'अवधेस सुरेस रमेस विभो' उत्तर० ११

क्या इन उक्तियों में कोई संगति है ? ऐसे प्रश्न प्रायः उठते रहे हैं, पर उनके यथोचित समाधानकारक उत्तर दिये जा चुके हैं, इसमें सन्देह है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म का नहीं, उसके सोपाधिक रूप ईश्वर का अवतार होता है, पर तुलसी राम को निर्गुण ब्रह्म का अवतार लिखते हैं। उनके साध्य जितने अधिक ब्रह्म हैं, उतने विष्णु नहीं[1]। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव उनकी दृष्टि में देवता हैं, जो साधारण जीवों से स्वल्पांश में ही ऊपर उठे हुए हैं। उनको विधिता, हरिता और शिवता—अर्थात् रचना, पालन और संहार की शक्ति देने वाले राम हैं। राम में ऐसे सैकड़ों विधि, हरि और शिवों की शक्ति है, पर वे स्वयं इनके कार्यों को नहीं करते, इनसे कराते हैं। एक स्थान पर राम की शक्ति सीता, जिसे वे माया भी कहते हैं और दूसरे स्थान पर पार्वती इन कार्यों को करने वाली हैं[2]। जड़ को चेतन और चेतन को जड़ बनाने वाला राम का गुण भी समझ में नहीं आता। दार्शनिक दृष्टि से जो जड़ है, वह जड़ ही रहेगा, चेतन कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो चेतन है, वह अपनी चेतनता का परित्याग नहीं कर सकता। यदि जल के शीतल और उष्ण होने का उदाहरण दें, तो वह भी यहाँ पूर्णतया घटित नहीं होगा। जल अग्नि के संयोग से क्षणिक उष्णता प्राप्त करता है, सदैव के लिए उष्ण नहीं हो जाता। स्वल्पकाल में ही वह अपना स्वाभाविक गुण ग्रहण कर लेता है। यदि उसका यह गुण विनष्ट हो गया होता, तो पुनः आ कैसे जाता ? चेतन जीव कर्म-विपाक-वश वृक्षादि योनियों में जड़वत् प्रतीत होता है। वस्तुतः वह जड़ नहीं, अन्तःसंज्ञ बनकर वहाँ रहता है। कर्म के सम्बन्ध में प्रथम तो सबको अपने अपने कर्मों का भोक्ता कहना और फिर 'औरु करै अपराध कोउ और पाव फल भोग' (अयो० ७८) जैसी उक्तियों में भगवान् की विचित्र गति बताकर फल-भोग में व्यतिक्रम उत्पन्न कर देना क्या समीचीन कहा जा सकता है ? इसी प्रकार की एक असंगति रामको सबका प्रेरक मानने में है। यदि राम ही प्रेरक हैं, जीव को बन्धन

---

१. बालकांड १२२, १४०, १४४ तथा उत्तरकांड १२९

२ उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्। सर्वश्रेयस्करीं सीताम्...... ॥
मानस का प्रारंभिक श्लोक ५
अजा अनादि सक्ति अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि।
जग संभव पालन लयकारिनि॥ बाल० १२२

में डालने वाले हैं, तो दोष किसका है[1] ? यही नहीं, विराध जैसे सीता-अप-हर्ता राक्षस को भी तुलसी राम के निज धाम, वैकुण्ठ भेजते हैं (अरण्य-काण्ड १६) और द्विजामिष-भोगी खल मनुजादों को योगियों द्वारा याचित गति प्रदान करते हैं (लंकाकाण्ड ६५)। क्या यह कर्म-मर्यादा का विघातक[2] नहीं है ?

लीला : तुलसी निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म को ही लीला में सगुण तथा साकार बना देते हैं। निराकार रूप में भी राम लीला करते हैं, इसकी ओर भी उनकी दृष्टि गई है। यथा:

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाय नहिं बरनी ॥

बा० ११२

पर उनकी नयन-गोचरी लीला रचना तथा अवतारों में ही प्रकट होती है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय भगवान् की भृकुटि का विलास मात्र है, लीला या खेल है। तुलसी लिखते हैं :

उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा। (लंकाकाण्ड ५३)
'नट इव कपट चरित करि नाना। सदा स्वतन्त्र राम भगवाना।'(लंकाकाण्ड ९४).

राम भगवान् सदा स्वतंत्र हैं। नट की तरह कपट वेष धारण करके वे नाना लीलायें करते हैं। राम के ये सगुण चरित्र बुद्धि और वाणी की शक्ति से परे हैं। इनकी तर्कना नहीं की जा सकती[3]। निम्नांकित दोहे में तुलसी ने निर्गुण लीला से सगुण लीला का समझना कठिन माना है :

'निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानहिं कोय।

---

१. तुलसीदास बस होंहि तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै। विनय० ८९
'तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बांध्यो सोइ छोरै'। विनय० १०२
काल करम सिव जाके हाथा। लं० ९

२. राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुक्त निसाचर झारी ॥
रामाकार भये तिनके मन। गये ब्रह्मपद तजि सरीर रन।
खल मल धाम काम रत रावन। गति पाई जो मुनिवर पावन ॥ उ० १४०

३. चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी ॥(लंकाकाण्ड ९५)

सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय॥' (उ० का० १०७)

तुलसी को यही सगुण लीला प्रिय है, निर्गुण नहीं। काकभुशुण्डि के मुख से तुलसी कहलाते हैं :

'निरगुन मति नहिं मोहिं सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई'॥ (उ० का० १८२)

बिबिध भाँति मुनि मोहिं समुझावा। निरगुन मत मम हृदय न आवा॥
राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाय मुनीस प्रबीना॥
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निरगुन उपदेसा॥

(उ० का० १८६)

सृष्टि की रचना इसी लीला का एक भाग है। रचना के समय—'संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥' (बा० का० १७२) प्रभु के अंशों से अनेक ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के द्वारा भगवान् सृष्टि की रचना, पालन और संहार कराते हैं। ये तीनों ही क्रियायें प्रभु की लीलायें हैं। परमेश्वर अपने सेवकों और भक्तों के कारण लीलाशरीर भी धारण करते हैं। यथा—'भगत हेतु लीला तनु गहई।' (बा० का० १७२) 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥' (बा० का० १४०) 'भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप'। (बा० का० २३७) 'व्यापक ब्रह्म निरंजन निरगुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद' (बा० का० २३०)। भगवान् की यह लीला देवताओं के लिये हितकर, परन्तु दानवों के लिये मोह-मुग्धकारिणी है :

'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर-हित दनुज-बिमोहन-सीला॥'

(बा० १३७)

इस लीला का उद्देश्य दुष्टों का दमन और सज्जनों की रक्षा करना है : 'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ करहिं अनीति जाहिं नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी। तब तब धरि प्रभु बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥ असुर मारि थापहिं सुरन, राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥ (बा० का० १४८) 'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निरमित तनु माया-गुन-गोपार॥' (बा० का० २२४)। रामावतार के कई ऐतिहासिक कारण भी हैं :

(१) कश्यप और अदिति ने महान् तप किया, जिसके परिणामस्वरूप वे

दशरथ तथा कौशल्या के रूप में आगामी जन्म में उत्पन्न हुये। (बा० २१९)। अपनी तपस्या के फलरूप में उन्होंने भगवान् को अपनी गोद में खिलाया। मनु और शतरूपा का तप भी यही परिणाम लाता है (बाल० १०९)। मनु प्रभु-चरणों में सुत-विषयक (वात्सल्य) प्रेम की याचना करते हैं। मनु दशरथ बनते है और शतरूपा कौशल्या के रूप में अवतरित होती हैं। दोनों को तप के फलस्वरूप राम पुत्र बन कर आनन्दित करते हैं। इन कथाओं का सम्बन्ध विभिन्न कल्पों अथवा मन्वन्तरों से माना जायगा, अन्यथा एक ही समय में कश्यप एवं अदिति और मनु एवं शतरूपा दशरथ तथा कौशल्या के रूप में जन्म नहीं ले सकते।

(२) नारद का शाप : नारद ने मोहिनी प्रसंग में भगवान् को शाप दिया था : 'नारि बिरह तुम होब दुखारी।' (बा० का० १३५)। भगवान् ने कहा : 'नारद वचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं॥' (बा० २१९)। भगवान् राम के रूप में उत्पन्न हुये और वन में अपनी पत्नी सीता को खोकर दुखी हुये : 'बिरह-वंत भगवन्तहिं देखी। नारद मन भा सोच बिसेखी॥ मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥' (अरण्य० ७३)

(३) जलन्धर दैत्य की पत्नी का शाप : तुलसीदास ने इसे पूर्व कल्प की घटना माना है। (बा० १५०)। विष्णु ने जलन्धर दैत्य के अत्याचारों का शमन न होते देख कर उसकी पत्नी के पातिव्रत को भंग किया। जलन्धर आगामी जन्म में रावण बना। रावण जो सीता को चुराता है, वह मानों पूर्व-जन्मकृत स्वपत्नी के पातिव्रतभंग का राम से बदला लेता है।

(४) रावण के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी और देवताओं के दुख को दूर करना। इस प्रसंग में तुलसी ने प्रतापभानु (बाल० २०६), हिरण्य-कश्यप (बा० १४९) और जलन्धर (बा० १५१) को रावण के रूप में अवतरित होते दिखाया है। यहाँ भी तीनों का समय एक नहीं हो सकता। इन कथाओं का सम्बन्ध भी विभिन्न युगों से ही माना जायगा।

लीला में राम और उनकी शक्ति, पुरुष और उनकी प्रकृति, ब्रह्म और उनकी माया दोनों एक साथ रहते हैं। तुलसी राम की ही भाँति आदिशक्ति सीता के भृकुटिविलास मात्र से भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। यह सीता राम के वाम भाग में विराजमान रहती है। तुलसी लिखते हैं :

बाम भाग सोभित अनुकूला। आदि शक्ति छवि निधि जग मूला॥
जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥
(बाल० १७६)

सीता तो राम की शक्ति है, अतः लीला में भगवान् के साथ रहती ही है। इसके अतिरिक्त वे देव भी, जो सगुण उपासक हैं, और भगवान् के साथ मोक्ष में रहते हैं, उनके अवतार के साथ रीछ, वानर आदि के विग्रहों में प्रकट होते हैं और भगवान् की लीला में भाग लेते हैं। जामवंत अंगद से कहते हैं:

हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।
निज इच्छा अवतरइ प्रभु, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहं, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥ किष्किंधा० २९

इस लीला का कोई हेतु नहीं है। 'प्रभु कौतुकी प्रनत हितकारी' बाल १६८, प्रभु स्वयं लीलामय हैं। उनकी लीला लीला के लिये है।

पुराण-कल्पित और तुलसी द्वारा वर्णित इन लीलाओं में भी अनेक स्थानों पर असंगतियाँ हैं। यदि राम के हाथों मरकर रावण और कुम्भकर्ण मोक्ष पाते हैं, तो हिरण्यकश्यप भी तो विष्णु के अवतार नृसिंह द्वारा मारा जाता है। उसे मुक्ति क्यों नहीं मिलती? वह रावणरूप में पुनः क्यों जन्म लेता है? हिरण्याक्ष पुनः क्यों कुम्भकर्ण बनता है? क्या वे बार-बार भगवान के हाथों मरना चाहते थे? सनकादि द्वारा जय और विजय को दिया हुआ शाप इस लीला को और भी पीछे ले जाता है। पर क्या शाप का प्रभाव भगवान् से भी बढ़ कर है? इस शाप की कथा भी विचित्र है। द्वारपालों का कार्य ही आगन्तुकों को बिना पूर्व-आज्ञा के अन्दर जाने से रोक लेना है। इस कर्तव्य-पालन पर शाप कैसा? जलंधर दैत्य की कथा में और भी अधिक असमीचीनता है। वह महाशक्तिशाली है जिसे सृष्टि के संहारकर्त्ता महादेव भी नहीं मार सके। क्या वह सृष्टि से पृथक् था? उसे मारने के लिए विष्णु को महादेव की सहायता में छल का प्रयोग करना पड़ा। वह छल भी एक सती-साध्वी स्त्री के पातिव्रत को भंग करता है। इसे आप राजनीति भले कहें, धर्मनीति तो कदापि नहीं कह सकते। इससे आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं होती। क्या महादेव का रुद्रत्व इतना अशक्त है? क्या वह भगवान द्वारा छल-साहाय्य की अपेक्षा रखता है?

जिसकी भ्रुकुटि-भंगिमा-मात्र से निखिल ब्रह्मांड का नाश हो सकता है, वह एक दैत्य को मारने के लिए इतना पोच प्रयोग करे, आदर्श की अशोभन उपेक्षा और मर्यादा की मर्मान्तक हत्या करे, यह समझ में नहीं आता। इन असंगतियों को लीला-कैवल्य कहकर टाला नहीं जा सकता। मानव बुद्धि इनसे भ्रम में पड़ती है और कर्मकांड की मर्यादा को धक्का लगता है। तुलसी चाहे जितनी गालियाँ देकर—अघी, प्रमादी, मोहवश, अधम, पाखण्डी, पिशाच, अंध, अभागा, अज्ञ, लम्पट, कपटी, कुटिल, जल्पी, मत्त, वातुल, भूतविवश, काक आदि कहकर परपच्छ की जिह्वा को दबाना चाहें, पर क्या अनुभूति कभी दबाई जा सकी है? राम को मनुष्य और राजा समझने वालों पर तुलसी बरस पड़ते हैं,[1] पर स्वयं उनके बाल एवं भूपालरूप पर मुग्ध हैं[2]। क्या यह असंगत नहीं है? इसी प्रकार स्वर्लोक तक पहुँचकर तो अनेक व्यक्ति गिरते देखे गए हैं, पर सत्यलोक के निवासी नारद भी स्खलित हों, [बाल० १३९] यह आश्चर्यजनक है।

धाम : तुलसी ने वेद के परमपद की भाँति राम के धाम को परमधाम कई स्थानों पर लिखा है। यह परमधाम परमव्योम है। यह व्योम लोक-लोकान्तरों का निवास धाम है, तो इससे भी परे परमव्योम या परमधाम प्रभु का धाम है, यथा 'अज सच्चिदानन्द परधामा' बाल० २३ तथा 'भये परम पद के अधिकारी' अयोध्या० १४० । पुराणों में जिन धामों का वर्णन है, उनमें से क्षीरसागर और वैकुण्ठ का नाम तुलसी ने लिया है, यथा :

क्षीरसागर :

पय-पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखन राम रहे आई॥
अयोध्या १४०

यहाँ 'पय-पयोधि' का अर्थ क्षीरसागर है[3]।

---

१. 'तात राम नहिं नर भूपाला।' सुन्दर० ४०
'राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहि न तव रसना अभिमानी॥' लंका० ४९
'पति रघुपतिहि नृपति मति मानहु।' लंका ५५
'तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥' लंका० ५६
२. 'जो कोसलपति राजिव नयना। करौ सो राम हृदय मम अयना'॥ अरण्य० २१
३. 'लंकाकाड' दोहा १३४ के ऊपर वाले छन्द में तुलसी क्षीरसागर को विष्णु का श्वसुर लिखते हैं. 'जिमि क्षीरसागर इन्दिरा रामहिं समरपी आनि सो।'

वैकुण्ठ :

'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुण्ठ सिधारा॥ अरण्य० १८

वैकुण्ठ को ही सुरधाम कहते हैं। ब्रह्मादि देव इसी में निवास करते हैं, यथा :

देवन्ह समाचार सब पाये। ब्रह्मादिक बैकुण्ठ सिधाये॥ बाल० ११२

दशरथ को भी मृत्यु के पश्चात् यही लोक प्राप्त हुआ था।[1] विभीषण भी इसी धाम में गया। सभी सन्त और भक्त इसी धाम में जाते हैं।[2] यजु० अ० ३२ मन्त्र १० का तृतीय धाम भी यही जान पड़ता है, जिसमें अमृत का उपभोग करते हुए देव स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

क्षीराब्धि :

यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि सहित गच्छन्ति क्षीराब्धिवासी। वि. ५७

यह क्षीराब्धि क्षीरसागर ही है, जिसका उल्लेख नीचे उद्धृत चरण में भी पाया जाता है :

उरग नायक सयन तरुन पंकज नयन क्षीरसागर अयन सर्व वासी। वि. प. ५५

अयोध्या को कवि ने सुख-राशि तथा भगवान् का धाम प्राप्त कराने वाली कहा है : 'मम धामदा पुरी सुखरासी' उत्तर० १२। राम को यह पुरी वैकुंठ से भी अधिक प्रिय है।[3] कहीं-कहीं इस धाम को हरिपद, ब्रह्मपद, निजधाम, ममधाम, रामधाम, रघुपतिपुर, हरिपुर, हरिधाम आदि भी कहा गया है।

कैवल्य : कैवल्य का अर्थ केवलता है, जहाँ आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता अवशिष्ट नहीं रहती। तुलसी ने नीचे लिखी पंक्ति में इसी कैवल्य अवस्था या धाम का उल्लेख किया है :

साधु पद सलिल निर्धूत कल्मष सकल श्वपच यवनादि कैवल्यभागी। वि.प.५७

तुलसी ने भक्ति के अभेदभक्ति और भेदभक्ति नाम के दो भेद किये

---

१. 'दसरथ हरषि गएउ सुरधामा।' लंका १२८; तुलसी ने वैकुण्ठ को एक लोक ही माना है, परन्तु निम्नांकित अर्द्धाली में रामभक्ति की अकुंठित अवस्था से जो लाभ होता है, उसी को वे वैकुण्ठ कहते हैं :

सुनु मतिमंद लोक बैकुण्ठा? लाभु कि रघुपति भगति अकुण्ठा॥ लंका० ४१

२. पुनि मम धाम सिधाइहहु जहां संत सब जाहिं। लंका० ४६

३. जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना॥

अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥ उत्तर० ११

हैं।[1] अभेदभक्ति वाले राम के रूप में लीन हो जाते हैं। इसे सायुज्य मुक्ति कहते हैं। भेदभक्ति वाले सालोक्य मुक्ति पाते हैं, जिसमें वे निज धाम, रामधाम या वैकुण्ठ में राम के साथ रहते हैं। सामीप्य मुक्ति भी यही है। सारूप्य मुक्ति में साधक भगवान् के रूप का ही बन जाता है। जटायु को यह रूप प्राप्त हो गया था, परन्तु अन्त में वह हरिलोक को ही गया। लंका के युद्ध में निहत राक्षसों के मन रामाकार हो गए थे, परन्तु वे भी शरीर छोड़कर ब्रह्म-पद को प्राप्त हुए।[2] शबरी हरिचरणों में लीन हो गई थी, अतः सायुज्य मुक्ति की अधिकारिणी बनी। कुम्भकर्ण और रावण का तेज भी प्रभु के मुख में समा गया था, पर कुंभकर्ण को तुलसी ने फिर भी हरि-धाम अर्थात् वैकुण्ठ में ही भेजा (लंकाकाण्ड ९२) और रावण को भी निज धाम दिया (लंका १२९)। वैकुण्ठ और क्षीरसागर का नाम लेकर तुलसी उनमें निवास करने वाले अपने राम को सर्वत्र व्यापक भी लिखते हैं। यथा :

पुर वैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥ बा० २१७

भक्तिमार्ग : ऊपर भगवान् के जिस पौराणिकता-प्रधान स्वरूप का विवेचन किया गया है, वह सामान्य की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक है। उसका नाम, रूप और धाम हम शरीरधारी मानवों के ही समान है, उसके लीला-चरित्र भी प्रायः वैसे ही हैं जैसे हमारे, पर कहीं-कहीं विरोधात्मक तथा अतिमानव कार्यों का सन्निवेश उन्हें हमसे पृथक् भी कर देता है। तुलसी ऐसे कार्यों की व्याख्या में राम के ईश्वर की दुहाई देने लगते हैं। गुणों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिये। वे प्राकृत तथा अतिप्राकृत दोनों ही प्रकार के हैं। भक्तिमार्ग का प्रवर्तन प्रभु के अतिमानव तथा अतिप्राकृत गुणों के आधार पर हुआ है। मानव अपनी हीनता, निर्बलता तथा तज्जन्य व्याकुलता के कारण किसी ऐसे व्यक्तित्व की शरण में जाना चाहता है, जो उसे सबल तथा सुखी बना सके। विश्व में बल और सुख के प्रतीक एक से एक बढ़कर हैं। जिसमें जितनी ही अधिक प्राणवत्ता है, जितनी ही अधिक मननशक्ति

१. तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥ अरण्य० १२
तातें उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेद भगति मन लावा॥ लंका० ११८

२. रामाकार भये तिन्ह के मन। गए ब्रह्म पद तजि सरीर रन॥ लंका० १४०

है, जितना ही अधिक ज्ञान-प्रकाश है, वह उतना ही अधिक शक्तिशाली और सुखी है। पर मानव के सुख और सामर्थ्य की सीमा है। यहाँ बड़े से बड़ा समर्थ मानव भी अपने समस्त संकल्पों में सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। वह अन्त में अनुभव करता है कि उससे भी ऊपर कोई अज्ञात शक्ति है, जो उसकी सफलता और असफलता का नियमन करती है। मानव के प्रयत्न चाहे जितने शोध के साथ संगठित किये गये हों, कभी न कभी उसे धोखा दे ही देते हैं। किसी कवि की उक्ति है: 'नैया नई, मलाह घनेरे, बहुत जतन धरिये। उछली लहर डूबि गई नैया, जाको का करिये?' मानव के इसी प्रकार के अनुभव उसे उस अज्ञात शक्ति की ओर ले जाते हैं, जो अपने सामर्थ्य में मानव तथा प्राकृत दोनों शक्तियों से ऊपर है, इनका नियन्त्रण करती है और इन्हें सफलता तथा विफलता की ओर ले जाती है। यह शक्ति निश्चित रूप से रहस्यात्मक है। तुलसी ने मानव-विग्रह देकर उसके रहस्यमय व्यक्तित्व को उन्मुक्त कर दिया है।

जो व्यक्ति इस रहस्यात्मक व्यक्तित्व की खोज में निरत होते हैं, वे साधक हैं। जो इससे प्रेम करते है, वे भक्त हैं। ज्ञानी इसे ब्रह्म, कर्मकाण्डी इसे परमात्मा और भक्त इसे भगवान् कह कर पुकारते हैं। सब के पथों के नाम भी इसी आधार पर पृथक्-पृथक् हैं। भक्त का प्रेममार्ग भक्ति कहलाता है। भक्तिमार्ग में इस प्रकार भक्त, भगवान् और भक्ति तीन तत्वों की प्रधानता है। इस मार्ग का उपदेष्टा कोई सिद्ध संत होता है, जिसे गुरु कहते हैं। गुरु का महत्त्व भी भक्तिपथ में असंदिग्ध है। श्री नाभादास जी ने भक्तमाल[1] का प्रारम्भ करते हुये वन्दनारूप में निम्नांकित दोहा लिखा है:

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बन्दन किये नाशैं विघ्न अनेक॥ १॥

---

१. श्री रूपकला जी लिखते हैं कि गोस्वामी नाभा जी का नाम नभभूज है। आप नभ के हैं अर्थात् अयोनिज हैं। परन्तु भू अर्थात् पृथ्वी पर ज अर्थात् उत्पन्न हुये हैं। अतः नभभूज हुये। नभभूज का संक्षिप्त रूप नाभा है। अथवा जैसे शरीर का केन्द्र नाभि है, उसी प्रकार भक्तों का यशोगान गाने में केन्द्र रूप नाभा जी हैं। नाभादास जी की भक्तमाल को केन्द्र बना कर उस पर फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, पंजाबी, संस्कृत और हिन्दी में कम से कम सोलह टीकायें लिखी जा चुकी हैं।

श्री रूपकला जी इसका भाष्य करते हुये लिखते हैं : 'भक्त का भगवान् के चरणकमलों में सच्चा प्रेम होता है। अपने गुरु तथा अन्य भगवद्भक्तों को भी वह भगवत्स्वरूप ही समझता है। इन भाग्य-भाजन भक्तों के हृदयकमल में भक्ति-भवानी सदैव शोभायमान रहती है। रसरूपा भक्ति भक्त के हृदय को सर्वदा प्रेमभाव से आर्द्र रखती है। भक्त के भाव का ही नाम भक्ति है। भक्त के दिव्य गुण यदि फल हैं, तो भक्ति उनका रस है। जिनके उपदेश तथा प्रसाद से साधकों को भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, उन्हें गुरु कहते हैं। सच्चा गुरु शिष्य से कुछ भी नहीं लेता, उसे देता ही है और देता ही नहीं, उसे कृतार्थ भी कर देता है।'

'भक्ति प्रीति है। यह भक्त के अन्दर भगवान् के प्रति गुरु द्वारा जागृत की जाती है। पृथक्-पृथक् दिखाई देने पर भी भक्ति, भक्त, भगवन्त और गुरु वस्तुतः एक ही हैं। जैसे आँखें दर्पण में अपने रूप को देखती हैं, तो द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, दर्शक अथवा कर्त्ता, कर्म, करण और सम्प्रदान सब एक ही रहते हैं, उसी प्रकार ये चारों भी एक ही हैं। उनमें भिन्नता नहीं है। इस अभेद दृष्टि से इन चार रूपों में एक भगवान् ही जीव के कल्याण के लिये अवतरित हुये हैं और वे ही वन्दनीय हैं—ऐसा समझना चाहिये। प्रभु अन्तर्यामी रूप से भक्त के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। इस हृदय में उपायरूपा भक्ति उत्पन्न होती है जो साक्षात् प्रभु की ही कृपा शक्ति है। इसे उद्दीप्त करने वाले तथा इष्ट मन्त्र के रूप में हितकारी उपदेश देने वाले गुरु हैं। भगवान् तथा भक्त का सुयश-गान गाने से साधक का हृदय मंगलमय बन जाता है।'

भक्त के लक्षण : वाल्मीकि के आश्रम में पहुंचने पर जब राम ऋषि से अपने रहने के लिये स्थान पूछने लगे, तो वाल्मीकि ने जो उत्तर दिया, उसमें भक्त के लक्षणों का अच्छा समावेश है। वाल्मीकि कहते हैं :

जिनके स्रवन समुद्र समाना, कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम कहँ गृह रूरे॥
लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी। रूप बिन्दु जल होंहि सुखारी॥

जस तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।

मुक्ताहल गुन-गन चुनइ। राम बसहु हिय तासु॥ अयो० १२९

तुमहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय बिसेखी॥

कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥

चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिनके मन माहीं॥

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा॥

तरपन होम करहिं विधि नाना। विप्र जिमाइ देहिं बहु दाना॥

तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥

सब करु मागहिं एक फलु राम चरन रति देहु॥ १३०

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥

जिनके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया॥

सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥

तुमहिं छांड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिनके मन माहीं॥

जननी सम जानहि पर नारी। धन पराव विष ते विष भारी॥

जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी॥

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिनके सब तुम तात। १३१

अवगुन तजि सबके गुन लहहीं। विप्र धेनु हित संकट सहहीं॥

नीति निपुन जिन्हकै जग लीका। घर तुम्हार तिन्हकर मनु नीका॥

गुन तुम्हार समुझैं निज दोषा'''राम भगत प्रिय लागहिं जेही॥

जाति पांति धनु धरमु बड़ाई'''सब तजि तुमहिं रहै लौलाई॥

सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहं तहं देख धरे धनु बाना॥

जाहि न चाहिय कबहुं कछु तुम सन सहज सनेहु। १३२

अरण्यकांड, दोहा २८ में भी भक्त के लक्षण संक्षेपतः इसी प्रकार हैं। इन पंक्तियों में कुछ लक्षण निषेधात्मक हैं और कुछ विधिपरक। निषेधात्मक जैसे—भक्त के अन्दर काम, क्रोध, मद, मान, मोह, लोभ, क्षोभ, राग, द्रोह, माया नहीं रहते। वह जाति-पाँति, धन, धर्म, प्रशंसा, प्रिय परिवार और सुखद गृह का परित्याग करके केवल राम में अपनी प्रवृत्तियों को केन्द्रित करता है। मन,

वचन और कर्म से वह भगवान् का सेवक बनता है। रामप्रेम के अतिरिक्त वह कभी किसी अन्य वस्तु की आकांक्षा नहीं करता। विधिपरक लक्षणों में कुछ सदाचार से सम्बन्ध रखते हैं, कुछ पूजा, अनुष्ठान आदि कर्मकांड से, कुछ सामाजिक परोपकार आदि कर्मों से, कुछ बाह्य श्रवण-कीर्तन आदि से और कुछ आन्तरिक तन्मयता तथा अनन्यता से। पराई स्त्री को माता के समान और पराये धन को विष के समान समझना, विचारपूर्वक सत्य और प्रिय वचन कहना, अवगुणों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करना, शिर झुका कर देव, गुरु और विप्रों को प्रणाम करना, दुख-सुख तथा निन्दा-स्तुति में समान भाव रखना सादाचारिक लक्षण हैं। प्रभु-समर्पण-पूर्वक और प्रभु का प्रसाद समझ कर भोजन करना तथा वस्त्राभूषण धारण करना, तीर्थयात्रा, मंत्रराज (श्री रामाय नमः) का जाप, प्रभु-पूजा, तर्पण-होम आदि का अनुष्ठान, विप्रों को जिमाना तथा दान देना कर्मकांड से सम्बन्ध रखते हैं। सबका प्रिय और हितकारी बनना, पर-वैभव से प्रसन्न और पर-विपत्ति से दुखी होना, विप्र तथा गौ के लिए संकट सहना, नीति-निपुण[1] बनकर मर्यादा-मार्ग पर चलना सामाजिक लक्षण हैं। श्रवणों से रामकथा का श्रवण, आँखों से प्रभु-रूप-दर्शन की अभिलाषा, जिह्वा द्वारा भगवान् के गुणों का कीर्तन भक्ति के बाह्य प्रकारों से सम्बद्ध हैं। सब साधनों का एकमात्र फल राम-चरण-अनुराग को मानना, स्वर्ग-नरक-अपवर्ग सर्वत्र धनुर्धर राम के दर्शन करना, भक्तिपरक तन्मयता के अन्तर्गत आते हैं और एकमात्र राम का आश्रय, मन, वचन, कर्म से प्रभु की सेवा करना, जाग्रत, स्वप्नादि सभी अवस्थाओं में एक प्रभु की शरण ग्रहण करना, राम के अतिरिक्त अन्य किसी की भी शरण में न जाना, राम को ही अपना स्वामी, सखा, पिता, माता तथा गुरु समझना अनन्य भक्ति के सूचक लक्षण हैं।

ऊपर उद्धृत मानस की चौपाइयों के आधार पर भक्त के लक्षणों का जो क्रमबद्ध वर्णन उपस्थित किया गया है, वह तुलसी द्वारा वर्णित क्रम के अनुसार नहीं है। वहाँ किसी क्रम पर ध्यान केन्द्रित हो सका है, यह कहना भी कठिन है; वरन् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जो कुछ शुभ

---

१. कोटि विघ्न तें सन्त कर मन जिमि नीति न त्याग। लंका० ५२

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रस जीति॥ दोहावली ८६

सामने आता गया, उसी को तुलसी ने चौपाइयों में आबद्ध कर दिया है। इसी हेतु वहाँ क्रम का अभाव ही नहीं, कुछ बातों की पुनरावृत्ति भी हो गई है। अरण्यकांड, दोहा ७८ और ७९ में जो सन्तों के लक्षण लिखे गये हैं, वे उपर्युक्त भक्त-लक्षणों से समता रखते हैं। कुछ बातें सन्तों में भक्तों से अधिक हैं। भक्त में भक्ति-पक्ष प्रधान होता है, और उसमें हृदय की रागात्मिका वृत्ति विशेष रूप से क्रियाशील रहती है। सन्त भी भक्त होता है, परन्तु उसका जीवन-क्रम रागात्मिका वृत्ति के साथ बोधवृत्ति को भी अपनाता हुआ चलता है। गोस्वामी जी के शब्दों में :

षटविकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर भगति पथ परम प्रवीना॥
गुनागार संसार दुख रहित विगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन कहुं देह न गेह॥ अरण्य० ७८
निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मइत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥ ७९

आगामी छन्द में गोस्वामी जी ने स्वयं ही इन लक्षणों को 'भगत गुन' कह दिया है। उत्तरकांड, दोहा ६० और ६१ में भी इन्हीं के समान सन्त-लक्षण वर्णित हुए हैं।

ऊपर वर्णित भक्त-लक्षणों से इन सन्त-लक्षणों की तुलना करने पर जो प्रमुख अन्तर दिखाई देता है, वह अमित एवं यथार्थ बोध और विज्ञान का है। तुलसी का सन्त कवि है, कोविद और योगी है, उसमें वैराग्य की षट् सम्पत्ति, षट् विकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) पर विजय, पवित्रता, अकिंचनता, भक्ति-पथ की प्रवीणता, एक मात्र भगवान् का आश्रय, समता, नीतिमत्ता, सरलता, सबसे प्रेम, गुरु-गोविन्द-विप्र के चरणों में प्रणत

होना, कुमार्ग पर भूलकर भी पर न रखना, भगवल्लीला का श्रवण और गान, फलाकांक्षा-रहित होकर परोपकार में निरत रहना इत्यादि वैसे ही शीलगत, समाजगत तथा भक्तिपरक लक्षण हैं, जिनका उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है। अनुष्ठानमूलक लक्षण इस सूची में अवश्य नहीं आते।

भक्त की महत्ता : ऐसे भक्तों के लिए गृह और वन एक जैसे हैं। तुलसी लिखते हैं :

परहित रत सिय राम पद भक्ति सदा सतसंग।
सहज विराग उदार जे का वन का गृह रंग॥
जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम के का वन बसहिं कि गेह॥ दोहावली ६१

जो भक्त सीता-राम के चरणों में अनुराग रखता है, परहित में निरत है, सदैव सन्तों के सहवास में रहता है, स्वभाव ही से विरागी है, उदार है, विषय-वासनाओं की ओर से पराङ्मुख है, वह राम का प्यारा भक्त चाहे वन में रहे और चाहे गृहस्थाश्रम में, दोनों दशायें उसके लिये समान है। वैष्णवों का वैखानस सम्प्रदाय तपःप्रधान था। पीछे हम उसकी तपश्चर्या का उल्लेख कर चुके हैं। पांचरात्र सम्प्रदाय भक्ति को प्रमुख स्थान देता है। ये दोनों विशेषताएँ आगे चलकर एक में मिल गई। प्रधानता घर और वन की नहीं, तपोमय भक्ति-प्रधान जीवन की हो गई।

तुलसी ने इन भक्तों का मुक्त कंठ से यशोगान किया है। समाज में ये भक्त दूर से पहिचाने जा सकते हैं। इनके हृदय में सीता और राम, शरीर उनके प्रेम से पुलकायमान, जिह्वा पर रामनाम का जाप और नेत्रों में प्रेमाश्रु निवास करते हैं[1]। काम क्रोधादि से पृथक् रहकर ये भक्त समस्त संसार को राममय अनुभव करते हैं और परिणामतः किसी से विरोध नहीं करते[2]। जैसे मछली अगाध जल में सुखी रहती है, उसी प्रकार ये धर्मशील हरिभक्त सुख-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे भक्तों के प्रति जो अपराध करता है, वह राम के क्रोधानल में भस्म हो जाता है। भक्त से द्रोह करके कोई बच

१. पुलक गात हियसिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥ अयो० ३२७

२. उमा जे राम चरनरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥ उत्तर० १८९

नहीं सकता, क्योंकि प्रभु भक्तों की रक्षा करने में सदैव दत्तचित्त रहते हैं, यह उनका प्रण है। वे भक्त की भूल को ध्यान में नहीं लाते, पर उसकी हृद्गत प्रेम-भावना का सदैव स्मरण किया करते हैं[1]। इस सम्बन्ध में हनुमान का उदाहरण देते हुए महादेव पार्वती से कहते हैं :

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥

गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई॥ उत्तर० ७३

नीच प्राणी भी यदि भक्ति-सम्पन्न है, तो वह प्रभु को प्राणों से भी अधिक प्यारा लगता है।[2] भक्त अकिंचनता तथा दैन्य का अनुभव करता है, इसी कारण वह प्रभु का प्यारा बनता है।[3] जो प्रभु के प्यारे हैं, जिन्हें राम अपना समझते हैं, ऐसे पुण्यवान् व्यक्ति संसार में बहुत थोड़े हैं।[4] राम सदैव अपने भक्त की रुचि रखते हैं: 'राम सदा सेवक रुचि राखी' अयो० २२०। वे भक्त की भक्ति के वशीभूत हो जाते हैं: 'रघुपति भगत-भगति-बस अहहीं' अयो० २६६। गीता ७।१६ के समान तुलसी ने भी बालकांड, दोहा ३८ में चार प्रकार के भक्त माने हैं : आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। तुलसी की सम्मति में चारों प्रकार के भक्त पुण्यात्मा, पापहीन और उदार होते हैं। चारों को नाम का आधार रहता है, पर ज्ञानी भक्त प्रभु को सबसे अधिक प्रिय है। निर्गुण का उपासक ज्ञानी मोक्ष पाता है, पर सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते। राम उनको अपनी भक्ति देते हैं।[5]

---

१. जो अपराध भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥ अयो० २१९
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की॥ बाल० ४६

२. भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥ उत्तर० १३१
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं॥ अयो० २८६

३. तेहि ते कहहिं सन्त स्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥ बाल० १९०
सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥ उत्तर० ३५
गिरिजा रघुपति कै यह रीती। सन्तत करहिं प्रनत पर प्रीती॥ लंका० ६
यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई॥ वि० प० १६५
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवहु सो श्री भगवाना॥ बाल० २१८
सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी॥ लंका० १०

४. तिन्ह सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिनहिं राम जानत करि मोरे॥ अयो० २७५
राम कीन्ह आपुन जब ही तें। भयेउँ भुवन भूषन तबही तें॥ अयो० १९७

५. सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥ लंका० १३८

जन कहुं कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहुं जनि भोरे॥ अरण्य० ७१
ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे भगवान् अपने भक्त को नहीं दे सकते?

सुनु मुनि तोहि कहौं सह रोसा। भजहिं जे मोहि तजि आन भरोसा॥
करौं सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥ अरण्य० ७६

जो सबका भरोसा छोड़कर एक भगवान् का भजन करते हैं, भगवान् उनकी वैसे ही रक्षा करते हैं, जैसे माता बच्चे की रक्षा करती है।

बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही॥
सुन्दर० ३२

मन, वचन और शरीर से जिसकी गति एकमात्र प्रभु हैं, उसे स्वप्न में भी विपत्ति आवृत नहीं कर सकती।

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥ सुंदर० ३२

भक्त जब प्रभु का स्मरण और भजन नहीं कर पाता, तभी वह अपने को विपत्ति से घिरा हुआ पाता है। भक्त यदि किसी कार्य में सफलता पाता भी है, तो उसे प्रभु के प्रताप का ही प्रसाद समझता है।[1] सामाजिक एवं व्यावहारिक क्षेत्र में भक्त एवं संत की सत्ता अनायास प्रकट हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति उसके प्रति अप्रियाचरण करता है, तो उसके भी साथ भक्त भलाई एवं प्रियाचरण करता है।[2] यह तो भक्त या साधु का आचरण हुआ, परन्तु जो साधु की अवज्ञा करता है, वह अपने समस्त कल्याण-कर्मों से हाथ धो बैठता है।[3] भक्त के लिए निष्कपट होना परम आवश्यक है। तुलसी लिखते हैं:

'निरमल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'
सुन्दर० ४४

छल-छिद्रों से रहित मन ही निर्मल होता है। ऐसे निर्मल, धर्मशील भक्तों के पास सुख-सम्पत्ति बिना बुलाए ही आती है।[4] राम विभीषण से अपने

१. सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछु मोरी प्रभुताई॥ सुन्दर० ३४
२. उमा सन्त कै इहै बड़ाई। मन्द करत जो करै भलाई॥ सुन्दर० ४१
३. साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥ सुन्दर० ४४
४. जिमि सरिता सागर महुं जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख सम्पति बिनहिं बुलाए। धरमसील पहिं जाहिं सुभाए॥ बाल० ३२७

स्वभाव की बात कहते हुए भक्त की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार करते हैं :

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि सम्भु गिरिजाऊ ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना ॥
जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बांध बटि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे ॥

सुन्दरकांड, ५०

जो मानव माता, पिता, बन्धु, पत्नी, पुत्र, शरीर, धन, सुहृद, परिवार आदि सबकी ममता को छोड़कर मेरे चरणों में अपना मन लगा देता है, जो इच्छारहित, हर्ष, शोक, भय आदि से पराङ्मुख और समदर्शी है, वह चर एवं अचर सबसे द्रोह करके भी यदि भयभीत होकर मेरी शरण में आ जाता है, तो वह मेरे हृदय में वैसे ही बस जाता है, जैसे लोभी के हृदय में धन। भगवान् की प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सबसे अधिक भक्त पर ही आकर केन्द्रित होती है। तुलसी लिखते हैं :

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबतें अधिक मनुज मोहि भाए ॥
तिन महं द्विज, द्विज महं स्रुतिधारी। तिन महं निगम धरम अनुसारी ॥
तिन महं प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुं तें अति प्रिय बिग्यानी ॥
तिन्हतें पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥
पुनि-पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥

उत्तर० १३१

कागभुशुण्डि के प्रति कहे गए राम के ये वचन अनन्य भक्त की प्रभुप्रियता प्रकट करने के लिए पर्याप्त हैं। ऐसा ही भक्त प्रभु के हृदय में स्थान पाता है।

मानव-जीवन की सार्थकता :

आकर चार लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥
कबहुंक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

नर तनु भव वारिधि कहुं बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सद्‌गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥ (उत्तर० ६७)

नम, तमरज, रजसत्व और सत नाम की चार आकरों में विभक्त चौरासी लाख योनियों में अविनाशी जीव भटकता रहता है। माया की प्रेरणा से यह काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के चक्र में पड़ता है। अन्त में प्रभु की कृपा से इसे मानव-शरीर मिलता है, जो संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिये नाव के समान है। इस नाव को यदि भगवत्कृपारूपी अनुकूल वायु और सद्‌गुरुरूपी कर्णधार प्राप्त हो गये, तो पार लगने में कठिनाई नहीं होती।

साधन-धाम तथा मोक्ष के द्वार मानव-शरीर को पाकर भी जो व्यक्ति संसारसमुद्र को पार करने का यत्न नहीं करता, वह एक प्रकार से आत्मघात करता है। विषय-वासनाओं में मन को लगाना मानों विषपान करना है (उ० ६७)। पारस मणि को फेंक कर काँच के टुकड़ों को हाथ में ले लेना है (उ० २०८)। काम, क्रोध, मद एवं लोभ में निरत होना दुखदायक एवं अंधकाराच्छन्न कूप में गिरना है (उ० १०६)। माया के इस वृहद् परिवार में पड़ कर कौन मोहान्ध नहीं हुआ? काम ने किसे नहीं नचाया? तृष्णा ने किसे बावला नहीं किया? क्रोध से किसका हृदय दग्ध नहीं हुआ? बड़े से बड़े ज्ञानी, तपस्वी, वीर, कवि, कोविद तथा गुणी व्यक्ति भी लोभ की विडम्बना से नहीं बच सके (उत्तर० १००)। शिव और ब्रह्मा तक इस माया से भयभीत रहते हैं, अन्य जीवों की तो बात ही क्या है (उ० १०२)? लक्ष्मी के नशे और प्रभुता के मद ने प्रायः सभी को कुटिल और बधिर बना रखा है। मृगनयनी वामाओं के कटाक्षरूपी बाणों ने सभी को विद्ध किया है और माया-व्याप्त विश्व में आतप-तापित होकर ही प्राणी आत्मानंदरूपी वृक्ष की छाया में विश्राम करने का अभिलाषी बनता है। सहस्रों मनुष्यों में धन्य है वह व्यक्ति जो धार्मिक बनने का व्रत लेता है। करोड़ों धर्मात्माओं में विरल हैं वे व्यक्ति जो विषयों से विमुख होकर वैराग्य में अनुरक्त होते हैं। करोड़ों विरक्तों में सम्यक् ज्ञान के धनी बहुत थोड़े से मानव ही हो पाते हैं। करोड़ों ज्ञानियों में जीवन्मुक्तों की संख्या अतीव स्वल्प है। जीवन्मुक्तों में भी ब्रह्मलीन विज्ञानी मिलना दुष्कर है। धार्मिक, विरक्त, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानियों में मद-माया से रहित तथा राम-भक्ति में परायण संत

भक्त अत्यन्त दुर्लभ है (उत्तर० ७८)। मानवजीवन की सार्थकता भगवद्-भक्त बनने में है। जीव का सच्चा स्वार्थ इसी में है कि वह मन, वचन, कर्म से भगवान के चरणों में स्नेह करे[1]। जो मानव शरीर पाकर राम का भजन करते हैं, वही पवित्र और सुन्दर हैं (उत्तर० १५०)। राम-विमुख होने के तुल्य कोई हानि नहीं है, क्योंकि भगवान के चरणों में अचल अनुराग रखने से ही भव-भय का विनाश हो सकता है (उ० १३८)।

मानवजीवन को सार्थक बनाने वाली भक्ति है। अन्य साधन भी जीवन का उत्कर्ष करने वाले हैं, पर उन सब का पर्यवसान भक्ति में ही होता है। इस सम्बन्ध में तुलसी ने कुल-क्रमागत संस्कारों को भी ध्यान में रखा है, पर ये संस्कार बनते और बिगड़ते रहते हैं, इसका भी उन्हें ज्ञान है। उच्च कुल में संभूत होना अच्छा है, पर संस्कारों के विकृत हो जाने से यदि उस कुल के साथ पवित्रता एवं दिव्यता का संपर्क नहीं रहा, तो उच्च कुल की उच्चता ही समाप्त हो जायगी और उसमें जन्म लेना साधक के लिये सहायक सिद्ध नहीं होगा। दूसरी ओर यदि श्वपच रामनाम का भजन करता है, तो वह भक्ति-विहीन उच्चकुलोत्पन्न व्यक्ति से निःसन्देह अच्छा माना जायगा[2]। कुल में भी माता, पिता, बन्धु, सुहृद, सदन और सम्पत्ति राम-भक्ति में यदि सहायक सिद्ध नहीं होते, तो व्यर्थ है[3]।

राम-विमुखता : मानव जब तक प्रभु से पराङ्मुख रहता है, तब तक आनन्द का भागी नहीं बन पाता[4]। परमगति की प्राप्ति उसके लिये शाल्मली के फूल में से गूदे के निकालने के समान है। हरि से विमुख व्यक्ति धर्म से प्रीति नहीं करते। धर्म से पृथक् रह कर वे मूढ़ मोह को प्राप्त होते हैं[5]। ऐसी अवस्था में यदि संपत्ति और प्रभुता भी उनके पास आ जाती हैं, तो उनका आना न आना बराबर है। जैसे कुछ सरितायें सजल स्रोत के

१. देह धरे कर यहु फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥ कि० २६

२. तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥ ३८ वै० सं०

३. जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो, राम पद करै न सहज सहाइ॥ (अयोध्या० १८६)

४. जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥ (उत्तर० ३२०)

५ पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि-विमुख न धर्म रति। अरण्य० १

अभाव में, केवल वर्षा के कारण अल्प काल के लिये अपना वैभव दिखा कर शीघ्र ही शुष्क हो जाती हैं, उसी प्रकार मोहमुग्ध मूढ़ों की सम्पत्ति और प्रभुता उनसे शीघ्र ही विदा हो जाती[1] है। और यदि रहती भी है, तो उन्हें पाप में प्रवृत्त करती है और परिणामतः त्रिविध दुःखों का पात्र बनाती है। प्रभु से विमुख ऐसे पापियों की रक्षा बड़े से बड़े शक्तिशाली त्रिदेव भी नहीं कर सकते[2]। राम से विमुख व्यक्ति के लिये सारा संसार अग्नि से भी अधिक दाहक बन जाता है[3]। बाह्य सहायता तो दूर, स्वयं उसकी पारिवारिक तथा अन्तःशक्ति भी क्षीण हो जाती है[4]। वह कामासक्त तथा मोह के वशीभूत हो प्राणियों से द्रोह करने लगता है, जिससे उसका वैभव नष्ट होता है और शान्ति तो स्वप्न में भी उसके पास नहीं फटकती[5]। तुलसी का निश्चित मत है कि चाहे मृगजल के पीने से प्यास बुझ सके, खरहे के शिर पर सींग निकल आवें, अंधकार सूर्य को नष्ट कर दे, हिम से अग्नि प्रकट हो सके, पर राम से विमुख व्यक्ति को सुख प्राप्त नहीं हो सकता[6]। संसार के पाशों में मानव तब तक आबद्ध रहेगा, जब तक वह हरिचरणों की शरण ग्रहण नहीं करता[7]।

भगवद्भक्ति कैसे प्राप्त होती है?: गोस्वामीजी की सम्मति में भक्ति-प्राप्ति का सबसे सुगम साधन सत्संग[8] है। सन्तों के सम्पर्क में आकर साधक उनकी

---

१. राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाय रही पाई बिनु पाई॥
सजल मूल जिन्ह सरितन नाहीं। बरसि गये पुनि तबहिं सुखाहीं॥ सुन्दर० २४
२. संकर सहस बिष्णु अज तोही। राखि न सकहिं राम कर द्रोही॥ सुन्दर० २४
३. सब जग तेहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता। (अरण्य० ३)
४. राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥ लं० १२९
५. ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिस्राम।
भूत द्रोहरत मोहबस राम बिमुख रत काम॥ (लं० १००)
६. तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिखाना॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥ उ० २१०
७. बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धन्त अपेल। उत्तर० २१०
८. भक्ति स्वतंत्र सकल गुन खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।
पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुण्य एक जग महं नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥
(उत्तर० ६८)

जीवन-चर्या से प्रभावित होता है। सन्त सदैव प्रभु-आश्रित रहते हैं। अतः साधक भी उनकी देखा-देखी भगवान् की ओर उन्मुख हो जाता है और उनसे प्रेम करने लगता है। पर सन्तों का साथ सहज प्राप्य नहीं है। अनेक पुण्यों के प्रताप से ही वह साधक को सुलभ हो पाता है। सबसे बड़ा पुण्यकर्म, मन, वचन तथा कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की सेवा करना है। विप्र-पद-पूजा का वास्तविक अर्थ ज्ञान की प्राप्ति है। ज्ञानधनी ब्राह्मणों की सेवा में रहने से साधक ज्ञानार्जन करता है, जिससे आँखें खुलती हैं और सत् और असत् का विवेक जाग्रत होता है। स्वाध्याय का भी यही फल है। इसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। ब्रह्म ईश्वर और ज्ञान दोनों का नाम है। अतः ब्रह्मयज्ञ में प्रभु-भक्ति और स्वाध्याय द्वारा अथवा ब्राह्मण-सेवा द्वारा ज्ञानार्जन करना दोनों का समावेश है। सन्त इन दोनों कार्यों को करते हैं। अतः सत्संग से साधक के अन्दर भक्ति-भाव उत्पन्न होता है और वेद-शास्त्रादि के श्रवण तथा रामकथा की चर्चा आदि से ज्ञान-वैराग्य-प्रबोधक सुबुद्धि का उदय भी। इसी तथ्य का उद्घाटन तुलसी ने निम्नांकित पंक्तियों में किया है :

पावन पर्वत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथासुधा मथि काढ़े भगति मधुरता जाहिं॥

(उत्तरकाण्ड २०६)

वेद और पुराण पवित्र पर्वत हैं। उनमें रामकथा, भगवच्चर्चा अनेक प्रकार की सुंदर खानें हैं। सन्त उसके मर्म को समझने वाले और उनकी सुबुद्धि ही खान को खोदने वाली कुदाली है। ज्ञान और वैराग्य सन्तों के दो नेत्र हैं। जो प्राणी भावपूर्वक, श्रद्धासहित खोज करता है, उसे सन्तों के पास सुरक्षित यह सुख की खानि भक्तिरूपी मणि प्राप्त हो जाती है। ब्रह्म समुद्र है, ज्ञान मंदराचल है और सन्त देवता हैं जो इस समुद्र को मथ कर भगवत्कथारूपी अमृत को निकालते हैं। भक्ति इस अमृत की मिठास है।

ज्ञान और वैराग्य भक्ति को दृढ़ करने के लिये भूमिका का कार्य करते हैं। शंकर ब्रह्मकुलोद्भव और ज्ञान के मूल स्रोत समझे गये हैं। वैराग्य के तो वे

सूर्य[1] ही हैं। शंकर का भजन करना मानों इन्हीं दोनों भूमिकाओं को उपलब्ध करना है। अतः जब यह कहा जाता है कि शंकर की भक्ति के बिना साधक को प्रभुभक्ति प्राप्त नहीं हो सकती,[2] तब यही समझना चाहिए कि उसे भक्ति से पूर्व ज्ञान और वैराग्य की अनिवार्य साधना करनी है।

तुलसी ने शैवोपासना को रामभक्ति में प्रमुख स्थान दिया है। रामचरित-मानस के बाल, अयोध्या, अरण्य, लंका तथा उत्तरकाण्डों के प्रारम्भिक श्लोकों में उन्होंने शिव और राम दोनों की स्तुति की है। उनका मत है :

शिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सुहाहीं॥ बा० १२८

राम के मुख से भी कहलाते हैं :

सिव द्रोही मम भक्त कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न भावै॥ लंका ५

रामभक्त को शिव-द्रोही नहीं, शिव-भक्त होना ही चाहिये। बालकाण्ड १६६ में विष्णु भगवान् नारद से कहते हैं :

कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। अस परतीति तजहु जनि भोरे॥

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥

निम्नांकित पंक्तियाँ भी इसी भाव की द्योतक हैं :

सिव सम को रघुपति व्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥

पनु करि रघुपति भगति दृढाई। को सिव सम रामहिं प्रिय भाई॥ बाल० १२८

शिव के समान भगवान् को अन्य कोई भी प्रिय नहीं है। जिस पर शिव की कृपा नहीं होती उसे भगवद्भक्ति भी प्राप्त नहीं होती। शिव-सेवा का फल ही राम के चरणों में अविरल भक्ति का होना है।[3] शिव और विष्णु की निन्दा सुनना तुलसी के मत में 'गोघात' के समान पाप है (लंकाकाण्ड ४८)।

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास॥

ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महं बास॥ लंकाकांड ५

जो शिव-द्रोही होकर राम-भक्त बनता है और राम-द्रोही होकर अपने को शिव-भक्त कहता है, वह घोर नरक में कल्पपर्यन्त पड़ा रहेगा। हमें तो

---

१. विवेकजलधौ पूर्णेन्दुमानन्ददम्। वैराग्याम्बुजभास्करम्। वन्दे ब्रह्मकुलम्। अर०१। वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्। मानस प्रा० ३। ब्रह्मकुल वल्लभम्। विनयपत्रिका १२।

२. संकर बिना नर भक्ति न पावइ मोरि। उत्तर० ४८

३. सिव सेवा के फल सुत सोई। अविरल भगति राम पद होई॥ उत्तर १७०

इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि भक्ति के बिना ज्ञान और वैराग्य थोथे हैं और ज्ञान तथा वैराग्य के अभाव में भक्ति भी व्यर्थ है।

तुलसी शंकर को अपना गुरु मानते हैं। वस्तुतः वे तुलसी के ही नहीं, विश्व भर के गुरु हैं। कहा जाता है कि व्याकरण के प्रारम्भिक सूत्र, वाङ्मय के मूलाधार अक्षर उन्हीं की डमरू-ध्वनि से निःसृत हुए हैं। ज्ञान-राशि के स्रोत होने के कारण वे सबके लिए पूज्य हैं। विप्र उन्हीं के उत्तराधिकारी हैं। भारतवर्ष में ब्राह्मण-वर्ग इसी हेतु शैवोपासना-प्रधान वर्ग है। ज्ञान और वैराग्य उसकी विशिष्ट सम्पत्ति हैं। इन्हीं दोनों साधनों की ओर संकेत तुलसी की निम्नांकित चौपाइयों में भी है :

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पन्थ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥
यहिकर फल पुनि विषय विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥ अरण्य० २८

किसी वस्तु पर विश्वास जमाने के लिए उसका ज्ञान होना परम आवश्यक है। प्रेम विश्वास के बिना नहीं होता और प्रेम के बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती। अतः भक्ति की सुदृढ़ता के लिए ज्ञान की उपादेयता निश्चित है[1]। ज्ञान की प्राप्ति के लिए तुलसी ने गुरु और वैराग्य को साधन बना दिया है[2]। एक स्थान पर उन्होंने धर्म से वैराग्य और योग से ज्ञान की सिद्धि मानी है। यह ज्ञान मुक्तिप्रदाता है[3]। विरागी का लक्षण करते हुए तुलसीदास लिखते हैं :

ज्ञानमान जहं एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।
कहिय तात सो परम विरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥ अरण्य० २७

जिसमें ज्ञान का अहंकार नहीं, जो सब में समान रूप से ब्रह्म को व्याप्त देखता है, जिसने तृण के समान सिद्धियों और तीनों गुणों को त्याग दिया है, वही परम वैराग्यवान है। तुलसी ज्ञान, विज्ञान आदि को भक्ति के अधीन और भक्ति को इनसे स्वतंत्र मानते हैं[4]। यह नारदभक्तिसूत्र के अनुसार है।

---

१. जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई। उत्तर० १३६
जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ। वि० प० २५१

२. बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु॥ उत्तर० १३६

३. धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना॥ अरण्य० २८

४. सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि अधीन ज्ञान विज्ञाना॥ अरण्य० २८

साधन-परिचय :

१. सत्संग : सत्संग और भक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों भव-ताप का शमन करने वाले हैं। सत्संग मंगल का मूल है। यदि अन्य साधन फूल हैं, तो सत्संग उनका सिद्धिरूप फल है।[1] सत्संगति गंगा की धारा है। गंगा में जो जल मिलता है, वह गंगाजल ही बन जाता है। इसी प्रकार जो सत्संग करता है, वह भी सन्त बन जाता है।[2] तुलसी ने सत्संग की महिमा अनेक बार लिखी है। सन्त-समागम के समान उन्हें कोई अन्य लाभ दिखाई नहीं देता। सन्तों को वे अनन्त भगवान के समान ही समझते हैं।[3] ज्ञान और वैराग्य दोनों की प्राप्ति सत्संग से ही सम्भव है। सत्संग से साधक के समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।[4] सन्तों का पथ मोक्ष का पथ है। वह कामियों के पथ से भिन्न है, जो बन्धन की ओर ले जाता है।[5] सन्त किसी को हानि नहीं पहुँचाते [साधु तें होइ न कारज हानी] सुन्दर० ७। उनका संसर्ग जिस सुख का उत्पादक है, उसकी तुलना स्वर्ग और अपवर्ग के सुख से भी नहीं की जा सकती। तुलसी लिखते हैं :

'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥ सुन्दर० ५
बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग। उत्तर० ८५

सत्संग में जो हरिकथा चलती है, वह ज्ञान की जनक है और मोह को दूर करती है।[6] मोह विराग का विपरीत भाव है। भगवद्भक्ति इस प्रकार इस मंगलमय सत्संग से सुलभ हो जाती है और साधु-सन्तों की कृपा से सुख-निधान हरि के दर्शन प्राप्त होते हैं। विनयपत्रिका में तुलसीदास लिखते हैं :

---

१. सतसंगति मुद मंगलमूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥ बाल० ८
२. राम कृपा तुलसी सुलभ गंग सुसंग समान।
जो जल परै जो जन मिलै कीजै आपु समान॥ दोहावली ३६३
३. जानेसु सन्त अनन्त समाना। उत्तर० १७८
संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं। विनय ५४
४. तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सतसंगा॥ उत्तर० ८५
५. सन्त पंथ अपवर्ग कर, कामी भव कर पथ॥ उत्तरकांड ५६
६. बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी॥ उत्तर० ३४

संसय समन दमन दुख सुख निधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक॥ वि. प. २०३

२. ज्ञान : ज्ञान दो प्रकार का है : शाब्दबोध और तत्त्वबोध। कोरे शाब्द बोध की निन्दा सभी साधकों ने की है। वाक्यों के ज्ञान में अत्यन्त निपुण व्यक्ति भी संसार से पार नहीं हो सकता।[1] जैसे दीपक-दीपक चिल्लाने से घर का अँधेरा दूर नहीं होता, वैसे ही कोरा वाक्यज्ञान तत्त्वबोध नहीं करा सकता। जब तक तत्त्वबोध नहीं होता, तब तक भवसागर से पार पाना अशक्य है। ज्ञान का परिणाम अद्वैत भावना है। द्वैत अज्ञान-सम्बद्ध है। द्वैत भाव ही माया के परिवार मद-क्रोधादि का जनक है[2]। अतः जब तक ज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक जीव माया के बन्धनों ही में ग्रसित रहता है। विवेक के जाग्रत होते ही मोह, भ्रम आदि भाग जाते हैं और भगवान के चरणों में अनुराग उत्पन्न होता है[3]। निम्नांकित चौपाई में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है :

विमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥ उ० २१०

जो व्यक्ति भगवद्भक्ति को छोड़ कर केवल ज्ञान के लिये श्रम करते हैं, उनकी तुलसी ने अवश्य निन्दा की है। ऐसे व्यक्तियों को वे जड़ कहते हैं, जो घर की कामधेनु को छोड़ कर दूध के लिये मदार खोजते फिरते हैं[4]। कर्णधार के बिना जलयान की जो दशा होती है, वही दशा राम के प्रेम के बिना ज्ञान की होती है। भक्तिहीन ज्ञान भगवान को प्रिय नहीं है। तुलसी लिखते हैं : 'सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। कर्णधार बिनु जिमि जलयानू॥' (अयो० २७८) ज्ञान के अभिमान में मत्त मानव भगवद्भक्ति का निरादर करते हैं। अतः वे सुर-दुर्लभ पद को प्राप्त करके भी अधःपतित होते हैं। यथा :

'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥' (उ० ३०)।

---

१. वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई॥ वि. प. १२३
२. द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अज्ञान। उत्तर० १८७
३. होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरण अनुरागा॥ अयो० ९४
४. मयेउ प्रकाश कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संशय जाहीं॥ लंका ६७०
जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥ उत्तर० १९४

तुलसीदास की सम्मति में गुरु और हरि की कृपा या करुणा के बिना विमल विवेक उत्पन्न नहीं होता और निर्मल ज्ञान के अभाव में कोई भी प्राणी संसार के इस भयंकर समुद्र को पार नहीं कर सकता। यथा :

'तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु, बिमल बिवेक न होई।
बिनु बिवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई॥' (विनय० ११५)

यह ज्ञान संसार में अत्यन्त दुर्लभ है (नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना—उत्तर० १९४)। ज्ञान की प्राप्ति में श्रवण और मनन विशेषरूप से सहायक बनते हैं। भक्ति के क्षेत्र में राम की कथा तथा उनके शील-स्वभाव का श्रवण, तदुपरान्त उसको समझना, मनन करना और अन्त में उसे हृदय में स्थान देना, अपना बना लेना भगवान की प्रसन्नता के वरण के लिये आवश्यक समझे गये हैं। यथा :

'सुनि सीतापति सील सुभाउ।
समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ॥' विनय० १००
स्वामी को सुभाउ कह्यो सो जब उर आनि है। विनय० १३५।

३. कर्म : ज्ञान के अनुकूल कर्म होना चाहिये। कर्म के अभाव में ज्ञान की सार्थकता चिन्त्य है। ज्ञान प्राप्त करके दूसरों को उपदेश देने में कुशल व्यक्ति तो यहाँ अनेक मिल सकते हैं, पर जो उसके आधार पर स्वयं आचरण करते हों, ऐसे व्यक्ति अत्यल्प[1] हैं। विश्व में कर्म ही प्रधान है। जो व्यक्ति जैसा काम करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। अपने ही भले और बुरे कर्म यहाँ यश और अपयश की सम्पत्ति के जनक हैं। सुख-दुख का प्रदाता यहाँ अपना ही कर्म है।[2] रामचरितमानस के लक्ष्मण इस कर्म के मर्म को भली भाँति पहचानते हैं। हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहना प्रमादी और आलसी प्राणियों के मन का आधार है, लक्ष्मण जैसे सतत कटिबद्ध, कार्य-तत्पर, प्राणवान व्यक्तियों का नहीं।[3]

---

१. पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जो आचरहिं ते नर न घनेरे। (लंका० १००)
२. कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥ अयो० २२०
भल अनभल निज-निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥ बाल० ११
काहु न कोई सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥ अयो० ९१
३. कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा॥ सुन्दर० ५४

कर्म और भाग्य एक-दूसरे में अनुस्यूत हैं। कर्मों का विपाक भाग्य है और भाग्य तदनुकूल कर्मों का प्रेरक है। अतः जहाँ तुलसीदास भवितव्यता अथवा विधाता-लिखित अंकों की अमिटता का उल्लेख करते हैं, वहाँ कर्म-विपाक का अर्थ ग्रहण करना चाहिये।[1] रामचरितमानस का निर्माण कर्म-पथ से विरत या उदासीन करने के लिये नहीं, कर्तव्यपरायण बनाने के लिये हुआ है। तुलसी भोगवादी नहीं, पुरुषार्थवादी हैं। उनके इष्टदेव धनुर्धर राम हैं, जो घोर से घोर आपत्तियों के बीच भी कर्म की ज्योति-शिखा प्रज्वलित रखने वाले हैं। पर, तुलसी कोरे कर्मवाद के समर्थक नहीं हैं। वे भक्ति-विहीन कर्म के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। जो कर्म भगवान् को ध्यान से हटाकर और उन्हें समर्पित किये बिना ही किये जाते हैं (हरिहिं समरपे बिनु सतकर्मा। अरण्य० ३९) वे उनकी सम्मति में व्यर्थ हैं। साधना-क्षेत्र में केवल कर्म को वे उत्थानकारक नहीं मानते। उनका निश्चित मत है:

'कर्म कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो' ॥

वि० प० २४५

छूटै मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए ॥

उत्तर० ७२

कर्मरूपी कीचड़ को उसी के द्वारा धोया नहीं जा सकता। अतः भगवद्भक्त शुभ एवं अशुभ फल देने वाले कर्मों का परित्याग कर देते हैं। तुलसी के ही शब्दों में, 'त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुर-नर-मुनि-नायक॥' उत्तर० ६४ सुर, नर, मुनि आदि सभी साधक कर्मों को बन्धन का हेतु समझकर छोड़ देते हैं और भगवान् के भजन में लीन रहते हैं।

जिस वेद की तुलसी बार-बार दुहाई देते हैं, वह उनके इस कर्म-सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। यजुर्वेद, अध्याय ४०, मन्त्र २ के अनुसार कर्म-मार्ग निरन्तर पालनीय है। उस पर सतत, अनवरत चलता हुआ प्राणी ही कर्म से अलिप्त हो सकता है। वेद की यह शिक्षा गीता के निष्काम कर्म की महत्ता के समान है। कर्म करो, पर न उसमें आसक्ति रखो और न फल

१ बालकाण्ड ७५, १२१, १५१, १८८, २०५
होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहि साखा ॥

की आकांक्षा करो, यह सिद्धान्त आर्य संस्कृति में प्रारम्भिक काल से ही मान्य रहा है। साधक असत् कर्मों के परित्याग एवं सत्कर्मों के स्वीकरण द्वारा अपनी निश्चित रूप से आध्यात्मिक उन्नति करता है। सिद्धि की उच्च भूमिका में पहुँचने पर साधक के सभी कर्म प्रभु-प्रेरित हो जाते हैं। उनके साथ कर्म करते हुए भी कोई सम्पर्क शेष नहीं रहता। अतः कर्म को कीचड़ कहना और उसे मल से मल को धोने की उपमा देना कम से कम साधना की दृष्टि से तो उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

४. तप : तपश्चर्या से दुख-दोष दग्ध होते हैं, मन की चंचलता शान्त होती है और सुख-संचारिणी शारीरिक तथा मानसिक परिस्थिति उत्पन्न होती है। प्रत्येक रचनात्मक एवं रक्षणात्मक कार्य के मूल में तप का ही हाथ रहता है। संहार भी तपोबल की अपेक्षा रखता है। निखिल सृष्टि तप के आधार पर ही स्थित है।[1] ब्राह्मण तप से ही बलवान बनता है। इस बलवती अवस्था में उसके शाप से कोई बच नहीं सकता।[2] तप के प्रभाव को छिपाकर रखना चाहिए, अन्यथा उसका फल नष्ट हो जाता है।[3] रावण और कुम्भकर्ण जैसे राक्षस भी तपस्या करके विकट शक्तिशाली बन गए थे। अतः सत्पुरुष यदि तप करेगा, तो सत के क्षेत्र में उसे अवश्य उत्कर्ष प्राप्त होगा।

५. वैराग्य : तप के साथ वैराग्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधना में तप के दोनों अंग, अभ्यास और वैराग्य, निरन्तर चलते रहते हैं। साधक माया, मोह तथा ममता से वैराग्य करता है और प्रभु से प्रेम करने के अभ्यास में संलग्न होता है। सर्वज्ञ भगवान् के अतिरिक्त प्रायः सभी जीव मिथ्या माया को सत्य मानकर जीवन-यापन करते हैं। भगवान् की यह माया अत्यन्त बलवन्त है। बड़े से बड़े ज्ञानियों तक को यह अपने जाल में फाँस लेती है। शिव और ब्रह्मा जैसे देव तक जब इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं,

---

१. तपबल रचै प्रपंच बिधाता। तप बल बिष्नु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संहारा। तप बल सेष धरै महि भारा॥ बाल० ९७
तप अधार सब सृष्टि भवानी। बालकांड १९१

२. तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिनके कोप न कोउ रखवारा॥ बाल० १९५

३. जोग जुगुति तप मन्त्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिय दुराऊ॥ बाल० १९८

तब सामान्य जीवों की तो बात ही क्या है ?[1] माया का परिवार बुद्धि से लेकर शरीर तक व्याप्त है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अहंकार इसके पुत्र हैं। साधक को इन सबके साथ युद्ध करना पड़ता है। इस युद्ध का नाम ही वैराग्य है। माया की सेना के साथ इस वैराग्यरूपी युद्ध में सफलता उसी के हाथ लगती है, जिस पर राम कृपा करते हैं।[2] इसका एकमात्र आधार यही है कि चराचर को वश में रखने वाली माया प्रभु की दासी है और उन्हीं से भय मानती है।[3] भक्ति भी जीव को माया से छुड़ाने वाली है (बाल० २३४) क्योंकि राम भक्ति के अनुकूल रहते हैं और माया इस भक्ति से डरती रहती है (उत्तर० ११६)।

काम-क्रोधादि के तमरूप कूप में पड़े हुए गृहासक्त जीव भगवान् को जानने में असमर्थ हैं।[4] माया ने उन्हें अन्धा कर रखा है। साधक ज्ञान और वैराग्य के दो नेत्रों द्वारा ही इस विकराल तम-कूप को देख पाता है। ज्ञान और वैराग्य के अभाव में तो माया का मोह उसे बुरी तरह जकड़े रहता है।[5] यही घोर यातनाओं से भरा हुआ नरक है। (काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।) सुन्दर० ३९

जैसे माया के पास सेना और सेनापति हैं, वैसे ही साधक के पास भी। लंकाकांड १०२ में तुलसी ने जिस विजयप्रद रथ का रूपक बाँधा है, उसमें शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, दम, परोपकार, क्षमा, कृपा, समता, भक्ति, वैराग्य, सन्तोष[6], दान[7], शम, यम, नियम, विप्र और गुरु की पूजा

---

१. उत्तरकांड, ८६, ८७, १०२

२. अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटै राम करहु जौ दाया॥ किष्किंधा० २४

३. जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥ बाल० २३२
सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥ उत्तरकांड १०३

४. काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥ उत्तर० १०६

५. सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके। बाल० १५७

६. बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥ उत्तर० १३८
कोउ बिस्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष बिनु। उत्तर० १३७

७. प्रगट चारि पद धर्म के कलि महँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करै कल्यान॥ उत्तर० १६५

तथा निर्मल और निश्चल मन रथ के विविध अंगों, अस्त्र-शस्त्रों, कवच तथा सारथी के रूप में वर्णित हुए हैं। वैराग्य को यहाँ ढाल[1] और भक्ति को सारथी माना गया है । साधना के इन समस्त अंगों को सैनिकों तथा युद्ध-सम्बन्धी अन्य सामग्री के रूप में वर्णित करके कवि ने भक्ति के साधनपक्ष का सुन्दर निरूपण किया है । मायारूपी शत्रु पर इन्हीं साधनों द्वारा विजय प्राप्त होती है । राम की कृपा तो प्रमुख है ही, पर वैराग्य जो विषयों की आशा को दुर्बल करता है, सुमति को बढ़ाता है और मन को नीरोग तथा स्वस्थ बनाता है, रामभक्ति तक पहुँचाने के लिये निस्सन्देह एक अमोघ साधन है[2] ।

राम का निवास जिस हृदय में होता है, उसकी विशेषताएँ लिखते हुए तुलसी ने अयोध्याकांड १३० में सुर, गुरु और द्विज की पूजा, तीर्थ-यात्रा, जप, तप, तर्पण और हवन जैसे साधनों का भी उल्लेख किया है और उन्हें भक्तों के लक्षणों के अन्तर्गत स्थान दिया है। विनयपत्रिका २०३ में निम्नांकित साधनों का वर्णन किया गया है :

१. अभिमान छोड़कर गुरुचरणों की सेवा करना, २. प्रेमभाव, ३. अद्वैत मत, ४. त्रिगुणातीत स्थिति, ५. अन्तःकरण-चतुष्टय, पंचतत्त्वों के पंच गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) तथा षड्वर्ग (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) का परित्याग, ६. सप्त-धातु-निर्मित शरीर को क्षणभंगुर समझकर परोपकार में संलग्न रहना[3], ७. प्रभु को अष्टधा प्रकृति से परे समझना, ८. आत्मज्ञान, ९. इन्द्रिय-संयम, १०. मन-दमन, ११. दान १२. जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में निरन्तर भगवद्भजन में निरत रहना, १३. चतुर्दश भुवनों में प्रभु की व्याप्ति का अनुभव, और १४. प्रेमाभक्ति में मग्न होकर हरि की आनंदमयी लीला तथा उसके रस का आस्वाद लेना।

---

१. बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि ॥ उत्तर० २०७
यहाँ भी वैराग्य ही ढाल है।

२. जानिय तब मन बिरुज गुसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई ॥ उत्तर० २१०

३. परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥ उत्तर० ६४

इन साधनों में संख्या ३-४-७ और ८ ज्ञानपरक, संख्या १, ५, ६, ९, १० और ११ कर्मपरक तथा संख्या २, १२, १३ और १४ भावपरक हैं। इन्द्रिय-संयम और मन-दमन का अन्तर्भाव तप में हो सकता है, जो कर्म की अपेक्षा रखता है। काम का विपरीत ब्रह्मचर्य है जो तप का ही एक रूप है। क्रोध से विपरीत दया है जो भाव के अन्तर्गत है। लोभ का विपरीत संतोष, मोह का विपरीत वैराग्य, मद की विपरीत नम्रता और मात्सर्य की विपरीत मैत्री है। ये सभी सद्गुण सम्पादनीय और दुर्गुण परित्याज्य हैं। इन साधनों में शरीर से लेकर बुद्धि तक प्रकृति-जन्य सभी अंगों का परित्याग,[1] आत्मज्ञान की उपलब्धि और भगवद्भजन द्वारा हरिलीला की अनुभूति का वर्णन किया गया है। विनयपत्रिका पद संख्या १७२ और २०५ में भी हरिभक्ति तक पहुँचाने वाले साधनों का वर्णन है, उन सबका समावेश ऊपर की सूची में हो गया है। इन समस्त साधनों का फल तुलसी की सम्मति में रामचरण-अनुराग है।

६. श्रद्धा-विश्वास : बालकाण्ड के प्रारम्भिक द्वितीय श्लोक में ही गोस्वामीजी ने भवानी और शंकर की वन्दना श्रद्धा और विश्वास के प्रतीकरूप में की है, जिनके बिना सिद्ध पुरुष भी स्वान्तःस्थ ईश्वर का साक्षात् नहीं कर पाते। श्रद्धा धर्म का मूल है और तीन प्रकार की है: सात्विक, राजस और तामस। भक्ति के क्षेत्र में सात्विक श्रद्धा ही फलवती होती है। उत्तरकाण्ड ९८ के ज्ञानदीपक के वर्णन में सर्वप्रथम तुलसी ने सात्विक श्रद्धा को ही उसका मूलाधार बनाया है। आगे दोहा २१० में व्याधियों से ग्रसित जीव के उद्धारार्थ उन्होंने भक्ति को संजीवनी जड़ी तथा श्रद्धा को अनुपान लिखा है। श्रद्धा के साथ सद्गुरुरूपी वैद्य के वचनों में विश्वास तो होना ही चाहिये। तुलसी लिखते हैं :

'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।

जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सोइ स्मरामहे ॥ उत्तर० ३०

विश्वास के साथ अन्य समस्त आशाओं को छोड़ कर जो भगवद्भजन करते

---

१. देह जनित विकार सब त्यागै। तब फिर निज सरूप अनुरागै॥ विनय० १५६

सभी साधकों का यही अनुभव है कि देहजनित विकारों का परित्याग किये बिना आत्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता।

हैं, वे अनायास संसार-सागर को पार कर जाते हैं। तुलसी ने नीचे लिखे दोहे में विश्वास को शान्ति और आनन्द का मूलाधार माना है:

बिनु बिस्वास भक्ति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्राम॥ उत्तर० १३८

विश्वास के बिना भक्ति नहीं होती। भक्ति के बिना भगवान् द्रवित नहीं होते और बिना भगवान् के द्रवित हुये उनकी कृपा प्राप्त नहीं होती। भगवत्कृपा से ही जीव को विश्राम, सुख, शान्ति या आनन्द उपलब्ध होता है। विश्वास प्रत्येक सिद्धि के लिये अनिवार्य साधन है। (कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा) उ० १३८

७. प्रेम : साधन सभी श्रेष्ठ हैं, पर जिस साधन से राम द्रवित होते हैं, वह प्रेम है। अन्य समस्त साधनों का फल भी रामचरणों में अविचल अनुराग का होना[1] ही है। राम न हमारी विद्या को देखते हैं न कुल को, न उनकी दृष्टि हमारी जाति पर जाती है न आचरण पर; उन्हें तो केवल भक्त का प्रेम प्रिय है। योग, जप, ज्ञान, वैराग्य आदि राम को प्राप्त नहीं करा सकते। ये साधन अवश्य हैं, परन्तु वह सोपान जिस पर चढ़ कर भगवान के दर्शन होते हैं, प्रेम[2] ही है। आचरण पर दंभ का आवरण भी डाला जा सकता है; ज्ञान माया के परिवार क्रोधादि का आखेट बन सकता है; वैराग्य अभिमान को जन्म दे सकता है; योगी सिद्धियों के झमेले में पड़ जाता है, पर प्रेम को भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिये। भक्त का एक ही धर्म है, एक ही व्रत है और एक ही नियम है। वह मन, वचन, कर्म द्वारा भगवान के पदारविन्दों में प्रेम करता[3] है। यह प्रेम ही सर्वत्र समानरूप से व्याप्त प्रभु को भक्त के समक्ष प्रकट करने वाला है।[4] सत्य स्नेह का सम्बल

---

१. जप तप व्रत मख सम दम दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥ उ० १४८

२. मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग जप ग्यान बिरागा॥ उ० ८६
रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥ (अयोध्याकाण्ड १२८)
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम मिलन अति दूर।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरपूरि॥ विनयपत्रिका २०१

३. मन बच क्रम मम भगति अमाया। उ० ६७

४. हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥ बाल० २१७

लेकर चलने वाला भक्त भगवान को अवश्य प्राप्त करता है। स्वार्थ एवं परमार्थ दोनों से रहित प्रभु-प्रेम धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नाम के चारों फलों का भी फल है[1]। योग, जप, दान, तप, व्रत, यज्ञ तथा नाना नियमादि जहाँ विफल हो जाते हैं, वहाँ निष्केवल प्रेम ही प्रभु-कृपा को सम्पादित करने में सफल होता[2] है। राम के चरणों में प्रेम करने वाला भक्त काल अथवा मृत्यु के धर्म से व्याप्त नहीं होता[3]। वह समस्त भोगों को रोगों के समान समझ कर छोड़ देता है (विनय० १२७)। जहाँ प्रेम है वहीं अहिंसा है। तुलसी ने व्यास की भाँति अहिंसा को परमधर्म कहा है और पर-निन्दा को सबसे बड़ा पाप[4]।

८ : रामकृपा : ज्ञान, विराग, श्रद्धा, विश्वास आदि गुण भगवद्भक्ति के साथ ही शोभा देते हैं। भक्ति-विरहित गुण तो वैसे ही हैं जैसे नमक के बिना विविध प्रकार के व्यञ्जन। यद्यपि इन सद्‌गुणरूपी साधनों द्वारा भक्ति सुलभ हो जाती है, पर साधनों के सम्पादन में जो कष्ट होता है, वह भगवत्कृपा से ही दूर होता है[5]। प्रभु का प्रसाद ही साधनपथ को प्रशस्त और सुगम करता है, जिस पर प्रभु-कृपा के पात्र विरले व्यक्ति ही चल पाते हैं। विशुद्ध संतों के दर्शन राम की कृपा-दृष्टि से ही संभव[6] होते हैं। मायाकृत मिथ्या भेद करोड़ों उपाय करने पर भी भगवान की कृपा के बिना दूर[7] नहीं होते। माया-मोह में ग्रसित जीव उसी की कृपा से निस्तार पाता[8] है। भक्ति-भावना भी उसी की कृपा का फल[9] है और आत्मज्ञान उसी प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है जो अन्त में परमात्मा के साथ अद्वैत स्थिति करा देता[10] है। प्रभु जिस पर अनुकूल हों, उसके लिये कुछ भी कठिन[11] नहीं है। दैहिक,

१. स्वारथ परमारथ रहित, सीता राम सनेहु।
तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत एहु॥ दोहावली ९०

२. उमा जोग जप दान तप, नाना व्रत मख नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निःकेवल प्रेम॥ लंका० १४८

३. काल धर्म नहिं व्यापहिं तेही। रघुपति प्रीति चरन अति जेही॥ उ० १६६

४. परम धरम श्रुति विदित अहिंसा। परनिन्दा सम अघ न गरीसा॥ उ० २०८

५. मम प्रसाद नहिं साधन खेदा। (उत्तर० १२९)

६. उत्तर ९८ तथा सुन्दर० ८। ७. उत्तर० ७२,१०३, ११५। ८. कि० ५।

९. कि० ९। १०. अयोध्या० १२८। ११. सुन्दर० ३४।

दैविक और भौतिक त्रिविध तापों पर वह विजय[1] प्राप्त करता है। प्रभु की कृपारूपी कालिका उसके अघरूपी असुरों को खा जाती[2] है। उसके लिये गरल अमृतमय, शत्रु मित्रमय, सिन्धु गोखुरवत्, आग्नेय दाहकता जल की शीतलता में और भारी सुमेरु पर्वत रेणु में परिणत हो जाते[3] हैं। प्रभु जिस पर कृपा करते हैं, उसे निरन्तर शुभ, कुशल और कल्याण की प्राप्ति होती रहती है। मनुष्य, मुनि और देवता उस पर प्रसन्न रहते हैं। वह गुणसागर, विनयी तथा विजयी बनता है और उसका सुयश तीनों लोकों में फैल जाता है[4]।

६. राम का आश्रय : संसार स्वप्न के समान मिथ्या है। केवल भगवान ही सत्य हैं। संसार की वस्तुयें सदैव और सर्वत्र साथ नहीं रह सकतीं। ये क्षणस्थायी हैं। अतः इनका साहाय्य ग्रहण करना थोड़े दिनों तक के लिये तो मेरी स्थिति को, स्वल्प मात्रा में, सम्हाल सकता है, परन्तु मेरी समग्र स्थिति को सम्पूर्ण मात्रा में और सदैव के लिये सम्हाले रखना इनकी शक्ति के बाहर है। यही समझ कर साधक ऐसी शक्ति की शरण में जाना चाहता है जो शाश्वत है, सर्वशक्तिमान है और कृपालु है। बाग के पौधे सींचने पर भी कुम्हलाते रहते हैं, परन्तु राम के आश्रय में पर्वतीय पौधे सदैव हरे-भरे बने रहते हैं[5]। प्रभु के करुणा-वरुणालय स्वभाव को समझकर साधक, इसी हेतु, सदैव उन्हीं के आश्रय में रहना चाहता है। प्रभु मेरे स्वामी हैं, मैं उनका सेवक हूँ; वे आश्रयप्रदाता हैं, मैं आश्रित हूँ; वे दाता हैं, मैं दीन भिक्षुक हूँ; वे स्वतंत्र हैं, मैं प्रकृति के पाशों में जकड़ा हूँ; प्रभु कोमल हैं, मैं कठोर हूँ; वे ही मेरी मोह-शृंखला को तोड़[6] सकते हैं—इस प्रकार की अनुभूति में मग्न भक्त सदैव अपने राम का पल्ला पकड़े रहता है। वह उन्हें छोड़ कर अन्यत्र कहीं

---

१. सुन्दर० ४९। २. विनय० १२८। ३. सु० ६

४. जामवंत कह सुनु रघुराया। जापर नाथ करहु तुम दाया॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुरनर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥
सोइ विजयी विनयी गुनसागर। तासु सुजस त्रयलोक उजागर॥ सुन्दर० ३१

५. तुलसी बिरवा बाग को सींचत हू कुम्हिलाय। राम भरोसे जो रहै पर्वत पर हरियाय॥

६. सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि दृढ़ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे॥ विनय० ११४

भी नहीं जाना चाहता। वह राम को ही अपना जनक, जननी, गुरु, बन्धु, सुहृद, पति तथा हितकारी समझता है[1]। लौकिक माता-पिता का सम्बन्ध तो मिथ्या टाँकों से टँका है। रही देवों की बात, सो वे भी स्वार्थी हैं और मोल लेकर दूसरों के हाथ बेच देने वाले हैं। फिर उसी का आश्रय क्यों न ग्रहण करें, जो समस्त आश्रयों का आश्रय है, जिससे बढ़ कर यहाँ अन्य कोई भी अवलम्बन[2] नहीं है।

इन साधनों से सम्पन्न भक्त जहाँ भी रहेगा, वहाँ एक योजन तक अविद्या व्याप्त नहीं हो सकेगी। काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव से उत्पन्न दुःख भी उस भक्त को दुखी नहीं कर सकेंगे। हरिप्रसाद से उसकी सभी मनःकामनायें पूर्ण होती रहेंगी[3]। पर इस साधनपथ पर वही पैर रखता है, जिस पर भगवान की अत्यन्त कृपा होती[4] है।

भक्ति के प्रकार :

भावभक्ति : भक्ति साधन तथा साध्य द्विविध रूप वाली है। ज्ञान, वैराग्यादि साधनों द्वारा यह साध्य[5] बनती है और भगवत्प्राप्ति के लिये यह अन्तिम साधनरूप[6] है। इन दो रूपों के अतिरिक्त भक्ति का एक तीसरा रूप भी है, जिसमें भक्ति स्वयमेव साधन तथा साध्यरूपा है। भक्ति भक्ति के लिये—यह सिद्धान्त भी तुलसी को मान्य है। मोक्षसुख की निरन्तरता हरिभक्ति

---

१. जनक जननि गुरु बन्धु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। विनय० ११३
तुलसिदास कासों कहै तुमही सब मेरे प्रभु गुरु-मात पितै हो॥ विनय० २७०

२. विनय० १५१, १६३, २१६, २७७॥ कविता० उत्तर० १२

३. तेहि आस्रम तुम बसब पुनि सुमिरत श्री भगवंत।
ब्यापिहि तहँ न अविद्या जोजन एक प्रजंत॥ उत्तर० १९१
काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुःख तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥ उत्तर० १९२

४. अति हरि कृपा जासु पर होई। पाँउ देहि येहि मारग सोई॥ (उत्तर० २२१)

५. जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥ उ० २१८

६. राम भजत सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥ उ० २०४

द्वारा साध्य होती है। भगवद्भजन के बिना मोक्ष द्वारा प्राप्त सुख अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। ऐसा विचार करके भगवद्भक्त मुक्ति का भी तिरस्कार करके भक्ति-भाव में ही लीन रहना चाहते हैं। भगवान को भी ऐसे ही भक्त प्रिय हैं, जो निष्कपटरूप से भक्ति-भावपूर्वक उनका भजन करते[1] हैं। राम जब भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे तो उनकी भाव-भक्ति देख कर आनन्द से तृप्त हो गये[2]। तुलसीदास की सम्मति में,

'भाववश्य भगवान सुखनिधान करुणा भवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीतारमन।' उत्तर० १४३

सुख-निधान, करुणा-भवन, भगवान भाव-भक्ति के वशीभूत हैं। अतः ममत्व, मद और मान को छोड़ कर सदैव सीतारमण राम के भजन में लीन रहना चाहिये।

भाव-भक्ति ही का दूसरा नाम प्रेमाभक्ति है। प्रेमाभक्तिरूपी जल ही साधक के आभ्यंतर मल को धो सकता[3] है। श्रुति के आधार पर संतों ने जिस कर्मकाण्ड का विधान किया है, वह तो स्वयं मलरूप है। मल से मल का धोया जाना असंभव है। इसीलिये वेदादि शास्त्रों के श्रवण और मनन तथा जप-तप, नियम-योग, कर्तव्यपरायणता, ज्ञान, दया, दम, तीर्थ-स्नान आदि का सुन्दर सुखद परिणाम प्रेमाभक्ति ही होना चाहिये।[4]

प्रेमाभक्ति का धनी भक्त ही सर्वज्ञ है, गुणज्ञ है, पृथ्वी का भूषण है, पंडित है, दानी है, धर्मनिष्ठ और कुल-रक्षक है। वही नीति-निपुण है, चतुर है, वैदिक सिद्धान्तों का मर्मज्ञ है, कवि है, कोविद है और रणधीर है। वह कुल धन्य है जिसमें ऐसा जगत्पूज्य, पवित्र, विनयशील, रामभक्ति-परायण भक्त उत्पन्न होता[5] है।

प्रेमाभक्ति सुलभ है। इसका मार्ग सुखद[6] है। इसमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है। न इसमें योग करना पड़ता है, न यज्ञ, न जप-तप और न

---

१. भगति भाव भजि कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ। उत्तर० १३२
२. सुनि मुनि बचन राम मुसकाने। भाव भगति आनंद अघाने॥ अयो० १०९
३. रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै। विनयपत्रिका ८१
४. उ० ७२। ५. उ० २१९। ६. सुलभ सुखद मारग यह भाई। उ० ६८।

उपवास। आवश्यकता है केवल सरल स्वभाव की, कुटिलता-रहित मन की और जो मिले उसी में सन्तुष्ट रहने की। वैर-विग्रह-आशा-त्रास से रहित, समस्त दिशाओं में सुख का अनुभव करने वाला, सर्वारम्भपरित्यागी, अनिकेत, अमानी, अनघ, अरोष, विज्ञानवान, सत्संगी, स्वर्ग और अपवर्ग के विषयों को तृणवत् समझने वाला, भक्तिपक्ष का आग्रही, दुष्ट तर्क से दूर, ममता-मद-मोह से शून्य तथा भगवन्नाम-गुण-ग्राम में निरत भक्त जिस परानंद-संदोह का अनुभव करता है, उसे उसके अतिरिक्त और कौन जान सकता[1] है ?

तुलसी का हृदय इसी प्रेमा या भावपरक भक्ति पर मुग्ध है। प्रेम के दो पक्ष हैं : या तो प्रभु मुझसे प्रेम करें या मैं प्रभु से प्रेम[2] करूँ। दूसरा पक्ष ही भक्त के हाथ में है और वही सुगम है। प्रथम पक्ष के लिये तो न जाने कितने पुण्य कर्मों का संग्रह करना पड़ेगा ? ममता को हटा देना कठिन है, पर उसे राम के साथ सम्बद्ध कर देना सरल[3] है। राम मेरे हैं, मैं राम का हूँ, यह विश्वास ही तुलसी की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। वे जन्म-जन्मान्तरों तक इसी विश्वास में जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। उनकी आकांक्षा एक ही है— भगवान् राम के चरणों में अटल अनुराग रखना[4]। इस अनुराग का अनुराग के अतिरिक्त वे और कोई फल नहीं चाहते[5]। इस प्रेम को उन्होंने सेवक-सेव्य-भाव का रूप दिया है और लिखा है : 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥' (उत्तर० २०४)

लोक में प्रेम के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। भक्तिमार्ग के आचार्यों ने उन सब को अपनाया है और अपनी-अपनी भाव-वृत्ति के अनुकूल उनमें विशिष्टता भी स्थापित की है। किसी की रुचि दाम्पत्य प्रेम की ओर गई है, किसी की वात्सल्य स्नेह की ओर, तो किसी की सख्यभाव की ओर। तुलसी दास्य भाव को स्वीकार करते हैं। उन्हें उसी में कल्याण दिखाई देता है।

तुलसी ने भगवान् की बालरूप में उपासना करने का भी वर्णन किया है। इस वात्सल्य स्नेह की अभिव्यक्ति वे शिव, लोमश, काकभुशुण्डि तथा मनु-शतरूपा के मुख द्वारा कराते हैं, जो सभी तपस्वी हैं। तुलसी के समय में इस बालरूप पूजा का विधान आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग में प्रचलित हुआ

१. उ० ६९। २. दो० ७८। ३. कै करु ममता राम सौं कै ममता परहेलु। दोहा ७९।
४. तुलसी चाहत जनम भरि राम चरन अनुराग॥ दोहावली ९१।
५. तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाइ। दोहावली ९२।

था। आचार्य वल्लभ विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे, जो रुद्र-सम्प्रदाय कहलाता है। रुद्र का अग्नि के साथ सम्बन्ध है और महाप्रभु वल्लभाचार्य अग्नि के अवतार कहे ही जाते हैं। काकभुशुण्डि कहते हैं: 'इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा वपुप कोटि सत कामा॥' (उत्तर० ११०)। यहाँ काकभुशुण्डि के रूप में तुलसी ने मानों आचार्य वल्लभ को ही उपस्थित कर दिया है। काकभुशुण्डि को राम के बालरूप की उपासना करने का विधान मुनि लोमश ने बताया था। यथा: 'बालक रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहिं मुनि कृपानिधाना॥ सुन्दर सुखद मोहि अति भावा। जो प्रथमहि मैं तुमहिं सुनावा॥' (उत्तर० ११०)। काकभुशुण्डि आगे कहते हैं: 'जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज शरीरा॥ तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसुलीला बिलोकि सुख लहऊँ॥ पुनि उर राखि राम सिसु रूपा। निज आसम आवौं खग भूपा॥' (उ० ११२)। इसी बालरूप उपासना का वर्णन महादेव ने पार्वती जी के समक्ष किया है: 'बन्दौं बाल रूप सोई रामू। सब विधि सुलभ जपत जिसु नामू॥ मगल भवन असंगल हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी॥' (बाल० ११६)।

मनु भी अपनी तपस्या के फलस्वरूप भगवान् से यह वरदान माँगते हैं:

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥
जो भुसुण्डि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥ (बाल० १७४)
सुत बिषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥ (बाल० १७९)

तुलसी ने यहाँ 'बड़ मूढ़' शब्दों का प्रयोग किस प्रयोजन से किया है? क्या भगवान् की बालरूप में उपासना करना मूर्खता का कार्य है? यदि ऐसा है तो दाम्पत्य अथवा सख्य भाव की उपासना और भी अधिक मूर्खता-पूर्ण कही जायगी! शतरूपा के प्रति मनु का यह कथन कहीं ध्वनि द्वारा बालकृष्ण के उपासक पुष्टिमार्गवालों पर तो मूढ़ता का दोषारोपण नहीं कर रहा है? पुष्टिमार्गीय आचार्यों अथवा कवियों ने तो कहीं भी तुलसी की सेवक-सेव्य-भावना पर ऐसा व्यंग्य नहीं किया। वे माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सुदृढ स्नेह की पराकाष्ठा को सदैव स्वीकार करते रहे हैं। पर तुलसी जैसे साधक को ऐसे आरोपों से पृथक् ही रखना चाहिये। उन पर पुष्टिमार्गीय भक्ति पद्धति का प्रभाव भी पड़ा है, ऐसा रामचरितमानस से ही सिद्ध है।

अनन्यता : तुलसी का साधक राम की अनन्य भक्ति का आकांक्षी है। उसके स्वामी राम हैं। राम के स्थान पर वह किसी अन्य देव को प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। कलियुग में सतयुग का योग-विज्ञान, त्रेता के यज्ञ और द्वापर के पूजा-विधान कृतकार्य नहीं होंगे। इसमें तो भव-संतरण का आधार एक ही है—राम का निश्छल, विश्वासपूर्वक भजन[1]। सूर्य की पीठ की ओर से और अग्नि की छाती की ओर से सेवा करनी चाहिये, पर स्वामी की सेवा सभी भाँति छल छोड़ कर करनी चाहिये।[2]

अनन्य गति वाला सेवक ही राम को प्रिय है, यद्यपि वे समदर्शी हैं। जो साधक अपने को सेवक और चर-अचर-जगतरूप भगवान् को अपना स्वामी समझता है, जिसकी बुद्धि इस पथ से कभी विचलित नहीं होती, वही भगवान् का अनन्य भक्त[3] है।

अगस्त्य मुनि का शिष्य सुतीक्ष्ण भगवान् का ऐसा ही अनन्य भक्त था। उसका विश्वास था कि : 'नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ चरन कमल अनुरागा॥ एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥' (अरण्य० १९)। योग, यज्ञ, सत्संग आदि कुछ भी न हो, पर जो अन्य सब की शरण छोड़ कर एक राम की शरण ग्रहण करता है, वह उस करुणानिधान का उनकी आदत के अनुकूल अवश्य प्रिय बनेगा।

दोहावली के चातकसम्बन्धी ३४ दोहे (चातकचौंतीसी) अनन्य भक्ति के अनन्य उदाहरण हैं। तुलसी लिखते हैं :

तीनि लोक तिहुंकाल जस, चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥
उपल बरसि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुं दूसरी ओर॥ २८३
जीव चराचर जहं लगें, है सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो, घन सों सहजसनेह॥ २९४.

---

१. कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना। उ० १६४
२. मातु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहिं सर्व भाव छल त्यागी। कि० २६
३. समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।
सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ कि० ५३

वध्यो वधिक पर्‌यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुं लगी न खोंच॥
एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥ २७७

धन्य है चातक! त्रिलोक और त्रिकाल में एक मात्र तूही यशस्वी है, क्योंकि तेरे दैन्य को मेघ के अतिरिक्त कोई अन्य स्वामी नहीं सुनता। मेघ की ओर से चाहे भर्त्सना हो, चाहे ओले गिरें, चाहे वज्रपात हो, परन्तु चातक समग्र आपत्तियों को सहन करता हुआ भी किसी अन्य की ओर दृष्टि नहीं ले जाता। चातक के मन में घन के लिये जो स्वाभाविक स्नेह रहता है, वह सम्भवतः इसलिये कि उसका स्वामी मेघ बड़ा उदार है। वह चराचर का हितकारी है। बधिक ने चातक को मार डाला, चातक औंधे-मुँह गंगा के जल में गिरा, परन्तु तुरन्त ही उसने अपनी चोंच उलट कर ऊपर की ओर कर ली। इस प्रकार मरने के समय भी उसने अपने प्रेम-पट में दाग न लगने दिया। इसी चातक की भाँति तुलसी को भी अपने एक ही राम-घनस्याम का भरोसा है, उसी का बल है, उसी से आशा और उसी का विश्वास है। मीन[1] और मृग[2] के उदाहरण भी तुलसी ने दिये हैं और उनके अनन्य प्रेम की भी उन्होंने प्रभूत प्रशंसा की है।

विनयपत्रिका में भी : 'तुलसी चातक आस राम स्याम घन की।' ७५
'तुलसिदास कासों कहै तुमही सब मेरो प्रभु गुरु मातु पितै हौ।' २७०
'भरोसो जाहि दूसरो सो करौ।
मोकों तौ राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो।' २२६
नाहिंनै नाथ अवलम्ब मोहिं आन की।
करम मन बचन पन सत्य करुनानिधे एक गति राम भवदीय पद त्रान की।२०१
आदि पदों के अन्तर्गत तुलसी ने अनन्य भक्ति का वर्णन किया है।

---

१. राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ (उत्तर० १८६)
सीतापति भक्ति सुरसरि नीर मीनता। विनय० २६२

२. आपु व्याध को रूप धरि कुहौ कुरंगहि राग।
तुलसी जौ मृग मन मुरै परै प्रेम पट दाग॥ दोहावली ३१४

प्रेम का सातत्य : दोहावली में प्रेम का सातत्य इस प्रकार प्रकट किया गया है :

चातक तुलसी के मते स्वातिहुँ पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटे घटैगी आनि॥ २७९
तुलसी के मत चातकहि केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जानि जग जाँचत बारह मास॥ ३०८

तुलसीदास की सम्मति में चातक स्वाति नक्षत्र में भी जल नहीं पीता। उसे प्रेमपिपासा का बढ़ते रहना ही भला प्रतीत होता है। जल पी लेने पर तो वह घट जायगी। चातक जल का नहीं, प्रेम का पिपासु है। संसार समझता है कि वह स्वाति नक्षत्र के जल को पीता है, पर वस्तुतः वह बारहों महीने उसी की याचना में लीन रहता है।

चातक ऐसा प्रेमी है, जो अपने प्रिय का नाम रटते-रटते कृशकाय बन जाता है, प्रिय के विरह में जिसके समस्त अंग सूख जाते हैं, पर उसके प्रेम का रंग नित्य नवीन और उसकी प्रेम रुचि सतत अभिनवरूप धारण करती रहती[1] है। प्रेम निरन्तर बना रहे, इसके लिये प्रेमी के समक्ष प्रिय का रूप सदैव उपस्थित रहना चाहिये। इसी स्थिति में प्रेम का उत्कर्ष होता है। यदि क्षण भर के लिये भी साधक साध्य को विस्मृत कर बैठा, तो वह अधःपतित हो जायगा। मोर के पंख जो नृत्यकला की नाना भंगियों का प्रदर्शन करते हुये ऊपर को उठे रहते हैं, और सब को सुहावने प्रतीत होते हैं, उसका कारण मयूर-चक्षुओं के सामने सघन घन-घटा की विद्यमानता है। जब मेघ तिरोहित हो जाता है, तो मयूर के पंख भी नीचे गिर जाते[2] हैं। प्रेम के लिये यह परिस्थिति परितापमयी है। अतः प्रिय प्रेमी के समक्ष, दायें, बायें, आगे, पीछे, अन्दर, बाहर सर्वत्र विद्यमान रहे, उसके रोम-रोम में बसा[3] रहे, तभी प्रेम का

१. रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥ दोहा० २८०

२. उरवी परि कलहीन होइ ऊपर कला प्रधान।
तुलसी देखु कलाप गति साधन घन पहिचान॥ दोहा० ५२५

३. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ मुण्डक २।२।११

पुष्प खिल-खिल कर अपने सौरभ से समग्र संसार को सुवासित कर सकेगा और अपनी प्रतिष्ठा फैला सकेगा।

प्रेम के सातत्य के साथ चिर-विरह की प्रतिष्ठा भी हिन्दी साहित्य में हुई है। मयूर के उदाहरण को छोड़ कर ऊपर उद्धृत चातक के उदाहरण पर विचार करें, तो वहाँ चातक का चिर-अतृप्त बने रहना उसकी चिर-विरहानुभूति का ही अभिव्यञ्जक है। इस दशा में प्रेमी अपने प्रिय के निरन्तर ध्यान और स्मरण में ही अपना जीवन व्यतीत करता है। तृप्त हो जाने में यह बात कहाँ? अतः अतृप्त बने रहना, चिरन्तन विरह का अनुभव करते रहना, प्रेमी के प्रेम को स्थिरता देने के लिये अतीव आवश्यक है। चिर विरह की यह भावना हिन्दी साहित्य के भक्त कवियों की अनुपम देन है।

नवधा भक्ति : अरण्यकाण्ड में राम शबरी से कहते हैं :

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता॥
भगतिहीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥
नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करै कपट तजि गान॥ ६३
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजनु सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सातवं सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवं जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखै पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥
नव महुं एकहु जिनके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। ...६४

भगवान् एक भक्ति का नाता मानने वाले हैं। तुलसी ने स्वयं भी दोहावली में किसी से अपना नाता राम के नाते तथा किसी से प्रेम राम के प्रेम के कारण ही स्वीकार किया[1] है। भक्ति-विहीन नर बिना जल वाले बादल के समान है। नवधा भक्ति में १ संतों का संसर्ग, २ हरिकथा में अनुराग, ३ गुरुसेवा,

१. नातो नाते राम के, राम सनेह सनेह। दोहा० ८९

४ हरिगुणगान, ५ दृढ़ विश्वासपूर्वक राम नाम का जाप, ६ सज्जनों के धर्म में निरंतर निरत रहना अर्थात् दम, शील और विविध प्रकार के कर्मों से वैराग्य, ७ संसार को राममय देखना और संतों को राम से भी अधिक समझना, ८ जो कुछ मिले उसी में संतोष करना और परदोष-दर्शन से पृथक् रहना, ९ निष्कपट होकर सबसे सरल व्यवहार करना और राम के भरोसे रह कर हृदय में हर्ष तथा दैन्य का अनुभव न करना वर्णित हुये हैं। इन नौ में से यदि एक भी किसी के पास है, तो वह भगवान् का अतिशय प्रेमपात्र है। भगवान् के दर्शनों का फल परम अनुपम है। जीव इससे अपने सहज स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, दशम सर्ग, श्लोक २२ से २७ तक इसी प्रकार की और लगभग इन्हीं शब्दों में, थोड़े से क्रमान्तर के साथ, नवविधा भक्ति का वर्णन पाया जाता है। श्लोक २७ में इसे नवविधा भक्ति कहा गया है, परन्तु श्लोक २२ में इन नव प्रकारों को भक्ति का साधन लिखा गया है। शबरी के लिये 'भामिनि' सम्बोधन दोनों ही ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है। क्रम का अन्तर इस प्रकार है: प्रथम सत्संगति ज्यों की त्यों है। दूसरा स्थान अध्यात्मरामायण में कथालाप का है, जिसे तुलसी ने 'कथाप्रसंगों' में 'अनुराग' कर दिया है। तीसरा स्थान 'गुणेरणम्' का है जिसे तुलसी ने चौथे स्थान पर 'गुन गन गान' लिखा है। चतुर्थ साधन 'भगवान् के वचनों की व्याख्या' (व्याख्यातृत्वम् मद्वचसां) है, जिसे तुलसी ने अपनी सूची में स्थान नहीं दिया, परन्तु इसके अपर अंग 'आचार्योपासन' को गुरुसेवा के रूप में तृतीय स्थान पर रखा है। पञ्चम साधन पवित्र शील, यम तथा नियमादि का है, जो तुलसी की नवधा भक्ति में छठे स्थान पर है। पुण्यशील होना सज्जनों का धर्म है तथा यम-नियमादि में दम और विरति की गणना कर ली गई है। छठा साधन प्रभुपूजा में नैस्थिक निष्ठा रखना है, जिसे तुलसी के पंचम भेद के अर्द्धांग 'दृढ़ विश्वास' द्वारा प्रकट किया जा सकता है। सप्तम साधन राम-मन्त्र की सांगउपासना है, जिसे तुलसी ने पंचम भेद के पूर्वार्द्ध 'मंत्र जाप' में सन्निहित कर दिया है। अष्टम साधन में अध्यात्मरामायणकार ने सर्वभूतों में रामबुद्धि, भक्तों की पूजा, बाह्यार्थों में विराग तथा शमादि का समावेश किया है। तुलसी ने इसके केवल प्रथम दो अंशों को भक्ति के सप्तम प्रकार में

स्थान दिया है। आठवें स्थान पर उन्होंने 'यथालाभ संतोष' और 'परदोष अदर्शन' को रखा है, जो अध्यात्मरामायण में नहीं हैं। नवम साधन तत्त्व-विचार है, जिसका एक परिणाम हर्ष तथा शोक से पृथक् हो जाना है। तुलसी के नवम भेद में इस परिणाम का समावेश है, परन्तु उन्होंने इसमें 'सब से छल-रहित व्यवहार' को भी सम्मिलित कर दिया है। यद्यपि इसे भी तत्त्व-विचार का परिणाम कहा जा सकता है, फिर भी परिणाम और कारण एक ही नहीं हैं।

तुलसी ने इसे नवधा भक्ति कहा है और अध्यात्मरामायणकार ने नवविधा भक्ति तथा भक्ति के साधन दोनों नाम दिये हैं। वस्तुतः इसमें दोनों सम्मिलित हैं। श्रीमद्भागवत में जिस नवधा भक्ति का उल्लेख है, उसके श्रवण, कीर्तन और अर्चन अध्यात्मरामायण के द्वितीय, तृतीय तथा षष्ठ प्रकारों में अन्तर्भुक्त हैं। पादसेवन को आचार्योपासन (क्योंकि आचार्य और प्रभु समान ही समझे गये हैं) तथा हरिस्मरण को प्रभु-वचन-व्याख्या एवं मन्त्रोपासना माना जा सकता है। भागवतोक्त नवधा भक्ति के अन्य भेद अध्यात्मरामायण तथा रामचरितमानस में वर्णित नवविधा भक्ति की तालिका में नहीं आते। इस तालिका के अवशिष्ट अंश साधन मात्र हैं।

भागवतोक्त नवधा भक्ति के कतिपय उदाहरण तुलसी की रचनाओं से नीचे दिये जाते हैं :

श्रवण :

सुनिय तहाँ हरि कथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन जो गाई॥
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥
जाइहि सुनत सकल सन्देहा। रामचरन होइहि अति नेहा॥ उ० ८५
रामचरित जो सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन नाहीं॥
जीवन मुक्त महा मुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरन्तर तेऊ॥
भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ताकहं दृढ़ नावा॥ उ० ७१

कीर्तन :

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भजि रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रकट कलि माहीं॥
(उत्तर १६१)

सजल नयन गद्गद गिरा, गहवर मन, पुलक शरीर।
गावत गुन गन राम के केहि की न मिटी भवभीर ॥ विनय० १९३

जप :

राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा। विनय० ६५
राम जपु राम जपु राम जपु बावरे। घोर भव नीर निधि नाम निजु नाव रे॥
विनय० ६६

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बन्धन काटहिं नर ज्ञानी ॥ सुन्दर० २१

निम्नाङ्कित अर्धाली में जप का पूर्ण रूप प्रकट हुआ है :

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। नाम जीह जपु लोचन नीरू ॥

जाप के समय शरीर पुलकित हो रहा है, हृदय में सीताराम का ध्यान है, जिह्वा से नाम का जाप चल रहा है और नेत्र प्रेमाश्रुओं से ओतप्रोत हैं। अर्धाली के प्रथम चरण में संयोग और द्वितीय चरण में वियोग की अभिव्यक्ति भी हो रही है।

स्मरण :

सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव वारिधि गोपद इव तरहीं ॥
बिवसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥ बाल० १४३
पापिहु जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं ॥ कि० ३२

श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण :

रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं। संतत सुनिय रामगुन ग्रामहिं। उ० २२२

पादसेवन :

बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किये। विनय० १३५
प्रनतपाल प्रन तोर, मोर प्रन जिअउं कमल पद देखे। विनय० ११३
साधन सिद्ध राम पद नेहू। मोहि लखि परत भरत मत येहू। अयोध्या० २९०

अर्चन :

तुमहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा ॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा ॥
तरपन होम करहिं विधि नाना। विप्र जिंमाय देहिं बहु दाना ॥ अयो० १३०

वन्दन :
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय बिसेखी॥ अयो० १३०
ते सिर कटु तूमरि सम तूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला॥ बाल० १२७
बन्दौं बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु रामू॥ बाल० १२६
जपि नाम करहिं प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहिं धरि हिये। विनय० १३५

दास्य :

अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥
तुमहिं नीक लागै रघुराई। सो मोहिं देहु दास-सुखदाई॥ अर० २२
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। उत्तर० २०४
दास्य भक्ति के सर्व श्रेष्ठ उदाहरण हनुमान् हैं। शिव पार्वती से उनके सम्बन्ध में कहते हैं :
हनूमान समान बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई॥ उ० ७३

सख्य : भक्तों की ओर से तो नहीं, पर प्रभु की ओर से यह भाव 'मानस' में अवश्य प्रकट हुआ है। यथा :
ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहं बेरे॥
मम हित लागि जनम इन हारे। भरतहु ते मोंहि अधिक पियारे॥ उ० १८

आत्म निवेदन : विनयपत्रिका के पद भक्त तुलसीदास के आत्मनिवेदन से भरे पड़े हैं। उनमें तुलसी ने अपना हृदय खोल कर प्रभु के आगे रख दिया है। आत्म-निवेदन में अपने दोषों का उद्घाटन और उन्हें हटाने के लिये प्रभु से विनय की जाती है। यथा :
(दोषोद्घाटन) :
कैसे देउं नाथहिं खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि॥
बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।
देत सिख, सिखयो न मानत, मूढता अस मोरि॥ विनय० १५८
(विनय) :
रामचन्द्र रघुनायक तुमसों हौं बिनती केहि भांति करौं।
अघ अनेक अवलोकि आपने, अनघ नाम अनुमानि डरौं॥ विनय० १४१

एकादश आसक्तियाँ

नारदभक्तिसूत्रों में जिन एकादश आसक्तियों का उल्लेख है, उनमें से गुणमाहात्म्यासक्ति ऊपर वर्णित श्रवण और कीर्तन में, पूजासक्ति अर्चन, पाद-सेवन और वन्दन में, स्मरणासक्ति स्मरण में, दास्यासक्ति दास्य में, सख्यासक्ति सख्य में और आत्मनिवेदनासक्ति आत्मनिवेदन में आ गई है। अन्य आसक्तियों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

रूपासक्ति :

देखि राम मुख पंकज, मुनिवर लोचन भृङ्ग।
सादर पान करत अति धन्य जनम सरभंग॥ अरण्य० ११

छवि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ बाल० १७६

वात्सल्यासक्ति :

कबहुं उछंग कबहुं वर पलना। मातु दुलारहि कहि प्रिय ललना॥ बाल० २३०
सुत विषयक तव पद रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥ बाल० १७९

कान्तासक्ति :

देखन मिस मृग बिहंग तरु, फिरहि बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छवि, बाढ़ै प्रीति न थोरि॥ बाल० २६७
प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मण्डल डोल॥ बाल० २५१

तन्मयतासक्ति :

देखि मनहिं मन कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा॥
कृस तनु सीस जटा एक वेनी। जपति हृदय रघुपति गुन स्रेनी॥
निज पद नयन दिये मन रामचरन महं लीन॥ सुन्दरकाण्ड ९
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं संग लागे॥
एक नयन मग छवि उर आनी। होंहिं सिथिल तन मन बर बानी॥ अयो० ११५

परमविरहासक्ति :

कबहुं कृपा करि रघुबीर मोहू चितैहो।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि अवगुन अमित बितैहो॥ विनय० २७०
मन क्रम वचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥ सु० ३२

मोर अभाग जियावत मोही। जेहि हौं हरि पद कमल बिछोही॥ लंका० १२३

शरणागतवत्सलता :

प्रभु के दिव्य महनीय गुणों में भक्त की दृष्टि से शरणागत-वत्सलता का विशेष महत्त्व है। सभी संतों की भाँति तुलसी ने भी इसका मुक्तकंठ से वर्णन किया है। राम सुग्रीव से विभीषण के आगमन पर कहते हैं :

सखा नीति तुम नीक बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥
सरनागत कहुँ जो तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पाप मय तिनहिं बिलोकत हानि॥ सुन्दरकांड ४५
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥
जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मेरे सनमुख आव कि सोई॥ सुन्दर० ४६

तुलसी ने उपर्युक्त पंक्तियों में लौकिक शरणागति तथा भक्त की शरणागति में अन्तर उपस्थित किया है। भय एवं क्लेश की अवस्था तो दोनों स्थानों पर कारण बनती है, पर लोक में पापवन्त एवं दुष्ट हृदय वाला व्यक्ति किसी बलशाली की शरण में आकर अपनी दुष्टता का परित्याग नहीं कर देता। यही क्यों, बल की शरण पाकर उसे अपनी दुष्टता के प्रदर्शन का और भी अधिक अच्छा अवसर मिल जाता है। भक्त की शरणागति इससे विपरीत है। वह पापी बन कर अथवा दुष्ट हृदय लेकर भगवान् के सम्मुख जा ही नहीं सकता। पापियों का हृदय सहज स्वभाव से ही भक्ति के प्रतीप चलता है। अतः घोर से घोर, विप्रवध जैसे महान् पातक का भागी बन कर भी जीव जब प्रभु-चरणों में प्रणत होता है, तो उसके पूर्व ही पश्चात्ताप के प्रबल पावक में पक कर उसके पाप प्रक्षीण हो जाते हैं। 'बिगरत जन्म अनेक की सुधरत पल लगै न आधु। पाहि कृपानिधि, प्रेम सौं कहे को न राम कियो साधु॥ विनय० १९३॥ और जब लोक में भी शरणागत का परित्याग पापमय पामरता तथा ग्रहण धर्म-पूर्ण कार्य समझा जाता है, तो भक्ति के क्षेत्र में तो उसका अपनाया जाना और भी अधिक समीचीन है। भगवान् की शरण में पहुँचते ही भक्त जब आर्त वाणी में प्रेमसहित 'कृपानिधे! रक्षा करो' ऐसे शब्दों का उच्चारण

करता है, तो राम उसे अपनाकर साधु बना देते हैं और शीघ्र ही उसके अनेक जन्मों की बिगड़ी बात को सुधार देते हैं।

शरणागति के छः प्रकार (प्रपत्तिमार्ग) : प्रभु की शरण जाने पर भक्त आत्महित के अनुकूल सत्कार्यों के करने का संकल्प करता है, उसके प्रतिकूल पथ के परित्याग में लीन होता है, प्रभु के गोप्तृस्वरूप का वरण और उसकी रक्षा-शक्ति में विश्वास करता है। इसके साथ ही अपने दैन्य का निवेदन करता हुआ सर्वात्मना अपने आपको प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है। मनोवैज्ञानिक रूप से शरणागति के ये छः प्रकार अतीव मूल्यवान् हैं। यहाँ इन छहों प्रकारों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

(अनुकूल का संकल्प)

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।

स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं। विनय० १०५

(प्रतिकूल का त्याग)

जानकी जीवन की बलि जैहौं।

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं॥ वि० १०४

(गोप्तृत्ववरण)

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंजहारी॥

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो,

तात मात सखा गुरु तू सब विधि हितु मेरो॥ विनय० ७९

(रक्षा का विश्वास)

सब दिन सब लायक भव गायक रघुनायक गुन ग्राम को।

बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन घाम को॥ विनय० १५५

कौन की त्रास करै तुलसी, जौ पै राखिहैं राम तौ मारिहै को रे॥

कवि० उ० ४८

(कार्पण्य)

तुम तजि हौं कासौं कहौं और को हितू मेरे।

दीन बंधु! सेवक सखा! आरत अनाथ पर सहज छोहु केहि केरे॥

विनय० २७३

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे,
काको नाम पतित पावन जग केहि अति दीन पियारे ॥ विनय० १०१
(आत्मनिक्षेप)
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया ।
निसिबासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ॥ विनय० १३८
मेरे रावरीयै गति रघुपति बलि जाउं ।
निलज नीच निर्गुन निर्धन कहं जग दूसरो न ठाकुर ठांउ ॥
कीजै दास दास तुलसी अब कृपासिन्धु, बिनु मोल बिकाउँ ॥ विनय० १५३
प्रन करि हौं हठि आजु तें रामद्वार पर्‌यौ हौं ।
'तू मेरो' यह बिन कहे उठिहौं न
जनम भरि प्रभु की सौं करि निवर्‌यौ हौं ॥ वि० २६७

तुलसी भक्त हैं और भक्ति के विकास में वे राम नाम के जाप तथा रामकृपा को ही सर्वाधिक श्रेय देते हैं। विधिविधानों में उनकी आस्था नहीं, योग-यज्ञादि को वे कलियुग के लिये उपयोगी नहीं मानते; यद्यपि यज्ञ-पद्धति को वे राक्षसों के लिये भी अमरत्व-प्रदायिनी मानते हैं। (लंका १०९)। भक्ति के बाधकों के विध्वंस और साधकों अथवा सहायकों के सम्पादन में एकमात्र रामकृपा ही समर्थ है। इसके लिये निरन्तर रामनाम का जाप चलना चाहिये। उठते बैठते, जहाँ और जैसे बने भगवान् राम का स्मरण करते रहना चाहिये। ये दो तत्त्व—रामस्मरण और भगवत्कृपा उनके समस्त साहित्य के सार हैं।

रामराम की रट, रामनाम का कीर्तन और रामनाम का स्मरण तथा चिन्तन उनके मानस का केन्द्रबिन्दु है जिस पर वे अपने मन की समस्त वृत्तियों को आश्रित कर देना चाहते हैं। मन यदि अपनी हीनता एवं दीनता के कारण इधर उधर याचक बना हुआ घूमने लगता है, तो वे तुरन्त उसके समक्ष प्रभु की महत्ता, दयालुता और दानशीलता को उपस्थित कर देते हैं। अहंभाव के जागृत होने पर यदि दैन्य और अनुहार से काम नहीं चलता,

१. सुन्दरकाण्ड दोहा ४० में विभीषण राम की महत्ता इस प्रकार व्यक्त करते हैं: राम बिना किसी कारण के स्नेह करने वाले हैं। वे गो, द्विज तथा देवों के हितकारी हैं। जन-रंजन, खल भंजन, भक्तव्यथापनोदन और वेद-धर्म रक्षण उनके स्वाभाविक कार्य हैं।

तो वे मन को भर्त्सना और त्रास देकर उसे भक्ति की ओर उन्मुख करने की चेष्टा करते हैं। कभी वे प्रभु की शरणागतवत्सलता का और आर्तरक्षणीयता का विश्वास दिला कर उसे आश्वस्त भी करते हैं। मन के न मानने पर वे प्रभु की शरण में पहुँच जाते हैं और आर्त्त प्रार्थना में निरत होते हैं। इन प्रार्थनाओं में उनका समग्र अंतः-बाह्य अभिव्यक्त हो उठता है। विगत पापों की स्मृति से परितप्त, वर्त्तमान असहायावस्था से आहत उनका मन अन्दर ही अन्दर ग्लानि से गल उठता है। यह विगलन मन के कालुष्य को धोने की अपूर्व शक्ति रखता है। भक्त का यह प्रबल एवं परम पावन सम्बल है। इस विगलन में आवेग, क्षोभ, व्याकुलता, विचारणा, पश्चात्ताप आदि कई प्रवाह सम्मिलित रहते हैं। अनेक विद्वानों ने इन्हें विनयभक्ति की आधारशिला माना है। राम-कृपा का उल्लेख साधन-परिचय के अन्तर्गत हो चुका है। यहाँ नामस्मरण तथा भक्ति की भूमिकाओं पर संक्षेपतः तुलसी के विचार प्रस्तुत किये जाते हैं :

नामस्मरण : कुछ विद्वान् गोस्वामी तुलसीदास को महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में परिगणित नहीं करते, पर पूजा के आडम्बर को छोड़ कर रामनाम का जाप और स्मरण, जिस पर तुलसी इतना बल देते हैं, उन्हीं की भक्ति-पद्धति के अनुसार है। मानस के बालकाण्ड के प्रारम्भिक अंश राम-नाम की महत्ता से भरे पड़े हैं। अन्यत्र भी जहाँ कहां तुलसी को अवसर मिलता है, वे इसके महत्त्व का प्रतिपादन बलवती वाणी में करते हैं।

राम का नाम तुलसी के लिये कल्पवृक्ष है। कलियुग में कल्याण का यही एकमात्र निकेतन है। इसी के स्मरण से तुलसीदास मादक भांग से विषम-ज्वर-नाशक तुलसी बन गये। (बाल० ५२ तथा उ० १६३)

कलियुग में न कर्मकाण्ड चल पाता है, न उपासनाकाण्ड और न ज्ञान-काण्ड। इस युग में तो केवल रामनाम का ही आधार है। (बाल० ४३ तथा वि० ६७)

---

१. बड़े से बड़ा पापी भी उनकी शरण जाने पर त्राण पा जाता है और उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। सुन्दरकाण्ड दोहा ४६ में भी तुलसी ने राम की शरणागत-वत्सलता का वर्णन किया है।

भाव, कुभाव, अरुचि और आलस्य से भी यदि राम का नाम जप लिया, तो उससे दसों दिशाओं में मंगल होगा। (बा० ४४)

रामनाम के प्रसाद से ही शिव की अविनश्वरता है। अमंगल-वेष होने पर भी वे मंगल की राशि हैं। शुक, सनक आदि सिद्ध मुनि और योगीश्वर नाम के प्रसाद से ही ब्रह्मानन्द का उपभोग करते हैं। नारद, प्रह्लाद और ध्रुव रामनाम के जाप से ही भक्त-शिरोमणि और अविचल स्थिति वाले बन गये। हनुमान ने इसी पवित्र नाम के सहारे भगवान् को अपने वश में कर लिया (बाल० ४२)। तुलसी की सम्मति में यदि हम अपने अन्दर और बाहर प्रकाश चाहते हैं, तो हमें अपनी जिह्वारूपी द्वार-देहली पर रामनामरूपी मणि का दीपक रख लेना चाहिये (बाल० ३७)

प्रभु के निर्गुण और सगुण दो रूप हैं। पर नाम इन दोनों से बढ़कर है, क्योंकि वह इन दोनों को भक्त के लिये सुगम कर देता है। इसी से दोनों का निरूपण भी किया जाता है। (बा० २९)। अतः नाम ब्रह्म और राम दोनों को अपने वश में रखता है।

हृदय में निर्गुण ब्रह्म का ध्यान हो और नेत्रों के सामने सगुण स्वरूप की सुन्दर झांकी हो। इन दोनों के बीच में रसना पर सुन्दर रामनाम हो। यह दृश्य वैसा ही होगा जैसे, स्वर्ण के सम्पुट में ललित रत्न सुशोभित हो। (दोहावली ७)। रामनाम लेने से ही वाणी की शोभा है। इस बात को मद-मोह छोड़ कर विचार लेना चाहिये। (सु० २४)

राम का नाम अंक है और समस्त साधन शून्यरूप हैं। यदि अंक नहीं रहा तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा और यदि वह बना रहा तो शून्य शून्य न रह कर दश की संख्या में परिणत हो जायगा। तात्पर्य यह है कि रामनाम से विहीन साधन कुछ भी फल नहीं देते। पर उसके जाप के साथ दसगुने लाभदायक होते हैं। (दोहावली १०)

भक्ति पूर्णिमा की रात्रि है। उसमें राम का नाम चन्द्रमा के समान है। भगवान् के अन्य नाम निर्मल तारागण हैं। ये सब भक्त के हृदयरूपी व्योम में निवास करें। (अरण्य ७४)

जिह्वा से रामनाम जपना चाहिये। प्राणों द्वारा रामनाम रटना चाहिये और मन को रामनाम में रमा देना चाहिये। इस प्रकार रामनामरूपी अभिनव

मेघ के लिये मन को हठपूर्वक चातक बनना है। रामनाम में हमारी बुद्धि लगी हो, रामनाम से ही अनुराग हो और रामनाम ही हमारा शरणस्थल हो। (वि० ६५)

रामनाम का स्नेह से स्मरण करना चाहिये। वही निस्संबल का सम्बल, असहाय का सहायक, अभागे का भाग्य, गुणहीन के लिये गुण, निराधार का आधार और बुभुक्षित के लिये माता-पिता है। रामनाम से बढ़ कर पतित-पावन और कोई नहीं है। तुलसी के समान ऊसर स्थल रामनाम का स्मरण करके सुन्दर उपजाऊ भूमि बन गया। (विनय० ६९)

तुलसीदास कहते हैं कि हे राम! मैं अपने को भली भाँति जानता हूँ। मुझे आप ही ने रचा और बढ़ाया है। मैं सुआ की भाँति आपका नाम रटता रहता हूँ। मेरे जैसे गधे पर चढ़ने वाले, गर्हित आचरण करने वाले व्यक्ति को आपके नाम ने ही हाथी पर चढ़ा दिया है, यशस्वी और गौरवशाली बना दिया है। (कवित्ता० उ० ६०)

अध्यात्मरामायणकार के मत में भी रामनाम के जाप से ही कलियुग में मुक्ति प्राप्त[१] होती है।

विनयभक्ति की भूमिकायें :

(दीनता)

तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो।

सुनहु राम, बिनु रावरे लोकहुँ परलोकहुँ कोउ न कहूँ हित मेरो। वि० २७२

(भर्त्सना)

सुनि मन मूढ़ सिखावन मेरो।

हरिपद विमुख लह्यो न काहु सुख, सठ यह समुझि सवेरो॥ वि० ८७

(भयदर्शन)

राम राम राम जीह जौ लौं तू न जपिहै।

तौ लौं तू कहूँ ही जाय तिहूँ ताप तपिहै॥ वि० ६८

(आश्वासन)

कलि नाम कामतरु राम को।

दलनिहार दारिद दुकाल दुख दोष घोर घन घाम को॥ वि० १५६

---

१ 'रामनाम्नैव मुक्तिः स्यात् कलौ नान्येन केनचित्'। (अयो० ५ २७)

६४, ६६ भ० वि०

(विचारणा)

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि हूँ, सो तनु तोहि दियो॥ वि० १३५

(मनोराज्य)

जौ पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै।
होइ न बाँको बार भक्त कौ, जो कोउ कोटि उपाय करै॥ वि० १३७

(मानमर्षण)

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहिं कस न भजहु भ्रम त्यागि॥ उत्तर० १०८–१०९

भक्तिपथ के बाधक : गीता के षोडश अध्याय में जिस दैवी तथा आसुरी सम्पदा का वर्णन है, वही मानस के अरण्यकाण्ड में वर्णित माया का द्विविध रूप है। दैवी सम्पदा विद्या है तथा आसुरी सम्पदा अविद्या। एक जीव को भवसागर से पार करने वाली है, तो दूसरी भव-पाशों में आबद्ध करने वाली।[1] सन्त महात्मा दैवी प्रकृति का आश्रय ग्रहण करके भगवान् की अनन्य भाव से आराधना करते हैं, परन्तु विक्षिप्त बुद्धि वाले व्यर्थकर्मा पुरुष आसुरी प्रकृति का अवलम्बन लेकर स्वयं भ्रान्त बनते हैं तथा विश्व की अशांति का भी कारण[2] बनते हैं।

देवासुरसंग्राम भारतीय ही नहीं, विश्व के साहित्य का अतीव परिचित विषय है। ब्रह्मा के बनाये हुये इस संसाररूपी सागर से ही सुधा, शशि और धेनुरूपी संत तथा विष और वारुणीरूपी खल प्रकट हुये हैं। मानव-मन में इन दोनों के रूप विद्यमान हैं, जिन्हें दैवी, आसुरी अथवा सत्-असत् प्रवृत्तियाँ कहते हैं। तुलसी ने राम के अतिरिक्त जिन देवों की स्तुतियाँ 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भिक ६१ पदों में लिखी हैं, वे मानव की आन्तरिक दिव्य शक्तियों के ही प्रतीक हैं। उनकी कृपा का आह्वान मानों अपनी ही सत्प्रवृत्तियों

१. एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥ (अरण्य० २७)
२. गीता ९–१२–१३

का आह्वान है, जिससे साधक अपनी साधना में सहायता लेता है। यही दिव्य शक्तियाँ उसे इन शक्तियों के केन्द्र आत्मतत्त्व तक पहुँचाती हैं। तुलसी भी इन देवों से एक ही प्रार्थना करते हैं :

'देहु रघुबीर पद प्रीति।'

इन शक्तियों में गंगा, यमुना, सरस्वती आन्तरिक प्राणधारा के प्रवाह हैं। हनुमान साक्षात् प्राणतत्त्व हैं। काशी, चित्रकूट आदि प्राणचक्र के केन्द्र स्थान हैं। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न जैसे बन्धु चतुर्व्यूह के अन्दर आते हैं और सृष्टि-विकास तथा शरीर-विकास के क्रम में मूल तत्त्वों के स्थानीय हैं, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं। शिव ज्ञान और वैराग्य के प्रतीक हैं। सीता माता स्वयं भगवान् की ही शक्तिस्वरूपा हैं, जो उपर्युक्त तत्त्वों द्वारा सृष्टिरचना करती हैं तथा भक्ति के रूप में जीवों की क्लेशहारिणी भी हैं। इन सबके प्रेरक स्वयं भगवान् राम हैं।

दिव्य शक्तियों से साहाय्य की याचना एक ओर भक्ति-भूमिका को दृढ़ करने के लिये है, तो दूसरी ओर असत् प्रवृत्तियों की प्रबलता को क्षीण करने के लिये भी। असत् प्रवृत्तियों में तीन प्रमुख हैं: काम, क्रोध और लोभ। गीता (१६–२१) में इन्हें आत्मनाशक नरक-द्वार कहा गया है। तुलसी ने गीता के इस स्थान का अनुवाद सा करते हुये लिखा है :

'तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥

मानस० अरण्य ६८

ये तीनों प्रबल खल विज्ञान-धाम मुनियों के मन में भी क्षोभ उत्पन्न करने वाले हैं। तुलसी ने आगे दोहा ६९ में लिखा है कि लोभ का बल इच्छा और दम्भ हैं, काम का बल नारी है और क्रोध का बल कठोर वचन बोलना है। डाण्टे ने स्वरचित 'डिवाइन कमेडी' में आनन्दगिरि पर आरोहण करने से पहले जिन तीन श्वापदों—चीता (Leopard), सिंह (Lion) और मांदा भेड़िया (She wolf) का वर्णन किया है और जो उसे आनंदगिरि पर नहीं चढ़ने देते, वे क्रमशः काम, क्रोध और लोभ के ही प्रतीक[1] हैं।

अविद्या माया के इन तीन खलों का परिवार बहुत विस्तृत है। मद

---

1 L. Diwan Chand—Short studies in the Bhagawadgita. p. 40

(अहंकार), मात्सर्य और मोह क्रमशः इन्हीं के सहोदर आता है। मद की जननी प्रभुता[1] है। लंकाकाण्ड ३१ में नवसहश जिन कौल (मद्यपी), कामी, कृपण, मूढ़, दरिद्र, अपयशी, अत्यन्त वृद्ध, रोगी, क्रोधी, विष्णु-विमुखी, श्रुति-संत-विरोधी, तनु-पोषक, निन्दक और अघ के आगार चौदह प्राणियों का वर्णन है, वे इन्हीं खलों की सन्तति हैं। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा में यही फैले दिखाई देते हैं। विनयपत्रिका पदसंख्या ८२ में इन्हीं को मल, पद-संख्या १२४ में मनोविकार तथा पदसंख्या १८८ में संसार कहा गया है। उत्तरकाण्ड १००, १०१ और १०२ में जिन तृष्णा, मोह, मद, यौवन ज्वर, शोक, चिन्ता आदि को माया का परिवार कहा गया है, वे वस्तुतः इन्हीं के अपर रूप हैं। उत्तरकाण्ड १०८ में रूपक अलंकार द्वारा इन्हीं को विविध प्रकार की मानसिक व्याधियां कहा गया है। मोह जो लोभ का प्रारम्भिक रूप है, समस्त व्याधियों का मूल है। इसी से अनेक क्लेश उत्पन्न होते हैं। काम वात है, लोभ कफ है, क्रोध पित्त है। यदि ये तीनों किसी व्यक्ति के मन में एकत्र हो गये, तो दुखदाई सन्निपात रोग उत्पन्न हो जाता है। ममता दाद, ईर्ष्या खुजली, हर्ष-विषाद गले की वृद्धि, पर-सुख से उत्पन्न जलन राजयक्ष्मा, दुष्टता एवं कुटिलता कोढ़, अहंकार डमरुआ या गठिया, दंभ-कपट-मद-मान नहरुआ, तृष्णा जलंधर, त्रिविध एषणायें तिजारी और मत्सर तथा अविवेक द्विविध (साध्य एवं असाध्य) ज्वर का रूप हैं। मनुष्य एक ही व्याधि से मर जाता है। ये तो अनेक असाध्य व्याधियाँ हैं, जो जीव को असह्य पीड़ा पहुँचाती हैं। इन व्याधियों के रहते हुये मनुष्य शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता है? आगे दोहा संख्या-२०९ में इन व्याधियों के शमन के लिये नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप और दान जैसी करोड़ों ओषधियों की ओर संकेत किया गया है, पर मानसिक रोगों के निवारण करने में ये ओषधियाँ भी असमर्थ हैं।

आश्चर्य तो यह है कि ये रोग सभी को व्याप्त कर रहे हैं, पर कोई विरला व्यक्ति ही इन्हें देख पाता है। रोग-ज्ञान हो जाने पर रोग कम तो हो जाते हैं, परन्तु उनका आत्यन्तिक विनाश नहीं हो पाता। विषय का कुपथ्य इन्हें पुनः हरा-भरा कर देता है। भक्तिपथ के यही बाधक हैं। जब तक मन में विषया-

---

१. प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं। बाल० ८४

कांक्षायें विद्यमान हैं और हृदय में अंधकार के स्थान पर प्रकाश नहीं आता, तब तक सुख[1] कहाँ ? जब तक शोकधाम काम को छोड़ कर मानव राम का भजन नहीं करता, तब तक कुशल कहाँ, मानव-मन को विश्राम[2] कहाँ ? जब तक राम की कृपा नहीं होती, तब तक ये खल लोभ-मोहादि मानवमन को संतप्त करते ही रहते हैं, पर जब भगवत्कृपा से उनकी अनपायनी भक्ति प्राप्त हो जाती है, तब ये समूल नष्ट हो[3] जाते हैं। भगवद्भक्ति ही इन रोगों की एक मात्र ओषधि है और वही आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक त्रितापों को नष्ट करने वाली है[4]। जब राम अपना लेते हैं तो फिर अविद्या माया का यह खल-परिवार ठहर ही कैसे सकता[5] है ?

सिद्धि : ऊपर भक्ति के जिन बाधकों का वर्णन किया गया है, वे समस्त अन्तः-बाह्य करणों के विषय हैं। तुलसी विषयानुरागी व्यक्तियों को अभागा कहते हैं, क्योंकि ये विषय उन्हें भगवान् की ओर उन्मुख नहीं होने देते[6]। अतः मानव के प्रयत्न की सर्वप्रथम सिद्धि, उसके साधनों का प्रथम फल विषयविलास से विराग का होना है। इस विराग से ही जीव का जागरण होता है। जब तक मोहादि विषयों की रात्रि में मानव सो रहा है, तब तक उसे स्वप्न आते रहेंगे और वह उनसे दुखी होता रहेगा। परमार्थी और योगी इसी हेतु प्रपञ्च से पृथक् रह कर विषय-विलास से विरक्त होकर विवेक के प्रकाश की ओर चलते हैं। विषय-वासना तम है, तो ज्ञान ज्योति है। जब साधक मोह-भ्रम से हट कर प्रबोध का अनुभव करने लगे, तभी उसे जाग्रत समझना चाहिये[7]। सत् की यह ज्योति ही आत्मज्ञान कराती है और उसे भगवान् के

---

१. जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषयआस मन माहीं। विनय० १२३

२. तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ, सोक धाम तजि काम ॥ सुन्दर० ४८

३. एहि विधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥ उ० १२०

४ जासु नाम भव भेषज हरन ताप त्रय सूल। उत्तर० १२४

५. तब ते मोहिं न ब्यापी माया। जब तें रघुनायक अपनाया ॥ उत्तर० १३६

६. सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी ॥ अरण्य० ६१

७. जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा ॥ अयो० ९४

चरणों में अनुरक्त करता[1] है। भगवान् के दर्शन का फल भी जीव को अपने स्वाभाविक स्वरूप की प्राप्ति[2] है।

आत्मज्ञान भगवद्भक्ति और भगवत्कृपा द्वारा साध्य होता है। आत्मज्ञान से ही परमात्मज्ञान होता है (मुण्डक २-२-९ तथा आत्मविदो विदुः) और इस ज्ञान के होते ही संसार स्वप्न के समान नष्ट हो जाता है। आत्मज्योति परमात्मज्योति के साथ एक और अचल हो जाती[3] है। भगवान् की कृपा ही इस मिलन के मूल में कार्य करती है।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में जो ज्ञानदीप का रूपक बाँधा गया है, उसमें भी सिद्धियों के इसी क्रम का उल्लेख है। ज्ञान द्वारा सोऽहमस्मि की अखंड वृत्ति ही सत्-प्रकाश की दीपशिखा है। इसी से आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश होता है, जो सांसारिकता के मूल में निहित भेद और भ्रम का विनाश करता[4] है।

सत् के प्रकाश में ही बुद्धि हृदयरूपी घर में बैठ कर अहंभाव की ग्रन्थि को खोलने का प्रयत्न करती है। इसी बीच में माया आकर अनेक प्रकार के विघ्न खड़े कर देती है। वह ऋद्धियों और सिद्धियों को प्रेरित करके बुद्धि को लोभ में डालती है और वे सिद्धियाँ विविध प्रकार के छल-छद्मों द्वारा समीप पहुँच कर अपने अञ्चल से सत्वगुणरूपी दीपक की ज्योति को बुझा[5] देती हैं।

---

१. होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥ अयो० ९४

२. मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ अरण्य० ६४

३. सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन॥ अयो० १२८
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥ कि० १६
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥ बाल० ११२

४. सोऽहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥ उ० २०२
मुण्डक २-२-८ तथा कठ २-१-१४, १५ में भी यही बात कही गई है।

५. तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुवारा॥
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
कल बल छल करि जाइ समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥ उत्तर० २०२

यदि बुद्धि इन सिद्धियों के चक्र में न पड़ी, तो इन्द्रियों के झरोखों में बैठे हुये देवता उपद्रव प्रारम्भ कर देते हैं। वे विषयवायु के झोंकों को आते देख कर वातायन को खोल देते हैं जिससे विज्ञान का दीपक बुझ जाता है। इसके बुझते ही जीव पुनः सांसारिक क्लेशों का आखेट बनता है। कबीर ने इसी अवस्था को हद का नाम दिया है। सत् की भी एक सीमा है। यदि प्रभु-कृपा न हुई, तो सत् की ज्योति स्थिर नहीं रह सकती। मानव साधनों द्वारा इतना ऊँचे चढ़ कर पुनः पतित हो सकता है। जब तक ग्रन्थि विद्यमान है, और वह अन्तिम सत् की ही ग्रन्थि है, तब तक मुक्ति कहाँ, परमानन्द कहाँ ?

इस हद से बेहद में पहुँचने के लिये, सत् की ग्रन्थि को काट कर निर्ग्रन्थि बनने के लिये, भगवद्भक्ति अर्थात् सर्वात्मना समर्पण और भगवत्कृपा की आवश्यकता है। यह समर्पण ही शरणागति है। इसके बिना ग्रन्थि छूट ही नहीं सकती। भगवत्कृपा अन्तिम साधन है, जो जीव के पास नहीं है। इसे वह प्राप्त करता है। यह प्राप्ति ही वस्तुतः प्रभु का वरण है। उपनिषद् जब कहती है:

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन'।

(कठोप० १।२।२३)

तब उसका यही अर्थ है। मेधा या बुद्धि जीव को इस ग्रन्थि से नहीं छुड़ा सकती। इसे तो प्रभु का प्रसाद ही छुड़ाता है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' अथवा

'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात् महिमानमात्मनः'

(कठोप० १।२।२०)

अथवा तुलसी के शब्दों में 'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बांध्यौ सोइ छोरै।' (विनय० १०२)

तुलसी रामभक्ति को चिन्तामणि कहते हैं, जिसका परम प्रकाश दिन-रात बना रहता है तथा जो दीपक-भाजन, घी (स्नेह) और बत्ती किसी की अपेक्षा नहीं रखती। इसके प्रकाश को लोभरूपी पवन बुझा नहीं सकता। यह वह प्रकाश है, जिससे अविद्या का अन्धकार नष्ट होता है और कामादि खल निकट नहीं आ पाते। वेद के शब्दों में इस प्रकाश के द्वारा शरीर, प्राण, मन और बुद्धि की गुहाओं में भरा हुआ तम-तोम विध्वस्त हो जाता है। तम मे विचरण करने वाले निशाचर, जिनकी संज्ञा वेद में 'अत्रि' कही गई है, सभी

तक चोरी और डकैती कर सकते हैं अथवा आक्रान्ता बनकर आत्मधन को लूट सकते हैं, जब तक यह प्रकाश उदित नहीं हो जाता[१]। भक्तिरूपी यह परम प्रकाश सबके भाग्य की वस्तु नहीं है। प्रभु की कृपा से किसी-किसी साधक को ही यह सिद्ध हो पाता है।

वेद जैसा पीछे लिखा जा चुका है, उत्, उत्तर और उत्तम तीन ज्योतियों का नाम लेता है। उत् सत् की ज्योति है, उत्तर आत्मज्योति है और उत्तम प्रभु की ज्योति है। साधक का आदर्श अन्तिम उत्तम ज्योति को प्राप्त करना है।[२] तुलसी ने भगवद्भक्ति को ही परम प्रकाश कह कर उसी की प्राप्ति को अपना चरम उद्देश्य समझा[३] है। परमभागवत तुलसी के लिये भक्ति और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। वे केवल हरिभजन को सत्य और अन्य सबको स्वप्न के समान असत्य मानते[४] हैं। भगवद्भक्ति को यह महत्व हिन्दी के भक्तिकालीन प्रायः सभी कवियों ने दिया है।

---

१ गूहता गुह्यंतमो वियात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥ ऋग्वेद १।८६।१०

२ उद्वय तमसस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ यजुर्वेद ३५।१४

३. विनयपत्रिका पदसंख्या ६० में नारायण भगवान् की दीप्ति को भी तुलसी अगणित सूर्यों के समान लिखते हैं। परम प्रकास रूप दिनराती रामचरित मानस उत्तर० १२० ३

४ उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना ॥ अरण्य० ७०

एकादश अध्याय

वैदिक भक्ति से साम्य तथा वैषम्य

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन प्रतिनिधि संत कवियों की भक्ति के विवेचन के उपरान्त इस भक्ति का वैदिक भक्ति के साथ कहाँ तक साम्य है तथा कहाँ तक वैषम्य—इस पर भी विचार कर लेना चाहिये। इस विचार के दो पक्ष हो सकते हैं : (१) आन्तरिक भावानुभूति जो आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विनय-भक्ति की भूमिकाओं, एकादश आसक्तियों, षड्विधा शरणागति तथा नवधा भक्ति से होती हुई साधक की सिद्धियों तक पहुँचती है। (२) बाह्य नाम-रूपादि, जिनका सम्बन्ध साधक की विशिष्ट रुचि और प्रवृत्ति के साथ है। प्रथम हम नाम-रूपादि पर विचार करेंगे।

नाम : वेद कहता है, प्रभु एक है, पर विप्र उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं[1]। एक होते हुये भी उसके अनेक नाम हैं। ये नाम विभिन्न भाषाओं में विभिन्न रूप वाले हैं और एक ही भाषा में भी उनका नानात्व स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा[2] है। वैदिक ऋषि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, ईश, विष्णु, शिव, ब्रह्म, सविता, सोम आदि विभिन्न नामों द्वारा उसका वर्णन करते हैं। उसका मुख्य नाम ओ३म् है, जिसे प्रणव भी कहते हैं—ऐसा वेद, ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषदों का मत[3] है। हिन्दी के मध्यकालीन संत भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि प्रभु के अनेक नाम हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ने प्रभु का अनेक नामों द्वारा आह्वान किया है, परन्तु इन नामों में कुछ तो वैदिक नाम हैं, शेष नवीन हैं। प्रभु का मुख्य नाम भी ओ३म् न रह कर राम तथा कृष्ण है। तुलसी लिखते हैं :

> जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। स्रुति कह अधिक एक ते एका ॥
> राम सकल नामन्हु ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥

---

१. एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति . ऋग्वेद १।१६४।४६

२ नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। ऋग्वेद ३।३७।३

३ यजुर्वेद ४०।१७, गोपथ १।२३, कठ० १।२।१५. मुण्डक २।२।६, प्रश्न ५।७

राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन विमल, बसहु भगत उर व्योम॥ अरण्य० ४२ (क)

वैष्णव भक्ति के साथ जिस वैदिक विष्णुनाम की प्रतिष्ठा हुई, वह भी कालान्तर में पीछे पड़ गया। आचार्य रामानुज ने नारायण नाम को आगे किया; परन्तु वह भी विरक्त संन्यासियों के अन्दर ही प्रचार पा सका। साधारण जनता ने राम और कृष्ण नामों को ही अपनाया। कृष्णनाम के साथ आचार्य निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभ के सम्प्रदाय विशेष रूप से संवद्ध हैं। रामनाम के प्रचार में महात्मा रामानन्द, कबीर और तुलसी का योग प्रमुख रूप से है।

अपने मनोनीत सन्त कवियों की रचनाओं का अध्ययन करते हुये पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक नामों पर उठाये गये प्रश्न का समाधान मुझे कबीर में मिला। जैसे वेद प्रभु का वर्णन अनेक नामों द्वारा करते हैं, वैसे ही कबीर भी पाश्चात्य विद्वान् और उनका अनुसरण करने वाले एतद्देशीय विद्वान् इन नामों में विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना करते हैं, यद्यपि वेद निरावरण शब्दों में इस स्थापना का प्रत्याख्यान करता है। वह नाना नामों में उसी एक का प्रकाश बताता है, पर उसकी मान्यता को ऐतिहासिक क्रम में परवर्ती ऋषियों की मान्यता का रूप प्रदान किया जाता है। अपने मूल रूप में वेद एक ईश्वर का नहीं, नाना-देव-वाद का समर्थक है, ऐसा इन विद्वानों का मत है और इस आधार पर वे इन विभिन्न देवों के विभिन्न स्वरूपों, आयुधों तथा वर्मों का उल्लेख करते हैं। क्या इनकी इसी पद्धति का अनुसरण करके कबीर, जायसी आदि को भी बहुदेववादी नहीं कहा जा सकता? क्या कबीर के राम, ब्रह्म, गोविन्द आदि नामधारी कोई पृथक् पृथक् देवता हैं? क्या इनके प्रयोग-स्थलों का विश्लेषण करके इनके पृथक्-पृथक् स्वरूपों की उद्भावना कबीर में की जायगी? कबीर-वाणी का अध्येता उच्च स्वर से इन कल्पित स्थापनाओं का खण्डन करेगा। आज तक किसी भी विद्वान् ने इन विभिन्न नामों में विभिन्न देवों की स्वरूपावस्थिति को कबीर में स्वीकार नहीं किया। यदि कबीर में विभिन्न नामों के होते हुये भी अनेक देवों की प्रशस्ति नहीं मानी जा सकती, तो वेद की अपनी मान्यता के विरुद्ध उसी पर नाना नामों द्वारा नाना-देव-वाद का आरोप क्यों लगाया जाता है?

अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये पाश्चात्य विद्वान् इस संबन्ध में दो शंकायें खड़ी कर सकते हैं : प्रथम, कतिपय नामों के साथ बहुवचन का प्रयोग और द्वितीय, कतिपय देवों का स्त्रीलिंग होना। इन शंकाओं का निराकरण सुगम और सरल है। भारतवर्ष की आर्यपरम्परा ईश्वर को पुल्लिंग-स्त्रीलिंग सभी रूपों में मानती रही है। उसने ब्रह्म को देव भी कहा है और देवी भी। साथ ही उसने ईश्वर की वंदना एकवचन में भी की है और बहुवचन में भी। लोक में भी सम्भ्रान्त व्यक्तियों को एकवचन तथा बहुवचन द्वारा संबोधित किया जाता है। तू, तुम, आप, श्री १०८ आदि का प्रयोग यही सिद्ध करता है। अतः वेद के भी वरुणः, आदित्यासः, देवाः आदि ऐसे ही आदरार्थक प्रयोग हैं। उपनिषदों का 'नमः परमऋषिभ्यः' प्रयोग भी इसी प्रकार का है। परमऋषि तो एक ही है, परन्तु आदर के लिये उसका बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है। व्रजभाषा में 'हमारे दाददु कूं तुम चौ बुलाइवे आये हो' आदि प्रयोगों में दादा शब्द का बहुवचनीय प्रयोग आदर अर्थ में ही है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का प्रयोग भी प्रभु के रूप में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करता। वेद स्वयं ईश्वर को माता तथा पिता कहता[1] है। कबीर की वाणी में भी प्रभु को कहीं माँ, अम्बा तथा कहीं पिता कहा गया है। तुलसी भी उसे माता तथा पिता कहते हैं[2]। श्वेताश्वतर उपनिषद् के शब्दों में—त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। (४-३)—परमेश्वर को किसी भी लिंग में पुकारा जा सकता है। अतः वेद के 'देवः' 'आपः' 'सरस्वती' अथवा 'अग्निः' 'आदित्यः' 'चंद्रमाः' जैसे लिंग और वचन के भेदों से प्रयुक्त शब्दों में पृथक् देवी-देवताओं की कल्पना नहीं की जानी चाहिये। शुक्रं और ब्रह्म शब्द तो नपुंसक लिंग में भी प्रयुक्त हो रहे हैं[3]।

हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रभु के नामों पर जब हम विचार करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिकनामावलि ज्ञानकाण्डी

---

१. त्वं हि नो पिता, वसो त्वं माता। ऋ० ८-९८-११

२. मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हो। विनय० २७०

कबीर० हरि जननी मैं बालक तोरा॥ पद ११

बाप राम सुनि बिनती मेरी। पद ३५७

३. यजु० ३२-१

शैव सम्प्रदाय के साथ संबद्ध होकर कबीर और जायसी को तो कुछ-कुछ मान्य हो गई[1], परन्तु वैष्णव शाखा उसका तिरस्कार करती हुई राम और कृष्ण नामों के प्रचार में ही यत्नपूर्वक लगी रही। तुलसी और सूर इन्हीं नामों को सर्वश्रेष्ठता प्रदान करते हैं। कबीर और जायसी ओंकार के साथ अधिकांश अभिनव नामों को अपनाते हैं। तुलसी ओ३म् का नाम केवल एक बार मानस के उत्तरकाण्ड में शिव की स्तुति में लेते हैं। सूर में तो यह नाम कहीं भी दिखाई नहीं दिया। वेद के अन्य नामों में इन्द्र देवराज बन गये, गरुत्मान् विष्णु के वाहन बन बैठे, वरुण जल के अधिष्ठातृ देवता, अग्नि-वायु-सविता आदि प्राकृतिक शक्तियाँ, यम नरक के अधिपति, सोम चंद्र और लता, शिव और विष्णु देव-विशेष, सरस्वती विद्या की देवी, ईश शिव, गणेश शिव के पुत्र और प्रजापति सृष्टि के स्रष्टा ब्रह्मा बन गये। प्रभु के लिये प्रयुक्त वेद के विभिन्न नामों को लेकर पौराणिकों ने देवताओं का जाल-सा फैला दिया। पुराणों की यही विशेषता हिन्दी के भक्त कवियों को रिक्थरूप में प्राप्त हुई और उन्होंने जन-कल्याणार्थ उसका सुन्दर प्रयोग किया।

रूप : वेद में प्रभु सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। इसी स्वरूप में उसके स्वीय गुणों का भी समावेश है। यह स्वरूप और तत्संबन्धित गुण हमें हिन्दी के सभी भक्तिकालीन कवियों में दिखाई देते हैं। प्रभु निराकार है, उसकी कोई प्रतिमा नहीं है अथवा यह निखिल जगत् उसका शरीर है और वह इसके रूप-रूप में प्रतिरूप होकर विद्यमान है, यह उक्ति जैसी वेद में है, वैसी ही इन सब कवियों में। यह कवियों की रचनाओं से उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा चुका है। ज्येष्ठ ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ के रूप में वैदिक ब्रह्म-कल्पना भागवत-सम्प्रदाय में विशेषरूप से स्वीकृत हुई है और कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ने उसका वर्णन किया है।

विश्व-वपु के रूप में ब्रह्म के रूप की जो विराट् कल्पना की गई, उसमें अवतारवाद की भावना भी सम्मिलित है। सृष्टि का आविर्भाव मानों पुरुष का आद्यावतार है। यह पुरुष नारायण है। यही राम और कृष्ण है। इस अवतार के साथ अव्यक्त प्रकृति मानों उमा, राधा अथवा सीता है। प्रकृति से क्रमशः विकसित महान् (महत्तत्त्व) और अहंकार अथवा मन प्रद्युम्न और

१. कबीर० पद १५२, पृष्ठ ३१०, पद १२१, पृष्ठ १२६ जायसी—अखरावट ३३

अनिरुद्ध हैं अथवा भरत और शत्रुघ्न हैं। बलराम (संकर्षण) और लक्ष्मण जीव हैं। तुलसी ब्रह्म और जीव के बीच माया के समान जब राम और लक्ष्मण के मध्य में विराजमान सीता का नाम लेते हैं, तब विकास के इसी क्रम को प्रकट करते हैं। वैष्णवों ने इसे चतुर्व्यूह का नाम दिया है। पहले चतुर्व्यूह की कल्पना कृष्ण के परिवार तक ही सीमित थी, परन्तु बाद में राम का परिवार भी उसमें अन्तर्भुक्त हो गया। मानव के उत्थान को दृष्टि में रख कर इस चतुर्व्यूह पर विचार करें, तब भी उसमें एक सुन्दर क्रम दिखाई देता है। जब तक मानव का अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, उसके मन और बुद्धि में निर्मलता नहीं आती, तब तक वह विषयवासनाओं में पड़ा रहता है। चतुर्व्यूह में जो राम और कृष्ण के साथ अन्य तीन शक्तियाँ हैं, वे इसी नैर्मल्य की प्रतीक हैं। यदि प्रकृति के ये तत्त्व अपनी विशुद्ध, पवित्र एवं सत् अवस्था का द्योतन करने लगे, तो जीव मानों ब्रह्म के संपर्क में आ गया और उसका अनुभव करने का अधिकारी बन गया।

चतुर्व्यूह के साथ भगवान् का चतुर्भुज रूप भी प्रतीकात्मक है। उसकी चारों भुजायें चारों दिशाओं की द्योतक हैं। सर्वत्र और सर्वदा प्रभु की रक्षण-शक्तियाँ इन विशाल भुजाओं के रूप में जीव को प्राप्त है। चारों हाथों में रखे हुये शंख, चक्र, गदा और पद्म इन्हीं विभिन्न शक्तियों के रूपक हैं, जिनमें शंख ज्ञान और विजय का, चक्र कर्म और रक्षा का, गदा शासन और संयम का तथा पद्म शान्ति का प्रतीक है। भगवान् का विग्रह षड्गुणोपेत है। ये गुण ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज—प्रभु के रूप, सृष्टि के उपादान, कर्तृत्व शक्ति, श्रम-राहित्य, अविकार तथा अपर-निरपेक्षत्व को प्रकट करते हैं। इन षड्गुणों से युक्त होने के कारण ही ब्रह्म की संज्ञा भगवान् है। भगवान् के अतिरिक्त बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध अथवा लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न में केवल दो-दो गुणों का समावेश है। अन्य देवी-देवताओं की कल्पना भी किसी न किसी विभूति, श्री या ऊर्ज की अभिव्यक्ति करती है। पौराणिकता के इस प्रतीक-वाद को यदि समझ लिया जाय, तो एक अद्भुत दार्शनिक रहस्य का उद्घाटन हो जाता है और उस पर लगाये गये विकृत ऐतिहासिकता के आरोप का निराकरण भी।

कबीर और जायसी प्रभु के अवतारी साकार रूप के समर्थक नहीं हैं, पर

सूर और तुलसी की रचनाओं का यह प्राण है। वेद भी इस रूप का प्रतिपादन नहीं करता।

गुण : प्रभु के जिन गुणों का वर्णन वेद में उपलब्ध होता है, जैसे रचयिता, पालयिता, संहर्ता, कर्मफलदाता, दयालु, न्यायकारी, पूर्णकाम, भक्तवत्सल आदि, वह ज्यों का त्यों इन भक्त कवियों की रचनाओं में स्वीकृत है। तुलसी ने इस सम्बन्ध में एक नया मार्ग अवश्य ग्रहण किया है और वह मार्ग शांकर-अद्वैतवाद से भी पृथक् प्रतीत होता है। तुलसी अपने राम को निर्गुण ब्रह्म का अवतार मानते हैं। यद्यपि वे उन्हें विष्णु का अवतार भी मानते हैं, पर उनकी आन्तरिक कामना राम को विष्णु से पृथक् करने की ओर लक्षित होती है। इस आधार पर उनके गुण भी वैसा ही रूप धारण कर लेते हैं। इस संबन्ध में जो असंगति उत्पन्न होती है, उसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। सूर ने विष्णु और कृष्ण में अन्तर नहीं रखा। वे विष्णु को देव-कोटि से भी प्रायः बचाने का प्रयत्न करते हैं और त्रिदेवों में ऐक्य की स्थापना भी उनकी वाणी का लक्ष्य प्रतीत होता है।

गुणों का चिन्तन करते हुये प्रभु के निर्गुण और सगुण होने की चर्चा भी प्रायः चलती रहती है। हमारे भक्त कवि कबीर, जायसी, सूर और तुलसी प्रभु को निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार का मान कर चले हैं। वेद भी ऐसा ही कहता है। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय का ८ वाँ मन्त्र इस सम्बन्ध में देखने योग्य है। गुणों के आधार पर प्रभु के नामों में कुछ विशिष्टता आ गई है। वैष्णवों ने इन नामों के साथ इसीलिये पक्षपात किया है। वे ब्रह्म नाम को ज्ञानकांडियों के लिये, परमात्मा नाम को कर्ममार्गियों के लिये और भगवान् नाम को भक्तों के लिये स्वीकार करते हैं। ब्रह्म चिन्तन का विषय है, परमात्मा कर्म-फल-प्रदाता है और भगवान् भक्तों पर अनुग्रह करने वाले हैं।

लीला : जहाँ तक लीला का सम्बन्ध है, कबीर और जायसी दोनों वेदों का अनुसरण करते हैं। विश्व का अभिराम उन्मीलन, स्थिति और विलय हरि-लीला के प्रमुख अङ्ग हैं। अवतारी लीलायें जिनका विशद वर्णन सूर और तुलसी को अभिप्रेत है, अपने सूक्ष्म अर्थ में कबीर और जायसी को भी स्वीकार हैं। पर निशाचरों का अपने कुत्सित कर्मों तथा गर्हित आचारों के करने पर भी मुक्ति पाना उन्हें ग्राह्य नहीं होगा। वैरभाव से हरि-स्मरण की बात और

उससे सद्गति प्राप्त करना यद्यपि वैष्णव आचार्यों ने स्वीकार किया है, फिर भी कर्म-मर्यादा का विघातक होने के कारण इसे आचारवादी दार्शनिक ग्रहण नहीं कर सकेंगे। लीला के साम्प्रदायिक भेद भी कुछ अटपटे प्रतीत होते हैं। सूर में उनकी स्वल्प झाँकी अवश्य आ गई है। तुलसी-जैसे लोक-धर्म के प्रतिष्ठाता और मर्यादावादी कवि ने उन्हें अश्लीलता-रञ्जित समझ कर अपनी कृतियों में स्थान नहीं दिया। कबीर और जायसी में भी उन्हें स्थान नहीं मिल सका। लीला में 'शिर-समर्पण' जिसे जायसी और कबीर 'सिर सौंपना' कहते हैं, वेद के 'शिरो अन्नमयो मनः' के आधार पर है। यद्यपि आचार्य रामानुज ने मोक्ष में भी अहंभाव का नाश नहीं माना है, पर कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी लीला के केन्द्र, साध्य, तक पहुँचने के लिये अहंता का विनाश अथवा उसका समर्पण आवश्यक समझते हैं। इसलामी सिद्धान्त के आधार पर जायसी अहंकार के साथ जीव का विनाश भी मानते हैं।

विशुद्ध लीला-क्षेत्र की दृष्टि से कबीर जन्मजात सिद्ध प्रतीत होते हैं, पर मुसलिम वातावरण में पालित-पोषित होने के कारण सामाजिक विषमता पर क्षुब्ध हैं और अपनी तीखी परन्तु हितकारिणी वाणी में एक ओर ब्राह्मण को फटकारते हैं, हिन्दुओं की हानिकारक प्रथाओं पर तीव्र आघात करते हैं, तो दूसरी ओर मुसलमानों की धर्मान्धता, मांस-भक्षण आदि की भी बुरी तरह खबर लेते हैं। जायसी में साधन अथवा प्रयत्न-पक्ष की अधिकता है। तुलसी में साधन एवं साध्य दोनों पक्ष समान हैं। सूर एकान्त भक्ति में लीन साधक है। उसे न प्रयत्नपक्ष की अपेक्षा है, न किसी पर रजोगुणी कटूक्तियाँ कसने की। भ्रमरगीत के व्यंग्य और उपालम्भ भी उसे सरसता से पृथक् नहीं होने देते।

धाम : धामों का वर्णन कबीर में वेदानुसार है। तृतीय धाम के ऊपर चतुर्थ धाम की स्थिति का भी उसने उल्लेख किया है, जो वेद तथा उपनिषद् दोनों में उपलब्ध होता है। सूर ने वृन्दावन धाम का विशेष रूप से वर्णन किया है, जो वैष्णव पुराणों के अनुसार है। जायसी का सतखंडा महल और उसके ऊपर आठवाँ सदाद सात धामों के भी ऊपर, अनिर्वचनीय ब्रह्मधाम की कल्पना से संयुक्त है और सत्य है। तुलसी निजधाम, हरिधाम, क्षीरसागर, वैकुण्ठ आदि का उल्लेख करते हैं, पर अयोध्या को वृन्दावनधाम-जैसा महत्त्व

प्रदान नहीं करते। वे उसे 'मम धामदा' अर्थात् बैकुण्ठ दिलाने वाली मानते हैं। ऐसी उक्तियाँ वैदिक आधार नहीं रखतीं। वेद वृन्दावन का भी वर्णन नहीं करता।

कबीर और जायसी दोनों ने शून्य और गगन का विशेष पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग किया है। यह प्रयोग बौद्धपरम्परा से उन्हें प्राप्त हुआ था, ऐसा विद्वानों का मत है। पर हमारी समझ में ये दोनों शब्द व्योम के पर्याय-वाची थे, इसी के स्थान पर बौद्धों द्वारा प्रयुक्त हुए और उनसे सिद्धों तथा नाथों में होते हुए कबीर एवं जायसी को प्राप्त हुए। वेद में 'परमे व्योमन्' शब्दों का प्रयोग है और लिखा है कि समस्त ऋचायें इसी में सुरक्षित हैं। मुण्डक २-२-७ में इस व्योम को दिव्य ब्रह्मपुर कहा गया है, जिसमें आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित है। कबीर भी ऐसा ही कहते हैं। उनका आकाश, बेहद, शून्य या गगन यही व्योम अथवा ब्रह्मपुर है। हठयोग की साधना में इसी को सहस्रार चक्र कहा जाता है। आज्ञाचक्र तक हद है, सीमा है। यहाँ तक चेतना (कुण्डलिनी या उमा) उठकर, यदि बेहद में न पहुँची, तो फिर गिर सकती है। सहस्रार हिरण्मय कोश है, विरज है। वहाँ पहुँच कर फिर पतन नहीं होता। इसको सात धामों से भी ऊर्ध्व स्थान दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वैदिक भक्ति में नाम-रूपादि की चर्चा सूक्ष्म मानसिक स्तर से सम्बन्ध रखती है। आगे चल कर पौराणिक युग में इसे स्थूलता तथा साकारता प्राप्त होती है। प्रतिमा-विहीन की प्रतिमा बनाई जाती है और उसके लिए विशाल भव्य मन्दिरों का निर्माण होता है। आकार के साथ प्रतिमा के वेश, आभूषण, आयुध, परिकर आदि सबकी कल्पना की जाती है। कबीर-जैसे सन्तों में यह पुनः सूक्ष्म रूप धारण करती है, पर सूर और तुलसी मे आकर फिर स्थूल हो जाती है। पौराणिक तीर्थयात्रा का माहात्म्य कबीर में आन्तरिक स्थिति-परक है, सूर और तुलसी में बाह्य स्थानों से सम्बद्ध। कर्मेन्द्रियों के कार्यों पर नियन्त्रण और सदाचार की प्रतिष्ठा वैदिक युग से लेकर अब तक सुरक्षित रही है, यद्यपि गीता से लेकर तुलसी तक दुराचारी के प्रभु-उन्मुख होते ही पवित्र बन जाने का भी प्रतिपादन किया गया है।

वैष्णव आचार्य शंकर अद्वैत और मायावाद का खण्डन करने चले थे, पर स्वयं उससे बच न सके। हिन्दी के इन भक्त कवियों में भी ये दोनों वाद विद्यमान हैं। वे माया के बन्धनों से मुक्ति चाहते हैं और उसे भगवत्कृपा द्वारा साध्य समझते हैं। आचार्य शंकर स्वयं अप्रतिम तार्किक एवं ज्ञानकाण्डी थे, पर उनके लिखे हुए भक्ति-परक स्तोत्र अनुभूति में किसी भी भक्त की भावनाओं से न्यून नहीं हैं। कबीर और तुलसी में अद्वैत और भक्ति का मणि-काञ्चन संयोग है।

आचार की दृष्टि से कबीर, जायसी और तुलसी ने भक्ति को एक अभिनव रूप प्रदान किया। यह था आचार-मर्यादा को भक्ति का अङ्ग बना देना। सूर तो लीला-गायन में मग्न रहे और शुद्ध पुष्ट जीव की भाँति मर्यादा से ऊपर, पर आचार मर्यादा के अन्तर्गत है। कबीर और तुलसी दोनों जहाँ भक्ति के प्रकारों का उल्लेख करते हैं, वहाँ सदाचार को उसका अनिवार्य अङ्ग बना देते हैं। राम ने शबरी को जिस नवधा भक्ति का उपदेश अरण्यकाण्ड में दिया है, वह सदाचार-पद्धति की ही व्याख्या करता है। कबीर और जायसी इस विषय में तुलसी के साथ हैं।

भगवान् के अनुग्रह का सम्पादन और उसकी अमोघ प्रभविष्णुता सभी भक्त-कवियों को स्वीकार है। जायसी प्रयत्नपथ में विश्वास करते हैं, पर रसूल की कृपा, गुरु की दया और प्रभु के अनुग्रह का महत्त्व उन्होंने भी स्वीकार किया है :

'जाकहं गुरू करै असि मया।'(पद० १८०)'सबै नबी के पाछे बांचे।' (आ०क०४४)
तथा—'मया करै मुहम्मद तौ पै होइहि मोख।' (आखिरी कलाम ६)
कबीर, सूर और तुलसी तो मुक्तकण्ठ से इस प्रसाद का यशोगान गाते हैं। उन्हें अपना नहीं, अपने प्रभु की कृपा का ही अवलम्बन है। सूर के पुष्टि मार्ग की तो यही आधारशिला है। कबीर ने भी लिखा है : 'कहि कबीर उबरे द्वै-तीनि। जापर गोविन्द कृपा कीनि॥' (पद २८५) तपस्वी, संयमी, ध्यानी, ज्ञानी—सब बन्धन में पड़ गये, पर जिस पर गोविन्द की कृपा हुई, वह बच गया, भवसागर से पार हो गया।

नामस्मरण सभी भक्त कवियों का भक्ति की यात्रा में पुण्य पाथेय रहा है। वैदिक ऋषि अपनी रक्षा के अभिलाषी बन कर प्रभु के पवित्र नाम की भीख

माँगते हैं और ओ३म् नाम के स्मरण को महत्त्व देते हैं। उपनिषदों के ऋषि वैदिक ऋषियों का अनुगमन करते हैं। उनके वर्णन नाम-महिमा से ओत-प्रोत हैं। बौद्धों का महायान सम्प्रदाय 'ओ३म् मणि पद्मे हुम्' के जाप का विधान करता है। इसी का प्रभाव सामी जातियों तक पहुँचा। सूफियों में हूँ हूँ जैसी विशेष ध्वनियों का उच्चारण इसी का अनुकरण जान पड़ता है। हिन्दी के भक्त कवियों का तो यह प्राण है। सूर आदि प्रायः सभी भक्त नाम-माहात्म्य को प्रमुखता देते हैं। जायसी लिखते हैं, 'जेहि नहिं लीन जनम भरि नाऊं। तेहि कहँ कीन्ह नरक महं ठाऊं॥' (पद्मावत ११); 'जौ लहिं जिऔं रात दिन सुमिरौं, मरौं तौ ओहि लै नाउँ। मुख राता तन हरिअर, दोहूं जगत लै जाउं॥' (पद्मावत ९३); पर अन्यत्र उन्होंने नाम पर इतना अधिक बल नहीं दिया है। प्रभु के स्मरण का उल्लेख उन्होंने अवश्य किया है।

नामों के सम्बन्ध में कबीर यदि वेद हैं, तो जायसी ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और सूर उपनिषद् हैं, तो तुलसी पुराण हैं। कबीर में वेद की भाँति प्रभु के नाना नाम हैं। जायसी ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति नाम तो अनेक लेते हैं, पर ओंकार या अल्लाह के समान विधि और दैव के अतिरिक्त उनकी मति अन्यत्र नहीं टिकती। सूर में उपनिषद् साहित्य के ऋषियों जैसी तल्लीनता है, जो हरि-लीला-गायन में अभिव्यक्त हुई है। तुलसी की भक्ति राम-गाथा को लेकर चलती है। पौराणिक साम्प्रदायिकता उनमें ओतप्रोत है।

हिन्दी के भक्ति युग के प्रारम्भ में स्वामी रामानन्द ने समय की आवश्यकता को अनुभव करके पूजा के विधि-विधानों के स्थान पर राम-नाम-कीर्तन का प्रचार किया था। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी पद्धति का अनुकरण किया। बालकांड के प्रारम्भ में नाम-जाप को उन्होंने शिवजी के साथ सम्बद्ध करके अमंगल-हर्ता तथा मंगल-भवन बना दिया[1]। महात्मा रामानन्द ने रामनाम के जाप को शूद्र, अन्त्यज, यवन आदि सबके लिए विधेय बना दिया था। तुलसी की रचनाओं में इसकी प्रतिध्वनि बार-बार सुनाई देती है[2]।

---

१. मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥ बाल० १९

२ स्वपच सबर खस जमन जड़ पांवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥ अयोध्या० १९५
स्वपच जवनादि कैवल्य भागी॥ विनय० पद ५७

कबीर आदि सन्त वेद में विश्वास नहीं करते। वे किताबी ज्ञान की अपेक्षा परोक्ष के साक्षात्कार को अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। गुरु का अनुभव-दीपक उनका पथ-प्रदर्शक है। पर आश्चर्य यह है कि उनका साधना-पथ वेदोक्त पथ से किंचित् मात्र भी इधर-उधर नहीं जाता। जिन सिद्धियों का वे वर्णन करते हैं, वे वेद-सम्मत हैं। हमारी सम्मति में जब वे वेद की निन्दा करते हैं, तब उसे वेद की नहीं, उनके नाम से प्रचलित हिन्दू-परम्पराओं की निन्दा समझनी चाहिए। इन परम्पराओं पर पुराणों का प्रभाव है, वेदों का नहीं।

भावानुभूति : जब हम भावानुभूति पर विचार करते हैं, तो ऐसा लगता है, जैसे इस हृदय की वृत्ति में वैदिक युग से लेकर आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भक्ति-संबंधी जो भावोद्गार वैदिक ऋषियों के कण्ठों से फूट कर निकले, वे काल के अजस्र प्रवाह में प्रवाहित होते हुये हमारे मध्ययुगीन भक्त कवियों तक ज्यों के त्यों चले आये और आज भी उनका अवलम्बन लेकर हमारे अशान्त, व्यथित एवं व्याकुल हृदय शान्ति का अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिये हम कुछ वेदमंत्र और उनके समानान्तर हिन्दी भक्त कवियों की भावनाओं को नीचे उद्धृत करते हैं। इनमें कहीं आत्मनिवेदन है, कहीं विनय है, कहीं विरह-पीड़ा है, कहीं घर पहुँचने की अभिलाषा है, कहीं अपना दैन्य और साधन-अक्षमता है, कहीं विचारणा या कहीं व्याकुलता और पश्चात्ताप की भावनायें हैं, कहीं प्रभु की उदारता, क्षमता, सुन्दरता, शरणागत-भक्त-वात्सलता और तज्जन्य आश्वासन है, कहीं अपने पापों का स्मरण, कहीं उद्बोधन और कहीं समर्पण है। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का जो गहन विवेचन बाद में किया है, उसकी समग्र पृष्ठभूमि वेद के मंत्रों में उपस्थित है और वह अपने उसी रूप में हिन्दी के भक्त कवियों को प्राप्त हुई है। नीचे लिखे मंत्र में प्रभु की कृपा, भक्त-वात्सलता और सर्वसमर्थता का वर्णन है :

> अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्।
> प्रेमन्धः ख्यन्निः श्रोणो भूत्॥ ऋ० ८।१९।२

अर्थात् प्रभु नंगे, दीन, हीन व्यक्ति को वस्त्रों से आच्छादित कर देते हैं, व्यथित एवं आतुर प्राणी को भेषज देकर रोग-मुक्त कर देते हैं। अन्धा, उन्हीं की कृपा से देखने लगता है और लँगड़ा-लूला चलने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

मेरे सोम नम्र जन को तुम आच्छादित कर देते हो।
आतुर व्यथित कृश प्राणी के कष्ट सकल हर लेते हो॥
अंधा भी तव कृपा दृष्टि से सृष्टि देखने लगता है।
लँगड़ा-लूला भी तव बल पा यहाँ दौड़ता भगता है॥ (भक्तितरंगिणी)

प्रभु भक्तवत्सल हैं। उनके अनुग्रह से क्या नहीं हो सकता? इसका उल्लेख करते हुये सूर, 'तुलसी आदि सभी सन्तों ने अपनी अनुभूति इन्हीं शब्दों में प्रकट की है। सूर लिखते हैं :

चरन कमल बन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधरे को सब कछु दरसाई॥
बहिरौ सुनै, मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरसागर (ना० प्र० स०)॥ १॥

तुलसीदास लिखते हैं:

मूक होंहि वाचाल, पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवहु सकल कलिमल दहन॥ बाल० २

व्यासजी कहते हैं:

मूकं करोति वाचालं, पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम्॥

प्रभु वास्तव में अपने भक्त का दैन्य दूर कर देते हैं। वे अपने जन को लघु से महान्, छोटे से बड़ा और राई से पर्वत बना देते हैं। इसके साथ ही जो भक्त को कष्ट देता है, आततायी है, उसे गिरा भी देते हैं—पर्वत से राई कर देते हैं। प्रभु की कृपादृष्टि जिसके ऊपर पड़ गई, उसके लिये असम्भव भी सम्भव हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं :

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई॥
गरुअ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥ सुन्दर ६

सूर भी लिखते हैं:

जाको हरि अंगीकार कियो।
ताके कोटि विघन हरि हरि कै, अभै प्रताप दियो॥

श्रुति भगवती कहती है:

त्वं महीमवनिं विश्वधेनाम्, तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसै जदर्णः सुतरणां अकृणोः इन्द्र सिन्धून्॥ ऋ० ४।१९।६

प्रभो! तुम काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले अपने भक्त के लिये इस विशाल पृथ्वी को दूध देने वाली कामधेनु बना देते हो। तुम्हारी कृपा से उछलता हुआ तूफानी समुद्र परम प्रशांत रूप धारण कर लेता है और दुस्तर, अनुल्लंघनीय सिंधु गौ के खुर के समान सुगमता से पार होने योग्य बन जाता है।

वेद ने प्रभु को अनेक स्थानों पर 'वृषभं चर्षणीनाम्' 'वृषभत्' तथा 'वृष' कह कर पुकारा है, जिसका अर्थ यह है कि प्रभु अपने भक्त की कामनाओं को सफल करने वाले हैं। सफलता की वर्षा करना, कामनाओं को पूर्ण करना, भक्त को सुख देना, भगवान् का व्रत है, नियम है, विरुद है, बाना या स्वभाव है। गीता के शब्दों में कल्याण-पथ पर चलने वाला मानव कभी दुर्गति में नहीं पड़ता। जो अनन्य चित्त से प्रभु की उपासना करते हैं, उनके योग-क्षेम का भार प्रभु पर रहता है।[1]

प्रभु हारिल की लकड़ी हैं, अन्धे की लाठी हैं बूढ़े एवं थके-माँदे प्राणी का अवलम्बन हैं, यह भाव ऋग्वेद के ८-४५-२० वें मन्त्र में इस प्रकार वर्णित है:

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते।
उरमसि त्वा सधस्थ आ।

हे बलों के स्वामी, शक्ति के भण्डार, जैसे वृद्ध पुरुष डण्डे के सहारे चलता है, वैसे ही मैंने आपका अवलम्बन ग्रहण कर लिया है और मैं चाहता हूँ कि अब तुम सदैव मेरे सामने ही बने रहो।

भ्रमरगीत के अन्दर सूर ने इसी भाव का अन्य प्रकार से उल्लेख किया है:

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन-क्रम वचन नन्द नन्दन उर यह दृढ़ करि पकरी।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि कान्ह-कान्ह जकरी।
सुनत योग लागत हमें ऐसो ज्यों करुई ककरी।
सुतौ व्याधि हमकों लै आये देखी सुनी न करी।

---

१. न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥ ६। ४०
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९-२२॥ गीता

यह तो 'सूर' ताहि लै सौंपो जिनके मन चकरी ॥ ६० ॥

पृ० सं० ७०३, सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस सं० १९९१ । ना० प्र० स० ४६०६

वेद तथा सूर दोनों के शब्दों में भक्त को केवल प्रभु का अवलम्बन है और वह दिन हो या रात्रि, स्वप्न की अवस्था हो या जाग्रत अवस्था, सभी कालों और सभी अवस्थाओं में अपने प्रभु को सामने ही देखना चाहता है।

अब भक्ति-क्षेत्र की कुछ अन्य भावनाओं को देखिये :

विचारणा :

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुः वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमुनू मनिष्ये ॥

ऋ० ६।९।६

मेरे कान इधर-उधर भागते हैं। आँखें इधर-उधर देखने लगती हैं। हृदय में स्थापित ज्योति (चेतनता) आँख और कान के बन्द रहने पर भी इधर-उधर घूमती है। मेरा मन दूर-दूर तक चिन्ता के विषयों में विचरण करता है। हे प्रभो ! फिर मैं क्या बोलूँ और कैसे विचार करूँ। सूर लिखते हैं :

मेरी कौन गति ब्रजनाथ ?
भजन विमुख रु सरन नाहीं, फिरत विषयनि साथ।
हौं पतित, अपराध-पूरन, भर्यौ कर्म-विकार ।
काम क्रोध रु लोभ चितवौं, नाथ तुमहिं बिसार ॥ १२६ ॥
इन्द्री अजित, बुद्धि विषयारत, मन की दिन-दिन उलटी चाल।
काम-क्रोध-मद-लोभ-महाभय, अह-निसि नाथ, रहत बेहाल।
जोग-जुगति, जप-तप, तीरथ-ब्रत, इनमें एकौ अंक न भाल।
कहा करौं, किहि भाँति रिझावौं, हौं तुमकौ सुंदर नंदलाल ॥ १२७ ॥

पश्चात्ताप :

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृणवत् सखा ते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥ ऋ० ७।८८।६

हे प्रभु ! मैं तेरा सदा का बन्धु और साथी हूँ। पर, हाय ! तेरा प्रिय होकर भी मैं कितने अपराध किया करता हूँ ? हे पूज्यदेव ! मैं पाप करते हुये भोग न भोगूँ। मुझ स्तुतिकर्ता को अपनी शरण में रखो।

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यौ, तब ते देह गेह निज जान्यौं।
माया बस सरूप बिसरायौ, तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायौ ॥ विनय० १३६
मेरैं हृदय नाहिं आवत हौ, हे गुपाल हौं इतनी जानत।
कपटी, कृपन, कुचील, कुदरसन, दिन उठि विषय-वासना बानत ॥
कदली कंटक, साधु असाधुहिं, केहरि कै संग धेनु बंधाने।
यह विपरीत जानि तुम जन की, अंतर दै बिच रहे लुकाने ॥ सूर० २१७

जब तैं जग जनम लियौ, जीव नाम पायौ।
तब तैं छुटि औगुन इक नाम न कहि आयौ ॥
प्रभु की प्रभुता यहै जु दीन सरन पावै। सूर० १२४

उद्बोधन :

न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्याः चासुतृप उक्थ शासश्चरन्ति ॥ यजु० १७।३१

हे मनुष्यो ! क्या तुम उसे नहीं जानते, जिसने इन सब को उत्पन्न किया है ? अरे तुम कुछ और ही हो गये हो। तुम में और प्रभु में बहुत अन्तर पड़ गया है। अज्ञान के कुहरे से ढके हुये, केवल अपनी प्राण-तृप्ति में मग्न और प्रलापी बन कर तुम क्यों व्यर्थ मार्गों में भटक रहे हो ?

इत-उत देखत जनम गयौ।
या झूठी माया कै कारन, दुहुं दृग अंध भयौ।
वै त्रिभुवनपति बिसरि गये तोहिं, सुमिरत क्यों न रह्यौ ॥
श्री भागवत सुन्यौ नहिं कबहूं, बीचहिं भटकि मर्यौ।
सूरदास कहै, सब जग बूड्यौ, जुग-जुग भक्त तर्यौ ॥ २९१ ॥सूर०

जनम सिरानो ऐसैं-ऐसैं।
कै घर-घर भरमत जदुपति बिनु, कै सोवत, कै बैसे।
कै कहुं खान-पान-रमनादिक, कै कहुं बाद अनैसें ॥ सूर० २९३

व्याकुलता :

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ऋ० ७, ८९, ४

हे शक्तिशाली प्रभु ! मैं प्यासा मर रहा हूँ। चारों ओर से मुझे जल की धारायें घेरे हुये हैं, मैं उनके बीच में बैठा हूँ, फिर भी पिपासा से व्याकुल हो रहा हूँ। हे देव ! दया करो। रक्षा करो।

सन्त कबीर ने इसी भाव को लेकर यह गीत लिखा है :

पानी में मीन प्यासी । मोहिं देखत लागे हांसी ॥
सुखसागर नित भरो ही रहत है, पल पल रहत निरासी ॥
कस्तूरी बन में मृग खोजत, सूंघि फिरत बहु घासी ।
आत्मज्ञान बिनु नर भटकत है कोई मथुरा कोई कासी ॥

तुलसी भी लिखते हैं :

आनंद सिंधु मध्य तव बासा । बिनु जाने कस मरसि पियासा ॥
मृग भ्रम वारि सत्य जिय जानी । तहँ तू मगन भयौ सुख मानी ॥

विनय० १३६

आश्वासन :

कद्रु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते । तदिद्धि अस्य वर्धनम् ॥

साम० पू० ३, १, ४, २,

महान्, ज्ञानी परमेश्वर के लिये यदि थोड़ा-सा भी स्तुति-वचन उच्चारण किया जाय, तो वह निश्चय ही भक्त का संवर्धन करने वाला है ।

तुलसी भी लिखते हैं :

भाय कुभाय अनख आलसहूं । नाम जपत मंगल दिसि दसहूं ॥ बाल० ४४

अभिलाषा :

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ ऋ० ८, ४४, २३

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! तेरे आशीर्वाद यहाँ सत्य हों । या तो मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जा ।

लोचन और न देखत काहू और सुनत नहिं कान ।
सूर स्याम को वेगि मिलावहु कहत रहत घट प्रान ॥ सूर० २२७०

कृष्ण राधा एक जगत बानी । करौ मन काम सुनि दीन बानी ॥ सूर २५६५

अब तोहिं जान न देहौं राम प्यारे । ज्यों भावै त्यों होहु हमारे ॥
चरननि लागि करौ बरियायी । प्रेम प्रीति राखौ उरझायी ॥

पद ३ कबीरग्र० पृष्ठ ८७

कहै कबीर हरि दरस दिखावौ । हमहि बुलावहु कै तुम चलि आवहु ॥

कबीरग्रन्था० पृ० २०७, पद ३५८

विनय :

इमं मे वरुणश्रुधिहवमद्या च मृडय । त्वा मवस्यु राचके ॥ ऋ० १, २५, १९

हे सर्वश्रेष्ठ वरणीय देव ! मेरी इस विनय को सुनो और मुझे सुखी कर दो । रक्षा की कामना लिये हुये आज मैं तुमसे यही प्रार्थना कर रहा हूँ ।

मन क्रम वचन कहति हौं सांची, मैं मन तुमहिं लगायौ ।

सूरदास प्रभु अन्तरजामी क्यों न करौ मन भायौ ॥ सू० सा० २३०२

दसरथ के समरथ तुही, त्रिभुवन जस गायो ।

तुलसी नमत अवलोकिये, बलि, बाँह बोल दे बिरदावली बुलायो ॥ विनय० २७६

प्रभु की विशाल भुजायें हम सब की रक्षा करने के लिये फैली हुई हैं । उसकी शरण बृहद् है, महान् है । जिसने उसकी शरण ग्रहण कर ली, वह निहाल हो गया, निर्भय, ज्योतिष्मान् और आनन्दी बन गया । इस प्रकार की भावनायें हिन्दी के मध्यकालीन सन्तों ने अनेक बार प्रकट की हैं । वैदिक साहित्य में भी वे इसी रूप में उपलब्ध होती हैं । इन्हीं से मिलती-जुलती भावनायें वेद तथा भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं के आधार पर नीचे कुछ और उद्धृत की जाती हैं :

(१) वेद कहता है कि यदि भगवान् को नहीं जाना, तो वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ अथवा ऋचाओं का पाठ व्यर्थ है :

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ? ऋ० १।१६४।३९

जो पै जानकी नाथ न जाने ।

तौ सब करम धरम श्रम दायक ऐसेहि कहत सयाने ॥ विनय० २३६

(२) जो उसे जानते हैं, वे ही आनन्द में स्थित होते हैं :

य इत्तद्विदुस्त इमे समासते । ऋ० १, १६४।३९

जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई ॥ अयो० १२८

होई अचल जिमि जिव हरि पाई ॥ कि० १६

(३) निकट से निकट विद्यमान प्रभु को जीव देख नहीं पाता और निकट रहती प्रकृति को, माया को, छोड़ नहीं पाता :

अन्तिसन्तं न जहाति अन्तिसन्तं न पश्यति । अथर्ववेद १०, ८, ३२

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।

याके लिये सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ।
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनि खोयो ॥

विनय० २४५

(४) जरा-मरणधर्मा शरीर में सोये हुये जीव ! उठ, जाग्रत हो :
इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे । यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥

अथर्व० १०।८।२६

जागि रे जीव जागि रे ।
चोरन को डर बहुत कहत हैं उठि उठि पहरे लागि रे ॥ क० ग्र० पद ३५०
जागि जागि जीव जड़ जोहै जग जामिनी ।
देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी ॥ विनय० ७२

(५) शुभ, ऐश्वर्य और श्रेष्ठ दान के लिये प्रभु हमें प्रेरित करें :
देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने । ऋ० ६, ७१, २
हौं हार्यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै ।
तुलसिदास बस होहि तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥ विनय० ८९

(६) प्रभु समीपता के साथ जीव की सेवा कर रहे हैं, उसे अपनी ओर आकर्षित करते हुये अकारण उसके हित में लगे हैं :
सदा व इन्द्रश्चर्कृषत् आ उपो नु स सपर्यन् । न देवो वृतः शूर इन्द्रः ।

(सोम० पू० ३, १, ४)

कबीर हरि सब कौं भजै, हरि कौं भजै न कोय । (क० ग्र० ४० पृ० ७१)
बासुदेव की बड़ी बड़ाई ।
बिनु बदलै उपकार करत है स्वारथ बिना करै मित्राई ॥ सूरसागर ३
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी । विनय० १६६
यहै जानि चरननि चितु लायो ।
नाहिंन नाथ अकारन को हितु तुम समान पुरान श्रुति गायो ॥ वि० २४३

(७) प्रभु दीन और प्रणत, पापी और पतित पर भी दया करने वाले हैं :
यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः ॥ ऋ० ७, ८७, ७
असि दभ्रस्य चिद् वृधः । (सामवेद १००३) दभ्र = दबा हुआ, दीन एवं दलित प्रभुकृपा से उन्नत बनता है :
आरत दीन अनाथनि के हित मानत लौकिक कानि हौं । विनय० २२२

आरत अधम अनाथ हिन को रघुवीर समान। विनय० १९१
दास तुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीति
नाहिने कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि। विनय० २१६
जहां जहां सुमिरे हरि जिहि विधि तहं तैसे उठि धाये हो।
दीन बन्धु हरि, भक्त कृपा निधि, वेद पुराननि गाये हो॥ सू० सा० ७
जब जब दीननि कठिन परी।
जानत हौं करुनामय जन कौं तब तब सुगम करी॥ सू० १६
स्याम गरीवन हूं के गाहक।
सूरदास सठ ताते हरि भज आरत के दुखदाहक॥ सू० सा० १९

(८) देव ! मुझ पतित पापी का उद्धार करो :

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथापुनः।
उतागश्चक्रुषंदेवा देवा जीवयथा पुनः॥ ऋ० १०।१३७।१

नीचे गिरा हुआ हूँ प्रभुवर हाथ पकड़ कर मुझे उठा लो।
पापी हूँ मैं पतित पुरातन जीवन देकर देव सम्हालो॥ भक्तितरंगिणी
नाथ सकौ तौ मोहि उधारौ।
पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तिहारौ॥ सू० सा० १३१

(९) प्रभु की शरण प्राप्त हो जाने पर जीव अपने स्वरूप, विस्तार तथा ऐश्वर्य आदि को प्राप्त कर हर्षित हो उठता है, मंगलमय बन जाता है :

तस्य ते शर्मंन्नुपसद्यमाने राया मदेमतन्वाइतना च॥ ऋ० ६।४९।१३
देखत रघुवर प्रताप, बीते संताप पाप ताप त्रिविध प्रेम आप दूरि ही करै।
तुलसिदास प्रभु कृपालु निरखि जीव जन निहाल भंज्यौ भव जाल परम मंगलाचरै॥
विनय० ७४

(१०) प्रभु दूर भी है पास भी :

'तद् दूरे तद्वन्तिके' यजु० ४०।४
ना वह मिला न वेहरा ऐस रहा भरपूर।
दिष्टिवन्त कहं नीयरे अन्ध मुरुख कहं दूर॥ पदमा० ८

(११) प्रभु के समान कोई नहीं है और न कोई उसकी क्रियाओं को समझ ही सकता है :

अनुत्तमा ते मघवन्न किर्नु न त्वावाँअस्तिदेवताविदानः'
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्याकृणुहि प्रवृद्ध'

ऋग्वेद १।१६५।९

ना कोई है ओहिके रूपा। ना ओहि काहु अस तैस अनूपा॥ पद्मावत ८
ताकर कीन्ह न जानइ कोई। करै सोइ जो मनचित होई॥ पद्मावत ६
उपनिषद् भी कहती है: 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' श्वेता०

(१२) प्रभु अच्युत को च्युत करने वाले, बलवानों में शिरोमणि और भक्तों का उद्धार करने वाले हैं:

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानाम् मन्ये त्वा च्यवनं अच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥ ऋ० ८।९६४
छत्रहिं अछत निछत्रहिं छावा। दूसर नाहिं जो सरवरि पावा॥ पद्मावत ६

अवगति गति जानी न परै।
रीते भरै भरै पुनि ढारै चाहै फेरि भरै॥
पाहन बीच कमल विकसावै जल में अगिन जरै॥
राजा रंक रंक तैं राजा लै सिर छत्र धरै॥
सूर पतित तरि जाय छिनक में जौ प्रभु नेंकु ढरै॥ सू० सा० १०५

बारक बिलोकि बलि कीजै मोहिं आपनो।
राय दसरथ के तू उथपन थापनो॥
साहिब सरन पाल सबल न दूसरो।
तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो॥ विनय० १८०

(१३) प्रभु अपने भक्त की अभिलाषाओं को पूर्ण करते हैं, यह उनका विरद है, बाना है, स्वभाव है:

'वृषा सोम द्युमां असि वृषादेव वृषव्रतः। वृषा धर्माणिदध्रिषे।'

साम० १।५०।४

'यदंग दाशुषे त्वं अग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमंगिरः।'

ऋ० १।१।२१

दीनता दारिद दरै को कृपावारिधि बाज।
दानि दसरथ राय के तुम बानइत सिरताज॥ विनय० २१९
एक दानि सिरोमनि साँचो।

जोइ जांचौ सोइ जाचकता वस फिरि वहु नाच न नाच्यौ ॥ विनय० १६३
राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होइ कै रानौं।
सूरदास प्रभु की महिमा अति साखी वेद पुरानौं ॥ सू० सा० ११

(१४) प्रभु ! हमारे माता-पिता सब कुछ तुम्हीं हो। तुम्हीं रक्षा करो :
'त्वं त्राता तरणेचेत्योभूः। पिता माता सदमिन् मानुषाणाम् ॥ ऋ० ६।१।५
दीन कौ दयालु सुनियौ अभय दान दाता।
सांची विरुदावलि तुम जग के पितुमाता ॥ सू० सा० १२२
कबहुं कृपा करि रघुबीर मोहू चितैहौ।
भली बुरी जन आपनौ जिय जानि दयानिधि अवगुन अमित बितैहौ ॥
तुलसिदास कासौं कहै तुमहीं सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हौ ॥ विनय० २००

(१५) ब्रह्माण्ड का वह स्वामी मुझ अपरिपक्व को पका दे :
'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा समाधीरःपाकमत्राविवेश। ऋ० १।१६४।२१
जिसने अपने शरीर को तप से नहीं तपाया, वह कच्चा है और उस पवित्र प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता। पके हुये ही उसे प्राप्त करते हैं:
'अतप्ततनूर्नंतदामो अश्नुते श्रतास इद् वहन्तः तद् समाशत।' ऋ० ९,८३,१
ऊधौ भली भई ब्रज आये।
विधि कुलाल कीन्हे कांचे घट ते तुम आनि पकाये ॥
रंग दियौ हौ कुंवर सांवरे अंग अंग चित्र बनाये।
गलन न पाये नैन नीर जो अवधि अटा दर छाये ॥
भये संपूरन भरे प्रेम जल छुवन न काहू पाये।
राज काज ते गये सूर प्रभु नंद नंदन कर लाये ॥
सूरसागर ४३९९

(१६) हे पुरुहूत ! हे ऐश्वर्यशालिन् ! हम तुम्हारे हैं, हमारे लिये तुम्हारे अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई भी सुख देने वाला नहीं है :
वयं घा ते त्वे इद् उ इन्द्र विप्राअपि ष्मसि।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चिन् मघवन्नस्तिमर्डिता ॥ ऋ० ८,६६,१३
मेरी तौ पति गति तुम अन्तहि दुख पाऊं।
हौं कहाइ तिहारौ अब कौन को कहाऊं ॥ सू० सा० १६६

हरि बिनु अपनो को संसार।
माया मोह लोभ हैं चाढ़े काल नदी की धार॥ सू० सा० ८४
जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई बिनती सुनि प्रभु मेरे॥
सब तजि तुव सरणागति आयौ दृढ़ करि चरण गहे रे। सू० सा० १७०
कृपा अब कीजिये बलि जाऊं।
नाहिन मेरे और कोऊ बलि चरन कमल बिनु ठाऊँ। सू० सा० १२८
राम राय बिनु रावरे मेरे को हित सांचौ।
स्वामि सहित सब सों कहौं सुनि गुनि बिसेषि कोउ रेख दूसरी खांचौ॥
विनय० २७७

मोरे हित हरि सम नहि कोऊ। एहि अवसर सहाइ सोउ होऊ॥ बाल० १६०

(१७) वंशी की ध्वनि :

'प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरन्श्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः।
अपानक्षासोबधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।
ऋ० ९।७३।६

अपने अतीत धाम में श्लोक यन्त्र वाली, वेगवान् जगत् का ज्ञान कराने वाली वीणा बज रही है। अन्धे और बहरे इसे छोड़ देते हैं तथा दुष्ट कर्मों में लीन प्राणी ऋत-पथ को पार नहीं कर पाते :

चुवत अमी रस भरत ताल जहं सब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ि सिंधु को सोखै नहिं कछु जात बखानी हो।
चांद सुरज तारागण नहिं वहं नहिं वहं रैन बिहानी हो। अतीतधाम
बाजे बजें सितार बांसुरी रंरकार मृदुबानी हो।
कहं कबीर भेद की बातें बिरला कोउ पहिचानी हो।
कर पहिचानी फेर नहिं आवै जमजुलमी की खानी हो। क०वाणी, १११
(कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी)

अधर बिम्ब तें अरुन मनोहर मोहन मुरली राग।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन ब्रज पर बरसन लाग॥ सू० सा० २३९५

(१८) महामूल्य नग के समान अमूल्य प्रभु को छिपा कर रखा जाता है। उसे किसी भी मूल्य पर बेचा नहीं जा सकता :

महे चन त्वा मद्रिवः पराशुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय न शताय शतामघ ॥ ऋ० ८।१।५
धनी धन कबहूं न प्रगटै धरै ताहि छिपाय ।
तैं महानग स्याम पायौ प्रकटि कैसे जाय ॥ सू० सा० २४६१
चिन्तामनि क्यों पाइयै ठोली। मन दे राम लियो निरमोली ॥ क०ग्र०३३४

(१९) हे अनन्त प्राणियों के प्यारे ! परमानन्द-पूर्ण प्रभु जगो। हम आह्लादित हृदयों से आपके दर्शन करना चाहते हैं :
अग्निं मंद्रं पुरुप्रियं शीरं पावक शोचिषम् । हृद्भिर्मन्द्रेभिरीमहे ॥ ऋ० ८।४३।३१
जागिये गुपाल लाल आनंद निधि नंदलाल ।
जसुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे ॥
सुनत बचन प्रिय रसाल जागे अतिसय दयाल भागे जंजाल जाल दुख कदंब टारे॥
त्यागे भ्रम फंद द्वंद निरखि के मुखारविंद सूरदास अति अनंद मेंटे मद भारे ॥
सूरसागर ८२३

(२०) प्रभो ! आज ब्रह्मचर्यादि दिव्य शक्तियाँ भी कुछ काम नहीं कर रहीं, आप ही बचाइये । सन्तप्त हुआ मैं आज तुम्हीं को पुकार रहा हूँ :
देवान् यन्नाथितोहुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रून् आलभे, ते नोमृळन्त्वीदृशे ॥ अथर्व० ७।२०९।७
नाथ विकट संकट की बेला ।
रिपु दल चारों ओर खड़ा है देख मुझे असहाय अकेला ॥
देवों का आह्वान करूँ मैं पर वे भी मुख मोड़ चले क्यों ?
ब्रह्मचर्य व्रत तप संयम सब मुझ विपन्न को छोड़ चले क्यों ?
इन्द्रिय-दमन शमन मन-तन का मैंने खेल व्यर्थ ही खेला । नाथ०
मेरी इस दयनीय दशा पर दया दृष्टि करुणाकर डालो ।
मेरी बिगड़ी बात बना कर कष्ट कूप से नाथ निकालो ॥
पलटें पुण्य कर्म फिर मेरे लगे विजयश्री सुख का मेला । नाथ०
भक्तितरंगिणी

तुम जनि मन मैलो करौ, लोचन जनि फेरौ ।
सुनहु राम बिनु रावरे लोकहूँ परलोकहुं कोउ न कहूं हित मेरो ॥
भगतिहीन वेद बाहिरो लखि कलिमल घेरौ ॥

देवनहू देव परिहर्यो अन्याव न तिनको हौं अपराधी सब केरो ॥
है है जब तब तुमहिं तें तुलसी को भलेरो।
देव दिनहु दिन बिगरिहै बलि जाउँ बिलम्ब किये अपनाइये सवेरो ॥
वि० २७२

(२१) प्रभु जिसकी रक्षा करते हैं, उसे कोई दबा नहीं सकता :

यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा।
न किः स दभ्यते जनः ॥ साम०
जाको मन मोहन अंग करै।
ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग बैर परै ॥ सू० सा० ३६
जाको राखै साइयाँ मारि न सकिहै कोइ।
बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होइ ॥ क० ग्र०

(२२) प्रभु ने जिसके सवनों में, यज्ञों में रमण किया, जिसे अपना किया, वह बड़े-बड़े आक्रान्ताओं को भी जीत लेता है :

यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः। ऋ० १०।४३।६
महाराज रामादर्यो धन्य सोई।
गरुअ गुन रासि सर्वज्ञ सुकृति सूर सीलनिधि साधु तेहि सम न कोई ॥
वि० १०६

जाकौं हरि अंगीकार कियौ।
ताके कोटि विघन हरि हरि कै अभय प्रताप दियौ ॥
दुरवासा अमरीष सतायौ सो हरि सरण गयौ।
परतिग्या राखी मन मोहन फिर तापै पठयौ ॥
बहुत सासना दल प्रहलादहिं ताहि निसंक कियौ।
निकसि खंभ तें नाथ निरन्तर निज जन राखि लियौ ॥ सू० सा० ३७

(२३) हे देव ! मेरा रथ पिछड़ गया है, इसकी रक्षा करो और आगे बढ़ा दो :

इन्द्र प्रणो रथं अव पश्चाचित् सन्तमद्रिवः। पुरस्ताद् एनं मे कृधि ॥
ऋ० ८।८०।४

जनम जनम हौं मन जित्यो, अब मोहि जितैहौ।

हौं सनाथ ह्वैहौं सही तुम हू अनाथपति जौ लघुतहि न भितैहौ ॥
विनय० २७०

(२४) प्रभो ! तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे साथ रह कर ही हम कलुष पर विजय प्राप्त कर सकते हैं :

त्वयाहृत् इन्द्र युजा वयं, प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः । त्वमस्माकं तवस्मसि ॥
ऋ० ८।९२।३२

तुम अपनायौ तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै ।
जेहि स्वभाव विषयन लग्यौ तेहि सहज नाथ सों नेह, छांडि छल करिहै ॥
हरषिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरिहै ।
हानि लाभ सुख दुःख सबै समचित हित अनहित कलि कुचालि परिहरिहै ॥
विनय० २६८

हम भक्तन के भक्त हमारे ।
सुनि अरजुन परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे ॥
भक्तन काज लाज जिय धरि कै पाइ पियादे धाऊँ ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ ॥
जो भक्तन सौं बैर करत है सो बैरी निज मेरौ ।
देखि विचारि भक्त हित कारन हाँकत हौं रथ तेरौ ॥सू०सा०२७२

(२५) पिता ! अपना पुत्र समझ कर हमारे अपराधों को क्षमा करो :

'यत् चिद् हिते विशोयथा, प्रदेव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यवि द्यवि ।
ऋ० १।२५।१

माधव जू जो जन ते बिगरे ।
तऊ कृपाल करुणामय केशव प्रभु नहिं जीय धरै ॥
जैसे जननि जठर अंतरगत सुत अपराध करै ।
तौऊ जतन करै अरु पोसै निकसे अंक भरै ॥ सू० सा० ११७
हरि जननी मैं बालक तेरा । काहे न अवगुण बकसहु मेरा ॥
सुत अपराध करै दिन तेते । जननी के चित रहैं न तेते ॥
कर गहि केस करै जो घाता । तऊ न हेत उतारै माता ॥
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी । बालक दुखी दुखी महतारी ॥ क० ग्रं० १११
६६, १०० भ० वि०

(२६) संसार की भयंकर पथरीली सरिता:

अश्मन्वती रीयते संरभध्वं, उत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीमो अशिवायेऽसन् शिवान् वयं उत्तरेमा भिवाजान् ॥¹

ऋ० १०।५३।८

यह विषयों की नदी वेग से बह रही। जब इसके हों पार मिलेगा सुख सही ॥
इसमें फिसलाने वाली चिकनी शिला। कदम-कदम पर पैरों को देती हिला ॥
ऊपर से यह अधिक पाप-संग्रह लदा। पार नहीं होने देता है कष्टदा ॥
परले तट पर ज्ञान शक्ति कल्याण है। उतरो इसके पार इसी में त्राण है ॥

भक्तितरंगिणी

अब के नाथ मोहिं उधारि।
मगन हौं भव अम्बुनिधि में कृपासिन्धु मुरारि ॥
नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राहअनंग ॥
मीन इंद्रिय अतिहि काटत, मोट अघसिर भार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सिवार ॥
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर ॥
थक्यो बीच विहाल विह्वल सुनौ करुणामूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज के कूल ॥ सू० सा० ९९

(२७) नाथ! यह समस्त पृथ्वीलोक तुम्हारे पवित्र रक्षक नाम की भीख माँग रहा है:

'तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो अवस्युर्नाम भिक्षते ।' ऋ० ७।३२।१७

भीख मिले अभिराम नाम की। मिटे कालिमा कुटिल काम की ॥
पीड़ित पृथिवी शरण पड़ी है। निज रक्षा हित द्वार खड़ी है।
धर्म कर्म क्रम विषम, व्यस्त-सब। यम-नियमों की गति बिगड़ी है ॥
एक तुम्हीं गति क्षीण-क्षाम की। भीख मिले अभिराम नाम की ॥

भक्तितरंगिणी

लंक बिभीषन, राज कपि, पति मारुति, खग मीच।
लही राम सों, नाम-रवि चाहत तुलसी नीच ॥ दोहा० ३९

अब तुम नाम गहौ मन नागर।
जातें काल अगिनि ते बांचौ सदा रहौ सुख सागर। सू० सा० ९१
पतित पावन जानि सरन आयौ।
उदधि संसार सुभ नाम नौका तरन अटल स्थान निज निगम गायौ॥
भक्त वत्सल कृपानाथ असरनसरन भार भूतल धरन जस सुहायौ॥
सू० सा० ११९

सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु सुमिरत होत कलिमल छल छीनता।
करुनानिधान बरदान तुलसी चहत सीतापति भक्ति सुरसरि नीर मीनता॥
विनय० २६२

(२८) हे शक्ति के स्रोत! आप जिस धन को मेरे योग्य समझतें हों, जिससे मेरा हित हो, वही मुझे प्रदान करें:

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य।
तमानो वाजसातये वियोमदे यज्ञेषुचित्रमाभर। ऋ० १०।२१।४
जो मोहि जोग विभव मय माहीं। अमर देव हौं जानत नाहीं॥
सत्यसिन्धु तुम परम सुजाना। विदित तुमहिं मन की गति नाना॥
लावहु सोइ जो करहि बल लाहू। मन महं भरहि उमंग उछाहू॥
पाइ विमल धन सोइ सुरराऊ। करहुँ प्रसन्न तुमहिं सत भाऊ॥
भक्तितरंगिणी

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥ बाल० १६०
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा। हित सब ही कर रौरे हाथा॥ अयो० २९१
तुमहिं नीक लागहि रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥ अर० २२
(२९) मेरी समस्त कामनायें प्रभु के ऊपर आश्रित हैं:

त्वे इत् कामं पुरहूत शिश्रिय। ऋ० ८।४३।२
चिन च्यन्ता चिन्ता करै, यहै प्रभु की बाणि। क० ग्रं० दोहा ५, पृ० ५८
कबीर का तू च्यन्तवै का तेरा च्यंता होइ
अण च्यंता हरि जी करैं, जौ तोहि च्यंत न होइ। दो० ६, १५८

(३०) आत्म-ज्ञान मोह, शोक आदि को नष्ट कर देता है और एकत्व की भावना को जागृत करता है:

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः। यजु० ४०।७
जब थैं आतम तत विचारा।
तब निरवैर भया सबहिन थैं काम क्रोध गहि डारा॥
व्यापक ब्रह्म सबनि में एकै को पंडित को जोगी।
राणा राव कवण सूं कहिये कवनि बैद को रोगी॥
इनमें आप आप सबहिन में आप-आप संग खेलै।
नाना भाँति गढ़े सब भाँड़े रूप धरे धरि मेलै॥

क० ग्रं० पद १८६

(३१) प्रभु की छाया अमृत है:
'यस्यच्छाया अमृतम्' यजु० २५।१३
जेइ पाई वह छाँह अनूपा। सो नहिं आइ सहै यह धूपा॥
पथिक जो पहुंचै सहि कै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू॥ पद० १७

(३२) प्रभु दुरितहारी और मंगलकारी हैं:
'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रन्तन्न आसुव।' यजु० ३०।३
दिव्य गुणधारी जग के जनक दुरित दल सकल भगा दो दूर।
किन्तु जो करे आत्म कल्याण उसी को भर दो प्रभु भरपूर॥

भक्तितरंगिणी

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी॥ बाल० ११
'स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः' ऋ० १।९९।१
दीन दयालु बिरद सम्भारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥ सु० २८

(३३) अब मैं संसारी असत् पथ से हटकर दैवी सत् पथ से चलूँगा:
'नाहमतो निरयादुर्गहैतत्तिरश्चिता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै।' ऋ० ४।१८।२
आज दिखाई दिया मुझे पथ, यही राज पथ जाता घर को।
मंगल मार्ग सामने मेरे, अब क्यों खोजूं डगर डगर को॥
अब न चलूंगा इस जग-मग पर, इसमें जगमग चमके माया।
मेरे लिये विकट बीहड़ बन, पग-पग पर कण्टक-कुल छाया॥
इसकी चकाचौंध में पड़ कर, भटक गया मैं भोजन भर को॥ १॥

अब मैं तोड़ पार्श्व सम्मुख का, अपनी सीधी राह चलूंगा।
अब तक किये न गये किसी से, ऐसे कर्म अनेक करूँगा॥
मुक्ति-युक्ति पाकर निकलूँगा, इस भवबन्धन से बाहर को॥ २॥
अब भव से विग्रह ठन जाये, पर भव-भव प्रसन्न हो जाये।
नम्र बनूं, पूछूँ निज गुरु से चारु चरित उपदेश सुहाये॥
बहुत दिनों के बाद देख लूँ प्रेम-पयोधि, स्नेह-निर्झर को॥ ३॥

भक्तितरंगिणी

अब लौं नसानी अब न नसैहों।
राम कृपा भव निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहों॥
पायो नाम चारु चिन्तामनि, उर कर ते न खसैहों।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कञ्चनहिं कसैहों॥
परबस जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहों।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहों॥ विनय० १०५

कबीर ने जिस औघट घाट का वर्णन किया है, वह वेद का तिरश्चित र्श्व ही है। कबीर भी इसी पार्श्व से जाना चाहते हैं :

जिहिं पैंडे पंडित गये, दुनियां परी बहीर।
औघट घाटी गुरु कही, तिहिं चढ़ि अंग कबीर॥ ५॥

मधि कौ अंग तथा परचा कौ अंग, दोहा ९

(३४) विरहभावना :

'सस्वश्रोऽग्नेऽवमोभवोती नेदिष्ठोऽस्या उषसो व्युष्टौ
अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि। ऋ० ४-१-५

तुम्हें बुलाते तुम्हें बुलाते मेरी वाणी मन्द हुई है।
आ न सका स्वर मेरा अथवा श्रवण शक्ति तव बन्द हुई है।
मेरे देव! दूर तुम बैठे, कहीं निकट मेरे आ जाते।
उषाकाल में ऊपर से चल नीचे उतर दया दिखलाते॥
तो तुम मुझे देखकर होते द्रवित दया का हाथ बढ़ाते।
जगजाल में जटित जरा से जीर्ण व्यथित जन को अपनाते॥
पर तुम परम अवम कब बन कर मेरी करुण पुकार सुनोगे?
वरुण-पाश कर नाश सुगमता साथ बुलाने योग्य बनोगे? भक्तितरंगिणी

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिउ तरसै तुझ मिलन कौं मनि नाहीं विश्राम॥ ६॥
अंदेसड़ा न भाजिसी सन्देसो कहियां।
कै हरि आया भाजिसी कै हरि ही पास गयां॥ ९॥
आइ न सकौं तुझ पै सकौं न तुझे बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ॥ १०॥
अंखड़ियां झाईं पड़ीं पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड्या राम पुकारि पुकारि॥ २२॥
नैना अन्तरि आचरूं निस दिन निरखौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे सो दिन आवै मोहि॥ ३३॥
क० ग्रं०, साखी, विरह कौ अंग।

परबत समुद्र अगम बिच, बन बेहड़ घन ढंख।
किमि करि भेटौं कंत तोहि, ना मोहि पांव न पंख॥ पद्मा० ३४५
कंत कहाँ हौं लागौं हियरे। पंथ अपार सूझ नहिं नियरे॥ ३५०
रकत ढरा मांसू ढरा हाड़ भये सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई आइ समेटहु पंख॥ ३५०
जरत बजागिनि होउ पिय छाहां। आइ बुझाउ अंगारन माहां॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तें करु फुलवारी॥

कमल जो बिगसा मानसर छारहि मिलै सुखाइ।
अबहुं बेलि फिरि पलुहै जौ पिय सींचहु आइ॥ पद्मा० ३५४
अबहुं दिष्टि मया करु छांहिन तजु घर आउ।
मंदिर उजार होत है नवकै आनि बसाउ॥ ३५६ जायसी, पद्मावत

इसी प्रकार वेद तथा हिन्दी के भक्त कवियों में सिद्धि-सम्बन्धी तथ्य भी समान रूप से अभिव्यक्त हुये हैं। प्रकाश का वर्णन सभी स्थानों पर है। अन्तर कहीं-कहीं पर सत् एवं आत्मतत्त्व के प्रकाश में दिखलाई दे जाता है। तुलसी भक्ति को भी परमप्रकाशमयी कह देते हैं, जो वस्तुतः प्रकाश की ओर ले जाने वाली है। पर जो भक्ति को ही अपनी साधना का लक्ष्य मानते हों, उनके लिये उसे प्रकाशमयी कह देना असंगत भी नहीं है।

वैषम्य : ऊपर भावानुभूतियों के जिस साम्य को उपस्थित किया गया है उसमें वैषम्य की मात्रा भी विद्यमान है। वेद में पतित, दलित आदि शब्दों का इतना अधिक प्रयोग नहीं पाया जाता, जितना सूर और तुलसी में है। यह वैषम्य परिस्थितियों की उपज है। तुलसी जब लिखते हैं :

'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥ अरण्य० १९

अथवा : 'का बरनौं छवि आज की भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेव हाथ।'

अथवा : जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनत पाल भगवन्ता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिन्धु सुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्‌भुत करनी मरम न जानै कोई।
सो सहज कृपाला दीन दयाला करहु अनुग्रह सोई॥ बाल० २१७

तो मानों वे अपने युग की परिस्थिति और उसकी आवश्यकता का भी अभिव्यंजन कर देते हैं। हिन्दू जाति उन दिनों परतन्त्रता के पाशों में जकड़ी हुई अपने बल-विश्वास को तो विस्मृत कर ही चुकी थी, कहीं अन्यत्र से भी उसे अवलम्बन पाने की आशा नहीं रही थी। ऐसी दशा में उसने इन भक्त कवियों की वाणी द्वारा उस अशरण-शरण, करुणा-वरुणालय भगवान् का आश्रय ग्रहण किया, जो सर्वत्र और सर्वदा सब के अन्तःकरण में विद्यमान रहता है।

भगवान् के विविध रूपों में से तुलसी ने राम के धनुर्धर रूप का प्रचार किया। सूर कृष्ण के बालरूप के उपासक थे। इन दोनों रूपों के सम्बन्ध में हिन्दी के इन दोनों श्रेष्ठ कवियों ने हृदय की जिस भाव-राशि का उद्घाटन किया है, वह वैदिक मंत्रों में दृष्टिगोचर नहीं होती। सूर की वात्सल्य रस से सिक्त उक्तियाँ, उनकी विविधता, रमणीयता और व्यापकता सूर की ही विशिष्ट सम्पत्ति है। हिन्दी क्या, विश्व की किसी भी भाषा का साहित्य इस विषय में सूर की इस भाव-राशि की समता नहीं कर सकता। वेद में वात्सल्य भाव के संकेतमात्र हैं। इस संबन्ध में हम यही कहेंगे कि सूर ने वेद के बीजरूप वात्सल्यभाव को, जिसका उल्लेख हम वैदिक भक्ति में कर चुके हैं, सघन छाया वाले और नाना शाखा-प्रशाखाओं में फैलते हुये वात्सल्यरस के महान् वटवृक्ष में परिणत कर दिया है। वात्सल्य रस के साथ सूर ने कृष्ण के शृंगारी रूप का भी चित्रण किया है। कृष्ण का शृङ्गारी

रूप आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुष-प्रकृति के संयोग, सृष्टि के उन्मीलन और उसके सौन्दर्य पक्ष से संबन्ध रखता है। वेद में यह पक्ष भी मूल रूप से विद्यमान है, परन्तु इसका सूर जैसा विस्तृत वर्णन वहाँ उपलब्ध नहीं होता। वेद ही क्यों, सूर के शृंगारी वैभव की समता व्यासप्रोक्त भागवत का शृंगारी वर्णन भी नहीं कर पाता।

सूर के उन पदों में, जो आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व लिखे गये थे, जिस अशान्ति और व्याकुलता का वर्णन है, उसे हम भक्त की मानसिक परिस्थिति की अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं और तत्कालीन परिस्थिति से उत्पन्न समाज की पीड़ा का चित्रण भी। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' अथवा : 'हरि हौं सब पतितन को टीको' जैसी टेक वाले पदों में मानव की अन्तः एवं बाह्य दोनों परिस्थितियाँ अन्तर्भुक्त हो सकती हैं। सूर की यह प्रवृत्ति आचार्य वल्लभ से भेंट होने के उपरान्त नष्ट हो गई और उसका स्थान हरिलीला-गायन ने ले लिया। यह परिवर्तन सूर की आन्तरिक परिस्थिति को ही विशेषरूप से अभिव्यक्त करता है। समाज की पराधीनताजन्य पीड़ा के दर्शन इतनी अधिक मात्रा में कबीर की रचनाओं में भी नहीं होते। जायसी का प्रेमपथ भी इससे असंपृक्त है। इन दोनों कवियों के ग्रन्थों में समाज की उच्चनीच वैषम्य-जनित परिस्थिति अवश्य परिलक्षित होती है।

सन्तों ने पिण्ड और ब्रह्माण्ड की जिस एकता का अनुभव किया था, उसके अनुसार जो कुछ बाहर है, वही अन्दर भी दृष्टिगोचर होना चाहिये। बाहर जैसे दिन और रात्रि हैं, प्रकाश और अन्धकार हैं, उसी प्रकार अन्दर भी। बाहर का प्रकाश अन्दर का ज्ञान है और बाहर का अन्धकार अन्दर का अज्ञान है। जिस प्रकार मानव अन्धकार से ऊबकर प्रकाश की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार वह अज्ञान से ऊबकर ज्ञान की ओर चलता है। अन्धकार निशाचरों, राक्षसों, चोर और डकैतों को प्रिय है। इसी प्रकार काम, क्रोध आदि अज्ञान से रुचि रखते हैं और उसी में फलते तथा फूलते हैं। तुलसी की भक्ति पर लिखते हुए हम इन निशाचरों की क्रियाओं पर दृष्टिपात कर चुके हैं। इस सम्बन्ध की उक्तियाँ भी वेद और तुलसी की कृतियों दोनों में एक जैसी हैं, अन्तर यदि है, तो नामावलि का। रामगाथा में यह काम और क्रोध रावण है, तो वेद में अहि और वृत्र।

राम के धनुर्धर रूप के साथ तुलसी ने सौन्दर्य का भी समावेश किया है। राम बाल्यावस्था में अनुपम छवि वाले हैं, उनका अङ्ग-अङ्ग कमल के समान कोमल, चन्द्र के समान आह्लादकारी और कोटि-कोटि कामदेवों के समान आकर्षण का धाम है। युवावस्था में भी उनका यह सौन्दर्य ज्यों का त्यों बना हुआ है और आश्चर्य तो यह है कि तुलसी को भयङ्कर, कठोर रणभूमि की शस्त्र-शस्त्र की झनकार में भी राम की वही छवि दिखाई देती है। राम के शत्रु युद्ध करते हुए उनकी इस छवि पर मुग्ध हो जाते हैं। वेद में इन्द्र का युद्धकारी रूप वर्णित हुआ है, परन्तु वहाँ इस छवि का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं होता।

भावानुभूतियों में हमने वैदिक ऋषियों की उक्तियों के साथ सूर और तुलसी की पंक्तियों को ही अधिकांश में उपस्थित किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है, कि कबीर और जायसी इन अनुभूतियों से वञ्चित हों। उनकी रचनाओं में भी यह अनुभूतियाँ भरी पड़ी हैं, जिनका कुछ परिचय तो पाठकों को पीछे हो ही चुका है। भक्ति का क्षेत्र जिस स्तर से प्रारम्भ होता है, वह सभी साधकों के लिए एक समान है। साधक की अपनी अर्जित साधन-सम्पत्ति उसमें कुछ ही अन्तर कर सकती है, अधिक नहीं। प्रभु की स्तुति, प्रार्थना और उनके निकट पहुँचने की व्याकुलता, अधीरता जैसी हमारे हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में है, वैसी ही वैदिक ऋषियों में भी। वरुण सूक्त में : 'कदा नु अन्तर्वरुणे भुवानि' अथवा 'का ते उपेतिर्मनसो वराय' आदि पदों से जो अन्तः-पीड़ा अभिव्यक्त होती है, वह सूर, तुलसी, कबीर अथवा जायसी की अनुभूत पीड़ा से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इतना अवश्य सत्य है कि वैदिक ऋषि का हृदय जिस क्षिप्रता, सजगता और उल्लास के साथ प्रभु-प्राप्ति का अनुभव करता है, वह हिन्दी के भक्त-कवियों में दुष्प्राप्य है। सत् का प्रकाश-दर्शन होते ही जायसी योगियों की शब्दावलि में कह उठते हैं :

'अस्ति अस्ति सब साथी बोले। अन्ध जो अहे नैन बिधि खोले॥'

परन्तु वेद की निम्नाङ्कित उक्ति जैसी सहज प्रसन्नता इसमें नहीं है :

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षाद् अपां स्तोकोऽभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥

अथर्व० ६, १२४, १

प्रभु! तुम्हारी करुणा की एक बूँद मेरे ऊपर गिरी। उसके गिरते ही मुझे

ऐसा अनुभव हुआ जैसे मेरे समस्त सुकृत सफल हो गये हों। मैं कृतार्थ हो गया। मुझे आत्मशक्ति, ज्ञान, वेदमन्त्र तथा यज्ञ सबने कृतकृत्य कर दिया। मैं सबके आनन्दप्रद फल से संयुक्त हो गया।

कबीर इस विषय में वैदिक ऋषियों की अनुभूति के अधिक निकट कहे जा सकते हैं। सूर तो आचार्य वल्लभ के प्रसाद से स्वयंप्रकाश हो चुके थे। उन्होंने हरिलीला के दर्शन कर लिये थे। तभी तो जिस तन्मयता एवं भाव-मग्नता के साथ उन्होंने हरिलीला का गायन किया है, वह विश्व के साहित्य में अप्रतिम एवं अद्वितीय है। कोई साक्षात् द्रष्टा ही ऐसा वर्णन कर सकता था।

कबीर, सूर और तुलसी तीनों ही मोक्ष की अवहेलना-सी करते प्रतीत होते हैं। भगवद्भक्ति उनके लिये मोक्ष से भी अधिक श्रेयस्कर है। यह निस्संदेह एक ऐसा विचार है, जिसे भागवत भक्ति का ही विशेष अंग कहा जा सकता है। वेद में मोक्ष या तृतीय धाम की अवहेलना नहीं, अनेक बार प्रशंसा की गई है। जायसी इस विषय में वेद के साथ हैं, पर उनका स्वर्ग-वर्णन प्रमुख रूप से कुरान के आधार पर है और बहुत कुछ भौतिकता लिये हुये है।

भक्ति भक्ति के लिये—यह सिद्धान्त वेद का सिद्धान्त नहीं है। यह भी भागवतों के साथ ही विशेष रूप से सम्बद्ध है। वेद में भक्ति एक साधन है जो जीव को परमात्मा से मिलाने वाली है। वैदिक ऋषियों में जो सुदृढ संकल्प-शक्ति पाई जाती है, वह हिन्दी के भक्ति-कालीन कवियों में दिखाई नहीं देती। सम्भवतः यह उन दिनों की सामाजिक परिस्थिति के कारण है। हिन्दू जाति की संकल्प-शक्ति पारतन्त्र्य के कारण दब चुकी थी। हम इच्छायें करते थे, परन्तु वे पग-पग पर कुण्ठित हो जाती थीं अथवा कर दी जाती थीं। परिणामतः हमारी इच्छाशक्ति उतनी बलवती नहीं रह सकी। वेद के नीचे उद्धृत मन्त्रों में इस संकल्प-शक्ति का चमत्कार देखिये:

'अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविहुतम्॥ अथर्व० ६।२६।१
पाप ! अब परिपाक तेरा।
भर गया घट फूटने को, छूटने को भाग्य मेरा।
अब न मैं आधीन तेरे, तू पड़ा मेरे चरण में॥
दास बन सुख दे मुझे, फिर से न हो छल-छंद फेरा।

छोड़ दे अब तो, कुटिल ! मैं हूँ सरलता का पुजारी ।
आज मंगल-लोक में मेरा तने कल्याण-डेरा ॥

'अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमावहन्तु ॥ अथर्व० ९।२।११

जगा है मेरा मधु संकल्प ।
प्रतिद्वन्द्वी विष नष्ट हो चुका, रही न बाधा स्वल्प;
मेरे लिये खुले हैं अब तो विस्तृत मंगल लोक,
मेरी उन्नति वृद्धि-सिद्धि में रही न रंचक रोक ।
'आज झुकें सब मेरे आगे वे विदिशायें चार;
छहों दिशायें विस्तृत लावें वाञ्छित फल सुखसार ॥

'अहमेतान् शाश्वसतो द्वा द्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत ।
आह्वयमानां अव हन्मनाहनं दळहा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः ॥

ऋ० १०।४८।६

मैं अमर, अरे मैं सतत अमर ।
ये मरणशील परिणामजन्य, क्या प्रकृति-द्वन्द्व कर सकें समर ?
मैं वज्रायुध, मैं देवराज, मैं हूँ अमोघ बल शक्ति-सार ।
ये दो-दो के जोड़े असार, क्यों युद्ध हेतु करते पुकार ?
ये सबल दिखाई देते हैं, ललकार रहे झुकने वाले ।
मैं अचल, नहीं दबने वाला, ये अभी-अभी मरने वाले ।
मेरी प्रगल्भ संकल्प शक्ति, वाणी अदम्य दृढ़ बोल उठी ।
ये गिरे मरे द्वेषादि शत्रु, करुणा सरिता हिल्लोल उठी ॥

इस प्रकार के सबल, दृढ एवं भव्य संकल्प हिन्दी के भक्त कवियों की रचनाओं में नहीं मिलते । इन कवियों की रचनाओं में आर्त विनय की प्रधानता है । विरह की पीड़ा भी व्याकुल कर देने वाली है, जो वैदिक मंत्रों में भी दिखाई दे जाती है, परन्तु जिस चिर-विरह का प्रतिपादन इन भक्त कवियों ने किया है, उसके दर्शन वेद में नहीं होते ।

उपसंहार :

योगदर्शन में ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् परमेश्वर की भक्ति को नियमों में स्थान दिया गया है । नियम व्यक्तिगत हैं, अतः महर्षि पतञ्जलि भक्ति-

भावना को व्यक्तिगत ही मानते हैं। उन्होंने धर्मों को सामाजिक रूप दिया है। वैष्णव सम्प्रदाय ने भक्ति को व्यक्तिगत साधना तक ही सीमित नहीं रहने दिया, उसने उसे सामाजिक रूप भी प्रदान किया है और जैसा पीछे कई बार संकेत किया जा चुका है, भागवत-भक्ति के अंगों में सामाजिक सदाचार के तत्त्वों को पूर्ण रूप से सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रत्येक मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक दो रूप हैं। इन रूपों में उसे सामञ्जस्य करना होता है। अपने में लीन, एकान्तप्रिय व्यक्ति समाज के किसी काम नहीं आता। दूसरी ओर प्रमुख रूप से सामाजिक बना हुआ व्यक्ति बाहर से भले ही प्रख्यात प्रतीत हो, परन्तु अपने वैयक्तिक, आन्तरिक विकास से कोसों दूर रहता है। दोनों रूपों में सन्तुलन रखना मानव के लिये कभी-कभी अत्यन्त कठिन हो जाता है।

जिन चार कवियों की भक्ति-भावना पर हमने पीछे विचार किया है, उनमें गोस्वामी तुलसीदास सर्वाधिक सामाजिक हैं। विनयपत्रिका में उनका यद्यपि व्यक्तिगत रूप ही प्रकट हुआ है, परन्तु रामचरितमानस में उनकी सामाजिकता पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है। लोकोत्थान के लिये, समाज के कल्याण के लिये उन्हें धनुर्धर राम की पावन गाथा, कृष्णकथा की अपेक्षा, अधिक उपयोगी प्रतीत हुई और इसी हेतु उन्होंने उसे उन दिनों की सभी प्रचलित साहित्यिक शैलियों में निबद्ध किया।

तुलसी बार-बार राम के धनुर्धर रूप का उल्लेख करते हैं। राम की छवि का वर्णन जहाँ-जहाँ आया है, उसमें उन्होंने अधिकतर राम के इसी धनुर्धर रूप का चित्रण किया है। इस रूप में उन्हें अपने प्रभु का पतितपावन, प्रणतार्तिहर, दीन-दलित-रक्षक रूप दिखाई देता है। यह उनकी व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों परिस्थितियों का द्योतक है। जैसा लिख चुके हैं, सूर के प्रारम्भिक पदों में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति का समावेश है, जो आचार्य वल्लभ के संसर्ग से एकदम परिवर्तित हो गई और सूर का कायाकल्प हो गया। कबीर की रचनाओं में भी इसके दर्शन इतनी अधिक मात्रा में नहीं होते। वे सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर अवश्य तीव्र आघात करते हैं और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों वर्गों को सत्य धर्म के मार्ग पर लाना चाहते हैं। इस दिशा में वे हिन्दुओं की वर्णाश्रम-व्यवस्था और मुसलमानों के

आततायीपन को विनष्ट करना चाहते हैं, जिससे एक ओर समाज में साम्य का प्रचार हो और दूसरी ओर वह अहिंसा को अपना ले। जायसी का प्रेम-पथ साधनपक्ष को प्रमुखता देता है, प्रभु के पतितपावन रूप को नहीं। वह सदाचार के महत्त्व को जरा सा भी स्खलित होते नहीं देख सकता। कर्म की मर्यादा उसमें पूर्ण रूप से सुरक्षित है। इस दृष्टि से हम तुलसी को ही उन दिनों की सामूहिक जन-भावनाओं का प्रतिनिधि कवि कहेंगे। तुलसी की रचनाओं का जो इतना व्यापक प्रचार हुआ, उसका कारण यही है। व्यक्तिगत साधना के साथ, जिसे साधुमत कहा जा सकता है, उन्होंने सामाजिकता का, जिसे लोकधर्म का रूप प्राप्त है, अनुपम सामञ्जस्य करना चाहा।[1] और यह कहने में भी हमें सङ्कोच नहीं है कि तुलसी की सामाजिकता उनकी व्यक्तिगत साधना के विकास में किसी अंश तक बाधक भी सिद्ध हुई।

सामाजिकता अपने अञ्चल में अनेक दोषों को लिये रहती है। विशुद्ध सत्त्व-गुण-सम्पन्न व्यक्ति भी सामाजिकता के चक्र में पड़कर राग, द्वेष का आखेट बनने से बच नहीं सकता। तुलसी इसी सामाजिक पक्ष के कारण रजोगुण से अभिभूत दिखाई देते हैं। उनमें सत् की झलक है, पर उसकी स्थिरता नहीं। तुलसी जब अपनी मान्यताओं के विरुद्ध जाने वालों के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करते हैं, उन्हें खल, विषयी और पामर कहते हैं, अपनी भक्ति की स्वयं प्रशंसा करते हैं,[2] अपने को कलकण्ठ, हंस तथा चातक और दूसरों को काक, बक तथा दादुर कहते हैं[3] और डिप्लोमैटिक ढंग से शिवजी ही नहीं, अन्य इष्टदेवों की कथा को भी मृगतृष्णा के जल के समान हेय

---

१. वेद ने भी वैयक्तिकता तथा सामाजिकता के सामञ्जस्य को श्रेयस्कर समझा है :
यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।
यजुर्वेद २०-२५

यहाँ ब्राह्मण वैयक्तिकता के विकास का और क्षत्रिय सामाजिकता के विकास का प्रतीक है।

२. सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही। बा० ४६
३. खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कल कण्ठ कठोरा।
हंसहि बक, दादुर चातकहीं। हँसहिं मलिन खल विमल बतकहीं॥ बा०का० १८

लिखते हैं[1], तो ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे तुलसी की वैयक्तिक साधना में कहीं कोई बड़ा भारी ठूँठ अटका हुआ है, जो उन्हें व्यक्तिगत विकास के सर्वोच्च शिखर पर नहीं आने देता। उनकी असहिष्णुता भी उन्हीं की कृतियों से अनेक बार प्रकट[2] होती है। तो क्या तुलसी की साधना निम्नकोटि की थी? नहीं, ऐसा नहीं है। इन अपशब्दों, आत्म-प्रशंसक उक्तियों, अन्य देवगाथाओं की अवहेलना और परपक्ष के प्रति असहिष्णु प्रवृत्ति में तुलसी का समाज-संशोधक रूप बोल रहा है। उन्हें अपने विकास की उतनी अधिक चिन्ता नहीं है, जितनी इस पुरातन आर्य जाति के उद्धार की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी इसी प्रवृत्ति को लोक-धर्म-रक्षा का नाम दिया है।

सामाजिकता में तुलसी प्रथम, जायसी द्वितीय, कबीर तृतीय और सूर सबसे अन्तिम श्रेणी में आते हैं। व्यक्तिगत साधना में प्रवाह इसके विपरीत है। सूर रजोगुण से कोसों दूर, विशुद्ध सात्त्विक वृत्ति में लीन हैं। उन्हें हम भागवताचार्यों के शब्दों में ऐकान्तिक कह सकते हैं, जिन्हें न समाज की चिन्ता है, न उसके द्वारा अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव की और न उस तक पहुंचने वाले अपने प्रभाव की। नितान्त एकान्तरूप से हरिलीला का साथाकृत गायन और मनन ही उनका ध्येय था। अतः आत्मविकास में सर्वप्रथम स्थान हम सूर को देंगे। इसके पश्चात् कबीर, जायसी और तुलसी आते हैं। सम्भवतः रामगाथा का पावन जल तुलसी के मानस-मल को सामाजिकता का आवरण आ जाने से धो नहीं सका। विनयपत्रिका का निर्माण इसी मानस-मल को धोने के लिये हुआ था।[3]

तुलसी के समक्ष अपना और समाज का आदर्श स्पष्ट था। जब वे राम-गाथा गाते हैं, तो वे विष्णु के अवतार, दशरथ और कौशल्या के पुत्र, कोशल के अधिपति और मर्यादा पुरुषोत्तम राम के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय आदर्श चरित्र की ऐसी निर्मल झाँकी दिखाते हैं, कि वह जन-कल्याण-

---

१. जिन्ह यहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये।
तृषित निरखि रवि कर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥

२. काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि न तु चलिय पराई॥ बा० ८८

३. महर्षि व्यास भी महाभारत तथा १७ पुराण लिखकर मनःशान्ति प्राप्त नहीं कर सके थे। इसके लिये उन्हें श्रीमद्भागवत की रचना करनी पड़ी।

कारिणी और जनता का सामूहिक रूप से उत्थान करने वाली बन जाती है। दूसरी ओर उनके राम विष्णु के भी नहीं, उस निर्गुण ब्रह्म के अवतार हैं, जो कोटि कोटि ब्रह्मा-विष्णु-महेशों की शक्ति रखते[1] हैं। नर रूप में वे केवल लीला कर रहे हैं, जो मानव की समझ में नहीं आती और आ भी नहीं सकती। निर्गुण रूप की अपेक्षा यह सगुण लीला अधिक अगम्य और अग्राह्य है। नीचे उद्धृत कतिपय पंक्तियां इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं :

नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र राम भगवाना। ९५
चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥ ९५ लंका०

जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव दिखावै, आपु न होइ न सोइ॥ उ० १०५

असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज विमोहन जन सुखकारी॥
जे मति मलिन विषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
(उत्तर० १०६)

जगु पेखन तुम देखनिहारे। विधि हरि संभु नचावनहारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननि हारा॥ अ० १२८
कबहुं जोग बिजोग न जाके। देखा प्रगट बिरह दुख ताके॥ बा० ७२
जाकी सहज स्वास स्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥ बा० २२६
सुमिरत जाहि मिटै भ्रम भारू। तेहि प्रभु यह लौकिक ब्यवहारू॥ अ० ८८
उमा करत रघुपति नर लीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥ लं० ८७

अवतारी लीला के चरित्र यदि मानव-बुद्धि को भ्रम में डालते हैं, और वे साधारण मानवों को ही नहीं, परम तपस्विनी, साधनशीला, शक्तिस्वरूपा पार्वती को भी, तो वे इसलिये कि परब्रह्म नर के समान व्यवहार कर रहे हैं। वे वस्तुतः वैसे नहीं हैं। जैसे नट अनेक स्वरूप धारण करके तद्वत् आचरण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है, वस्तुतः उसकी सत्ता उन स्वरूपों से पृथक् रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म नानारूपों और चरितों में अभिव्यक्त होकर वैसा

---

१. पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रकट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायेउ माथ॥ बा० १४०
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना॥
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥ (बालकाण्ड १४२)

दीख पड़ता है। इस झांकी से है वह भिन्न ही। नाटक में अभिनीत दृश्यों को देख कर दर्शक भी उनमें अभिव्यक्त भावों के द्वारा रोने और हँसने लगते हैं, पर घर आकर उनकी समझ में आता है कि जो कुछ उन्होंने देखा था, वह अनुकरणमात्र था, वास्तविक नहीं; इसी प्रकार लीला में जो कुछ भासित होता है, वह अवास्तविक है।

राम के चरित्र में भी जो वेद-पठन, पंथ-श्रम, रावण से युद्ध आदि आते हैं, वे केवल लौकिक व्यवहार को प्रकट करते हैं। उन्हें माया, छल, कपट अथवा लीला-कैवल्य समझना चाहिये। राम पर इन मोहादि में डालने वाली लीलाओं की वास्तविकता का आरोप वही करते हैं, जो मलिन बुद्धि वाले हैं। अतः तुलसी के मतानुसार राम वास्तव में परब्रह्म हैं। उन्हें लीलाओं के आधार पर मानव मानना पाप[1] करना है। यही परब्रह्म राम तुलसी के उपास्य देव हैं। तुलसी की व्यक्तिगत साधना राममय बनने में है:

उमा राम सम हित जग माँहीं। गुरु पितु मातु बन्धु कोउ नाहीं॥ कि० १२
मोरि सुधारिहि सो सब भांती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥ बा० २८

राम के ब्रह्मत्व और उनके अवतारी आदर्श-चरित्र दोनों की योजना द्वारा तुलसी ने अपनी वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण-साधना का रूप खड़ा किया है। पीछे तुलसी की भक्ति का जो निरूपण किया गया है, उसमें उनकी वैयक्तिक साधना का ही रूप स्पष्ट हुआ है। सामाजिकता कतिपय प्रथाओं के पालन, आचरण और धार्मिक आस्थाओं एवं विश्वासों में अभिव्यक्त होती है। तुलसी ने रामचरित-मानस में राम-कथा की निबन्धना ऐसे रूप में प्रस्तुत की, जिससे इन प्रथाओं, आचरणों एवं आस्थाओं को दीर्घकाल तक जीवित रहने के उपादान प्राप्त हो गये।

कबीर ने कतिपय सामाजिक प्रथाओं एवं आस्थाओं पर प्रबल प्रहार किया

---

१. वेद ने इस लीला या माया के रूप को निम्नांकित मंत्र में प्रकट किया है:

यद्चरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः, नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से॥ ऋ० १०-५४-२

हे परमैश्वर्यशाली ईश्वर! तेरा जो वर्णन शरीर के साथ बढ़ते हुये रूप में किया गया है, तू जो मनुष्यों में अपनी शक्तियों की घोषणा करता हुआ विचरा है और जो तेरे युद्धों के सम्बन्ध में कहा गया है, वह सब तेरी माया है, लीला है। वस्तुतः न तेरा कोई आज शत्रु है और न कोई आज से पहले ही था।

था। आचरण आस्थाओं पर विशेष रूप से अवलम्बित रहता है। परिणामतः इस प्रहार ने सामाजिक आचरण की जड़ों को भी हिला दिया। शूद्र ब्राह्मणों को प्रणाम के स्थान पर लाल आँखें दिखाते हुये डाटने लगे थे। साधना-सम्पन्न उच्चकोटि के मनीषियों के स्थान पर सामान्य जन ब्रह्म-ज्ञान की बातें करते थे। अधमकर्मा अनधिकारी व्यक्ति संन्यासी बन रहे थे (उत्तर० १५७)। इन कृत्यों के कारण सामाजिक ढाँचा अस्तव्यस्त हो रहा था। तुलसी ने सामाजिकता के इस विध्वंस को पहिचाना और मानस में राम-गाथा के साथ अन्य अवान्तर गाथायें जोड़कर सामाजिकता को जीर्ण-शीर्ण होने से बचा लिया। यही नहीं, उन्होंने विघातक तत्वों पर भयंकर कुठाराघात भी किया। उस समय विदेशियों का राज्य था, जो हिन्दू-सामाजिक ढाँचे के विघटन में ही अपना भला समझते थे। तुलसी को जहाँ-जहाँ अवसर मिला है, उन्होंने विदेशियों की क्रूर राजनैतिक चालों का भण्डाफोड़ किया है और जनता को उसका विरोध करने के लिये उकसाया है[१]। जो वर्ग सामाजिक आस्थाओं के उन्मूलन में लगे थे, उनके विचारों का बलवती वाणी में खण्डन किया गया है। कबीर ने कहा था—'दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना'[२]—राम दशरथ के पुत्र नहीं हैं, राम नाम का रहस्य कुछ और ही है। तुलसी ने इसे प्रश्न बना कर प्रथम भारद्वाज के मुख से और फिर पार्वतीजी के मुख से इस प्रकार उपस्थित किया है:—'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि'। (बा० ६८)। 'राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई' (बा० १२२)। इस प्रश्न पर जो महादेव का उत्तर है, वह मानों तुलसी का कबीरपंथियों को उत्तर है। महादेव कहते हैं:

> 'एक बात नहिं मोहिं सुहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी॥
> तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहि स्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
> कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच।
> पाखण्डी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न सांच॥ बा० १२८।

इसके आगे इस प्रश्न को वेद-असम्मत कह कर तुलसी ने राम पर निहित जनता की आस्था को बाल-बाल बचा लिया है और उसे भंग

---

१. कवितावली उत्तरकाण्ड ८४–८५। विनय-पत्रिका १३९।

२. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, २००७ वि०, पृष्ठ ७६।

करने वालों के ऊपर कठोर कटूक्तियों की वर्षा की है। वे सामाजिक विश्वासों पर आँच भी नहीं आने देना चाहते, यद्यपि सामाजिक संस्कार, सुधार और पवित्रीकरण के वे भी पक्षपाती थे। इस कार्य में उन्हें विध्वंस नहीं, सुधार ही प्रिय था। तुलसी की इन बातों से कितने विद्वान् सहमत होंगे, यह विचारणीय अवश्य है। पर तुलसी के मत को समझे बिना उनकी कृतियों का अध्ययन भी तो युक्ति-युक्त नहीं माना जा सकता। इसी हेतु हमने ऊपर उनके वैयक्तिक और सामाजिक रूप का किञ्चित् दिग्दर्शन करा दिया है।

वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति ने वैयक्तिक साधना के साथ जो सामाजिक साधना का रूप धारण किया; श्रवण, कीर्त्तन, अर्चन आदि द्वारा उसने जो समाज की सुप्त आध्यात्मिक वृत्ति को सामूहिक रूप से उद्दीप्त किया, उससे साधक के अहंभाव के विलयन में अमूल्य सहायता पहुँची। दूसरी ओर मुक्ति की अवहेलना करने और भक्ति को परम साध्य मान लेने के कारण भावानुभूतियों में जो चिर-विरह की भावना प्रकट हुई, जो हमारे हिन्दी के भक्ति-साहित्य में एकदम अभिनव है और जिसे कबीर, सूर और तुलसी जैसे भक्त कवियों ने विशेष रूप से अपनी रचनाओं में मान्य स्थान दिया है, उसने भी इसी दिशा में अनुपम कार्य किया। अहंकार के शमन में विरह की सक्षमता असंदिग्ध है। विरही अपने प्रिय इष्टदेव के वियोग में अपनी अहंता को लीन कर देता है। उसे अपनापन नहीं, मैं नहीं, अपना प्रिय ही प्रिय सर्वत्र दिखाई देता है। वह प्रियमय बन जाता है। भक्ति में इसे आत्म-समर्पण की भावना कहा जाता है। आत्म-समर्पण के बिना साधक साध्य के निकट पहुँच ही नहीं सकता। भक्ति काण्ड के सभी आचार्यों और गायकों ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है। भक्ति भावना में इस प्रकार 'मैं' का संवरण हो जाता है। 'मैं' को 'तत् सत्' वर मिल जाता है। वह सत् और चित् तो थी ही, अब अन्त में आनन्द का वरण करके महिमामयी बन जाती है। उसकी लघुता भूमा का रूप धारण करती है। साधक ने 'मैं' से प्रारम्भ किया था। अन्त में वह 'मैं' के तिरोभाव अथवा समर्पण के साथ साधन की चरमसीमा पर पहुँच कर साध्य के साथ एक हो गया। जहाँ से चला था, वहीं पहुँच गया। यात्रा का यह अन्त कितना सुखद है।

—०:०—

सहायक-ग्रन्थ-सूची

वेद : ऋग्, यजु, साम, अथर्व
ब्राह्मण : ऐतरेय, शतपथ, आर्षेय और गोपथ
उपनिषद् : ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक और छान्दोग्य
दर्शन : न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्त
निरुक्त : यास्काचार्य, दुर्गटीका सहित
पुराण : श्रीमद्भागवत, भविष्य, गरुड़, पद्म, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त, वायु और वाराह
महाभारत : (सम्पादक सातवलेकर)
मनुस्मृति : कुल्लूक भट्टीय टीका
अणुभाष्य : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९०७ ई०
श्रीमद्भावगत : सुबोधिनी भाष्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १८९१ ई०
भगवद्गीता, कर्मयोगरहस्य : लो० बालगंगाधर तिलक
अणुभाष्य की बालबोधिनी टीका : श्रीधर शर्मा, पूना, १९२६ ई०
नारदभक्तिसूत्र : गीता प्रेस, गोरखपुर
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र : गीता प्रेस, गोरखपुर
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : रूपगोस्वामी
भक्तिरसायन : मधुसूदन सरस्वती
पाञ्चरात्र : अहिर्बुध्न्यसंहिता, ईश्वरसंहिता, बृहद्ब्रह्मसंहिता, जयाख्यसंहिता
वैखानस : वैखानस आगम, वैखानस-धर्मसूत्र
वेदरहस्य : नारायण स्वामी
वेदरहस्य : (प्रथम रहस्य), योगिराज, अरविन्द

वेद-सन्देश : आचार्य विश्वबन्धु, भाग १, २, ३
वैदिक विनय : योगिराज अभयदेव १, २, ३
अथर्ववेदभाष्य : पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
शार्ट स्टडीज इन द उपनिषद्स : लाला दीवानचन्द
शार्ट स्टडीज इन द गीता : लाला दीवानचन्द
हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी : डॉ० एस. एन. दास गुप्त, भाग ३-४
द फिलासफी आफ उपनिषद्स : डॉ० राधाकृष्णन्
भागवत धर्म : हरिभाऊ उपाध्याय
हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल
एन इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन फिलोसोफी : एस० सी० चटर्जी और डी० एम० दत्त, चतुर्थ संस्करण

ए हिस्ट्री आफ फिलासफी : फ्रैंकथिली
द आइडिया आफ गाड : प्रिंग्ले पेटीसन
द नेचर आफ फिजिकल वर्ल्ड : सर आर्थर एडिंगटन
द एक्सपेंडिंग यूनीवर्स : सर आर्थर एडिंगटन
द यूनीवर्स एराउण्ड अस : सर जेम्स जीन्स
आउट आफ माई लेटर ईयर्स : अलबर्ट आइन्स्टीन
द मिस्टीरियस यूनिवर्स : सर जेम्स जीन्स
फिजिक्स ऐण्ड फिलासफी : सर जेम्स जीन्स
कान्स्ट्रक्टिव बेसिस फौर थियोलाजी : जेम्स टैन ब्रोक
टाल्स्टाय ए लाइफ आफ माई फादर : एलेक्जें ड्राटाल्स्टाय
रिलीजन एण्ड बायलाजी : अरनेस्ट ई अनविन
द ऐट्रीब्यूट्स आफ गाड : रिचार्ड फरनैल
थियोलाजी इन द इङ्गलिश पोयट्स : स्टफर्ड ए ब्रुक
द फिलासफी आफ द गुड लाइफ : चार्ल्स गोरे
द डिवाइन लव एण्ड विजडम : एमेनूवेल स्वेडनबर्ग
इन्ट्रोडक्शन टु दि पाञ्चरात्र एण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता : ओटो श्रोडर
ग्राउण्ड वर्क आफ एडूकेशनल साइकालाजी : जेम्सरास
सोशल साइकॉलॉजी : विलियम मैग्डूगल

रिफ्लेक्शन्स आफ ए फिजिसिस्ट : पी० ब्रिग्मैन
मैसेज आफ द् उपनिषद्स : लाला साईंदास
पाथवेज टु द् रियलटी आफ गॉड : रूफस एम० जोन्स
वैदिक रिलीजन एण्ड फिलॉसफी : स्वामी प्रभवानन्द
मीनिंग एण्ड परपज. : कैनेथ वाकर
मॉरेलिटी एण्ड रिलीजन : वर्गसन
वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स : आर० जी० भण्डारकर
बिट्वीन हेवेन एण्ड अर्थ : फ्रांज़ वरफैल
द् भक्ति कल्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया : डॉ० भागवतकुमार गोस्वामी
इण्डिया एज नोन टु पाणिनि : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
द् डिस्कवरी आफ इण्डिया : पं० जवाहर लाल नेहरू
आउट लाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर : ए० एम० ए० शुश्तरी, बँगलौर प्रेस, १९३८
इन्फ्लूएंस आफ इसलाम ऑन इण्डियन कल्चर : ताराचंद—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद १९४६
स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म : आर० ए० निकल्सन, लिट० डी०, यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९२१
एन आउट लाइन आफ द् रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया : जे० एन० फर्कुहर
द् लीगैसी आफ इस्लाम : सर थौमस आर्नौल्ड तथा जिलौमी : क्लैरेण्डन प्रेस, औक्सफोर्ड, १९३१
हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
भागवत सम्प्रदाय : बलदेव उपाध्याय
सूफी काव्य संग्रह : परशुराम चतुर्वेदी
उत्तरी भारत की संत-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी
कबीरग्रन्थावली : ना० प्र० सभा, काशी
जायसीग्रन्थावली : पं० रामचन्द्र शुक्ल

जायसीग्रन्थावली : डा० माताप्रसाद गुप्त
पद्मावत : (संजीवनी व्याख्या) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
सूर-सागर : वेंकटेश्वर प्रेस
सूर-सागर : (दो भाग) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
साहित्य-लहरी : खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना
रामचरितमानस : इण्डियन प्रेस, प्रयाग
रामचरितमानस : संपादक—रामनरेश त्रिपाठी
विनयपत्रिका : कल्याण प्रेस, गोरखपुर
कवितावली : कल्याण प्रेस, गोरखपुर
दोहावली : कल्याण प्रेस, गोरखपुर
हनुमानबाहुक : कल्याण प्रेस, गोरखपुर
तुलसीदर्शन : डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
तुलसीदास और उनका युग : डा० राजपति दीक्षित
तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त
तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल
गोस्वामी तुलसीदास : डा० श्यामसुन्दरदास तथा बड़थ्वाल
कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी
तसव्वफ अथवा सूफीमत : चन्द्रबली पाण्डेय
गोरखबानी : डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
सूरदास-जीवन-सामग्री : डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय : डा० दीनदयाल गुप्त
रामकथा : डा० कामिल बुल्के
तुलसीदास का घरबार : डा० रामदत्त भारद्वाज
सूरसौरभ : मुंशीराम शर्मा 'सोम'
सूरनिर्णय : प्रभुदयाल मीतल
भारतीय साधना और सूरसाहित्य : मुंशीराम शर्मा 'सोम'
भक्तमाल : नाभादास
भक्तमाल (उत्तरार्द्ध) : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
भक्तविनोद : मियाँ सिंह

सूरदास की वार्ता : गोस्वामी हरिराय जी
भक्तमाल की टीका : भक्तिसुधास्वादतिलक के साथ—रूपकला जी
चौरासीवार्ता : उलउलमशिलायन्त्र, मथुरा, १८८३ ई०
सूरदास : ब्रजेश्वर वर्मा
यूरोपीय दर्शन : रामावतार शर्मा
भक्तितरंगिणी : मुंशीराम शर्मा
बाइबिल : ओल्ड टैस्टामैंट
कुरान : अँगरेजी अनुवादक, श्री रैवरैंड जे० एम० रॉडवैल
भक्तनामावली : ध्रुवदास
प्रभुदर्शन : आनन्द स्वामी